

5.2

यजुर्वेद संहिता

भाषा-भाष्य

भाग १

श्री केशवदासजी की ओर
सन् १९२२



ओ३म्

यजुर्वेद-संहिता

भाषा-भाष्य

(प्रथम खण्ड)

भाष्यकार—

श्री पं० जयदेवजी शर्मा,

विद्यालंकार, मीमांसातीर्थ.

द्वितीयावृत्ति

१०००

संवत् १९९३ विक्रमाब्द

सन् १९४० ई०

मूल्य ४)

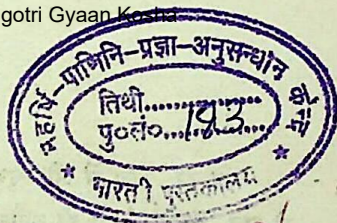
प्रकाशक—

आर्य-साहित्य मण्डल लिमिटेड्,
अजमेर.



मुद्रक—

बा० मथुराप्रसाद शिवहरे,
दी फाइन आर्ट प्रिन्टिंग प्रेस, अजमेर.



भूमिका

(१) यजुर्वेद की उत्पत्ति और स्वरूप

(१) यजुर्वेद 'सर्वहुत यज्ञ' अर्थात् सर्वप्रद और सर्वोपाय से उत्पन्न हुए । जैसा लिखा है—

तस्माद् यज्ञात्सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे ।

छन्दाथंसि जज्ञिरे तस्माद् यजुस्तस्मादजायत ॥ ❀

ऋ० १० । १० । १ ॥ यजु० ३१ । ७ ॥

उस 'सर्वहुत यज्ञ' से ऋचाएं, और सामगण, पैदा हुए । उससे छन्द पैदा हुए और उससे 'यजुः' पैदा हुआ ।

(२) इसी प्रकार अथर्ववेद में 'स्कम्भ' के वर्णन में लिखा है—

यस्मादृचोऽपातक्षन् यजुर्यस्मादपाकषन् ।

अथर्व० १० । ७ । २० ॥

जिससे ऋचें प्राप्त की और जिससे यजुः प्राप्त किया वह 'स्कम्भ' है ।

(३) यजुर्वेद (११।४) में 'गरुत्मान् सुपर्ण' के वर्णन में—

०छन्दाथंसि अंगानि यजूथंषि नाम'०

उस 'गरुत्मान् सुपर्ण' के 'छन्दः' अंग है और उसका नाम 'यजुः' है ।

(४) यजुर्वेद (अ० १८।१७) में प्रजापति का दर्शन है—

ऋचो नामास्मि यजूथंषि नामास्मि सामानि नामास्मि ।

मैं ऋचें हूं । मैं यजुर्गण हूं । मैं सामगण हूं ।

(५) इसी प्रकार अथर्ववेद में 'वेद विद्वान्' का वर्णन किया है ।

ये अर्वाङ् मध्य उत वा पुराणं वेदं विद्वांसमभितो वदन्ति ।

आदित्यमेव ते परि वदन्ति सर्वे ॥

(२)

जो उरे, बीच में और पुराण रूप से 'वेद विद्वान्' का वर्णन करते हैं वे सब 'आदित्य' का ही वर्णन करते हैं। इसी प्रकार अथर्ववेद में ब्राह्म प्रजापति की आसन्दी का वर्णन है।

“ऋचः प्राञ्चस्तन्तवो यजूंषि तिर्यञ्चः ॥” अथर्व० १५।३।६॥

ऋचाएं ताना के तन्तु हैं और यजुर्वेद बाना के तन्तु हैं। इन सब भिन्न २ नामों का एक ओर ही निर्देश है। सर्वहुत् यज्ञ, स्कम्भ, आदित्य, गरुत्मान्-सुपर्ण और ब्रह्म आदि ये सब परमेश्वर के नाम हैं। इसी प्रकार—
कालाष्टचः समभवन् यजुः कालादजायत ॥ अथर्व० १९।५४।३॥

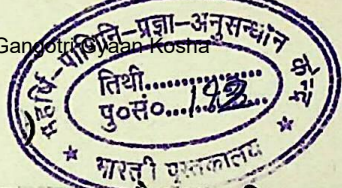
काल से ऋचाएं उत्पन्न हुईं और काल से 'यजुः' उत्पन्न हुआ। वह काल परमेश्वर ही है। तमृचश्च सामानि च यजूंषि च ब्रह्म च अनुव्य चक्षन् । (अथर्व० १५।१।८) उस ब्राह्म प्रजापति के पीछे ऋचाएं, साम, यजुर्गण और ब्रह्म अर्थात् चारों वेद चले। इस स्थल पर ब्राह्म प्रजापति भी वही परमेश्वर है। उससे चारों वेद उत्पन्न हुए यह वेद भगवान् का आशय है।

उस यज्ञमय परमेश्वर का स्वरूप क्या है? वर्तमान में प्रचलित यज्ञ कैसे हैं वह बतलाना बहुत अधिक स्थान की अपेक्षा करता है। कर्मकाण्ड-मय यज्ञ उस महान् विराट् यज्ञपुरुष के प्रतिनिधि या उसके स्वरूप निदर्शक मात्र हैं। जैसे ये वेद उस महान् यज्ञ का वर्णन करते हैं उसी प्रकार ये इन यज्ञों का भी प्रतिपादन करते हैं। यजुर्वेद में लिखा है।

सुपर्णोऽसि गरुत्मांस्त्रिवृत्ते शिरो गायत्रं चक्षुर्बृहद्रथन्तरे पक्षौ
स्तोम आत्मा छन्दाथ्स्यङ्गानि यजूंषि नाम। साम ते तनूर्वाम-
देव्यं यज्ञायज्ञियं पुच्छं धिषायाः शफाः। सुपर्णोऽसि गरुत्मान् दिवं
गच्छ स्तः पत।

व सुपर्ण गरुत्मान् है, तेरा शिर त्रिवृत् स्तोम हैं। आंख गायत्र साम है, बृहत् और रथन्तर दोनों पक्ष हैं। स्तोम आत्मा है। छन्द (अथर्व-

(३)



वेद) अंग हैं, यजुर्गण नाम हैं। वामदेव्य साम तजु है। यज्ञायज्ञिय साम पुच्छ है। धिष्ण्य अग्निं शफ (चरण) है। इसप्रकार 'सुपर्ण गरुत्मान्' में चारों वेदों का वर्णन है। इस मन्त्र से इयेनाकार वेदि में होने वाले यज्ञ का वर्णन स्पष्ट है। 'सुपर्ण' परमेश्वर का वर्णन वेद स्वयं करता है—

सुपर्ण विप्राः कवयो वचोभिरेकं सन्तं बहुधा कल्पयन्ति ।

ऋ० १० । ७ । ४ । ४ ॥

विद्वान् पुरुष स्तुतियों द्वारा एक सुपर्ण की बहुत प्रकार से कल्पना करते हैं। इस 'सुपर्ण' नाम यज्ञ का कितना विस्तार है इस विषय में ऋग्वेद का मन्त्र है।

षट्त्रिंशांश्चतुरः कल्पयन्तश्छन्दाथंसि च दधत आ द्वाक्क्षाम् ।

यज्ञं विमाय कवयो मनीष ऋक्सामाभ्यां प्र रथं वर्त्तयन्ति ॥ ६ ॥

ऋ० १० । ११४ । ६ ॥

उपांशु और अन्तर्याम, इन्द्रवायव्य आदि द्विदैवत्य तीन ग्रह, शुक्रामन्त्रियों के दो ग्रह, आप्रयण, उक्थ, और ध्रुव ये तीन, १२ ऋतु-ग्रह, ऐन्द्राग्र, और सावित्र दो, वैश्वदेव दो, मारुत्वतीय तीन, माहेन्द्र एक, आदित्य और सावित्र दो, वैश्वदेव, पानीवत और हारियोजन ये तीन, इस प्रकार ये ३६ ग्रह या यज्ञांग और इसके साथ, अत्यग्निष्टोम में अंशु, अदाभ्य, दधिग्रह और षोडशी ये चार मिलकर कुल ४० ग्रह या यज्ञांगों को और प्रउग आदि ११ शस्त्रों तक गायत्री आदि समस्त छंदों को धारण करते हुए विद्वान् लोग यज्ञ का विविध प्रकार से ज्ञानपूर्वक निर्माण करके 'रथ' अर्थात् रमण करने योग्य रस स्वरूप परमेश्वर के स्वरूप को ही ऋक् और साम दोनों द्वारा दो अश्वों से रथ के समान यज्ञरूप में विधान करते हैं।

इस प्रकार कर्मकाण्ड रूप यज्ञ का वर्णन करके अथात्म यज्ञ का वर्णन भी वेद (ऋ० १० । ११४ । ६) स्वयं करता है।

(४)

सहस्रधा पञ्चदशान्युक्था यावद् द्यावापृथिवी तावदित्त ।

सहस्रधा महिमानः सहस्रं यावद् ब्रह्म विष्टितं तावती वाक् ।

पञ्चदश उक्त सहस्रों प्रकार के देहों में सहस्रों रूप होकर विराजते हैं । जितना विस्तार द्यौ और पृथिवी का है वहां तक उसी ब्रह्म का विस्तार है । उसके महान् समर्थ्य भी सहस्रों प्रकार के हैं, जितना ब्रह्म का स्वरूप विशेष २ प्रकार से स्थित है उतनी ही वाणी भी विस्तृत है । इस देह में १५ अंग या उक्त हैं ये चक्षु आदि पांच ज्ञानेन्द्रिय और पांच कर्मेन्द्रिय और ५ भूत ।

परन्तु क्योंकि ब्रह्म अनन्त है, इससे वाक्, वेदवाणी भी अनन्त ज्ञानवती है । प्रतिदेह में वही यज्ञ का स्वरूप है । वेदिगत यज्ञ तो उसका प्रतिनिधि मात्र है । यजुर्वेद द्वारा उन अंगों के समस्त कार्य और व्यवस्था का वर्णन किया जाता है । जैसा स्वयं श्रुति कहती है —

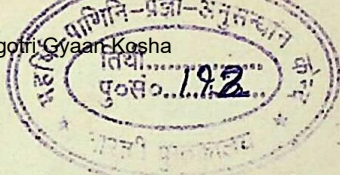
‘यजुर्भिराप्यन्ते ग्रहाः ॥ यजु० १९ । २८ ॥

सत्यं यज्ञेन यज्ञो यजुर्भिः । यजु० २० । १२ ॥

फलतः, हम इस परिणाम पर पहुँच गये कि यजुर्वेद में अंग, अंगी और इनके कार्यों का वर्णन होना चाहिये । ‘यज्ञ’ स्वयं एक प्रजापति है । समस्त विश्व में परमेश्वर, राज्य में राजा, गृह में गृहपति, कुल में आचार्य और देह में आत्मा या मुख्य प्राण ये सभी ‘प्रजापति’ के स्वरूप हैं । ये सब अंग स्वयं एक ‘अंगी’ या एक सुव्यवस्थित जीवित शरीर (body) की रचना करते हैं । अंग, घटक अवयव मुख्य अंगी के आधार होकर उसी के अधीन हैं । वे ‘ग्रह’ कहाते हैं । उनका वर्णन यजुर्वेद में किया गया है ।

संहिताओं की उपनिषद्

हमारा विचार है कि यजुर्वेद के मन्त्रों की योजना या व्याख्या मुख्य



(५)

पांच दृष्टियों से होती है। पांच ही वेद-संहिताओं के व्याख्या प्रकार माने गये हैं। जैसा कि तैत्तिरीय उपनिषद् में लिखा है।

अथातः संहिताया उपनिषदं व्याख्यास्यामः। पञ्चस्वधिकरणेषु। अधिलोकम्। अधिज्योतिषम्। अधिविद्यम्। अधिप्रजम्। अध्यात्मम्। ता महासंहिता इत्याचक्षते। अथाधिलोकम्। पृथिवी पूर्वरूपम्। द्यौरुत्तररूपम्। आकाशः संधिः। वायुः संधानम्। इत्यधिलोकम्। अथाधिज्योतिषम्। अग्निः पूर्वरूपम्। आदित्य उत्तररूपम्। आपः संधिः। वैद्युतः संधानम्। इत्यधिज्योतिषम्। अथाधिविद्यम्। आचार्यः पूर्वरूपम्। अन्तेवास्युत्तररूपम्। विद्या संधिः। प्रवचनं संधानम्। इत्यधिविद्यम्। अथाधिप्रजम्। माता पूर्वरूपम्। पिता उत्तररूपम्। प्रजासंधिः। प्रजननं संधानम्। इत्यधिप्रजम्। अथाध्यात्मम्। अधरा-हनुः पूर्वरूपम्। उत्तरा हनुरुत्तररूपम्। वाक् संधिः। जिह्वा संधानम्। इतीमा महासंहिताः॥

संहिता की उपनिषद् यह है कि पांच अधिकरणों में एक ही संहिता की पांच प्रकार से व्याख्या होने से पांच महासंहिताएं बनती हैं।

अधिलोक, अधिज्योतिष, अधिविद्य, अधिप्रज, और अध्यात्म। अधिलोक में पृथिवी, सूर्य, आकाश और वायु का विशेष वर्णन होगा। अधिज्योतिष में अग्नि, आदित्य, जल, और विद्युत् का। अधिविद्य में आचार्य, अन्तेवासी, विद्या और प्रवचन इनका वर्णन होगा। अधिप्रज में पिता, माता, प्रजा और प्रजनन इनका वर्णन होगा। इसमें भी समष्टि व्रष्टा भेद से राजा पृथिवी, प्रजा, प्रजापालन आदि का वर्णन भी सम्मिलित हो जाता है।

इन पांचों अधिकरणों की यथावत् पृथक् व्याख्या कर देना यह बड़े भारी ज्ञान और प्रतिभा का कार्य है। सूक्ष्म दृष्टि से देखने से यजुर्वेद के मन्त्रों की व्याख्या इन पांचों रूपों से हो जाती है जिनका दिग्दर्शन

(६)

हमने भाष्य में स्थान २ पर किया है। हमने मुख्य रूप से राजा प्रजा एवं प्रजा-पालन के कार्यों पर ही अधिक प्रकाश डाला है। पाठक उसी दृष्टि से इस भाष्य का स्वाध्याय करेंगे।

इसके अतिरिक्त यजुर्वेद के सम्बन्ध में ब्राह्मण ग्रन्थों के लेख भी विशेष विचारणीय हैं।

(१) यजुषा ह वै देवा अग्रे यज्ञं तेनिरे अथर्चा ऽथ साम्ना ।

तद्विद्ममप्येतर्हि यजुषा एवाग्रे यज्ञं तन्वते ऽथर्चा ऽथ साम्ना ।

यजो ह वै नाम एतत् यद् यजुरिति । श्रुत० ४ । ६ । ७ । १३ ॥

विद्वान् लोगों ने पहले 'यजुः' से ही प्रथम यज्ञ किया फिर ऋग् से और फिर साम से। 'यजुः' भी यज्ञ के साधन होने से ही 'यजुः' कहाते हैं।

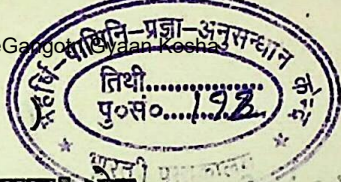
(२) ऋग्भ्यो जातं वैश्यं वर्णमाहुः । यजुर्वेदं क्षत्रियस्याहुर्योनिम् । सामवेदो ब्राह्मणानां प्रसूतिः । पूर्वे पूर्वेभ्यो वचः एतदूचुः ॥ तै० ब्रा० ३ । १२ । ९ ॥

ऋग्वेद के मन्त्रों से वैश्य वर्ण, और वैश्योचित वृत्तियों और उनके सम्बन्ध के नाना शिल्पों की उत्पत्ति हुई है। यजुर्वेद क्षत्रिय अर्थात् क्षात्र बल के कार्य करने वाले के उचित कर्तव्यों का उपदेश करता है। साम-वेद ब्राह्मणोचित स्तुति उपासना आदि का मूल कारण है। पूर्व के विद्वान् एवं के शिष्यों को ऐसा ही उपदेश करते थे।

(३) यमो वैवस्वतो राजा इत्याह । तस्य पितरो विशः । त इमे र्समासत इति स्थविरा उपसमेता भवन्ति । तानुपदिशति यजूर्ऋषि वेदः । शतपथ ब्राह्मण । का० १३ । ४ । ३ । २ ॥

यम वैवस्वत राजा है। उसकी प्रजाएं पितृगण, पालक जन हैं। वे ये लोग हैं। स्थविर, वृद्ध जन उपस्थित होते हैं। उनका वेद यजुर्वेद है।

यह उद्धारण भी यजुर्वेद को राजा प्रजा के राष्ट्र पालन के कर्तव्यों का उपदेश करने वाला वेद निश्चय कराते हैं।



यजुर्वेद के शाखा भेद

शोणकीय चरणव्यूह * के अनुसार—

(१) यजुर्वेदस्य षडशीतिर्भेदा भवन्ति । तत्र चरका नाम द्वादश भेदा भवन्ति । चरका आह्वरकाः, कठाः, प्राच्याः, प्राच्यकठाः, कपिष्ठलकठाः, चारायणीयाः, वारायणीयाः, वार्त्तान्तवीयाः, श्वेताश्व-तराः, औपमन्यवः, पातण्डिनीयाः, मैत्रायणीयाश्च ।

(२) तत्र मैत्रायणीया नाम षड् भेदाः भवन्ति । मानवाः वाराहा दुन्दुभाश्च्छागलेया हरिद्रवीयाः श्यामायनीयाश्चेति ।

(३) तत्र तैत्तिरीयका नाम द्विभेदा भवन्ति । औखेयाः । खाण्डिकेयाश्चेति । तत्र खाण्डिकेयाः पञ्च भेदा भवन्ति कालेता शाठ्यायनी हैरण्यकेशी भारद्वाजी आपस्तम्बी चेति ।

(४) तत्र प्रच्योदीच्यनैर्ऋत्यवाजसनेया नाम पञ्चदश भेदा भवन्ति, जाबाला, बोधायनाः, काण्वाः, माध्यन्दिनेयाः, शाफेयास्तापनीयाः, कपोलाः, पौण्ड्रवत्साः, आवटिकाः, परमावटिकाः, पाराशरा, वैशेया अद्धा बौधेयाः ॥

अर्थ—यजुर्वेद के ८६ भेद होते हैं । उनमें चरकों के १२ भेद होते हैं (१) चरक (२) आह्वरक (३) कठ (४) प्राच्य, (५) प्राच्यकठ,

* यजुर्वेदीय चरणव्यूह में—(१) तत्र मैत्रायणीयाः नाम सप्त भेदाः भवन्ति । मानवा दुन्दुभा श्वेकेया वाराहा हरिद्रवेयाः श्यामाः श्यामायनीयाश्च ।

(२) तैत्तिरीयका नाम द्विभेदा भवन्ति । औख्याः खाण्डिकेयाश्चेति तत्र खाण्डिकेया नाम पञ्चभेदा भवन्ति । आपस्तम्बाः, बोधायनाः, सत्याषाढाः, हैरण्यकेशः, काठ्यायनाश्चेति । तत्र कठानमुपगानविशेषाश्चतुश्चत्वारिंशदुपग्रन्थाः ।

(३) वाजसनेया नाम सप्तदशभेदाः भवन्ति । जाबाला बौधेयाः काण्वा माध्यन्दिनाः शपीया स्तापायनीयाः कापालाः पौण्ड्रवत्सा आवटिकाः, परमावटिका वारायणीया वैधेया वैनेया औधेया गालवा वैजयाः कात्य ।

(८)

(१) कपिष्ठलकठ, (७) चारायणीय, (८) वारायणीय, (९) वार्त्ता-
न्तवीय, (१०) श्वेताश्वतर (११) औपमन्यव, (१२) पातण्डिनीय
(१३) मैत्रायणीय । मैत्रायणीय के फिर छः भेद होते हैं (१) मानव,
(२) वाराह, (३) दुन्दुभ, (४) छागलेय, (५) हारिद्रवीय, (६)
श्यामायनीय । तैत्तिरीयों के मुख्य दो भेद हैं । औखेय और खाण्डिकेय ।
खाण्डिकेयों के पांच भेद कालेत, शाठ्यायनी, हैरण्यकेशी, भारद्वाजी,
आपस्तम्बी ।

उनमें भी प्राच्य, उदीच्य, नैऋत्य इन दिशा के वासी वाजसनेय
शाखा के मानने वाले विद्वानों के भी १५ भेद होते हैं । वाजसनेय, जाबाल,
बोधायन काण्व, मांध्यन्दिनेय, शाफेय, तापनीय, कपोल, आवटिक,
परमावटिक, पाराशर, वैणेय, अद्भ और बौधेय ।

इस प्रकार ८६ पहली और १५ ये सब मिलकर १०१ यजुर्वेद की
शाखाएं हो जाती हैं । जैसा महाभाष्यकार पतञ्जलि ने लिखा है—एक-
शतमध्वर्युशाखाः ॥” अर्थात् १०१ शाखा यजुर्वेद की हैं, यह वचन
पूर्ण हो जाता है ।

यजुर्वेदीय चरणव्यूह में ❀—मैत्रायणीय के ७ भेद लिखे हैं । उसमें
'छागलेय' न पढ़कर श्याम और चैकेय दो शाखाओं को विशेष कहा है ।

और तैत्तिरीय खाण्डिकेय शाखा के आपस्तम्ब, बोधायन, सत्यापाढ़,
हैरण्यकेश, और काठ्यायन ये पांच भेद लिखे हैं ।

और वाजसनेयों के १७ भेद माने हैं । जिनमें बौधेय शापीय तापाय-
नीय, औधेय, पौण्ड्रवरस, वैधेय, वैनेय, आदि कुछ नाम अक्षरभेद से
आये हैं और औधेय, गालव, वैजय, कात्यायनीय ये नाम विशेष हैं ।

परन्तु चरणव्यूह परिशिष्ट में भी १०१ शाखाओं को नहीं गिनाया
गया है । जब इसकी तुलना अन्य चरण व्यूहों से करते हैं तो शाखाओं के

(९)

नामों में और भी अधिक भेद प्रतीत होता है। अथर्ववेद के परिशिष्टों में विद्यमान चरणव्यूह में इस प्रकार लिखा है —

तत्र यजुर्वेदस्य चतुर्विंशतिर्भेदा भवन्ति । तद्यथा काण्वाः । माध्यंदिनाः । जाबालाः । शापेयाः । श्वेताः । श्वेततराः । ताम्रायणीयाः । पौर्णवत्साः । आवटिकाः । परमावटिकाः । होष्याः । धौष्याः । खाडिकाः । आह्वरकाः । चरकाः । मैत्राः । मैत्रायणीयाः । हारीतकर्णाः । शालायनीयाः । मर्चकठाः । प्राच्यकठाः । कपिष्ठलकठाः । उपलाः । तैत्तिरीयाश्चेति ।

जब इन तीनों चरणव्यूहों की तुलना करते हैं तो उनमें परस्पर बड़ा भेद है। अथर्व परिशिष्ट चरणव्यूह में १२ भेद ही गिना कर छोड़ दिये हैं। इन नामों में से कुछ नाम शुक्ल शाखा के हैं और कुछ नाम कृष्ण शाखा के हैं। इससे कुछ निर्णय नहीं हो सकता कि ये शाखा भेद किस प्रकार हुए। शौनकीय चरणव्यूह परिशिष्ट के टीकाकार पण्डित महिदास ने 'नृसिंह पराशर' नाम ग्रन्थ का ऊद्धरण उठाकर कुछ अन्य शाखाओं का भी उल्लेख किया है जैसे—याज्ञवल्क्य, आपस्तम्ब, मूलघट, वाणस, सहवास, गोत्र-पण्डित, समानुज, गयाबल, त्रिदण्ड आदि, देश और ग्राम भेद से नाना नाम हो गये। अग्निपुराण बतलाता है कि—

“एक कम दो सहस्र यजुर्वेद में मन्त्र हैं तथा ८६ शाखाएं हैं, १००० ब्राह्मण हैं। काण्व, माध्यन्दिनी माध्यकठी, मैत्रायणी, तैत्तिरीया, वैशम्पायनी इत्यादि यजुर्वेद की नाना शाखाएं हैं।”

विष्णु-भागवत पुराण में लिखा है —

पराशर से सत्यवती में अंशांशकला से भगवान् ने व्यास रूप में उत्पन्न होकर वेद को चार प्रकार का किया। उसने चार शिष्यों में से पैल को 'बह्वृच' नामक ऋग्वेद, वैशम्पायन को 'निगद' नाम यजुर्वेद, जैमिनी सामों की छंदोग संहिता को और अपने शिष्य सुमन्तु को अथर्वान्तरसी नामक संहिता दी। यजुर्वेद के विषय में लिखा है—

(१०)

वैशम्पायनशिष्या वै चरकाध्ययवोऽभवन् ।

यश्चेरुर्ब्रह्महत्याहः क्षयणं स्वगुरोर्व्रतम् ॥

वैशम्पायन का नाम 'चरक' या, उसके शिष्य 'चरकाध्ययु' थे । जिन्होंने अपने गुरु के लिये ब्रह्महत्या के पाप के निमित्त प्रायश्चित्त का आचरण किया वे 'चरकाध्ययु' कहाये । इस सम्बन्ध में प्रायः सभी पुराणों में इस कथा को इस प्रकार से वर्णन किया है कि ब्रह्महत्या के निमित्त वैशम्पायन के शिष्य याज्ञवल्क्य ने अहंकार पूर्वक कहा कि मैं ही समस्त व्रताचरण कर लूंगा और ये शिष्य तो 'अल्पसार' हैं इस पर गुरु वैशम्पायन ने क्रुद्ध होकर अपनी पढ़ाई समस्त विद्या मांग ली । याज्ञवल्क्य ने वह सब वमन कर दी । और उसके अन्य शिष्य मुनियों ने तित्तिरपक्षी बनकर, लोलुप होकर उस वमन को खा लिया । याज्ञवल्क्य ने उसके पश्चात् आदित्य की उपासना करके यजुर्गण को प्राप्त किया । इस सम्बन्ध में भागवत (का० १२ अ० ६ । ७३, ७४ ॥) में लिखा है—

एवं स्तुतः स भगवान् वाजिरूपधरो हरिः

यजुंष्ययातयामानि मुनयेऽदात् प्रसादितः ।

यजुर्भिरकरोच्छाखाः दश पञ्च शतैर्विभुः ।

जगृहुर्वाजसंन्यस्ताः कारवमाध्यन्दिनादयः ॥

इस प्रकार स्तुति करने से प्रसन्न होकर 'वाजि' रूप धर कर हरि (सूर्य) ने याज्ञवल्क्य मुनि को 'अयातयाम यजुर्गण' प्रदान किये । सैकड़ों यजुषों से उस विद्वान् ने १५ शाखाएं कीं । 'वाज' अर्थात् केसरों या रश्मियों या वेग या वाणी द्वारा प्रदान की गई उन शाखाओं को कण्व, मध्यन्दिन आदि विद्वानों ने ग्रहण किया ।

भागवत के इस लेख के समान ही प्रायः अन्य पुराणों के भी लेख हैं याज्ञवल्क्य का गुरु से पृथक् होकर सूर्य से यजुर्वेद को प्राप्त करने की कथा प्रायः सर्वत्र समान है । इससे कुछ पुराणों के अनुसार ये परिणाम

(११)

निकल सकते हैं । (१) याज्ञवल्क्य द्वारा प्राप्त यह यजुर्वेद व्यास द्वारा व्यस्त यजुर्वेद से अवश्य पृथक् हो । अर्थात् वैशम्पायन को व्यास ने वह यजुर्वेद न पढ़ाया हो । (२) व्यास और वैशम्पायन के पूर्व भी यजुर्वेद स्यतन्त्र रूप से शुद्ध विद्यमान हो । और (३) व्यास के अतिरिक्त भी यजुर्वेद अन्य विद्वानों के पास विद्यमान हो ।

पुराणों की कथा से यजुर्वेद इस चमकते रवि की उपासना से प्राप्त हुआ यह अन्ध-विश्वास बहुत प्रबल है । हमें यह बुद्धि विरुद्ध प्रतीत होता है । इस अन्ध विश्वास को अन्य पुराणों ने भी विचित्र २ प्रकार से पुष्ट किया है । जैसे वायु और ब्रह्माण्ड पुराण (अ० ६१) में लिखा है—

ततः स ध्यानमास्थाय सूर्यमाराधयद् द्विजः ।

सूर्यब्रह्म यदुच्छिन्नं खं गत्वा प्रतितिष्ठति ॥

ततो यानि गतान्यूर्ध्वं यजुंश्छादित्यमण्डले ।

तामि तस्मै ददौ तुष्टः सूर्यो वै ब्रह्मरातये ॥

याज्ञवल्क्य ने ध्यान लगा कर सूर्य की आराधना की । वह यजु उस समय लुप्त होकर केवल आकाश में ही विद्यमान था, उनमें से जो यजुः ऊपर सूर्य में चले गये थे वे ही सूर्य ने प्रसन्न होकर ब्रह्मराति अर्थात् याज्ञवल्क्य को प्रदान किये ।

यह कल्पना केवल इस शंका को निवारण करने के लिये की गई है कि जड़ सूर्य में से यजुर्गण कैसे निकले और वहाँ आये कहां से ? इस पर भी एक शंका उठती है कि सूर्य ने याज्ञवल्क्य को किस प्रकार उपदेश किया । इसके समाधान के लिए पुराणकारों ने यह कल्पना की है कि सूर्य ने स्वयं अश्व का रूप होकर याज्ञवल्क्य को वेद का उपदेश कर दिया । जैसा स्वा० श्रीधर ने भागवत के 'जगृहुर्वाजसंन्यस्ताः' पद के व्याख्यान में लिखा है—जगृहुः अधीतवन्तः रविणा अश्वरूपेण वाजेभ्यः केसरेभ्यः वाजेन बलेन वा संन्यस्ताः त्यक्त्वाः शाखा वाजसनी

(१२)

संज्ञास्ताः शाखा इति वा । अर्थात् अश्व रूप रवि ने वाजों या केसरो से त्याग कीं, वे शाखा 'वाजसंन्यस्त' है, अथवा 'वाजसनी' नाम की उन शाखाओं को काण्व माध्यन्दिन आदि ने ग्रहण किया । इस प्रकार भागवत का लेख संदिग्ध सा ही रहा ।

विष्णुपुराण में स्पष्ट लिख दिया है कि—

इत्येवमादिभिस्तेन स्तूयमानः स वै रविः ।
 वाजिरूपधरः प्राह ब्रवीतामभिवाञ्छितम् ॥
 याज्ञवल्क्यस्तदा प्राह प्रणिपत्य दिवाकरम् ।
 यजूंषि तानि मे देहि यानि सन्ति न मे गुरौ ॥
 एवमुक्तो ददौ तस्मै यजूंषि भगवान् रविः ॥
 अयातयामसंज्ञानि यानि वेत्ति न तद्गुरुः ॥
 यजूंषि यैरधीतानि तानि विप्रैर्द्विजोत्तमाः
 कणाद्याः सुमहाभागाः याज्ञवल्क्याः प्रकीर्त्तिताः ॥

याज्ञवल्क्य की स्तुति से प्रसन्न होकर वाजि, अश्व के रूप में सूर्य ने कहा 'प्रसन्न हूं, वर मांग ।' याज्ञवल्क्य ने विनय कर कहा—युद्धे वे यजुर्गण दीजिए जिनको मेरा गुरु नहीं जानता । तब प्रसन्न होकर सूर्य ने 'अयातयाम' नामक यजुर्गण दिये । उनको उसके गुरु वैशम्पायन नहीं जानते थे । जिन्होंने इनका अध्ययन किया वे भी वाजी (अश्व) कहाये । क्योंकि सूर्य भी अश्व ही था । उन के १५ काण्व आदि शाखा हैं वे याज्ञवल्क्य शाखा ही कहाती हैं ।

इससे विपरीत लेख वायु पुराण और ब्रह्माण्ड में है—

तानि तस्मै ददौ तुष्टः सूर्यो वै ब्रह्मरातये ।
 अश्वरूपाय मार्त्तण्डो याज्ञवल्क्याय धीमते ॥
 यजूंष्यधीयन्ते यानि ब्राह्मणाः येन केनचित् ।
 अश्वरूपाय दत्तानि ततस्ते वाजिनोऽभवन् ॥

सूर्य ने प्रसन्न होकर अश्वरूप याज्ञवल्क्य को यजुर्गण दिये । क्योंकि अश्वरूप याज्ञवल्क्य को दिये इसलिये जिन्होंने उनको पढ़ा वे भी 'वाजी' कहाये । यहां याज्ञवल्क्य अश्व रूप बना । यह पूर्व लेखों से विपरीत है । इसलिये हमें पुराणों की ये सब कल्पनाएं असंगत एवं असत्य प्रतीत होती हैं । ये सब पुराणकार गप् गढ़ लेने में बड़े चतुर मालूम होते हैं । इन्होंने सत्य को भ्रष्ट करने और छिपा देने और वाजि आदि नामों के आधार पर जितनी भी असत्य कल्पना की जासकी कर लीं । हमने यह सब केवल इसलिए ही उद्धृत किया क्योंकि प्रायः नये गवेषक भी पुराणों के ही इन वचनों से बहुत २ परिणाम निकालने लगते हैं । यहां तक कि चरणव्यूह परिशिष्ट के टीकाकार पं० महिदास ने भी इन पुराणों के श्लोक उद्धृत करके ही सत्यतत्त्व को बिगाड़ डाला है । क्योंकि कोई भी अपने गुरु की विद्याओं को रुधिर सहित वमन के रूप में उगल नहीं सकता फिर औरों का 'तित्तिरि' पक्षी होकर वमन को खा जाना यह बड़ा घृणाजनक तथा सष्टिक्रम के विपरीत, गढ़ा हुआ गपोड़ा मालूम होता है ।

सत्य बात यह है कि यजुर्वेद की शुद्ध संहिता उस समय पठन-पाठन क्रम से उसी प्रकार लुप्त हो रही थी जैसे महर्षि दयानन्द के काल में पाणिनीय व्याकरण लुप्तप्राय था । जैसे सभी विद्वान् भट्टोजी दीक्षित के बनाये प्रक्रियाक्रम से व्याकरण पढ़ने लगे थे । परन्तु तो भी दण्डी स्वामी श्री विरजानन्दजी पाणिनिक्रम को ही श्रेयस्कर मानते थे । महर्षि दयानन्द ने दण्डीजी से ही जाकर पाणिनीय क्रम से व्याकरण पढ़ा । उसी प्रकार सम्भवतः वैशम्पायन के शिष्यों में ब्राह्मण-मिश्रित संहिता का चलन हो चला जैसा प्रायः सब कृष्ण-शाखी यजुर्वेद संहिताओं में है । और इस क्रम से वेद का शुद्ध 'निगद' स्वरूप नष्ट हो गया हो, समस्त ऋषियों के सामने यह समस्या उपस्थित हुई कि पुनः इस दोष को कैसे हटाया जाय । योगी याज्ञवल्क्य ने पुनः शुद्ध संहिता प्राप्त करने का भगीरथ प्रयत्न किया हो

(१४)

इस मतभेद से ही उसने कदाचित् वैशम्पायन कुल को छोड़कर वाजसनेय ऋषि के कुल में दीक्षा ली हो ।

कृष्ण और शुक्ल

अब तक जितनी भी शाखाएं यजुर्वेद की उपलब्ध होती हैं वे दो पक्षों में बंटी हैं । कुछ कृष्ण शाखा हैं और कुछ शुक्ल शाखा हैं । इन दो नाम होने का क्या कारण है कुछ स्पष्ट नहीं प्रतीत होता । पुराणकारों के मत से तो याज्ञवल्क्य ने उनको वमन कर दिया इसलिये घृणा योग्य होने से 'कृष्ण' हैं । और दूसरी सूर्य प्रोक्त होने से 'शुक्ल' हैं । परन्तु यह कल्पना किसी मूल्य की नहीं है । क्योंकि यही आधार कृष्ण शाखा का 'तैत्तिरीय' नाम होने का भी है, क्योंकि वमन किये यजुर्गण को शिष्यों ने तित्तिर पक्षी होकर ग्रहण किया । यह कल्पना इसलिये असत्य है क्योंकि तैत्तिरीय शाखा का नाम 'तित्तिरि' आचार्य के नाम से पड़ा है । जैसा पाणिनि ने स्पष्ट लिखा है—

तित्तिरिवरतन्तुखण्डिकोखाच्छ्रण ॥ पा० ४ । ३ । १०३ ॥

तित्तिरि आदि शब्दों से 'तेन प्रोक्तम् अधीयते' इस अर्थ में 'छण्' प्रत्यय होता है । तित्तिरिणा प्रोक्तमधीयते तैत्तिरीयाः । 'तित्तिरि' आचार्य से कहे प्रवचन को पढ़ने वाले छात्र 'तैत्तिरीय' कहाये और वह प्रवचन 'तैत्तिरीय' कहाया । इसी प्रकार पाणिनि ने अन्य भी कई आचार्यों का पता दिया है । जैसे—शौनकादिभ्यश्चन्द्रसि पा० ४ । ३ । ९३ इस सूत्र के शौनकादिगण में शौनक, वाजसनेय (साङ्गरव) शार्ङ्गरव, शापेय, (सावेय) शोषेय शाखेय, खाडायन, स्तम्भ (स्कन्ध) देवदर्शन (देव-दत्तशठ) रज्जुभार, रज्जुकण्ठ कठशाठ (कशाय) कपाय, तल (तल-वकार), तण्ड, पुरुषासक (परुषासक), अश्वपेज (अश्वपेय) ॐ ये नाम भी परिगणित हैं । इनमें 'वाजसनेय' ऋषि का नाम है । उसके शिष्य

* कोष्ठगत नाम कारिकाभिमत है । और साथ के दीक्षिताभिमत है ।

(१५)

वाजसनेयी कहते हैं। इससे अश्वरूप सूर्य से याज्ञवल्क्य ने यजुषों को ग्रहण किया इत्यादि कल्पना 'वाजसनेय' होने में असत्य प्रतीत होती है। शापेय, खाडायन, तलवकार आदि शाखाकारों के नाम भी स्पष्ट हैं।

पाणिनीय सम्प्रदाय में प्रसिद्ध यह बात है कि—

(१) वैशम्पायन के ९ शिष्य थे आलम्बि, पलङ्ग या फलिंग, कमल ऋचाभ, आरुणि, ताण्ड्य, श्यामायन, कठ, कलापी।

(२) कलापि के चार शिष्य थे हरिद्रु, छगली, उलप, और तुम्बुरु।

(३) चरक वैशम्पायन का ही नाम था।

इन नामों में याज्ञवल्क्य का नाम नहीं आता। याज्ञवल्क्य और याज्ञवल्क्य प्रोक्त शतपथ ब्राह्मण भी अति प्राचीन है। चाहे काशिकाकार ने याज्ञवल्क्य को अर्वाचीन माना है। परन्तु महाभाष्यकार ने याज्ञवल्क्य को प्राचीन ब्राह्मणकार के तुल्यकाल ही माना है। फलतः शुक्ल और कृष्ण नाम होने का कोई अन्य ही कारण है।

सर मोनियर विलियम ने अपने प्रसिद्ध कोष में लिखा है कि कृष्ण यजुर्वेद ब्राह्मण भागों से मिश्रित होने से 'कृष्ण' हैं और शुक्ल यजुर्वेद में शुद्ध मन्त्र संहिता है अतः 'शुक्ल' है। इस कथन में भी बहुत गहराई नहीं है। एक यह भी विचार है कि वेदव्यास 'कृष्ण' द्वैपायन कहाते थे। उनका नाम 'कृष्ण' था, उस नाम से ही कदाचित् उनकी शिष्यपरम्परा में प्रचलित वेदशाखा कृष्ण शाखा है और इससे इतर वाजसनेय शिष्य परम्परा में प्रसिद्ध वेद 'शुक्ल' शाखा हैं। पुराणों ने जो लिखा है कि याज्ञवल्क्य ने सूर्य से उन यजुर्गण को प्राप्त किया 'यानि वैत्ति न तद् गुरुः' जिनको उनका गुरु नहीं जानता था महिदास पण्डित ने इसका भी यही भाव लिया है कि तेषां व्यासेनानुपादिष्टत्वात् इति भावः। अर्थात् उनको व्यास ने उपदेश नहीं किया। उक्त पण्डित ने शुक्ल और कृष्ण होने का एक कारण यह भी बतलाया है।

(१६)

वैदोपक्रमणे चतुर्दशीपौर्णिमाग्रहणात् शुक्लयजुः ।

प्रतिपदायुक्तपौर्णिमाग्रहणात्कृष्णयजुः ॥

अर्थात् वेदोपक्रम कार्य में चतुर्दशी को पूनम मानने से वे शुक्ल यजु कहाये और प्रतिपत् से युक्त पूनम मान लेने से दूसरों के कृष्ण यजु कहाये । परन्तु यह कारण तुच्छ एवं एकदेशी है । ब्राह्मण ग्रन्थों में 'शुक्ल' और 'कृष्ण' सम्बन्ध में लिखा है ।

(१) तद् यच्छुक्लं तद् वाचो रूपम् । ऋचो अग्नेर्मृत्योः । सा या सा वाग् ऋक् सा । अथ योऽग्निर्मृत्युः सः । अथ यत्कृष्णं तदपां रूपम् अन्नस्य मनसः यजुषः ॥ तद्यास्ता आपोऽन्नं तत् । अथ यन्मनो यजुस्तत् । जैमिनीयोपनिषद् ब्राह्मण १ । २५ ॥

जो शुक्ल है वह वाणी का रूप है । ऋक् अग्नि और मृत्यु का भी श्वेत रूप हैं । वाणी ही ऋक् है । अग्नि मृत्यु है । कृष्ण रूप जलों का, अन्न और मन का है । आपः भी अन्न हैं, मन यजु है । यह 'कृष्ण' और 'शुक्ल' का आध्यात्मिक विवरण है । अध्यात्म में वाणी शुक्ल है और मानस संकल्प कृष्ण है । 'आपः' ये अन्न हैं, अर्थात् जिस प्रकार शरीर में मानस बल ही अन्न के बने शरीर में क्रियाऽऽधान करता है उसी प्रकार वेदवाणियों को यजुर्वेद ही कर्मकाण्ड में नियुक्त करता है ।

(२) यज्ञो हि कृष्णः । स यः स यज्ञः । तत्कृष्णाजिनम् ॥ शत० ॥ यज्ञ ही कृष्ण है । यज्ञ कृष्णाजिन हैं । इस संकेत से भी कदाचित् यज्ञ में विनियुक्त यजुर्वेद को 'कृष्ण यजुर्वेद' कहा गया हो । और यजुर्वेद की शुद्ध संहिता को 'शुक्ल' कहा गया हो ।

(२) असौ वा आदित्यः शुक्रः । श० १ । ४ । २ । २१ ॥ एष वै शुक्रो यः एष तपति । शत० ४ । ३ । १ । २६ ॥ आदित्य ही शुक्र है । शुक्र वह है जो यह तप रहा है ।

(३) तत्र ह्यादित्यः शुक्रश्चरति । आदित्य शुक्र रूप होकर

(१७)

विचरता है। इससे आदित्य 'शुक्र' होने से आदित्य से प्राप्त यजुर्गण शु या 'शुक्र यजुः' कहाये।

आदित्य को परमेश्वर का वेदमयस्वरूप हम पहले लिख आये हैं। शुद्ध यजुर्वेद परमेश्वर से ही प्राप्त हुआ है इस कारण इस का नाम 'वाज-सनेय' संहिता है। इस विषय पर प्रकाश डालने वाली नीचे लिखी ऋचा ऋग्वेद और अथर्व वेद दोनों में समान रूप से है।

यदा वाजमसनद् विश्वरूपमा चामरुचदुत्तराभिसन्न ॥

बृहस्पतिं वृषभं वधेयन्तो नाना सन्तो विभ्रतो ज्योतिरासा ॥

ऋ० १० । २७ । १० ॥

जब बृहस्पति विद्वान्, वेदज्ञ पुरुष 'विश्वरूप वाज' अर्थात् परमेश्वर के विश्वमय ज्ञान, वेद को प्राप्त करता है और वह तेजोमय मोक्ष या उत्कृष्ट पदों को प्राप्त करता है तब उस पर मेघ के समान ज्ञान के प्रदान करने वाले उस 'बृहस्पति' विद्वान् पुरुष की महिमा की (आसा ज्योतिर्विभ्रतः) मुख से ज्ञानरूप ज्योति को धारण करते हुए नाना विद्वान् पुरुष (वर्ध-यन्तः) बढ़ाते हैं। यहां बृहस्पति शब्द आचार्य और परमेश्वर दोनों का वाचक हो सकता है।

इस मन्त्र में विद्वान् आचार्य एवं परमेश्वर का उच्च पदपर विराजना और उससे ज्ञान प्राप्त करने वाले विद्वानों का उसकी विद्या को फैलाने का वर्णन प्रतीत होता है। पूर्ण वेदमय ज्ञान को 'विश्वरूप वाज' शब्द से कहा प्रतीत होता है। जो विद्वान् उस वाज को स्वयं प्राप्त करे और दूसरों को प्रदान करे वह विद्वान् वेद के अनुसार 'वाजसन' कहावेगा, उसके शिष्य 'वाजसनेय' कहावेंगे। इस समाख्या से गुरुपरम्परा से परमेश्वर (आदित्य) से प्राप्त शुद्ध यजुर्वेद यह 'शुक्र यजुर्वेद' है इसमें सन्देह नहीं है। यज्ञ क्रियाओं में विनियुक्त हो जाने पर ब्राह्मणादि प्रवचनों से संयुक्त अन्य शाखा यज्ञमय होने से 'कृष्ण' अर्थात् यज्ञमय कहाई ऐसा प्रतीत होता है। अभी

(१८)

यह विषय और भी अधिक अनुशीलन चाहता है । महर्षि दयानन्द सरस्वती ने इस पर कुछ भी प्रकाश नहीं डाला ।

शाखा-नामों की तुलना से भी हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि परस्पर में नामों का कोई मेल नहीं है, शुद्ध नाम भी नहीं मिलते । इन शब्दों के शुद्ध रूपों की आशा केवल व्याकरण तथा ब्राह्मण ग्रन्थों में आये नामों से हो सकती है । परन्तु सबके वर्णन में एकता नहीं है । चरणव्यूहों तक में भेद है । एक चरणव्यूह में वाजसनेय शाखा के १५ भेद हैं तो दूसरे में १७ भेद हैं । इसी प्रकार अन्यो में भी भेद हैं ।

“कठों की विशेष शाखाएं

कठों की भिन्न २ शाखाओं का उल्लेख नहीं है । तो भी इतना संकेत मिलता है कि—

“कठानां पुनर्यान्याहुः चत्वारिंशच्चतुर्थुतान् ॥”

अर्थात् कठों के ४४ उपग्रन्थ कहे हैं । उनका कुछ पता नहीं चलता इसी सम्बन्ध में वेदों के विज्ञ श्रीपाद दामोदर जी साँतबलेकर ने स्वप्रकाशित यजुर्वेद की भूमिका में ‘तत्र कठानां चतुश्चत्वारिंशदुपग्रन्थाः’ इस चरण व्यूह के लेख से इनको भी शाखा समझा है । और उनका लेखन न हाने से उनको गणनाके अयोग्य बतलाया है । परन्तु पण्डित श्री महिदास ने कठों के ४४ उपग्रन्थों को ४४ अध्याय स्वीकार किया है । कापिष्ठल कठसंहिता में ४८ अध्याय उपलब्ध हैं । फलतः उनके यजुः संहिता में ४४ अध्याय थे ऐसा प्रतीत होता है । अब तो यजुर्वेद की केवल पाँच संहिताएं ही प्राप्त होती हैं ।

(१) काठक संहिता, (२) मैत्रायणी संहिता । (३) तैत्तिरीय संहिता । (४) वाजसनेय माध्यंदिन संहिता । और (५) काण्व संहिता । इन पाँचों में से पहली तीनों की रचना समान है । तीनों ब्राह्मण भाग से युक्त हैं । शेष काण्व और माध्यंदिन दोनों बहुत अधिक समान हैं परन्तु तो भी इन

(१९)

दोनों में मन्त्रों की न्यूनाधिकता पाठ, क्रम, प्रवचन आदि में भेद हैं। इसी प्रकार वाजसनेय संहिता के माध्यंदिनी और काण्व शाखाओं में भेद है। परन्तु बहुत भेद नहीं हैं। दोनों पर एक ही सर्वानुकुल सूत्र है। दोनों का एक ही शतपथ ब्राह्मण है। शाखा भेद से ब्राह्मण-संहिताओं में भी यत्किञ्चित् भेद है।

निगद और अयातयाम

अब प्रश्न यह है कि क्या वैशम्पायन को महर्षि व्यास ने जिस यजुर्वेद का उपदेश किया वह भिन्न था और याज्ञवल्क्य ने जों यजुर्गण आदित्य से प्राप्त किये वे भिन्न थे ? यदि दोनों में भेद था तो दो यजुर्वेद सिद्ध होते हैं। परन्तु वेद ईश्वरोक्त होने से उनको दो नहीं माना जा सकता। हमारे विचार में दोनों यजुर्वेद एक थे। कथाकारों ने स्पष्ट लिखा है।

वैशम्पायनसंज्ञाय निगदाख्यं यजुर्गणम् ॥

अर्थात् व्यास देव ने वैशम्पायन को 'निगद' नाम यजुर्वेद दिया। 'निगद' का अर्थ शुद्ध 'मन्त्रपाठ' है। यास्क को जहाँ मन्त्र की विशेष व्याख्या नहीं लिखनी होती वहाँ वह 'निगदेनैव व्याख्याता' लिखकर छोड़ देता है। महाभाष्यकर भी 'निगद' शब्द को केवल मन्त्र पाठ के लिये प्रयुक्त करते हैं।

यदधीतमविज्ञातं निगदेनैव शब्दयते। पात० महा० पस्पशे ॥

पूर्व विवेचना से भी स्पष्ट है कि 'चरक' वैशम्पायन का नाम था, उसको व्यासदेव द्वैपायन कृष्ण ने शुद्ध यजुर्मन्त्रों का उपदेश किया यज्ञ में विनियुक्त करके ब्राह्मण से संवलित हो जाने पर वही 'कृष्ण' द्वैपायनप्रोक्त मन्त्रपाठ शुद्ध संहिता नहीं रहा। याज्ञवल्क्य की गुरुपरम्परा में वह शुद्धपाठयुक्त यजुर्वेद संहिता बाद में भी बराबर शुद्ध रहा। महापदयानन्द ने भी उसी शाखा को शुद्ध यजुर्वेद स्वीकार किया है।

याज्ञवल्क्य ने 'अयातयाम' यजु को प्राप्त किया तात्पर्य यह है कि

(२०)

‘यजुष’ इतने शुद्ध थे कि जिनको अभी प्रहर भी न बीता हो । अर्थात् ‘सदा से रहनेवाले’, जो कभी पुरातन न हों, ऐसे सनातन सारवान् जिनका ज्ञानरस कभी क्षीण न हो ।

भागवत के भाष्यकार श्रीधर स्वामी ने ‘अयातयामाणि’ का अर्थ ‘अयथावद्विज्ञातानि’ किया है, अर्थात् जिनका अन्य विद्वानों ने उस समय ठीक प्रकार से ज्ञान नहीं किया था ।

वाजसनेय शाखानामों की तुलना

वाजसनेयों के शाखा-नामों में बड़ा भेद है । जावाल सर्वत्र है । बौधायन, बौधायन, बौद्धक, बौधायनीय इतने नाम भेद हैं । जिनमें शुद्ध नाम बौधायन, प्राप्त होता है । इसके श्रौतसूत्र, धर्मसूत्र, गृह्यसूत्र भी मिलते हैं । काण्वशाखा भी सर्वत्र समान है इस शाखा, की संहिता, सर्वानुक्रम, तथा ब्राह्मण भी प्राप्त है । शापीय शापेय, शापेय, शापेयी ये नाम उपलब्ध होते हैं । शौनकादिगण में ‘शापेय’ और ‘सावेय’ दोनों नाम उपलब्ध होते हैं । तापायनीय, तापनीय दोनों नाम हैं । कपालाः, कपोलाः दोनों नाम प्राप्त हैं । सम्भवतः ये कलापी की प्रोक्त कालाप शाखा है जिसके अध्येता ‘कालाप’ कहाते थे । कलापी की वैशम्पायन के शिष्यों में गणना है । आवटिक, और आटविक और अटवी तीनों नाम प्राप्त हैं ‘रसारविक’ यह विकृत नाम भी मिलता है । इसी प्रकार परमावटिक परमारविक दोनों नाम मिलते हैं । सम्भवतः परमाटविक नाम शुद्ध हैं । अटवी का अर्थ अरण्य है । स्यात् आरण्यकाध्यायी आटविक परमाटविक कहाते हों । ‘ट’ और ‘र’ के लेखसाम्य से पाठ भेद होकर परमारविक भी कहे गये हों । पराशर सर्वत्र समान हैं । अद् और ‘क्रद्’ दोनों में अ और ऋ वर्णलिपि की समानता से बदले दीखते हैं । बौधेय, बोधेय, वैधेय भी इसी प्रकार हैं । गालव केवल एक चरणव्यूह और ब्रह्माण्ड और वायु पुराण में मिलते हैं । ‘वैजव’ केवल एक चरणव्यूह में है शुद्ध नाम

‘वैजवाप’ है। औघेय और कात्यायन भी एक ही में हैं। कात्यायनीय श्रौत और गृह्यसूत्र मिलते हैं। ‘ताम्रायणीय’ भी तीन स्थानों पर प्राप्त हैं। ‘केवल’ शाखा एक स्थान में वत्स और वात्स्य ब्रह्माण्ड और वायु पुराण में ही है। शालीन, विदिग्ध, उद्दल, शैपिरीपर्णी, वीरणी, परायण, और अप्य ये केवल वायु पु० में मिलते हैं। जिनमें ‘उद्दल’ उद्दालकोक्त शाखा प्रतीत होती है। वंश ब्राह्मण में उद्दालक अरुण का शिष्य है। ‘शिरिप’ कुमुदादिगण और वराहादिगण (पा० ४।२।८०) में पठित है। विदिग्ध या विजग्ध भी वराहादिगण में पठित हैं। शैरिपी और शैपिरी एक ही हैं, वर्णव्यत्यय हो गया है। शिशिर शब्द का इससे कोई सम्बन्ध नहीं। पर्णी, और वरणा दोनों शब्द वरणादिगण (पा० ४।२।॥) में पढ़े हैं। हेमाद्रिप्रोक्त ऋद्ध्य अयोध्य, अयोधेय, शब्द हैं इनमें से भी यौधेयादि गण में यौधेय शब्द पठित हैं इस गणपाठ से यद्यपि हम विशेष कोई परिणाम नहीं निकाल सकते परन्तु क्योंकि इनमें बहुत से प्राचीन आर्ष नाम भी पढ़े हैं इस सहयोग से सम्भवतः ये शब्द शाखाकारों के मूल नाम हों। यही विकृत होकर स्थान २ पर दीखते हैं ऐसा विचार उत्पन्न होता है। अगले गवेषणाचतुर विद्वान् इससे कोई विशेष स्थिर परिणाम प्राप्त करें।

अभी तक शुक्ल शाखाओं के विषय में विचार प्रायः देखने में आता है कि याज्ञवल्क्य के ही १५ शिष्यों ने १५ शाखाएं चला दी हैं। परन्तु हमें यह विचार बहुत अधिक महत्त्व का नहीं जंचता है। हमारे विचार में इन समस्त शाखाकारों का याज्ञवल्क्य से कोई सीधा साक्षात् सम्बन्ध नहीं है। वे कदाचित् उसके एककालिक शिष्य भी नहीं थे। क्योंकि शतपथ के वंशब्राह्मण में बहुत से शाखाकारों के नाम आते हैं जैसे याज्ञवल्क्य जिसका दूसरा नाम ‘वाजसनेय’ भी कहा जाता है वह स्वयं उद्दालक का शिष्य है। उसका शिष्य आसुरि है। उद्दालक की प्रवर्तित शाखा का उल्लेख ‘उद्दल’ नाम से वायु पुराण में प्राप्त है। याज्ञवल्क्य से ६ पीढ़ी पूर्व ‘वाजश्रवा’ नाम गुरु हैं। कदाचित् उनका दूसरा ‘वाजसन’ नाम हो, इससे

भी इस शाखा का नाम वाजसनेय चलना सम्भव हैं। इस वंश के सबसे प्रथम गुरु 'आदित्य' का नाम है इससे ये 'आदित्य' से प्राप्त यजुर्वेद कहे जाते हैं। शिष्य परम्परा से अनन्त शिष्यों के पास पहुँच कर भी उनका ज्ञान-रस वैसा का वैसा ही सारिष्ठ रहा इससे 'अथातयाम' कहाये। 'पाराशर' एक शाखाध्यायी हैं। परन्तु वंशब्राह्मण में पाराशरीपुत्र वार्काङ्गीपुत्र के शिष्य और भारद्वाजीपुत्र के गुरु हैं। इसी प्रकार ब्रह्माण्डपुराण में 'वत्स' और वायु पु० में वात्स्य शाखा का नाम मिलता है भारद्वाजीपुत्र का शिष्य वात्सी-पुत्र था। इसी प्रकार द्वितीय वंशब्राह्मण में शाण्डिल्य का शिष्य वात्स्य है। और जातुकर्ण्य का पाराशर्य है। चरणव्यूह, ब्रह्माण्ड और वायु ने गालव शाखा का नाम लिखा है। वंश ब्राह्मण में विदर्भी कौण्डिन्य का शिष्य गालव है। बौद्धायन, बौधायन, आदि का प्रायः सभी ने उल्लेख किया है। वंशब्राह्मण (१) में शालंकायनी पुत्र का शिष्य बोधीपुत्र है। इसी प्रकार यदि सभी अन्य शिष्य-परम्पराओं का पता लग जाय तो और शाखाओं के प्रवर्त्तकों का विवरण भी स्पष्ट हो सकता है।

मैत्रायणीयों के ७ भेद

मानव, वराह, दुन्दुभ हरिद्रवीय, श्यामायनीय, ये शाखा सर्वत्र समान हैं। छगलेय का दूसरा नाम छगोय है। छगलिनो ढिनुक्। पा० ४।३।१०९॥ में 'छगलेयिनः' ऐसा पाणिनिसिद्ध प्रयोग शाखाध्यायी शिष्यों के लिये आता है। छगली, कलापी के चार शिष्यों में से एक है। श्यामायन वैशम्पायन के शिष्यों में है, उसके शिष्य 'श्यामायनी' कहाये हैं। हरिद्रवीयों का पूर्व भी लिख आये हैं। उसका ब्राह्मणों में वर्णन आता है। अथर्व चरणव्यूह में 'हारितकर्णः' लिखा है। यह वंश ब्राह्मण में भारद्वाजी-पुत्र का शिष्य 'हारीतकर्णीपुत्र' है। श्याम शाखा का उल्लेख यजु० चरणव्यूह और विष्णु पु० ने किया है। चैकेय भी अज्ञात सा नाम है।

चरक शाखाओं के १२ भेद

इन नामों में बहुत कम भेद है। हेमाद्रि ने 'करकाः' लिखा है। पं० महीदास ने चरकाध्वयुओं को चरकाध्वयु इस नामान्तर से भी लिखा है। हेमाद्रि ने नारायणीय नामान्तर दिया है। चरतन्तु से 'वारतन्तवीय' शब्द व्युत्पन्न होता है। चरणव्यूहों में यह शब्द विकृत कर दिया है। 'चारायण' आचार्य का नाम प्राचीन अर्थशास्त्रों में उपलब्ध होता है। कठ वैशम्पायन के साक्षात् शिष्य थे। पाणिनि सम्प्रदाय ने वैशम्पायन को ही चरक माना है। उसके ९ शिष्य माने हैं। आलम्बि, पलङ्ग, कमल, ऋचाभ, आरुणि, ताण्ड्य, श्यामायन कठ और कलापी। प्रचलित इन १२ नामों में केवल कठ, चरक और ऋचाभ का पता चलता है। बाकी सब वैशम्पायन के साक्षात् शिष्य नहीं हैं। 'चरतन्तु' सम्प्रदाय का नाम चरकों में है परंतु वह न वैशम्पायन के शिष्यों में और न कलापी के शिष्यों में है। वे स्वतंत्र आचार्य प्रतीत होते हैं। वारायणीय को हेमाद्रि ने नारायणीय लिखा है। इस नाम से यजुर्वेद का पुरुष सूक्त (अ० ३१) और अगले अध्याय (३२) के द्रष्टा ऋषि नारायण हैं। और तैत्तिरीयारण्यक में नारायणोपनिषत् भी है। ऊदाचित् वही इस शाखा के प्रवर्तक हों। श्वेताश्वतर शाखा की इसी नाम से उपनिषद् प्राप्त है। निरुक्तकार यास्क ने औपमन्यव का उल्लेख किया है। पातण्डिनीय या पाताण्डनीय यह नाम विकृत हैं। वैशम्पायन के नव शिष्यों में ताण्ड्य का नाम है। इसके शिष्य ताण्डिन् कहाते हैं। अग्नि पुराण ने एक वैशम्पायनी शाखा भी स्वीकार की है। 'मैत्रायणी' शाखा की संहिता उपलब्ध है। आह्वरक शाखा का पता नहीं चला। कठ वैशम्पायन के शिष्य प्रसिद्ध हैं। दिशा और देशभेद से प्राच्यकठ और कपिष्ठल कठों का भेद हुआ है। हरिदु कलापी का शिष्य है। उससे हारिद्रवीय शाखा चली, इसका उल्लेख हेमाद्रि ने किया है। ऋचाभ से आर्चाभ्य आम्नाय (वेद) प्रसिद्ध है, जिसका उल्लेख यास्काचार्य ने निरुक्त में किया है।

तैत्तिरीयों के शाखा-भेद

तैत्तिरीयों के मुख्य दो भेद हैं। औखेय और खाण्डिकेय। पाणिनि ने तित्तिरि, वरतन्तु, खण्डिक और उख इन चारों का नाम एक स्थान पर रखा है। तित्तिरिवरतन्तुखण्डिकोखाच्छृण्। वे चारों स्वतन्त्र आचार्य प्रतीत होते हैं। तित्तिरि के शिष्य तैत्तिरीय, खण्डिक के शिष्य खाण्डिकीय और उख के शिष्य औखीय और वरतन्तु के 'वारतन्तवीय' कहाते हैं। तित्तिरि वैशम्पायन के शिष्य नहीं थे। फिर उनकी शाखा कृष्ण क्यों कहाई यह विचारणीय है, विश्वरूप त्रिशिरा त्वाष्ट्र के एक शिरच्छेद से 'तित्तिर' उत्पन्न हुए, वहां अलंकार से तीन शिर तीन वेद के वाचक हैं। यह विश्व-रूप के अध्यापित यजुर्वेदी कदाचित् तित्तिर नाम से विख्यात हुए हों। त्वाष्ट्र विश्वरूप शतपथ के द्वितीय वंश-ब्राह्मण में १४ वीं परम्परा में अश्वियों के शिष्य है।

खाण्डिकेयों के पांच भेद हैं आपस्तम्ब, बौधायन, सत्याषाढ, हिरण्यकेश और काट्यायन। आपस्तम्ब मुनिप्रोक्त धर्म, गृह्य और श्रौत्र सूत्र और यज्ञ परिभाषा सूत्र उपलब्ध है। परन्तु वाजसन्यों में भी एक बौद्धाचन और 'बौधेय' नाम आते हैं। वंश ब्राह्मण में सालंकायनीपुत्र का शिष्य बौधीपुत्र मिलता है। हिरण्यकेशी संहिता प्राप्त है। इस शाखा के मानने वाले मिलते हैं। मानव गृह्यसूत्र हिरण्यकेशीय शाखा के हैं। कदाचित् पूर्वोक्त मानव शाखा मैत्रायणीयों का भेद होकर भी हिरण्यकेशीयों में सम्मिलित हों। 'काट्यायन' शाट्यायन शब्द का अप्रभ्रष्ट स्वरूप प्रतीत होता है। शौनक चरणव्यूह में शाट्यायन का नाम है। इस नाम का श्रौतसूत्र प्राप्त है। ब्राह्मणों में भी स्थान २ पर यह नाम आता है। भारद्वाज का गृह्यसूत्र प्राप्त है। इसका वंश ब्राह्मण में भी कई चार नाम आया है। सत्याषाढों का श्रौतसूत्र उपलब्ध है। और शेष शाखा के भेदों का उल्लेख कहीं नहीं मिलता। इन सब भेदों के अतिरिक्त अथर्व परिशिष्ट चरणव्यूह में 'उपल' शाखा का नाम है। शुद्ध शब्द

(२५)

‘उपल’ प्रतीत होता है। वह कलापी के चार शिष्यों में से है। वहां ही ताम्रायणीय नाम भी है। शुद्ध शब्द ‘तौम्बुराविणः’ प्रतीत होता है। ‘तुम्बुरु’ कलापी के चार शिष्यों में हैं। वायुपुराण में ‘आरुणि’ और ‘आलम्बि’ दो नाम और मिलते हैं। अरुण उद्दालक के गुरु हैं। दूसरे, वैशम्पायन के नव शिष्यों में एक ‘अरुण’ है उसके शिष्य भी आरुणि कहाये। ‘आलम्बी’ वैशम्पायन के नव शिष्यों में एक हैं। और वंश ब्राह्मण में आलम्बायनीपुत्र का शिष्य आलम्बीपुत्र है।

इस प्रकार बहुत से नाम वंशब्राह्मणों में मिल जाते हैं और वेही नाम शिष्यों में भी मिलते हैं। अतः किससे शाखा नाम चला, नहीं कहा जा सकता। कदाचित् प्राचीन नामों को ही पीछे से किसी भी रूढि के वंश शिष्यादि रूप से कल्पित कर लिया हो। या एक ही नाम के बहुत से हो गये हों इत्यादि सभी समस्याएं अन्धकार में हैं। स्वल्प स्थान में हमने बहुत से नामों का दिग्दर्शन मात्र करा दिया है। आगे निर्णय करना विद्वानों का कार्य है। शतपथ ब्राह्मण में दो वंश ब्राह्मण शतपथ (का० १०।६।५।९॥ और का० १४।५।१९-२२॥) तथा बृहदारण्यक उपनिषत् में एक वंश ब्राह्मण दिया गया है उनकी शिष्य परम्परा भी देखनेयोग्य है।

उपवेद

वेदों के उपवेदों के विषय में भी मत भेद है। महर्षि दयानन्द संस्कारविधि में लिखते हैं कि—“ऋग्वेद का उपवेद आयुर्वेद, जिसको वैद्यक शास्त्र कहते हैं, जिसमें धन्वन्तरिजी कृत सुश्रुत और निघण्टु तथा पतञ्जलि ऋषिकृत चरक आदि आर्षग्रन्थ हैं....यजुर्वेद का उपवेद धनुर्वेद जिसको शस्त्रास्त्र विद्या कहते हैं। जिसमें अङ्गिरा आदि ऋषिकृत ग्रन्थ हैं जो इस समय बहुधा नहीं मिलते। पुनः सामदेव का उपवेद गान्धर्व वेद जिसमें नारद संहितादि ग्रन्थ हैं....अथर्ववेद का उपवेद अथर्ववेद जिसको शिल्प शास्त्र कहते हैं जिसमें विश्वकर्मा त्वष्टा और मयकृत संहिता ग्रन्थ हैं।” इसी लेखानुसार शौनकी चरणव्यूह परिशिष्ट में लिखा है —

(२६)

ऋग्वेदस्यायुर्वेद उपवेदो यजुर्वेदस्य धनुर्वेद उपवेदः साम-
वेदस्य गान्धर्ववेदोऽथर्ववेदस्यार्थशास्त्रं चेत्याह भगवान्व्यासः
स्कन्दो वा (ख० ४)

उसपर महीक्षस पण्डित ने लिखा है—धनुर्वेदो युद्धशास्त्रम् । गान्धर्व-
वेदः संगीतशास्त्रम् । अर्थशास्त्रं, नीतिशास्त्रं, शस्त्रशास्त्रं, विश्वकर्मादिप्रणीतं-
शिल्पशास्त्रम् ।

सुश्रुत में लिखा है—‘आयुर्वेदो नाम यदुपाङ्गमथर्ववेदस्य ।’
गोपथ ब्राह्मण में लिखा है—स दिशोऽ न्वैक्षत....ताभ्यः पञ्च वेदा-
न्निरमिमत् सर्पवेदं पिशाचवेदमसुरवेदमितिहासवेदं पुराण
वेदमिति । प्राच्य एव दिशः सर्पवेदं निरमिमत् दक्षिणस्याः पिशा-
चवेदं प्रतीच्या असुरवेदमुदीच्या इतिहासवेदं ध्रुवायाश्चोर्ध्वा-
याश्च पुराणवेदम् ॥ गौ० पू० १ । १० ॥

शतपथ (१३।४।३।३-१५) में लिखा है—(१) मनुर्वैवस्वतो राजा....
तस्य मनुष्या विशः ...अश्रोत्रियाः गृहमेधिनः....ऋचो वेदः । (२) यमो
वैवस्वतो राजा....तस्य पितरो विशः ...स्थाविराः....यजूंषि वेदः । (३) वरुण
आदित्यो राजा...तस्य गन्धर्वा विशः....युवानः शोभनाः....अथर्वाणो
वेदः । (४) सोमो वैष्णवो राजा....तस्याप्सरसो विशः...युवतयः शोभनाः....
आङ्गिरसो वेदः । (५) अर्बुदः काद्रवेयो राजा .. तस्य सर्पा विशः....
सर्पाश्च सर्पविदश्च ...सर्पविद्या वेदः । (६) कुवेरो वैश्रवणो राजा रक्षांसि
विशः....सेलगाः पापकृतः....देवजनविद्या वेदः....(७) धान्वो राजा....
तस्य आसुरा विशः....कुसीदिनः....मायावेदः । (८) मत्स्यः सामदो
राजा....तस्य उदकेचरा विशः....मत्स्याश्च मत्स्यहनश्च....इतिहासो वेदः ।
(६) ताक्ष्यो वैपश्यतो राजा....वयांसि च वायोविधिकश्च.... पुराणं वेदः ।
(१०) इन्द्रो राजा....देवा विशः श्रोत्रिया अप्रतिग्राहकाः....सामानि वेदः ।

इसी प्रकार आश्वलायन और शाङ्खायन श्रौतसूत्र में भी ४ वेद और

(२७)

उपवेदों की गणना की है। और भी कतिपय उपवेद बने जिस प्रकार भरत मुनि का नाट्यवेद प्रसिद्ध है। वह उसको यजुर्वेद से निकाला स्वीकार करते हैं। चरणव्यूहोक्त यजुर्वेद तथा अथर्ववेद के उपवेदों पर दृष्टि करें तो धनुर्वेद, और अथर्ववेद एक दूसरे के सहयोगी हैं। धनुर्वेद युद्धशास्त्र है और अथर्ववेद में नीति शास्त्र, शास्त्रास्त्र-शास्त्र और शिल्पशास्त्र तीनों सम्मिलित हैं। असुर वेद या मायावेद धनोपाजन की विद्या है, वह अथर्ववेद से भिन्न नहीं है। आंगिरस वेद, विषवेद या सर्पवेद, ये सभी आयुर्वेद में सम्मिलित हैं। उन ही अंग उपांग विद्याओं का अधिक विस्तार हो जाने से उनके पृथक् २ नाम हो गये हैं।

यजुर्वेद का प्रतिपाद्य विषय

यजुर्वेद में राज्यशासन, शासन-विभाग, राष्ट्र-विजय, राज्याभिषेक, तथा युद्धादि का वर्णन पर्याप्त विद्यमान हैं। इसलिये उसकी मुख्य अंग-विद्या 'यजुर्वेद' सुतरां उपयुक्त है। इससे वैशम्पायन मुनिकृत नीतिप्रकाशिका और वसिष्ठ और विश्वामित्र कृत यजुर्वेद आदि उत्तम उपयोगी ग्रन्थ हैं।

राज्य विषयक रचनाओं आदि का स्थान २ पर जो हमने अपने भाष्य में वर्णन किया है वह अभी और भी बहुत विचारने योग्य है। यजुर्वेद का केवल राजनीति तथा राज्यपालन की दृष्टि से और भी उदात्त भाष्य होने की आवश्यकता है। तो भी यजुर्वेद में किस रीति से राजनीतिशास्त्र का कितना अधिक वर्णन है और उसी के गर्भ में राज्य के समान ही ब्रह्माण्ड के राजा परमेश्वर, गृह के राजा गृहपति और देह के राजा आत्मा एवं द्यौः, अन्तरिक्ष, और पृथिवी के राजा क्रम से सूर्य, वायु और अग्नि एवं प्रतिनिधि वाद से सोम, वरुण, आदि नामों से राजा आदि का वर्णन किस प्रकार किया है। भाष्य को धैर्य से और मननपूर्वक देखने से विदित हो जायेगा।

(२८)

प्रस्तुत भाष्य

प्रस्तुत भाष्य में यह यत्न किया गया है कि जहां तक सम्भव हो सरल, बुद्धिगम्य प्रस्फुट अर्थ पाठकों को विदित हो। अन्य पक्षों को भी प्रस्तुत भाष्य में यथास्थान दर्शाया है। कर्मकाण्ड के प्रकरण की हमने उपेक्षा की है क्योंकि उसके विवरण के लिये सत्राह्मण मूलमन्त्र के व्याख्यान की आवश्यकता है। उसके लिये विशाल ग्रन्थ अपेक्षित हैं। जिन पक्षों पर महर्षि दयानन्द ने अपने आकर-भाष्य में प्रकाश डाला है उनको पिष्टपेषण जान कर विशेष रूप से नहीं दर्शाया गया है। महर्षि के पदार्थभाष्य की तुलना प्राचीन किसी भाष्य से भी नहीं की जा सकती। क्योंकि वे यज्ञपक्षीय हैं और महर्षि का पदार्थ-भाष्य सर्वतोभद्र है। भाषान्तरकार बहुत से स्थलों पर महर्षि के भावों को सुसंयत भाषा में स्पष्ट करने में असमर्थ रहे हैं। बहुत से स्थलों पर भाव विकृत भी कर दिया है। पदार्थ भाष्य में महर्षि दयानन्द ने जितने पक्षों को दर्शाने का कौशल दर्शाया है भाषान्तरकारों ने उस पर विशेष विचार नहीं किया है। कुछ स्थल महर्षि के भाष्य में विचार योग्य हैं। उन पर मतभेद हो जाना स्वाभाविक है। महर्षि दयानन्द मार्गदर्शी गुरु हैं, इसमें तनिक भी संदेह नहीं।

भूमिका में जितने अंशों को दर्शाया है उससे अतिरिक्त बहुत से विषय महर्षि दयानन्द ने स्वयं 'ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका' में दर्शा दिये हैं। उन को सर्व विदित जानकर यहां पिष्टपेषण नहीं किया गया।

द्वितीय संस्करण

प्रथम संस्करण माघ १९८६ विक्रमान्द में दश वर्ष पूर्व छपा था। मुझे यह आशा न थी कि यजुर्वेद भाष्य का द्वितीय संस्करण मेरे जीवन-काल में हो सकेगा। परन्तु वेदप्रेमी जनता ने अभिरुचि दिखाई और द्वितीय संस्करण निकालना आवश्यक हुआ, इसमें कुछ विशेषता नहीं की। पूर्व

(२९)

संस्करण में प्रेस, वा संशोधकों की त्रुटियों को यथासम्भव दूर किया गया, वेदाध्यायी जनता में छन्दों और देवता विषयक विवाद प्रबल रूप से उठ खड़ा हुआ था, इस कारण छन्द, और देवतानामों को विशेष रूप से संशोधन किया, और जिनके देवता छन्द आदि देने रह गये थे उनके भी देदिये । वेदगुरु ऋषिदयानन्द संमत देवता और छन्दों को ही इसमें प्रमुखता दी है, क्योंकि कर्मकाण्डपरक व्याख्या यहां अभीष्ट न थी इसलिये तत्परक यजुःसर्वानुक्रमणी को यहां महत्त्व नहीं दिया । मतभेद स्थान २ पर उद्धृत हैं । सर्वानुक्रमणी के लेख भी सर्वतोमुखेन ग्राह्य प्रतीत नहीं हुए, वे कहीं अपूर्ण, कहीं मौन भी हैं, अनन्तदेव याज्ञिक आदि टीकाकारों ने उस न्यूनता को पूर्ण भी किया है । प्रथम संस्करण में देवता सर्वानुक्रमणी और ऋषि दयानन्द दोनों के मिलाकर रखे थे । परन्तु इससे भ्रम उत्पन्न होता देखा गया, इसलिये इस संस्करण में केवल ऋषिसंमत देवता साथ दिये हैं और सर्वानुक्रमणी के भिन्नमत को पादटिप्पणों में दिया है ।

मैं मनुष्य हूं, निर्भ्रान्त नहीं हूं । सर्वज्ञ भी नहीं हूं, और किसी भी मनुष्यसीमा में स्थित व्यक्ति को सर्वज्ञ, निर्भ्रान्त, तथा एकान्त प्रमाण भी नहीं मानता हूं । सब पूर्वाचार्यों को और उनके वैदिक मार्ग में यथाशक्ति किये यत्न को वेद की रक्षा के निमित्त जान कर श्रद्धा, मान और आदर का पात्र समझता हूं । मत-भेद होने से कोई विद्वान् अशिष्टोचित अनादर का पात्र नहीं हो सकता । किसी पूर्वाचार्य ने भी अगलों के लिये वेद मार्ग पर विचार करने और स्वतन्त्र भाष्य बनाने का निषेध नहीं किया और न किया जा सकता है ।

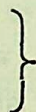
यह मेरा परिश्रम गुणग्राहियों के लिये है । दुर्भाव से भाष्य पर दुर्दृष्टि करने वालों के लिये मैंने कुछ नहीं किया है । इस में संदेह नहीं कि दोषदर्शन करने में निपुण खलों के लिये इसमें सहस्रों कल्पित दोष

(३०)

दीखेंगे । परन्तु गुणग्राही सज्जनों को मेरे सहस्रों दोषों में से भी गुण दिखाई देंगे । और वे उसको अपने स्वभाव के अनुसार हंस के समान अवश्य ग्रहण करेंगे ।

आगमप्रवणश्चाहं नापवाद्यः स्खलन्नपि ।
नहि सद्-वर्त्मना गच्छन् स्वलितेष्वप्यपोद्यते ॥

अजमेर
माघ पूर्णिमा
१९६६ बैक्रमाब्द ।



विद्वानों का अनुचर—
जयदेवशर्मा विद्यालंकार,
मीमांसातीर्थ ।



विषय-सूची

प्रथमोऽध्यायः (पृ० १-३१)

मन्त्र (१) परमेश्वर से अन्न, बल की प्रार्थना । रोगरहित पशु सम्पत्ति की इच्छा । दुष्ट पुरुषों का नाश । (२) प्रभु से तेजोवृद्धि की प्रार्थना । (३) सहस्रधार और शतधार वसु । (४) विश्वकर्त्री और विश्वधात्री शक्ति । (५) व्रतपति का आराधन । (६) सर्वनियोजक प्रभु । (७-९) दुष्टों का दमन । (१०) अन्न, ऐश्वर्य की प्राप्ति । (११) दुष्ट संतापक अग्नि रूप राजा, (१२) राजा और नेताओं के कर्त्तव्य । (१३) नेता का व्रण, प्रोक्षण, दीक्षा, और श्रुतियों का दूर करना । (१४) राजा के दुष्टों के दमन कर्त्तव्यों का मुसल और पापाण के दृष्टान्त उपदेश से । (१५) अन्न आदि की उत्पत्ति । (१६) दुष्टों का न्यायविभाग द्वारा अपराधविवेचन, दमन । (१७, १८) शत्रुवध । (१९) प्रजाओं की रक्षा । (२०) राष्ट्र के दीर्घ जीवन के लिये राष्ट्रपति की स्थापना । (२१) योग्यों से योग्यों के मिलने का उपदेश । (२२) पतिपत्नी के दृष्टान्त से राष्ट्र का वर्णन । (२३) राजा और पुरुष को कर्त्तव्यकाल में निर्भय होने का उपदेश । (२४) विद्युत्-अस्त्र से शत्रुओं का नाश । (२५, २६) राजा का पृथ्वी के प्रति कर्त्तव्य । (२७) राष्ट्र के ब्रह्म क्षत्र, की वृद्धि । पृथ्वी का वर्णन । (२८) युद्ध-यज्ञ । (२९, ३०) दुष्टों के दमनार्थ सेना । (३१) आयुधों का स्वरूप ।

द्वितीयोऽध्यायः (पृ० ३२-६३)

(१) प्रजावृद्धि के लिये राजा, यज्ञ, गृहस्थ का अभिषेक । (२) राजा आदि का स्वागत । (३) तेजस्वी विद्वान्, मित्र और वरुण और राजा के कर्त्तव्य । (४) विद्वान् अग्रणी और परमेश्वर की स्तुति । (५) तेजस्वी राजा । (६) ब्रह्माण्ड और राष्ट्र की तीन बड़ी शक्तियाँ । राजा, अधिकारी

(३२)

और प्रजाओं का अधिकार । (७) राजा का अभिषेक, राष्ट्र चालकों के वेतन स्वधा । (८) परमेश्वर और राजा की आज्ञा का पालन । (९) दूतस्थापन, सत्पुरुष रक्षा, ऐश्वर्य प्राप्ति । (१०) आत्मबल, सत्य आशीर्वाद, और ज्ञान की याचना । (११) उत्तम माता पिता की शिक्षा की प्राप्ति और उत्तम स्वास्थ्य । (१२) यज्ञपति की रक्षा । (१३) यज्ञ सम्पादन । (१४) अग्नि स्वरूप तेजस्वी पुरुष और उसके अधीनों की वृद्धि । (१५) विजय ऐश्वर्यवृद्धि, द्वेषी पुरुष का पराजय, युद्धोपयोगी सेनाबल । (१६) राजा का अभिषेक, उसकी रक्षा, राज्य की प्राप्ति । तथा आधिभौतिक यज्ञ । (१७) (१८) राष्ट्र की सीमा रक्षा । (१९) अग्नि और वायु दो अधिकारी । (२०) दुःख, अविद्या, पाप से रक्षा, सुख शान्ति, उत्तम ज्ञान की प्राप्ति । (२१) वेदमय देव । (२२, २३) आधिभौतिक यज्ञ और राष्ट्र । (२४) शुद्ध मनन शक्ति, तेज और ऐश्वर्यों और शुद्धि की प्रार्थना । (२५) राष्ट्र में व्यापक राजशक्ति । (२६) तेज और बल की प्रार्थना । (२७) उत्तम गृहस्थ । (२८) व्रत-पालन । (२९) उत्तमों का पालन और दुष्टों का दमन । (३०) नीच लोगों का निर्वासन । (३१, ३२) वृद्धजनों की प्रसन्नता और आदर । ३३. उत्तम सन्तान लाभ, उत्तम पुरुष निर्माण । (३४) पिता, माता, वृद्ध जनों का तर्पण ।

तृतीयोऽध्यायः (पृ० ६४-१०४)

(१, ४) यज्ञ, अग्निचर्या और ईश्वर-उपासना । (५) अग्न्याधान, राज-स्थापन और गृहस्थ कर्म । (६-८) सूर्य और पृथ्वी । (९, १०) प्रातः सायं हवन में ईश्वरउपासना और भौतिक तत्त्व । (११) उत्तम मन्त्रोपदेश । (१२) सूर्य, राजा और परमेश्वर । (१३) विद्युत् अग्नि तथा राजा और सेनानायक । (१४) उच्चपद । (१५) राजा और विद्वानों का संग । (१६) शक्तियों का दोहन । (१७, १८) दीर्घ जीवन की प्राप्ति । (१९) तेज की प्राप्ति । (२०) उत्तम अन्न । (२१, २२) प्रजाओं और

(३३)

पशुओं की सम्पदा । (२३) ईश्वर और राजा । (२४) परमेश्वर के समान प्रजा के प्रति पिता के तुल्य राजा । (२५) उसका कर्त्तव्य । (२६) ज्ञान, न्याय, दुष्टदमन । (२७) राजा का उत्तम संकल्प । (२८) योग्य की नियुक्ति । (२९) राजा के कर्त्तव्य । (३०) रक्षा की प्रार्थना । (३१) व्यवस्थित राष्ट्र । (३२) दमन का लक्ष्य । (३३) विद्वानों के लक्षण । (३४) राजा का कर्त्तव्य । (३५) पापनाशक परमेश्वर राजा । (३६) राजा का अपराजित रथ । (३७) प्रजा, पशु, अन्न की रक्षा । (३८) सम्राट और (३९) गृहपति राजा के कर्त्तव्य, (४०) नेता विद्वान् का कर्त्तव्य, (४१, ४२, ४३) गृहपति, गृहजनों, प्रजा और अधिकारी जनों का परस्पर सद्भाव, अभय होना । (४४) विद्वानों का आमन्त्रण, दुश्चरित्रत्याग । (४५) कर-व्यवस्था । (४६) श्रम, और वेतनों की व्यवस्था । (४८) राजा के कर्त्तव्य । (४९) वृद्धि । (४५) (५४) दीर्घजीवन के लिये ज्ञानवृद्धि । (५५) ज्ञान और दीर्घायु । (५६) ज्ञान, प्रजासम्पत्ति (५७) राजा के हाथ पांच श्रमी । (५८) दुःखनाशक उपाय । (५९) सब प्राणियों का सुख और रोगनाश । (६०) बन्धनमोचन । (६१) वीरों का कर्त्तव्य । (६२) त्रिगुण आयु । (६३) घातक कारणों से प्रजा की रक्षा ॥

चतुर्थोऽध्यायः (पृ० १०४-१४३)

(१) देवयजन की बाधाओं से रक्षा । (२) आस जनों के कर्त्तव्य, दीक्षा और तप; (३) राजा का कर्त्तव्य । (४) देव से पवित्रता की प्रार्थना । (५) आशीर्वाद की याचना । (६) यज्ञ का व्रत, पांच यज्ञ । (७) अध्यात्म, आधिभौतिक यज्ञ (८) ईश्वर और राजा का वरण, ऐश्वर्य की प्राप्ति । (९) यज्ञसमाप्ति तक रक्षा प्रार्थना । (१०) बल, शरण, कृषि । (११) व्रताचरण, प्रजा और दीर्घायु, रक्षा । (१२) वीर्यरक्षा, प्रजापालन । (१३) जलों के दृष्टान्त से आस पुरुष । (१४)

(३४)

राजा की सावधानता । (१५) मन, आयु, प्राण, चक्षु आदि शक्तियों की प्राप्ति । (१६) स्तुत्य ईश्वर और राजा से ऐश्वर्य की याचना । (१७) मन और वाणी शक्ति से ईश्वरोपासना । (१८) वाणी की साधना । (१९) वाणी और विद्युत् । (२१) पृथ्वी, ब्रह्मशक्ति, विद्युत् और राष्ट्र शक्ति । (२२) राजा प्रजा के कर्त्तव्य । (२३) वेदवाणी, विद्युत्, और पत्नी । (२४) राजा को अधिकार । (२५) (२६) ईश्वरस्तुति । राजा के कर्त्तव्य । (२७) अष्टप्रकृति राज्यव्यवस्था । (२८) दुश्चरित-बाधन । (२९) उत्तम मार्गों का उपदेश । (३०) राजा के कर्त्तव्य । (३१) राजा के उपमान । (३२) राजा की सर्वप्रियता । (३३) प्राण और अपान तथा बैलों के समान दो धुरन्धरों की नियुक्ति । विजय, दुष्ट-दमन । (३५-३६) परमेश्वर तथा राजा । (३७) ईश्वर और राजा ।

पञ्चमोऽध्यायः (पृ० १४४-१८८)

(१) योग्य पुरुष की पद पर नियुक्ति और अन्न का उपयोग । (२) अग्नि राजा और प्रजा की उत्पत्ति । (३) स्त्री पुरुषों को परस्पर प्रेम का उपदेश । (४) (५) अग्नि व राजा के कर्त्तव्य । (६) व्रत, दीक्षा । (७) राष्ट्र और राजा, ब्रह्मरस और योगी । (८) राजा की शक्ति । (९) राजा । (१०) सेना और वाणी । (११) राष्ट्र की रक्षा । (१२) वाणी और राज्यव्यवस्था । (१३) राजा, यज्ञ और ईश्वर । (१४) योगाभ्यास । (१५ १६) परमेश्वर की महान् शक्ति । (१७-१८) स्त्री पुरुष । (१९-२०) व्यापक ईश्वर की शक्ति । (२१) ईश्वर और राजा । (२२) स्त्री तथा सेना के कर्त्तव्य । (२३) घातक प्रयोगों का निवारण । (२४) राजा के अधिकार । (२५-२६) दुष्टों और शत्रुओं का नाश । (२७-२८) राजा के कर्त्तव्य । (२९) राजा का स्वत्व । (३०) इन्द्र पद । (३१, ३२, ३३) राजा के अधिकारसूचक पद । (३४) अधिकारी पुरुषों और (३५, ३६) राजा

(३५)

और (३९) सेनापति, के कर्त्तव्य । (४०) (४३) गुरु शिष्य और राजा और प्रजा के परस्पर व्रत पालन की प्रतिज्ञा ।

षष्ठोऽध्यायः (पृ० १८८-२२७)

(१) शत्रुओं का नाश । (२) राजा, सभाध्यक्ष के कर्त्तव्य । (३) राजगृहों का वर्णन । (४, ५) ईश्वर और राजा के कर्म । (६, ७) राजा के अधिकार । (७) विद्वानों और राजा का सम्बन्ध । (८) समृद्ध प्रजा और राजा । (९) राजा का अभिषेक व्रत । (१०) दीक्षा । (११) स्त्री पुरुषों का कर्त्तव्य । (१२) सदाचार, शिष्टाचार । (१३) कन्याओं का पात्रों में प्रदान, उत्तम शासक का शासन । (१४) वाक्, प्राण, चक्षु आदि का व्रतदीक्षा में परिशोधन । (१५) मन आदि की शक्ति वृद्धि । (१६) दुष्टों और दुष्ट भावों का दूरीकरण । (१७) पाप, मल-परिशोधन । (१८) परस्पर प्रतिज्ञा, अन्न का स्वरूप, गुरु शिष्य और राजा प्रजा के सम्बन्ध । (१९) परम तेज का कारण, (२०) शरीर में प्राण के समान राजबल । (२१) ईश्वर से प्रार्थना, सेनापति को आदेश । (२२, २३) राजा प्रजाजन के प्रति कर्त्तव्य । (२४) स्वयंवर । प्रजाओं का स्वयं राजा का वरण । (२५) स्वयंवर के प्रयोजन । (२६) राजा की स्थिति और सेवा कार्य । (२७) प्रजाजनों के कर्त्तव्य । (२८) वैश्य प्रजा और गृहस्थ के कर्त्तव्य । (२९) योद्धाओं की वृत्ति । (३०) प्रजा का कर्त्तव्य । (३१) पांच योग्य शासक । (३२, ३४) राजा व प्रजा के कर्त्तव्य । (३५) राजा प्रजा का परस्पर अभय, (३६) परस्पर परिचय । (३७) राजा का स्वरूप, ईश्वर स्तुति ।

सप्तमोऽध्यायः (पृ० २२८-२७८)

(१) आज्ञापक और आज्ञापद और गुरु शिष्य का सम्बन्ध । (२) परस्पर आत्मसमर्पण । (३) राजा का सूर्यपद । (७) वायु-प्राण वत् राजा । (८) सेनापति और न्यायकर्त्ता । (९) मित्र और वरुण अध्यापक

(३६)

और अध्येता । (१०) मित्र वरुण, ब्राह्मण और क्षत्रिय । (११) सूर्य चन्द्र-
वत् राजा प्रजा के सप्रेम व्यवहार । (१२, १३) मदमत्तों के दमन योग्य
अधिकारी—योगी । (१४) राजा की उच्च स्थिति, ईश्वर और आचार्य ।
(१५) राजा और उसके सहायक । (१६) बालकवत् राजा और चन्द्र
(१७) आक्रामकों के नाशक पुरुष की नियुक्ति । (१९, २०, ३३)
मुख्य पदों पर सर्वोच्च अधिकारी । (२१) सोम, राजा । (२२) इन्द्र
पद । (२३) मित्र और वरुण पद । (२४) वैश्वानर सम्राट् । (२५)
सम्राट् का अभिषेक । (२६) उच्चपद । (२८) शरीर के अंग और प्राण-
वत् राज्यांग । (२९) अधिकारियों का राजा से परिचय । (३०)
संवत्सर के ऋतुओं, मासों के समान राज्यपद विभाग । (३१, ३२)
नायक और सेनापति के इन्द्र और अग्नि पद । (३३, ३४) विद्वान्
पुरुषों की नियुक्ति । (३५, ३६, ३७, ३८) मरुत्वान् इन्द्र, सेनापति ।
(३९, ४०) महेन्द्र पद, (४१, ४२) जातवेदा, राजा और परमेश्वर
और सूर्य । (४३) मार्गदर्शक विद्वान् और परमेश्वर । (४४) प्रजाओं
और सेनाओं का विभाग, प्रजाओं का निरीक्षण और व्यवसाय । (४५)
उत्तम पुरुष की नियुक्ति । (४६, ४७) अधीन पुरुषों को स्वर्णादि दान ।

अष्टमोऽध्यायः (पृष्ठ २७८-३२८)

(१) राजा का नियन्त्रण तथा अधिकार । पक्षान्तर में विवाहित
गृहस्थ । (२) राजा का वैश्यों पर अधिकार और गृहस्थ के कर्त्तव्य ।
(३) मेघ के समान राजा । चतुर्थाश्रमी गृहस्थ को उपदेश । (४, ५)
विद्वान् और गृहस्थ पुरुषों के कर्त्तव्य । (६) उत्तम ऐश्वर्य की प्राप्ति ।
(७) सावित्र पद । (८) विद्वानों पर योग्य पुरुष । पक्षान्तर में गृहस्थ ।
(९) प्रजा का कर्त्तव्य, राष्ट्र की ऐश्वर्यवृद्धि । पत्नी का कर्त्तव्य । (१०)
राजा प्रजा तथा पति पत्नी का ऐश्वर्य भोग । (११) सारथि के समान
संचालक पुरुष, राज्यतन्त्रवत् गृहस्थ तन्त्र । (१२) राजा के अधीन

(३७)

प्रजा को राष्ट्र भोग । (१३) प्रजा के दोषों को दूर करना । (१४)
 उत्तम वैद्य । (१४) उत्तम नेता । (१५—१७) अधिकारियों और (१८,
 १९) प्रजाओं के कर्म । (२०) उत्तम पुरुष को उच्च पद । (२१, २२)
 राष्ट्रपति के कर्त्तव्य । (२३) ऋजु मार्ग । (२४) प्रत्येक गृह में विद्वान्
 की योजना । (२५) गृहपति, यज्ञपति, राष्ट्रपति का स्वागत । (२६)
 आस प्रजाओं और उत्तम गृहपतियों के कर्त्तव्य । (२७) प्रजा का दोष-
 परित्याग । (२८, २९) राजा की गर्भ से उपमा । (३०) वशा नाम
 राज्यशक्ति का वर्णन । नाना पदों वाली वेदवाणी । (३१) उत्तम रक्षक ।
 (३२) राजा प्रजा और पति पत्नी । (३३, ३४, ३५ ३६,) षोडशी
 इन्द्र । (३७) सम्राट् राजा । (३८) अग्नि, आचार्य, और नेता ।
 (३७, ३९) इन्द्र पद पर बलवान् पुरुष । (४०) तेजस्वी सूर्य-
 वत् राजपद । (४१) पत्नी और पृथ्वी का योग्य पालक पति का
 धारण । (४२) गौ, स्त्री, पृथिवी के गुण । (४३, -४५)
 शत्रुमर्दक और विश्वकर्मा इन्द्र । (४७) राजा, इन्द्र । (४८) राजा,
 इन्द्र । (४८) राजा को भय-प्रदर्शन । (४९, ५०,) सावधान रहने
 योग्य राजपद । (५१) शासकों का कर्त्तव्य । दीर्घजीवन और मोक्ष का
 ध्येय । (५३) पर्वत और सूर्यवत् सेनापति । (५४, ५९) प्रजापति
 के भिन्न २ रूप । पक्षान्तर में सोमयाग । (६०, ६३) यज्ञ और राष्ट्र ।

नवमोऽध्यायः (पृष्ठ ३२६-३६६)

(१) राष्ट्रमय यज्ञ । (२, ३, ४,) इन्द्र की स्थापना । (५)
 विजयी पुरुष का सर्वोपरि पद । (६) जल-ओषधि के समान राजा ।
 (७) वायु, मन, गन्धर्वों के समान वेगवान् अश्व, शिल्पयन्त्र । (८)
 वेगवान् सेनापति । (१०) उत्तम शासन में सुख । (११, १३)
 सैनिकों को उपदेश । उनका विजय में सहयोग । (१४, १७) अध्या-
 रोहियों के कर्त्तव्य । आज्ञाश्रवण और संचालन । (१८) उत्तम मार्गों से

(३८)

गमन और रक्षा । (१९) सैनिकों की पवित्र दीक्षा । (२०-२१) मासों के तुल्य प्रजापति के १२ स्वरूप । (२१) यज्ञ के आयु, प्राण आदि की प्राप्ति । (२२) ऐश्वर्य वृद्धि । माता पृथिवी का आदर, राष्ट्र-शक्ति के नियम और कृषि सम्पत्ति । (२३) प्रजा की सम्पत्ति और शासकों को अप्रमाद का उपदेश । (२४, ५५) प्रजापालक का कर्त्तव्य । (२६, २७) मुख्य विद्वान् ब्राह्मण की सर्वोपरि स्थापना । (२८, २९) विजयी नेता और न्यायाधीश के कर्त्तव्य । (३०) राजा का अभिषेक । (३१-३४) १७ प्रकार के अक्षय बलों से राष्ट्र का वशीकार । (३४, ३६,) राजा और उसके नाना प्रकार के नायक । (३६) शत्रु विजय । (३८) दुष्ट वध । (३९, ४०,) इन्द्र आदि की स्थापना और सिंहासनारोहण ।

दशमोऽध्यायः (पृष्ठ ३६५-३६८)

राज्याभिषेक (१) अभिषेक योग्य जलों की प्रजाओं से तुलना । (२-४) प्रजातुल्य जलों से राज्याभिषेक । सिंहासनारोहण । राजा की तेजस्विता । (६, ७,) राजोत्पादक प्रजाएं । (८) बालकवत् राजोत्पत्ति । (९) गृहपति और राष्ट्रपति । (१०-१४) दुष्ट-नाश । राज-रक्षा । (१५) राजा की शोभा । (१६) सूर्योदयवत् मित्र और वरुण का उदय, सिंहासनारोहण । (१७) ऐश्वर्य और तेज से अभिषेक । (१८) राज्याभिषेक प्रस्ताव । (१९) अभिषेक वर्णन । (२०) अधिकार दान । (२१) योग्यता और अधिकार । (२२) राष्ट्र संयमन । (२३, २४,) राज-प्रतिष्ठा और स्तुति । (२५) ईश्वरार्पण । (२६) राजगद्दी । (२७) सम्राट् वरुण । (२८) उसके कर्त्तव्य । (२९) योग्य मध्यस्थ पुरुष । (३०) उन्नतपद । (३१) बल परिपाक का उपदेश । (३२) अन्न के दृष्टान्त से शत्रु नाश, और राष्ट्रसाधन । (३३) स्त्री-पुरुषों के कर्त्तव्य । (३४) राष्ट्र के व्यापक शक्तिमान् को मुख्याधिकार ।

(३९)

(एकादशोऽध्यायः (पृष्ठ ३६८-४६०)

अग्रणी नायक परमेश्वर, आदित्य योगी । सात्त्विक ज्ञानी राजा के कार्य । (२) योगद्वारा ज्ञान प्राप्ति । राजा का कर्त्तव्य । (३, ४) ज्ञानी पुरुष और राजा का कर्त्तव्य । (५) विद्वानों से ज्ञान का श्रवण । (६) नेता अग्रणी, परमेश्वर और राजा । (७) विद्वान् नेता और प्राण शक्ति । (८) क्षत्रपति । (९, १०) वज्र, नररत्न और वाणी का वर्णन । तेजस्वी होने का उपाय । (१२) उत्तम और न्यायकारी पद । (१३) दो उत्तम अधिकारियों की नियुक्ति । (१४) ऐश्वर्यवान् पुरुष को उच्च पद । (१५) गणपति पद की योजना । (१६) तेजस्वी, समृद्ध नेता । (१७) सूर्य और विद्वान् । (१८) विद्वान् नेता की योग्य अश्व से तुलना । (१९) वीर नेता । (२०) राजा का विराट् रूप । उसको आदेश । (२१) उत्तम नररत्नों की उत्पत्ति । (२२, २३) नेता का आदर । (२४) राजा को अग्नि के समान तेजस्वी बनाना । (२५) अग्नि सेनापति । (२६) वीर पुरुषों की नियुक्ति । (२७) अग्नि सेनापति । (२८) नेता का प्राप्त करना । (२९) नायक की समुद्र से तुलना । (३०) राजा प्रजा का सम्बन्ध । (३१) गृहस्थ के समान राजा । (३२) नेता अग्नि । (३३) वृत्रहन्ता नेता । (३४) विजयार्थ उत्तेजना । (३५) योग्य पदाधिकारी । (३६) होतृ पदपर विद्वान्, उसके लक्षण और कर्त्तव्य । (३७) अग्नि नेता और राजा को उपदेश । (३८) प्रजाओं के कष्ट निवारण । (३९) विदुषी स्त्री, और प्रजा का कर्त्तव्य । (४०) राजकीय पोशाक प्राप्ति । (४१) आदरणीय उन्नत पद । (४२) सूर्यवत् राजा । (४३) गर्भगत बालकवत् नवामिषिक्त राजा । अश्ववत् दृढ़, राजा, ऐश्वर्यवान्, आशु-कारी । (४५) राजा का प्रजाओं के लिये कल्याणकारी, कृपालु होना । (४६) तेजस्वी राजा की विद्युत् वाले मेघ से तुलना । (४७) राजा

(४०)

सेनापति और वीर सैनिकों की वायु और ओषधियों से तुलना । (४८)
 (४८) ओषधि और प्रजा । (४९) प्रजा गृहपत्नी । (५०-५१, ५२)
 आपः, जलों, विद्वानों और स्त्रियों के कर्तव्य । (५३) प्रजाओं के
 आरोग्य के लिये उत्तम विद्वान् की नियुक्ति । (५४) सूर्यरश्मियों से
 वीर सैनिकों और विद्वानों की तुलना । (५५, ५६,) सिनीवाली, स्त्री,
 प्रकृति, राजसभा और ब्रह्मशक्ति । (५७) हांडी के तुल्य पृथ्वी ।
 मानवों की उत्पत्ति की भूमि और स्त्री (५८) वसु, रुद्र, आदित्य
 विद्वानों, निवासियों, शासकों, और व्यापारियों के कर्तव्य । (५९)
 विदुषी माता । (६०) वसु आदि विद्वानों का कर्तव्य । (६१)
 राजसभा, राजा और सभापति और विदुषी माताओं का कर्तव्य । (६२)
 प्रजा, पृथिवी, और स्त्री का अधिकार । (६३) योग्य पति और राष्ट्र-
 पति । (६४) पृथ्वी और स्त्री । (६५) विद्वानों का कर्तव्य । (६६)
 आत्मिक शक्ति और उनके प्रयोग । (६७) ऐश्वर्य के निमित्त ईश्वर और
 राजा का आश्रय । (६८) पतिपत्नी और राजा प्रजा का कर्तव्य । (६९)
 पृथिवी, उखा और आसुरी माया, स्त्री और राष्ट्रप्रजा । (७०)
 वीर्यवान् और तेजस्वी पुरुष । (७१) स्वयंवर का सिद्धान्त, राजा का
 निर्बलों की रक्षा का कर्तव्य । (७२) अग्नि, पति और राजा । (७३)
 दूरस्थ शत्रुओं की विजय । (७४) तुल्य उपजापकारिणी संस्था वज्री ।
 (७५) अश्व के तुल्य राजा का पोषण । (७६) वेदि में अग्नि के
 समान पृथ्वी पर राजा का स्थापन और वर्धन । (७७) राजा का आग्नेय
 रूप । (७८, ७९) दांतों और दाढ़ों के दृष्टान्त से दुष्टों का दमन ।
 (८०) शत्रु-नाश । (८१) ब्राह्म बल, क्षात्र बल की वृद्धि । (८२)
 उससे शत्रुबल विनाश ।

द्वादशोऽध्यायः (पृ० ४६१-५३१)

(१-३) सूर्य के समान तेजस्वी राजा । (२) बालक और सूर्यवत्

(४१)

राजा का पोषण । (४) श्येन के दृष्टान्त से राजा और राष्ट्र के अंग-
 प्रत्यंग । (५) राजा के नाना अधिकार और कर्त्तव्य । मेघ के तुल्य राजा ।
 (६) राजा, गृहपति की नाना समृद्धि । (८) पुनः ऐश्वर्यप्राप्ति ।
 (९, १०) देशान्तरों से ऐश्वर्य-आहरण । (११) ध्रुव पद पर राजा ।
 (१२) पाशमोचक वरुण, श्रेष्ठ अधिकारी राजा । (१३) सूर्यवत्
 राजा का अभ्युदय । १४) उसके नाना पद और आदर । (१५) पुत्र-
 वत् पृथिवी माता के प्रति राजा की स्थिति । (१५) शत्रुदमनकारी
 परंतप राजा । (१७) सर्व कल्याणकारी होने का उपदेश । (१८)
 विद्वान्, नायक और सूर्य । (१९) उसके तीन प्रकार के तेज । (२०, २१)
 सूर्य के समान, दाता, पालक, बलवान्, तेजस्वी राजा । (२४) अग्नि के
 समान राजा । (२५) सूर्य के समान राजा का वर्णन । (२६) सेना-
 पति और राजा का सम्बन्ध । (२७) शत्रु-उच्छेद के लिये सेनापति-
 स्थापन । (२८) सूर्य के समान तेजस्वी पुरुष । (२९, ३०, ३१) उसके
 गुण और कर्त्तव्य । (३२) शत्रु पर प्रयाण और राजा की रक्षा ।
 (३३, ३४) विजयी राजा का आदर । (३५) स्वयंवर के समान योग्य
 राजा का वरण, उसकी शक्तिवृद्धि, स्त्रियों का गर्भ धारण का कर्त्तव्य ।
 (३६) गर्भोत्पत्ति के समान राजोत्पत्ति । (३७, ३८) जीवात्मा और
 राजा । (३९) बालक के समान माता पृथिवी पर राजा की स्थिति ।
 (५०) समृद्धि प्राप्ति, विजय । (४२) निन्दा और स्तुति में राजा का
 कर्त्तव्य । ज्ञानी पुरुष का कर्त्तव्य । (४३) सत्यासत्य का निर्णय,
 न्यायकारिता । (४४) विद्वानों का पुनः शक्ति-उत्तेजन । (४५) चरों
 का नियोजन । विद्वानों का आदेश । (४७) आश्रितों के कर्त्तव्य (४८)
 मुख्य विद्वान् । (४८) ज्ञानवान् पुरुष सूर्य के समान सर्वद्रष्टा । (४९)
 ज्ञानी पुरुष का शिक्षाकार्य । (५०) विद्वानों का प्रेमयुक्त, द्रोहरहित
 होकर रहना । (५१) विद्वान् पुरुष और अध्यापक का कर्त्तव्य (५२)
 ऐश्वर्य वृद्धि । (५३) चेतना के समान राजसभा और स्त्री का वर्णन ।

(४२)

(५४) राजसभा और स्त्री । (५५) सूर्य की रहिमियों से प्रजाओं और स्त्रियों की तुलना और उनके कर्त्तव्य । (५६) वेद वाणियों के समान प्रजाओं का राजा को बढ़ाना, समुद्र से राजा की तुलना, (५७) दम्पती और राजा प्रजा और मित्रों को प्रेम पूर्वक रहने का उपदेश । (५८, ५९) पुरोहित, अधिपति का कर्त्तव्य । (६०) दम्पति, मित्रों और युगलों का कर्त्तव्य । (६१) उखा, पृथ्वी, प्रजापति के कर्त्तव्य, पक्षान्तर में सूर्य पृथिवी । (६५) डाकुओं की दमनकारिणी दण्ड शक्ति निरुद्धति । पत्नी और अविद्या । (६६) सूर्य के समान सोक्षी राजा परमेश्वर । (६७-७२) योगाभ्यास और कृषि (७३) योगियों का इन्द्रियजय, पशुपालन । (७४) पति पत्नी आदि के तुल्य प्रेम वर्त्ताव । (७५) ओषधियों के १०७ घाम । मर्मों का ज्ञान । (७६) ओषधि; प्रजाएं और वीर सैनिक उनके गुण, उनके व्यवहार, प्राप्ति, वा कर्त्तव्य । (१०१) परमेश्वर और राजा । (१०३) पृथ्वी और स्त्री, कृषि एवं सन्तानोत्पत्ति । (१०४) तेज और वीर्य का धारण । (१०५) अन्न और ज्ञान से आपत्तियों का नाश, (१०६-७) तेजस्वी विद्वान् । अन्यो को तेज और ज्ञान का प्रदान । तेजस्वी की सूर्य से तुलना । (१०८) राजा प्रजा का परस्पर पोषण । (१०९) प्रजा की पशु सम्पदा से वृद्धि । (११०, ११७) राजा विद्वान् और गृहपति के कर्त्तव्य ।

त्रयोदशोऽध्यायः (पृ० ५३२-५७३)

(१) उत्तम विद्वानों के अधीन राजा । (१, ३) ब्रह्म शक्ति । (४) प्रजापति । (५) शरीर गत प्राणों में वीर्य के समान तेजस्वी राजा । (६, ८) सर्पण स्वभाव दुष्टों के दमन में गुप्तचरों का नियोजन । (९) बल से दुष्टों का दमन और मातङ्गबल से प्रयाण । राज्यवृद्धि और शत्रु का तीव्रास्त्रों से नाश । (१०) वीर सैनिकों और तीव्र अश्वारोहियों से नाश का धावा, अशनि नामक अस्त्र । (११) प्रजा के कष्ट का श्रवण, राजा का दूत प्रेषण और प्रजापालन । (१२) प्रजा के व्यथादायी शत्रुओं पर

(४३)

आक्रमण और उनका निर्मूलनाश । (१३) दिव्यास्त्रों का निर्माण, तथा
 शत्रुओं की रसद पर रोक । (१४) सूर्य के समान राजा का करग्रहण ।
 (१५) सूर्य के समान सेनापति । (१६) पृथ्वी, राजशक्ति और स्त्री
 की सुरक्षा । (१७, १८) नौका के दृष्टान्त से प्रजा, पृथ्वी, और स्त्री ।
 (१९) उनके रक्षक पति । (२०, २१) दूर्वा के दृष्टान्त से राजशक्ति,
 पक्षान्तर में स्त्री । (२२, २३) सूर्यवत् प्रजा का अभिलाषापूरक ।
 (२४) तेजस्वी राजा और प्रजा । (२५) वसन्तवत् राजा । (२६)
 अषाढा, सेना और पत्नी । (२७-२९) वायु जल, ओषधि, दिन, रात्रि
 भूमि, सूर्य, वृक्ष, गौ आदि समृद्धि के मधुर होने की प्रार्थना । (३०)
 राजा का कर्तव्य प्रजा को सुखी रखना । (३१) पूर्व के सज्जनों का
 मार्गानुसरण । (३२, ३३) समृद्धि, की वृद्धि व्यापक शक्तिमान् राजा ।
 (३४) पृथ्वी की सम्पदा-वृद्धि । गार्हस्थ का महत्त्व । (३५) प्रजापति ।
 प्रजापति और पत्नी का एक अन्न, बल, तेज, यश, की वृद्धि करना ।
 सम्राट् और स्वराट् । (३६) राजा और विद्वान् योगी का अश्वों, योग्य
 पुरुषों और प्राणों पर वश । (३७) अश्वों के समान योग्य पुरुषों
 (३८) वाणियों, नदियों आत्मा, अग्नि और ज्ञान-धाराओं की घृत
 धाराओं से तुलना । यज्ञ और अध्यात्म । (३९) उत्तम विद्वान् पुरुष
 की उत्तम उद्देश्यों के लिये नियुक्ति । (४०) पुरुष की सूर्य और स्वर्ण
 से तुलना । (४१) सूर्य और मुख्य शिरोमणि । (४२) उसका कर्तव्य ।
 (४३) संवत्सर के तुल्य राजसभा, सदस्यों व सभापति के कर्तव्य ।
 (४४) परमेश्वरी शक्ति का आदेश । (४५) विद्वान् ज्ञानी की रक्षा, परमे-
 श्वर की पूजा । (४६) सूर्य के तुल्य नेता और परमेश्वर । (४७-५१)
 पशु, मनुष्य, अश्व गौ, आदि दुधार पशु, भेड़, बकरी की रक्षा और हिंसकों
 का नाश । (५२) प्रजा के कष्टों का श्रवण, उनका त्राण । (५३) नाना
 पदों पर योग्य नेता । (५४-५८) दिशा, प्राण और ऋतुभेद से राजा,
 आत्मा और सूर्य संवत्सर, बलों, विद्वानों और यज्ञांगों के अनुरूप राष्ट्रांग ।

(४४)

चतुर्दशोऽध्यायः (पृष्ठ ५७४-६०५)

(१) उखा, पृथिवी, स्त्री (२) और प्रजा की शिक्षा । (३) सुख, रण विजय एवं प्रजापालानार्थ राजा की स्थापना । पति के कर्तव्य । (४) पतिपत्नी और राजा और प्रजा का आदान-प्रतिदान । (५) राजशक्ति और गृहपत्नी । (६) ग्रीष्म के समान राजा । (७) राजा और शासकों का प्राणों के दृष्टान्त से वर्णन । गृहस्थ का स्थान । (८-१०) प्राणादि पालन । (९) वयस् और छन्दस् का दृष्टान्तों से स्पष्टीकरण । (११) राजा, सेनापति पुरोहितों के कर्तव्य । (१२) राजा, विश्वकर्मा, पति । (१३) राजशक्ति के दिशा भेद से नाना रूप, स्त्री के नाना गुण । (१४) राजा, विश्वकर्मा और पति । (१५, १६) वर्षा, शरद् के तुल्य राजा । (१७) आद्य प्राण आदि की रक्षा । (१८) मा, प्रमा आदि शक्तियां । (२०) अग्नि आदि देवता । (२१, २२) नियामक राजशक्ति । (२३) राजा के नाना रूप । (२४, २६) राष्ट्र की नाना समृद्धियां । (२७) हेमन्तवत्, राजा । (२८-३१) नानाप्रकार की ब्रह्मशक्ति, और राष्ट्र व्यवस्थाओं का देह की व्यवस्था-नुसार वर्णन ।

पञ्चदशोऽध्यायः (पृष्ठ ६०६-३३६)

(१, २) सेनापति और राजा के कर्तव्य । शत्रु-पराजय, प्रजा का शिक्षण । (३) सुव्यवस्थित राष्ट्र और उत्तम राजा (४, ५) ईश्वर और राजा के नाना सामर्थ्य । (६, ७) नाना ऐश्वर्यों और कर्तव्यों पर वश करने का उपदेश । (८, ९) 'प्रतिपद्' आदि पदाधिकार । (१०, ११) दिशा और ऋतु-भेद से सूर्यवत् राजा का प्रताप । (२०) शरीर में प्राणवत् राजा । (२१) अग्रणी, नायक, सेनापति । (२२) राजा की उत्पत्ति । (२३) उसका स्वरूप । सूर्य के समान परन्तप राजा । (२५) वन्दनीय परमेश्वर और स्तुत्य राजा । (२६)

(४५)

दावानल के समान उग्र राजा । (२७) सदा जागरणशील तेजस्वी राजा । (२८) अग्नि के समान शक्तिपुत्र राजा । (२९, ३०, ३१, ३२, ३३, ३४, ३५, ३६) तेजस्वी पुरुष । (३७) शत्रुनाश । (३८) कल्याणकारी होने का उपदेश । (३९, ४०) संग्राम विजय । (४१, ४२) सर्वाश्रय सर्वशरण राजा । (४३) शक्तिमान् सर्वाह्लादक राजा । (४४) यज्ञ रूप, प्रजापति । (४५) रथों के समान राष्ट्रसञ्चालक राजा । (४६) सेनाओं के स्वामी को सुचित होने का उपदेश । (४७, ४८) देदीप्यमान अग्नि के समान राजा की तेजस्विता । (४९) सर्वोच्च पदपर ज्ञानी अग्रणी नेता । (५०) उत्तम नेता का अनुसरण (५१) न्यायकर्ता का पद और सत्य कर्तव्य । (५२) प्रमादरहित नायक । (५३) मर्यादाओं का निर्माण । राजा का उत्तम आश्रय । (५४) राज्य सम्पादन और उत्तम कर्म । (५५) उत्तम मार्ग से प्रजा और गृह का चलाना । (५६) ऐश्वर्य वृद्धि । (५७) शिशिर से राजा की तुलना । (५८) राजा प्रजा और स्त्री पुरुष का उत्तम सम्बन्ध । (५९-६१) राजा के कर्तव्य । (६२) वीर सेनापति की अश्व और अग्नि से तुलना । (६३) राजशक्ति । (६४) परमपद, और राजशक्ति और राष्ट्र । (६२) राजा का स्वरूप ।

षोडशोऽध्यायः (पृ० ६४०-६७६)

रुद्राध्याय । (१) राजा रुद्र के मन्त्र, इषु और बाहुओं को 'नमः', (२, ३, ४) रुद्र की शिव तनु, शान्तिकारिणी राज्यव्यवस्था । (५) मिषक् के समान राजा । (६) तेजस्वी राजा, सेनापति, अधीन रुद्र, उग्र शासक या सैनिक । (७) सेनापति आत्मा और ईश्वर । (८) नीलग्रीव, सहस्राक्ष, सेनापति और वीर योद्धा । (९) धनुष से बाण प्रक्षेप । (१०) वीर का सशस्त्र रूप । (११) शत्रुओं से रक्षा की प्रार्थना । (१२) राजा के कर्तव्य । (१३, १४) शक्तिशाली की शक्तियों का आदर (१५, १६) प्रजा की अभय प्रार्थना (१७, १८)

(४६)

नाना रुद्रों की नियुक्ति, सानपद, अधिकार, नियन्त्रण । (४७) सेनापति से प्रार्थना । (४८) उसके अधीन सुख से सम्पन्न होकर रहने की प्रार्थना । उसका सर्व दुःखहर रूप । (५०) राजा का प्रजा पर पहरा । (५२) प्रजा की पीड़ा का नाश । (५३) सेनापति के सहस्रों आयुध । (५४) असंख्य रुद्रों के बलों का विस्तार । (५४, ६३) नाना रुद्र अधिकारी । (६४, ६६) उनका अधिकार मान, आदर ॥

सप्तदशोऽध्यायः (पृ० ६७७-७५०)

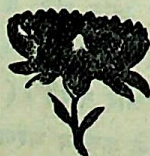
(१०) वैश्यों का कर्त्तव्य । प्रजा के प्रति राजा का मान्य भाव । मरुद्गण अश्मा । (२) कोटि २ प्रजा, पशु, सम्पदाओं की वृद्धि । (३) राष्ट्र के घटक अंगरूप कामधेनु प्रजाएं । (४, ५) सैवाल के दृष्टान्त से राजा की रक्षाशक्ति । मंडूकी प्रजा, राजा का अवतरण, उसका कर्त्तव्य । (७) राजा के राष्ट्र में सेनाकटक (छावनी) की स्थापना । (८) तेज, प्रभाव से शासन । (९) राष्ट्र का धारण । (१०) प्रजा को ज्ञानवान् करना, शत्रु विजय द्वारा राष्ट्र वृद्धि । (११, १२) राजा के तेज, बल और प्रभाव का आदर । उच्च, मान, आदर प्रदान । (१३) विद्वानों का उपहार और वेतन । (१४) ब्रह्मज्ञानी विद्वानों का पवित्र रूप । (१५) राजा और विद्वान् । (१६) अग्नि के समान तीक्ष्ण राजा । (१७) मुख्य राजा का अधीनों के प्रति कर्त्तव्य । पक्षान्तर में परमेश्वर का वर्णन । (१८) राष्ट्र या साम्राज्य की उत्पत्ति सृष्टि-उत्पत्ति मीमांसा । (१९) विराट्, सच्च्राट् परमेश्वर का विराट् रूप । (२०) राजाप्रजा की उत्पत्ति । पक्षान्तर में द्यौ, पृथिवी की उत्पत्ति । (२१) विश्वकर्मा राजा का अवरो को पदाधिकार और परमेश्वर । (२२) शत्रु पक्ष को मोह में डालने वाली नीति से राज्य शासन का उपदेश । परमेश्वर की अद्वितीय व्यवस्था । (२३) सर्वपालक, कल्याणकृत् विश्वकर्मा और ईश्वर । (२४) राजा का सेनापति नियोजन । (२५) विद्वान् राजा का राजवर्ग

(४७)

और प्रजावर्ग दोनों का शासन । पक्षान्तर में परमेश्वर का वर्णन और पक्षान्तर में विद्वान् को स्त्री पुरुष को सम्बन्धित करना । (२६) विश्व-कर्मा, सबका पोषक राष्ट्रनिर्माता । सात प्राणों के समान सातों प्रकृतियों का नियामक । (२७) पिता आदि पदपर एवं शासकों का एक राजा, समस्त देवों का एक नामधा परमेश्वर, अध्यात्म में आत्मा । (२८) राजा के उत्तम राज्य में प्रजाओं की उन्नति । (२९) सर्वोत्कृष्ट पद । (३०) सर्ववशकर्ता केन्द्रस्थ राजा । (३१) अवर्णनीय राजा । (३२) राजा के चार रूप । (३३) राजा का उग्ररूप सेनापति इन्द्र । (३४-३५) परमेश्वर । (३४) सैनिकों का सेनापति के सहयोग में विजय । (३५) विजयी, वशी राष्ट्रपति । (३६) महारथी । (३७, ३८) शत्रु बल का ज्ञान करके शत्रु पर आक्रमण । (४०) व्यूह-व्यवस्था । (४१, ४२) विजय-घोष । (४३) वीरों को उत्तेजना । (४४, ४५) भयंकर सेना का शत्रु पीड़न । (४६) उग्र अजेय सैनिक । (४७) शत्रु पर अमोत्पादक प्रयोग । (४८) शस्त्रों के गिरते हुए सेवासमितियों के कर्तव्य । (४९) वर्म, अन्न ओषधि से रक्षा । (५०-५१) सेनापति का राजा के प्रति और अधीनों के प्रति कर्तव्य । (५२, ५३) राजा का कर्तव्य । (५४) यज्ञपति, राष्ट्रपति की रक्षा । पक्षान्तर में स्त्रियों का कर्तव्य । (५५, ५६) यज्ञ और युद्ध की तुलना । (५७) तुरीय यज्ञ । (५८) राजा और परमेश्वर । (५९) सूर्य और पक्षान्तर में राजा । (६०) राजा गृहपति और योगी । (६१) राजा की स्तुति, ईश्वर की महिमा । (६२) नायक के कर्तव्य भरण और पालन । (६३, ६४) राजा के निग्रह और अनुग्रह के कर्तव्य । (६५, ६६) सूर्य और नायक । (६७) स्वर्ज्योति । मोक्षप्राप्ति । (६८) उत्तम सम्राज्य, पक्षान्तर में मोक्ष लोक (६९, ७०) राजा और उत्तम अध्यात्म ज्ञानी । (७१) सहस्राक्ष राजा और परमेश्वर । (७२) उत्तम पालक राजा, सुपण और गरुत्मान् । (७३, ७४) राजसभा । (७५) सभा सम्मेलन

(४८)

लन । इश्वरोपासना । (७६, ७७) तेजस्वी सभापति विद्वानों से युक्त विचारसभा । (७८) विचारक सदस्य । गुरु-उपासना, सत्य ज्ञान प्राप्ति । (८०) विद्वानों का वर्णन । (८१) ऋत आदि सात प्रकार की विवेचना । (८२) मुख्य सात सेना-विभाग के नायक । (८४) सात पालक । (८५) प्रजा के साथ मुख्य अंग । (८६) दैवी प्रजा । (८७) सम्राट् पद की प्राप्ति और राष्ट्र । (८८) तेजस्वी राजा की मेघ से तुलना । (८९) राजा, मेघ, परमेश्वर और गृहपति के पक्ष में मधुमान् ऊर्मि । (९०) चतुरंग बल से युक्त सेनापति । चतुर्वेदवित् विद्वान् । (९१) राजा, यज्ञ, आत्मा, शब्द और परमेश्वर पक्षों में महान् देव । (९२) त्रिविध घृत का दोहन । (९३) घृत की धाराओं का अध्यात्म, राज्य और जलधाराओं के पक्षों में योजना । (९६) घृत-धाराओं की उत्तम धियों से तुलना । (९७) उनकी कन्याओं से तुलना । (९८) यज्ञ और राष्ट्र । राजा और ईश्वर पक्ष में उत्तम राष्ट्र सुख, परमानन्द की प्राप्ति ॥



॥ ओ३म् ॥

यजुर्वेदसंहिता*

प्रथमोऽध्यायः

† प्रजापतिः परमंष्टा प्राजापत्यः, देवा वा प्राजापत्या ऋषयः ।

॥ ओ३म् ॥ 'इषे त्वोर्जे त्वा वायव स्थ देवो वः सविता
प्रार्पयतु श्रेष्ठतमाय कर्मण आप्यायध्वमघ्न्या इन्द्राय भागं
प्रजावतीरनमीवा अयक्षमा मा व स्तेन ईशत माघशर्धसो
ध्रुवा अस्मिन् गोपतौ स्यात बह्वीर्यजमानस्य पशून्पाहि ॥ १ ॥

सविता देवता । (१) स्वराड् बृहती । मध्यमः (२) ब्राह्मी उष्णिक् ।

ऋषभः स्वरः ॥

भा०—हे परमेश्वर ! (इषे) अन्न, उत्तम वृष्टि आदि पदार्थों की प्राप्ति और (ऊर्जे) सर्वोत्तम, पुष्टिकारक रस प्राप्त करने के लिये (भागं) सर्वोपास्य (त्वा त्वा) तेरी उपासना करते, तेरा आश्रय लेते हैं । ये प्राण और प्राणिगण ! (वायवः स्थ) सब वायु रूप हैं, वायु द्वारा प्राण धारण करते हैं । (वः) उन सब का (सविता) उत्पादक परमेश्वर ही (देवः) परम देव, सब सुखों और पदार्थों का प्रकाशक और प्रदान करने वाला है । वह (श्रेष्ठतमाय) अत्यन्त श्रेष्ठ, सब से उत्तम (कर्मण) कर्म, निःश्रेयस, मोक्ष प्राप्ति के लिये (प्रार्पयतु) पहुँचावे, प्रेरित करे । और

*—इषेत्वादि खं ब्रह्मान्तं विवस्वानपश्यत् इति सर्वांनु० ।

†—परमंष्टा प्राजापत्यो दर्शपूर्णमासमन्त्राणामृषिः । देवा वा प्राजापत्याः ।

शाखावायुरिन्द्रश्च देवताः । सर्वा० । परमेष्ठी प्रजापतिश्च ऋषिः ।

(अध्याः) कभी न मारने योग्य, इन्द्रियस्थ प्राण गण, एवं यज्ञयोग्य गौं और पृथिवी आदि लोक सब (आध्यायध्वम्) खूब परिपुष्ट हों। तुम (इन्द्राय) ऐश्वर्यवान् पुरुष या राजा वा परमैश्वर्य प्राप्त के लिये (भागं) सेवन करने या प्राप्त करने योग्य भाग हो। प्रजाएं वा गौ आदि पशु गण ! सब (प्रजावतीः) प्रजा, वत्स, पुत्र आदि सहित, (अनमीवाः) रोगरहित, (अयक्ष्माः) राजयक्ष्मा से रहित रहें। (वः) उन पर (स्तेनः) चोर, डाकू आदि दुष्ट पुरुष (मा ईशत) स्वामित्व प्राप्त न करे। (अघ-शंसः) पाप की चर्चा करने वाला, दूसरों को पाप, हिंसा आदि करने की प्रेरणा करने वाला नीच पुरुष भी (वः मा ईशत) उन पर स्वामी न रहे। वे सब (गोपतौ) गौ अर्थात् गौओं और भूमियों के पालक राजा और रक्षक पुरुष के अधीन (ध्रुवाः) स्थिररूप से (बद्धीः) बहुत संख्या में (स्यात्) बनी रहें। हे विद्वान् पुरुष ! तू भी (यजमानस्य) यज्ञ करने हारे, दान देने वाले आत्मा, और यज्ञकर्ता श्रेष्ठ पुरुष के (पशून् पाहि) पशुओं की पालना कर। शत० १।७। १।१-७॥

वसोः पवित्रमसि द्यौरसि पृथिव्यसि मातरि श्वनो घर्मोसि विश्वधा
असि। परमेण धाम्ना दधंस्व मा ह्वामा ते यज्ञपतिर्द्वाधीत ॥२॥

यज्ञो देवता। स्वराद् आधीं त्रिष्टुप्। धैवतः ॥

भा०—हे यज्ञमय पुरुष ! परमेश्वर ! तू (वसोः) सब संसार को बसाने हारा, सब में व्यापक रूप से बसने वाला है। और श्रेष्ठ कर्म, यज्ञ का (पवित्रम्) पवित्र, परम पावन स्वरूप है। (द्यौः असि) तू द्यौः सब का प्रकाशक है और सब का आश्रय है, तू (पृथिवी असि) पृथिवी के समान महान्, विख्यात एवं सब का आश्रय होने से 'पृथिवी' है। तू

२—वसोर्वायव्यं। द्यौर्मातरिश्वन उखा। सर्वा०। 'विश्वधाः परमेण' इति कास्वपाठः।

(मातरिश्वनः) अन्तरिक्ष में निरन्तर गति करने वाले वायु का (घर्मः असि) शोधक, तापक वा संचालन करने वाला है और इसी कारण (विश्वधाः असि) समस्त प्राणियों का पोषक या धारण करने हारा है । तू (परमेण धाम्ना) परम, सर्वश्रेष्ठ धाम, तेज, धारण सामर्थ्य से (दहस्व) बढ़, वृद्धि को प्राप्त है । हे परमात्मन् ! तू (मा ह्वाः) हमें कभी मत त्याग । (यज्ञपतिः) यज्ञ का पालक, स्वामी, यजमान पुरुष भी (ते) तुझ से कभी (मा ह्वर्षीत्) वियुक्त न हो ॥ शत० १ । ७ । १ । ९-११ ॥

वसोः पवित्रमसि शतधारं वसोः पवित्रमसि सहस्रधारम् ।
देवस्त्वा सविता पुनातु वसोः पवित्रेण शतधारेण सुप्त्वा
कामधुक्षः ॥ ३ ॥

सविता देवता । सुरिगू जगती । निपादः ॥

भा०—हे परमेश्वर ! आप (वसोः) सब को बसाने हारे और श्रेष्ठ कर्म और सब में बसने वाले वसु आत्मा के (पवित्रम्) परम पवित्र करने वाले और उसको (शत-धारम्) सैकड़ों प्रकार से धारण पोषण करने वाले हो । हे परमेश्वर ! आप (वसोः) सब को बसाने वाले श्रेष्ठ कर्म और सब में बसने वाले आत्मा का (सहस्र-धारम्) सहस्रों प्रकार से धारण करने वाले होकर उसको (पवित्रम्) पवित्र करने वाले (असि) हैं । हे पुरुष ! (सविता देवः) सर्वोत्पादक, सर्व-प्रेरक, सर्वप्रद परमेश्वर (त्वा) तुझ को (शत-धारेण) सैकड़ों धारण शक्ति से या धारण पोषण करने वाले समर्थ से युक्त (सु-प्त्वा) उत्तम रीति से पवित्र करने वाले (पवित्रेण) पावन सामर्थ्य से (पुनातु) पवित्र करे । [प्रश्न] हे पुरुष ! तू (काम) किस १ वेदवाणी या ईश्वर की परम पावनी किस २ शक्ति का (अधुक्षः) गौ के समान पुष्टि-प्रद

३—वसोर्वान्यम् । देवस्त्वा पयः । कामधुक्षः प्रश्नः । सर्वा० ।

ज्ञान, रस वा बल प्राप्त किया करता है ? शत० १ । ७ । १ । १४-१७ ॥

सा विश्वायुः सा विश्वकर्मा सा विश्वधायाः।

इन्द्रस्य त्वा भागं सोमेनातनचिम् विष्णो हव्यं रक्ष ॥४॥

विष्णुदेवता । अनुष्टुप् । गान्धारः ॥

भा०—‘काम् अधुक्षः’ इस प्रश्न का उत्तर देते हैं । (सा) वह परमेश्वरी शक्ति जिसका प्रकाश वेद द्वारा हुआ है वह (विश्व-आयुः) समस्त संसार का जीवन रूप है । (सा) वह परमेश्वरी शक्ति (विश्व-कर्मा) विश्व को रचने वाली, सब का निर्माण करने वाली है । (सा) वह परमेश्वरी शक्ति (विश्व-धायाः) समस्त जगत् को अपना परम रस पान कराने और सब को धारण-पोषण करने होरी है । हे यज्ञमय ! (इन्द्रस्य) ऐश्वर्यवान् परमेश्वर के (भागम्) भजन करने योग्य, सेवनीय स्वरूप (त्वा) तुझ को (सोमेन) सोम, सर्वप्रेरक, सर्वोत्पादक आनन्द रस से (आतनचिम्) दृढ़ करता हूं । हे (विष्णो) सर्वव्यापक परमेश्वर ! आप (हव्यम्) इस आत्मा के ग्रहण करने योग्य विज्ञान और समर्पण करने योग्य आत्मा की (रक्ष) रक्षा करो । शत० १ । ७ । १ । १७-२१ ॥

अग्ने व्रतपते व्रतं चरिष्यामि तच्छुकेयं तन्मे राध्यताम् ।

इदमहमनृतात्सत्यमुपैमि ॥ ५ ॥

अग्निदेवता । आर्ची त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—हे (अग्ने) ज्ञानोत्पादक ! अग्रणी ! सब के नेता परमेश्वर हे (व्रतपते) सब सत्यभाषणादि व्रतों, शुभकर्मों के पालक स्वामिन् ! मैं (व्रतम्) व्रत, पवित्र सत्यभाषण, सत्य कर्म, सत्य ज्ञान का (चरि

४—सा विश्वायुस्त्रीणि गव्यानि । इन्द्रस्यैन्द्रम् । विष्णोः पयः । सर्वा० ‘सोमेनातनाच्च’ इति कायव० ।

५—अग्ने इदमाग्नये । सर्वा० ॥

मं० ६]

प्रथमोऽध्यायः

५

ध्यामि) आचरण करूंगा । (तत्) उसको पालन करने में मैं (शक्यम्)
समर्थ होऊँ । (मे) मेरा (तत्) वह सत्य व्रताचरण (राध्यताम्)
पूर्ण हो, सफल हो । मैं (इदम्) यह व्रत धारण करता हूँ कि (अहम्)
मैं (अनृतात्) असत्य, मिथ्याभाषण, मिथ्याज्ञान और मिथ्या आचरण
से और ऋत अर्थात् सत्यमय वेद के विपरीत अनृत से दूर रह कर (सत्यम्)
सत्य वेदों, प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों, सृष्टि क्रम और विद्वानों के संग, विचार,
आत्म शुद्धि से प्राप्त अमरहित सम्यक् परीक्षित निश्चित तत्त्व को (उपैमि)
प्राप्त होऊँ ॥ शत० १ । १ । १ । ११ ॥

कस्त्वा युनक्ति स त्वा युनक्ति कस्मै त्वा युनक्ति तस्मै त्वा
युनक्ति । कर्मणे वां वेषाय वाम् ॥ ६ ॥

प्रजापतिर्देवता । आर्ची पंक्तिः । पंचमः ॥

भा०—[प्रश्न] हे पुरुष ! तू जानता है कि (त्वा) तुझको कार्यों में
(कः) कौन (युनक्ति) प्रेरित करता है ? [उत्तर] हे पुरुष ! (त्वा)
तुझको (सः) वह परमेश्वर ही (युनक्ति) उत्तम कार्य और सन्मार्ग में
प्रेरित करता है । [प्र०] (त्वा) तुझको वह परमेश्वर (कस्मै) किस
प्रयोजन के लिये (युनक्ति) नियुक्त करता है ? [उ०] (त्वा) तुझको
वह परमेश्वर (तस्मै) उस उस, उत्तम २ कार्य सम्पादन के लिये (युनक्ति)
नियुक्त करता है । हे स्त्रीपुरुषो ! और गुरुशिष्यो ! वह परमेश्वर (वाम्)
तुम दोनों को (कर्मणे) उत्तम कर्म करने के लिये प्रेरित करता है । और
वह (वाम्) तुम दोनों को (वेषाय) सर्व शुभगुणों व विद्या के प्राप्त
करने और पूर्ण जीवन प्राप्त करने के लिये या सर्वव्यापक परमात्मा को
प्राप्त करने के लिये (युनक्ति) नियुक्त करता है ॥ शत० १ । १ । १ ।
११-२२ ॥ १ । १ । २ । १ ॥

६—कस्त्वा प्राजापत्यम् । कमण स्तूक् शर्पम् । सर्वा० ।

ब्रह्मज्ञो देवता । प्राजापत्या जगती । निषादः स्वरः ॥

धूरसि धूर्व धूर्वेन्तं धूर्व तं योऽस्मान् धूर्वेति तं धूर्व यं वयं
धूर्वामः । देवानामसि वह्नितमं शंसितमं पप्रितमं जुष्टमं
देवहूतमम् ॥ ८ ॥

अग्निदेवता । अतिजगती । निषादः ॥

भा०—हे राजन् ! वीर पुरुष ! तथा हे परमात्मन् ! तू (धूः असि) समस्त शत्रुओं का विनाशक एवं शकट के धुरा के समान समस्त प्रजा के भार को उठाने में समर्थ है। तू (धूर्वन्त) हिंसा करने हारे को (धूर्व) विनाश कर। और (तम्) उसको (धूर्व) मार, दण्ड दे (यः) जो (अस्मान्) हमें (धूर्वति) पीड़ित करता है। और (तं धूर्व) उसका

७—रक्षोघ्नं ब्रह्म देवता इति सायणः काण्वभाष्य । रक्षः, लिंगादन्त
रिचं देवतेति अनन्त० । प्रत्युष्टं द्वे राक्षसे । उरु ब्रह्म रक्षोघ्नं सर्वत्रेति सर्वा० ।
—धर्मिष्ठ० । देवानां च

८—धूरसिधुः । देवानां विष्णुस्तवा प्रामादं सवा० । धूयंते यं०' इति काण्व० ।

नाशकर (यम्) जिसको (वयम्) हम विद्वान् जन (धूर्वामः) विनाश करें । हे वीर पुरुष ! हे परमात्मन् ! (देवानाम्) देव, विद्वान् पुरुषों को (वह्नितमम्) सबसे उत्तम, वहन करने वाला, उनका भार शकट को बैल के समान अपने ऊपर उठाने वाला, (सस्नितमम्) अग्नि वा जलवत् राष्ट्र को मलिन स्वभाव के दुष्ट पुरुषों से शुद्ध करने हारा, (प्रपित्तमम्) सब का सर्वोत्तम पालन करने हारा, (जुष्टतमम्) सब का सर्वोत्कृष्ट प्रेमपात्र (देवहूतमम्) विद्वान् पुरुषों को सर्वोत्तम उपदेश करने हारा, सब को प्रेम से अपने प्रति बुलाने हारा वा सर्वस्तुत्य है । हम तेरी नित्य उपासना कर । शत० १ । १ । २ । १०-१२ ॥

अ०—अहुतमसि हविर्धानं दृष्ट्वहस्व मा ह्वामा ते यज्ञपतिर्ह्वार्षीत् ।
विष्णुस्त्वा क्रमतामुरु वातायापहतं रक्षो यच्छन्तां पञ्च ॥१॥

विष्णुर्देवता । त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—हे यज्ञ ! प्रजापते ! तू (अहुतम्) कुटिलता से रहित (हविर्धानम्) अन्न और ज्ञान का आधार और उसका आश्रयस्थान है । हे यजमान ! यज्ञशील पुरुष ! तू (दृष्ट्वहस्व) ऐसे यज्ञ को सदा बढ़ा । (मा ह्वाः) तू उसको त्याग मत कर । हे यज्ञ ! (ते) तेरा (यज्ञपतिः) यज्ञ पालक, स्वामी पुरुष (मा ह्वार्षीत्) तुझे कभी त्याग न करे । हे यज्ञ ! (त्वा) तुझे (विष्णुः) व्यापक सूर्य या परमेश्वर (क्रमताम्) शासन करता, तुझे रचता और तुझ पर अधिष्ठाता रूप से विद्यमान है । वह इस ब्रह्माण्ड रूप शकट या महान् यज्ञ में शासक है । वह ही (उरु वाताय) महान् जीवनप्रद वायु और प्राणियों के प्राण-समष्टि के सञ्चालन करने के लिये विद्यमान है । (रक्षः) जीवन के विघ्न करने हारा दुष्ट हिंसक (उपहतम्) मार दिया जाय । (पञ्च) पांचों अंगुलियां जिस प्रकार किसी पदार्थ को पकड़ती हैं उसी प्रकार पांचों जन यज्ञ में एकत्र होकर

६—उरुहविष्याः । अपहत रक्षः । यच्छन्तां हविष्याः । सर्वा० ।

(यच्छन्ताम्) दुष्टों का निग्रह करें और जीवनोपयोगी सुखों का संग्रह करें । लोग अन्नसम्पादक यज्ञ को बढ़ावें, उसको कभी न त्यागें । व्यापक सूर्य सर्वत्र फैले; जिससे खूब वायु बहे और रक्षोगण, जीवनाशक पदार्थ नष्ट हों और पांचों जन मिल कर उन राक्षसों का दमन करें । शत० १ । १ । २ । १२-१२ ॥

देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्याम् ।
अग्नये जुष्टं गृह्णाम्यग्नीषोमाभ्यां जुष्टं गृह्णामि ॥ १० ॥

सविता देवताः । भुरिग् बृहती । मध्यमः ॥

भा०—जो अन्न आदि ग्राह्य पदार्थ हैं (त्वा) उसको (देवस्य) सर्वप्रदाता (सवितुः) सर्वप्रेरक, सर्व दिव्य पदार्थों के उत्पादक परमेश्वर या राजा के (प्रसवे) उत्पन्न किये इस संसार में या उसकी आज्ञा में रहकर (अश्विनोः बाहुभ्याम्) अश्वियों, स्त्री पुरुषों या यज्ञसम्पादक विद्वानों या सूर्य और चन्द्र की बाहुओं अर्थात् ग्रहण करने वाले सामर्थ्यों द्वारा और (पूष्णः) पुष्टिकारक प्राण के (हस्ताभ्याम्) ग्रहण और विसर्जन करने के सामर्थ्यों द्वारा (अग्नये जुष्टम्) अग्नि अर्थात् जाठर अग्नि के सेवन करने योग्य और (अग्नि-सोमाभ्याम्) अग्नि और सोम, अग्नि और जल इन द्वारा (जुष्टम्) सेवित, या सेवन करने योग्य सुपक्व अन्न को (गृह्णामि) ग्रहण करूँ ।

राजा के पक्ष में—अग्नि = राजा या क्षात्र बल और सोम = ब्राह्मण इन दोनों के अभिमत अन्न आदि पदार्थों को दो अश्वी अर्थात् स्त्री पुरुषों या राजा, ब्राह्मण विद्वानों के बाहुबल और पूषा अर्थात् पुष्टिकर भागधुक् नामक करसंग्राहक अधिकारी के हस्तों, ग्रहण करने के सामर्थ्यों द्वारा सर्वप्रेरक ईश्वर के राज्य में ग्रहण करूँ ॥ शत० १ । १ । २ । १७ ॥

१०—देवस्य त्वासावित्रम् । अग्नयेऽलिगोक्ते सर्वा० ।

भूताय त्वा नारातये स्वरभिविख्येष्वं दृहन्तां दुर्याः पृथिव्या
 मुबुन्तरिक्षमन्वेमि । पृथिव्यास्त्वा नाभौ सादयाम्यदित्या
 उपस्थे अग्ने हव्यश्च रक्ष ॥ ११ ॥

अग्निदेवता । स्वराङ्क जगती । निषादः ॥

भा०—हे अन्न या अग्ने ! या हे राजन् ! मैं (त्वा) तुझको (भूताय)
 उत्पन्न प्राणियों के हित के लिये उत्पन्न करता हूँ । (नारातये न)
 दान न देने के लिये, या किसी श्रेष्ठ कार्य में व्यय न होने के लिये नहीं,
 या शत्रु के हित के लिये नहीं, प्रत्युत सबके कल्याण के लिये स्थापित
 करता हूँ । मैं पुरुष (स्वः) सुखकारक परमात्मा के परम तेज को
 (अभि विख्येषम्) निरन्तर देखूँ । मेरे (दुर्याः) घर और घर के समस्त
 प्राणी (पृथिवीम्) पृथिवी पर (दृहन्ताम्) सदा बढ़ें, उन्नति करें और
 मैं (उरु अन्नरिक्षम्) विशाल अन्तरिक्ष में भी (अनु एमि) जाऊँ और
 उस पर भी वश करूँ । हे (अग्ने) सब के अग्रणी, ज्ञानप्रकाशक पुरुष !
 (त्वा) तुझको राजा के समान (पृथिव्याः) पृथिवी, पृथिवीवासी
 पुरुषों के (नाभौ) केन्द्र में, मध्य में सबको व्यवस्थासूत्र में बांधने के
 कार्य में और (अदित्याः) इस अविनाशी, अखण्डित राजसत्ता या पृथिवी
 के (उपस्थे) पृष्ठ पर (सादयामि) स्थापित करता हूँ । हे अग्ने पर-
 सन्तापक ! तू (हव्यम्) हव्य, देने और ग्रहण करने योग्य, एवं ज्ञान
 योग्य समस्त अन्न आदि पदार्थों की (रक्ष) रक्षा कर । शत० १ ।
 १ । २ । २०-२३ ॥

पृथिवीस्थो वैष्णव्यौ सवितुर्वः प्रसूव उत्पुनाम्यच्छिद्रेण पृथिवीं
 सूर्यस्य रश्मिभिः । देवीरापो अग्नेगुवो अग्नेपुवोऽग्र इममद्य

११—भूतायत्वाहविः । स्वः सूर्यः । दृहन्तां गूहाः । पृथिव्यास्त्वा हव्यम् ।
 सर्वा० । 'रक्षस्व०' इति काण्व० ।

यज्ञं नयताग्ने यज्ञपतिं सुधातुं यज्ञपतिं देवयुवम् ॥ १२ ॥

आपः सविता च देवता । स्वराट् त्रिष्टुप् । धैवतः ।

भा०—(पवित्रे स्थः) सूर्य और जल दोनों पवित्र करने हारे, मल आदि के शोधक हैं । उसी प्रकार प्राण और उदान ! इस देह में पवित्र, गति करने वाले हैं । वे दोनों (वैष्णव्यौ), इस संसार और देहमय यज्ञ में वर्तमान रहते हैं । जल ! और प्राण उदान और व्यान तीनों ! (वः) इन को (सवितुः) समस्त दिव्य पदार्थों के उत्पादक प्रेरक सूर्य और समस्त इन्द्रियों के प्रेरक आत्मा के (प्रसवे) शासन या प्रेरक बल पर (अच्छिद्रेण) छिद्ररहित, (पवित्रेण) शोधन करने वाले, छाज से जैसे अन्न स्वच्छ किया जाता है उसी प्रकार (सूर्यस्य रश्मिभिः) निरन्तर पृथ्वी तल पर पड़ने वाली रश्मियों, किरणों द्वारा (उत् पुनामि) ऊपर ले जाकर मैं और भी पवित्र करता हूँ, शुद्ध करता हूँ । तब वे (आपः) जल (देवीः) दिव्यगुण युक्त होकर (अग्नेगुवः) अग्र अर्थात् समुद्र = अन्तरिक्ष में व्यापक और (अग्नेपुवः) अन्तरिक्ष या वातावरण को ही पवित्र करने वाले हो जाते हैं । पवित्र जल (अद्य) अब, सदा (इमम् यज्ञम्) उस महान् ईश्वरनिर्मित ब्रह्माण्डमय यज्ञ को (अग्ने नयत) सब से श्रेष्ठ पद पर प्राप्त कराते हैं । और (सुधातुम्) समस्त संसार को भली प्रकार धारण करने वाले उस (यज्ञपतिम्) यज्ञ के स्वामी परमेश्वर और (देवयुवम्) दिव्य पृथिवी आदि पदार्थों को बनाने और रचने हारे (यज्ञपतिम्) यज्ञपति परमेश्वर को (अग्ने नयत) सबसे उत्तम पद पर स्थापित करते हैं ।

राजा के पक्ष में—(पवित्रे स्थः) हे राजा और प्रजा ! तुम दोनों ही राष्ट्र को परिशोध करने हारे (वैष्णव्यौ) व्यापक राज्यव्यवस्था के अंग हो । मैं पुरोहित (वः सवितुः प्रसवे उत्पुनामि) तुम प्रजाजनों को प्रेरक

१२—पावत्रोल्लिङ्गोक्तं । सवितुर्देवीः प्राञ्चता आपानि । सर्वा० ।

मं० १३]

प्रथमोऽध्यायः

राजा की प्रेरणा और शासन द्वारा उन्नत करता हूँ । (अच्छिद्रेण पवित्रेण) बिना छिद्र के छाज से जैसे अन्न शुद्ध किया जाता है और (सूर्यस्य रश्मिभिः) सूर्य की रश्मियों से जिस प्रकार जल और वायु शुद्ध होते हैं । उसी प्रकार (अच्छिद्रेण) त्रुटि रहित, बिना छल-छिद्र के पवित्र व्यवहार और सूर्य के समान कान्तिमान् प्रतापी राजा के रश्मि अर्थात् प्रजाओं को बांधने वाली व्यवस्थापक रासों से राष्ट्र को शुद्ध करूँ । (देवीः आपः) दिव्य गुणयुक्त, विद्वान् आसपुरुष (अग्ने-गुवः) सब कामों में अगुआ हों और (अग्नेपुवः) आगे सब के मार्गदर्शक हों । हे (आपः) आस पुरुषो ! आप लोग (अद्य इमं यज्ञं अग्ने नयत) अब इस परस्पर संगत सुव्यवस्थित राष्ट्र को आगे उन्नति के मार्ग पर ले चलो । (सुधातुं देवयुवम् यज्ञपतिम् अग्ने नयत) राष्ट्र के उत्तम रूप से धारक, पालक, पोषक विद्वानों के प्रिय, यज्ञपति राष्ट्रपति को आगे ले चलो ॥ शत० १ । १ । ३ । १-७ ॥

१ युष्मा इन्द्रोऽवृणीत वृत्रतूर्यै युयमिन्द्रमवृणीध्वं वृत्रतूर्यै प्रोक्षिता स्थ । २ अग्नये त्वा जुष्टं प्रोक्षाभ्यग्नीषोमाभ्यां त्वा जुष्टं प्रोक्षामि । ३ दैव्याय कर्मणे शुन्धध्वं देवयज्यायै यद्वोऽशुद्धाः पराजघ्नुरिदं वस्तच्छुन्धामि ॥ १३ ॥

(१) इन्द्रो देवता । निचृदुष्णिक् ॥ ऋषभः । (२) अग्निः विराट् गायत्री । षड्जः । (३) यज्ञः मुरिग् उष्णिक् । ऋषभः ।

भा०—हे प्रजा के आस पुरुषो ! (युष्मा) तुम लोगों को (इन्द्रः) ऐश्वर्यवान् राजा, सूर्य जिस प्रकार मेघ के साथ संग्राम करने और उसको छेदन-भेदन करने के अवसर पर ग्रहण करता है उसी प्रकार (वृत्रतूर्यै) राष्ट्र पर आवरण या घेरा डालने हारे शत्रु के वध करने के संग्राम-कार्य में (अवृणीत) वरण करता है । और (वृत्रतूर्यै) घेरा डालने वाले या

१३—अग्नये लिगाक्ते । अग्नीषोमाभ्यां त्वा । दैव्याय पात्राणि । सवा० ।

राष्ट्र की सुख-सम्पत्ति के वारक दुष्ट पुरुष के साथ होने वाले संग्राम में ही (यूयम्) तुम लोग भी (इन्द्रम्) इन्द्र, ऐश्वर्यवान् प्रतापी पुरुष को अपना नेता, स्वामी (अवृणीध्वम्) वरण किया करो। आप सब आस जन (प्रोक्षिताः स्थ) वीर्य और धन आदि द्वारा उत्सिक्त, सम्पन्न, विशेष रूप से दीक्षित, जल से स्वच्छ, अभिषिक्त या युद्ध में निष्णात होकर रहो।

(२) हे वीर पुरुष ! (अग्रये जुष्टम्) अग्रणी नेता के प्रेमपात्र (त्वा) तुझ को (प्रोक्षामि) अभिषिक्त करता हूँ, दीक्षित करता हूँ, (अग्निपोमाभ्याम्) अग्नि और सोम, क्षत्रिय और ब्राह्मण या राजा और प्रजा दोनों के हित के लिये या दोनों के बलों से (जुष्टम्) सम्पन्न (त्वा) तुझ वीर, उत्तम पुरुष को (प्रोक्षामि) जलों द्वारा अभिषिक्त करता हूँ।

(३) हे (आपः) आस पुरुषो ! आप सब लोग मिलकर इस उत्तम पुरुष को (दैव्याय कर्मणे) देवों से या देव, राजा द्वारा सम्पादन करने योग्य कर्म, राज्यव्यवहार के लिए (शुन्धध्वम्) शुद्ध करें, नाना जलों से अभिषिक्त करें। और (देवयज्यायै) देवों, विद्वानों द्वारा परस्पर संगत होकर करने योग्य व्यवस्था कार्य के लिये तुझे अभिषिक्त करें। राजा प्रजा के प्रति कहता है—हे प्रजाजनो ! आस पुरुषो ! (यद्) यदि (वः) तुम में से जो कोई लोग (अशुद्धाः) मलिन, अशुद्ध, त्रुटिपूर्ण होकर (परा जघ्नुः) शत्रुओं से पराजित होकर पछाड़ खा गये हैं तो (इदम्) यह मैं इस प्रकार (वः) आप लोगों को (तम्) उस त्रुटि के दूर करने के लिये (शुन्धामि) विशुद्ध, त्रुटिरहित करता हूँ।

राजा प्रजा के आस पुरुषों को संग्राम के निमित्त वरे। प्रजापुं राजा को वरें। राजा प्रजा के निमित्त भरती हुए वीरपुरुषों को भी दीक्षित करें, राजा राज्यकार्य को देवकार्य या ईश्वरीय सेवा जानकर शुद्ध चित्त होकर अभिषिक्त हों। और राजा अपने समस्त कार्यकर्ताओं को त्रुटिरहित करे।

शर्मास्यवधूतं रक्षोऽवधूता अरातयोऽदित्यास्त्वगंसि प्रति
त्वादितिर्वेत्तु । अद्रिरसि वानस्पत्यो ग्रावासि पृथुबुध्नः प्रति
त्वादित्यास्त्वग्वेत्तु ॥ १४ ॥

यज्ञा देवता । स्वराड् जगती । निषादः ॥

भा०—हे राजन् ! (शर्म असि) जिस प्रकार घर सुखदायी होता है
उसी प्रकार तू प्रजा के लिये सुखप्रद है । (रक्षः) तेरे द्वारा ही विघ्न-
कारी राक्षसों को (अवधूतम्) नीचे दवा कर नष्ट किया जाता है ।
(अरातयः अवधूताः) हमारे अधिकार और संपत्ति को हमें न देने हारे
अदानशील, दुष्ट पुरुष भी मार दिये जाते हैं । तू सचमुच (आदित्याः) इस
खण्ड अविनश्वर, अदिति पृथिवी की (त्वक् असि) त्वचा के समान
रक्षक है । अर्थात् जिस प्रकार त्वचा देह की रक्षा करती है उसी प्रकार
बाह्य आघातों से तू पृथिवी निवासी प्रजा की रक्षा करता है । (त्वा)
तुझे को (अदितिः) यह पृथिवी वासी प्रजाजन (प्रति वेत्तु) प्रत्यक्ष
रूप में जानें । हे राजन् तू ! (वानस्पत्यः) वनस्पति के बने (अद्रिः)
कभी भी न टूटने वाले मूसल के समान दृढ़ है । अथवा (वानस्पत्यः)
वनस्पतियों का हितकारी जिस प्रकार मेघ बरसता है उसी प्रकार तू प्रजा
के प्रति सुखों का वर्षक (अद्रिः) और अमेघ रक्षक है । (ग्रावा असि)
जिस प्रकार दृढ़ शिला अन्न आदि पदार्थों को चूरा कर देती है उसी
प्रकार तू भी शत्रुओं को चकनाचूर कर देता है । तू (पृथु-बुध्नः) विशाल
मूल वाला, दृढ़ आधार वाला है । (अदित्याः) अदिति, पृथिवी और
उसके ऊपर बसने वाली प्रजा के (त्वक्) त्वचा के समान संवरणकारी
रक्षक लोग भी (त्वा) तुझे (प्रति वेत्तु) प्रत्यक्ष रूप में जानें ॥
शत० १ । १ । ४-७ ।

१४—शर्मास्यदित्याः कृष्णाजिनम् । अवधूतं राक्षसम् । अद्रिर्गावौलुखले ।

सर्वा० ॥

१ अग्नेस्तनूरसि वाचो विसर्जनं देववीतये त्वा गृह्णामि
बृहद्ग्रावासि वानस्पत्यः स इदं देवेभ्यो हविः शमीष्व सुशमि
शमीष्व । २ हविष्कृदेहि हविष्कृदेहि ॥ १५ ॥

यज्ञो देवता (१) निचृत् जगती निषादः (२) याजुषी पंक्तिः । पंचमः ॥

भा०—हे प्रजा के पालक ! यज्ञमय प्रजापते ! राजन् ! तू (अग्नेः तनूः असि) अग्नि का स्वरूप है । अग्नि के समान साक्षात् अग्रणी और दुष्टों का तापकारी है । (वाचः विसर्जनम्) वेद आदि वाणियों और स्तुतियुक्त वाणियों के त्याग करने, भेंट करने का स्थान है । (त्वा) तुझ को हम प्रजाजन (देव-वीतये) देव, विद्वानों वा शुभगुणों के रक्षा वा प्राप्ति के निमित्त (गृह्णामि) स्वीकार करते हैं । तू (वानस्पत्यः) वन-स्पति अर्थात् काष्ठ के बने मूसल के समान शत्रुनाशक और (बृहद्ग्रावा असि) बड़े भारी पाषाण के समान शत्रु के दलन करने वाला है । (इदम्) यह (देवेभ्यः) देव विद्वान् पुरुषों के उपकार के लिये (हविः) ग्रहण करने योग्य अन्न या भोग्य पदार्थ है । (सः) वह तू राजा उसको (शमीष्व) शान्तिदायक रूप में तैयार कर । (सुशमि) उत्तम रीति से दुःखशमन करने के लिये (शमीष्व) उसको उत्तम रीति से तैयार कर । हे (हविष्कृत्) अन्न आदि पदार्थों के तैयार करने वाले सत्पुरुष ! तू (एहि) आ । हे (हविष्कृत् एहि) अन्न आदि पदार्थों को तैयार करने वाले पुरुष ! तू आ ॥ शत० १ । १ । ४ । ८-१३ ॥

कुक्कुटोऽसि मधुजिह्व ईषमूर्जमावद त्वया वयथं संधातथं
संधातं जेष्व वर्षवृद्धमसि प्रति त्वा वर्षवृद्धं वेत्तु परापूतथं रक्षः
परापूता अरातयोपहतथं रक्षो वायुषो विविनक्तु देवो वः

१५—अग्ने हविः । बृहत्सद्भूमौसले । हविः कृदाधिदैवतवाम्जधि-
यज्ञपत्नी । सर्वा० । ० 'बृहन्ग्रावासि'०, '०शमि हव्यं २ शमीष्व०' इति
काण्व० । यज्ञो देवता । द० ।

सविता हिरण्यपाणिः प्रतिगृभ्णात्वच्छिद्रेण पाणिना ॥ १६ ॥

वायुः सविता च देवते (१) ब्राह्मी त्रिष्टुप् । धैवतः, (२) विराड्

गायत्री । षड्जः ॥

भा०—हे वीर राजम् ! तू (कुक्कुटः) घोर डाकुओं को नाश करने चाला और (मधुजिह्वः) मधुर जिह्वा वाला अर्थात् मधुर वाणी बोलने हारा (असि) है । तू हमें (इषम्) अन्न आदि भोग्य पदार्थ या प्रेरक आज्ञा वचन, (ऊर्जम्) परम विद्यादि पराक्रम तथा अन्यान्य बलकारी पदार्थों को प्राप्त करने का (आ वद) उपदेश कर । लोगों को अन्नादि उत्पन्न करने की आज्ञा दे । (त्वया) तुझ वीर, अग्रणी राजा के द्वारा (वयम्) हम (संघातं संघातम्) शत्रुओं को मार मार कर (जेष्म) विजय करें । (वर्णवृद्धम् असि) जिस प्रकार सूप की सीकें वर्षा से बढ़ी होने के कारण वह सूप वर्षवृद्ध है, उसी प्रकार हे ज्ञानी पुरुष ! तू भी वर्षों में अधिक आयु होने से वर्षवृद्ध है । (वर्णवृद्धं त्वा) उस वर्षों में बूढ़े, दीर्घायु, एवं वृद्ध अनुभवी तुझ पुरुष को (प्रति वेत्तु) प्रत्येक पुरुष जाने । जिस प्रकार सूप अन्न को फटक कर भूसी को पृथक् कर देता है उसी प्रकार है ज्ञानवृद्ध और वयोवृद्ध तुझ पुरुष के विवेक और युक्ति द्वारा (रक्षः) प्रजा में विघ्नकारी दुष्ट पुरुष (पराभूतम्) पराजित और दूर हो, और (अरातयः) शत्रुगण भी (परापूताः) पछोड़ कर दूर कर दिये जाय । इस प्रकार (रक्षः) विघ्नकारी दुष्ट पुरुष जब (अपहतम्) ताड़ित हों तब (वायुः) वायु जिस प्रकार छाज से गिराये अन्न में से भूसी को दूर उड़ा देता है और अन्न पृथक् हो जाता है उसी प्रकार हे प्रजागण ! आस पुरुषो ! (वः) तुम्हारे बीच में (वायुः) व्यापक,

१६—वाक्, शर्प, हविः, रक्षः, तण्डुलाश्च देवताः सर्वाः० । 'संघाते सघाते', '० प्रतिपूता अरातयः०' ।', '० प्रतिगृभ्णातु हिरण्यपाणिरिच्छिद्रेण 'पाणि' इति काण्व० ॥

ज्ञानी पुरुष ही (विविनक्तु) धर्म अधर्म और बुरे भले का विवेक करे । जिस प्रकार पुनः सुवर्णादि से धनाढ्य पुरुष द्रव्य देकर अन्न को हाथों से भर कर उठा लेता है उसी प्रकार (हिरण्य-पाणिः) सुवर्ण-कंकण को हाथ में धारण करने हारा, तेजस्वी (सविता देवः) तुम्हारा प्रेरक, सूर्य के समान उज्ज्वल, प्रतापी राजा (वः) तुम सब प्रजाजनों को (अच्छि-द्रेण पाणिना) छिद्र रहित हाथों से, त्रुटिरहित साधन से (प्रति गृभ्णातु) स्वीकार करे, रक्षा करे ॥ शत० १ । १ । ३ । १८-२४ ॥

धृष्टिरस्यपाऽग्ने अग्निमामादं जहि निष्क्रव्यादथं सेधा देवयजं वह । ध्रुवमांसि पृथिवीं दृढं ब्रह्मवनि त्वा क्षत्रवनि सजात-वन्युपदधामि भ्रातृव्यस्य वधाय ॥ १७ ॥

अग्निदेवता । ब्राह्मो पंक्तिः । पंचमः ॥

भा०—हे धनुर्विद्या में विद्वान् राजन् ! वीर पुरुष ! राष्ट्र में समीप समीप के नाना स्थानों में छावनियें बना कर बैठने हारे ! तू (धृष्टिः असि) शत्रु को घर्षण करने, उसको पराजित करने में समर्थ है । अतः हे अग्ने ! शत्रु संतापक राजन् ! तू अपने से विपरीत (आमादम्) कच्चे, अपरिपक्व आनु वाले जीवों को खाने वाले, या कच्चे मांसखोर, संतापक पुरुष को या रोगादि ज्वर को (जहि) विनाश कर । और (क्रव्यादम्) जो अग्नि, क्रव्याद्, क्रव्यमांस को खाय, वह चिता आदि की अग्नि अर्थात् मृत्युकारक कारण और उसके समान अन्य अमंगलकारी, प्रजाघातक विपत्तिकारी संतापक जन्तु को भी (निः पेध) दूर कर । (देवयजं) देव, विद्वानों और वायु और जल आदि को परस्पर संगत करके सुख वर्धन करने वाले विद्वान् पुरुष को (वह) राष्ट्र में ला, बसा । तू (ध्रुवम् असि) ध्रुव, स्थिर है, इस कारण तू (पृथिवीं दृढं) पृथिवी को दृढ़ कर, पालन कर । (ब्रह्मवनि)

१७—उपवेशाऽग्निः, कपालानि च देवताः । सर्वा० । ० 'उपदधामि द्विषतो वधाय' इति काण्व० ।

ब्राह्मणों को वृत्ति देने वाले, (क्षत्रवनि) क्षत्रियों को वृत्ति देने वाले और (सजातवनि) अपने समान वीर्यवान् पुरुषों को भी वृत्ति देने वाले तुझे अखिल ऐश्वर्य के स्वामी पुरुष को (भ्रातृव्यस्य) शत्रु के (वधाय) वध करने के लिये (उप दधामि) स्थापित करता हूँ ।

^१अग्ने ब्रह्म गृभ्णीष्व धरुणमस्यन्तरिक्षं दृष्टुं ब्रह्मवनि त्वा क्षत्रवनि सजातवन्युपदधामि भ्रातृव्यस्य वधाय । ^२धर्ममसि दिवं दृष्टुं ब्रह्मवनि त्वा क्षत्रवनि सजातवन्युपदधामि भ्रातृव्यस्य वधाय । ^३विश्वाभ्यस्त्वाशाभ्य उपदधामि चित् स्थोर्ध्वचितो भृगूणामङ्गिरसां तपसा तप्यध्वम् ॥ १८ ॥

अग्निदेवता (१) ब्राह्मी उद्दिष्टम् । ऋषभः । (२) आर्ची त्रिष्टुप् धैवतः (३) आर्ची पंक्तिः । पंचमः ।

भा०—हे (अग्ने) अग्ने ! शत्रुसंतापक और प्रजा के अग्रणी नेता ! राजन् ! तू (ब्रह्म) वेद और वेदज्ञ पुरुष, ब्राह्मणों को (गृभ्णीष्व) अपने आश्रय में ले । और (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष और अन्तरिक्ष में स्थित वायु आदि पदार्थों और उसमें विचरने वाले प्राणियों और उसकी विद्या के वेत्ता पुरुषों, अथवा अन्तरिक्ष के समान शासक श्रेणी के प्रजाजन को (दृष्टुं) उन्नत कर । (ब्रह्मवनि त्वा क्षत्रवनि सजातवनि उपदधामि भ्रातृव्यस्य वधाय) इत्यादि पूर्ववत् ॥ (धर्मम् असि) तू राष्ट्र के धारण करने में समर्थ है । तू (दिवम् दृष्टुं) द्यौलोक, उसमें स्थित, प्राणियों, दिव्य शक्तियों और द्यौलोक के समान उच्च कोटि के प्रजाजनों को उन्नत कर, (ब्रह्मवनि त्वा० इत्यादि) पूर्ववत् । हे राजन् ! (त्वा) तुझे (विश्वाभ्यः आशाभ्यः) समस्त दिशाओं और उनके वासी प्रजाओं के लिये (उपदधामि) स्थापित करता हूँ । हे विद्वान् पुरुषो ! आप लोग भी (चितः स्थ) प्रजा को

ज्ञान देने हारे और स्वयं ज्ञानवान् हैं । अतएव आप लोग (ऊर्ध्वचितः स्थ) सबसे ऊपर रहकर सबको ज्ञानवान् करने में कुशल हो । आप लोग (भृगूणाम्) पाप और पापियों को भून डालने वाले, (अंगिरसाम्) अङ्गारों के समान जाज्वल्यमान, तेजस्वी पुरुषों वा प्राणों के (तपसा) तपश्चर्या विद्या वा तेज से (तप्त्वध्वम्) स्वयं तप करो, दुष्टों को पीड़ित करो ॥ शत० १ । २ । ५ । १०-१३ ॥

शर्मस्यवधूतथं रक्षोऽवधूताऽअरातयोऽदित्यास्त्वगसि प्रति त्वादितिर्वेत्तु । धिषणासि पर्वती प्रति त्वादित्यास्त्वग्वेत्तु दिवः स्कम्भनीरासि धिषणासि पार्वतेयी प्रति त्वा पर्वती वेत्तु ॥ १६ ॥

अग्निदेवता । निचृद् ब्राह्मी त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०-हे राजन् ! (शर्म असि) तू समस्त प्रजा का दुःखनाशक और सुख-दायक शरण है । (अवधूतं रक्षः) तेरे द्वारा राष्ट्र के विघ्नकारी राक्षसगण मार भगाये जायं । (अरातयः अवधूताः) शत्रुगण भी पछाड़े जायं । तू (अदित्याः) अखण्ड पृथिवी का (त्वक् असि) त्वचा वा ढाल के समान उसकी रक्षा करने हारा है । (त्वा) तुझे (अदितिः) यह समस्त पृथिवी (प्रति-वेत्तु) प्रत्यक्षरूप में अपना स्वामी स्वीकार करे । हे वेदवाणि ! या हे सेने ! तू (पर्वती) पालन करने के बल और ज्ञान से युक्त, (धिषणा) शत्रुओं का धर्षण और प्रजा को धारण करने में समर्थ (असि) है । (अदित्याः त्वक्) अदिति, पृथिवी की त्वचा, उसको संवरण, पालन करने वाली प्रभुशक्ति (त्वा प्रतिवेत्तु) तुझे प्राप्त करे और स्वीकार करे । हे प्रभुशक्ते ! तू (दिवः स्कम्भनीः असि) द्यौलोक के समान प्रकाशवान् या सूर्य के समान प्रकाश युक्त तेजस्वी विद्वानों का आश्रयभूत (असि) है । तू भी (पार्व-तेयी) मेघ की कन्या बिजुली के समान अति बलवती या मेघ से उत्पन्न

१६-दृष्ट्वा शम्या, उपलाश्च सर्वा० ॥ 'दिवस्त्रम्भग्यसि' इति काण्व० ।

वृष्टि के समान सब का पालन करने वाली, सब सुखों की वर्षक, उत्तम फल प्राप्त कराने हारी है । (पर्वती) उत्तम फलदात्री पूर्वोक्त सेना (त्वा प्रतिवेत्तु) तुझे प्रत्यक्ष रूप से प्राप्त करे, स्वीकार करे ॥ शत० १ । २ । ५ । १४-१७ ॥

धान्यमसि धिनुहि देवान् प्राणाय त्वोदानाय त्वा व्यानाय त्वा ।
दीर्घामनु प्रसितिमायुषे धां देवो वः सविता हिरण्यपाणिः प्रति-
गृभ्णात्वच्छिद्रेण पाणिना चक्षुषे त्वा महीनां पयोऽसि ॥ २० ॥

सविता देवता । विराट् ब्राह्मी त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—अन्न और घृत की उपमा से राज्यशक्ति का वर्णन करते हैं—
(धान्यम् असि) हे राजन् ! जिस प्रकार अन्न समस्त प्रजाओं का धारण पोषण करता है उसी प्रकार तू भी प्रजा को धारण पोषण करता है । इस लिये (देवान् धिनुहि) जिस प्रकार अन्न शरीर के प्राणों को तृप्त करता है इसी प्रकार तू देव अर्थात् शिल्पी, विद्वानों और सत्तावान् राजपुरुषों को तृप्त, प्रसन्न कर । (प्राणाय त्वा, उदानाय त्वा, व्यानाय त्वा) जिस प्रकार अन्न को प्राण शक्ति, उदान शक्ति और व्यान शक्ति की वृद्धि के लिये खाते हैं उसी प्रकार हे राजन् ! तुझ को प्राण अर्थात् राष्ट्र के जीवन-धारण के हेतु, बल की प्राप्ति, उदान अर्थात् आक्रमण, चढ़ाई और पराक्रम के लिए और व्यान अर्थात् समस्त राष्ट्र में शुभ, अशुभ कर्मों और विद्याओं के फैलाने के लिए, और (दीर्घाम् प्रसितिम् अनु आयुषे धाम्) जिस प्रकार दीर्घ, विस्तृत, उत्तम कर्म-संतति के अनुकूल, उत्तम कर्म-बन्धन के अनुरूप, दीर्घ जीवन के लिये अन्न को खाते हैं उसी प्रकार हे राजन् ! तुझको भी हम (दीर्घाम्) दीर्घ, अति विस्तृत (प्रसितिम्) उत्कृष्ट रूप

२०—हविराज्यञ्च । सर्वा० । ‘०देवान् धिनुहि यज्ञपति’ धिनुहिमा यज्ञन्य प्राणाय० । प्रतिगृभ्णात हिरण्यपाणिश्छिद्रेण० शत काण्व० ।

से प्रबन्ध करने वाली राज्य-व्यवस्था के (अनु) प्रति लक्ष्य करके राष्ट्र के (आयुषे) दीर्घ जीवन के लिए तुझ को राष्ट्रपति के पद पर हम स्थापित करते हैं । जिस प्रकार अन्नों को (हिरण्यपाणिः सविता देवः) सुवर्ण आदि धन को हाथ में लेने वाला धनाढ्य पुरुष (अच्छिद्रेण पाणिना) बिना छिद्र के हाथ से अन्न को स्वीकार कर लेता है, संग्रह करता है, उसी प्रकार हे प्रजाजनो ! (वः) तुम्हारा (सविता) उत्पादक और प्रेरक शासक (हिरण्यपाणिः) सुवर्ण कंकण को हाथ में रखने वाला, सुवर्णालंकृत, धनैश्वर्यसम्पन्न राजा वा मोक्ष सुख का दाता ईश्वर तुमको (अच्छिद्रेण) छिद्ररहित, त्रुटिरहित, पूर्ण बलयुक्त (पाणिना) पाणि = हाथ से या सत्य व्यवहार से (प्रतिगृभ्णातु) स्वीकार करे, तुम्हें अपनावे और तुम्हारी रक्षा करे । और हे राजन् ! जिस प्रकार अन्न को स्थिर जीवन धारण करने और चक्षु आदि इन्द्रियों को नित्य चेतन रखने के लिये स्वीकार किया जाता है, उसी प्रकार हम प्रजाजन (त्वा) तुझ को (चक्षुषे) प्रजा के समस्त व्यवहारों को देखने के लिये, निरीक्षक रूप से प्रजा में विवेक बनाये रखने के लिए नियुक्त करते हैं । और हे राजन् ! जिस प्रकार (महीनाम् पयः असि) घृत, गौवों के दुग्धों का भी पुष्टिकारक अंश है उसी प्रकार तू (महीनां) बड़ी शक्तिशालिनी, विशाल प्रजाओं का (पयः असि) पुष्टिकारक, स्वतः वीर्यमय अंश है ॥ शत० १ । २ । ४ । १८-२२ ॥

१ देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्याम् ।
 २ सं वपामि समापऽश्रोषधीभिः समोषधयोरसैन । सथं रेवतीर्जगतीभिः पृच्यन्ताथं सं मधुमतीर्मधुमतीभिः पृच्यन्ताम् ॥२१॥

यज्ञो देवता । (१) गायत्री । ऋषभः । (२) विराट् पंक्तिः । पचमः ॥

भा०—(देवस्य) देव (सवितुः) सर्वोत्पादक ईश्वर के (प्रसवे)

२१—हविरापश्चदेवताः । सर्व० । 'जगतीभिः सं मधुमतीः०' शक्ति कायव० ।

शासन में या उसके बनाये संसार में (अश्विनोः बाहुभ्याम्) ब्राह्मण, क्षत्रिय या प्रजा और राजा की बाहुओं से और (पूष्णः) पुष्टिकारक, सर्व-पोषक वैद्यगण के (हस्ताभ्याम्) हाथों से (त्वा) तुझको (सं वपामि) स्थापित करता हूँ । राष्ट्ररूप यज्ञ में (आपः ओषधीभिः सम् पृच्यन्ताम्) जल जिस प्रकार ओषधियों से मिलाये जाते हैं उसी प्रकार दोषों के नाश करने वाले विद्वान् सदाचारी (आपः) आस, सत्य व्यवहार युक्त प्रजा-जन (सम् पृच्यन्ताम्) मिलें । (ओषधयः) ओषधियों जिस प्रकार (रसेन सम् पृच्यन्ताम्) वीर्यवान्, उत्तम रस से युक्त हों उसी प्रकार दोष दूर करने वाले पुरुष साररूप बल से युक्त किये जायें । (जगतीभिः रेवतीः सम्) और जिस प्रकार जगती अर्थात् ओषधियों के साथ रेवती अर्थात् शुद्ध जल मिल कर विशेष गुणकारी हो जाते हैं उसी प्रकार (जगतीभिः) निरन्तर गमन करने वाले, दूरगामी रथ आदि साधनों के साथ (रेवतीः) धनैश्वर्य सम्पन्न प्रजायें युक्त होकर रहें । वे यानों द्वारा बराबर व्यापार करें । और (मधुमतीः मधुमतीभिः सं पृच्यन्ताम्) जिस प्रकार मधुर रस वाली ओषधियाँ मधुर रस वाली ओषधियों से मिला दी जाती हैं उसी प्रकार (मधुमतीः) मधु = ज्ञान से समृद्ध प्रजायें मधु अर्थात् अध्यात्म आनन्द से सम्पन्न तत्त्व-ज्ञानी पुरुषों से मिलें और आनन्द लाभ करें ॥ शत० १ । २ । ६ । २-१ ॥

इसी मंत्र में परस्पर विवाह सम्बन्ध करने के निमित्त भी प्रजाओं में गुणवान् पुरुष अपने समान गुण की स्त्रियों से सम्बन्ध करके उत्तम पुत्र लाभ करें, इसका भी उपदेश किया गया है । इसका सम्बन्ध आगे दर्शावेंगे ।

१जनयत्यै त्वा सं यौमीदमग्नेरिदमग्नीषोमयोरिषे त्वा घृमोऽसि विश्वायुरुप्रथाऽउरु प्रथस्वोरु ते यज्ञपतिः प्रथताम् १अग्निष्टे

त्वचं मा हिंसीद् देवस्त्वा सविता श्रपयतु वर्षिष्ठे ऽधि नाके ॥ २२ ॥

(१) यज्ञो देवता । स्वराट् त्रिष्टुप् । धैवतः । (२) प्रजापतिसवि-
तारौ । गायत्री । षड्जः ॥

भा०—हे यज्ञरूप प्रजापते ! पुरुष ! (त्वा) तुझको (जनयत्यै)
नाना प्रकार के ऐश्वर्य और पुत्र आदि उत्पादन करने में समर्थ पृथ्वीरूप
स्त्री के साथ (सं यौमि) मिलाता हूँ । गृहस्थ बन जाने पर दोनों का
भोग्य सम्पत्ति में भाग है । उसमें से (इदम्) यह भाग (अग्नी-
षोमयोः) अग्नि और सोम, पुरुष और स्त्री दोनों का है । हे पुरुष ! तुझको
(इपे त्वा) इच्छानुरूप वीर्य और अन्न आदि समृद्धि प्राप्त करने के लिए
नियुक्त करता हूँ । हे पुरुष ! तू (घर्मः असि) तेजस्वी, वीर्य सेचन में
समर्थ, साक्षात् यज्ञरूप प्रजापति है । तू (विश्वायुः) समस्त प्राणियों की
आयु रूप या पूर्णायु हो । तू (उरुप्रथाः) बहुत विस्तृत होने में समर्थ
हो । अतः (उरु प्रथस्व) खूब अधिक विस्तृत हो । अर्थात् हे गृहस्थरूप
यज्ञ ! (ते यज्ञपतिः प्रथताम्) तेरा यज्ञपति, स्वामी, गृहस्थ पुरुष प्रजा
द्वारा खूब फले । हे स्त्री ! (ते त्वचम्) तेरे शरीर के अंगों को (अग्निः)
तेरा अग्नी, पति, स्वामी (मा हिंसीत्) विनाश न करे, तुझे कष्ट न दे ।
(सविता देवः) प्रेरक परमेश्वर (त्वा) तुझे (वर्षिष्ठे) अति सम्पन्न
(नाके) सुखमय लोक, गृह में (श्रपयतु) परिपक्व करे ॥ शत० १।२।६।३-४ ॥

उसी प्रकार यह मन्त्र यज्ञपति राजा और पृथिवी और राज्यलक्ष्मी के
पक्ष में भी स्पष्ट है ।

मा भेर्मा संविक्थ्वा ऽअतमेरुर्यज्ञो ऽतमेरुर्यजमानस्य प्रजा भूयात्
त्रिताय त्वा द्विताय त्वैकताय त्वा ॥ २३ ॥

अग्निदेवता । बृहती । मध्यमः ॥

२२—हविः, आज्यम्, पुरोडाशश्च दे० । सर्वा० । 'मा हिंसीदन्तरिचं रक्षाऽन्तरिता
अरातयः । त्वा०' इति काण्व० ॥ २३—पुरोडाशः, त्रितद्वैकता दे० । सर्वा० ॥

भा०—हे पुरुष ! (मा भेः) तू मत डर । (मा संविक्थाः) तू उद्विग्न मत हो । (यज्ञः) गृहस्थ रूप यज्ञ (अतमेरुः) सदा ग्लानिरहित, अनथक, सदा बलवान् रहे । और (यजमानस्य) यज्ञशील पुरुष की (प्रजा) प्रजा, सन्तान भी (अतमेरुः) कभी ग्लानियुक्त, मलिन, निर्बल न (भूयात्) हो । हे गृहपते ! (त्वा) तुझको मैं (त्रिताय) तीन वेदों में पारंगत और (द्विताय) दो वेदों में पारंगत और (एकताय) एक वेद में पारंगत पुरुष के लिए (संयौमि) नियुक्त करता हूँ अथवा त्रित = माता पिता और गुरु के निमित्त, द्वित = माता पिता और एकत = केवल परमात्मा की सेवा में नियुक्त करता हूँ । राजा को भी ऐसा ही उपदेश है । तू भय मत कर, उद्विग्न मत हो । राष्ट्रमय यज्ञ ग्लानिरहित हो । राजा, प्रजा ग्लानिरहित, सदा प्रसन्न रहें । त्रित अर्थात् शत्रु, मित्र और उदासीन तीनों के लिए, द्वित अर्थात् सन्धि, विग्रह और एकत अर्थात् एक चक्रवर्ती राज्य के लिए तुझे नियुक्त करता हूँ । अथवा प्रजा में विद्यमान, त्रित अर्थात् उत्तम, मध्यम, अधम या तीन वर्ण के लिए द्वित अर्थात् स्त्री पुरुष, पति पत्नी, एकत अर्थात् एकान्न सेवी मोक्षार्थी लोगों के हित के लिए नियुक्त करता हूँ ॥ शत० १ । २ । ७ । १-५ ॥

देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूषणो हस्ताभ्याम् ।
आददेऽध्वरकृतं देवेभ्य इन्द्रस्य ब्राह्मुरसि दक्षिणः । सहस्रभृष्टिः
शततेजा वायुरसि तिग्मतेजा द्विषतो वधः ॥ २४ ॥

द्यौर्विद्युच्च देवते । स्वराड् ब्राह्मो पाक्तिः । पंचमः ॥

भा०—(देवस्य त्वा इत्यादि) पूर्ववत् [१ । २१] हे शस्त्र ! राजा प्रजा की बाहुवत् वीर पुरुष । पोषक राजा के हाथों वा सर्वग्रेरक सविता राजा के (प्रसवे) शासन में (आददे) तुझ को मैं ग्रहण करता

२४—सविता स्फ्यश्च देवता । सर्वा० ॥

हूँ । तू (देवेभ्यः) देव या विद्वानों के निमित्त (अध्वरकृतम्) राष्ट्रयज्ञ के सम्पादन के लिए या पराजित न होने के लिए ही बनाया गया है । तू (इन्द्रस्य) परमैश्वर्यवान् राजा का (दक्षिणः बाहुः असि) दायां हाथ है अर्थात् दायें हाथ के समान सबसे बड़ा सहायक है । विद्युत् का घोर अस्त्र ! (सहस्रभृष्टिः) हजारों को भून डालने में समर्थ है । (शततेजाः) सैकड़ों तेज और ज्वालाओं से दीप्त होता है । (वायुः असि) वायु के समान दूर तक फैलनेवाला, (तिग्मतेजाः) भूर्य के समान तीक्ष्ण, तेजस्वी और (द्विपतः वधः) शत्रु का नाश करने वाला परम हथियार है ।

पृथिवि देवयजन्योषध्यास्ते मूलम्मा हिंसिषं व्रजङ्गच्छ गोष्ठानं वर्षतु ते द्यौर्विधान देव सवितः परमस्यां पृथिव्यां शतेन पशैर्योऽस्मान्द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मस्तमतो मा मौक् ॥ २५ ॥

सविता देवता । विराड् ब्राह्मो त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—हे पृथिवि ! हे (देवयजनि) देवगण, पृथिवी, तेज, वायु आदि के परस्पर संगत होने के आश्रयभूत ! एवं देव, विद्वानों और राजाओं के यज्ञ की स्थलि ! मैं (ते) तेरे ऊपर बसी (ओषध्याः) यव आदि ओषधियों के (मूलम्) वृद्धि के कारण रूप मूल को (मा हिंसिषम्) विनाश न करूँ । इसी प्रकार (ओषध्याः मूलम्) ओषधिरूप प्रजा के मूल का नाश न करूँ । हे पुरुष ! तू (गोष्ठानम्) गो-स्थान अर्थात् गौ आदि पशुओं के स्थान और (व्रजं) सत्पुरुषों के गमन करने के निवासस्थान को (गच्छ) प्राप्त हो अर्थात् पशुपालन के कार्य में लग, अथवा (व्रजं गच्छ) सज्जनों के जाने के योग्य मार्ग जा और (गोष्ठानं गच्छ) गो-लोक, भूलोक, वाणी के स्थान, अध्ययनाध्यापन आदि के कार्यों में लग । हे पृथिवि ! (ते)

२५—वेदिः पुरीषं । सर्वा ॥ 'पृथिव्यै वमांस पृथिविदेवयज-न्या०' शत काण्व० ।

तेरे ऊपर (द्यौः) आकाश या द्यौलोक सूर्य प्रकाश से मेघ आदि (वर्षतु) निरन्तर उचित काल में वर्षा करे । हे (देव सवितः) सर्वप्रजापालक, शासक राजन् ! (परमस्यां पृथिव्याम्) परम, सर्वोत्कृष्ट पृथिवी में भी (यः) जो दुष्ट पुरुष (अस्मान् द्वेष्टि) हम से द्वेष करता है और (यं च) जिसके प्रति (वयम्) हम भी (द्विष्मः) द्वेष करते हैं, उस शत्रु को (शतेन पाशैः) सैकड़ों पाशों से (बधान) बाँध । (अतः) इस बंधन से (तम्) उसको (मा मौक्) कभी मत छोड़ । शत० १ । २ । २ । १६ ॥ परस्पर पृथिवी निवासी प्रजा का नाश न करें ॥ लोग कृपि और गोपालन करें । राजा दुष्टों का नाश करे, उनको कैद करे ।

१अपारं पृथिव्यै देवयजनाद्व्यासं व्रजङ्गच्छ गोष्ठानं वर्षतु ते द्यौर्विधान देव सवितः परमस्यां पृथिव्याथं शतेन पाशैर्योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मस्तमतो मा मौक् । २अररो दिवं मा पशोः द्रप्सस्ते द्यां मा स्केन् व्रजङ्गच्छ गोष्ठानं वर्षतु ते द्यौर्विधान देव सवितः परमस्यां पृथिव्याथं शतेन पाशैर्योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मस्तमतो मा मौक् ॥ २६ ॥

सविता देवता । (१) स्वराड् ब्राह्मो पंक्तिः, (२) भुक् ब्राह्मो पंक्तिः । पंचमः ॥

भा०—(पृथिव्यै) इस पृथिवी वा पृथिवीवासिनी प्रजा के हित के लिये (अरम्भ) दुष्ट, हिंसकस्वभाव शत्रु को (देवयजनात्) देव विद्वानों के यज्ञस्थान से (अप बध्यासम्) मैं क्षत्रिय पुरुष दूर मार भगाऊँ । (व्रजं गच्छ० इत्यादि) पूर्ववत् । हे (अररो) प्रजापीडक असुर पुरुष ! तू (दिवं) द्यौलोक, स्वर्ग या सुख को (मा पशः) मत प्राप्त कर । हे पृथिवि ! (ते) तेरा (द्रप्सः) उत्तम रस (द्याम्) आकाश की तरफ़

२६—असुरो वेदिश्च दे० । सर्वा० ॥ 'अपारं बध्यासं पृथिव्यै देवयजनात् ।

व्रजं०' इति काश्व० ।

(मा स्कन्) मत जावे, शुष्क न हो । (व्रजं गोष्ठानं गच्छ०) पूर्ववत् ॥
 गायत्रेण त्वा छन्दसा परिगृह्णामि त्रैष्टुभेन त्वा छन्दसा परिगृ-
 ह्णामि जागतेन त्वा छन्दसा परिगृह्णामि । सुक्ष्मा चासि शिवा
 चासि स्योना चासि सुषदा चास्यूर्जस्वती चासि पयस्वती च २७

यज्ञा देवता । त्रिष्टुप् । धेवतः स्वरः ॥

भा०—हे यज्ञमय प्रजासंघ ! (त्वा) तुझ को (गायत्रेण छन्दसा)
 गायत्री छन्द से अर्थात् ब्राह्मणों के ज्ञानकार्य से मैं (परिगृह्णामि) स्वीकार
 करूँ, तुझे अपनाऊँ । (त्वा) तुझ को (त्रैष्टुभेन छन्दसा) त्रिष्टुप् छन्द
 से अर्थात् क्षत्रियों के क्षात्रकर्म से (परिगृह्णामि) स्वीकार करता हूँ और
 (जागतेन छन्दसा) जगती छन्दसे अर्थात् वैश्य कर्म, व्यापार से (परि-
 गृह्णामि) स्वीकार करता हूँ, अपनाता हूँ । अर्थात् राजा को पृथ्वी के
 पालन रूप राष्ट्रमय यज्ञ-कार्य के लिये विद्वान् लोग ब्राह्मण, क्षत्रिय और
 वैश्य तीनों वर्गों के पुरुष प्रसन्नतापूर्वक अपना राजा स्वीकार करें । हे
 पृथिवी ! तू (सुक्ष्मा च असि) उत्तम भूमि है । (शिवा च असि)
 कल्याणकारिणी, सुखकारिणी है । (स्योना च असि) तू सुखदायिनी है ।
 (सुसदा च असि) तू सुखपूर्वक बसने और बैठने योग्य है । (ऊर्ज-
 स्वती च असि) तू उत्तम अन्न रस से युक्त है । और तू (पयस्वती च) दूध
 और घृत आदि पुष्टिकारक पदार्थों से युक्त है ॥ शत० १।२.३। ६-११ ॥

गायत्रच्छन्दा वै ब्राह्मणः । तै० १।१९। ६ ॥ ब्रह्म गायत्री । क्षत्रं
 त्रिष्टुप् । शत० १।३। ५। ५ ॥ त्रैष्टुभो वै राजन्यः । ऐ० १। २८।
 ८। २ ॥ त्रिष्टुप्-छन्दा वै राजन्यः । तै० १।१। ९। ६ ॥ क्षत्रं
 त्रिष्टुप् । कौ० ३। ५ ॥ जागतो वै वैश्यः, ऐ० १। २८ ॥ जागताः
 पशवः । कौ० ३०। २ ॥ जगतीछन्दा वै वैश्यः । तै० १।१। ९। ९ ॥

२७—विष्णुर्वेदिश्च देवते । सर्वो० ।

इसके अतिरिक्त अध्यात्म में विष्णु रूप प्रजापति की उपासना के लिये उसके विराट् शरीर के तीन भाग करने चाहियें। पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्यौः। वे क्रम से गायत्री, त्रिष्टुप् और जगती छन्द नाम से कही जाती हैं।

या वै सा गायत्र्यासीदियं वै सा पृथिवी । श० १ । ४ । १ । ३४ ॥
गायत्रोऽयं भूलोकः ॥ कौ० ८ । ९ ॥ त्रैष्टुभमन्तरिक्षम् । श० ८ । ३ ।
४ । ३१ ॥ जागतोऽसौ द्युलोकः । कौ० ८ । ९ ॥

आधिदैविक पक्ष में—गायत्रं वा अग्नेश्छन्दः । का० १ । ३ । ५ ।
४ ॥ त्रैष्टुभो हि वायुः । श० ८ । ७ । ३ । १२ ॥ जगती छन्द आदित्यो
देवता । श० १० । ३ । २ । ६ ॥ जागतो वा एष य एष तपति । कौ० २५ । ४ ॥

अध्यात्मिक पक्ष में—इस शरीर के शिर, उरस् और जघन भाग उक्त तीन छन्द हैं। गायत्रं हि शिरः । श० ८ । ६ । २ । ६ ॥ उरस्त्रिष्टुप् । श० २ । ३ ॥ श्रोणी जगत्यः । श० ८ । ६ । २ । ८ ॥

विद्वत्पक्ष में—वसु, रुद्र और आदित्य रूप तीन छन्द हैं। गायत्री वसूनां पत्नी । गो० ३ । २ । ९ ॥ त्रिष्टुब् रुद्राणां पत्नी । गो० ३० । २ । ९ ॥ जगत्यादित्यानां पत्नी । गो० ३० । २ । ९ ॥

शरीर में प्राण, अपान, व्यान तीन छन्द हैं। गायत्री वै प्राणः । श० १ । ३ । ५ । १५ ॥ अपानस्त्रिष्टुप् । तां० ७ । ३ । ८ ॥ अयमवाङ् प्राण एष जगती । श० १० । ३ । ९ । ९ ॥ प्रजननसंहिता में वीर्य, प्रजनन, स्त्रीप्रजनन ये तीन छन्द हैं। इत्यादि समस्त प्रकरणों में परमेश्वर, पुरुष, राजा, राष्ट्र, समाज, अधिभौतिक अन्नोत्पत्ति आदि सब यज्ञ शब्द से लिये जाते हैं। पृथिवी शब्द से पृथिवी, प्रजा, स्त्री, प्रकृति, चित्ति आदि पदार्थ लिये जाते हैं। इति दिक् ॥

पुरा क्रूरस्य विसृपो विरश्निष्ठुदादाय पृथिवीं जीवदानुम् ।

यामैर्यँश्चन्द्रमासि स्वधाभिस्तामु धीरासो ऽअनुदिश्य यजन्ते ।
प्रोक्षणीरासादय द्विषतो वधोऽसि ॥ २८ ॥

अवशं ऋषिः । यज्ञो देवता । विराड् ब्राह्म पंक्तिः । पंचमः ॥

भा०—हे (विरिञ्चिन्) महापुरुष ! (क्ररस्व) घोर (विसृपः)
योद्धाओं की नाना वालों से युक्त युद्ध के (पुरा) पूर्व ही (जीवदानुम्)
समस्त प्राणियों को जीवन प्रदान करने वाली (पृथिवीम्) पृथिवी और
पृथिवी निवासिनी प्रजा को (उद् आदाय) उठाकर, उन्नत करके
(याम्) जिसको समस्त (धीरासः) धीर, बुद्धिमान् पुरुष (स्वधाभिः)
स्वयं अपने श्रम से धारण उत्पादन करने योग्य या स्व अर्थात् आत्मा,
शरीर को धारण पोषण करने में समर्थ अन्तों द्वारा (चन्द्रमसि) सब
के आह्लादक, चन्द्र के समान, सर्वप्रिय राजा के अधीन (ऐर्यन्) सौंप
देते हैं (ताम् अनु दिश्य) उसको लक्ष्य करके, उसको ही परम वेदि
मान कर (धीरासः) धीर पुरुष (यजन्ते) यज्ञ करते हैं या परस्पर
संगति करते या संघ बना १ कर रहते हैं । हे राजन् ! तू (प्रोक्षणीः)
उत्कृष्ट रूप से सेवन करने वाले सुख के साधनों और योग्य विद्वान्
प्रजाओं को या शत्रु पर अभिवाण आदि की वर्षा करने वाले शस्त्रास्त्रों को
या (अपः) आत पुरुषों और जलों को तू (आ सादय) स्वीकार कर
और पुनः शस्त्र लेकर तू (द्विषतः) शत्रुओं का (वधः) वध करने में
समर्थ (असि) हो ॥ शत० २ । ३ । १० । २२ ॥

१ प्रत्युष्टं रक्षः प्रत्युष्टाऽअरातयो निष्टं रक्षो निष्टं
ऽअरातयः । २ अनिशितोऽसि सपत्नक्षिद्राजिनं त्वा वाजेध्याये
सम्मार्जिम । ३ प्रत्युष्टं रक्षः प्रत्युष्टाऽअरातयो निष्टं

२८—(२८) चन्द्रमाः, ऐर्यः, स्फयः, आभचारिकं च । इति सर्वा० ।
द० । '०नां धीरासां०, '०यजन्त द्विषतो०' इति काण्व० ।

रक्षो निष्टमाऽअरातयः । अनिशिताऽसि सपत्नक्षिद्वाजिनीं त्वा
वाजेध्यायै सम्मार्जिम् ॥२६॥

यज्ञा देवता । (१) भुरिग्जगती । धैवतः ॥ (२) त्रिष्टुप् । पंडुजः ॥

भा०—(प्रति-उष्टं रक्षः) राक्षस, विघ्नकारी लोग जो राज्यारोहण और राष्ट्रशासन के उत्तम कार्य में विघ्न करते हैं उनको एक एक करके दण्ड कर दिया जाय । (अरातयः प्रति-उष्टाः) शत्रु जो प्रजा को उचित अधिकार नहीं देते वे भी एक १ करके जला दिये जाय, पीड़ित किये जाय । (रक्षः निःतसम्) विघ्नकारियों में प्रत्येक को खूब संतप्त किया जाय और (अरातयः निःतसाः) दूसरों का उचित अधिकार आदि न देने हारे पुरुषों को खूब अच्छी प्रकार पीड़ित, दण्डित किया जाय । हे राजन् ! हे शस्त्रधारिन् ! और हे (सपत्नक्षित्) शत्रुओं के नाशक ! तू अभी (अनिशितः असि) तीक्ष्ण नहीं है । तुझ (वाजिनम्) बलवान्, अश्व के समान वेगवान्, संग्राम में शूर एवं घुड़सवार वीर को (वाजेध्यायै) धाज अर्थात् संग्राम के प्रदीप्त करने के लिये (सम् मार्जि) मांजता हूँ, तीक्ष्ण करता हूँ, उत्तेजित वा अभिषिक्त करता हूँ । (प्रत्युष्टं रक्षः० इत्यादि पूर्ववत्) । सेना के प्रति—हे सेने ! तू (सपत्नक्षित्) शत्रु को नाश करने हारी है, तो भी तू अभी (अनिशिताऽसि) तीक्ष्ण नहीं है । (त्वा वाजिनीम्) तुझ बलवती, संग्राम करने में चतुर सेना को (वाजेध्यायै सम् मार्जिम्) संग्राम को प्रदीप्त करने के लिये उत्तेजित करता हूँ ।

यज्ञ में सुच, सुव इन दो यज्ञपात्रों को मांजते हैं । इन दोनों का पतिपत्नी भाव है । इसी प्रकार संग्राम में शस्त्र, शस्त्रवान्, एवं सेना सेनापति का ग्रहण है ॥ शत० १ ॥ ३ । ४ । १-१० ॥

२६—द्विषत इत्याभिचारिकम् । सुः सुचश्च इति सर्वा० । '०सम्मार्जिम्' इति काण्व० ।

अदित्यै रास्नासि विष्णोर्वेण्योऽस्युज्जै त्वाऽदब्धेन त्वा चक्षुषा
वपश्यामि अग्नेर्जिह्वासि सुहृद्वेभ्यो धाम्ने धाम्ने मे भव
यजुषे यजुषे ॥ ३० ॥

यज्ञो देवता । स्वराट् त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—हे सेने ! तू (अदित्यै) अदिति, पृथिवी के (रास्ना)
समस्त उत्तम पदार्थ, रूप रसों को ग्रहण करने वाली या उसको बांधने
या वश करने वाली (असि) है । तू (वेण्यः असि) व्यापक प्रभु राजा
की व्यापक विस्तृत बलरूप है । (त्वा) तुझ सेना को मैं सेनापति
(अदब्धेन) हिंसा रहित (चक्षुषा) आंख से (अव वपश्यामि) देखता
हूँ । हे बल ! तू (अग्नेः) अग्नि, बुद्धाग्नि या अग्रणी राजा की (जिह्वा)
जीभ, ज्वाला के समान तीक्ष्ण है । (देवेभ्यः) देव, उत्तम पुरुषों, युद्ध
क्रीड़ा करने वाले सुभटों के लिये (सुहृः) उत्तम रूप से आहुति देने
वाली है । तू (मे) मेरे (धाम्ने धाम्ने) सर्व स्थानों, नामों और जन्मों
तथा (यजुषे यजुषे) प्रत्येक यज्ञ या श्रेष्ठ कर्म या प्रत्येक बुद्ध के लिये
रक्षक हो ॥ शत० १ । २ । ४ । १२-१७ ॥

सवितुस्त्वा प्रसव उत्पुनाम्यच्छिद्रेण पवित्रेण सूर्यस्य
रश्मिभिः । सवितुर्वः प्रसवऽउत्पुनाम्यच्छिद्रेण पवित्रेण सूर्यस्य
रश्मिभिः । तेजोऽसि शुक्रमस्यमृतमसि धाम नामासि प्रियं
देवानामनाधृष्टं देवयजनमसि ॥ ३१ ॥

यज्ञो देवता (?) जगती । निषादः । (२) अनुष्टुप् । गान्धारः ॥

३०—‘०योक्त्रम्, आज्यम्दे०, इति सर्वा० । ‘०रास्नासीन्द्रायै संहननं ।
विष्णोर्वेण्योऽस्यु०’ ०अग्ने जिह्वा सुहृद्वेभ्यः० इति काण्व० ।

३१—आपः आज्यं च दे० । सर्वा० । ‘०देवयजनम्’ ॥ इति काण्व० ।
अतः परमेको मन्त्रोऽधिको ‘यस्ते प्राण०’ इत्यादि । काण्व० ।

मं० ३१]

प्रथमोऽध्यायः

भा०—आजि अर्थात् युद्ध के उपयोगी शस्त्रों के प्रति कहते हैं । जिस प्रकार निरन्तर गिरने वाली सूर्य की किरणों से अन्न आदि को शुद्ध किया जाता है उसी प्रकार शस्त्रास्त्रबल को (सवितुः प्रसवे) सर्व प्रेरक राजा के शासन में (अच्छिदेण पवित्रेण) बिना छिद्र के शोधन करने हारे साधन से और सूर्य की रश्मियों से (उत्पुनामि) अच्छी प्रकार शुद्ध करता हूँ, चमकाता हूँ । अन्य अस्त्रों के प्रति भी (वः) उन सब को भी (सवितुः प्रसवे० इत्यादि) पूर्वोक्त प्रकार से स्वच्छ करता हूँ । पुनः वही बलवृत्त शस्त्र (तेजः असि) तेज है, (शुक्रम् असि) शुक्र, वीर्य है (अमृतम् असि) अमृत है । (धाम नाम असि) उसका नाम धाम, धारण करने वाला तेज है या राज्य का धारक और शत्रु को दबाने वाला है । वह (देवानां प्रियम्) देव अर्थात् युद्धविजयी राजाओं का प्रिय और (अनादृष्टम्) कभी धर्षित या पराजित न होने वाला (देव-यजनम् असि) देवों अर्थात् युद्ध-यज्ञ करने वालों का साधन है ॥ शत० १ । २ । ४ । २४-२८ ॥ १ । ३ । ५ । १-१८ ॥

॥ इति प्रथमोऽध्यायः ॥

[आद्ये ऋचश्चैकत्रिंशत्]

इति मीमांसातीर्थ-विद्यालंकारविरुद्धोपशाभितश्रीमत्पंडितजयदेवशर्मकृते
यजुर्वेदालोकभाष्ये प्रथमोऽध्यायः ॥

द्वितीयोऽध्यायः ।

१—३४ परमेष्ठा प्राजापत्यो देवाः प्राजापत्याः, प्रजापतिर्वा ऋषिः ॥

॥ ओ३म् ॥ कृष्णोऽस्याखरेष्टोऽग्नये त्वा जुष्टं प्रोक्षामि
वेदिरसि वहिषे त्वा जुष्टां प्राक्षामि वहिरसि स्रग्भ्यस्त्वा जुष्टं
प्रोक्षामि ॥ १ ॥

यज्ञो देवता । निचृत् पंक्तिः । पञ्चमः ॥

भा०—हे यज्ञ ! यज्ञमय राष्ट्र या राजन् ! तू (कृष्णः असि)
'कृष्ण' अर्थात् सब प्रजाओं को अपने भीतर आकर्षित करने वाला और
(आखरे-ष्टः) चारों ओर से खोदी हुई खाई के बीच में स्थित दुर्ग के
समान सुरक्षित है । अथवा क्षेत्र हलादि से कर्षित और कुदाल आदि से
खोदे गये स्थान में है । (अग्नये) अग्रणी नेता के लिये (जुष्टम्) प्रेम
से स्वीकृत (त्वा) तुझ को मैं (प्रोक्षामि) जल आदि से सींचता या
अभिषिक्त करता हूँ । यह पृथिवी (वेदिः असि) वेदी है । इस से ही
सब पदार्थ और सुख प्राप्त होते हैं । (त्वा) उस को (वहिषे) कुश
आदि ओषधि के लिये (जुष्टम्) उपयोगी जानकर (प्रोक्षामि) जल से
सींचता हूँ । ये ओषधि आदि पदार्थ (वहिः असि) जीवनों ओर
प्राणियों की वृद्धि करते हैं, अतः (स्रग्भ्यः) प्राणियों वा प्राणों के निमित्त
(जुष्टम्) सेवित, उपयुक्त (त्वा) उस पृथिवी को (प्रोक्षामि) सेवन
करता हूँ ।

हवन पक्ष में—(कृष्णः) अग्नि और वायु से छिन्न भिन्न और
१—इधमवेदिबहिषा देवताः । सर्वा० । प्रजापतिः परमेष्ठा ऋषिः । द० ।

आकर्षित होकर खोदे हुए स्थान में यज्ञ किया जाता है । अग्नि के निमित्त धृत आदि से सेचन करता हूँ । वेदि को अन्तरिक्ष के लिये सिंचित करूँ, जल को स्रुचादि के लिये प्रोक्षित करूँ ।

स्रुचः—इमे वे लोकाः स्रुचः ॥ तै० ३ । ३ । १ । २ ॥

गृहस्थ पक्ष में—(कृष्णः) आकर्षणशील यह गृहस्थाश्रम (आख-
रेष्ठः) एक गहरे खने हुए गढ़े में वृक्ष के समान गड़ा है । उसमें उस
यज्ञ को अग्नि पुरुष के लिये उपयुक्त, उसको पवित्र करता हूँ । यह स्त्री
वेदि है । उसको (बहिषे) पुत्र प्राप्त करने या प्रजा वृद्धि के लिये
अभिषिक्त करता हूँ । (बहिः) प्रजाएं अति वृद्धिशील हैं, उनको (स्रुभ्यः)
लोक लोकान्तरों में बसने के लिये दीक्षित करूँ । प्रजा वै बहिः । कौ०
५ । ७ ॥ ओषधयो बहिः । ऐ० ५ । २ ।

संवत्सररूप यज्ञ में—सूर्य कृष्ण है । ‘आखर’ आषाढ़ मास है ।
अग्नि = अग्नि । वेदि = पृथ्वी । बहिः = शरत् । स्रुच = वायुएं या सूर्य
किरण हैं । इसी प्रकार भिन्न भिन्न पक्षों में कृष्ण आदि शब्दों के यौगिक
अर्थ लेने उचित हैं ॥ शत० १ । ३ । ६ । १-३ ॥

अदित्यै व्युन्दनमसि विष्णोस्तुष्टोऽस्यूर्णम्रदसं त्वा स्तृणामि
स्वासस्थां देवेभ्यो भुवंपतये स्वाहा भुवनपतये स्वाहा भुता-
नाम्पतये स्वाहा ॥ २ ॥

यज्ञो देवता । स्वराड् जगता । निषादः ॥

भा०—भूमि को छिड़क कर उस पर आसन बिछा कर राजा आदि
का स्वागत करने का उपदेश करते हैं । हे पर्जन्यरूप प्रजापते ! तू (अदित्यै)
अदिति पृथिवी को (व्युन्दनम् असि) गीला करने वाला है । हे प्रस्तर,
राजन् ! क्षात्रबल ! तू उस (विष्णोः) व्यापक विष्णुरूप यज्ञ या

२—आपः प्रस्तरौ वेदिराग्निश्च देवताः । सर्वा० ।

राष्ट्र की (स्तुपः) शिखा (असि) हो । हे पृथिवी ! (ऊर्ण-अदसम्)
 उन के समान कोमल (देवेभ्यः) देव, विद्वान् पुरुषों के लिये (स्वास-
 स्थाम्) उत्तम रीति से बैठने और बरतने के योग्य (त्वा) तुझ को
 (स्तृणामि) आसन आदि से आच्छादित करता हूँ । हे प्रजापुरुषो !
 (भुवपतये) भू अर्थात् पृथिवी के स्वामी, राजा, अग्रणी नेता के
 लिए (सु-आहा) उत्तम आदरपूर्वक वाणी कहकर उसका आतिथ्य करो ।
 (भुवनपतये) भुवन, लोक के पालक पुरुष के लिए (स्वाहा) आदर
 वचनों का प्रयोग करो । (भूतानां पतये) भूत, उत्पन्न प्राणियों के पालक
 पुरुष के लिए (सु-आहा) उत्तम वाणी आदि से आदर करो । क्षत्रं वै
 प्रस्तरः ॥ श० १ । ३ । ४ । १० ॥

यज्ञपक्ष में—यज्ञ पृथिवी पर जल वर्षाता है, उलूखल आदि यज्ञ की
 शिखा है । वेदि पर विद्वान् बैठें । वे जीवोत्पादक, पृथिवी भुवनों और भूतों
 के पालक परमेश्वर की स्तुति करें ।

^१गन्धर्वस्त्वा विश्वावसुः परिदधातु विश्वस्यारिष्ट्यै यजमानस्य
 परिधिरस्यग्निरिडऽईडितः । ^२इन्द्रस्य बाहुरसि दक्षिणो विश्व-
 स्यारिष्ट्यै यजमानस्य परिधिरस्यग्निरिडऽईडितः । ^३मित्रावरुणौ
 त्वोत्तरतः परिधित्तान्ध्रुवेण धर्मणा विश्वस्यारिष्ट्यै यजमानस्य
 परिधिरस्यग्निरिडऽईडितः ॥ ३ ॥

अग्निर्वा देवता । (१) मुरिग् आचीं त्रिण्डुप् । (२) आचीं पंक्तिः ।

(३) पंक्तिः । (२, ३) पंचमः ॥

भा०—हे राष्ट्रमय यज्ञ ! (त्वा) तुझको (गन्धर्वः) गौ अर्थात्
 पृथिवी के समान गौ, वाणी को धारण करने वाला (विश्वावसुः) समस्त
 विश्व को बसाने हारा या समस्त ऐश्वर्यों का स्वामी, सूर्य के समान विद्वान्,

३—परिधयो देवताः । सर्वा० ॥ 'अग्निरिड ईडितः इति' काण्व० ॥

(विश्वस्य अरिष्टयै) समस्त संसार के सुखों के लिए (परि दधातु) चारों ओर से तुझे पुष्ट करे, तेरी शक्ति की वृद्धि करे । हे विद्वन् ! सूर्य ! राजन् तू (यजमानस्य) यज्ञ करने हारे यज्ञपति की (परिधिः) चारों ओर से रक्षा और पोषण करने के कारण 'परिधि' (असि) है । हे विद्वन् ! तू (अग्निः) सूर्य के समान आगे मार्गप्रदर्शक और (इडः) स्तुति योग्य और (ईडितः) सब प्रजाओं द्वारा स्तुति किया गया है । तू (इन्द्रस्य) इन्द्र, ऐश्वर्यवान् राजा का भी (विश्वस्य) समस्त विश्व के (अरिष्टयै) कल्याण और रक्षा के लिये (दक्षिणः बाहुः असि) दाय्या, बलवान् बाहु अर्थात् सेनापति रूप में परम सहायक है (यजमानस्य परिधिः असि) तू यजमान, राष्ट्ररक्षक राजा का रक्षक है । तू भी (ईडितः असिः) स्तुति योग्य सर्वलोक से आदर-प्राप्त हो । हे राजन् (मित्रावरुणौ) मित्र, सबका स्नेही, हितैषी, न्यायकर्ता और वरुण, दुष्टों का नाशक, दण्ड का अधिकारी दोनों (त्वा) तेरी (ध्रुवेण धर्मणा) अपने ध्रुव, स्थिर, धर्म, कानून या धर्मशास्त्र द्वारा (विश्वस्य अरिष्टयै) समस्त लोक के सुख के लिए (परि धत्ताम्) रक्षा करें । (यजमानस्य परिधिरसि इत्यादि०) पूर्ववत् ॥ शत० । १ । ३ ७ १-५ ॥

वीतिहोत्रं त्वा कवे द्युमन्तं॑ समिधीमहि । अग्ने॑ बृहन्तमध्वरे ॥४॥

विश्वामसुर्धृषिः । अग्निर्देवता । गायत्री । षड्जः ॥

भा०—हे (कवे) क्रान्तदर्शिन्, दीर्घदर्शिन् ! मेधाविन् ! विद्वन् ! (अग्ने) अग्ने ! ज्ञानवान् अग्रणी ! (वीतिहोत्रम्) नाना यज्ञों में विविध प्रकार के ज्ञानों वा वाणियों से सम्पन्न (द्युमन्तम्) दीप्तिमान्, तेजस्वी, (अध्वरे) अहिंसामय अथवा अजेय, इस राष्ट्रपालनरूप यज्ञ में (बृहन्तम्) सबसे बड़े (त्वा) तुझको हम (सम् इधीमहि) भली प्रकार और भी प्रदीप्त, तेजस्वी और तेजःसम्पन्न करें ।

ईश्वर के पक्ष में और भौतिक अग्नि के पक्ष में स्पष्ट है। हे क्रान्त-
विज्ञान अग्ने ! तुझ तेजोमय को हम यज्ञ में दीस करते हैं। हे ईश्वर !
ज्ञानमय, तेजोमय तुझे ज्ञानयज्ञ में हम हृदय-वेदि में प्रदीस करते हैं।

समिदसि सूर्यस्त्वा पुरस्तात् पातु कस्याश्चिदभिशास्त्यै ।
सवितुर्बाहू स्थ ऽऊर्णम्रदसन्त्वा स्तृणामि स्वासस्थं देवेभ्यः
आ त्वा वसवो रुद्रा ऽआदित्याः सदन्तु ॥ ५ ॥

यज्ञो देवता । निचृद् ब्राह्मी बृहती । मध्यमः ॥

भा०— हे यज्ञ के स्वरूप प्रजापते ! राजन् ! या राष्ट्र ! (सूर्यः) सूर्य
जिस प्रकार इस महान् ब्रह्माण्डमय यज्ञ को प्राची दिशा से रक्षा करता
है उसी प्रकार (त्वा) तुझको सूर्य के समान तेजस्वी ज्ञानी, मानी
पुरुष (पुरस्तात्) आगे से (कस्याः चित्) किसी प्रकार के भी अर्थात्
सब प्रकार के (अभिशास्त्यै) अपवाद से (पातु) बचावे। हे राजन् !
(समित् असि) अग्नि के संयोग में आकर जिस प्रकार काठ, और सूर्य
के संयोग में आकर जिस प्रकार वसन्त ऋतु चमक और खिल उठती है
उसी प्रकार विद्वान् के योग से तू तेजस्वी हो जाता है। इसलिए तू
'समित्' है। आगे से रक्षा करने वाले सूर्य के समान विद्वान् (सवितुः)
सर्व प्रेरक की तुम राजा और प्रजा दोनों (बाहू स्थः) दो बाहुओं के
समान हो। हे आसन के समान सर्वाश्रय राजन् ! (ऊर्णम्रदसं त्वा)
उन के समान कोमल तुझको (स्तृणामि) फैलाता हूँ। तू (देवेभ्यः) देव,
विद्वानों के लिए (सु-आसस्थम्) उत्तम रीति से बैठने, आश्रय लेने योग्य
हो। (त्वा) तुझ पर (वसवः) वसु नामक विद्वान्, गृहस्थ (रुद्राः)
दुष्टों को रूलाने में समर्थ अधिकारीगण, (आदित्याः) ४८ वर्ष के आदि-
त्य ब्रह्मचारीगण, (आ सदन्तु) आकर विराजें।

५—अग्निः सूर्यविधृतिप्रस्तरा देवताः । सर्वा० ।

ब्रह्माण्ड यज्ञ में बल, वीर्य दो सूर्य के बाहु हैं। यज्ञ में अग्नि आदि आठ वसु और ११ प्राण, १२ मास आकर विराजते, महान् यज्ञ का सम्पादन करते हैं। उसमें वसन्त समित् है। सूर्य उस महान् यज्ञ की प्राची दिशा से रक्षा करता है। तान ओर से पूर्वोक्त ३ मन्त्र में कही तीन परिधि, तीन लोक रक्षक हैं ॥ शत० १ । ३ । ७ । ७-१२ ॥

१ घृताच्यसि जुहूर्नाम्ना सेदम्प्रियेण धाम्ना प्रियथं सदऽआसीद
 घृताच्यस्युपभृन्नाम्ना सेदम्प्रियेण धाम्ना प्रियथं सदऽआसीद
 घृताच्यसि ध्रुवा नाम्ना सेदम्प्रियेण धाम्ना प्रियथं सदऽआसीद ।
 २ प्रियेण धाम्ना प्रियथं सदऽआसीद । ध्रुवाऽअसदन्नृतस्य योनौ
 वा विष्णो पाहि पाहि यज्ञं पाहि यज्ञपतिं पाहि मां यज्ञन्यम् ॥६॥

विष्णुदेवता (१) ब्राह्मा त्रिष्टुप् । (२) निचृत् त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—यज्ञ में तीन लुप्त होते हैं, जुहू, उपभृत् और ध्रुवा, ये तीनों ब्रह्माण्ड में तीन लोक चौः, अन्तरिक्ष और पृथिवी हैं। राष्ट्र में राजा भृत्य और प्रजा हैं। उनका वर्णन करते हैं। हे राजन् ! तू (जुहूः) समस्त प्रजागण से शक्ति लेने वाला और सबको सुख प्रदान करने में समर्थ (घृताची असि) घृत अर्थात् तेजः और पराक्रम से युक्त है। (जुहूः नाम्ना) तेरा नाम 'जुहू' है (सा) वह राजशक्ति (इदम्) इस राज-भवन और राज्यसिंहासन या पदरूप (प्रियं सदः) अपने प्रिय आश्रय-स्थान, गृह और आसन पर अपने (प्रियेण धाम्ना) प्रिय, अनुकूल धाम अर्थात् तेज से युक्त होकर (आसीद) विराजमान हो। हे राष्ट्र के अधिकारी वर्ग ! तुम भी (घृताची असि) तेज से सम्पन्न हो। (नाम्ना उपभृत्) नाम से तुम 'उपभृत्' हो, क्योंकि राजा तुमको अपने समीप रख

६—जुहूपभृत्-ध्रुवा इविषश्च विष्णुर्वा देवता । सर्वा० । ० जुहूर्नाम०,
 ० प्रिये ॥ दासि सीद०, ० यज्ञन्यम् ॥ इति काण्व० ।

कर भृति या वेतन द्वारा पोषण करता है । (सा) वह अधिकारीगण रूप प्रकृति भी (इदम्) इस अपने (प्रियम् सदः) प्रीतिकर, अनुकूल गृह और आसन पर (प्रियेण धाम्ना) अपने प्रीतिकर अनुकूल धाम, तेज से युक्त होकर (आसीद) विराजमान हो । हे प्रजागण ! तू भी (धृताची असि) धृत के समान पुष्टिकारक अन्न आदि पदार्थों और तेजोमय रत्न, सुवर्ण आदि पदार्थों को प्राप्त करने और कराने वाला तेजस्वी हो । (नाम्ना ध्रुवा) नाम से तुम ध्रुवा अर्थात् सदा पृथिवी के समान स्थिर हो । (सः) वह तू भी (इदं प्रियं सदः) अपने प्रिय अनुकूल भवनों और आसनों पर (प्रियेण धाम्ना) अपने प्रिय तेज सहित (आसीद) विराजमान हो । (प्रियेण धाम्ना प्रियं सद आसीद) सब कोई अपने अपने भवनों, आसनों और पदों पर अपने प्रिय अनुकूल तेज से विराजें । (ऋतस्य योनौ) ऋत अर्थात् सत्य ज्ञान के योनि अर्थात् आश्रयस्थान, सर्वाश्रय न्यायकारी ईश्वर के आश्रय पर (ता) वे तीनों और उनके आश्रित समस्त उपादेय पदार्थ भी (ध्रुवा असदन्) ध्रुव, स्थिर रहें । हे (विष्णो) व्यापक प्रभो ! (ता पाहि) तू उनकी रक्षा कर । (यज्ञं पाहि) तू यज्ञ की रक्षा कर । (यज्ञपतिम् पाहि) यज्ञ के पालक स्वामी की रक्षा कर । (मां यज्ञन्धम्) यज्ञ के नेता प्रवर्तक मेरी रक्षा कर ॥ शत० १ । ३ । ७ । १४-१६ ॥

राजप्रकृति, अधिकारी-प्रकृति और प्रजाप्रकृति तीनों उचित आसनों पर विराजें और अपने १ अधिकारों का भोग करें ॥

अग्ने वाजजिद्राजन्त्वा सरिष्यन्तं वाजजित्थं सम्मार्जिम् ।
नमो देवेभ्यः स्वधा पितृभ्यः सुयमे मे भूयास्तम् ॥ ७ ॥

अग्निदेवता । भुरिक पंक्तिः । पंचमः ॥

७—अग्नेन देवः पितरौ स्तुचौ च देवताः । सर्वा० ॥

मं० ८]

द्वितीयोऽध्यायः

३६

भा०—हे (अग्ने) अग्रणी ! राजन् ! तू (वाजजित्) वाज अर्थात् संग्राम का विजय करने हारा है । (वाजम्) संग्राम के प्रति (सरिष्यन्तम्) गमन करने की इच्छा करते हुए (वाजजितम्) युद्ध के विजय करने हारे (त्वा) तुझको मैं (सम् माज्मि) सम्मार्जन करता हूँ, तुझे परिशुद्ध करता यां भली प्रकार अभिषिक्त करता हूँ । हे विद्वान् पुरुषो ! (देवेभ्यः) युद्ध क्रीड़ा करने वाले वीरों के लिये (नमः) अन्न हो । (पितृभ्यः स्वधा) पालक, राष्ट्र के अधिकारियों के लिये यह (स्वधा) उनके शरीर की रक्षाथं वेतन आदि सामग्री उपस्थित है । राजप्रकृति और शासक अधिकारी प्रकृति दोनों (मे) मुझ राष्ट्र पुरोहित के अधीन (सुयमे) उत्तमरूप से राष्ट्र को नियन्त्रण करने में समर्थ, एवं सुखपूर्वक मेरे अधीन, मेरे द्वारा भरण पोषण करने योग्य, एवं सुव्यवस्थित, सुसंयत (भूयास्तम्) रहें ॥ शत० १ : ४ । ६ । १५ ॥ तथा शत० १ । ५ । १ । १ ॥

अस्कन्नमद्य देवेभ्यऽआज्यथं संभ्रियासमङ्घ्रिणा विष्णो मा त्वावक्रमिषु वसुमतीमग्ने ते च्छायामुपस्थेबु विष्णो स्थानम सीतऽइन्द्रो वीर्यमकृणोदुध्वोऽध्वरऽआस्थात् ॥ ८ ॥

विष्णुदेवता । विराट् पंक्तिः । पंचमः ॥

भा०—(अद्य) आज मैं (देवेभ्यः) देव, विद्वान् पुरुषों और अपने प्राणों के लिए (अस्कन्नम्) विश्वोभरहित, वीर्यसम्पन्न (आज्यम्) धी आदि पुष्टिप्रद पदार्थों या तेज को (सम् भ्रियासम्) संग्रह करूँ । हे (विष्णो) विष्णो ! व्यापक परमेश्वर वा यज्ञ या राजन् ! (अङ्घ्रिणा) गमन करने के साधन वा चरण द्वारा (त्वा मा अवक्रमिषुम्) तेरा उल्लंघन न करूँ अर्थात् तेरी आज्ञा का उल्लंघन न करूँ । हे (अग्ने)

८—सुचौ विष्णुराग्निरिन्द्रश्च देवताः । सर्वा० । 'अस्कन्नमद्याज्यं देवेभ्यः सम्भ्रियासम्' इति काण्व० ॥

ज्ञानवान् ! तेजस्विन् (ते) तेरी (छायाम्) प्रदान की छाया या आश्रयरूप (वसुमतीम्) वसु, वास करने वाले जीवों से पूर्ण और ऐश्वर्य से पूर्ण पृथिवी को (उपस्थेपम्) प्राप्त होऊँ । हे यज्ञ ! राष्ट्र ! तू (विष्णोः स्थानम् असि) विष्णु व्यापक, पालक राजा का स्थान है । (इतः) इस यज्ञ के द्वारा ही (इन्द्रः) सूर्य, वायु और मेघ के समान प्रभु (वीर्यम्) बल का कार्य (अकृणोत्) करता है । वह (अध्वरः) हिंसारहित, अहिंसनीय, सबका पालक प्रभु (ऊर्ध्वः अस्थात्) सबके ऊपर विराजमान है ।

राजा के पक्ष में—(अद्य देवेभ्यः) आज देवों, शासक अधिकारियों, विद्वानों और युद्धवीरों के लिये (अस्कन्नम्) विश्वोभ रहित, वीर्यसम्पन्न (आज्यम्) आजि, संग्राम की हितकारी सामग्री को मैं राजा (संभ्रियासम्) धारण करूँ । हे (विष्णोः) राष्ट्र में शासन व्यवस्था द्वारा व्यापक राजन् ! मैं प्रजाजन (त्वा) तेरा (अंघ्रिणा) पैर से, गमन साधनों से (मा अवक्रमिपम्) कभी उल्लंघन न करूँ, तेरा अपमान न करूँ । हे (अग्ने) यज्ञ वेदि में अग्नि के समान पृथिवी में प्रदीप्त तेजस्विन् राजन् ! (ते वसुमतीम्) तेरे अधीन शासक होकर, वसु = विद्वानों, वसु = प्राणियों और वसु = ऐश्वर्यों से पूर्ण इस (छायाम्) आश्रयस्वरूप आच्छादकरूप पृथिवी या शरण को (उपस्थेपम्) प्राप्त करूँ । हे पृथिवी ! तू इस यज्ञवेदि के समान (विष्णोः स्थानम्) व्यापक राजा का आश्रय स्थान (असि) है । (इतः) इस राष्ट्रशासन रूप यज्ञ के द्वारा ही (इन्द्रः) ऐश्वर्यमान् राजा (वीर्यम्) वीरोचित कार्य को (अकृणोत्) करता है । वह राजा ही (ऊर्ध्वः) सबसे ऊपर विराजमान रहकर (अध्वरः) किसी से भी हिंसित न होकर एवं अपने बल पराक्रम से सब शत्रुओं को कम्पायमान करता हुआ (अमस्थात्) सब पर शासक रूप से विराजता है ॥ शत० १ । ५ । १ । २ । ३ ॥

अग्ने वेहोत्रं वेदुत्युमवतान्त्वान्धावापृथिवी ऽअब त्वं धावापृथिवी

मं० ६]

द्वितीयोऽध्यायः

४१

स्विष्टकृद्देवेभ्यः ऽइन्द्र ऽआज्येन हविषा भुत्स्वाहा सं ज्योतिषा
ज्योतिः ॥ ६ ॥

अग्निदेवता । जगती । निषादः ॥

भा०—हे (अग्ने) अग्नि के समान दूरगामी, प्रकाशक, सर्व पदार्थों को अपने भीतर लेने हारे व्यापक राजन् ! तू (होत्रम्) अग्नि जिस प्रकार यज्ञ का सम्पादन और रक्षण करता है उस प्रकार तू (होत्रम्) सबको अपने भीतर लेने व राष्ट्र की सुव्यवस्था करके, संग्रह करने के कर्म की और (दूत्यम्) दूत के सन्धिविग्रह आदि कर्म की (वेः वेः) रक्षा कर । (द्यावा पृथिवी) द्यौ और पृथिवी जिस प्रकार ब्रह्माण्ड के महान् यज्ञ की रक्षा करते हैं उसी प्रकार द्यौ और पृथिवी 'द्यौः' प्रकाशरूप, ज्ञानी न्याय विभाग और पृथिवी बड़ी राज्यसभा दोनों, अथवा स्त्री, पुरुष राजा प्रजायें दोनों (त्वाम्) तेरी (अवताम्) रक्षा करें । और (त्वम्) तू (द्यावा पृथिवी) पूर्व कहे द्यौ और पृथिवी दोनों की (अव) रक्षा कर । तू (देवेभ्यः) देव-विद्वानों के लिये (सु-इष्टकृत्) शोभन और उन के इच्छानुकूल उत्तम कार्य करने हारा हो । (आज्येन) जिस प्रकार 'आज्य' घृत आदि पुष्टिकारक तेजोमय पदार्थ (हविषा) अन्न आदि चरु से (इन्द्रः) वायु, अधिक गुणकारक (भूत्) हो जाता है उसी प्रकार (आज्येन हविषा) बलकारी, संग्रामोपयोगी (हविषा) अन्न और शस्त्रादि सामग्री से (इन्द्रः) ऐश्वर्यवान् राजा (भूत्) समर्थ होता है । (स्वाहा = सु आह) वेदवाणी इसका उपदेश करती है । (ज्योतिः) जितने ज्योतिर्मय, सुवर्ण आदि कान्तिमान् बल, पराक्रम के पदार्थ हों वे (ज्योतिषा) ज्योतिर्मय तेजस्वी राजा के साथ (सम्) संगत हों । रत्न आदि पदार्थ यशस्वी राजा को प्राप्त हों । अथवा (ज्योतिषा) तेजस्वी विद्वान्

६—इन्द्र आज्यं च देवते । सर्वा० । ० 'अवतां त्वा द्यावा०' इति काण्व० ।

लोक समूह के साथ (ज्योतिः) प्रकाशवान् राजा सदा (सम्) सगत रहे ॥ शत० १ । ५ । १ । ४-७ ॥

मयीदमिन्द्रं ऽइन्द्रियं दधात्वस्मान् रायौ मघवानः सचन्ताम् ।
अस्माकं सन्त्वाशिषः सत्या नः सन्त्वाशिष उपहृता पृथिवी
मातोप मां पृथिवी माता ह्यतामग्निराग्नीध्रात्स्वाहा ॥ १० ॥

इन्द्रो देवता । उपेत्यस्य पृथिवी । भुरिग् वाही पंक्तिः । पचमः ॥

भा०—(इन्द्रः) ऐश्वर्यवान् परमेश्वर (मयि) मुझ में (इदम्) शुद्ध, ज्ञानरूप, प्रत्यक्ष रूप से दृष्टिगोचर होने योग्य (इन्द्रियम्) तेज और इन्द्र व आत्मा के सामर्थ्य, आत्मबल को (दधातु) धारण करावे । (अस्मान्) हमें (मघवानः) अति अधिक सुवर्ण, विद्या और बल आदि धनों से पूर्ण (रायः) अनेक ऐश्वर्य (सचन्ताम्) प्राप्त हों । (अस्माकम्) हमारी (आशिषः) सब कामनाएं और इच्छायें (सत्याः सन्तु) सत्य, सफल और धर्मयुक्त (सन्तु) हों । (पृथिवी माता) पृथिवी के समान विशाल अन्नदात्री, (माता) ज्ञानदात्री, पालन करने वाली माता (उपहृता) स्वयं आदर से युक्त हो । और (पृथिवी माता) यह विशाल सुखदात्री माता (माम्) मुझ को (उप ह्यताम्) उपदेश करे और उसके पश्चात् (आग्नीध्रात्) अग्नि ज्ञानोपदेशक आचार्य के स्थान या पद से (अग्निः) ज्ञानी, उपदेष्टा मुझे (स्वाहा) उत्तम उपदेश करे ।

आचार्यो ब्रह्मणो मूर्तिः पिता मूर्तिः प्रजापतेः ।

माता मूर्तिः पृथिव्यास्तु भ्राता स्वो भ्रातरात्मनः ॥ मनु० ॥

शत० १ । ८ । १ । ४०-४२ ॥

१०—एषा वा आशीः जीवेयं, प्रजा मे स्यात्, श्रियं गच्छेयम् । शत० १ । ८ । १ । ३६ ॥ मयीदमाशीः प्रतिग्रहणम् उपहृता यावापृथिव्यम् । इति सर्वा० । मयीदं नः सन्त्वाशिषः इति काण्व० । श्रूयतः परं ३१ तमो मन्त्रः पठ्यते । का० ॥

मं० ११]

द्वितीयोऽध्यायः

४३

उपहृतो द्यौष्पितोऽप मां द्यौष्पिता ह्वयतामग्निराग्नीध्रात्स्वाहा ।
 देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्याम् ।
 प्रतिगृह्णाम्यग्नेष्ट्वास्येन प्राश्नामि ॥ ११ ॥

द्यावापृथिव्यौ, देवस्येत्यस्य सविता, प्राशिन्नं च देवताः । ब्रह्मती । मध्यमः ॥

भा०—(द्यौः पिता) अब जिस प्रकार आकाश वृष्टि या सूर्य आदि वर्षा करके समस्त प्राणि संसार का पालन करता है उसी प्रकार बालकों को सब प्रकार के सुख देने वाला पिता भी (उपहृतः) शिक्षित हो और मान और आदर का पात्र हो । (माम्) मुझ को (द्यौःपिता) वह सब सुखवर्णक पिता भी (उपह्वयताम्) शिक्षा प्रदान करे और उसके पश्चात् (आग्नीध्रात् अग्निः) आचार्य पद से आचार्य (सु-आहा) उत्तम ज्ञानोपदेश करे । अथवा (आग्नीध्रात् अग्निः सु-आहा) जिस प्रकार आग्नीध्र = जाठर अग्नि के स्थान से अग्नि अर्थात् जाठर अग्नि अन्न को उगम रीति से ग्रहण करता और उत्तम रस प्रदान करता है । उसी प्रकार आचार्य हमें उत्तम ज्ञानरस प्रदान करे । हे अग्ने ! (देवस्य सवितुः) सर्वोत्पादक, देव परमेश्वर के (प्रसवे) उत्पादित इस जगत् में मैं (अश्विनोः) अग्नी, प्राण और अपान के (बाहुभ्याम्) बाहुओं से और (पूष्णः) पूषा, पोषक समान वायु के (हस्ताभ्याम्) शोधन करनेवाले, और सब अंगों में रस पहुंचा देने वाले के दोनों बलों से (त्वा) तुझ अन्न को (प्रति गृह्णामि) ग्रहण करूँ । और (त्वा) तुझ (अग्नेः) कभी मन्द न होने वाले जाठर-अग्नि के (आस्येन) मुख से (प्राश्नामि) अच्छी प्रकार भोजन करूँ ॥ शत० १ । ७ ४ । १३-१५ ॥

११—अग्नेष्ट्वात्यस्य प्राशिन्नं । सर्वा० । ब्रह्मत्वं प्रतिष्ठान्तं बृहस्पतिराग्नि-
 रसोऽपश्यत् । अतः परमष्टौ मन्त्राः या अप्सु इत्यादयः काण्वशाखायामधिकाः
 पठ्यन्ते ॥

एतन्ते देव सवितर्यज्ञं प्राहुर्बृहस्पतये ब्रह्मणे । तेन यज्ञमव तेन
यज्ञपतिन्तेन मामव ॥ १२ ॥

• बृहस्पतिरांगिरस ऋषिः । सविता । भुरिग् बृहती । मध्यमः ॥

भा०—हे (देव सवितः) सर्वोत्पादक, सर्वप्रेरक (देव) प्रकाशक, सर्वप्रद, परमेश्वर ! (ते) तेरे उपरोक्त (यज्ञम्) यज्ञ का (प्राहु) विद्वान् लोग नाना प्रकार से वर्णन करते हैं । यह यज्ञ (बृहस्पतये) बृहती वेदवाणी के पालक (ब्रह्मणे) ब्रह्म अर्थात् वेदज्ञान के ज्ञाता विद्वान् के लिये है । (तेन) उस ही महान् यज्ञ के द्वारा (यज्ञम्) मेरे इस यज्ञ की (अव) रक्षा कर । (तेन) उस महान् यज्ञ द्वारा (यज्ञपतिम् अव) यज्ञ के परिपालक स्वामी की भी रक्षा कर । (तेन माम् अव) और उससे मेरी भी रक्षा कर । शत० १ । ७ । ४ । २१ ॥

एते वै यज्ञमवन्ति ये ब्राह्मणाः शुश्रुवांसोऽनूचानाः एते ह्येनं तन्वते, एनं जनयन्ति ॥ शत० १ । ८ । १ । २८ ॥ विद्वान् ब्राह्मण इस यज्ञ का सम्पादन करते हैं ।

मनो जुतिर्जुषतामाज्यस्य बृहस्पतिर्यज्ञमिमन्तनोत्वरिष्टं यज्ञं
समिमन्धातु । विश्वे देवास इह मादयन्तामोऽम्प्रतिष्ठ ॥ १३ ॥

बृहस्पतिरांगिरस ऋषिः । बृहस्पतिर्विश्वदेवाश्च देवताः ॥

भा०—(जुतिः) अति वेगवान्, वेग से समस्त कार्यों में लगने वाला अथवा उत्तम ज्ञानयुक्त, सावधान (मनः) मन, ज्ञानसाधन, अन्तःकरण (आज्यस्य) आज्य, ज्ञान-यज्ञ के योग्य समस्त साधनों को (जुषताम्) सेवन करे, अभ्यास करे । (बृहस्पतिः) वेदवाणी का परिपालक या बृहत् महान् राष्ट्र का पालक विद्वान् (इमम् यज्ञम्) इस यज्ञ

१२—एतं ते वैश्वदेवम् । सर्वा० ।

१३—एतं ते वैश्वदेवं । सर्वा० । 'मनोज्योतिः' इति काण्व० ।

को (तनोतु) सम्पादन करे । वही विद्वान् ब्रह्मवित् (इमम्) इस (अरिष्टम्) अहिंसित, हिंसारहित, एवं विघ्नरहित (यज्ञम्) यज्ञ को (सम् दधातु) उत्तम रीति से धारण करे, उसमें विघ्न और विच्छेद होने पर भी उसको भली प्रकार जोड़ दे । (इह) इस लोक में, राज्य में और यज्ञ में (विश्वे) समस्त (देवासः) देवगण, विद्वान् पुरुष (माद-यन्ताम्) हर्षित हों, प्रसन्न रहें, आनन्द लाभ करें । (ओ३म्) हे ब्रह्मन्, विद्वन् ! (प्रतिष्ठ) तू प्रतिष्ठा को प्राप्त कर, उच्च, मान्य पद पर विराज अथवा (प्रति-स्थ) तू प्रस्थान कर, प्रयाण कर, विजय लाभ कर ॥ शत० १ । ७ । ४ । २२ ॥

^१एषा तेऽग्ने समित्तया वर्धस्व चा च प्यायस्व । वर्धिषीमहिः च वयमा च प्यासिषीमहि । ^२अग्ने वाजजिद्वाजं त्वा ससृवाथः सं वाजजित्थं संमार्ज्मि ॥ १४ ॥

अग्निर्देवता । (१) अतुष्टुप् । गान्धारः । (२) निचृद् गायत्री । षड्जः ।

भा०—हे (अग्ने) अग्ने ! अग्नि के समान प्रकाशक, शत्रुसंतापक, एवं अग्रणी ! जिस प्रकार आग को लकड़ी बहुत अधिक प्रकाशित करती है । (एषा) यह (ते) तेरे लिये (समित्) अच्छी प्रकार प्रदीप्त होने की विद्या या कला है (तया) उससे, अथवा (एषा) यह पृथिवी और प्रजा ही (ते समित्) तेरे प्रदीप्त और तेजस्वी होने का साधन है । (तया वर्धस्व) उससे तू बढ़ । (आप्यायस्व च) और खूब पुष्ट हो । (वयम्) हम प्रजाजन भी तुझ से (वर्धिषीमहि) बढ़ें और (आप्या-सिषीमहि च) सब प्रकार से वृद्धिशील, हृष्ट पुष्ट, समृद्ध हों । हे (अग्ने) अग्ने ! राजन् ! सेनापते ! तू (वाजजित्) वाज अर्थात् ऐश्वर्य एवं संग्राम को जीतने हारा है । (वाजं ससृवांसम्) युद्ध में प्रयाण करने वाले और (वाजजितम्) युद्ध के विजयी तुझ को (सं मार्ज्मि) भली प्रकार अभिषिक्त करता हूँ । शत० १ । ८ । २ । ४-६ ॥

१ अग्नीषोमयोरुज्जितिमनूज्जेषं वाजस्य मा प्रसवेन प्रोहामि ।
 अग्नीषोमौ तमपनुदतां योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मो वाज-
 स्यैनं प्रसवेनापोहामि । इन्द्राग्न्योरुज्जितिमनूज्जेषं वाजस्य मा
 प्रसवेन प्रोहामि । २ इन्द्राग्नी तमपनुदतां योऽस्मान् द्वेष्टि यं च
 वयं द्विष्मो वाजस्यैनं प्रसवेनापोहामि ॥ १५ ॥

अग्नीषोमा च देवतः । (१) ब्राह्मा बृहती । मध्यमः । (२) इन्द्राग्नी देवते
 अतिजगती । निषादः ॥

भा०—(अग्निषोमयोः) अग्नि, शत्रुसंतापक, अग्रणी, सेनापति और
 सोम और चन्द्र के समान शान्तियुक्त, आह्लादकारी या सर्वप्रेरक आज्ञापक
 राजा दोनों के (उत्-जितिम्) उत्तम विजय के (अनु) साथ मैं भी
 (उत् जेषम्) उत्तम विजय लाभ करूं । मैं (माम्) अपने को (वाजस्य)
 युद्धोपयोगी (प्रसवेन) उत्कृष्ट सामग्रीयुक्त ऐश्वर्य से (प्र ऊहामि) और
 आगे बढ़ाऊं । (अग्नीषोमौ) पूर्वोक्त अग्नि और सोम (तम् अपनुदताम्)
 उसको दूर मार भगावें (यः अस्मान्) जो हम से (द्वेष्टि) द्वेष करता
 है और हम से प्रेम का व्यवहार नहीं करता । और (यं च) जिसको
 (वयम्) हम (द्विष्मः) द्वेष करते हैं । (वाजस्य प्रसवेन) युद्ध के
 सेना बल के उपयोग ऐश्वर्य से ही मैं उस शत्रु को (अप ऊहामि) दूर
 फेंक दूं, उखाड़ दूं । इसी प्रकार (इन्द्राग्न्योः) इन्द्र और अग्नि, वायु
 और विद्युत् के समान कंपा देने और जड़मूल से पर्वतों को उखाड़ देने
 वाले, बलवान् अस्त्रों और अस्त्रज्ञों के (उज्जितिम् अनु) उत्कर्षलाभ के साथ
 साथ मैं राजा (उत् जेषम्) उत्कृष्ट विजय लाभ करूं । (वाजस्य प्रस-
 वेन मा प्रोहामि) युद्ध के उपयोगी सेनाबल के ऐश्वर्य से मैं अपने को
 आगे बढ़ाऊं । (इन्द्राग्नी तम् अप नुदताम्) पूर्वोक्त इन्द्र और अग्नि
 उसको दूर मार भगावें (यः अस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मः) जो हम
 से द्वेष करे और जिससे हम द्वेष करें । (एनम्) उस दुष्ट शत्रु को युद्ध

मं० १६]

द्वितीयोऽध्यायः

के योग्य (वाजस्य प्रसवेन) बल, वीर्य, उत्तम १ अस्त्र साधन से (अप
ऊहामि) मैं दूर भगा दूँ ।

१ वसुभ्यस्त्वा रुद्रेभ्यस्त्वादित्येभ्यस्त्वा सजानाथां द्यावापृथिवी
मित्रावरुणौ त्वा वृष्ट्यावताम् । २ व्यन्तु वयोक्लृथं रिहाणा
मरुतां पृषतीर्गच्छ वशा पृश्निभूत्वा दिवं गच्छ ततो नो वृष्टि-
मावह । चक्षुष्पा अग्नेऽसि चक्षुर्मे पाहि ॥ १६ ॥

(१) द्यावापृथिवी मित्रावरुणौ च देवताः । निचृदाचीं पंक्तिः पंचमः । (२)
विराट् त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—हे राजन् ! (त्वा) तुझको (वसुभ्यः) वसु नामक राष्ट्र
में बसने वाले वसुओं, प्रजाजनों, ब्राह्मणों (रुद्रेभ्योः) शत्रुओं को रूढ़ाने
वाले, बलवान्, शस्त्रास्त्र कुशल क्षत्रिय वीरों और (आदित्येभ्यः) आदान
प्रतिदान करने वाले वैद्यों के लिये अथवा वसु, रुद्र, आदित्य, इन तीन
प्रकार के ब्रह्मनिष्ठों के हित के लिये प्रजापति रूप से अभिषिक्त करता हूँ ।
(द्यावापृथिवी) द्यौ और पृथिवी दोनों की प्रजायें (त्वा संजानाथाम्)
तुझे अपनावें (मित्रावरुणौ) मित्र और वरुण, सूर्य और मेघ (त्वा)
तुझे और तेरे राष्ट्र की (वृष्ट्या अवताम्) वृष्टि द्वारा रक्षा करें ।
(रिहाणाः) नाना प्रकार की स्तुति करने हारे विद्वान् जन (वयः) गान
करने वाले पक्षियों के समान (अक्तम्) प्रकाशमान, प्रतापी, बलशाली
तेरे पास, तेरी शरण में (व्यन्तु) आवें, तुझे प्राप्त हों । (मरुताम्)
मरुत्, वायुओं के वेग से चलने वाले (पृषतीः) मेघ मालों के समान
सेनाओं को तू प्राप्त हो । और हे राजन् ! क्षत्रिय (वशा) अपने
वशीभूत (पृश्निः) रसों का ग्रहण करने वाली भूमि के समान होकर
तू (दिवं गच्छ) द्यौलोक को, उत्तम राज्य को प्राप्त हो । (ततः नः)

‘मरुतां० आवह’ इत्यस्यकापिर्हृषिः । प्रस्तरो देवता । मरुतां कपिर्बृहतोप्रास्तरीम् सर्वा०
“व्यन्तु वयो रिहो रिहाणा मरुतां पृषतीर्गच्छ०” । चक्षुष्पा असि० इति काण्व ।

वहाँ से हमें (वृष्टिम्) ऐश्वर्य सुखों की वर्षा को (आवह) प्राप्त करा ।
हे (अग्ने) अग्ने ! तू (चक्षुःपाः असि) हमारी दर्शनशक्ति की रक्षा
करने हारा है । (मे चक्षुः पाहि) मेरे देखने के साधन चक्षु और
विद्वानों की रक्षा कर ॥ शत० १ । ८ । ३ । १२ १९ ॥

यज्ञपक्ष में—८ वसुओं, ११ रुद्रों और १२ आदित्य, १२ मासों के
लिये मैं यज्ञ करता हूँ । सूर्य का प्रकाश और भूमियों दोनों उत्तम रीति
से जानें । मित्र और वरुण, सर्वप्राण, बाह्य वायु और अन्तस्थ उदान वायु
दोनों (वृष्ट्या) शुद्ध जल वर्णण द्वारा संसार की रक्षा करते हैं । जिस
प्रकार पक्षी अपने स्थान को जाते हैं उसी प्रकार अर्चना करते हुए हम
यज्ञ में आवें । (वशा पृश्निः) कामित आहुति अन्तरिक्ष में जाकर
(मरुतां दिवं गच्छ) वायुओं के संग्रह से द्यौलोक में सूर्य के तेज से मिले ।
तब वह (वृष्टिम् आवह पृषतीः) वर्षा लावे, वह नदियों, नाडियों में
बहे । (अग्निः) भौतिक अग्नि, दीपक जिस प्रकार आँख को अन्धकार से
बचाता है उसी प्रकार सूर्य भी आँखों का रक्षक है, वह हमारी चक्षुओं
की रक्षा करे ॥ शत० १ । २ । ३ । १२-१९ ॥

यं परिधिं पुर्यधत्था ऽअग्ने देवपणिभिर्गुह्यमानः । तन्त ऽएतमनुजोषं
भराम्येष मेत्त्वदपचेतयाता ऽअग्नेः प्रियं पाथो ऽपीतम् ॥ १७ ॥

देवत ऋषिः । अग्निदेवता । जगती । निषादः ॥

भा०—हे (अग्ने) अग्रणी राजन् ! स्वयं (देवपणिभिः) विद्वानों
और व्यवहार-कुशल व्यापारियों द्वारा (गुह्यमानः) सुरक्षित रहते हुए
(यम्) जिस (परिधिभिः) राष्ट्र को चारों ओर के आक्रमण से बचानेवाले
सेनानायक आदि शासक को (परि अधत्थाः) राष्ट्र की सीमाओं पर

१७—संबदस्व । श्रावय । श्रौषट् । स्वगादैव्या होतृभ्यः । स्वस्तिर्मानुषेभ्यः ।
इत्याधिकानि यजूंष इतः पूर्वं पठ्यन्ते । शत० (च०) 'नेत्वदप' इति पाठभेदः ।

नियुक्त करते हो (ते) तेरे द्वारा नियुक्त (तम्) उस (एतम्) इस 'परिधि' नामक सीमापाल को (जोषम्) प्रेमपूर्वक (अनु भरासि) तेरे अनुकूल बनाता हूँ । जिससे (एवं) वह (त्वत्) तुझसे (मा इत्) कभी भी न (अप चेतयातै) बिगाड़े । तेरे विपरीत न हो । हे परिधि-नायको ! हे दो सीमापालो ! तुम दोनों भी (अग्नेः प्रियं पाथः) अग्नि, राजा के प्रिय, पान या पालन करने योग्य अन्न आदि, भोग्य पदार्थ या राष्ट्र को (अपि इतम्) प्राप्त करो । शत० १ । ८ । ३ । २२ ८

संस्तवभागा स्थेषा बृहन्तः प्रस्तरेष्ठाः परिधेयाश्च देवाः ।
इमां वाचमभि विश्वे गृणन्त आसद्यास्मिन्वर्हिषि मादयध्वं
स्वाहा वाट् ॥ १८ ॥

संस्तवभागाः सोमशुश्रुषो वा ऋषिः । विश्वेदेवाः देवताः । स्वराट् त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—हे विद्वानो ! बलशाली राजा के नियुक्त अधिकारी पुरुषो ! आप लोग (इषा) ज्ञान, प्रेरक आज्ञा और शासन से (बृहन्तः) बड़े शक्ति शाली और (प्रस्तरेष्ठाः) उत्तम आसन और आस्तरणों या पदों पर अधिष्ठित होने वाले, (देवाः) युद्ध में चतुर, व्यवहारज्ञ, विद्वान्, तेजस्वी और (परिधेयाः च) रक्षा करने के लिये चारों ओर रखने योग्य हो । आप लोग (संस्तव-भागाः स्थ) उत्तम ऐश्वर्य के भागी बनो । आप (विश्वे) सब लोग (इमाम्) इस प्रत्यक्ष (वाचम्) वेदमय न्यायवाणी को (अस्मिन् वर्हिषि) इस न्यायासन या ज्ञानयज्ञ में (आसद्य) बैठकर (मादयध्वम्) हम सबको प्रसन्न करो और (वाट्) समस्त सुखों को प्राप्त करने वाली वाणी और क्रिया से (सु-आहा) उत्तम उपदेश करो और यश प्राप्त करो शत० १ । २ । २५ ॥

घृताची स्थो धुर्यौ पातथं सुम्ने स्थः सुम्ने मां धत्तम् ।

१८—परमेष्ठा प्रजापतिश्चापिः । ८० । '०परिधयश्च देवाः' इति काण्व० ।

यज्ञं नमश्च तऽउप च यज्ञस्य शिवे सन्तिष्ठस्व स्विष्टे मे
सन्तिष्ठस्व ॥ १६ ॥

शुभं, यवमान्, ऋषिः, उद्बालवान्, धानान्तर्वान्, एते पञ्च ऋषयः ।

अग्निवायू देवते । भुरिक् पंक्तिः । पंचमः ॥

भा०—हे अग्नि और वायु ! अग्नि के समान शत्रुसंतापक और वायु के समान वेगवान्, एवं राष्ट्र के प्राणभूत राजपुरुषो ! आप दोनों (घृता-
ची स्थः) घृत, तेज को धारण करने वाले हो । आप राष्ट्रशासन रूप यज्ञ में (धुर्यौ) अग्नि वायु के समान ही समस्त शासन भार के धुरा को उठाने में समर्थ हो । आप दोनों (पातम्) राष्ट्र का पालन करो । आप दोनों अग्नि और वायु के समान ही (सुम्ने=सुमने) उत्तम ज्ञानपूर्ण एवं सुखप्रद हो । (मा) मुझको (सुम्ने) सुख में या शुभ मति में (धत्ताम्) धारण करो, रखो । हे (यज्ञ) पूजनीय प्रभो ! (ते च नमः) तुझे हम नमस्कार करते हैं । और तू (उप च तिष्ठस्व) हमें प्राप्त हो । हे राजन् ! प्रभो ! आप (यज्ञस्य) यज्ञ के (शिवे) कल्याणकारी स्वरूप में (सं तिष्ठस्व) उत्तम रीति से स्थित हो । (मे) मेरे (सु-इष्टे) उत्तम इष्ट कार्य में (सं तिष्ठस्व) लगा रह ॥ शत० १।८।३।२५ ॥

अग्नेऽदन्धायोऽशीतम पाहि माद्विद्योः पाहि प्रसित्यै पाहि दुरिष्ट्यै
पाहि दुरद्वान्याऽअविषन्नः पितुं कुरु । सुषदा योनौ स्वाहा वाङ्मये
सर्वेशपतये स्वाहा सरस्वत्यै यशोभगिन्यै स्वाहा ॥ २० ॥

अग्निसरस्वत्यौ च देवते । भुरिग् ब्रह्मी त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

१६—उत्तरार्धस्य सूर्य पवमानः, ऋषिरुद्बालवान्, धनान्नवान् इत्येते ऋषय इत्युक्त्वटः । अस्य मन्त्रस्य शपयवान्, कृषिरुद्बालवान् धानान्तर्वान् इति पंच ऋषयः । यज्ञो देवता इति महीधरः ॥ प्रजापतिः परमेष्ठी ऋषिः । ६० । घृताची सुत्रो यज्ञश्च देवता । सर्वा० ॥

२०—गार्हपत्योऽग्निः दक्षिणाग्निः सरस्वती च दे० । सर्वा० । अतः

भा०—हे (अग्ने) ज्ञानवान् ! हे (अद्वितीयो) अनष्टजीवन !
 अमृत ! प्रभो ! सुरक्षित जीवन वाले, या जीवनों की रक्षा करने हारे
 स्वामिन् ! हे (अशीतम) सर्वव्यापक ! सर्वत्र विद्यमान ! आप (मा)
 मुझको (दिद्योः) अति प्रदीप्त वज्र या कठोर दारुण दण्ड-रूप दुःख से
 (पाहि) रक्षा करो । (प्रसित्यै पाहि) भारी बन्धनकारिणी अविद्या या
 पाप-प्रवृत्ति से मेरी रक्षा करो । (दुरिष्ट्यै पाहि) दुष्ट जनों की संगति
 से बचाओ । (दुरघ्न्यै पाहि) दुष्ट अन्न के भोजन से रक्षा करो ।
 (नः) हमारे (पितुम्) अन्न को (अविषम् कृणु) विष रहित करो ।
 (योनौ) घर में (सुपदा) उत्तम रूप से विराजने योग्य भूमि हो ।
 (अग्नये स्वाहा वाट्) उस ज्ञानवान्, अग्नि के समान प्रतापी स्वामी से
 यह उत्तम प्रार्थना है । वह हमें उत्तम फल प्राप्त करावे । (संवेषपतये
 स्वाहा) उत्तम रीति से बसने वाले पृथिवी आदि लोकों के पालक
 से यह उत्तम प्रार्थना है । (यशःभगिन्यै) यश, ऐश्वर्य को प्राप्त कराने
 वाली (सरस्वत्यै) वेदवाणी से (स्वाहा) हम उत्तम ज्ञान प्राप्त
 करें ॥ शत० १।७।१।२० ॥

वेदोऽसि येन त्वं देव वेद देवेभ्यो वेदोऽभवस्तेन मह्यं वेदो भूयाः ।
 देवा गातुर्विदो गातुं वित्त्वा गातुर्मित मनसस्पतऽहमं देव
 यज्ञं स्वाहा वाते धाः ॥ २१ ॥

मनसस्पतिर्ऋषिः । प्रजापतिर्देवता । भुरिग् ब्राह्मी बृहती छन्दः । मध्यमः ।

भा०—हे (देव) सब शुभ पदार्थों वा गुणों के देने और उनका प्रकाशन
 करने हारे परमेश्वर ! (येन) जिस ज्ञान से (त्वं) तू (वेद) समस्त संसार
 परं द्वौ मन्त्रावधिकौ कायवशाखागतौ 'उलूखले'० इत्यादि ॥

२१—वेदो दे० । उत्तरार्धस्य मनसस्पतिर्ऋषिः । वातो देवता । सर्वा० ।
 वामदेव ऋषिः । प्रजापतिर्देवता । इति द० ।

के पदार्थों और विज्ञानों को स्वयं जानता और सब को जनाता है, इसी से तू (वेदः असि) स्वयं भी 'वेद' स्वरूप है। उसी कारण, उसी वेदमय ज्ञान रूप से तू (देवेभ्यः) ज्ञान प्रकाशक विद्वानों के लिये भी स्वयं (वेदः) वेद या ज्ञान प्रकाशक रूप से (अभवः) प्रकट होता है। (तेन) उसी ज्ञानमय रूप में हे परमेश्वर ! आप (मह्यम्) मेरे लिये (वेदः) 'वेदमय' ज्ञान-प्रद रूप से (भूयाः) प्रकट हों। (देवाः) देव, ज्ञान के प्रकाश करने हारे पुरुष (गातुविदः) पदार्थों के यथार्थ गुणों को जानने वाले, एवं गातु अर्थात् गमन करने योग्य मार्ग को जानने वाले होते हैं। हे विद्वान् पुरुषो ! आप लोग (गातुम्) गातु, सब पदार्थों के यथार्थ स्वरूप या उत्तम भाग का ज्ञान करने वाले, मार्गोपदेशक वेद का (चित्त्वा) ज्ञान करके (गातुम्) उपदेश करने योग्य यज्ञ या संसार की सत् व्यवस्थाओं को (इत) प्राप्त होवो, उसको अपने वश करो। हे (मनसः पते) समस्त संकल्प विकल्प करने वाले समष्टि रूप मन के परिपालक प्रभो ! हे (देव) प्रकाशक ! (इमम्) इस संसार रूप यज्ञ को (वाते) वायु रूप महान् प्राण के आधार पर आप (धाः) धारण कर रहे हो। (सु-आहा) यही समस्त संसार का वायु रूप सूत्रात्मा तुझ में उत्तम आहुति अर्थात् कारण रूप से व्यवस्थित है ॥

अध्यात्म में—ज्ञानकर्ता, सब विषयों के ज्ञान का उपलब्धिकर्ता आत्मा 'वेद' है। देव इन्द्रियों को भी वही ज्ञान कराता है। गातु अर्थात् = ज्ञान या शरीर = मानसस्पति, आत्मा। बात = प्राण ! यज्ञ = मानस यज्ञ या शरीर। योजना स्पष्ट है ॥ शत० १।९।२।२३-२८ ॥
 सं ब्रह्मिर्इत्ता ५ हविषा घृतेन समादित्यैर्वसुभिः सम्मरुद्भिः ।
 समिन्द्रो विश्वदेवोभिरङ्गानां दिव्यं नभो गच्छतु यत् स्वाहा ॥ १२ ॥
 लिंगोक्ता इन्द्रो वा देवता। विराट् त्रिष्टुप्। धैवतः ॥

२२—नामदेव ऋषिः। द०। लिंगोक्ताः सर्वा०।

भा०—(बर्हिः) यह महान् अन्तरिक्ष (धृतेन) धृत के साथ और (हविषा) हवि, होम करने योग्य चरु के साथ (सम् अंताम्) संयोग करें । (आदित्यैः) आदित्य सूर्य की किरणों से (वसुभिः) अग्नि, वायु आदि आठ जीवन संचारक तत्वों से और (मरुद्भिः) वयुओं, प्राणों से भी (सम् अंताम्) भली प्रकार युक्त हो । (इन्द्रः) ऐश्वर्यवान् आत्मा और परमेश्वर (विश्वदेवेभिः) समस्त इन्द्रियों और समस्त दिव्य पदार्थों से (सम् अंताम्) संयुक्त हो । (यत्) जब २ (स्वाहा) उत्तम आहुति हो तब २ (दिव्यं नमः) दिव्य जल (गच्छतु) बहे ॥

राष्ट्र पक्ष में—(इन्द्रः) ऐश्वर्यवान् राजा (बर्हिः) बढ़नेवाले राष्ट्र को (धृतेन) तेजोमय, प्रदीप्त, दोषरहित अन्न से संयुक्त करे । उस को आदित्य, वसु, मरुत् अर्थात् वैश्यों, वसु = बसने वाले जीवों और मारणकर्मा, तीव्र योद्धाओं से सुसज्जित करे । इस राष्ट्र को (यत्) जब (विश्वदेवेभिः) सब विद्वान् अधिकारियों से युक्त करे तब (दिव्यं नमः गच्छतु) दिव्य परस्पर संगठन, संयमन या व्यवस्था को राष्ट्र प्राप्त हो । (सु-आहा) वह राष्ट्र उत्तम कहे जाने योग्य है ॥ शत० १।९।२।२३ ॥

कस्त्वा विमुञ्चति स त्वा विमुञ्चति कस्मै त्वा विमुञ्चति तस्मै त्वा विमुञ्चति । पोषाय रक्षसां भागोऽसि ॥ २३ ॥

प्रजापति देवता । निचृद् बृहती । मध्यमः ॥

भा०—हे यज्ञ ! यज्ञमय कर्मबन्धन ! (त्वा) तुझको (कः विमुञ्चति) कौन मुक्त करता है ? (त्वा सः विमुञ्चति) तुझको वह जिसने यज्ञ समाप्त कर लिया है, मुक्त करता है ? (कस्मै त्वा विमुञ्चति) तुझको वह किस प्रयोजन से मुक्त करता है (त्वा) तुझको वह (तस्मै)

२३—रक्षसां रक्षसम् । सर्वा० ।

उस लोकोत्तर ब्रह्मानन्द को प्राप्त करने के लिये मुक्त करता है । हे यज्ञ से प्राप्त सत् अन्न ! तू (पोषाय) आत्मा, शरीर को पुष्ट करने हारा है, और हे दुष्ट पापमय अन्न ! तू (रक्षसां भागः असि) दुष्ट पुरुषों के सेवन करने योग्य है ।

अथवा—[प्रश्न] हे पुरुष ! (त्वा) तुझको कर्मबन्धन के दुःख से (कः) कौन (विमुञ्चति) विशेष रूप से मुक्त करता है ? (उत्तर) (सः) वह सर्वोत्तम परमेश्वर ही (त्वा) तुझको कर्मबन्धन से मुक्त करता है । [प्र०] (त्वा कस्मै विमुञ्चति) यह परमेश्वर तुझे किस कार्य के लिये या किस हेतु से मुक्त करता है । [उ०] (तस्मै त्वा विमुञ्चति) तुझे उस महान् मोक्ष प्राप्ति के लिये मुक्त करता है । [प्र०] ये सब संसार के उत्तम पदार्थ और कर्मसाधनाएं किसके लिये हैं ? [उ०] ये समस्त कर्मसाधनाएं (पोषाय) आत्मा को पुष्ट करने के लिये हैं । [प्र०] तब ये कर्म फल, भोग-विलास आदि किसके लिये हैं ? [उ०] हे विलासमय तुच्छ भोग ! तू (रक्षसाम्) विघ्नकारी, मुक्तिमार्ग के बाधक लोगों के (भागः) सेवन करने योग्य अंश (असि) है ॥ शत० १ । ७ । २ । ३३ ॥

सं वर्चसा पयसा सं तनूभिरगन्महि मनसा सत्त्वं शिवेन ।
त्वष्टा सुदत्रो विदधातु रायोऽनुमार्ष्टु तन्वो यद्विलिष्टम् ॥२४॥

त्वष्टा देवता । विराट् त्रिष्टुप् । धेवतः ।

भा०—हम लोग (वर्चसा) तेज, (पयसा) पुष्टि, (तनूभिः) दृढ़ शरीरों और (शिवेन मनसा) कल्याणकारी शुद्ध चित्त या मनन शक्ति से (सम् ३ अगन्महि) भली प्रकार संयुक्त रहें । (सु-दत्रः) उत्तम २ पदार्थों का दाता (त्वष्टा) सर्वोपादक परमेश्वर हमें (रायः)

२४—‘विलिष्टम्’ इति शत० ।

समस्त ऐश्वर्यं (विदधातु) प्रदान करे और (तन्वः) हमारे शरीर में (यत्) जो कुछ (विलिष्टम्) विपरीत, अनिष्टजनक, प्राणोपघातक पदार्थ हों उसको (अनुमार्ष्टुं) शुद्ध करे, दूर करे ॥ शत० १।९।३। ६ ॥

१दिवि विष्णुर्व्यक्रथंस्तु जागतेन छन्दसा ततो निर्भक्तो
 योऽस्मान्द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मो २ऽन्तरिक्षे विष्णुर्व्यक्रथंस्तु त्रैष्टु-
 भेन छन्दसा ततो निर्भक्तो योऽस्मान्द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मः ।
 ३पृथिव्यां विष्णुर्व्यक्रथंस्तु गायत्रेण छन्दसा ततो निर्भक्तो
 योऽस्मान्द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मोऽस्मादन्नदस्यै प्रतिष्ठायाऽऽग्रगन्तु
 स्वः सं ज्योतिषाभूम ॥ २५ ॥

विष्णुदेवता । (१) निचृदाचीं पंक्तिः । (२) आचीं पंक्तिः । पंचमः ।

(३) जगती । निपादः ॥

भा०—(दिवि) द्यौ, महान् आकाश में (विष्णुः) विष्णु, व्यापक परमेश्वर (जागतेन छन्दसा) जागत छन्द से, जगतों की रचना करने वाले बल से (वि अक्रंस्त) नाना प्रकार से व्यापक है और (अन्तरिक्षे) अन्तरिक्ष में (विष्णु) व्यापक परमेश्वर (त्रैष्टुभेन छन्दसा) त्रिष्टुप छन्द अर्थात् तीनों लोकों के पालक व्यापार से (वि अक्रंस्त) व्यापक है । वहां वायु, मेघ, विद्युत् रूप से प्रकट है और (पृथिव्याम्) पृथिवी में विष्णु (गायत्रेण छन्दसा) गायत्र छन्द अर्थात् प्राणों की रक्षा करने वाले बल, अन्न आदि रूप से (व्यक्रंस्त) व्यापक है । इसी प्रकार उसी विष्णु, व्यापक, सर्व शक्तिमान् परमात्मा के अनुकरण में राजा, प्रजापति एवं समस्त यज्ञ भी द्योलोक में जागत छन्द से अर्थात् स्वर्ण रत्नादि ऐश्वर्य में वैश्यों के बल से और अन्तरिक्ष में त्रैष्टुभ छन्द से अर्थात् तीनों

२५—अस्माद्० भागः । अस्यै भूमिः । अग्रगन्तु दैवम् । सं ज्योतिषां
 ऽऽहवनीयः । सर्वा० ।

वर्णों की रक्षारूप क्षात्रबल से और पृथिवी निवासी जनता में गायत्र छन्द अर्थात् ब्राह्मणोचित बल से व्यापक रहे । सब पर अपना शासन रखे और हमारा शत्रु (यः अस्मान् द्वेष्टि) जो हमसे द्वेष करता है और (यं वयं द्विष्मः) जिसको हम द्वेष करते हैं वह (ततः) उन २ लोकों से और उन १ स्थानों से (अस्मात् अन्नात्) इस उपभोग योग्य अक्षय अन्न आदि पदार्थ से और (अस्यै प्रतिष्ठायै) इस भूमि के ऊपर प्राप्त प्रतिष्ठा से (निर्भक्तः) सर्वथा भाग रहित करके निकाल दिया जाय । तब हम (स्वः) सुखमय लोक को (अगन्म) प्राप्त हों और ज्ञान समृद्धि को (सं अभूम) भली प्रकार प्राप्त हों ॥

अपने लक्ष्य भूत उद्देश्य के बाधकों को दूर करके यज्ञ द्वारा तीनों लोकों पर विजय करके सुख, समृद्धि-विद्या आदि प्राप्त करने का उपदेश है ॥ शत० १ । ७ । ३ । ११ । १४ ॥

स्वयंभूरसि श्रेष्ठो रश्मिर्वर्चोदाऽत्रसि वर्चो मे देहि ।
सूर्यस्यावृतमन्वावर्ते ॥ २६ ॥

ईश्वरो देवता । उष्णिक् । ऋषभः ॥

भा०—हे परमेश्वर ! तू (स्वयंभूः असि) किसी की अपेक्षा बिना किये, स्वतन्त्र, समस्त जगत् के उत्पादन, पालन और संहार में स्वयं समर्थ है । तू सब से (श्रेष्ठः) प्रशंसनीय, (रश्मिः) परम ज्योति अथवा रश्मि, सब को अपने वश में करने वाला है । तू (वर्चोदाः असि) सूर्य के समान तेज का देने हारा है । (मे वर्चः देहि) मुझे तेज प्रदान कर । मैं भी (सूर्यस्य) सूर्य के समान सब चराचर जगत् के प्रेरक उत्पादक परमेश्वर के (आवृतम्) उपदेश किये आचार या व्रत का (अनु आवर्ते) पालन करूँ । अर्थात् जिस प्रकार सूर्य नियम से दिन रात

२६—ईश्वरो देवता । द० ।

सम्पादन करता है और सबको प्रकाश देता और तपता है उसी प्रकार मैं नियम से सोऊँ, जागूँ, तेजस्वी बनूँ, तप करूँ । सूर्य के व्रत का पालन करूँ ॥ शत० १ । ९ । ३ । १६ । १७ ॥

‘अग्ने गृहपते सुगृहपतिस्त्वयाऽग्नेऽहं गृहपतिना भूयासं । सुगृहपतिस्त्वं मयाऽग्ने गृहपतिना भूयाः ।’ अस्थुरि णौ गार्हपत्यानि सन्तु शतं हिमाः सूर्यस्यावृतमन्वावर्ते ॥ २७ ॥

अग्निदेवता । (१) निचृत्पंक्तिः । पंचमः । (२) गायत्री । षड्जः ॥

भा०—हे (अग्ने) अग्ने ! ज्ञानवन् ! परमेश्वर ! नेतः ! आचार्य ! हे (गृहपते) गृहपालक ! हे (अग्ने) अग्ने ! (त्वया गृहपतिना) गृह के पति अर्थात् पालक रूप तेरे बल से (अहम्) मैं (सुगृहपतिः भूयासम्) उत्तम गृह का स्वामी हो जाऊँ और (त्वं) तू (मया गृहपतिना) सुष्ठु गृहपति के साथ , मेरे द्वारा (सुगृहपतिः भूयाः) उत्तम गृहपति हो । इस मन्त्र से गृहस्थ एक दूसरे के उत्तम गृहपति होने में सहायक हों, यह भी वेद ने उपदेश किया । हे परमेश्वर ! (नौ) हम स्त्री और पुरुष (गार्हपत्यानि) गृहपति और गृहपत्नी दोनों के करने योग्य समस्त कर्त्तव्य (शतं हिमाः) सौ बरसों तक (अस्थुरि सन्तु) दोनों द्वारा मिल कर किये जाया करें । अर्थात् एक बैल से जुती गाड़ी चल नहीं सकती, यह ‘स्थूरी’ कहाती है । हमारे कार्य ‘अस्थूरी’ एक बैल से जुते शकट के समान विघ्नयुक्त न हों, प्रत्युत स्त्री-पुरुष रूप दो भारवाही बैलों से युक्त शकट के समान निर्विघ्न सत्-मार्ग पर चलते रहें । मैं (सूर्यस्य आवृतम्) सूर्य के व्रत को (अनु आवर्ते) पालन करूँ, उसके समान सब का प्रेरक, पालक, होकर नियमपालक, ज्ञानप्रकाशक तेजस्वी, तपस्वी होकर रहूँ ॥

२७—गार्हपत्यः । सूर्यस्य सौरम् । सर्वा० ।

अग्ने॑ व्रतपते॑ व्रतम॑चारिषुं तद॑शकं तन्मे॑ऽराधी-
दम॑हं यऽए॒वास्मि॑ सोऽस्मि॑ ॥ २८ ॥

अग्निदे॒वता । भुरिक् उ॒ष्णिक् । ऋषभः ॥

भा०—हे (अग्ने) अग्ने ! परमेश्वर ! हे (व्रतपते) व्रतों के पालक परमेश्वर ! आचार्य ! मैंने (व्रतम्) व्रत को (अचारिषम्) पालन किया, (तत् अशकम्) उस व्रत का पालन करने में मैं समर्थ हुआ । (मे) मेरा (तत्) वही व्रत (अराधि) सिद्ध हुआ । (इदम् अहम्) मैं साक्षात् (य एव अस्मि) जो भी वस्तुतः हूँ (सः अस्मि) वही यथार्थ शक्ति रूप शुद्ध आत्मा मैं रहूँ । इस मन्त्र से व्रत विसर्जन करते हैं ॥ शत० १ । ७ । ३ । २३ ॥

अ॒ग्नये॑ कव्य॒वाह॑नाय॒ स्वाहा॒ सोमा॑य॒ पितृ॑मते॒ स्वाहा॑ ।
अ॒प॒ह॒ता अ॒सुरा॑ रक्षा॒ंति वेदि॑षदः ॥ २९ ॥

प्रजापतिर्ऋषः । अग्निदे॒वताः ।

भा०—(कव्यवाहनाय) कवि, क्रान्तदर्शी विद्वानों के हितकारी अन्न या ज्ञान को धारण करने वाले (अग्नये) अग्नि, मार्गदर्शक, तेजस्वी आचार्य एवं विद्वान् के लिये (सु-आहा) उत्तम अन्न आदि दान करो और आदरपूर्वक वचन बोलो । (पितृमते सोमाय स्वाहा) पिता, माता और गुरुजनों से युक्त सोम, ज्ञानवान्, नवयुवक विद्वान् ब्रह्मचारी जिज्ञासु के लिये (स्वाहा) उत्तम अन्न का दान और आदरपूर्वक सुन्दर वचन का प्रयोग करो । (वेदिषदः) वेदि में अर्थात् पृथिवी में समस्त उपयोगी, उत्तम पदार्थ के लाभ करा देने वाली इस यज्ञभूमि में विद्यमान (रक्षांति) दूसरों के पीड़ाकारी, स्वार्थी, विघ्नकारी (असुराः) केवल

२८—इत्यन्तः दर्शपूर्णमासमन्त्राः । अतः परं पितृयज्ञः । प्रजापतेरयम् । सर्वा०

२९—दैवदेवत्ये । अपहता आसुरम् । सर्वा० ।

असु, प्राणों में रमण करने वाले अर्थात् इन्द्रियों के विषय-भोगों में ही जीवन का व्यय करने वाले, अविद्वान् विषयविलासी दुष्ट पुरुषों को (अप-हताः) मार कर दूर भगा दिया जाय ॥

भौतिक पक्ष में कन्यवाहन, ज्ञानी पुरुषों के कार्यों को चलाने वाले अग्नि को उत्तम रीति से प्रयोग करके ऋतु और पालकों से युक्त सोम राजा या प्रधान पुरुष के आदर द्वारा दुष्ट पुरुषों का नाश किया जाय ॥

ये रूपाणि प्रतिमुञ्चमाना असुराः सन्तः स्वधया चरन्ति ।
परापुरो निपुरो ये भरन्त्यग्निष्टालोकात्प्रणुदात्यस्मात् ॥ ३० ॥

अग्निदेवता । भुरिक् पंक्तिः । पंचमः ।

भा०—(ये) जो लोग (रूपाणि) रुचिकर पदार्थों को (प्रतिमुञ्चमानाः) त्यागते वा नाना वस्त्र आदि फैशनों को करते हुए (असुराः) केवल प्राण अर्थात् इन्द्रियों के भोगों में रमण करते (सन्तः) हुए (स्वधया) अपने बल से या पृथिवी के शासन बल सहित (चरन्ति) विचरण करते हैं और (ये) जो (परापुरः) दूर दूर तक बड़े २ अपने पुर बनाते हैं और (निपुरः) नीचे भूमि में अपने पुर बसाते, अथवा जो (परापुरः) परित्याग करने योग्य काम्य स्वार्यों को पूर्ण करते और (नि-पुरः) जो नीच और निकृष्ट वासनाओं को पूर्ण करते हैं, अथवा (परापुरः निपुरः) स्थूल और सूक्ष्म देहों को (चरन्ति) पोषण करते हैं (अग्निः) अग्नि, दुष्टों का सन्तापक राजा, अग्रणी नेता (तान्) उन लोगों को (अस्मात् लोकात्) इस लोक से (प्र नुदाति) निकाल दे ॥

अत्र पितरो मादयध्वं यथाभागमावृषायध्वम् ।

अमीमदन्त पितरो यथाभागमावृषायिषत ॥ ३१ ॥

पितरो देवताः । बृहती । मध्यमः ॥

३०—कन्यवाहवो अग्निदे० । त्रिष्टुप् एकानो सर्वा० ।

भा०—(अत्र) यहाँ, इस स्थान में, गृह में, इस लोक में (पितरः) पालन करनेहारे गुरु, विद्वान् पुरुष, माता पिता एवं वृद्धजन और देश के अधिकारी गण (मादयध्वम्) आनन्द, प्रसन्न रहें और स्वयं औरों को भी वे सुप्रसन्न करें । (यथाभागम्) अपने उचित भाग के अनुरूप अर्थात् अधिकार, मान, पद एवं शक्ति, योग्यता के अनुकूल (आ वृषायध्वम्) सब प्रकार से हृष्ट पुष्ट हों और औरों को भी आनन्दित करें । (पितरः अमी-मदन्त) पालक वृद्धजन खूब हर्षित, प्रसन्न हों और (यथाभागम् आ वृषायिषत) अपनी शक्ति, योग्यता एवं पद के अनुरूप हृष्ट पुष्ट भी हों ॥

‘नमो वः पितरो रसाय, नमो वः पितरः शोषाय नमो वः पितरो जीवाय नमो वः पितरः स्वधायै नमो वः पितरो घोराय नमो वः पितरो मन्यवे । नमो वः पितरः पितरो नमो वो गृहान्नः पितरो दत्त सतो वः पितरो देष्मैतद्वः पितरो वासः ॥ ३२ ॥

लिंगोक्ता देवताः पितरः । (१) ब्राह्मी वृहती । (२) निचृद् वृहती । पंचमः ॥

भा०—हे (पितरः) राष्ट्र के पालक पुरुषो ! वृद्धजनो ! (रसाय) ब्रह्मानन्द रस और ज्ञानरस के लिए (वः नमः) आप लोगों का हम आदर करते हैं । (शोषाय) आप लोगों का जो शोषण अर्थात् दुःखों का निवारण और शत्रुओं को कमजोर करने का सामर्थ्य है उसके लिये (वः नमः) आपका हम आदर करते हैं । (जीवाय) आपके प्रजा को जीवन धारण कराने के सामर्थ्य के लिए (वः नमः) आप लोगों को हम नमस्कार करते हैं । (स्वधायै) स्वयं समस्त राष्ट्र के धारण करने के सामर्थ्य के लिये और अन्न उत्पन्न करने के लिये (वः नमः) आप लोगों का हम आदर करते हैं । (घोराय) आप लोगों के अति भय दिलाने वाले घोर, युद्ध करने के सामर्थ्य के लिये (वः नमः) आप लोगों को हम नमस्कार

३२—पटुल्लिङ्गोक्तानि । सर्वा० ॥ अन्ते ‘आधत्त’ इति पद काचैद् लक्ष्यत तन्नेष्यते । उत्तरमन्त्रस्य प्रतीकतयोपात्तत्वाद् ।

करते हैं । (मन्यवे) आप लोगों के मान बनाये रखने वाले उच्चता के भाव के लिये अथवा आपके दुष्टों और देश का यश कीर्ति के नाशकों के प्रति उचेजित हुए क्रोध और ज्ञान के लिये (वः नमः) आप लोगों को हम नमस्कार करते हैं । हे (पितरः) पालक वृद्ध शासक जनो ! आप लोग हमारे और समस्त राष्ट्र के पालक हो, अतएव (वः नमः) आपका हम आदर सत्कार करते हैं । (पितरः नमः वः) हे पालक पुरुषो ! आप लोगों को हम नमस्कार करते एवं सत्कार करते हैं । हे (पितरः) पालक जनो ! (नः) हमारे (गृहान्) गृह के निवासी स्त्री आदि बन्धुओं के प्रति (दत्त) उनको उचित पदार्थ एवं विद्या और शिक्षा प्रदान करो और हे (पितरः) वृद्ध गुरुजनो ! हम लोग (वः) आप लोगों को (सतः) अपने पास, विद्यमान नाना अन्न, धन, वस्त्र आदि पदार्थ (देष्म) प्रदान करें । हे (पितरः) पालक जनो ! (वः) आप लोगों के लिये (एतत्) यही (वासः) शरीर आदि आच्छादन करने योग्य उत्तम वस्त्र एवं निवास गृह है । आप इसे स्वीकार करें ॥

उच्चट, महीधर दोनों ने यह मन्त्र ऋतुओं परक लगाया है । हे ऋतुओ ! (नमो वः रसाय) आपके रसरूप वसन्त को नमस्कार है । (वः शोषाय नमः) आपके सुखाने वाले ग्रीष्म को नमस्कार है । (वः जीवाय नमः) जीवन के हेतु वर्षाओं को नमस्कार है । (वः स्वधायै नमः) आपके अन्नोत्पादक शरत् के लिए नमस्कार है । (वः वीराय नमः) आपके घोररूप हेमन्त को नमस्कार है । (मृत्यवे नमः) शिशिर को नमः है ॥

आधत्त पितरो गर्भं कुमारं पुष्करस्त्रजम् । यथेह पुरुषोऽसत् ॥ ३३ ॥

पितरो देवताः । गायत्री । षड्जः ॥

भा०—पुत्रों का पालन करने में समर्थ गृहस्थ जनो ! आप लोग (गर्भम्) गर्भ का (आधत्त) आधान करो और फिर (पुष्कर-स्त्रजम्)

पुष्टिकर पदार्थों के द्वारा बने शरीर वाले, सुन्दर (कुमारम्) बालक को (आधत्त) बराबर पालन पोषण करो, (तथा) जिससे (इह) इस लोक में वह आपका गर्भ में आहित वीर्य एवं बालक ही (पुरुषः असत्) पूर्ण पुरुष रूप हो जाय । गृहस्थ लोग पुष्ट पुरुषों को उत्पन्न करने के लिये गर्भाधान करें । उसका गर्भ में पुष्टि कारक पदार्थों से पालन करें और उसे शिक्षित कर पूर्ण पुरुष बनावें । आचार्य पक्ष में—हे (पितरः) पालक आचार्य आदि जनो (गर्भम्) गर्भ के समान ही (पुष्कर-स्रजम्) पद्म की माला धारण किये विद्यार्थी कुमार को अपने विद्यारूप सावित्री के गर्भ में धारण करो । जिससे यह पूर्ण विद्वान् पुरुष हो जाय । इसी प्रकार शासक जन राजा को अपने भीतर आदर पूर्वक रक्खें, जिससे वह बलवान् बना रहे ॥

ऊर्जं वहन्तीरमृतं घृतं पयः कीलालं परिस्नुतम् ।
स्वधा स्थ तर्पयत मे पितृन् ॥ ३४ ॥

आपो देवता । मुरिग् उष्णिक् । ऋगभः ॥

भा०—हे (आपः) आपः ! आप्त पुरुषो ! प्राप्त पुत्रादि जनो ! आपः जल के समान स्वच्छ उपकारक पुरुषो ! (ऊर्जम्) उत्तम अन्न रस (अमृतम्) रोगहारी, जीवनप्रद (घृतम्) तेजोदायक, घृत, (पयः) पुष्टि कारक दुग्ध, (कीलालम्) अन्न और (परि-स्नुतम्) सब प्रकार से स्रवित रस से युक्त, पके फल एवं ओषधि विधि से तय्यार किये उत्तम रसायन आदि इन सब को (वहन्तीः) धारण करते हुए (मे पितृन्) मेरे पालक वृद्धजनों को (तर्पयत) तृप्त करो । आप (स्वधाःस्थ) अब स्वयं अपने आपको और अपने वृद्ध, पालक, सत्कार योग्य पुरुषों को भी अपने बल पर धारण पोषण करने में समर्थ हो ॥

अन्न पक्ष में = (ऊर्जम्) उत्तम अन्नरस, (अमृतम्) जीवनशक्ति,

(घृतम्) घी, तेज, (पयः) दूध, पुष्टिकारक, पदार्थ (कीलालम्) भोज्य अन्न, (परिखुतम्) आसव आदि तीव्र सूक्ष्म औषध इन सब तत्त्वों को धारण करने वाले (आपः) जल हैं । वे ही 'स्वधा' चरम अन्न हैं उन से हे पुरुषो ! (मे पितृन् तर्पयत) मेरे प्राणों को तृप्त करो ॥

॥ इति द्वितीयोऽध्यायः ॥

[द्वितीये ऋचश्चतुस्त्रिंशत्]

इति मीमांसातीर्थ-प्रतिष्ठितविद्यालंकारविरुदोपशांभितश्रीमत्पाण्डितजयदेवशर्मकृते
यजुर्वेदालोकभाष्ये द्वितीयोऽध्यायः ॥



तृतीयोऽध्यायः ।

१-२ अग्न्याधयमन्त्राणां प्रजापतिर्देवता । देवाः अग्निर्गन्धर्वाश्च ऋषयः ॥

॥ ओ३म् ॥ समिधाग्निन्दुवस्यत घृतैर्बोधयतातिथिम् ।

आस्मिन्हव्या जुहोतन ॥ १ ॥ ऋ० ८ । ४४ । १ ॥

विरूप आंगिरस ऋषिः अग्निर्देवता । गायत्री । षड्जः ॥

भा०—(समिधा) प्रदीप्त करने के साधन काष्ठ से जिस प्रकार अग्नि को तृप्त किया जाता है उसी प्रकार (सम्-इधा) अच्छी प्रकार तेजस्वी बनने वाले साधन से (अग्निम्) अग्नि, आत्मा, गुरु, परमेश्वर की (दुवस्यत) उपासना करो और (अतिथिम्) सर्वव्यापक, अतिथि के समान पूजनीय उसको (घृतैः) अग्नि को जिस प्रकार क्षरणशील, पुष्टिकारक घृत आदि पदार्थों से जगाया जाता है उसी प्रकार उद्दीपन करने वाले तेजःप्रद साधनों के अनुष्ठानों से उसको (बोधयत) जगाओ और (अस्मिन्) उसमें (हव्या) सब पदार्थों, ज्ञानों, स्तुतियों और कर्मों और कर्मफलों को आहुति के रूप में (आ जुहोतन) निरन्तर त्याग करो ॥

भौतिक अग्नि में—हे पुरुषो ! (समिधा दुवस्यत) काष्ठ से उसकी सेवा करो, घृताहुतियों से उसको चेतन करो और उसमें चरु पुरोडाश आदि आहुति रूप में दो । इसी प्रकार यन्त्रकला आदि में भी अग्नि के उद्दीपक पदार्थों से अग्नि को जला कर (घृतैः) जलों द्वारा उसकी शक्ति को और भी चैतन्य करके उसे यन्त्रादि में आधान करे ॥

१—८—देवानामग्नेर्गन्धर्वाणां वा । सर्वा० ।

सुसमिद्धाय शोचिषे घृतन्तीव्रञ्जुहोतन । अग्नये जातवेदसे ॥२॥

ऋ० ५ । ५ । १ ॥

वसुश्रुत ऋषिः । अग्निर्देवता । गायत्री । षड्जः ॥

भा०—(सुसम-इद्धाय) खूब अच्छी प्रकार प्रदीप्त (शोचिषे) प्रकाशमान, ज्वालामय, अन्यो के भी दोष निवारण में समर्थ (जातवेद-से) प्रत्येक पदार्थ में व्यापक, प्रज्ञावान्, ऐश्वर्यवान् (अग्नये) अग्नि, परमेश्वर, विद्वान् एवं राजा को (तीव्रम्) अतितीव्र, दोषनिवारक (घृतम्) आज्य, जल और उपायन एवं बलदायक या जयप्रद पदार्थ (आ जुहोतन) सब प्रकार से प्रदान करो ॥

तन्त्वा समिद्धिरङ्गिरो घृतेन वर्धयामसि ।

बृहच्छोचा यविष्ठय ॥ ३ ॥

ऋ० ६ । १६ । ११ ॥

भरद्वाज ऋषिः । अग्निर्देवता । गायत्री । षड्जः ॥

भा०—हे अग्ने ! अंगिरः ! व्यापक, ज्ञानवान्, प्रकाशक ! (त्वा) तुझे (तम्) उस परम प्रसिद्ध, परम उच्च, परमेश्वर को (सम-इद्धिः) उसमें प्रदीप्त, प्रकाशित होने के साधन योग आदि द्वारा और (घृतेन) आत्मा के प्रकाशक तेज और तप द्वारा (वर्धयामसि) बढ़ाते हैं । हे (यविष्ठय) युवतम, सदा सर्वशक्तिमान् ! संसार के समस्त पदार्थों के संयोग विभाग करने में अनुपम बल वाले ! (बृहत्) महान् होकर (शोच) खूब प्रकाशित हो ।

अग्नि पक्ष में—हे प्रकाशक अग्ने ! तुझे समिधा और घृत से बढ़ावें और तू पदार्थों के विभाजक बल से युक्त, खूब प्रकाशित हो ॥

उपत्वाग्ने हविष्मतीर्घृताचीर्यन्तु हर्यत । जुषस्व समिधो मम ॥४॥

प्रजापातिर्ऋषिः । अग्निः । गायत्री । षड्जः ॥

२—सुश्रुत ऋषिः । ६० ।

५

भा०—हे (हर्यत) सब कार्यों के प्रापक या दर्शनीय ! कमनीय ! कान्तियुक्त । हे अग्ने ! (उप) तेरे समीप (घृताचीः) घृत से युक्त, (हविष्मतीः) हवि, अन्न आदि से युक्त (समिधः) समिधाएं (यन्तु) प्राप्त हों उन (मम) मेरी (समिधः) समिधाओं को (जुषस्व) तू सेवन कर । हे अग्ने ! आत्मन् ! मेरी (हविष्मतीः) ज्ञानमय, (घृताचीः) तेजोमय (समिधः) प्रकाशित होने के साधन तपस्या, विद्याभ्यास, जप, योग आदि सब तेरी प्राप्ति के लिये हों, उनको तू स्वीकार कर ॥

‘भूर्भुवः स्व’ द्यौरिव भूम्ना पृथिवीव वरिम्णा ।
तस्यास्ते पृथिवि देवयजनि पृष्टे अग्निमन्त्रादमन्त्राद्यायादधे ॥५॥

अग्निवायुसूर्याः लिङोक्ताः पृथिवी च देवताः । (१) दैवी बृहती ।

(२) निचृद्बृहती । मध्यमः ॥

भा०—(भूः) यह पृथ्वी लोक (भुवः) अन्नरिक्ष और (स्वः) यह द्यौलोक और (भूः) ब्राह्मण, (भुवः) क्षत्रिय, (स्वः) वैश्य और (भूः) आत्मा, या स्वयं पुरुष (भुवः) प्रजा, पुत्र आदि (स्वः) पशुगण इनके हित के लिए मैं (भूम्ना) अति अधिक महान् ऐश्वर्य और सामर्थ्य से और अधिक प्रजाजनों से उसी प्रकार से युक्त हो जाऊं जैसे (द्यौः) यह महान् आकाश नक्षत्रों से परमैश्वर्य युक्त है और (पृथिवी इव) पृथिवी जिस प्रकार विशाल है, सबको आश्रय देती है, उसी प्रकार की (वरिम्णा) विशालता से मैं भी युक्त होऊं । हे (पृथिवि) पृथिवि ! हे (देव-यजनि) देव, विद्वानों के यज्ञ करने के आश्रयभूत ! (ते तस्याः) उस तेरी (पृष्टे) पीठ, पृष्ठ पर (अन्नादम्) समस्त अन्नों के भोग करने वाले (अग्निम्) अग्निरूप प्रजापति राजा को (आ दधे) स्थापित करता हूँ । अथवा हे

५—द्यौरिवयजमानाशीर्लिङोक्तादेवता । सर्वा० । • ‘भूम्ना भूमिरिव वरिम्णा’ इति काण्व० ।

स्त्री और हे वेदि ! तू (भूमि) अपनी महती शक्ति से (द्यौः इव) आकाश के समान गुण रूप नक्षत्रों से सुशोभित है, और (वरिष्णा पृथिवी इव) उत्तम गुणों से पृथिवी के समान उदार, पुत्रादि की उत्पत्तिकारक, पालक और गृह का आश्रय है । हे (देवयजनि पृथिवि) विद्वान् द्वारा पूजनीय पृथिवी के समान योग्य भूमि ! (अन्नादम् अग्निम्) अन्न का भोग करने या कर्मफल के भोग करने वाले अग्नि, जीवात्मा को मैं (अन्नाद्याय) भावी जीवन के कर्मफल भोग के लिये ही बीज रूप से तुझ में (आदधे) आधान करता हूँ ॥ शत० का० २ । ८ । १-२८ ॥

आयङ्गौः पृश्निरक्रमीदसदन्मातरं पुरः । पितरं च प्रयन्त्स्वः ॥ ६ ॥
ऋ० १० । १८९ । १ ॥

सार्पराज्ञी कद्रुर्ऋषिका । अग्निर्देवता । गायत्री षड्जः ॥

भा०—(अयम्) यह (गौः) गमनशील (पृश्निः) रसों और समस्त ज्योतियों को अपने भीतर ग्रहण करने हारा, आदित्य (मातरम् पुरः) प्राणियों के उत्पादक मातृरूप पृथिवी के ऊपर नित्य प्राची दिशा में (आ असदत्) विराजता है और (अक्रमीत्) चारों ओर व्याप्त है और (पितरम्) सबके पालक (स्वः) आकाश को भी (प्रयन्) अपने निज वेग से जाता हुआ (आ असदत्) उसको भी व्याप्त करता है ॥

अन्तश्चरति रोचनास्य प्राणादपानती । व्यख्यन्महिषो दिवम् ॥ ७ ॥
ऋ० १० । १८९ । २ ॥

वायुरूपोऽग्निर्देवता । गायत्री । षड्जः स्वरः ॥

भा०—(अस्य) इस महान् अग्नि की ही (रोचना) वायुरूप ज्योति, दीप्ति है जो (अन्तः) शरीर के भीतर, इस ब्रह्माण्ड के भीतर (प्राणात्) प्राण रूप होने के पश्चात् (अपानती) अपान का स्वरूप धारण करती है । यही (महिषः) अनन्त महिमा से युक्त होकर (दिवम्)

द्यौलोक या प्रकाशमान सूर्य के तेज को (वि अख्यत्) विशेष रूप से बतलाता है । अर्थात् ब्रह्माण्ड में वही वायु स्वयं प्रबल चलता और ऊपर उठता और मन्द होता और नीचे आता है । शरीर में वही प्राण, पुनः अपान रूप में बदलता है । परन्तु यह उसी महान् अग्नि का तेज है, ब्रह्माण्ड में सूर्य की शक्ति से वायु नाना गतियों से चलता है और शरीर में जाठर अग्नि के बल से प्राणों की विविध गति होती हैं ॥

त्रिंशद्दाम विराजति वाक् पतङ्गाय धीयते ।

प्रति वस्तोरह्य द्युभिः ॥ ८ ॥

ऋ० १० । १८९ । ३ ॥

अग्निदेवता । गायत्री । षड्जः ॥

भा०—ईश्वर रूप वा विद्युत् रूप अग्नि । जो प्रकाशक अग्नि (त्रिंशत्) तीस (धाम) धारक पदार्थों को (विराजति) व्याप्त होकर उनको प्रकाशित करता है उसी (पतङ्गाय) व्यापक परमेश्वर के ज्ञान के लिये (वाक्) वेद-वाणी व शब्द (धीयते) पढ़ा जाता है और उसको (प्रति वस्तोः) प्रतिदिन (द्युभिः) प्रकाशमान पदार्थों वा प्रकाशक वाक्यों के द्वारा (अह) निश्चय से (धीयते) ध्यान, मनन करना चाहिये ॥

‘त्रिंशत् धाम’—दिन रात्र के ३० मुहूर्त (उब्बट) । जो वाणी दिन के तीसों मुहूर्त प्रकाशित होती न केवल वह ‘पतङ्ग’ अर्थात् अरणि से गिर कर गार्हपत्य रूप में आनेवाले अग्नि के लिये है, प्रत्युत प्रतिदिन उत्सवों के साथ भी वह वाक् उसी ‘पतङ्ग’ के लिये ही है । अथवा महीधर—मास के तीसों दिन जो वाणी, पतङ्ग अर्थात् ‘पतंग पक्षी’ गार्हपत्याग्नि के सदृश अग्नि के लिये है, वह प्रति दिन उत्सवों में भी उसी के लिये है । जैसे पक्षी एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाता है, उसी प्रकार यह अग्नि गार्हपत्य से आहवनीय में जाता है । उक्त ६-८ शत० २ । १ । ४ । २९ ॥

८—शतः परमेको मन्त्रोऽधिकः काण्व० ।

दयानन्द—जो अग्नि प्रतिदिन तीसों धर्मों के धारक पदार्थों को प्रकाशित करता है उस 'पतंग' पतन-पातनादि गुणों से प्रकाशित स्वयं-गतिशील, अन्यो के प्रेरक अग्नि के ज्ञान के लिये प्रति दिन विद्वानों को वाक् (वेद) का अध्ययन करना चाहिये । यह वाणी नित्य शरीरस्थ विद्युत् अग्नि से प्रकाशित होता है, उसके गुण-प्रकाशन के लिये इस वाणी का श्रवण और उपदेश करना चाहिये । ८ वसु, ११ रुद्र, १२ आदित्य, इन्द्र, प्रजापति, इनमें से अन्तरिक्ष वह आदित्य अग्नि को छोड़ शेष ३० । पतङ्ग = अग्नि परमेश्वर है ॥ अथवा प्राणो वै पतङ्गः । कौ० ८ । ४ ॥ पतन्निव हि अङ्गेषु । जै० ३ । ३ । ३५ । १ ॥

अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निः स्वाहा सूर्यो ज्योतिर्ज्योतिः सूर्यः
स्वाहा । अग्निर्वर्चो ज्योतिर्वर्चः स्वाहा सूर्यो वर्चो ज्योतिर्वर्चः
स्वाहा । ज्योतिः सूर्यः सूर्यो ज्योतिः स्वाहा ॥ ६ ॥

अग्निर्ज्योतिरिति द्वयस्य तच्चा ऋषिः । ज्योतिः सूर्य इति द्वयस्य जीवलश्चैलकिश्च
ऋषी । अग्निसूर्यो देवते । पांक्तिः । मध्यमः ॥

भा०—(अग्निः ज्योतिः) अग्नि ज्योतिःस्वरूप है और (ज्योतिः अग्निः) समस्त ज्योति अग्निरूप है । (स्वाहा) यह ज्योति-स्वरूपता ही अग्नि की अपनी महिमा का प्रत्यक्ष वर्णन है । (सूर्यः ज्योतिः) सूर्य ज्योति है । (ज्योतिः सूर्यः) ज्योति ही सूर्य है । (स्वाहा) यही उसके अपने महत्त्व का उत्तम स्वरूप है । इस देह में (अग्निः वर्चः) अग्नि ही तेज है, (ज्योतिर्वर्चः) ज्योति ही तेज है । (स्वाहा) यही उसका अपना उत्कृष्टरूप है । (सूर्यः वर्चः ज्योतिः वर्चः) सूर्य तेज है, ज्योति तेज है । (स्वाहा) यही उसका अपना महत्त्वपूर्ण रूप है । (ज्योतिः सूर्यः सूर्यः

६—विशेषतश्च अग्निर्वर्च इत्यस्यास्तच्चा ऋषिः । ज्योतिः सूर्य इत्यस्या जीवलश्चैलकिर्ऋषिः । सर्वा० । इतः परमेको मन्त्रोऽधिकः काण्व० पठितः ।

ज्योतिः स्वाहा) ज्योति सूर्य है और सूर्य ही ज्योति है । यही उसका यथार्थ महत्त्व है ॥

स्वाहा—स्वो वै महिमा आह इति । स्वाहा इत्येवाजुहोत् । शत० १ । २ । ४ । ६ ॥ यह मेरा ही महत्त्व या उत्कृष्टरूप है इस बात को 'स्वाहा' शब्द कहता है । प्रजापति की अपने उत्कृष्टरूप अग्नि सूर्य, ज्योति और वर्चस्, ये हैं और ये सर्वत्र प्रकट होकर अपने महत्त्व को दर्शाते हैं । इसका व्याख्यान-विस्तार शतपथ में देखें । शत० कां० २ । २ । ४, ५ ॥ 'स्वस्य अहानमस्तु' इति स्वाहा इत्युच्चटः । अपने स्वरूप का नाश नहीं होता यह 'स्वाहा' का अर्थ है । स्वं प्राह इति वा स्वाहुतं हविर्जुहोति इति वा । निरु० ॥

अथवा—(अग्निः) ज्ञानमय परमेश्वर (ज्योतिः) सर्वप्रकाशक है और (ज्योतिः) प्रकाशमय (अग्निः) भौतिक अग्नि के समान ही परमेश्वर सब पदार्थों का स्वयं ज्ञापक 'अग्नि' है । यह (स्वाहा) सत्य बात है । (सूर्यः) सब संसार में व्यापक और उसका ज्ञाता परमेश्वर (ज्योतिः) वेद द्वारा समस्त विद्याओं का उपदेष्टा 'ज्योति' है । वह भी (ज्योतिः) पृथिवी आदि पदार्थों के द्योतन या प्रकाशन करने वाले (सूर्यः) सूर्य के समान तेजोमय है । (स्वाहा) यही वास्तविक बात है । (अग्निः) सर्वविद्याप्रदाता आचार्य (वर्चः) सब पदार्थों का दीपक, ज्ञापक विद्या-प्रदाता है, वह (ज्योतिः) सब पदार्थ प्रकाशक (वर्चः) तेज के समान ही सब विद्याओं का प्रकाशक है । (स्वाहा) इस प्रकार ही सत्य जानो । (सूर्यः) सब व्यवहारों का प्रवर्तक प्राण ही (वर्चः) सब का प्रकाशक है । (ज्योतिर्वर्चः) सर्व पदार्थों का द्योतक तेज ही है (स्वाहा) यह सत्य ज्ञान है । (सूर्यो ज्योतिः) सूर्य ही सब पदार्थों का ज्योति अर्थात् प्रकाशक है और प्रकाशक ज्योति ही सूर्य है । यही (स्वाहा) उसकी अपनी महिमा का स्वरूप है ॥

१ सजूर्देवेन सवित्रा सजूरान्येन्द्रवत्या । जुषाणो अग्निर्वेतु स्वाहा ।
 २ सजूर्देवेन सवित्रा सजूरुषसेन्द्रवत्या । जुषाणः सूर्यो वेतु
 स्वाहा ॥ १० ॥

प्रजापतिर्ऋषिर्जीवलश्चैलकिश्च । (१) अग्निः । गायत्री । (२) सूर्यः ।

भुरिगुं गायत्री । पङ्क्तः ॥

भा०—(अग्निः) यह भौतिक अग्नि जिस प्रकार (देवेन सवित्रा) सर्व-प्रकाशक, सर्व-व्यवहारप्रवर्तक, सर्वोत्पादक परमेश्वर के बल से (सजूरः) सब पदार्थों को समान भाव से सेवन करता है । (इन्द्रवत्या) इन्द्र, वायु वा विद्युत् से युक्त (रान्या) रात्रि या आदानकारिणी शक्ति से युक्त होकर (सजूरः) समस्त पदार्थों को समान रूप से अपने भीतर लीन करता है, उसी प्रकार (अग्निः) प्रकाशक अग्नि, सर्वेश्वर परमात्मा (जुषाणः) सबको प्रेम करता हुआ या सबको सेवन करता हुआ (अग्निः) भौतिक अग्नि के समान ही परमेश्वर (स्वाहा) अपनी महिमा या महत्त्व शक्ति से (वेतु) सर्वत्र व्याप्त है और (देवेन) सर्व प्रकाशक (सवित्रा) सर्वोत्पादक परमेश्वर के बल से सूर्य (सजूरः) सर्वत्र समान भाव से व्याप्त होता है और वही (इन्द्रवत्या) प्रकाशमय (उषसा) उषा या प्रभा के साथ (सजूरः) समान भाव से व्याप्त होता है, उसी प्रकार (सूर्यः) सर्वप्रेरक परमेश्वर सब को (जुषाणः) प्रेम करता हुआ (स्वाहा) अपनी महान शक्ति से सर्वत्र (वेतु) व्यापक है, सबको अपने भीतर लिये है ॥

अग्निहोत्र पक्ष में—देव सविता परमेश्वर की उत्पादित सृष्टि के साथ मिल कर और इन्द्रवती रात्रि अर्थात् विद्युत् शक्ति से युक्त रात्रि से मिल कर हवि आदि को अग्नि अपने भीतर ले । इसी प्रकार ईश्वरीय

१०—इतः परं मन्त्रचतुष्कं काण्व० पठितम् ।

शक्ति से युक्त और प्रकाश युक्त उपा से युक्त होकर सूर्य वरु द्रव्यों को अपने भीतर ले ॥

उपप्रयन्तोऽअध्वरं मन्त्रं वोचेमाग्रये। आरेऽअस्मे च शृण्वते ॥११

ऋ० १ । ७४ ॥ ३ ॥

[११-३०] वृहदुपस्थानमन्त्राणां देवा ऋषयः । गीतमो राहूगण ऋषिः ।

अग्निदेवता । निचृद् गायत्री । पड्जः ॥

भा०—(अध्वरं) जिसको शत्रुगण परास्त न कर सकें ऐसे अध्वर, अहिंसक, सर्वपालक राष्ट्र-यज्ञ में (उप प्रयन्तः) पहुँच कर (अस्मे च) हमारे वचनों को (दूरे च) समीप और दूर भी (शृण्वते) श्रवण करने वाले (अग्रये) अग्रणी नेता, राजा के हित के लिये (मन्त्रम्) उत्तम विचार, वेदानुकूल विज्ञान वाक्य को (वोचेम) उच्चारण करें, कहें ॥

यज्ञपक्ष में—यज्ञ में आते हुए हम ईश्वर की उपासना के लिये मन्त्रों को उच्चारण करें । वह हमारा दूर और पास सर्वत्र सुनता है ॥ शत० ३ । ३ । ४ । १० ॥

अग्निमूर्धा दिवः ककुत्पतिः पृथिव्याऽअयम् ।

अपाँ रेताँसि जिन्वति ॥ १२ ॥ ऋ० ८ । ४४ । १६ ॥

विरूप आंगिरस ऋषिः । अग्निः । निचृद् गायत्री । पड्जः ॥

भा०—(दिवः) द्यौलोक में या प्रकाशवान् जगत् में जिस प्रकार (मूर्धा) सबके शिरोभूत, सब से ऊपर (अग्निः) सूर्य, सबका प्रवर्तक और प्रकाशक है उसी प्रकार (अयम्) यह (ककुत्) सब से महान् सर्वश्रेष्ठ (पृथिव्याः पतिः) पृथिवी का भी स्वामी राजा है । वह (अपाँ) समस्त प्रजाओं के (रेताँसि) समस्त वीर्यों को (जिन्वति) स्वयं ग्रहण करता, वश करता है ॥

ईश्वर पक्ष में—(अग्निः) सर्वस्वामी ईश्वर, (मूर्धा) सर्वोपरि

विराजमान है । वह (दिवः ककुत्) द्यौ, अकाश और सूर्य आदि से भी महान् और जलों के वीर्यों, उत्पादक सामर्थ्यों को (जिन्वति) पुष्ट करता है, शक्तिमान् बनाता है । सूर्य के पक्ष में—(अपाम् अग्निः दिवः मूर्धाः, पृथिव्याः ककुत् पतिः) यह अग्नि सूर्य, द्यौलोक का शिर, पृथिवी का सब से बड़ा पालक है, वह (अपां रतांसि जिन्वति) समस्त जलों, प्राणियों के उत्पादक वीर्यों को पुष्ट करता है ॥ शत० १ । ३ । ४ । ११ ॥

उभा वामिन्द्राग्नी ऽआहुवध्या ऽउभा राधसः सह मादयद्धयै ।
उभा दाताराविषां रयीणामुभा वाजस्य सातये हुवे वाम् ॥१३॥

ऋ० ६ । ६० । १३ ॥

भरद्वाज बार्हस्पत्य ऋषिः । इन्द्राग्नी देवत । स्वराट् त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—हे (इन्द्र-अग्नी) इन्द्र और अग्ने ! हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवान् राजन् ! हे (अग्ने) शत्रुसंतापक अग्ने ! अग्रणी ! सेनानायक ! (वाम् उभा) तुम दोनों को (आहुवध्या) अपने पास बुलाने के लिये और (उभा) दोनों को (राधसः) नाना ऐश्वर्य के द्वारा (सह) एकत्र (मादयद्ध्यै) आनन्द लाभ करने के लिये (हुवे) मैं बुलाता हूँ । (उभा) तुम दोनों (इषाम्) अन्नों और (रयीणाम्) ऐश्वर्यों के (दातारौ) प्रदान करने वाले हैं । (उभौ) आप दोनों को (वाजस्य) उत्तम अन्न के (सातये) प्राप्ति और भोग के लिये (वाम्) तुम दोनों को (हुवे) बुलाता हूँ । दोनों को आदरपूर्वक स्वीकार करता हूँ । विद्युत् अग्नि के पक्ष में—परस्पर के बुलाने, वार्तालाप, दूरस्थ देश से सन्देश आदि देने और धन ऐश्वर्य के परस्पर मिल कर भोग करने के लिये समस्त कामनाओं और ऐश्वर्यों के प्रदाता वीर्यवान्, या बलयुक्तकार्यों की सिद्धि के

१३—० 'दातारा इषां' इति काण्व० ।

लिये अग्नि और विद्युत् शक्तियों को मैं (हुवे) स्वयं अपने घश करता हूँ ॥ अथवा, इन्द्र = सूर्य और अग्नि ॥ शत० २ । ३ । ४ । १२ ॥

अयं ते योनिर्ऋत्वियो यतो जातो ऽअरोचथाः ।

तज्जानन्नज्ञऽआरोहाथा नो वर्धया रयिम् ॥ १४ ॥

ऋ० ३ । २९ । १० ॥

देवश्रवोदेवरातौ भारतावृषो । अग्निर्देवता । स्वराड् अनुष्टुप् । गान्धारः ॥

भा०—हे अग्ने ! (ते) तेरा (अयम्) वह (योनिः) मूल आश्रय स्थान, (ऋत्वियः) ऋतुओं, राजकर्ताओं और सदस्यों में आश्रित है । (यतः) जहां से (जातः) तू समर्थवान् होकर (अरोचथाः) प्रकाशमान होता है । हे (अग्ने) अग्ने ! राजन् ! (तम्) उस अपने मूलकारण को (जानन्) भली प्रकार जानता हुआ ही तू (आरोह) ऊंचे पद, सिंहासन पर आरुढ़ हो (अथ) और तू (नः) हमारे (रयिम्) ऐश्वर्य को (वर्धय) बढ़ा ।

ऋतवो वै सोमस्य राज्ञो राजभ्रातरो यथा मनुष्यस्य । वै० १ । १ । १३ ॥ ऋतवो वै विश्वेदेवाः । शत० ७ । १ । १ । ४२ ॥ ऋतवः उपसदः । शत० १० । २ । ५ । ७ । सदस्या ऋतवो ऽभवन् । तै० ३ । ११ । ९ । ४ ॥ शत० । २ । ३ । ४ । १३ ॥

अयमिह प्रथमो धायि धातृभिर्होता यजिष्ठो ऽअध्वरेष्वीड्यः । यमप्रवानो भृगवो विरुरुचुर्वनेषु चित्रं विश्वं विशेविशे ॥ १५ ॥

ऋ० ४ । ७ । १ ॥

वामदेव ऋषिः । अग्निर्देवता । भुरिक् त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—(अयम्) इस अग्नि के समान शत्रुसंतापक (प्रथमः) सर्वश्रेष्ठ पुरुष को (इह) इस राष्ट्र में (धातृभिः) राष्ट्र के धारण

१४—विश्वामित्र ऋषिः ऋग्वेदे ३ । २६ । १० ॥

करने वाले पुरुषों द्वारा (धायि) अधिकारी रूप में स्थापित करते हैं । यह (होता) सबको अपने वश में लेने वाला, (यजिष्ठः) सब का संगतिकारक (अध्वरेषु) यज्ञों में यज्ञशील होता के समान (अध्वरेषु) संग्रामों में (ईड्यः) स्तुति के योग्य है । (यम्) जिसको (अग्नवानः) प्रजा, सन्तान वाले, सत्कर्मवान् (भृगवः) तपस्वी पुरुष, वानप्रस्थ पुरुष जिस प्रकार वनों में नाना प्रकार से अग्नि को प्रज्वलित करते हैं, उसी प्रकार वे (विशे-विशे) प्रत्येक प्रजासंघ में (चित्रम्) पूजनीय (विभ्वम्) विशेष सामर्थ्यवान् पुरुष को (विरूचुः) विशेष रूप से प्रदीप्त करते हैं ॥ शत० २ । ३ । ४ । १४ ॥

अस्य प्रत्नामनु द्युतं शुक्रं दुदुहेऽअह्यः ।

पयः सहस्रसामृषिम् ॥ १६ ॥ ऋ० १ । ५४ । १ ॥

अवत्सार ऋषिः । गायत्री । षड्जः ॥

भा०—(अस्य) इस अग्निरूप परमेश्वर की (प्रत्नाम्) अति पुरातन, अनादि सिद्ध (द्युतम्) द्युति, कान्ति, तेज, शक्ति को (अह्यः) आकाश में रश्मियों द्वारा फैलने वाले, प्रकाशमान, तेजोमय सूर्य आदि, (शुक्रम्) शुक्र, कान्तिमय तेज के रूप में (दुदुहे) दोहते हैं, प्राप्त करते हैं । वे मानो, सर्व कामदुघा परमेश्वर रूप गौ के तुल्य कामधेनु (सहस्रसाम्) सहस्रों को सम्पादन करने वाले (ऋषिम्) सब के प्रेरक, सर्वदृष्टा परमेश्वर से (पयः) पुष्टिकारक दुग्ध के समान बल और वीर्य को (दुदुहे) प्राप्त करते हैं ॥

राजपक्ष में — (अह्यः अस्य प्रत्नाम् द्युतम्, शुक्रम् ऋषिम्, सहस्रसाम् पयः दुदुहे) दूर २ तक प्रज्ञा द्वारा पहुँचने वाले विद्वान् इस राजा के प्रबल = श्रेष्ठ कान्ति या वीर्य को ऋषि, व्यापक या निरीक्षक शक्ति को और (सहस्रसाम्) हजारों को, अन्न वस्त्र शरण देने वाले शक्ति और

१६—'वत्सार' गौः पयो वा देवता इति सर्वा० । अवत्सार इति ऋ० ।

पुष्टिकारक बल को, गाय से दूध के समान प्राप्त करते हैं। हजारों कार्यों के साधक प्रदीप के समान पदार्थदर्शक अनादि सिद्ध कान्ति को अग्नि से विद्वान् लोग प्राप्त करते हैं ॥ शत० २।३।४।१५ ॥

तनूपाऽअग्नेऽसि तन्वं मे पाह्यायुर्दाऽअग्नेऽस्यायुर्मे देहि वर्चोदाऽअग्नेसि वर्चो मे देहि । अग्ने यन्मे तन्वा ऊनं तन्मऽआपृण ॥ १७ ॥

अग्निदेवता । त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—हे (अग्ने) अग्ने ! परमेश्वर ! तू (तनूपाः असि) हमारे शरीरों की रक्षा करने हारा है। तू (मे) मेरे (तन्वम्) शरीर की (पाहि) रक्षा कर। हे (अग्ने) अग्ने ! (आयुर्दाः असि) तू आयु, जीवन का देने वाला है (मे आयुः देहि) मुझे आयु प्रदान कर। हे (अग्ने) अग्ने (वर्चोदाः असि) तू वर्चस्, तेज को देनेवाला है तू (मे वर्चः देहि) मुझे तेज का प्रदान कर। (यत् मे तन्वः) और जो मेरे शरीर में (ऊनं) न्यूनता हो (मे) मेरी (तत्) उस न्यूनता को (आपृण) पूर्ण कर। शरीररक्षक, जीवनरक्षक, बल, तेज के दाता, राजा से भी ऐसी प्रार्थना सम्भव है। वह हमारे शरीर के न्यून बल की पूर्ति, अपनी सद्-व्यवस्था से करे। निर्बलों का बल राजा है ॥ शत० २।३।४।१७-२० ॥

इन्धानास्त्वा शतथं हिमा द्युमन्तथं समिधीमहि वयस्वन्तो वयस्कृतथं सहस्वन्तः सहस्कृतम् । अग्ने सपत्नदग्धमनमदग्धा सोऽअदाभ्यम् । चित्रावसो स्वस्ति ते प्रारमशीय ॥ १८ ॥

चित्रावसो इत्यस्य ऋषय ऋषिः । अग्नी रात्रिश्च देवते । निचृद्ब्राह्मी पंक्तिः । पंचमः ॥

१७-१९ अवसरार ऋषिः । ८० ॥

१८-चित्रावसो इत्यस्य ऋषय ऋषिः । रात्रिदेवता आहवनीयोपस्थानमन्त्रा ११-१८ एते । म० ॥

भा०—हे राजन् ! अग्ने ! (द्युमन्तं) प्रकाशमान्, तेजस्वी, (वयस्कृतम्) आयु के बढ़ाने और देने वाले, (सहस्कृतम्) बल के देने वाले (सप्त-दम्भनम्) शत्रुओं के नाशक, (अदाभ्यम्) किसी से भी न मारने योग्य, सर्वविजयी । (त्वा) तुझ को (वयस्वन्तः) हम दीर्घायु (सहस्वन्तः) बलवान् और (अदब्धासः) शत्रुओं से कभी न मारे जाकर, अक्षुण्ण रह कर, (शतं-हिमाः) सौ वर्षों तक (इन्धानाः) तुझे प्रदीप्त और अधिक दीप्तिमान् करते हुए (सम् इधीमहि) हम भी अग्नि के समान तुझे बराबर बढ़ाते और कीर्ति में उज्ज्वल ही करते रहें । हे (चित्रावसो) नाना प्रकार के ऐश्वर्य वाले (स्वस्ति) तेरा कल्याण हो । (ते) तेरे (पारम्) पालन और पूर्ण करने वाले सामर्थ्य का मैं सदा (अशीय) भोग करूँ ।

ईश्वर पक्ष में—हे अग्ने परमेश्वर ! हम अर्हिसित, दीर्घायु, बलवान् रहकर सौ वर्षों तक तेरे हों । प्रकाशवान् स्वरूप को प्रकाशित करें ! तेरी कृपा से (पारं स्वस्ति अशीय) सर्व दुःखों को पार करके सुख भोग करें । इसी प्रकार अग्नि वा विद्युत् को भी दीर्घायु, बलकारक जीवन के शत्रुओं के नाशक रूप में प्रदीप्त करके उसको अपने उद्योग में लाकर समस्त सुखों को प्राप्त करें ॥ शत० २ । ३ । ४ । २१-२३ ॥

सं त्वमग्ने सूर्यस्य वर्चसागथाः समृषीणां स्तुतेन ।
सं प्रियेण धाम्ना समहमायुषा सं वर्चसा सं प्रजया सत्थं राय-
स्पोषेण गिम्षीय ॥ १९ ॥

अग्निदेवता । जगती । निषादः ॥

भा०—हे अग्ने राजन् ! (त्वम्) तू (सूर्यस्य वर्चसा) सूर्य के तेज से (सम् अगथाः) युक्त हो । (ऋषीणाम्) मन्त्र द्वारा ऋषियों, विद्वानों के (स्तुतेन) प्रस्तुत, उपवर्णित, उपदिष्ट सत्य ज्ञान से भी (सम् अगथाः) तू युक्त हो । (प्रियेण धाम्ना) प्रिय धाम, स्थान, नाम और जन्म इन

तीनों प्रिय धामों, तेजों से (सम्) संयुक्त हो और मैं जीव तेरी रक्षा में रहकर (आयुषा) आयु से (वर्चसा) तेज से (प्रजया) प्रजा से और (रायस्पोषेण) धनैश्वर्यों की पुष्टि द्वारा (सं गिमीय) संयुक्त होऊँ ।

ईश्वर पक्ष में—ईश्वर सूर्य के समान तेजोमय, ऋषियों के मन्त्रों द्वारा स्तुति किया गया है एवं प्रिय धारण सामर्थ्य से युक्त है । वह मुझे आयु, तेज, प्रजा, धन आदि दे । इसी प्रकार आचार्य तेजस्वी, ज्ञानी हो वह शिष्य को आयुष्मान्, तेजस्वी, प्रजावान्, ऐश्वर्यवान् बनावे ॥ शत० २ । ३ । ४ । २४ ॥

अन्ध स्थान्धो वो भक्षीय मह स्थ महो वो भक्षीयोज्जस्थोजो वो भक्षीय रायस्पोष स्थ रायस्पोष वो भक्षीय ॥ २० ॥

आपो देवता । अुरिग् बृहती । मध्यमः ॥

भा०—हे (आपः) जल के समान समस्त अन्न आदि पदार्थों के उत्पादक प्रजाजनो ! आस पुरुषो ! आप लोग अथवा हे (गावः) गौओं एवं उनके समान सर्वोत्पादक भूमियो ! आप (अन्ध.स्थ) प्राणप्रद अन्न हो । अर्थात् (वः) तुम्हारे, तुम से प्राप्त (अन्नः) अन्न को मैं (भक्षीय) खाऊँ, प्राप्त करूँ । आप (महःस्थ) बल वीर्य रूप हो, (वः महः भक्षीयः) तुम्हारे बल वीर्य का मैं भोग करूँ । (ऊर्जः स्थ) तुम उत्तम अन्न रस रूप हो (वः ऊर्जः भक्षीय) तुम्हारे बलकारी रस का मैं भोग करूँ । (रायस्पोषः स्थ) ऐश्वर्य के द्वारा प्राप्त पुष्टिरूप हो (वः रायः पोषं भक्षीय) आपके द्वारा मैं ऐश्वर्य की पुष्टि को प्राप्त करूँ । अथवा अन्न आदि नाना पदार्थों को ही सम्बोधन करके इनके सार भाग प्राप्त करने की प्रार्थना है ।

२०—याशवल्क्य ऋषिः । आपो देवता । द० ॥ २०—२२ त्रीणि गव्यानि । सर्वा० ।

अथवा अन्न दुग्धादि के उत्पादक गौओं वा भूमियों को सब कुछ मानकर
उनसे उन सब पदार्थों की प्रार्थना है ॥ शत० २ । ३ । ४ । २५ ॥

रेवती रमध्वमस्मिन्योनावस्मिन् गोष्ठेऽस्मिँल्लोकेऽस्मिन् क्षये ।
इहैव स्त मापगात ॥ २१ ॥

विश्वेदेवा देवताः । उष्णिक । ऋषभः ॥

भा०—हे (रेवतीः) धन सम्पन्न समृद्ध प्रजाओ ! आप लोग
(अस्मिन् गोष्ठे) इस गोष्ठ, गौओं वाणियों के निवास स्थान या भूमि के
आश्रयभूत (अस्मिन् क्षये) इस सब के बसाने वाले, घर के समान
आश्रयप्रद राजा पर निर्भर रहकर इस राष्ट्र में (रमध्वम्) आनन्दपूर्णक
रहो । (इह एव स्त) यहां ही रहो । (मा अपगात) यहां से दूसरे देश
मत जाओ ॥ गो पक्ष में—हे गौवो ! तुम इस गोशाला और घर में
रहो, यहां से दूर मत होओ ॥ शत० २ । ३ । ४ । २६ ।

सृष्टं हितासि विश्वरूप्यूर्जा माविश गौपत्येन ।

उप त्वाग्ने दिवेदिवे दोषावस्तर्द्धिया वयम् ।

नमो भरन्त एमसि ॥ २२ ॥

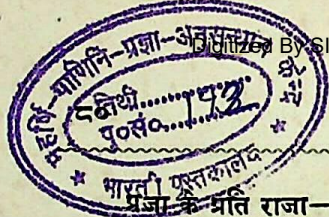
वैश्वामित्रो मधुच्छन्दा ऋषिः । अग्निदेवता । (१) भुरिऽगासुरी गायत्री,

(२) गायत्री । षड्जः ॥

भा०—हे गौ ! तू (संहिता असि) भली प्रकार से घरों में बांध ली
जाती है । तू ही (विश्वरूपी) नाना प्रकार के पशुओं के रूप धारण
करने वाली है, उनकी प्रतिनिधि है । तू (ऊर्जा) अन्न सम्पत्ति और
(गौपत्येन) गौओं के पति या स्वामित्व के यश के साथ (मा आविश)
सुखे प्राप्त हो ॥

२१—याज्ञवल्क्य ऋषिः । विश्वेदेवा देवताः । द० । अस्मिन् लोकेऽस्मिन्
गोष्ठे । शति काण्व० ॥

गौर्द० । सर्वा० ।



यजुर्वेदसंहितायां

[मं० २४]

प्रजा के प्रति राजा—हे प्रजे ! (विश्वरूपी) तू नाना रूप की है, समस्त प्रकार के जनों-प्राणियों से युक्त है । तू (संहिता असि) भली प्रकार व्यवस्था में बद्ध है । (ऊर्जा) बल से और (गौपत्येन) पृथ्वी के स्वामित्व के साथ (मा आविश) मुझे प्राप्त हो ॥

हे (अग्ने) अग्ने राजन् ! परमेश्वर ! हे (दोषावस्तः) अपने तेज से रात्रि रूप अन्धकार को आच्छादन करने हारे ! हम (दिवे दिवे) प्रतिदिन (धिया) अपनी बुद्धि और कर्म से (नमः भरन्तः) नमस्कार करते हुए या अन्नादि पदार्थ प्राप्त कराते हुए (त्वा उप एमसि) तुझे प्राप्त हों । अथवा - हे परमेश्वर प्रतिदिन हम धारणा द्वारा तेरा ध्यान करते हुए तुझे प्राप्त हों ॥ शत० २ । ३ । ४ । २३ ॥

राजन्तमध्वराणां गोपामृतस्य दीदिविम् । वर्द्धमानं स्वे दमे ॥ २३ ॥

ऋ० म० १ । १ । ८ ॥

वैश्वामित्रो मधुच्छन्दा ऋषिः । अग्निदेवता । गायत्री । षड्जः ॥

भा०—(राजन्तम्) सर्वत्र यश और प्रताप से प्रकाशमान (अध्वराणाम्) शत्रुओं से न नाश होने योग्य दुर्ग और उत्तम रक्षा के उपायों के रक्षक, (ऋतस्य) सत्य ज्ञान के (दीदिविम्) प्रकाशक, (स्वे दमे) अपने दमन कार्य में (वर्द्धमानं) सब से अधिक बढ़ने वाले तुक्त राजा को हम अन्न का उपहार करते हुए प्राप्त हों ।

ईश्वर पक्ष में—यज्ञों के रक्षक, ऋग्वेद के प्रकाशक, परम मोक्ष पद में विद्यमान, सर्वोपरि राजमान परमेश्वर की हम उपासना करें ।

अग्नि पक्ष में—इसी प्रकार प्रकाश या अग्नि को हम अपने घर में हवि से पुष्ट करें ॥ शत० २ । ३ । ४ । २७ ॥

सनः प्रितेव सुनवेऽग्रे सूपायनो भव । सचस्वानः स्वस्तये ॥ २४ ॥

ऋ० १ । १ । ९ ॥

वैश्वामित्रो मधुच्छन्दा ऋषिः । अग्निदेवता । विराड् गायत्री । षड्जः ॥

भा०—हे राजन् ! अग्ने ! प्रभो ! अग्रणी पुरुष ! (सः) वह तू (सुनवे) पुत्र के लिये पिता के समान (सु-उपायनः भव) सुख पूर्वक प्राप्त होने योग्य, शरण के समान पालक हो और (नः स्वस्तये) हमारे कल्याण के लिये (नः सचस्व) हमें प्राप्त हो । राजा प्रजा के प्रति पिता के समान हो । उनके कल्याण के लिये कार्य में नियुक्त हो । इसी प्रकार ईश्वर भी है ॥

अग्ने त्वं नोऽन्तमऽउत त्राता शिवो भवा वरूथ्यः ।

वसुरग्निर्वसुश्रवाऽअच्छा नक्षि द्युमत्तमश्च रयिं दाः ॥२५॥

ऋ० ५ । २४ । ११ ॥

[२५-२८] वन्धुः सुवन्धुः श्रुतवन्धुर्विप्रवन्धुश्चत्वार एकैकश ऋषयः । सर्वा० ।

आग्निर्देवता । भुरिगू बृहता । मध्यमः ॥

भा०—हे (अग्ने) अग्ने ! अग्रणी, राजन् (त्वं नः अन्तमः) तू हमारा सबसे निकटतम सहायक (उत) और (त्राता) रक्षक (शिवः) सुखकारी और (वरूथ्यः) हमारे गृहों के लिए हितकारी, अथवा वरूथ सेना का पति है । तू (अग्निः) सब का नेता होकर भी (वसुः) सबको बसाने वाला और (वसुश्रवाः) धन-ऐश्वर्य के कारण महान्, कीर्ति से सम्पन्न है । तू (अच्छ नक्षि) हमें भली प्रकार उत्तम रूप से प्राप्त हो और हमें (द्युमत्तमम्) अति उज्ज्वल, (रयिम्) धन-ऐश्वर्य (दाः) प्रदान कर ॥

ईश्वर पक्ष में—हे परमेश्वर ! तू हमारे (अन्तमः) निकटतम या प्राणदाताओं में सबसे श्रेष्ठ है । तू त्राता, कल्याणकर, सर्वगुणवान् है । तू (वसुः) सर्वत्र बसने वाला, सबको बसाने वाला, सर्वत्र व्यापक है । तू हमें सर्वोत्तम उज्ज्वल ऐश्वर्य दे ॥

तन्वा शोचिष्ठ दीदिवः सुम्नाय नूनमीमहे सखिभ्यः ।

स नो बोधि शुधी हवमुकृष्या णोऽअघायतः समस्मात् ॥२६॥

२५—सुवन्धुऋषिः । दे० ।

२६—सुवन्धुऋषिः । दे० ।

अग्निः । स्वराड् बृहता । मध्यमः ॥

भा०—हे (शोचिष्ठ) ज्वालायुक्त अग्नि के तुल्य तेज से अति देदीप्यमान ! हे (दीदिवः) प्रकाशयुक्त तेजस्विन् ! अग्ने ! राजन् ! (नूनम्) निश्चय से हमें (तम्) परम प्रसिद्ध (त्वा) तुझसे (सखिभ्यः) अपने मित्रों के लिये भी (ईमहे) याचना, प्रार्थना करते हैं । (सः) वह तू (नः) हमें, हमारे अभिप्राय को जान, अथवा वह तू हमें (बोधि) ज्ञान प्राप्त करा और हमारे (हवम्) स्तुति और प्रार्थना को (श्रुधि) श्रवण कर । (नः) हम (समस्मात्) सब प्रकार के (अधायतः) पापाचारी, अत्याचार करने वाले हिंसक पुरुष से (उरुष्य) बचा । ईश्वर के पक्ष में स्पष्ट है ॥ शत० १ । ३ । ३ । ३१ ॥

इह उपहृदित एहि काम्या एत । मयि वः कामधरणं भूयात् ॥२७॥

इडा अग्निर्देवता । विराड् गायत्री । षड्जः ॥

भा०—हे (इडे) इडे ! पृथिवी ! अन्नदात्रि ! (आ इहि) हमें तू प्राप्त हो । हे (अदिते) अखण्डित राज्यशासनव्यवस्थे ! अथवा पृथिवी ! (आ इहि) तू हमें अखण्ड चक्रवर्ती राज्य शासन के रूप में प्राप्त हो । हे पुरुषो ! प्रजाजनो ! (वः कामधरणम्) आप लोगों की समस्त अभिलाषों का आश्रय (मयि भूयात्) मेरे पर निर्भर हो ॥ शत० ३ । १ । ४ ३४ ॥

सोमान्धं स्वरणं कृणुहि ब्रह्मणस्पते । कक्षीवन्तं यऽत्रौशिजः ॥२८॥
ऋ० १ । १८ । १ ॥

२७—श्रुतबन्धुर्धृषिः । द० । ० 'काम्य एहि । इति काण्व० । गौदे० । सर्वा० ॥

२८—ब्रह्मणस्पतिर्धृषिः स एव देवतेति महीधरः । बृहस्पतिर्देवतेति दयानन्दः । बृहस्पतिरेव ब्रह्मणस्पतिरिति उवटः । प्रबन्धुर्धृषिः । द० ।
CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

ब्रह्मणस्पतिर्मेधातिथिर्वा ऋषिः । ब्रह्मणस्पतिर्देवता । विराड्

गायत्री । षड्जः ॥

भा०—हे (ब्रह्मणस्पते) हे ब्रह्म = वेदशास्त्र के पालक ईश्वर वा आचार्य ! तू (यः) जो (औशिजः) कान्ति या प्रताप से उत्पन्न स्वयं तेजस्वी और प्रतापी है उसको ही (सोमानं) सबका प्रेरक सोम (स्वरणम्) सब का आज्ञापक, सन्मार्ग उपदेशक और (कक्षीवन्तम्) उत्तम कार्य, उत्तम नीतिसम्पन्न, विद्वान्, राज्यप्रबन्ध आदि कार्यों में, रथ में अश्व के समान, (कृणुहि) नियुक्त कर । तेजस्वी पुरुष को विद्वान् लोग राष्ट्र का नेता, प्रवर्तक आज्ञापक और प्रभुपद पर नियुक्त करें ॥

ईश्वर पक्ष में—हे ईश्वर ! जो मैं सब विद्या का अभिलाषी हूँ मुझ को सब का साधक, सर्वविद्योपदेशक बना ॥ शत० ३ । १ । ४ । ३५ ॥

यो रेवान्यो ऽअमीवहा वसुवित्पुष्टिवर्धनः ।

स नः सिषक्तु यस्तुरः ॥ २६ ॥ ऋ० १ । १६ । ३ ॥

ब्रह्मणस्पतिर्मेधातिथिर्वा ऋषिः । ब्रह्मणस्पतिर्देवता । गायत्री । षड्जः ।

भा०—हे ब्रह्मणस्पते ! (यः) जो (देवान्) धनवान्, ऐश्वर्यवान्, (अमीवहा) रोगों और शरीर और मानस दोषों को दूर करने हारा, (वसुवित्) धनों, रत्नों का ज्ञाता अथवा (वसुवित्) राष्ट्र के वासी समस्त प्रजाजनों का ज्ञाता या प्राप्त करने वाला, उनको अपनाने वाला या वसुवित् वासस्थान, नगर, ग्रामादि एवं लोक-लोकान्तरों का ज्ञाता, प्राप्त कर्ता, उन पर वशी, (पुष्टि-वर्धनः) शरीरों की पुष्टि को बढ़ाने वाला, ईश्वर-राजा, वैद्य या हितकारी, पुत्र, मित्र है और (यः) जो (तुरः) शीघ्रकारी, बिना विलम्ब से यथोचित काल में कार्य सम्पादन करता है (सः) वह (नः) हमें (सिषक्तु) प्राप्त हो, वह हमें संयोजित करे, संगठित करे, वह हमें मिलाये रखने में समर्थ हो । धनादिसम्पन्न, रोग, दोष, अपराधों

को दूर करने में समर्थ, प्रजापोषक, प्रजारंजक, तुरन्त कार्यकर्ता, अप्रमादी राजा हों वही प्रजा को संगठित कर सकता है। ईश्वर के प्रति विशेषण स्पष्ट हैं। उवट के मत में, उक्त विशेषणों वाला पुत्र हमें प्राप्त हो ॥ शत० १ । ३ । ४ । ३५ ॥

मा नः शशंसो ऽअररुषो धूर्तिः प्रणङ् मर्त्यस्य ।

रक्षा णो ब्रह्मणस्पते ॥ ३० ॥

ऋ० १ । १८ । ३ ॥

ब्रह्मणस्पतिमें धार्तिर्वा ऋषिः । ब्रह्मणस्पतिदेवता । निचृद् गायत्री । षड्जः ॥

भा०—हे (ब्रह्मणस्पते) वेद के पालक प्रभो ! (अररुषः) अदान-शील, अराति, शत्रु का (शंसः) अनिष्टचिन्तन और (धूर्तिः) धूर्तता, हिंसाजनक प्रयोग (नः) हम तक (मा प्रणक्) न पहुँचे । तू (नः) हमें (रक्ष) बचा । अथवा हे परमेश्वर (नः शंसः मा प्रणक्) हमारी स्तुतियों नष्ट न हों और (अररुषः मर्त्यस्य धूर्तिः) शत्रु का हिंसा-प्रयोग हमें न प्राप्त हो । उससे तू (नः रक्ष) हमारी रक्षा कर ॥ शत० १ । ३ । ४ । ३६ ॥

महि त्रीणामवो ऽस्तु द्युक्षमित्रस्य अर्यम्णः दुराधर्षं वरुणस्य ॥ ३१ ॥

ऋ० १० । १५ । १५ ॥

सत्यधृतिर्वारुणिर्ऋषिः । आदिस्थः, स्वस्त्ययनम् । विराड् गायत्री । षड्जः ॥

भा०—(मित्रस्य) मित्र, (अर्यम्णः) अर्यमा और (वरुणस्य) वरुण (त्रीणाम्) इन तीनों का (महि) बड़ा (द्युक्षम्) ज्ञान-प्रकाश और न्याय का आश्रयभूत (दुराधर्षम्) एवं अमेद्य, अच्छेद्य (अवः) पालन या राज्य, प्रजापालन कार्य (अस्तु) हो । राज्य-शासन में मित्र, सब को मरने से त्राण करने वाला, रक्षा-विभाग, अर्यमा, न्याय-

३०—[३०-३३] सप्तधृतिर्वारुणिर्ऋषिः । ४० ॥

३१-३३ आदित्यदेवतम् पथि स्वस्त्ययनम् । सर्वा० ।

विभाग, वरुण, शत्रुदमन एवं थोद्धवर्ग इन तीनों द्वारा किये गये प्रजा-पालन के कार्य, नीति न्यायपूर्वक और शत्रुओं और द्रोहियों द्वारा अभेद्य हों जिनको कोई तोड़ न सके। भौतिक पक्ष में प्राण, सूर्य और बल इनका पालन कार्य हमें सदा प्राप्त हो ॥ शत० २।३।४।३७ ॥

नहि तेषाममा च न नाध्वसु वारणेपु। ईशे रिपुघशंभुः ॥३२॥

ऋ० १।१५।२ ॥

सत्यधृतिर्वारुणिर्ऋषिः। आदित्यः। निचृद् गायत्री। षड्जः ॥

भा०—(तेषाम्) उन राष्ट्रवासी प्रजाओं के (अमा चन) घरों में और (अध्वसु) मार्गों में और (वारणेपु) शत्रु, चोर, व्याघ्र आदि के निवारण करने वाले कार्यों में ही (अघ-शंसः) पापयुक्त कामों की शिक्षा देने वाला, दुष्ट षड्यन्त्रकारी पुरुष और (रिपुः) शत्रु, पापीजन (नहि, न ईशे) बल नहीं पकड़े, अथवा। पूर्वोक्त मित्र, वरुण, अर्यमा आदि के घर, मार्ग, युद्ध आदि में दुष्ट पुरुष घात नहीं लगा सकता ॥ शत० २।६।४।३७ ॥

ते हि पुत्रासो अदितेः प्र जीवसे मर्त्याय। ज्योतिर्यच्छन्त्यजस्रम् ३३

सत्यधृतिर्वारुणिर्ऋषिः। आदित्यो देवता। विराड् गायत्री। षड्जः ॥

भा०—(ते) वे मित्र, अर्यमा और वरुण पूर्वोक्त (अदितेः) अखण्ड शासन या पृथिवी के (पुत्रासः) पुत्र अर्थात् पुरुषों को पापों और दुःखों से त्राण करने वाले हैं जो (मर्त्याय) मनुष्य को (जीवसे) जीवन लाभ के लिये (अजस्रम्) अविनाशी (ज्योतिः) प्रकाश का (प्र यच्छन्ति) प्रदान करते हैं। भौतिक पक्ष में—वे (अदितेः) अखण्ड परमेश्वरी शक्ति के पुत्र उससे ही उत्पन्न हैं, वे मनुष्य को अविनाशी चेतना, जीवन प्रदान करते हैं ॥ शत० २।३।४।३७ ॥

कदा च न स्तरीरसि नेन्द्रं सश्रसि दाशुषे।

उपोपेन्नु मघवन् भूय ऽ इन्नु ते दानं देवस्य पृच्यते ॥ ३४ ॥

ऋ० ८ । ५१ । ७ ॥

मधुच्छन्दा वैश्वामित्र ऋषिः । इन्द्रो देवता । पथ्या बृहती । मध्यमः ॥

भा०—हे इन्द्र ! ऐश्वर्यवन् । राजन् ! प्रभो ! आप (कदाचन) कभी भी (स्तरीः न असि) हिंसक नहीं हैं । कभी प्रजा का द्रोह नहीं करते और (दाशुषे) आत्मसमर्पण करने वाले पुरुष को (सश्वसि) सदा सुख प्रदान करते हैं । हे (मघवन्) ऐश्वर्यवन् (ते देवस्य) तुझ राजा, विजिगीषु का (दानम्) दान, (इत् नु) ही निश्चय से (उप पृच्यते) सदा हमें प्राप्त होता है और (भूयः इत् नु उपपृच्यते) खूब ही और बार बार, बराबर हमें मिलता और सम्पन्न करता है । राजा प्रजा का घातक न हो, प्रत्युत प्रजा पर अपना ऐश्वर्य बराबर प्रदान करे, अपनी सम्पत्ति से प्रजा को लाभ पहुंचावे ॥ शत० १ । ३ । ४ । ३८ ॥

तत्सवितुर्वरेण्यम्भर्गो देवस्य धीमहि ।

धियो यो नः प्रचोदयात् ॥ ३५ ॥ ऋ० ३ । ६२ । १० ॥

विश्वामित्र ऋषिः । सविता देवता । निचृद् गायत्री । षड्जः ॥

भा०—राजा के पक्ष में—(सवितुः) समस्त देवों के प्रसविता, उत्पादक और उत्कृष्ट शासक, आज्ञापक, प्रेरक (देवस्य) विजेता महाराज के (तत्) उस (वरेण्यम्) अति श्रेष्ठ (भर्गः) पाप को भून डालने वाले तेज को हम सदा (धीमहि) धारण करें, सदा अपने ध्यान में रक्खें, (यः) नो (नः) हमारी (धियः) बुद्धियों और समस्त कार्य-व्यवहारों को (प्रचोदयात्) उत्तम मार्ग पर संचालित करता है ॥

ईश्वर पक्ष में—समस्त जगत् के उत्पादक और संचालक उस देव परमेश्वर के सर्वश्रेष्ठ, पापनाशक तेज को हम धारण करें (यः नः प्रचोदयात्) जो हमें सन्मार्ग में सदा प्रेरित करे ॥ शत० २ । ३ । ४ । ३९ ॥

परि ते दूडभो रथोऽस्माँरऽअश्रोतु विश्वतः ।

येन रक्षसि दाशुषः ॥ ३६ ॥ ऋ० ४ । ९ । ८ ॥

वामदेवो गौतम ऋषिः । अग्निदेवता । निचृद् गायत्री । षड्जः ॥

भा०—(येन) जिससे हे राजन् ! तू (दाशुषः) दानशील, करप्रद प्रजाजनों की (रक्षसि) रक्षा करता है, वह (ते) तेरा (दूडभः) अपराजित, अविनाशी, अजेय (रथः) युद्ध का साधन रथ, वज्र, बल और ज्ञान है, वह (अस्मान्) हमें (विश्वतः) सब ओर से (अश्रोतु) व्याप्त रहे, सब ओर से प्राप्त हो, हमारी रक्षा करे ॥

ईश्वर पक्ष में—जिस ज्ञान और वीर्य से वह समस्त उपासकों की रक्षा करता है वह उसका ज्ञान और बल हमें सब ओर से प्राप्त हो ॥ शत० २ । ३ । ४ । ४० ॥

भूर्भुवः स्वः सुप्रजाः प्रजाभिः स्याथं सुवीरौ वीरैः सुपोषः पोषैः ।
नयं प्रजां मे पाहि शथंस्य पशन्मे पाह्यथयं पितुम्मे पाहि ॥ ३७ ॥

आसुरिरादित्यश्वर्षी । प्रजापतिदेवता । ब्राह्मी उष्णिक् । ऋषभः ॥

भा०—(भूः भुवः स्वः) प्राण, उदान और व्यान इनके बल पर मैं पुरुष (प्रजाभिः) पुत्र पौत्र आदि सन्तानों से (सुप्रजाः) उत्तम सन्तानवाला (स्याम्) होऊँ । (वीरैः) वीर्यवान्, शूरवीर पुरुषों से मैं (सुवीरः स्याम्) उत्तम वीरों वा पुत्रों वाला होऊँ । और (पोषैः) पुष्टि-

३६—विश्वामित्र इत्यनन्तयाज्ञिकः । ० विश्वतः । समिद्धो मा समर्थव

प्रजया च धनेन च ॥ इति काण्व० ।

३७—वामदेव ऋषिः ८० । ३७—४४ तुल्लकोपस्थानमन्त्राः । सर्वाः नयैत्यादिप्रवत्स्यदुपस्थानमन्त्राः ३७—४३ पर्यन्ताः । तेषामासुरिरादित्यश्वर्षी सर्वा० । आहवनीयगार्हपत्यदक्षिणाग्नयो देवताः इति सर्वा० ० जाः प्रजया भूयासम् । सु० । ० पशन्मे पाहि इति काण्व० ॥ तुल्लकोपस्थानमासुरिदृष्टम् । प्रवत्स्यदुपस्थानमा-
शतोपस्थानं चादित्यदृष्टम् इति मही० ।

कारक धन, ऐश्वर्य और अन्न आदि पदार्थों से मैं (सु-पोषः) उत्तम पुष्टि युक्त, धन आदि सम्पन्न होऊँ । हे (नर्य) नरों, पुरुषों के हितकारिन् ! तू (मे प्रजाम् पाहि) मेरी प्रजा का पालन कर ! हे (शंस्य) स्तुति योग्य (मे पशून् पाहि) मेरे पशुओं का पालन कर और हे (अथर्य) संशयरहित, ज्ञानवान् ! (मे पितुम् पाहि) मेरे अन्न की तू उत्तम रीति से रक्षा कर । प्रत्येक प्रजाजन उत्तम सन्तानों, वीर पुरुषों और धनादि से सम्पन्न हो और राजा भी उत्तम प्रजा, वीर पुरुषों और रत्नों से युक्त हो । वह राजा और प्रजा दोनों पशु और अन्न की रक्षा के लिये हितकारी, उत्तम, ज्ञानी और गुणवान् पुरुषों को नियुक्त करें । परमेश्वर से भी यही प्रार्थना समुचित है ॥ शत० २ : ४ । १ । १-५ ॥

आगन्म विश्ववेदसमस्मभ्यं वसुवित्तमम् ।

अग्ने सभ्राड्भि द्युम्नमभि सह ऽआ यच्छस्व ॥ ३८ ॥

आदित्य आसुरिश्चर्षी । अग्निदेवता । अनुष्टुप् छन्दः । गान्धारः ॥

भा०—(विश्व-वेदसम्) समस्त ज्ञानों और धनों के स्वामी और (अस्मभ्यम्) हमारे लिये (वसुवित्तमम्) सब से अधिक धनों, ऐश्वर्यों को प्राप्त करने वा कराने वाले, या हम में से सबसे अधिक ऐश्वर्य प्राप्त करने वाले, श्रेष्ठ पुरुष को हम (आ अगन्म) प्राप्त हों, उसकी शरण में जाएँ और कहें—हे (अग्ने) हमारे अग्रणी पुरुष ! तू (सभ्राट्) हमारे में सब से अधिक प्रकाशमान सभ्राट् है । तू (द्युम्नम्) धन और अन्न को और (सहः) समस्त बल को (अभि अभि) सब ओर से (आ यच्छस्व) एकत्र कर और हमें प्रदान कर और प्रजा को प्राप्त करा ॥

ईश्वर पक्ष में—(विश्ववेदसम् वसुवित्तमम् आ अगन्म) सर्वज्ञ, ईश्वर परमात्मा की शरण में हम आवें । वह परम सभ्राट् हमें धन और बल दे ॥ शत० २ । ४ । १ । ७, ८ ॥

३८—आसुरिरिति दया० ।

अयमग्निगृहपतिर्गाहपत्यः प्रजायां वसुवित्तमः ।

अग्ने गृहपतेऽभि शुम्नमभि सह ऽत्रा यच्छस्व ॥ ३६ ॥

आसुरिरादित्यश्वर्षी । अग्निदेवता । भुरिग् बृहती न्यकुंसारिणी । मध्यमः ॥

भा०—(अयम्) यह (अग्निः) हमारा अग्रणी, नेता, राजा (गृह-पतिः) हमारे घरों का पालक होने से गृहस्वामी के समान और (गार्ह-पत्यः) गार्हपत्य अग्नि के समान समस्त गृहस्वामियों से संयुक्त है अथवा राष्ट्ररूप गृह का स्वामी है । वह (प्रजायाः) समस्त प्रजा के (वसुवित्तमः) समस्त ऐश्वर्य प्राप्त करने वालों में सबसे श्रेष्ठ है । हे (अग्ने) अग्रणी ! ज्ञानवन् ! हे (गृहपते) गृहों के स्वामिन् ! (शुम्नम् सहः अभि आ यच्छस्व) तू बल और अन्न और धन ऐश्वर्य को सब प्रकार से नियत कर और हमें प्राप्त करा । राजा अन्य समस्त गृहस्थ प्रजा की संयुक्तशक्ति से स्थापित होकर स्वयं भी गृहस्थ रहे । वह भी सब के समान गृहस्थ, सब का स्वामी, सब के लिये अन्न और धन का आयोजक हो । ईश्वर पक्ष में—वह सबके गृहों का स्वामी, उपास्य है, वह भी महान् 'गृहपति' है । वह सब को अन्न, बल दे ।

अयमग्निः पुरीष्यो रयिमान् पुष्टिवर्द्धनः ।

अग्ने पुरीष्याभि शुम्नमभि सह ऽत्रा यच्छस्व ॥ ४० ॥

आसुरिरादित्यश्वर्षी । अग्निदेवता । निचृदनुष्टुप् । गांधारः ॥

भा०—(अयम्) यह (अग्निः) अग्रणी नेता पुरुष (पुरीष्यः) लक्ष्मी और ऐश्वर्य प्राप्त करने और प्रजा को पुष्ट करने योग्य कर्मों का साधक इन्द्र या राजपद प्राप्त करने योग्य है, देवों वा राजाओं, प्रजाओं

३६—आसुरिरिति दया० ॥ आहवनीयो दे० । सर्वा० ॥ ० प्रजावान् वसु-वित्तमः । इति काण्व० ।

४०—अन्वाहार्यपचनो दे० इति सर्वा० ।

के भी ऊपर वशकारी है और यह (रयिमान्) ऐश्वर्यवान् और (पुषि-
वर्धनः) प्रजा के बल और ज्ञान को बढ़ाने वाला है । हे (अग्ने) अग्ने
राजन् ! हे (पुरीष्य) पुरीष्य ! इन्द्रासनयोग्य पुरुष ! (द्युम्नं अभि
सहः अभि आरीच्छस्व) धन और बल को हमें प्राप्त करा ।

पुरीष्यः—पुरीष्य इति वै तमाहुयः श्रियं गच्छति । समानं वै पुरीषं
च करीषं च । श० २ । १ । १ । ७ ॥ पुरीषम् इमं पृथिवी । श० । १२ ।
५ । २ । ५ ॥ ऐन्द्रं हि पुरीषम् । श० ८ । ५ । ४ । ६ ॥ आत्मा के
पक्ष में—पुरीतत् पुरीषम् । श० ८ ! ४ । ४ । ६ ॥ ईश्वर पक्ष में—
दिशः पुरीषम् । श० ८ । ७ । ४ । १७ ॥ सूर्य पक्ष में—नक्षत्राणि
पुरीषम् । श० ८ । ७ । ४ । १४ ॥ शरीर के अग्नि पक्ष में—मांसं पुरी-
षम् । शत० ८ । ७ । ४ । १७ ॥ जाठराग्नि पक्ष में—अन्नं पुरीषम् ।
श० ८ । १ । ४ । ५ ॥ इत्यादि ॥

गृहा मा विभीत मा वेपध्वमूर्जं बिभ्रत् एमसि ।

ऊर्जं बिभ्रद्दः सुमनाः सुमेधा गृहानैमि मनसा मोदमानः ॥४१॥
आसुरिरादित्यः शंयुश्च वार्षस्पत्य ऋषयः । वास्तुपातिरग्निदेवता । आधी, पांक्तिः । पन्नमः ॥

भा०—हे (गृहाः) गृहस्थ पुरुषो ! आप लोग (मा विभीत)
मत डरो, हम सैनिक राजपुरुषों से भय मत करो । (मा वेपध्वम्) मत
कांपो, दिल में मत घबराओ । जब हम (ऊर्जम्) विशेष बल (बिभ्रत्)
धारण करते हुए (एमसि) जावें और मैं राजा या अधिकारी पुरुष भी
(ऊर्जम्) बल (बिभ्रत्) धारण करता हुआ (सु-मनाः) शुभ मन से
और (सु-मेधाः) उत्तम बुद्धि से युक्त होकर (मनसा मोदमानः) अपने
मन से प्रसन्न होता हुआ (गृहान्) गृहों को, गृहस्थ पुरुषों को (एमि)
प्राप्त होऊँ । प्रजाजन राजपुरुषों को देख कर भय न करें । राजा के
अधिकारी प्रसन्न, उत्तम चित्त होकर प्रजाजनों के पास जावें ।

४१—आसुरिर्ऋषिः । इति दया० ।

येषामध्येति प्रवसन्त्येषु सौमनसो बहुः ।

गृहानुपह्वयामहे ते नो जानन्तु जानतः ॥ ४२ ॥

शंयुर्ऋषिः । वास्तुपतिरग्निदेवता । अनुष्टुप् । गांधारः ॥

भा०—(प्रवसन्) दूर प्रवास में रहता हुआ पुरुष (येषाम्) जिनकी (अधिःपति) याद किया करता है और (येषु) जिनके बीच में (बहुः) बहुत अधिक (सौमनसः) परस्पर शुभचिन्ता, एवं सुहृद्भाव है उन (गृहान्) गृहस्थ पुरुषों को हम उनके ही कृतज्ञ पुरुष (उपह्वयामहे) उनको पुकारते हैं । (ते) वे (नः जानतः) हम जानकार लोगों को पुनः (जानन्तु) जानें, पहचानें । हम दूसरे नहीं, राज-कारकों से दूर जाकर भी हम तुम्हें भूले नहीं, प्रत्युत तुम्हारे पास प्रेमभाव से आते हैं ॥

उपहूता ऽइह गावऽउपहूता ऽअजावयः ।

अथो ऽअन्नस्य कीलालऽउपहूतो गृहेषु नः ।

क्षेमाय वः शान्त्यै प्रपद्ये शिवं शम्भुं शंयोः शंयोः ॥ ४३ ॥

शंयुर्ऋषिस्तस्य ऋषिः । वास्तुपतिदेवता । भुरिग् जगती । निषादः ॥

भा०—(इह) यहाँ, राष्ट्र में और गृह में (गावः) दुधार गौवं (उपहूताः) हमें प्राप्त हों । (अजावयः उपहूताः) बकरियाँ और भेड़ें प्राप्त हों । (अन्नस्य) प्राण धारण करने में समर्थ भोग्य पदार्थों में से (कीलालः) उत्तम अन्न आदि पदार्थ (नः) हमारे (गृहेषु) घरों में (उपहूतः) प्राप्त हो । हे गृहो ! गृहस्थ पुरुषो ! (वः) तुम लोगों के पास मैं (क्षेमाय) आप लोगों की कुशल क्षेम, रक्षा के लिये और (शान्त्यै) विघ्नों और विघ्नकारियों को शान्त करने और सुख प्रदान करने के लिये (प्रपद्ये) तुम्हें प्राप्त होऊँ । (शंयोः शंयोः) सुख शान्ति-दायक, प्रत्येक उपाय से (शिवम् शम्भुम्) कल्याण और सुख ही प्राप्त हो ॥

प्रघासिनो हवामह मरुतश्च रिशादसः ।

करम्भेण सजोषसः ॥ ४४ ॥

[४४-६३] प्रजापतिर्ऋषिः । मरुतो देवता । गायत्री । षड्जः ॥

भा०—हम लोग (प्रधासिनः) उत्तम अन्न के भोजन करने हारे (रिशादसः) हिंसकों के विनाशक और (करम्भेण) उत्तम कर्म करने हारे पुरुष के साथ (सजोषसः) प्रेम करने वाले (मरुतः) विद्वान्, शूरवीर प्रजा के पुरुषों को (हवामहे) अपने घरों पर बुलावें, निमन्त्रित करें अथवा (करम्भेण सजोषसः) करम्भ=यवमय अन्न से तृप्त होने वाले प्रेमी पुरुषों को अपने यहां बुलावें ॥ शत० २ । ५ । २ । २१ ॥

यद् ग्रामे यदरण्ये यत्सभायां यदिन्द्रिये ।

यदेनश्चकृमा वयमिदन्तदवयजामहे स्वाहा ॥ ४५ ॥

प्रजापतिर्ऋषिः । मरुतो देवता । स्वराड् अनुष्टुप् । गांधारः ॥

भा०—(वयम्) हम (यद् एनः) जो पाप, अपराध, अयुक्त कार्य, निषिद्धाचरण (ग्रामे) ग्राम में करें, (यत् अरण्ये) जो बुरा काम जंगल में करें, (यत् सभायाम्) जो बुरा कार्य हम सभा में करें और जो काम हम (इन्द्रिये) आंख, नाक, कान और मन में भी, उनकी कुवेष्टा और दुरिच्छारूप से (चकृम) करें (तत्) उसको हम (अवयजामहे) सर्वथा त्याग दें । (स्वाहा) यह प्रत्येक व्यक्ति अपने प्रति दृढ़ भावना किया करे ॥ शत० २ । ५ । २ । २५ ॥

‘क्षत्रं वा इन्द्रो विशो मरुतः’ क्षत्रं वै निषेद्धा, विशो निषिद्धा आसन्निति ॥ शत० २ । ५ । २७ ॥

मा षू णऽइन्द्रात्र पृंसु देवैरस्ति हि ष्मा ते शुष्मिन्नवयाः ।
महश्चिद्यस्य मीदुषो यव्या हविष्मतो मरुतो वन्दते गीः ॥ ४६ ॥

(ऋ० १ । १७३ । १२)

४६—अथातश्चातुर्मास्यमन्त्राः आ अध्यायपरिसमाप्तेः । चातुर्मास्यानि प्रजापतेरार्षम् । सर्वा० ॥

अग्रस्त्य ऋषिः । इन्द्रो मरुतश्च देवताः । भुरिक् पंक्तिः । पंचमः ॥

भा०—हे (इन्द्र) इन्द्र ! राजन् ! (अत्र) इस राष्ट्र में रहते हुए (नः) हमें (मा) सर्थथा मत मार, मत कटा । (सु) प्रत्युत उत्तम रूप से हमारी रक्षा कर । हे (शुष्मिन्) बलशालिन् ! (हि) निश्चय से (देवैः) देव, विजयशील सैनिकों सहित (ते) तेरा (अवयाः) पृथक् भाग (अस्ति) है । अर्थात् अन्नादि पदार्थों के लिये राजा अपना कर प्रजा से नियत भाग में लेले । उसके लिये वह प्रजा का संग्रामों में नाश न करे । (यस्य) जिस (मीढुषः) नाना सुखों के प्रवर्षक, उदार राजा के लिये (यव्या) यवों, अन्नों के बने उत्तम पदार्थ ही (महः चित्) बड़ी भारी पूजा सत्कार हैं और जिस (हविष्मतः) अन्न से सम्पन्न या अस्त्रादि से सम्पन्न (मरुतः) प्रजागणों या मारणशील सैनिक अधिकारीगण की (गीः) वाणी ही (वन्दते) वन्दना करती है उस तुझ इन्द्र के लिये प्रजा का अवश्य पृथक् भाग है । प्रजा राजा को उत्तम अन्नों से सत्कार करे और अधिकारियों को आदर से नमस्कार करे और वे उसी को अपना पर्याप्त सत्कार समझे ॥ शत० २ । ५ । २ । २८ ॥

अक्रन् कर्म कर्मकृतः सह वाचा मयोभुवा ।
देवेभ्यः कर्म कृत्वास्तं प्रेत सचाभुवः ॥ ४७ ॥

प्रजापतिर्ऋषिः । अग्निर्देवता । विराड् अनुष्टुप् । गांधारः ॥

भा०—(कर्म-कृतः) काम करने वाले पुरुष (वाचा सह) अपनी वाणी से (मयोभुवः) परस्पर एक दूसरे को सुख शान्ति प्रदान करते हुए (कर्म) काम (अक्रन्) करें । और हे (कर्म-कृतः) काम करने वाले कर्मचारी पुरुषो ! (देवेभ्यः) देवों, विद्वान् राजा आदि धनदाता पूज्य पुरुषों के लिये (कर्म कृत्वा) काम या सेवा करके (सचाभुवः)

परस्पर साथ मिल कर एक दूसरे के सहाय से सामर्थ्यवान् होकर प्रसन्नता पूर्वक (अस्तं प्र इत) अपने अपने घर को जाया करो ॥ शत० १ । ५ । १ २९ ॥

अवभृथ निचुम्पुण निचेरुरसि निचुम्पुणः । अव देवैर्देवकृतमे-
नोऽयासिषमव मर्त्यैर्मर्त्यकृतम्पुरुषाव्णो देव रिषस्पाहि ॥ ४८ ॥

प्रजापतिर्ऋषिः । यज्ञो देवता । ब्राह्मी अनुष्टुप् । गांधारः ॥

भा०—हे (अवभृथ) अवभृथ, सबको नीचे से ऊपर तक भरण-पोषण करने हारे ! हे (निचुम्पुण) सर्वथा मन्द मन्द गति से चलने हारे ! अथवा नीचे स्वर से सम्यक्ता पूर्वक कहने हारे ज्ञानी पुरुष ! तू (निचेरुः) सब ज्ञानों को भली प्रकार संग्रह करने हारा और (निचुम्पुणः असि) सर्वथा मन्द गति, अति शान्ति से सर्वत्र पहुँचने हारा या अति शान्ति से वार्तालाप करनेहारा है । मैं भी (देवैः) देवों, अपने इन्द्रिय आदि प्राणों से, अथवा विद्वानों के द्वारा (देव-कृतम्) देवों, युद्ध विजयी सैनिकों द्वारा युद्ध में किये (एनः) घात-प्रतिघात आदि के अपराध को (अव अयासिषम्) दूर करता हूँ । (मर्त्यैः) साधारण मनुष्यों के द्वारा (मर्त्य-कृतम् एनः अव अयासिषम्) मनुष्यों के किये पाप को दूर करूँ । हे (देव) देव ! राजन् ! (पुरु-राव्णः) अति अधिक रुलाने वाले, अति कष्टदायी (रिषः) हिंसक शत्रु पुरुष से तू (पाहि) हमारी रक्षा कर । राजा सबका पालन और अति शान्ति से शनैः २ सब कार्य करे । अधिकारी लोगों के अपराधों को उनकी व्यवस्था द्वारा दूर करे और प्रजा के अपने लोगों से प्रजा के परस्पर घात-प्रतिघात को रोके । बाहर के कष्टदायी शत्रु से राजा प्रजा की रक्षा करे । यज्ञपक्ष में—हे ज्ञानवन् ! आप ज्ञान से

४८—भौर्णवाभ ऋषिः । ८० । १ चुप मंदागयांगातौ (भ्वादिः) निपू-
र्वादतः उणः प्रत्ययः । नीचैरास्मिन् कथन्ति इति ।

शुद्ध हैं और अन्तर्यामी भीतर ही भीतर उपदेश करते हैं । (देवैः देवकृतमेनः अयासिषम्) इन्द्रियों की तपस्या से इन्द्रियगत पापों को दूर करुं । पुरुषों द्वारा पुरुषों के दोष दूर करुं । हे परमात्मन् ! आप हमारी पाप से रक्षा करें ॥ शत० २ । ५ । २ । ४७ ॥

पूर्णं दर्वि परा पत सुपूर्णा पुनरापत ।
वस्नेव विक्रीणावहाऽइषमूर्जं शतक्रतो ॥ ४६ ॥

श्रीर्णवाम ऋणिः । यज्ञो देवता । अनुष्टुप् छन्दः । गान्धारः ॥

भा०—हे (दर्वि) देने योग्य पदार्थों को अपने भीतर लेने वाली पात्रिके ! (पूर्णा) तू पूर्ण होकर, भरी भरी (परा पत) दूसरे के पास जा । (सुपूर्णा) खूब पूर्ण होकर, भरी भरी ही (पुनः) फिर (आ पत) हमें भी प्राप्त हो । हे (शत-क्रतो) सैकड़ों कर्म करने में समर्थ इन्द्र ! राजन् ! (वस्ना इव) विक्रय करने योग्य पदार्थों के समान ही हम (इषम्) अन्न और मन चाहे सभी पदार्थ और (ऊर्जम्) अपने बल पराक्रम का भी (विक्रीणावहे) विनिमय करें, लें, दें । व्यापार में परिमाण पूरा पूरा दें और पूरा पूरा लें । इस प्रकार अन्न और मन चाहे सभी पदार्थ और परिश्रम को भी अदला बदला करें ।

यज्ञ पक्ष में—भरकर चमस डालें और फिर उत्तम वृष्टि आदि फल भी खूब प्राप्त हों । अन्न आहुति अग्नि में दें और विनिमय में उत्तम रस-बल और अन्नोत्पत्ति प्राप्त करें ।

देहि मे ददामि ते नि मे धेहि नि ते दधे ।

निहारं च हरासि मे निहारन्निहराणि ते स्वाहा ॥ ५० ॥

श्रीर्णवाम ऋणिः । इन्द्रो देवता । मुरिग् अनुष्टुप् । गान्धारः ॥

५० इन्द्रो दे० । सर्वा० ॥—‘० ते दधौ ! निहारं निहरामि ते निहारं निहरासि मे स्वाहा ।’ इति काण्व० ।

भा०—व्यापार के लेन देन का नियम दर्शाते हैं । (मे देहि) तुम अपना पदार्थ मुझे दो तो मैं भी (ते ददामि) तुम्हें अपना पदार्थ दूँ । (मे निधेहि) तुम मेरा पदार्थ धरो, गिरवी रखो तो (ते निदधे) मैं तुम्हारे पदार्थ को भी अपने पास रखूँ । (निहारं च) और तू यदि पूर्ण मूल्य का ये पदार्थ (मे हरासि) मेरे पास ले आवो तो (ते) तेरे द्रव्य का भी (निहारं) पूर्ण मूल्य (नि हराणि) चुका दूँ । (स्वाहा) इस प्रकार सत्यवाणी, व्यवहार द्वारा व्यापार किया जाता है । अथवा इस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति अपना पदार्थ प्राप्त करे । लोग सत्यवाणी पर विश्वास करके परस्पर लें दें, उधार करें और मूल्य चुकाया करें ॥ शत० १ । ५ । ३ । १९ ॥

अन्नमीमदन्त ह्यव प्रिया ऽअधूषत ।
अस्तोषत स्वभानवो विप्रा नविष्ठया मती योजान्विन्द्र ते हरी । ५१

ऋ० १ । ८२ । २ ॥

गातमा राहूगण ऋषिः । इन्द्रा देवता । विराट् पंक्तिः । पंचम स्वरः ॥

भा०—(स्वभानवः) स्वतःप्रकाश, आत्मज्ञानी पुरुष (अक्षन्) अन्न का भोजन करें । (अमीमदन्त) सब को प्रसन्न करें और स्वयम् भी तृप्त हों । (प्रियाः) सब प्रिय, प्रेमपात्र होकर (अव अधूषत) सबके दुःखों को दूर करें और (विप्राः) विशेष ज्ञान से परिपूर्ण, विपश्चित्, ज्ञानी पुरुष (नविष्ठया) अति प्रशस्त, नई, नई, पुनः (मती) मति, मनन द्वारा (अस्तोषत) ईश्वर एवं अन्य पदार्थों के सत्यगुणों का वर्णन करें । हे (इन्द्र) इन्द्र राजन् ! सेनापते ! तू (ते) तेरे, अपने (हरी) हरणशील घोड़ों के समान बल और पराक्रम को भी (योज नु) इस राज्य कार्य में संयोजित कर । विद्वान् लोग सब पदार्थों का उत्तम उत्तम ज्ञान प्रस्तुत करें और राजा बल, पराक्रम द्वारा उनका उपयोग करे ॥ शत० २ । ६ । १ । ३८ ॥

मं० ५३]

तृतीयोऽध्यायः

६७

सुसंदृशं त्वा वयं मघवन्वन्दिषीमहि । प्र नूनं पूर्णवन्धुर
स्तुतो यासि वशान् अनु योजा न्विन्द्र ते हरी ॥ ५२ ॥

ऋ० १ । ८२ । ३ ॥

गातमो राहूगण ऋषिः । इन्द्रो देवता । विराट् पंक्तिः । पंचमः ॥

भा०—हे (मघवन्) ऐश्वर्यवन् ! (सुसंदृशम्) उत्तम रूप से
सब को देखने हारे (त्वा) तुझको (वयं) हम (वन्दिषीमहि) अभि-
वादन करते हैं । तू (पूर्ण-बन्धुरः) पूर्ण रूप से सबका पालने हारा, एवं
सबको व्यवस्था में रखने हारा होकर (स्तुतः) सबसे प्रशंसित होकर
(नूनम्) निश्चय से (वशान् अनु) कामना योग्य समस्त पदार्थों को
(प्र यासि) प्राप्त कर और हे (इन्द्र) राजन् ! तू अपने (हरी) रथ
में अश्वों के समान दूरगामी एवं नाना पदार्थ प्राप्त कराने वाले बल
पराक्रम दोनों को (योज नु) नियुक्त कर । अर्थात् जिस प्रकार रथ पर
सब उपकरण लगा कर ही अपने घोड़े जोड़ता है, उसी प्रकार राष्ट्र में
सब व्यवस्था करके अपने बल पराक्रम का प्रयोग कर ॥ शत० २ । ६ ।
१ । ३३ ॥

मनो न्वाह्वामहे नाराशंसेन स्तोमेन । पितॄणां च मन्मभिः ॥ ५३ ॥

ऋ० १० । ५७ । ३ ॥

बन्धुऋषिः । मनो देवता । अतिपादनिचृद् गायत्री । षड्जः ॥

भा०—(नाराशंसेन) विद्वान् नेता मनुष्यों के कथा-प्रवचन
सम्बन्धी (स्तोमेन) गुणानुवाद से और (पितॄणां च) पालन करने
वाले ज्ञानी गुरुजनों के (मन्मभिः) ज्ञानसाधन, प्रमाणों या मनन
करने योग्य मन्तव्यों द्वारा हम लोग (मनः) मन को, अपने ज्ञान और
संकल्प विकल्प करने वाले अन्तःकरण की शक्ति को (आह्वामहे) बढ़ावें ।

५३—०न्वाहुवामहे ० इति कायत्र०, ऋ० ।

बड़े पुरुषों के जीवनो और अनुभवों और उनको युक्ति-परम्परा और ज्ञानमय उपदेशों और परस्पर प्रतिस्पर्द्धा से हम अपने ज्ञान को बढ़ावें ॥ शत० २ । ६ । १ । ३९ ॥

आ० न ऽएतु मनः पुनः क्रत्वे दत्ताय जीवसे ।

ज्योक् च सूर्यं दृशे ॥ ५४ ॥ ऋ० १० । ५७ । ४ ॥

बन्धुर्ऋषिः । मनो देवता । विराड् गायत्री । षड्जः स्वरः ॥

भा०—(नः) हमें (पुनः) बार २ (क्रत्वे) उत्तम विद्या और उत्तम कर्म, अनुभूत संस्कार को पुनः स्मरण के लिये और (ज्योक् च) चिरकाल तक (जीवसे) जीवन धारण करने के लिये और (सूर्यम्) सबके सूर्य के समान ज्योतिर्मय परमेश्वर के (दृशे) देखने के लिये (मनः) मनः शक्ति या ज्ञान शक्ति (आ एतु) प्राप्त हो ॥ शत० २ । ९ । १ । ३९ ॥

पुनर्नः पितरो मनो ददातु दैव्यो जनः ।

जीवं व्रातथं सचेमहि ॥ ५५ ॥ ऋ० १० । ५७ । ५ ॥

बन्धुर्ऋषिः । मनो देवता । निचृद् गायत्री । षड्जः स्वरः ॥

भा०—हे (पितरः) पालक पूजनीय पुरुषो ! (दैव्यः जनः) देवों, विद्वानों में सुशिक्षित या देव परमेश्वर में निष्ठ आचार्य या देव, ईश्वरीय दिव्य शक्तियों, ईश्वर प्रदत्त अध्यात्म प्राणों का वशीकर्ता, विश (जनः) जन (नः) हमें पुनः १ (मनः) ज्ञान (ददातु) प्रदान करे । हम लोग (जीवं) जीवन और (व्रातम्) उत्तम व्रतों, कर्मों को (सचेमहि) प्राप्त हों । अर्थात् राज्य के पालक लोगों के प्रबन्ध से विद्वान् पुरुषों से हम ज्ञान प्राप्त करें, दीर्घ जीवन जीवें और सत्कर्म करें ॥ शत० २ । ६ । १ । ३९ ॥

व्यथं सोम व्रते तव मनस्तनूषु विभ्रतः ।

प्रजावन्तः सचेमहि ॥ ५६ ॥

ऋ० १० । ५७ । ६ ॥

बन्धुर्ऋषिः । सोमो देवता । गायत्री । ण्डजः ॥

भा०—हे (सोम) सबके प्रेरक राजन् ! परमेश्वर ! (वयम्) हम (तव) तेरे (व्रते) बनाये शासन कर्म में वर्तमान रह कर और (तनूषु) अपने शरीरों और आत्माओं में (तव) तेरे दिये (मनः) ज्ञान को (विभ्रतः) धारण करते हुए (प्रजावन्तः) प्रजा पुत्र आदि से युक्त होकर (सचेमहि) सुख प्राप्त करें ।

एष ते रुद्र भागः सह स्वस्त्राम्बिकया तं जुषस्व स्वाहा ।

एष ते रुद्र भागः ऽआखुस्ते पशुः ॥ ५७ ॥

प्रजापतिर्ऋषिः । रुद्रो देवता । निचृदनुष्टुप् । गांधारः ॥

भा०—हे (रुद्र) दुष्ट जनों को रूलाने हारे राजन् ! (ते एषः भागः) तेरा यह सेवन करने योग्य अंश है । (तं) उसको (स्वस्त्रा) अपनी भगिनी, सेना और (अम्बिकया) माता, पृथिवी के साथ (जुषस्व) स्वीकार कर । (स्वाहा) यह हमारा उत्तम त्याग है । हे (रुद्र) विद्वन् ! राजन् ! (ते) तेरा (एषः) यह (भागः) सेवन करने योग्य अंश है । (आखुः) भूमि को चारों ओर धातुओं, ओषधियों के खोदने वाला खनक वर्ग (ते) तेरे निमित्त नाना पदार्थों का (पशुः) देखने वाला है । वह तेरे लिये अभिमत लोह आदि धातु और औषध आदि पदार्थ प्राप्त कराता है । अथवा हे रुद्र ! विद्वन् ! (एष ते भागः) यह तेरा सेवन करने योग्य भाग है । (स्वस्त्रा अम्बिकया) उत्तम विवेककारिणी वेदवाणी से उसका विवेक करके (जुषस्व) सेवन करो । (ते पशुः आखुः) तेरा दर्शनकारी चित्त ही सबको चारों ओर खनन करने हारा है, वह तेरा पशु है । वह तुझे सर्वत्र पहुंचाने वाला है । अध्यात्म में—हे रुद्र ! प्राण ! यह अन्न

५७—बन्धुर्ऋषिः । ६० ।

तेरा है । इसे विवेककारिणी वाणी के साथ भोग कर । चारों तरफ व्याप्त वायु या प्राण ही तेरा पशु, तेरे वाहन के समान हैं ॥ शत० २ । ६ । २ । १० ॥

अव रुद्रमदीमह्यव देवं त्र्यम्बकम् । यथा नो वस्यसस्करद्यथा नः श्रेयसस्करद्यथा नो व्यवसाययात् ॥ ५८ ॥

प्रजापतिर्ऋषिः । रुद्रो देवता । विराट् पंक्तिः । पंचमः ॥

भा०—(रुद्रम्) दुष्टों को रूखाने वाले (त्रि-अम्बकम्) तीनों कालों में ज्ञानमय वेद वाणी से तीन रूप अथवा उत्साह, प्रज्ञा, नीति आदि तीन शक्तियों से युक्त (देवम्) राजा से (अदीमहि) अपने समस्त कष्टों का अन्त करवावें । (यथा) जिससे वह (नः) हमें (वस्यसः) अपने राष्ट्र का सबसे उत्तम वासी, (करत्) बनावे और (यथा) जिससे वह (नः) हमें (श्रेयसः) सबसे श्रेष्ठ पदाधिकारी (करत्) बनावे और (यथा) जिससे वह (नः) हमें (वि-अवसाययात्) उत्तम व्यवसाय वाला, दृढ़ निश्चयी, कर्म में सफल यत्नवान् बनावे ॥ शत० २ । ६ । २ । ११ ॥

ईश्वर पक्ष में—हम उत्पत्ति, स्थिति, तप आदि तीन शक्तियों से युक्त ईश्वर से अपने दुःख दूर करावें, वह हमें सर्वश्रेष्ठ बनावे ॥ शत० २ । ६ । २ । ११ ॥

भेषजमसि भेषजङ्गवेऽश्वाय पुरुषाय भेषजम् । सुखमेषाय मेष्ट्यै ॥ ५९ ॥

प्रजापतिर्ऋषिः । रुद्रो देवता । स्वराट् गायत्री । षड्जः ॥

भा०—हे (रुद्र) रुद्र ! तू (भेषजम् असि) समस्त रोगों को

५८—[५८, ५९] बन्धुर्ऋषिः । द० ।

५९—‘० ० सुगां मेषाय०’ इति काण्व० ।

दूर करने में समर्थ है । अतः (गवे) गौओं (अश्वाय) घोड़ों और (पुरुषाय) पुरुषों के लिये भी तू (भेषजम्) उनके रोगों का नाशक है । तू ही (मेषाय) भेष, मेढ़ा, पुरुष और (मेश्यै) मेड़ी या स्त्री के लिये भी (सुखम्) सुखकारी है । अध्यात्म में गौ—ज्ञानेन्द्रिय । पुरुष—देह । मेष—आत्मा । मेषी-चित्तिशक्ति । इन सबके कष्टों का वारक, वह रुद्र प्राण और प्राणों का प्राण परमेश्वर है ॥ शत० २ । ६ । १ । १२ ॥

त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धिं पुष्टिवर्धनम् ।
 उर्वारुकमिव बन्धनान्मृत्योर्मुक्षीय मामृतात् ।
 त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धिं पतिवेदनं ।
 उर्वारुकमिव बन्धनाद्वितो मुक्षीय मामुतः ॥ ६० ॥

वसिष्ठ ऋषिः । रुद्रो देवता । विराड् ब्राह्मी त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—(त्रि-अम्बकम्) तीन शक्तियों से सम्पन्न (सुगन्धिम्) उत्तम मार्ग में प्रेरणा करने वाले । (पुष्टिवर्धनम्) प्रजा के पोषण कार्य को बढ़ाने वाले राजा का हम (यजामहे) सत्संग करें, साथ दें, उसका आदर करें ! जिससे मैं प्रजाजन (मृत्योः बन्धनात्) मृत्यु के बन्धन से (उर्वारुकम् इव) लता के बन्धन से पके खरबूजे के समान (मुक्षीय) स्वयं मुक्त रहूँ, (अमृतात् मा) और अमृत अर्थात् जीवन वा मोक्ष से मुक्त न होऊँ । इसी प्रकार (सुगन्धिम्) उत्तम मार्ग में प्रेरणा करने वाले (पति-वेदनम्) पालक पति को प्राप्त कराने वाले (त्र्यम्बकम्) वेद-त्रयी रूप ज्ञान से युक्त राजा का (यजामहे) हम आदर करते हैं । जिससे मैं (उर्वारुकम् इव) लताबन्धन से खरबूजे के समान (इतः बन्धनात्) इस लोक के बन्धन से (मुक्षीय) मुक्त हो जाऊँ । (मा अमुतः) उस पारमार्थिक सम्बन्ध से न छूटूँ ।

ईश्वर पक्ष में—शक्तित्रय से युक्त परमेश्वर की हम उपासना करें जिससे मैं मृत्यु के बन्धन से मुक्त होऊँ और अमृत अर्थात् मोक्ष से दूर न होऊँ। परम पालक को प्राप्त कराने वाले इस ईश्वर की पूजा करें, जिससे हम इस देह-बन्धन से छूटें, उस परम मोक्ष से वञ्चित न रहें। स्त्रियों भी प्रार्थना करती हैं—‘उत्तमपति (पालक) प्राप्त कराने वाले परमेश्वर की हम उपासना करते हैं कि इस पितृ-बन्धन से छूटें और उस पतिबन्धन से वियुक्त न हों ॥ शत० २।६।२।१२।१४ ॥

एतत्ते रुद्रावसं तेन परो मूजवतोऽतीहि । अवततधन्वा
पिनाकावसः कृत्तिवासा अहिंसन्नः शिवोऽतीहि ॥ ६१ ॥

रुद्रो देवता । भुरिगास्तारपांक्तिः । पंचमः ॥

भा०—हे (रुद्र) शत्रुओं के हलाने वाले शूरवीर ! (ते) तेरा (एतत्) यह (अवसम्) रक्षण सामर्थ्य है, (तेन) उससे (परः) उत्तम सामर्थ्यवान् होकर (मूजवतः) घास, वन आदि वाले महा पर्वतों को भी (अति इहि) पार करने में समर्थ है। तू (अवतत-धन्वा) धनुष कसे, (पिनाकावसः) शत्रुओं को दमन करने में समर्थ बल से युक्त होकर (कृत्ति-वासाः) चर्म के समान आच्छादन वस्त्र धारण किये हुए (नः) हमें (अहिंसन्) न विनाश करता हुआ (शिवः) सुख पूर्णक (अति इहि) गुज़र जा ॥ शत० ६।६।२।७ ॥

त्र्यायुषं जमदग्नेः कश्यपस्य त्र्यायुषम् ।

यद् देवेषु त्र्यायुषं तन्नोऽअस्तु त्र्यायुषम् ॥ ६२ ॥

६१—‘एतेन रुद्रावसेन परोः’ इति काण्व० । अतः परन्तु काण्व० अधिकम् ॥

६२—रुद्रो देवता । द० । कश्यपस्य त्र्यायुषं जमदग्नेः०, यदेवानां० तन्मे० इति काण्व० ॥

नारायण ऋषिः । अग्निदेवता । उष्णिक् । ऋषभः ॥

भा०—(जमदग्नेः) नित्य प्रज्वलित, तीव्र जाठर अग्नि से युक्त या देदीप्यमान चक्षु वाले तत्त्वदर्शी पुरुष को जो (त्र्यायुषम्) बाल्य, यौवन, वार्धक्य आदि तीनों अथवा त्रिगुणी आयु प्राप्त होती है और (कश्यपस्य) कश्य अर्थात् ज्ञान के पालक पुरुष को जो (त्रि-आयुषम्) त्रिगुण बाल्य आदि तीनों आयु प्राप्त होती है (यत्) और जो (देवेषु) देव, विद्वान् पुरुषों में (त्रि-आयुषम्) त्रिगुण आयु है (तत्) वह (त्रि-आयुषम्) त्रिगुण आयु (नः अस्तु) हमें भी प्राप्त हो ॥

शिवो नामासि स्वधितिस्ते पिता नमस्तेऽब्रस्तु मा मा हिंसीः ।
निर्वर्त्तयाम्यायुषेऽन्नाद्याय प्रजननाय रायस्पोषाय सुप्रजास्त्वाय
सुवीर्याय ॥ ६३ ॥

प्रजापतिर्ऋषः । रुद्रा देवता । भुरिग् जगती । निषादः ॥

भा०—हे (रुद्र) दुष्टों को रूलाने हारे राजन् ! तू राष्ट्र के लिये (शिवः नाम असि) मंगलकारक, कल्याणस्वरूप है, (स्वधितिः) स्वयं अपने आपको धारण करने की शक्ति या खड्ग या वज्र (ते पिता) तुझे उत्पन्न करने वाला, तेरा पालक, 'पिता' है (ते नमः अस्तु) तुझे हमारा आदरपूर्वक नमस्कार हो । (मा मा हिंसीः) मुझ, तेरे अधीन प्रजाजन को मत मार । मैं (आयुषे) दीर्घ आयु को प्राप्त करने के लिये (अन्नाद्याय) अन्न आदि भोग्यपदार्थ की भोगशक्ति की प्राप्ति के लिये, (प्रजननाय) उत्कृष्ट सन्तान उत्पन्न करने के लिये, (रायः पोषाय) धन की वृद्धि के लिये, (सु-प्रजास्त्वाय) उत्तम प्रजा को प्राप्त करने के लिये, (सु-वीर्याय) और उत्तम बल वीर्य के लाभ के लिये, तुझ रोदन-कारी तीक्ष्ण स्वभाव के उग्र पुरुष को अपने ऊपर आघात करने के कार्य

६३—नारायण ऋषिः द० । क्षुरो देवता । स० । अस्य स्थानेऽन्यन्मन्त्र-
द्वयं काण्व० ॥

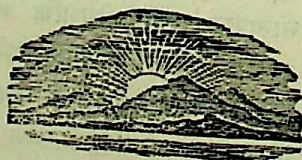
से (निवर्त्तयामि) निवृत्त करता हूँ, रोकता हूँ । अर्थात् राजा को प्रजा के आय, सम्पत्ति, अन्न, धन, पुष्टि, प्रजा और वीर्य की वृद्धि के लिये उनके नाशक कार्यों से निवृत्त रहना चाहिये । वह प्रजा को न मारे, प्रजा उसका आदर करे, वह प्रजा के लिये कल्याणकारी हो ॥

परमेश्वर के पक्ष में—ईश्वर 'शिव' है, मङ्गलमय है । वह अविनाशी और दुःखहन्ता होने से 'स्वधिति' है । हे पुरुष ! वह तेरा पिता है । उसको नमस्कार है । वह हमें नाश न करें । आयु आदि के लिये मैं उसके आश्रय होकर सब कष्टों को दूर करूँ ।

॥ इति तृतीयोऽध्यायः ॥

[तृतीये त्रिपष्टिर्भूचः ।]

इति मीमांसातीर्थ-प्रतिष्ठितविद्यालंकारविरुदोपशोभितश्रीमत्पाण्डितजयदेवशर्मकृते
यजुर्वेदालोकभाष्ये तृतीयोऽध्यायः ॥



अथ चतुर्थोऽध्यायः ।

१-२७ प्रजापतिर्ऋषिः ॥

॥ ओ३म् ॥ एदमगन्म देवयजनं पृथिव्या यत्र देवासोऽअजु-
षन्त विश्वे । ऋक्सामाभ्याथं सन्तरन्तो यजुर्भि रायस्पोषेण
समिषा मदेम । इमा आपः शमु मे सन्तु देवीरोषधे त्रायस्व
स्वधिते मैतथं हिथंसीः ॥ १ ॥

प्रजापतिर्ऋषिः । ओषधयौ देवते । विराड् बाह्वी जगती, त्र्यवसाना

अत्याष्टिर्वा । निषादः ॥

भा०—हम (पृथिव्याः) पृथिवी के बीच (इह) इस प्रत्यक्ष
(देव-यजनम्) विद्वान् ब्राह्मणों के यज्ञ करने और राजाओं के शासन
कर्म करने के स्थान पर (आ अगन्म) प्राप्त हों । (यत्र) जहां (विश्वे
देवासः) समस्त देव, विद्वान् ब्राह्मण और राजा लोग (अजुषन्त)
आकर बसें । वहां (ऋक्सामाभ्याम्) ऋक्, विज्ञानमय वेदमन्त्र और साम,
गायनमय सामगान दोनों उपायों से और (यजुर्भिः) परस्पर संघ
यनाने के विधानरूप यजुर्मन्त्रों से (सन्तरन्तः) समस्त बाधाओं को पार
करते हुए (रायः पोषेण) धन की वृद्धि अर्थात् अत्यन्त अधिक ऐश्वर्य
और (इषा) प्रचुर अन्न प्राप्त करके (सम मदेम) हम सब आनन्दित
और सन्तुष्ट होकर रहें । (इमाः आपः) ये दिव्य गुणवाले एवं आस
पुरुष (मे शम् उ सन्तु) मेरे लिए शान्तिदायक हों हे (ओषधे)

१—आद्यावर्द्धचौ देवयजनदैवत्यौ । इमा आपः । ओषधेकुशतरुणम् । स्वधि-
ते चुरः ॥ सर्वा० ॥ अतःपरमग्निष्टोमा महां चौः० [अ० ८ । ३२] पर्यन्तम् ।

ओषधे ! रोगनिवारक ओषधे ! या दोषों से रक्षा करने में समर्थ ! जलों के भीतर या उनसे उत्पन्न ओषधि के समान तीव्र स्वभाव के राजन् ! तू हमें (त्रायस्व) रक्षा कर । हे (स्वधिते) स्वधिते ! स्व = अपने बल से राष्ट्र को धारण करने में समर्थ वज्रमय या वज्र के समान क्षत्रबल से सम्पन्न ! शस्त्रबल से युक्त राजन् ! (एनं मा हिंसीः) इस मुक्त प्रजाजन को या राष्ट्र को मत विनाश कर ॥ शत० का० ३ । १ । १ । ११, १२-१७ ॥

आपोऽस्मान्मातरः शुन्ध्यन्तु घृतेन नो घृतप्लवः पुनन्तु विश्वं थंहि रिप्रस्पृवहन्ति देवीरुदिदाभ्यः शुचिरा पुतऽएमि । दीक्षातपसोस्तनूरसि तान्त्वा शिवाथं शग्मां परिदेधे भद्रं वर्णं पुष्यन् ॥ २ ॥

आपो देवताः । स्यराट् ब्राह्मी त्रिष्टुप् । धैवतः स्वरः ॥

भा०—(अस्मान्) हमें (आपः) जलों के समान स्वच्छ (मातरः) ज्ञान करने वाले या माता के समान पालन करने वाले आसजन (शुन्ध्यन्तु) शुद्ध करें, जैसे जलधारायें जरीर को शुद्ध करती हैं और माताएं अपने स्नेह और उपकार से हृदय के पाप को नष्ट करती हैं वैसे ही आप्त ज्ञानी पुरुष हमें आचार में पवित्र करें । वे (घृतप्लवः) घृत, दीप्ति या तेजोमय अंश से पवित्र करने वाले आस जन (नः) हमें अपने (घृतेन) घृत से जिस प्रकार शरीर के विष नाश हो जाते हैं उसी प्रकार (पुनन्तु) पवित्र करें । (देवीः) दिव्य गुणवाली माताओं, जलधाराओं, नदियों के समान और देवियों के समान आस जन भी (विश्वम् रिप्रम्) समस्त पाप को (हि) भी (प्रवहन्ति) धो बहाते हैं । (आभ्यः इत्) इनसे ही (आप्तः) सब प्रकार से पवित्र होकर मैं (उत् एमि) उत्कृष्ट पद को

२—आपोऽस्मान् आपः । दीक्षातपसोर्वासः । सर्वा० ।

प्राप्त होऊं । जैसे जलों से स्नान करके मनुष्य शुद्ध वस्त्र पहनता है, वैसे आस-जनों करके अपने पाप से मुक्त होकर अपने शरीर और आत्मा को स्वच्छ कर लेता है । हे वासः ! वस्त्र के समान आच्छादक शरीर ! आत्मा के वासस्थान ! तू (दीक्षातपसोः) दीक्षा अर्थात् सत्पथ पर दृढ़ता से रहने के उत्तम व्रतधारण और तपस् = तपस्या का बना (तनूः अस्मि) शरीर है । (तां) उस (त्वा) तुझ (शिवाम्) कल्याणकारिणी (शम्भाम्) सुखदायिनी, आरोग्य पवित्र को मैं (भद्रं वर्णं पुण्यम्) सुखकारी, उत्तम वर्ण को, उत्कृष्ट जीवन स्थिति को पुष्ट करता हुआ (परि दधे) धारण करूँ । स्नान के बाद पुरुष जैसे दीक्षा के निमित्त विशेष स्वच्छ वस्त्र पहने उसी प्रकार दीक्षा और तप से शरीर को शुद्ध करके अपने जीवन को उच्च करे और ज्ञान की नदी रूप आसजनों के उपदेशों में स्नान करे ॥

राजा के पक्ष में—आस पुरुष हमारे माता के समान पालक अपने तेज से हमें पापों से बचावे । मैं राजा उन आसजनों द्वारा शुद्ध पवित्र होकर उदय को प्राप्त होऊँ । इस तप से प्राप्त पृथिवी को अपने शरीर के समान धारण करूँ ॥ शत० ३ । १ । २ । १०-२० ॥

महीनाम्पयोऽसि वर्चोदाऽअसि वर्चो मे देहि ।
वृत्रस्यासि कनीनकश्चक्षुर्दाऽअसि चक्षुर्मे देहि ॥ ३ ॥

मेघो देवता । भुरिक् त्रिण्डप् । धैवतः ॥

भा०—मेघ या नवनीत, घृत या आदित्य के दृष्टान्त से राजा के कर्त्तव्य का वर्णन करते हैं । (महीनाम् पयः असि) हे सूर्य तू ! (महीनाम्) पृथिवियों पर (पयः असि) जल बरसने का कारण है । अथवा, हे मेघ ! तू पृथिवी पर जल बरसाता है । जैसे नवनीत गौओं के दूध से

३—महीनां नवनीतम्, वृत्रस्यांजनम् । स० । '०वृत्रस्य कनीनकासि०'
शति काण्व० ।

उत्पन्न है वैसे हे राजन् ! तू (महीनां) पृथिवी वासिनी प्रजाओं का (पयः असि) पुष्टिकारक सार भाग है । हे राजन् ! तू (वर्चोदाः असि) वर्चः, तेज का प्रदान करने हारा है (मे वर्चः देहि) मुझे वर्चस्, तेज और बल प्रदान कर । तू (वृत्रस्य) राष्ट्र को घेरने वाले शत्रु को भी (कनीनकः) आँख में पुतली के समान देखने वाला है । तू (चक्षुर्दाः असि) असि) चक्षु अर्थात् आँख का देने वाला है । (मे चक्षुः देहि) मुझे चक्षु प्रदान कर ॥

मेघ पक्ष में—जिस प्रकार सूर्य मेघ को भी अपने तेज से छिन्न भिन्न कर देता है । उसी प्रकार राजा शत्रु को छिन्न-भिन्न कर उसकी माया को खोल देता है । सूर्य वा अंजन जैसे चक्षु को दर्शन शक्ति देता है उसी प्रकार राजा वा विद्वान् भी प्रजा को मार्ग दिखाता है ॥

ईश्वर पक्ष में—(महीनाम्) तू महती, बड़ी बड़ी शक्तियों का (पयः) परम सार, उनका भी परम पोषक है । हे तेजस्वी ! तू मुझ उपासक को वर्चस् प्रदान कर । तू आवरणकारी वृत्र-अज्ञान को भी अपनी ज्ञानज्योति से चमका कर नाश कर देता है, सर्वदृष्टा, सबको ज्ञानचक्षु प्रदान करता है, मुझे भी चक्षु प्रदान कर ॥

चित्पतिर्मा पुनातु वाक्पतिर्मा पुनातु देवो मा सविता पुनात्व-
च्छिद्रेण पवित्रेण सूर्यस्य रुश्मिभिः । तस्य ते पवित्रपते
पवित्रपूतस्य यत्कामः पुने तच्छक्रेयम् ॥ ४ ॥

प्रजापतिर्ऋषिः । परमात्मा देवता । निचृद ब्राह्मा पंक्तिः । पंचमः ॥

भा०—(चित्पतिः) समस्त चेतनाओं, चेतन प्राणियों और समस्त विज्ञानों का पालक परमेश्वर (मा पुनातु) मुझे पवित्र करे । (सविता देवः) सबका उत्पादक, उपास्य देव (अच्छिद्रेण) छिद्र रहित, अविनाशी

१—चित्पतिर्देवः प्रजापत्ये । देवो मा सावित्रम् । सर्वा० ॥

निर्दोष, (पवित्रेण) परम पावन, सबको शुद्ध करने वाले अपने स्वरूप से और (सूर्यस्य) सूर्य की (रश्मिभिः) तेजोमय किरणों से (मा) मुझे, मेरे अन्तःकरण और देह को (पुनातु) पवित्र करे । हे (पवित्रपते) पवित्र पुरुषों के पालक, शुद्धात्माओं के स्वामिन् ! (पवित्र-पूतस्य) पवित्रगुणों से परिपूत, शुद्ध (तस्य ते) उस तेरी कृपा से पवित्र हुआ मैं (यत्-कामः) जिस कामना को करके (पुने) अपने आपको पवित्र करू, दीक्षित होऊँ (तत्) मैं उसको (शक्यम्) पूर्ण कर सकूँ ॥

आ वो देवासऽईमहे वामम्प्रयत्यध्वरे ।

आ वो देवासऽआशिषो यज्ञियासो हवामहे ॥ ५ ॥

देवा देवताः । निचृदाप्यनुष्टुप् । गांधारः ॥

भा०—हे (देवासः) देवगण, विद्वान् पुरुषो ! (प्रयति) उत्तम सुख और उत्तम फल देने वाले (अध्वरे) अविनाशी और हिंसारहित पालनात्मक शासनरूप यज्ञ में (वः) आप लोगों से (वामम्) प्राप्त करने योग्य, उत्तम कार्य सम्पादन करने की (ईमहे) याचना करता हूँ । हे (देवासः) विद्वान् ब्रह्मज्ञानी पुरुषो ! हे (यज्ञियासः) यज्ञ करने वाले ! (वः) आप लोगों से (आशिषः) मन की आशाओं या इच्छाओं की (हवामहे) हम याचना करते हैं ॥

स्वाहा यज्ञमनसः स्वाहोरोरन्तर्हितात् ।

स्वाहा द्यावापृथिवीभ्याथं स्वाहा वातादारभे स्वाहा ॥ ६ ॥

यज्ञो देवता । निचृदाप्यनुष्टुप् । गांधारः ॥

भा०—मैं प्रजापति, प्रजा का पालक (मनसः) मन से (यज्ञम्) यज्ञ का (स्वाहा) उत्तम वेदोक्त वाणी के मनन द्वारा (आरभे) यज्ञ

५—आवोदैव्यनुष्टुबारीः । सर्वा० । '०रभे ।' इति काण्व० ।

६—स्वाहायज्ञं चतुर्थीयज्ञः । सर्वा० ॥

सम्पादन करूं । (उरोः) विशाल (अन्तरिक्षात्) अन्तरिक्ष से (स्वाहा) उत्तम आहुति द्वारा (यज्ञम् आरभे) यज्ञ सम्पादन करूं । (द्यावा-पृथिवीभ्याम्) द्यौ, ऊपर का विस्तृत आकाश और समस्त पृथिवी मण्डल दोनों से (स्वाहा) दोनों की शक्तियों को परस्पर आदान-प्रतिदान की क्रिया से (यज्ञम् आरभे) यज्ञ का सम्पादन करता हूँ और मैं (वातात्) वायु से, प्राण के निःश्वास और ऊर्ध्वास क्रिया द्वारा, अथवा समुद्र से मेघों को लेकर भूमि पर उत्तम रीति से वर्षण क्रिया द्वारा (यज्ञम् आरभे) यज्ञ करता हूँ ॥

दुदोह गां स यज्ञाय सस्याय मधवा दिवम् ।

सम्पद्-विनिमयेनोभौ दधतुर्भुवनद्वयम् ॥ रघु० ।

अर्थात् परमेश्वर पाँच यज्ञ करता है । (१) मानस्यज्ञ, सबको अपने संकल्प बल से चला रहा है और वेदवाणी द्वारा सबको उपदेश करता है । (२) अन्तरिक्ष यज्ञ, उसमें नित्य मेघों का उठना और लीन होना । (३, ४) द्यावापृथिवीयज्ञ, सूर्य का जल खेंचना और पृथ्वी पर वर्षा की आहुति होना । (५) वातयज्ञ, वायु का मेघों को धारण करना, बिजुली का गिराना या प्राणापान यज्ञ । यह सब परमात्मा स्वयं करता है ।

१ आकूत्यै प्रयुजेऽग्नये स्वाहा मेधायै मनसेऽग्नये स्वाहा दीक्षायै तपसेऽग्नये स्वाहा सरस्वत्यै पुष्पोऽग्नये स्वाहा । आपो देवी-वृहतीर्विश्वशंभुवो द्यावापृथिवी उरोऽअन्तरिक्ष । वृहस्पतये हविषा विधेम स्वाहा ॥ ७ ॥

प्रजापतिर्ऋषिः । अन्यवृहस्पतयो देवताः । (१) पंक्तिः । पंचमः ।

(२) आर्ची वृहती । मध्यमः ॥

७—आपादेवीर्लिङ्गेऽक्तदेवताः० । सर्वा० । अर्वावापृथिव्यन्तारिक्षवृहस्पति-देवतंत्ययः । अनन्त० । ० 'पृथिवी उर्वन्तरिक्ष ।' इति काण्व० ।

भा०—अध्यात्म और आधिभौतिक यज्ञों का वर्णन करते हैं ।
 (आकृत्यै) अपने संकल्पों या अभिप्राय को प्रकट करने वाले, (प्रयुजे)
 इन्द्रियों को अपने ग्राह्यविषयों में और अभिप्राय को प्रकट करने के लिये
 मन द्वारा विवेचन पूर्वक वाणी और अन्य कार्यों में शरीर के अन्य अगों के
 प्रयुक्त करने वाले (अग्नये) ज्ञानमय, चेतन अग्नि अर्थात् चेतन आत्मा को
 (स्वाहा) अपने 'स्व' आत्मा रूप से कहो । (मेधायै) मेधा = मेधा अर्थात्
 मुक्त आत्मा की धारणावती बुद्धि वा देह धारक शक्ति रूप और (मनसे) ज्ञान
 करने की शक्ति या संकल्प विकल्प करने वाली शक्ति रूप (अग्नये) पूर्वोक्त
 इन्द्रियों के नायक रूप से (स्वाहा) आत्मा का ज्ञान करो । (दीक्षायै तपसे
 अग्नये स्वाहा) दीक्षा, व्रत धारण करने और 'तप' अर्थात् तपस्या करने
 वाली शक्ति रूप (अग्नये) अग्नि को अपने आत्मा की शक्ति रूप से ज्ञान
 करो । (सरस्वत्यै पूषणे अग्नये स्वाहा) सरस्वती, वाणी अर्थात् शब्दोच्चा-
 रण करने वाली शक्ति और 'पूषन्' शरीर को निरन्तर पुष्ट करने वाली शक्ति
 रूप अग्नि, चेतन शक्ति को 'स्व' अपनी आत्मा रूप से जानो । अर्थात् आत्मा की
 ही ये निज शक्तियाँ हैं । आकृति प्रयोग, मेधा, मनस्, दीक्षा, तप, सरस्वती
 और पुष्टि । इनके रूप में प्रकट होने वाले अग्नि को तुम (स्वाहा) स्वयं
 अपना आत्मा जानो और (देवीः) दिव्य शक्तियों से युक्त (आपः)
 जल, जो (विश्वशम्भुवः) समस्त जगत् की शान्ति को उत्पन्न करती हैं
 और (द्यावापृथिवी) द्यौ और पृथिवी, सूर्य और भूमि, (अन्तरिक्ष)
 और अन्तरिक्ष अर्थात् वायु जिस प्रकार इन सबमें विद्यमान (बृहस्पतये)
 उस महान् शक्ति के परिपालक परमेश्वर के लिये हम (हविषा) अग्नि में
 जिस प्रकार इन पञ्चभूतों की शुद्धि के लिये औषधि आदि चरु को आहुति
 देते हैं, उसी प्रकार हविः, सत्य ज्ञान और प्रेमभाव से (विधेम) उपा-
 सना करें (स्वाहा) यह भी एक महान् यज्ञ है । अथवा (हविषा स्वाहा
 विधेम) हवि अर्थात् सत्य प्रेमभाव से स्वाहा अर्थात् उगम स्तुति, वाणी का

(विधेम) प्रयोग करें । ईश्वर की उत्तम स्तुति करें ॥ शत० ३ । १ । ४ ।
५-१७ ॥

विश्वो देवस्य नेतुर्मत्तो वुरीत सख्यम् ।

विश्वो राय इषुध्यति युञ्जं वृणीतं पुष्यसे स्वाहा ॥ ८ ॥

स्वस्त्यात्रेय ऋषिः । ईश्वरः सविता देवता । अनुष्टुप् । गांधारः ॥

भा०—(विश्व) समस्त (मर्तः) मनुष्य लोग (नेतुः) अपने नेता (देवस्य) ईश्वर और राजा के (सख्यम्) मित्रता को (वुरीत) वरें, चाहें । (विश्वः) और सब (राये) धन ऐश्वर्य के प्राप्त करने के लिये (इषुध्यति) वाण, वा शस्त्रास्त्र धारण करें, वा चाहें और सभी (युञ्जम्) धन को (पुष्यसे) शरीर और आत्मा की पुष्टि, बल वृद्धि के लिये (वृणीत) चाहें (स्वाहा) यही उसका उत्तम सद-उपयोग है । या उस धन को उत्तम कार्य में त्याग करें ।

(विश्वो राये इषुध्यति) सभी धन की याचना करते हैं ॥ [उवट, महीधर] शत० ३ । १ । ४ । १८ । २३ ॥

ऋक्सामयोः शिल्पे स्थस्ते वामारभे ते मा पातमास्य यज्ञस्योद्वचः
शर्मोसि शर्म मे यच्छ नमस्ते अस्तु मा मा हिंसीः ॥ ६ ॥

विद्वान् देवता । आर्षी पंक्तिः । पंचमः ॥

भा०—ये कृष्ण और शुक्ल विद्याएं, क्रियात्मक और ज्ञानात्मक विद्या या कर्मकाण्ड और ज्ञानकाण्ड दोनों (ऋक्-सामयोः) ऋग्वेद और सामवेद इन दोनों के भीतर से उत्पन्न (शिल्पे स्थः) विशेष कौशल रूप हैं । (ते वाम्) उन दोनों को मैं (आरभे) आरम्भ करता हूँ, अभ्यास करता हूँ । (ते) वे दोनों (मा) मुझे (अस्य उद्वचः)

८—सविता दे० । सर्वा० ।

६—[६-१५] अंगिरस ऋषिः । कृष्णाजिनं दे० । सर्वा० ॥

यज्ञस्य) इस उत्तम ऋचाओं, वेद मन्त्र और ज्ञानों से युक्त यज्ञ की समाप्ति तक (मा पातम्) मुझे पालन करें । हे शिल्पपते ! (शर्म असि) तू शरण है । (मे शर्म यच्छ) मुझे सुख प्रदान कर, हे विद्वन् ! राजन् ! शिल्पस्वामिन् ! (ते नमः अस्तु) तुझे मैं आदरपूर्वक नमस्कार करता हूँ, (मा) मुझ को (मा हिंसीः) विनाश मत कर ॥

यज्ञ में कृष्णाजिन (मृगचर्म) यज्ञ के दो अङ्गों को स्पष्ट करता है, कृष्ण और शुक्ल । कदाचित् कर्मकाण्ड (Practical) और ज्ञानकाण्ड (Theoretical) दो स्वरूपों को दर्शाने के लिये पूर्व में दो शाखा भी प्रचलित हुई हों । वेद के दोनों अङ्गों से राज्य-शासन रूप यज्ञ की पूर्ति के लिये प्रार्थना है । उसके संचालक पुरुष का आदर और उससे रक्षा की प्रार्थना है ।

अध्यात्म में—शुक्लगति और कृष्णगति, देवयान और पितृयान और ज्ञानमार्ग और कर्ममार्ग दोनों ऋक् और साम के प्रतिपादित शिल्प = शील, आचार-विधान हैं । उनको हम (आ यज्ञस्य उदचः) यज्ञ = आत्मा की ऊर्ध्वगति तक करते रहें । हे परमात्मन् ! यज्ञ ! तू सब का शरण है ! तुझे नमस्कार करते हैं । तू हमें (मा हिंसीः) मत मार, हमारी रक्षा कर । उक्त दो गतियों के विषय में उपनिषदों में—‘द्वे सुती अशृणवम्’ इत्यादि वर्णन है और ‘शुक्लकृष्णे गती ब्रूते’ इत्यादि गीता में भी स्पष्ट किया है ।

शतपथ में—इस भूमि लोक और उस द्यौलोक दोनों को सम्बोधित किया है कि वे ऋक्, साम दोनों के शिल्प अर्थात् प्रतिरूप हैं । उन दोनों के बीच में जैसे हिरण्यगर्भ सुरक्षित है, माता पिता के बीच में जैसे गर्भगत बालक सुरक्षित है उसी प्रकार जीवनयज्ञ की समाप्ति तक ऋक् साम दोनों का अभ्यास मेरी रक्षा करे । छत और फर्श के समान दोनों का गृह बना है । वही हमारा शरण है । वह शरण हमें सुख दे । हमें विनाश न करें । शतपथ ३ । २ । १ । १८ ॥

ऊर्गस्याङ्गिरस्यूर्णम्रदा ऽऊर्जं मयि धेहि । सोमस्य नीविरसि
विष्णोः शर्मसि शर्म यजमानस्येन्द्रस्य योनिरसि सुसस्याः
कृषीस्कृधि । उच्छ्रयस्व वनस्पत ऊर्ध्वो मा पाह्यथंहस
ऽआस्य यज्ञस्योद्वचः ॥ १० ॥

अंगिरस कृपयः । यज्ञो देवता । (१) निचृदार्पी, निपादः,

(२) साम्नां त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—हे (आंगिरसि) अंगिरस्, आदित्य या अग्नि से उत्पन्न होने वाली पृथिवी ! तू (ऊर्णम्रदा उर्ग असि) ऊर्ण = आच्छादन, अन्धकार का नाश करने वाली, प्रकाशरूप (उर्ग असि) बलरूप है । अथवा उनके समान कोमल, होकर भी बड़ी बलवती है । तू (मयि उर्जं धेहि) मुझ में बल या अन्नादि पदार्थ प्रदान कर । तू (सोमस्य) सर्वप्रेरक आदित्य या पर्जन्य को (नीविः) अष्टी प्रकार लाकर एकत्र करने वाली (असि) है । (विष्णोः) व्यापक जल का (शर्मसि) शरण, आश्रय स्थान है और (यजमानस्य शर्म) यज्ञ करने वाले पुरुष या इस महान् जलवृष्टि द्वारा अन्नोत्पादन करने वाले यज्ञपति का भी (शर्म) शरण या आश्रय है । (इन्द्रस्य योनिः असि) हे सूर्य के किरण ! (इन्द्रस्य) ऐश्वर्यशील मेघ की तू (योनिः) उत्पत्ति स्थान है । हे पुरुष ! तू हमारी (कृषीः) खेतियों को (सु-सस्याः) उत्तम सस्य से युक्त (कृधि) कर । हे (वनस्पते) वनस्पते ! सेवन करने योग्य जल आदि पदार्थों के पालक पर्जन्य । तू (उच्छ्रयस्व) ऊपर आ । (ऊर्ध्वः) ऊंचा होकर (अस्यै यज्ञस्य उद्वचः आ) इस यज्ञ की समाप्ति पर्यन्त (अंहसः पाहि) पाप से रक्षा कर ।

१०—मेखला नीविः वासः कृष्णा विषाणा दण्डश्च दे० । सर्वा ।
०ऊर्जं मे यच्छ । इति काण्व० ॥

मेलला पक्ष में—हे आंगिरसि, विद्वानों की रची मेखले ! तू बलरूप है, मुझे बल दे । सोम = ब्रह्मचारी या वीर्य की रक्षिका ग्रन्थि है । विष्णु व्यापक वेद और यजमान आत्मा की शरण है । इन्द्र = आचार्य की 'योनि' उत्पादक है । हे दण्ड ! तू आ । मेरे व्रत की समाप्ति तक तू मेरी रक्षा कर ॥

शिल्पविद्या पक्ष में—हे वनस्पते विद्वन् ! जो (आंगिरसी) विद्वानों द्वारा उत्पादित (उर्णम्रदा) प्रकाशकारिणी (ऊर्क्) अन्नोत्पादक बलवती शिल्प विद्या है वह मुझे बल दे । वह (सोमस्य नीविः) नाना पदार्थों की आश्रय है । (विष्णोः) विद्वान् को सुखकारी है । ऐश्वर्यवान् होने का कारण है । उसके बल पर उत्तम सम्पन्न खेतियों को पैदा कर । हे विद्वन् ! तू स्वयं उन्नति कर । हमें पापफल रूप दुःख से बचा । इस उत्तम यज्ञ की पूर्ति कर ॥

व्रतं कृणुताग्निर्ब्रह्माग्निर्यज्ञो वनस्पतिर्यज्ञियः । दैवीन्धियं मना-
महं सुमृड्डीकामभिष्टये वर्चोधां यज्ञवाहसथं सुतीर्था नो
असद्वशे । ये देवा मनोजाता मनोयुजो दक्षकतवस्तेनोऽवन्तु
ते नः पान्तु तेभ्यः स्वाहा ॥ ११ ॥

अग्निदेवता । (१) स्वराड् ब्राह्मी, गांधारः स्वरः । (२) आर्षी

उष्णिक् । ऋषभः स्वरः ॥

भा०—हे पुरुषो ! आप लोग (व्रतं कृणुत) व्रत करो, धर्माचरण पालन करने का दृढ़ संकल्प धारण करो । (अग्निः ब्रह्म) ब्रह्म, वेदज्ञान और वह ज्ञानमय परमेश्वर ही महान् अग्नि, मार्गप्रदर्शक, विश्वप्रकाशक, ज्ञानप्रदाता तुम्हारा अग्रणी, आचार्य है । (यज्ञः अग्निः) यज्ञ ही सब का

११—यज्ञो, धां, प्राणोदानौ चक्षुःश्रोत्रम् अध्यात्मम् । अग्निं मित्रावरुणा-
वादित्यो विश्वेदेवा अभिवैतम् ॥ सर्वा० ॥ 'व्रतं कृणुत व्रतं कृणुत व्रतं कृणुत ।
अग्निं', 'वर्चोधां विश्वधायसं सु०' इति काण्व० ॥

पूजनीय अग्नि है। यही (यज्ञियः) सब देवपूजाओं के योग्य स्वयं (वनस्पतिः) वन, आत्माओं, जीवों का परिपालक प्रभु है। हम (दैवीम्) देव परमेश्वर की प्रदान की हुई, दिव्यगुण सम्पन्न धारणावती, (सुमृडीकाम्) उत्तम सुख प्राप्त कराने वाली, (वर्चोधाम्) तेजोदायिनी, (यज्ञ-वाहसम्) यज्ञ, पूज्य परमेश्वर तक पहुंचा देने वाली (धियम्) ध्यान, धारणावती योगसमाधि से प्राप्त प्रज्ञा की (मनामहे) याचना करते हैं। वह (सु-तीर्था) इस संसार से सुख पूर्वक तरानेहारी, भवसागर के पार पहुंचानेहारी, ब्रह्ममयी प्रज्ञा (नः) हमारे (वशे) वश में (असन्) रहें और (ये) जो (देवाः) देव, इन्द्रियगण (मनोजाताः) मन या मनन-शक्ति, विषय ग्रहण करने में समर्थ और (मनोयुजः) मन के साथ युक्त होकर (दक्ष-क्रतवः) बल पूर्वक कार्य करने और ज्ञान करने में समर्थ हो जाते हैं (ते नः अवन्तु) वे प्राणी भी हमारी रक्षा करें। (ते नः पान्तु) वे हमारा पालन करें। (तेभ्यः) उनको भली प्रकार आत्मा में आहुति करें। उनको अपने भीतरी आत्मा के वश, अन्तर्मुख कर लें। अथवा (ये देवाः) जो विद्वान् ज्ञानी लोग (मनोजाताः) विज्ञान या मनन द्वारा सामर्थ्यवान् होकर (मनोयुजः) अपने मन को परब्रह्म-विज्ञान में योग द्वारा जोड़ते हैं वे (दक्ष-क्रतवः) शरीर, आत्मा बल और प्रज्ञाओं से सम्पन्न हो जाते हैं। (ते नः अवन्तु ते नः पान्तु) वे हमारी रक्षा करें, वे हमें पापों से बचावें (तेभ्यः स्वाहा) उन ब्रह्मज्ञानी विद्वानों के लिये हम अन्न आदि का प्रदान करें, उनका आदर करें या उनसे हम उत्तम वेद-उपदेश ग्रहण करें ॥ शत० ३।२।२।१-१८ ॥

श्वात्राः प्रीता भवत युयमापो अस्माकमन्तरुदरे सुशेवाः ।
ताऽअस्मभ्यमयुदमाऽअनमीवाऽअनागसः स्वदन्तु देवीरमृताः
ऽऋताघृधः ॥ १२ ॥

आपो देवताः । वाह्मी अनुष्टुप् । गांधारः ॥

भा०—हे (आपः) हे जलों के समान स्वच्छ बुद्धि वाले आप्त पुरुषो ! जिस प्रकार जल (श्वात्राः) अति शीघ्रगामी, पान करने योग्य होते हैं उसी प्रकार आप लोग भी (श्वात्राः) प्रशस्त धन और ज्ञान से युक्त और ज्ञानरस के पान करने वाले ही (भवत) बने रहो और जिस प्रकार जल (अन्तः उदरे) पेट के भीतर (सुशेवाः) सुखप्रद, सेवन करने योग्य होते हैं उसी प्रकार आप लोग (अस्माकम्) हमारे बीच में (सु-शेवाः) सुखप्रद, सुख से सेवन करने योग्य हैं और जिस प्रकार जल (अयक्ष्मा) यक्ष्मा, रोग से रहित (अनमीवाः) कष्टतर रोगों से भी रहित और (अनागसः) निष्पाप, पवित्र होकर हमें अति स्वादु प्रतीत होते हैं उसी प्रकार (ताः) वे आपस प्रजाजन भी (अयक्ष्माः) राज यक्ष्मादि-रोगों से रहित, (अनमीवाः) नीरोग, (अनागसः) निष्पाप (देवीः) दिव्यगुणों से युक्त और (ऋतावृधः) सत्यज्ञान को बढ़ाने वाले (अमृताः) अमृत, पूर्ण शतायु, दीर्घजीवी होकर (अस्मभ्यम्) हमें (स्वदन्तु) सब प्रकार के सुख प्रदान करावें ॥ शत० ३ । २ । २ । १९ ॥

इयं ते यज्ञिया तनूरपो मुञ्चामि न प्रजाम् । अथ होमुचः स्वाहा-
कृताः पृथिवीमाविशत पृथिव्या सम्भव ॥ १३ ॥

आपो देवताः । भुरिग् आर्षी पंक्तिः । पंचमः ॥

भा०—हे पुरुष ! (इयं) यह (ते) तेरी (यज्ञिया तनूः) यज्ञ के योग्य या यज्ञ अर्थात् आत्मा के निवास के योग्य होकर जिस प्रकार (अपः) प्राणों या जलों का त्याग नहीं करती, प्रत्युत उनको अपने भीतर धारण करती है, उसी प्रकार मैं पुरुष भी (प्रजाम् न मुञ्चामि) प्रजा का परित्याग नहीं करता । और हे आप पुरुषो ! हे प्राणो ! जल जिस प्रकार

१३—लाष्ठ मूत्रं च देवते । सर्वा ॥

(पृथिवीम् आविशन्ति) पृथिवी के भीतर प्रवेश कर जाते हैं उसी प्रकार तुम भी (अंहोमुचः) आत्मा से उसके विये बुरे पापकर्मों को छुड़ाने वाले और (स्वाहाकृताः) वेदवाणी द्वारा उत्तम यज्ञानुष्ठान करने वाले, सब शरीर में अन्नादि का आदान करने वाले, प्राण जिस प्रकार पृथिवी के विकार-देह में प्रविष्ट हैं उसी प्रकार (पृथिवीम् आविशत) पृथिवी में स्थिर गृह आदि बनाकर रहो और (पृथिव्याम्) पृथिवी पर हे पुरुष ! तू (सम्भव) भली प्रकार अपनी प्रजा उत्पन्न कर ॥ शत० २ । १ । २२० ॥

अग्ने त्वथ्सु जागृहि वयं थं सु मन्दिषीमहि ।

रक्षा णोऽप्रयुच्छन् प्रबुधे नः पुनः कृधि ॥ १४ ॥

अग्निदेवता । स्वराडाचर्युष्णिक् । ऋषभः ॥

भा०—हे (अग्ने) शत्रुसंतापक अग्ने ! राजन् ! (त्वं) तू (सु) भली प्रकार (जागृहि) जाग, प्रमाद रहित रह कर पहरा दे । (वयं) हम (सु) अच्छी प्रकार निश्चिन्त होकर (मन्दिषीमहि) सोवें । (नः) हमारी (अप्रयुच्छन्) प्रमाद रहित होकर (रक्षा) रक्षा कर (पुनः) और फिर हमें (प्रबुधे) जागृत दशा में (कृधि) करदे, जगादे ॥

ईश्वर पक्ष में—हे ईश्वर ! तू बराबर जागता है, हम अविद्या में सोते हैं । तू बेचूक हमारी रक्षा कर, हमें पुनः प्रबोध, सत्य ज्ञान के लिये चैतन्य कर ! प्राण के पक्ष में—हम समस्त इन्द्रियां सोती हैं, प्राण जागता है । वह हमारी रक्षा करता है, पुनः निद्रा के बाद हम इन्द्रियों को वह चैतन्य करता है ॥ शत० ३ । २ । २ । २२ ॥

पुनर्मनः पुनरायुर्मऽआगन् पुनः प्राणः पुनरात्मा मऽआगन् पुनः
श्चक्षुः पुनः श्रोत्रम् मऽआगन् । वैश्वानरोऽअदब्धस्तनूपाऽअग्निः
पातु दुरिताद्वचात् ॥ १५ ॥

१५—अगिरस ऋषयः । द० । ' ० आगात् ' ३, ० ' ० अग्निर्मा० ' इति काण्व० ॥

अग्निर्देवता । भुरिग् ब्राह्मी बृहती । मध्यमः ॥

भा०— शयन के बाद (मे मनः) मेरा मन (पुनः आ अगन्) मुझे पुनः प्राप्त होता है । (पुनः प्राणः) प्राण मुझे पुनः प्राप्त होता है । (पुनः चक्षुः) चक्षु मुझे फिर प्राप्त होता है । (मे श्रोत्रम् पुनः आ अगन्) मुझे श्रोत्र, कान पुनः प्राप्त होता है । (वैश्वानरः) समस्त नर देहों में प्राणों के नेतारूप से विद्यमान वैश्वानर, जीवात्मा (अदब्धः) अविनाशी (तनूपा) शरीर का स्वामी (अग्निः) अग्नि अग्रणी राजा के समान है, वह (नः) हमें (अवद्यात्) निन्दनीय (दुरीतात्) दुष्टाचरण से (पातु) बचावे । ईश्वर पक्ष में भी स्पष्ट है कि रात्रि समय में वैश्वानर परमेश्वर अविनाशी है, वह हमारे शरीर का रक्षक 'तनूपा' है, वह हमें सब निन्दनीय पाप से बचावे । मरण के पश्चात् पुनः जीवन प्राप्ति के अवसर पर भी मन, आयु, प्राण, देह, चक्षु, श्रोत्र आदि हमें पुनः प्राप्त हों और ईश्वर हमें पाप से बचावे । इसी प्रकार प्रलय काल ब्राह्मरात्रि होती है, उसमें भी जीव सुप्त दशा में रहते हैं । उसके पश्चात् पुन ब्राह्म रात्रि के प्रारम्भ में हम जीवों को आद्य आदि प्राप्त होते हैं । परमेश्वर हा सबके शरीरों, शरीर धारण के सामर्थ्य को नित्य बचाता है । वह हमें पाप से बचावे । शत० ३ । १ । २ । २३ ॥

त्वमग्ने व्रतपाऽअसि देवऽआ मर्त्येष्व । त्वं यज्ञेष्वीड्यः रास्वेय-
त्सोमा भूयो भर देवो नः सविता वसोर्दाता वस्वदात् ॥ १६ ॥
क्र० ८ । ११ ॥ १ ॥

वत्सः काण्व ऋषिः । अग्निर्देवता । भुरिगार्षी पंक्तिः । पंचमः ॥

भा०—हे (अग्ने) अग्ने, परमेश्वर ! अथवा राजन् ! अग्रणी ! हे (देव) देव ! राजन् ! (त्वम्) तू (व्रतपाः) समस्त व्रतों, उत्तम कर्मों

१६—रास्वेयस्सोम्यम् । सर्वा० । [१६-३६] ॥

का पालक, उनको निर्विघ्न समाप्त होने में रक्षक (असि) है। तू हे देव ! (सत्येषु) सत्य में और (यज्ञेषु) यज्ञों में भी (आ ईक्ष्यः) सब प्रकार से स्तुति योग्य, वन्दनीय है। हे (सोम) सोम ! सर्वप्रेरक, सर्वोत्पादक ! (इयत् रास्व) हमें इतना अर्थात् बहुत परिमाण में प्रदान कर अथवा तू (इयत् रास्व) हमारे पास प्राप्त होकर हमें धन प्रदान कर और (भूयः भर) और भी अधिक दे। (नः) हमें (वसोः दाता) वसु, जीवन और धन का देने हारा है। तूने (वसु अदात्) सब प्रकार का जीवनोपयोगी धनैश्वर्य (अदात्) प्रदान किया है।

एषा ते शुक्र तनूरेतद्वर्चस्तथा सम्भव भ्राजङ्गच्छ ।

जूरसि धृता मनसा जुष्टा विष्णवे ॥ १७ ॥

अग्निदेवता । आर्ची त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—हे (शुक्र) शुचिमान्, ज्योतिष्मान्, वीर्यवान् पुरुष ! (एषा ते तनूः) यह तेरा शरीर है। (एतद् वर्चः) यह तेज है। (तथा सम्भव) इस देह से तू मिल कर उत्पन्न होजा। (भ्राजं गच्छ) प्रकाशमान् सोम परमेश्वर या प्राण, जीवन को प्राप्त हो। हे वाणी या चितिशक्ति ! तू (जूः असि) 'जू', सब के सेवन करने योग्य, सब के प्रेम को उत्पन्न करने वाली है। तू (मनसा) मन, मदन और विज्ञान से (धृता) धारण की गई उसके वशीभूत रह कर (विष्णवे) यज्ञ सम्पादन करने या व्यापक परमात्मा के भजने में (जुष्टा) लग जाती है।

जूरित्येतद् ह वा अस्याः वाचः एकं नाम । मनसा वा इयं वाग् धृता-
मनो वा इदं पुरस्ताद्वाचः इत्थं वेद, मा एतदवादीः, इत्यल्लमिव वै वाग्
वेदद् यन्मनो न स्यात् ॥ शत० ३ । २ । ४ । ११ ॥ 'जू' यह वाणी का
एक नाम है। मन इस वाणी को वश रखता है। वाणी बोलने के पूर्व

१७—एषाते हिरण्याज्यदैवतम् । जूरसि वग्दवैतम् । सर्वा० ॥

मं० १८]

चतुर्थोऽध्यायः

१२१

मन विचार करता है । ऐसा बोल, ऐसा मत बोल । यदि मन न हो तो वाणी गढ़बढ़ बोल जाती है ॥

महर्षि दयानन्द के विचार से—हे शुक्र ! विद्वन् ! विष्णुः यज्ञ या परमेश्वर की उपासना के लिये यह तेरा शरीर है जो तूने धारण किया और सेवन किया है उससे तू (जूः) वेगवान् होकर प्रकाश या तेज को धारण कर और विज्ञान से पुरुषार्थ को प्राप्त कर ॥

तस्यास्ते सत्यसवसः प्रसवे तन्वो यन्त्रमशीय स्वाहा ।

शुक्रमसि चन्द्रमस्यमृतमसि वैश्वदेवमसि ॥ १८ ॥

वाग्बिद्युतौ देवतो । स्वराङ् आर्षी बृहतौ । मध्यमः ॥

भा०—हे वाणि ! या हे चितिशक्ते ! चेतने ! (सत्य-सवसः) सत्य को उत्पन्न करने वाली, सत्यभाषिणी वा सत्य—सत् आत्मा से उत्पन्न होने वाले आत्मा को अपना मुख्य उत्पत्तिस्थान रखने वाली (ते तस्याः) उस तेरे (प्रसवे) उत्पादित ऐश्वर्य में (तन्वः) शरीर के (यन्त्रम्) यन्त्र को (अशीय) प्राप्त करुं । अथवा (सत्य-सवसः प्रसवे) सत्यैश्वर्यवान् परमेश्वर के बनाये इस संसार में (तस्याः ते) हे विद्युत् या वाणि तेरे (तन्वः) विस्तृत शक्ति को (यन्त्रम्) नियमन करने वाले साधन या विशेष उपकरण को मैं प्राप्त करुं, (स्वाहा) और उसका उत्तम रीति से उपयोग करुं । वाणी और चेतना शक्ति के नियमनकारी बलरूप आत्मा का स्वरूप बतलाते हैं । शरीर रूप यन्त्र के नियामक बल ! वीर्य ! आत्मा अथवा विद्युत् आदि यन्त्र के नियामक शक्ते ! तू (शुक्रम् असि) शुक्र, अति दीप्तिमान् है (चन्द्रम् असि)

१८—[तस्यास्ते वाग्] शुक्रमसि हिरण्यम् । सर्वा० । '०तनु यन्त्रम० । शुक्रमसि चन्द्रमस्य०' इति काण्व० ॥

आह्लादक है । (अमृतम् असि) तू अविनाशी है । (वैश्वदेवम् असि) समस्त दिव्य पदार्थों में सूक्ष्म रूप से विद्यमान है । शत०. ३।२। ४। १२-१५ ॥

चिदसि मनासि धीरसि दक्षिणासि क्षत्रियासि यज्ञियास्यदिति-
रस्युभयतः शीर्ष्णी । सा नः सुप्राची सुप्रतीच्येधि मित्रस्त्वा
पदि वर्धतां पुषाध्वनस्पतिवन्द्रायाध्यक्षाय ॥ १६ ॥

वाग विद्यतौ देवते । भुरिगू ब्राह्मी पांक्तिः । पंचमः स्वरः ॥

भा०— हे वाक्शक्ते ! तू (चित् असि) शरीर की चेतना है । (मनः असि) तू मननकारिणी, संकल्प विकल्प करने वाली, पदार्थों का ज्ञान करने वाली है । (धीः असि) तू ध्यान करने वाली, ज्ञान को धारण करने वाली है । तू (दक्षिणा असि) बलकारिणी शक्ति है, यज्ञ में दक्षिणा के समान शरीर में बल का प्रदान करने वाली है । (क्षत्रिया असि) राष्ट्र में जिस प्रकार क्षात्रशक्ति है, उसी प्रकार शरीर में चेतना है । (यज्ञिया असि) यज्ञ में जिस प्रकार दीप्तिमान अग्नि उपास्य देव है, उसी प्रकार शरीर में समस्त प्राणों की उपास्य शक्ति यह चेतना है । (अदितिः असि) पृथ्वी जिस प्रकार अखण्ड भाव से सब का आश्रय है, उसी प्रकार यह भी शरीर में अखण्ड अविनाशी है, जो शरीर के नाश होने पर भी नाश नहीं होती । (उभयतः शीर्ष्णी) जिस प्रकार प्रसव काल में गौ के गर्भ से वच्चा आधा बाहर आने पर आगे और पीछे दोनों ओर दो सिर वाली हो जाने से वह 'उभयतः शीर्ष्णी' कहाती है, उसी प्रकार यह चेतना भी ज्ञान-प्रसव काल में उभयतः शीर्ष्णी है । उसका एक अंश बाहर पदार्थ का ज्ञान करता है और दूसरा अंश भीतर मनन करता है ।

१६-२० — चिदसि गाः सामक्रयणा वाग्रूपाध्यारोपकल्पनया । सर्वा० ।
(उ०) 'सुप्रतीची भव' इति काण्व० ॥

या बाह्य पदार्थों और भीतरी सुख दुःख आदि दोनों का ज्ञान करती या बाह्य चक्षु इन्द्रिय आदि उसके एक मुख हैं और भीतरी इन्द्रिय मन उसका दूसरा मुख है। (सा) वह तू हे चितिशक्ति ! (नः) हमें (सुप्राची) उत्तम रीति से आगे आये पदार्थों पर जाने और उसका ग्रहण करने वाली और (सु-प्रतीची) उत्तम रीति से प्रत्येक, भीतरी आत्मतत्त्व तक पहुंचने वाली (एधि) है। (मित्रः) मित्र-तेरा प्रेमी, स्नेही प्राण, जैसे गाय को पैरों से बांधते हैं, उसी प्रकार (त्वां) तुझे (पदि) ज्ञान-साधन में बांधे, अथवा (मित्रः) स्नेही आत्मा तुझे (पदि) ज्ञेय, ध्येय पदार्थ या ज्ञानमय ब्रह्म में (बध्नीताम्) लगावे और (पूषा) पुष्टिकारक प्राण ही (इन्द्राय अध्यक्षाय) उसके ऊपर अध्यक्ष रूप से विद्यमान इन्द्र - आत्मा के स्वरूप को प्राप्त या ज्ञान करने के लिये (अध्वनः) उस तक पहुंचने वाले योग या ज्ञान मार्ग से उसकी (पातु) रक्षा करे। अर्थात् प्राणायाम के बल पर उस चितिशक्ति को ध्येय विषय पर बांधे और उस को विचलित होने से बचावे।

विद्युत् पक्ष में—वह (चित्) आकर्षण शक्ति से पदार्थों को मिलाने वाली, (मनः असि) स्तब्ध करने वाली, (दक्षिणा) बलवती, (क्षत्रिया) आघात करने वाली, (यज्ञिया) परस्पर मिलाने वाली, रसायन-योग उत्पन्न करने वाली, (उभयतः शीर्ष्णी) Positive and Negative धन और ऋण नामक दो सिरों वाली, वह (सुप्राची) उत्तम प्रकाश करने वाली, (सुप्रतीची) समान जाति की विद्युत् से परे हटने वाली (मित्रः) रसायन योगों का मेलक पुरुष उसे (पदि) आश्रयस्थान, विद्युद्-घट आदि में बद्ध करे। (पूषा) पोषक, उसकी शक्ति को बढ़ाने वाला, मार्ग में विलीन होने से दुर्वाहक लेपों द्वारा सुरक्षित रखे। जिस से (अध्यक्षाय इन्द्राय) मुख्य ऐश्वर्यवान् राजा के या बलकारी विद्युत् यन्त्र के समस्त कार्य सिद्ध हों। राजा की राष्ट्रशक्ति भी संचयकारिणी, स्तम्भन

कारिणी, राष्ट्रधारिणी, बलवती क्षात्रबल से युक्त है, मित्र राजा उसकी व्यवस्था करे, पूषा अधिकारी, इन्द्र राजा के लिये उसकी मागों पर रक्षा करे । शत्रुगण विशेष मागों से आक्रमण न करें ॥ शत० ३ । २ । ४ । १५-१० ॥

१ अनु त्वा माता मन्यतामनु पितानु भ्राता सगर्भ्योऽनु सखा सयूथ्यः । २ सा देवि देवमच्छेहीन्द्राय सोमं रुद्रस्त्वावर्त्तयतु स्वस्ति सोमसखा पुनरेहि ॥ २० ॥

वाग् विद्युत् च दवंत । (१) साम्नी जगती । निषादः ।

(२) मुरिगार्षी षष्णिक, ऋषभः ॥

भा०—हे चित्तिशक्ते ! (त्वा) तुझे (माता) पदार्थों का प्रमाणों द्वारा ज्ञान करने वाला पुरुष या आत्मा (अनु मन्यताम्) अपने अनुकूल ज्ञान कार्य में प्रेरित करे । (पिता) तेरा पालक पिता (भ्राता) तेरा पोषक भ्राता (सगर्भ्यः) एक ही शरीर रूप गर्भ में विद्यमान (सयूथ्या) इन्द्रियों और अमुख्य प्राणों के यूथ में विद्यमान, (सखा) तेरे ही समान ज्ञान करने में समर्थ, प्राण, मन और अन्तःकरण सब (अनु, अनु, अनु) तेरे अनुकूल होकर, यथार्थ रूप से ठीक १ (मन्यताम्) ज्ञान करें । हे (देवि) प्रकाशमयि देवि ! सब इन्द्रियों को चेतनांश और प्राण प्रदान करने वाली ! तू (इन्द्राय) इन्द्रियों के प्रवर्तक आत्मा के विशेष सुख के लिये (सोमम्) सबके प्रेरक (देवम्) परम प्रकाशमय उपास्य देव परमेश्वर को (अच्छ इहि) प्राप्त हो । (रुद्रः) सबको रूलाने वाला प्राण (त्वा) तुझ को प्रेरित करे और हे जीव ! तू (सोम-सखा) सोम, उस सर्वोत्पादक परमेश्वर का मित्र होकर या उसके समान शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, आनन्दमय होकर (पुनः) फिर मुक्ति काल समाप्त होने पर (स्याइहि) इस संसार में आ ॥

अथवा—उपासक मोक्षाभिलाषी के लिये कहा गया है कि ब्रह्म के मार्ग में जाने के लिये तुझे तेरी माता, तेरे पिता, तेरे (सगर्भ्यः आता) सहोदर भाई, एक श्रेणी के मित्र अनुमति दें और हे देवि ब्रह्मविद्ये ! तू (इन्द्राय सोम देवमच्छ इहि) परमैश्वर्य प्राप्ति के लिये देव, सोम, विद्वान् को प्राप्त हो । (रुद्रः त्वा वर्त्तयतु) हे देवि विद्ये ! तुझको रुद्र नैष्टिक ब्रह्मचारी ग्रहण करे । हे पुरुष ! या हे विद्ये ! तू (सोमसखा) ईश्वर का सहवर्ती होकर हमें पुनः प्राप्त हो ॥

विद्युत् पक्ष में—माता उत्पादक कला, पिता पालक यन्त्र, आता पोषक या धारक यन्त्र जो तुझे अपने गर्भ में ग्रहण कर सके, (सयूथ्यः सखा) समान रूप से तुझे अपने से पृथक् करने वाला साकाश भीतरी पोलयुक्त पात्र में सब अनुकूल रूप में तेरा स्तम्भन करें ॥

वस्यस्यदि॑तिरस्यादित्या॑सि रुद्रा॑सि चन्द्रा॑सि ।

बृहस्पति॑ष्ट्वा सु॒म्ने र॑म्णातु रु॒द्रो वसु॑भिराच॑के ॥ २१ ॥

वाग्-विद्युतौ देवते । विराडार्षी बृहता । मध्यमः ॥

भा०—हे पृथिवि ! (वस्वी असि) तू वस्वी, वसु, शरीर में वास करने वाले जीवों को बसाने वाली (असि) है । (अदितिः असि) तू अखण्ड ऐश्वर्य वाली, नित्य अविनाशिनी है । तू (आदित्या असि) आदित्या, आदान करने वाली, सबको अपने में धारण करने वाली, आदित्यों द्वारा सेवित है । (रुद्रा असि) सबको रुलाने वाली, प्राणों के समान रोदनकारी, दुष्ट पीड़क, शासकों द्वारा सेवित है । (चन्द्रा असि) सब को आह्लादकारिणी है । (त्वा) तुझे (बृहस्पतिः) विद्वान् पुरुष (सुम्ने) उत्तम ब्रह्ममय आनन्द में (रम्णातु) रमावे, प्रेरित करे । (रुद्रः) मुख्य प्राण, जीवात्मा (वसुभिः) अन्य प्राणों सहित उनके साधना बल से (त्वा) तुझको (आचके) प्राप्त करना चाहता है ॥

२१—वस्यनुष्टुब्वृहतीवा सोमक्रयण्याः स्तुतिः । सर्वा० ।

ब्रह्मशक्ति पक्ष में - वह सर्व वसु = लोकों में व्यापक, अखण्ड प्रकाश-मयी, सर्व रोदनकारिणी या वेद द्वारा उपदेष्टी, सर्वाह्लादिका है। वह परमेश्वर बृहस्पति उसे उत्तम आनन्दरूप में या ज्ञानरूप में प्रेरित करता है। वही रुद्र, ईश्वर उसको समस्त वसुओं जीवों सहित अपनाता है, चाहता है ॥

विद्युत् पक्ष में - वस्वी, ऐश्वर्यवती, अविनाशिनी, प्रकाशवती, रुद्रा, शब्दकारिणी, आह्लादिका है। विद्वान् उसको सुख से किये जाने के कार्यों में या उत्तमरूप से पदार्थों के स्तम्भन कार्यों में लगावे। रुद्र, विज्ञानोपदेष्टा वसु, निवासियों सहित उसको चाहते हैं ॥

राष्ट्रशक्ति पक्ष में - जनों को बसानेवाली, अखण्ड शक्ति सबकी वश-यित्री, दुष्टों को रूलाने वाली, सर्वाह्लादिनी है। राजा सुखमय राष्ट्र में रमण करे। वह रुद्र राजा वसुओं सहित उस शक्ति को प्राप्त करे। इसी रूप से ये विशेषण पृथ्वी के भी हैं। सोमयाग में सोमक्रमणी गौ के लिये यह मन्त्र है। वहाँ सोम = राजा और गो = पृथिवी ॥

अदित्यास्त्वा मूर्धन्नाजिधर्मि देवयजने पृथिव्या ऽइडायास्पदमसि घृतवत् स्वाहा। अस्मे रमस्वास्मे ते वन्धुस्त्वे रायो मे रायो मा वयथं रायस्पोषेण वि यौष्म तोतो रायः ॥ २२ ॥

वाग्विद्युतौ देवते। ब्राह्मी पंक्तिः। पंचमः ॥

भा०—हे विद्वन् ! बलवन् बाहुपराक्रमशालिन् पुरुष ! (त्वा) तुझको (पृथिव्याः) पृथिवी के (देवयजने) देवों, विद्वानों के एकत्र होने के स्थान रूप (अदित्याः) अदिति, अखण्ड शासनव्यवस्था के (मूर्धन्) शिर पर या मुख्यपद पर (आ जिधर्मि) प्रदीप्त या सुशोभित

२२—अदित्या आज्यम्। अस्मे पयणां लिंगोक्ता देवताः। सर्वा० ॥ (७०)
‘त्वे रायो अस्मे रायः। इति काण्व० ॥

करता हूँ । हे (देव-यजने) देवों के संगम-स्थान, सभागृह या हे सभास्थ विद्वान् पुरुषो ! तुम (इडायाः) अन्नस्वरूप, अन्न देने वाली पृथिवी के (पदम्) प्राप्त करने वाली, प्रतिष्ठा, पद (त्वम् असि) तुम हो । तुम भी (स्वाहा) उत्तम ज्ञान से ही (धृतवत्) तेजोमय हो । हे राजन् ! (अस्मे रमस्व) तू हम में प्रसन्न होकर रह । (अस्मे ते बन्धुः) हम प्रजाजन तेरे बन्धु हैं (ते रायः) तेरे समस्त ऐश्वर्य (मे रायः) हमारे भी ऐश्वर्य हैं । (वयम्) हम प्रजाजन (रायः पोषेण) धन, ऐश्वर्य के पुष्टि, बल से (मा वि यौष्म) वियुक्त न हों । (तोतो रायः) ज्ञानवान् आपके भी बहुत से ऐश्वर्य हों । वीर पुरुष को विद्वत्सभा के सभापतिपद पर मूर्धन्य बनाकर राज्य पालन के लिए नियुक्त करें । उसकी प्रतिष्ठा करें । उसको जीवन के सब सुख दें । राजा और प्रजा दोनों एक दूसरे के ऐश्वर्य की वृद्धि करें ॥

‘इडायाः पदम्,’ ‘देवयजनम्’ यहां विद्वानों के संगतिस्थल या ‘सभाभवन’ पद से समस्त सभास्थ विद्वानों का जहत्स्वार्था लक्षणा से ग्रहण होता है । अंग्रेज़ी में भी ‘House’ या भवन शब्द से समस्त सभासदों का ग्रहण होता है ॥ शत० ३ । ३ । १ । ४-१० ॥

समख्ये देव्या धिया सं दक्षिणयोरुचक्षसा । मा मऽत्रायुः प्रमो-
पीमोऽग्रहं तव वीरं विदेय तव देवि सदृशि ॥ २३ ॥

वाग्विद्युतौ, देवते । आस्तारपंक्तिः । पंचमः ॥

भा०—(देव्या धिया) विव्यगुण युक्त, प्रकाश ज्ञानवती (धिया) प्रजा से (सम् अख्ये) विवेक करके मैं कथन करूँ, उपदेश करूँ । (दक्षिणया) अति ज्ञान युक्त, अज्ञाननाशक बलवती और (उरु चक्षसा) अति अधिक देखने वाली दर्शन शक्ति से देख भालकर मैं (सम् अख्ये)

२३—समख्ये पत्न्याशीरास्तारपंक्तिः । सर्वा० ॥

सत्य बात का उपदेश करूं । हे (देवि) देवि ! सर्व सत्य प्रकाश करने, दर्शाने वाली वेदवाणी ! (तव संदृशि) तेरे दिखाये उत्तम सम्यक् दर्शन में रहते हुए (मे आयुः) मेरे जीवन को तू (मा प्रमोषीः) विनाश मत कर । (मा उ अहं तव) और न मैं तेरे जीवन का नाश करूं और मैं (वीरं विदेय) वीर पुरुषों का लाभ करूं, वैदिक व्यवस्थापूर्वक राष्ट्र के शासन का निरीक्षण करूं । वह राजा व्यवस्था का नाश करे और वीर पुरुष राजा को प्राप्त हों ॥

विद्युत् पक्ष में—उस प्रकाशवती धारक विद्युत् शक्ति के प्रकाश से हम अन्धकार दूर करके देखें, विद्युत् के आघात हमें नाश न करें । न हम विद्युत् का नाश करें । उसके प्रकाश में हम शक्तियुक्त पदार्थों का लाभ करें ॥

पत्नी के पक्ष में—धारण पोषण में समर्थ देवी कार्यकुशल दीर्घ-दाशनी पत्नी के द्वारा मैं समस्त कार्यों का निरीक्षण करूं । मैं उसके और वह मेरे जीवन का नाश न करे, उसके सम्यग् दर्शन में वीर पुत्र का लाभ करूं । इसी प्रकार देवी, विद्वत्सभा के पक्ष में भी योजना करनी चाहिये ॥ शत० ३ । ३ । १ । १२-१६ ॥

१ एष ते गायत्रो भागऽइति मे सोमाय ब्रूतादेष ते त्रैष्टुभो भागऽइति मे सोमाय ब्रूतादेष ते जागतो भागऽइति मे सोमाय ब्रूताच्छन्दोनामानां साम्राज्यं गच्छेति मे सोमाय ब्रूतात् । २ आस्माकोऽसि शुक्रस्ते ग्रहो विवितस्त्वा वि चिन्वन्तु ॥ २४ ॥

यशो देवता । (१) ब्राह्मी जगती । निपादः स्वरः ।

(२) याजुषी पांक्तिः । पंचमः ॥

२४—एष ते लिंगोक्तदेवतम् । आस्माकोऽसि सोम्यम् । '० चन्दोनामानां साम्राज्यं गच्छतादिति०' इति काण्व० ।

भा०—राजा को अधिकार प्रदान । हे विद्वन्-मण्डल ! (मे सोमाय) सब के प्रेरक मुझ सोम को (इति ब्रूतात्) इस प्रकार स्पष्ट करके बतलाओ कि (एषः ते गायत्रः भागः) हे राजन् ! तेरा यह गायत्र = ब्राह्मणों का भाग है । इसी प्रकार (मे सोमाय^१ इति ब्रूतात्) मुझ राजा को यह बतलाओ कि (एष ते त्रैष्टुभः भागः) त्रैष्टुभ अर्थात् क्षात्रबल सम्बन्धी यह तेरा भाग है और (एषः ते जागतः भागः) यह इतना वैश्य सम्बन्धी तेरा भाग है और मुझ सोम राजा को यह आज्ञा दो कि (छन्दो-नामानाम्) छन्द = प्रजाओं के पालन और दुष्टों के दमन के समस्त उपायों के (साम्राज्यम्) समस्त राजाओं के ऊपर, सर्वोपरि विराजमान महाराज के पद को तू (गच्छ इति) प्राप्त हो । अथवा (१) प्रत्येक प्रजा के प्रतिनिधि अपना कर या अंश देते हुए बीच के प्रजा-पुरुष से कहें, (इति) यह (मे) मेरा वचन (सोमाय ब्रूतात्) सोम राजा को कहो कि हे राजन् ! (एष ते गायत्रः भागः) ब्राह्मणों की तरफ से यह तेरा सेवनीय अंश है । (एष ते त्रैष्टुभः भागः) यह तेरा क्षत्रियों की तरफ से अंश है । (एष ते जागतः भागः) यह वैश्यों की ओर से तेरा भाग है । (छन्दो-नामानाम्) छन्द अर्थात् समस्त राष्ट्र के अधिकार पदों और नाम अर्थात् नमन करने के अधिकारों में से सबसे ऊँचे साम्राज्य पद को तू प्राप्त हो । प्रजाजन कहे—हे राजन् ! तू (आस्माकः असि) हमारा ही है । (शुक्रः) अति तेजस्वी, शरीर में वीर्य के समान सभी राष्ट्र-शरीर में तेजस्वी पदार्थ, एवं शासन पद और इसी प्रकार इन्द्र आदि सब अधिकार भी (ते ग्रहः^२) तुझे ही स्वीकार करने योग्य हैं और (वि-चितः) विशेष रूप से या विविध प्रकार से चुनने वाले ज्ञानी

१. वृषा वै सोमो योषो पत्नी । इति शत० ॥

२. 'शुक्रस्ते गृहः' इति दयानन्दसम्मतः पाठः । 'ग्रहः' इति शत०, अन्यत्र च सर्वत्राभिमतः ॥

पुरुष भी (त्वा) तुझको ही (विचिन्वन्तु) विशेष रूप से आदर योग्य पद पर चुनें, वरण करके तुझ जैसे योग्य पुरुष को खोज खोज कर अपना राजा बनावें ॥ शत० ३ । ३ । २ । १-८ ॥

१ अभि त्वं देवत्वं सवितारमोरयोः कविक्रतुमर्चामि सत्यसवत् रत्नधामभि प्रियं मतिं कविम् । ऊर्ध्वा यस्यामतिर्भाऽअदिद्युत्सर्वमिति हिरण्यपाणिरमिमीत २ सुक्रतुः कृपा स्वः । प्रजाभ्यस्त्वा प्रजास्त्वानुप्राणन्तु प्रजास्त्वमनुप्राणिहि ॥ २५ ॥

सविता देवता । (१) ब्राह्मी जगती । निषादः । (२) निचृदार्धी गायत्री । षड्जः ॥

भा०—(त्वम्) उस (ओण्योः सवितारम्) द्यौ और पृथिवी के उत्पादक (सत्य-सवम्) सत् रूप से व्यक्त जगत् के उत्पादक, या सत्यज्ञान के प्रदाता (कवि-क्रतुम्) क्रान्तदर्शी, सर्वोपरि ज्ञान से युक्त (रत्न-धाम) सूर्य आदि समस्त रमणीय पदार्थों के धारक, (मतिम्) ज्ञानरूप (अभि-प्रियम्) सर्वप्रिय, (कविम्) क्रान्तदर्शी, मेधावी, (देवम्) देव, परमेश्वर की (अभि अर्चामि) स्तुति करता हूँ । (यस्य) जिसका (भा) तेजोमय (अमतिः) परमरूप सूर्यवत् (ऊर्ध्वा) सबसे ऊपर (अदिद्युत्) प्रकाश करता है और जो (सर्वमिति) उत्पन्न होने वाले संसार में (हिरण्यपाणिः) तेजोमय, अति रमणीय, कार्य कुशल हाथों वाला होकर समस्त पदार्थों को (अमिमीत) बनाता है । और जो (सु-क्रतुः) सब से उत्तम प्रज्ञावान् और शिल्पी है और जिसकी (कृपा) सर्वोच्च शक्ति, सामर्थ्य या कृपा (स्वः) सबकी प्रेरक और तापक है, या जिसकी कृपा ही परम मोक्षमय, सुखमय है, हे परमेश्वर ! (त्वा) तुझे (प्रजाभ्यः) समस्त प्रजाओं के के लिये उपास्य बतलाता हूँ । (प्रजाः त्वा अनु प्राणन्तु) समस्त प्रजाएं

२५—प्रजाभ्यस्त्वा, प्रजास्त्वा, शुक्रंत्वा सौम्यानि । सर्वा० ।

तेरी शक्ति से नित्य प्राण धारण करें और (त्वं) तू (प्रजाः) समस्त जीव प्रजाओं को अपनी शक्ति से (अनुप्राणिहि) प्राण धारण करा ॥

राजा के पक्ष में—(ओण्योः सवितारं त्वं देवं कविक्रतुम्) राजाओं या शासकों ओर जासूसों अथवा पुरुष, स्त्री दोनों के संसारों के प्रेरक, प्रज्ञावान्, मेधावी, सत्य न्याय के प्रदाता, रमणीय गुणों के धारक, प्रिय मननशील, क्रान्तदर्शी राजा की, हम पूजा या आदर करें जिसकी (अमतिः भाः) अगम्य कान्ति सबसे ऊपर विराजती है और जो सुवर्णादि धन पर वश करके, सदाचारी होकर, सुखमय राज्य बनाने में समर्थ है । हे पुरुष ! (त्वा प्रजाभ्यः) तुझे प्रजाओं के हित के लिये हम राजा नियुक्त करते हैं । (त्वा प्रजाः अनु प्राणन्तु) तेरे आधार पर प्रजाएं जीवित रहें । (प्रजाः त्वम् अनुप्राणिहि) प्रजा की वृद्धि पर तू भी अपना जीवन धारण कर ॥ शत० ३ । ३ । २ । ११-१६

शुक्रं त्वा शुक्रेण क्रीणामि चन्द्रं चन्द्रेणामृतममृतेन ।
सग्मे ते गोरस्मे ते चन्द्राणि तपसस्तनूरसि प्रजापतेर्वर्णः
परमेण पशुना क्रीयसे सहस्रणोषं पुषेयम् ॥ २६ ॥

यज्ञो देवता । भुरिग् ब्राह्मी पंक्तिः । पञ्चमः ॥

भा०—राजा-प्रजा के परस्पर के व्यवहार को स्पष्ट करते हैं । हे राजन् ! (शुक्रं) शरीर में वीर्य के समान राष्ट्र में बलरूप से विद्यमान (त्वा) तुझको मैं राष्ट्रवासी प्रजाजन (शुक्रेण) अपने तेजोमय सुवर्ण-रजतादि अर्थबल से, या अपने भीतर विद्यमान शरीर बल से ही (क्रीणामि)

२६—सग्मेऽस्म लिंगोक्ते । तपसोर्द्धेजा । अर्द्धेसोमः । सर्वा० ॥ 'सग्मेते गोरस्मे' इति उवट महीधराभिमतः पाठो निर्ययसागरीयः । 'सग्मे ते गोरस्मे' इति शत०, द०, सात०, काण्व० । 'चन्द्रं त्वा चन्द्रेण० शुक्रं शुक्रेणामृ०' इति काण्व० ॥

अदला बदली करते हैं, ग्रहण करते हैं और (चन्द्रेण) अपने चन्द्र, आला-
दकारी धन-ऐश्वर्य के द्वारा (त्वां चन्द्रम्) तुझे सर्व-प्रजारक्षक पुरुष
को (क्रीणामि) अपनाते, स्वीकार करते हैं और (अमृतेन) अपने अमर
आत्मा द्वारा (अमृतम्) उन्नत, अविनाशी, तुझको स्वीकार करते हैं।
(ते) तेरे (राज्ये) चक्रवर्ती राज्य में (गोः) इस पृथिवी से उत्पन्न
(अस्मे चन्द्राणि) हमारे समस्त प्रकार के धन-ऐश्वर्य (ते) सब तेरे
ही हैं और तू साक्षात् (तपसः) तप का (तनूः) विग्रहवान्, शरीर
रूप (असि) है, अर्थात् शत्रु और दुष्टजनों का तापक और प्रजा के
सुख के लिये समग्र तपस्या करने से साक्षात् तपःस्वरूप है। और तू
(प्रजापतेः) प्रजा के पालन करने वाले पिता या परमेश्वर के (वर्णः)
महान् प्रजा पालन के कार्य के लिये हमारे द्वारा वरण करने योग्य है। और
(परमेण) परम, सर्वोत्तम (पशुना) गौ, हाथी, सिंह इत्यादि रूप से
(क्रीयसे) समस्त प्रजाओं द्वारा स्वीकार किया जाता है, माना जाता है
अथवा तुझे प्रजा अपने सर्वोत्तम पशु धन सौंपकर अपना रक्षक स्वीकार
करती है। मैं, हम प्रजाजन (सहस्र-पोषम्) हजारों धन-समृद्धि, सम्प-
दाएं प्राप्त करके (पुषेयम्) पुष्ट होवें, तुझे पुष्ट करें ॥

मित्रो नऽएहि सुमित्रधऽइन्द्रस्योरुमाविश दक्षिणमुशनुशन्तं
स्योनः स्योनम् । स्वान् भ्राजाङ्घारे बम्भारे हस्त सुहस्त
कृशानवेते वः सोमक्रयणास्तानूक्षध्वं मा वो दभन् ॥ २७ ॥

विद्वान् देवता । भुरिगू ब्राह्मी पंक्तिः । पंचमः ॥

भा०—अष्ट प्रधान या अष्ट प्रकृति राज्यव्यवस्था का वर्णन करते हैं।
हे नरोत्तम ! तू (मित्रः इव) प्रजा को मरण से त्राण करने वाले सूर्य के

२७—मित्रो न, इन्द्रस्य सौम्ये । स्वानादीति धिष्ययनामानि । ० 'कृशानो ।
एते' ० इति काण्व० ।

समानपालक (सु-मित्र धः) उत्तम २ मित्रों, सहायकों का प्रजा को मित्रवत् धारण पोषण करने द्वारा होकर (नः एहि) हमें प्राप्त हो । हे राजन् ! तू (इन्द्रस्य) ऐश्वर्यवान्, परमेश्वर, या ऐश्वर्यवान् राष्ट्रपति के (दक्षिणम्) दायें या बलवान्, (उशन्तम्) कामना युक्त, (स्योनं) सुखप्रद (उरुम्) विशाल, बहुतों को आश्रय देने में समर्थ पद को (आविश) प्राप्त कर । हे (स्वान) प्रजा के उपदेष्टा, हे (भ्राज) शस्त्रास्त्रों से परम शोभायमान ! हे तेजस्विन् ! हे (अंवारे) अंधः = पाप के शत्रो ! पापी पुरुषों के दमनकारिन् ! हे (हस्त) शत्रुओं के युद्ध में हनन करने में समर्थ, सेनापते ! हे (सु- हस्त) उत्तम २ पदार्थ शिल्प द्वारा रचने में समर्थ, विश्वकर्मन् ! हे (कृशानो) दुर्बलों या कृशों के उज्जीवक ! अथवा शत्रुओं के कर्शन करने हारे, उनके बल को नीति द्वारा तोड़ने हारे सात मुख्य पदाधिकारी पुरुषो ! (एते) ये सब प्रजास्थ पुरुष या प्रतिनिधिगण ! (वः) तुम सबको (सोम-क्रयणाः) सोम, राजा को नाना प्रकार से स्वीकार रहे हैं । (तान् रक्षध्वम्) उन सब की आप लोग रक्षा करें और वे (वः) तुम सबको (मा दभन्) विनाश न करें ॥

परि माग्ने दुश्चरिताद् बाधस्वा मा सुचरिते भज ।

उदायुषा स्वायुषोदस्थासमृतां २ऽअनु ॥ २८ ॥

अग्निदेवता । (१) साम्नी बृहती, मध्यमः । (२) साम्युष्णिक् । ऋषभः ॥

भा०—हे (अग्ने) परमेश्वर अथवा शत्रुसन्तापक राजन् ! तू (मा) सुप्तको (दुश्चरिताद्) दुष्ट आचार से (परि बाधस्व) सब ओर से हटा । और (मा) सुप्तको (सु-चरिते) उत्तम चरित्र में (भज) स्थापित कर । मैं (अमृतान् अनु) अमृत, आत्मोपासक, जीवन्मुक्त या दीर्घायु पुरुषों का अनुगामी होकर (सु-आयुषा) सुदीर्घ आयु से युक्त (आयुषा) जीवन से युक्त होकर (उद् अस्थाम्) उत्तम मार्ग में स्थिर रहूँ ॥ शत० ३ । ३ । ३ । १४ ॥

प्रति पन्थामपन्नहि स्वस्तिगामनेहसम् ।

येन विश्वाः परि द्विषो वृणक्ति विन्दते वसु ॥ २९ ॥

अग्नि देवता । निचृदार्थ्यनुष्टुप् । गान्धारः ॥

भा०—हम लोग (स्वस्तिगाम्) कुशल पूर्वक उत्तम स्थान तक पहुँचाने वाले, (अनेहसम्) चोर आदि हत्याकारी उपद्रवों से रहित (पन्थाम्) उस मार्ग पर (प्रति अपन्नहि) चला करें । (येन) जिससे सभी लोग (विश्वाः) सब प्रकार की (द्विषः) द्वेष करने वाली शत्रु सेनाओं को (परि वृणक्ति) दूर कर देते और (वसु विन्दते) नाना ऐश्वर्य प्राप्त करते हैं ॥ शत० ३ । ३ । ३ । १ । १८ ॥

१ अदित्यास्त्वगस्यादित्यै सदऽआसीद । अस्तभ्नाद् द्यां वृषभो अन्तरिक्षममिमीत वरिमाणं पृथिव्याः । २ आसीद्विश्वा भुवनानि स्रग्नाद् विश्वेत्तानि वरुणस्य व्रतानि ३० ॥ ऋ० ८ । ४२ । १ ॥

वरुणो देवता । (१) स्वराड् याजुषी त्रिष्टुप् ।

(२) विराडाषी त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—हे राजन् ! तू (अदित्याः) अदिति, पृथिवीस्थ प्रजा का (त्वग् असि) त्वचा के समान रक्षक है । तू (अदित्यै) अदिति पृथिवी के लिये (सदः) गृह के समान शरण होकर (आसीद्) विराज । (वृषभः) वर्षणशील मेघ या सूर्य जिस प्रकार (द्याम् अस्तभ्नाद्) द्यौलोक को धारण करता है और (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष को भी व्याप्त करता है उसी प्रकार हे राजन् ! तू भी (वृषभः) सर्वश्रेष्ठ प्रजा पर उनके काम्य सुखों की वर्षा करने वाला होकर राजा (द्याम्

२१—प्रतिपन्थामनुष्टुप् पथिदैवत्या । सर्वा० । 'द्यामृषभो' इति कायव० ॥

३०—अदित्याः कृष्णाजिनम् । अदित्यै सौम्यम् । अस्तभ्नाद् त्रिष्टुभौ वारुण्यौ । सर्वा० ॥ नाभाकः कायवः । अर्चनाना वा ऋषयः । अ० ।

अन्तरिक्षम् अस्तन्नात्) द्यौ, आकाश और अन्तरिक्ष और उसमें होने वाले ऐश्वर्यों को अपने हस्तगत करे । और वही (पृथिव्याः परिमाणम्) पृथिवी के विशाल परिमाण को भी (अमिमीत) स्वयं मापले, उसका पूरा ज्ञान रखे । वही (सम्राट्) महाराजाओं का महाराजा, सम्राट् होकर (विश्वा भुवनानि) समस्त भुवनों पर (आसीदत्) अधिष्ठाता होकर रहे, उन पर अधिकार करे । (वरुणस्य) सर्वश्रेष्ठ राजा के (तानि) यही (विश्वा) सब नाना प्रकार के (व्रतानि) कर्तव्य हैं ।

ईश्वर के पक्ष में — हे ईश्वर ! तू पृथ्वी का रक्षक है, द्यौ और अन्तरिक्ष में व्यापक, उसको थामने वाला है ! पृथिवी के विस्तार को जानता है । अन्तरिक्ष में समस्त भुवनों को स्थापित करता है । ये सब महान् कार्य उस परमेश्वर के ही हैं, दूसरे के नहीं ॥

सूर्य-वायु के पक्ष में — वायु पृथ्वी का आवरण है । उसका घर सा सूर्य, द्यौ अन्तरिक्षस्थ पिण्डों को थामता और पृथ्वी को प्रकाशित करता है । सब भुवनों को स्थापित करता है । यही महान् परमेश्वर के महान् कार्य हैं ।

वनेषु व्युन्तरिक्षं ततान् वाज्रमर्वत्सु पयः ऽउस्त्रियांसु ।
हृत्सु क्रतुं वरुणो विद्वद्भिर्दिवि सूर्यमदधात् सोममद्रौ ॥३१॥

ऋ० ५ । ८५ । १ ॥

वरुणो देवता । विराडार्षी त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—राजा के उपमानों का समुच्चय करते हैं । (वरुणः) सर्वश्रेष्ठ परमेश्वर (वनेषु) वनों के ऊपर उनके पालन करने, उन पर जलादि वर्षा करने के लिये (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष और उसमें स्थित वायु और मेघों को (वि ततान्) तानता है, जिससे वे खूब बढ़ें । और (अर्वत्सु) वेग-

३१—अत्रिर्ऋषिः । ऋ० ।

वान् अश्वों और बलवान् पुरुषों में (वाजम्) बल, वीर्य और अन्न प्रदान करता है । (उत्तियासु) नदियों में जल, गौओं में दूध और सूर्य किरणों में सूक्ष्म पुष्टिकारक बल रखता है । (दत्सु क्रतुम्) हृदयों में दृढ़ संकल्प को धारण कराता है । (दिवि सूर्यम्) आकाश में प्रकाशवान् सूर्य को स्थापित करता है । (अद्रौ) पर्वत पर (सोमम्) सोमवल्ली को या (अद्रौ) मंघ में (सोमम्) सर्ववृष्ट्युत्पादक जल को (विक्षु अग्निम्) वैश्वानर अग्नि के समान अग्नि अर्थात् अग्नेणी नेता को भी (अदधात्) स्थापित करता है । अर्थात् परमात्मा ही प्रजाओं में नेता को अधिक शक्तिमान् बनाकर उसको उत्तम २ कर्तव्य भी सौंपता है । वह अन्तरिक्ष के समान सब पर अच्छादक, रक्षक रहे । अश्वों में वेग के समान संग्रामों में विजयी रहे । गौओं में दूध के समान निर्बलों का पोषण करे । हृदयों में दृढ़ संकल्प के समान प्रजा में स्थिरमति हो । आकाश में सूर्य के समान सबको प्रकाश दे, ज्ञान दे । मेव में स्थित जल के समान सबको प्राणप्रद, अन्नप्रद हो । वह परमात्मा सबको उपास्य है, जिसने ये सब पदार्थ भी रचे ॥

सूर्यस्य चक्षुरारोहाग्नेरक्षणः कनीनकम् ।

यत्रैतेशेभिरीयसे भ्राजमानो विपश्चिता ॥ २ ॥

अग्निदेवता । निचृदार्यनुष्टुप् । गांधारः ॥

भा०—हे राजन् ! तू (यत्र) जहां कहीं भी (विपश्चिता) विद्वान् पुरुषों के साथ अपने (एतेशेभिः ईयसे) घोड़ों से जाय वहां ही तू (सूर्यस्य [प्रकाशः इव]) सूर्य के प्रकाश के समान लोगों की आंखों पर (आरोह) चढ़ा रह, उनको शक्ति देकर उन पर अनुग्रह कर । और रात्रि के समय (अग्नेः [प्रकाश इव]) अग्नि के प्रकाश के समान (अक्ष्णः

३२—सूर्यस्यानुष्टुप् कृष्णाजिनम् । सर्वा० । ' ०कनोनकाम् । ' इति काण्व० ॥

कनीनकम् आरोह) लोंगों की आंख की पुतली पर चढ़, अर्थात् अन्धकार में आंख जिस प्रकार सदा चमकती आग था दीपक पर ही जाती है उसी प्रकार लोगों की आंखों की पुतली तेरी ओर ही लगी रहें, अर्थात् तू उनकी आंखों पर लक्ष्य के समान बना रह । प्रजाओं को अन्धकार में भी प्रकाश दे और मार्ग दर्शा ॥

ईश्वर पक्ष में—(यत्र) जहां और जब भी (एतशैः) व्यापकता, सर्वज्ञत्वादि गुणों से (आजमानः) देदीप्यमान होकर (विपश्चिता) विद्वान् पुरुष द्वारा (ईयसे) वतलाया जाता है । वहां और उसी समय तू हे ईश्वर ! (सूर्यस्य चक्षुः आरोह, अग्नेः कनीनकं आरोह) दिन में सूर्य के प्रकाश के समान और रात्रि में अग्नि के प्रकाश के समान बभ्रु और आंख की पुतली पर चढ़ते हो और उन पर अपना अधिकार करते हो अर्थात् तुम्हीं उनको ज्ञान मार्ग दिखाते हो । इसी प्रकार मुख्य प्राणाचित् अपने जीवन प्रदाता आदि गुणों से ज्ञापित होकर हमें मार्ग दिखाता है, प्रकाश देता है ॥

‘उस्त्रावेतं धूर्षाहौ युज्येथामनश्चूऽअवीरहणौ ब्रह्मचोदनौ ।

स्वस्ति यजमानस्य गृहान् गच्छतम् ॥ ३३ ॥

सूर्यविद्वांसौ देवते । (१) भुरिगार्भी पक्तिः । पंचमः ।

(२) याजुषी जगती । निषादः ।

भा०—(धूर्षाहौ) पृथ्वी का भार धारण करने में समर्थ और प्रजाओं को बसाने वाले (अवीरहणौ) अपने राष्ट्र के वीर पुरुषों को नाश न करने वाले और (ब्रह्मचोदनौ) ब्रह्मज्ञान या वेदविज्ञान को उन्नत करने वाले राजा, अमात्य या दोनों विद्वान् पुरुष हैं, वे (अनश्चू) आँसुओं से, क्रोध विपत्तियों और बाधा पीड़ा से रहित, सुप्रसन्न चित्त से

३३—उस्त्रा ऊर्ध्ववृहत्यानुडुही । सवा० । ‘अनश्च्यू’ इति दयानन्दभाष्यगतः पाठः । च्यु हसन-सहनयोः । चुरादिः । अथवा च्युङ् गतौ भ्वादिः । ‘उस्त्रा एतं धूर्षाहौ०’ इति काण्व० ॥

रहने वाले (एतं) आवें, हमें प्राप्त हों। उन दोनों को (युज्येथाम्) गाड़ी में बैलों के समान राष्ट्र-संचालन के कार्य में नियुक्त किया जाय। हे उक्त दोनों समर्थ नरपुंगवो ! आप दोनों (यजमानस्य) दानशील, धार्मिक, उदार प्रजाजन के (गृहान्) घरों के (स्वस्ति गच्छतम्) सुखपूर्वक प्राप्त होओ, अथवा उनको सुख कल्याण प्राप्त कराओ ॥

देह पक्ष में—(उत्तौ) आत्मा के देह में निवास के हेतु प्राण, अपान, सुप्रसन्न, (अवीरहणौ) शरीर के समर्थ अंगों का नाश करनेवाले (ब्रह्मचोदनौ) ब्रह्म, आत्मा के प्रेरक दोनों को योगाभ्यास में लगाओ। वे यजमान, आत्मा के देह को सुख से प्राप्त हों या सुख प्राप्त करावें। इसी प्रकार सूर्य और वायु ब्रह्माण्ड में (ब्रह्मचोदनौ) अन्न को प्राप्त कराने वाले, उनको अपने शिल्पकार्यों में लगावें। बैलों के पक्ष में स्पष्ट है ॥

‘अनश्चू’ इति महर्षिसम्मतः पाठः। (अनश्च्यू अनः-च्यू १) ‘अनस’ शकट को ‘च्यू’ उठाने वा ले जानेवाले, राष्ट्र रूप शकट को वह न करने वा चलाने वाले अथवा स्त्री पुरुषों पर भी यह मन्त्र लगता है। (अवीरहणौ) वीर, पुत्रों का नाश न करनेवाले, (ब्रह्मचोदनौ) वेद का स्वाध्याय करने वाले (अनश्चू) आंसू न बहाने वाले, परस्पर सुप्रसन्न, (धूर्पाहौ) गृहस्थ के भार को सहने में समर्थ, (उत्तौ) एकत्र बसने वाले, अथवा (उत्सर्पिणौ) उन्नत मार्ग पर जानेवाले दोनों को (युज्येथाम्) गृहस्थ में लगाया जाय। ऐसे युवा युवति, यजमान यज्ञशील, धार्मिक पुरुष के घरों पर आवें और सुख प्रदान करें ॥

‘भद्रो मेऽसि प्रच्यवस्व भुवस्पते विश्वान्यभिधामानि।
मा त्वा परिपरिणो विदन् मा त्वा परिपन्थिनो विदन् मा त्वा
वृका श्रघायवो विदन्।’ श्येनो भुत्वा परापत यजमानस्य
गृहान् गच्छ तन्नौ सथंस्कृतम् ॥ ३४ ॥

३४—भद्रो मे सौम्यम्। सर्वो०।

यजमानो देवता । (१) भुरिगार्पी गायत्री । पङ्कजः । (२) भुरिगार्ची
वृहती मध्यमः । (३) विराड् आर्ची । गान्धारः ॥

भा०—हे (भुवः पते) पृथ्वी के पालक राजन् ! तू (मे) मुझ
राष्ट्रवासी प्रजाजन के लिये (भद्रः) कल्याण करने और सुख पहुँचाने
वाला (असि) है (विश्वानि धामानि) समस्त राष्ट्र के अन्नर्गत स्थानों
या पृथ्वी पर विद्यमान देशों को (अभि प्र च्यवस्व) प्राप्त हो, उन पर
आक्रमण करके विजय कर । ऐसी दशा में (त्वा) तुझ को (परिपरिणः)
पर्यवस्थाता, तुझे घेर लेने वाले शत्रु गण या आक्रामक, चोर डाकू लोग
(मा विदन्) न पकड़ सकें, तुझ तक न पहुँचे और (परिपन्थिनः)
शत्रु लोग, दस्युजन (मा त्वा विदन्) तुझे न जान पावें । और (अघा-
यवः) तुझ पर हत्या आदि का पाप करने की इच्छा वाले (वृकाः)
चोर लोग (मा त्वा विदन्) तुझे न पावें । तू उन पर (श्येनः भूत्वा)
श्येन होकर, अर्थात् शिकार पर जिस प्रकार बाज़ क्षपटता है उसी प्रकार,
उन पर (परापत) दूर तक आक्रमण कर और विजयी होकर आ । या
(श्येनो भूत्वा परापत) श्येन बाज के समान शीघ्रगामी होकर उनके
फन्दों से छूट आ । (यजमानस्य) सत्संग करने योग्य पूजनीय विद्वान्
पुरुषों के (गृहान् गच्छ) गृहों को या उनसे बसे द्वीप, देश देशान्तर को
प्राप्त हो । (नौ) हम प्रजाजन और तुझ राजा दोनों का (तत्) वह
विजयोपयोगी युद्धोपकरण, रथ आदि सब (सुसंस्कृतम्) उत्तम रीति से
सुसज्जित हो । या (नौ तत् सुसंस्कृतम्) हमारा परस्पर वह सब शासन
और विजय कार्य उत्तम रीति से हो ॥

नमो मित्रस्य वरुणस्य चक्षसे महो देवाय तदृतथं सर्पयत ।
दुरेदृशे देवजाताय केतवे दिवस्पुत्राय सूर्याय शथंसत ॥३५॥

३५—अभितपनः सूर्य ऋषिः । सर्वा० । अभितपाः सौम्यः ऋ० । वरसः ऋषिः । द० ।

अभितपनः सूर्योऽभितपाः सौर्यो वा ऋषिः । सूर्यो देवता । निचृदार्पी जगती । निषादः ॥

भा०—(मित्रस्य) सबके मित्र, सबके स्नेही, सबको मरण से बचाने वाले (वरुणस्य) सर्वश्रेष्ठ, सर्वदुःखवारक, सबसे वरण करने योग्य, (चक्षसे) सर्वद्रष्टा उस परमेश्वर को (नमः) हम नमस्कार करें । (महः देवाय) महान् उस सर्वप्रद, सर्वदर्शी, सर्वप्रकाशक परमेश्वर के (तत् ऋतम्) उस सत्यस्वरूप, सत्य ज्ञान की (सपर्यतः) पूजा करें । (दूरे दृशे) दूर २ के पदार्थों को भी दिखाने वाले (देवजाताय) दिव्यगुणों से प्रसिद्ध या देव, विद्वानों द्वारा प्रसिद्ध या पृथिवी, अग्नि, वायु, सूर्य आदि दिव्य पदार्थों के उत्पत्तिस्थान उस (केतवे) सर्वप्रज्ञापक, ज्ञानस्वरूप, चित्स्वरूप, (दिवः पुत्राय) प्रकाशस्वरूप, सर्वपवित्रकारक या समस्त दिव्य, द्यौलोक या तेजोमय पदार्थों के पवित्रकारक, संस्कारक, प्रकाशक या उसमें व्यापक (सूर्याय) सबके प्रेरक, चराचर रूप परमैश्वर्य के कारणभूत परमेश्वर के (शंसत) गुणों का गान करो ।

राष्ट्र पक्ष में—मित्र, वरुण दोनों अधिकारियों का आदर करो, मार्गदर्शी देव, विद्वान् पुरुष या राजा के 'ऋत' ज्ञान या कानून का आदर करो । दूरदर्शी विद्वानों और राजाओं में शक्तिमान् ज्ञानी, दिव्य वेदवाणी के पुत्र उसके विद्वान् ज्ञानसूर्य के गुणों की प्रशंसा करो ॥

वरुणस्योत्तममनमसि वरुणस्य स्कम्भसर्जनी स्थो वरुणस्य ऋतसदन्यासि वरुणस्य ऽऋतसदनमसि वरुणस्य ऽऋतसदनमासीद ॥ ३६ ॥

सूर्यो देवता । विराड् ब्राह्मी हृती मध्यमः ।

३६—वरुणस्य पञ्च वारुणानि । सर्वा० । वरुणो ० 'सदनीमासीद' इति काण्व० ॥

भा०—हे परमेश्वर ! तू (वरुणस्य) वरण करने योग्य, इस श्रेष्ठ जगत्-ब्रह्माण्ड का (उत्त-तम्भनम्) ऊपर उठानेहारा बल है । हे परमेश्वर ! तू (वरुणस्य) इस ब्रह्माण्ड का (स्कम्भसर्जनी स्थः) खम्भे के समान आश्रय देने और 'सर्जनि' उत्पन्न करने या प्रेरणा देने, दोनों प्रकार का बल रूप (स्थः) है । अथवा (स्कम्भसर्जनी स्थः) या जगत् के या आवरणकारी वायु के, आधार शक्तियों, मूल तत्त्वों को सर्जन और प्रेरण करने वाले दोनों बलरूप हैं । हे परमेश्वर ! तू ही (वरुणस्य) सर्वोपरि विराजमान सूर्य के भीतर विद्यमान (ऋतसदनी) ऋत अर्थात् जलों को धारण और लोकों के आकर्षण करने वाली शक्ति है । (वरुणस्य) वरुण, समस्त उत्तम पदार्थों के (ऋत-सदनम् असि) यथार्थ सत्य ज्ञान का आश्रय है । हे परमेश्वर ! तू (वरुणस्य ऋत-सदनम्) वरुण—सर्व उत्तम गुणों के सत्यज्ञानों के आश्रय को (आसीद) स्वयं प्राप्त करने और अन्यो को प्राप्त कराने हारा है ॥

राजा के पक्ष में—हे विद्वान् पुरुष ! तू 'वरुण' वरण करने योग्य सर्वश्रेष्ठ राजा का 'उत्तम्भन' ऊपर उठाने वाला, आश्रयभूत है । हे विद्वत्-सभाओ ! तुम वरुण राजा का (स्कम्भसर्जनी स्थः) आधार भूत, अन्य शासक पदाधिकारी जनों को धारण करने वाली और व्यवस्था नियम को बनाने और चलाने वाली दो राजसभा हो । एक राजनियम-निर्मात्री 'लेजिस्लेटिव', दूसरी संचालिका 'एक्जीक्यूटिव' सभा, और हे तीसरी सभा ! तू (ऋतसदनी असि) ऋत, ज्ञानों का आश्रयभूत विद्वत्-सभा या ज्ञानसभा है, और हे सभाभवन ! तू (वरुणस्य ऋतसदनम् असि) सर्वश्रेष्ठ स्वयंवृत राजा के ऋत या राज्यशासन का मुख्यस्थान, केन्द्र या सिंहासन या उच्च सभापति का अधिकारासन है । हे सर्वश्रेष्ठ पुरुष ! तू (ऋतसदनम् आसीद) उस शासन और न्याय के उत्तम आसन पर विराजमान हो । सब को न्याय प्रदान कर ॥

सूर्य के पक्ष में—वह वहण अपने वरणकारी ग्रह मण्डल का आरम्भक है। उसको थामने और गति देने वाला है, उसकी शक्ति का स्वयम् ऋत अन्न, जल आदि का आश्रय है।

या ते धामानि हविषा यजन्ति ता ते विश्वा परिभूरस्तु यज्ञम् ।
गयस्फानः प्रतरणः सुवीरोऽवीरहा प्र चरा सोम दुर्यान् ॥३७॥

ऋ० १ । ११ । ११ ॥

गोतमो राहूगण ऋषिः । यज्ञो देवता । निचृद्वाषां त्रिष्टुप् । धैवतः स्वरः ॥

भा०—हे सोम ! राजन् ! परमेश्वर (या धामानि) जिन स्थानों को (हविषा) आदान अर्थात् साधन या वश करने के साधनों से (यजन्ति) तेरे सैनिक प्राप्त कर लेते हैं, (ता) उन (ते) तेरे (विश्वा) सब पर तू (यज्ञम्) यज्ञ = शासन, सबके संगम स्थान, शासन, सभाभवन का (परिभूः) सब प्रकार से समर्थ अधिकारी होकर (अस्तु) रह । और तू (गयस्फानः) अपने प्रजा के पुत्र, धन और गृह ऐश्वर्य आदि की वृद्धि करता हुआ, (प्रतरणः) नाव के समान उनका सब कष्टों से पार करता हुआ (सुवीरः) उत्तम वीर भटों से युक्त, (अवीरहा) वीरों को व्यर्थ युद्धकलहों में नाश न करता हुआ (दुर्यान्) हमारे गृहों को (प्र चर) प्राप्त हो, हमसे परिचय प्राप्त कर ॥

ईश्वर पक्ष में—हे ईश्वर ! जिन तेरे बनाने, धारण शील आश्रय पदार्थों, मूल तत्त्वों को विद्वान् जन (हविषा) ग्राह्य या दातव्य पदार्थ या कार्यसाधक पदार्थ से (यजन्ति) मिलाने हैं उन (ते) तेरे बनाये समस्त पदार्थों को हम भी मिलावें, प्राप्त करें और जो तेरा (गयस्फानः) ऐश्वर्यवर्धक (सुवीरः) उत्तम बलयुक्त (अवीरहा) कातर मनुष्यों का नाशक (यज्ञम्) यज्ञ है, उस पर तू (परिभूः) सब प्रकार से शासक है । हे सोम, सर्वेश्वर या विद्वन् ! तू स्वयं यज्ञ का सम्पादन कर गृहों को

३७—या ते सौमी त्रिष्टुभम् गोतमः । सोमो देवता । ऋ० ॥

प्राप्त हो, गृह के कार्यों को सम्पादन कर । अथवा हे परमेश्वर ! तू
 (या ते विश्वा धामानि) जितने तेरे धाम, धारण सामर्थ्यों और तेजों
 को विद्वान् लोग (हविषा यजन्ति) ज्ञानपर्वक उपासना करते हैं । (ता
 विश्वा ते) वे तेरे ही सामर्थ्य हैं । और तू (यज्ञम् परिभूः अस्तु)
 यज्ञ, समस्त प्राणों के संगमस्थान आत्मा के ऊपर भी वश करने हारा
 है । आप (गयस्फानः प्रतरणः सुवीरः) प्राण, पुत्र, धन, गृह आदि के
 वर्धक, दुःखों से पार उतारने वाले, उत्तम बलशाली, (अवीरहा) वीर
 पुरुषों के नाश न करने और कातरों के नाश करने वाले हैं । हे (सोम
 दुर्यान् प्रचर) सोम ! राजन् ! हमारे भी द्वारों से युक्त इस अष्टचक्रा नव
 द्वारा पुरी के हृदयों में प्रकट होइये ।

॥ इति चतुर्थोऽध्यायः ॥

[तत्र सप्तत्रिंशद्वचः]

इति मीमांसार्थ-प्रतिष्ठितविद्यालंकारविरुद्धोपशोभितश्रीमत्पाण्डितजयदेवशर्मकृते

यजुर्वेदालोकभाष्ये चतुर्थोऽध्यायः ॥



अथ पंचमोऽध्यायः ।

१—४३ प्रजापतिर्ऋषिः ॥

॥ ओ३म् ॥ अग्नेस्तनूरसि विष्णवे त्वा सोमस्य तनूरसि
विष्णवे त्वातिथेरातिथ्यमसि विष्णवे त्वा श्येनाय त्वा सोमभृते
विष्णवे त्वाग्नये त्वा रायस्पोषदे विष्णवे त्वा ॥ १ ॥

विष्णुदेवता । स्वराड् ब्राह्मी बृहती । मध्यमः ॥

भा०—हे अन्न या जीवनप्रद ! हे योग्य पुरुष ! तू (अग्नेः तनूः असि) अग्नि का स्वरूप है। (विष्णवे त्वा) तुझको राज्य शासन रूप यज्ञ या व्यापक राज्यव्यवस्था के कार्य के लिये प्रदान करता हूँ। हे जल, तू (सोमस्य तनूः असि) सोम का शरीर है। (त्वा विष्णवे) तुझको मैं व्यापक, प्रजापालक के लिये प्रदान करता हूँ। हे जल ! तू (अतिथेः) अतिथि के लिये (आतिथ्यम् असि) आतिथ्य है। अर्थात् अतिथि के समान पूजनीय राजा के निमित्त है। (त्वा) तुझे (विष्णवे) विष्णु, व्यापक राज्य-शासन के लिये, (श्येनाय त्वा) श्येन = बाज के समान शत्रु पर आक्रमण करने वाले वा सदाचारी, (सोमभृते) सोम-राष्ट्र को पालन पोषण करने वाले के लिये (त्वा) तुझे नियुक्त करता हूँ। (विष्णवे त्वा) व्यापक या प्रजा के भीतर पूज्यरूप से रहने वाले (अग्नये) अग्नि के समान ज्ञानप्रकाशक या शत्रुतापक और (रायः पोषदे) धन की समृद्धि और पुष्टि प्रदान करने वाले (विष्णवे त्वा) विष्णु, समस्त कार्यों में मुख्य रूप से वर्तमान पुरुष के लिये (त्वा) तुझे नियुक्त करता हूँ ॥

१—अग्नेस्तनूरसि पञ्च वैष्णवानि । सर्वा० । [१-१४] गोतम ऋषिः । द०॥

भौतिक पक्ष में—हे हवि ! तू अग्नि विद्युत् का दूसरा स्वरूप है ।
 (विष्णवे त्वा) तुझे यज्ञ-पदार्थों के संश्लेषण विश्लेषण के लिये प्रयुक्त करूं,
 तू सोम, जगत् के उत्पन्न पदार्थ या रस का विस्तारक है । तुझे (विष्णवे)
 व्यापक वायु के लिये प्रयुक्त करूं । और हे हविः ! अन्न तू (अतिथेः
 आतिथ्यम् असि) विना तिथि के आये विद्वान् अतिथि के आतिथ्य सत्कार
 करने के योग्य है और व्याप्तिशील, विज्ञान प्राप्ति के लिये तुझे प्रयोग
 करता हूँ । (इत्येनाय त्वा) तुझे इत्येन के समान शीघ्र जाने के लिये,
 (सोमभृते विष्णवे त्वा) सोम, ज्ञान या प्रेरणसामर्थ्य या राजा के
 अपने कर्म पालन पोषण करने वाले या राष्ट्रपोषक, सर्वकर्मकुशल, सर्व-
 विद्या के पारंगत पुरुष के लिये तुझे प्रयुक्त करूं । (अग्नये) अग्नि की
 वृद्धि के लिये तुझको प्रयुक्त करूं । (रायस्पोषदे विष्णवे त्वा) विद्या,
 ऐश्वर्य की पुष्टि, समृद्धि प्राप्त कराने वाले (विष्णवे त्वा) सद्गुण विद्या
 आदि की प्राप्ति के लिये भी तेरा प्रयोग करूं ॥ शत० ॥

अर्थात् यज्ञ, विद्वान्, अतिथि, शूरवीर, शत्रुविजयी पुरुष, राष्ट्र-
 पालक धनैश्वर्य का प्रदाता ये सब 'विष्णु' हैं और उनके लिये राष्ट्र के
 भिन्न २ प्रकार के योग्य, आदर योग्य पदार्थ प्रदान करें । उनको उचित
 योग्य पुरुष सहायक दिये जायं और उन कार्यों के लिये उत्तम योग्य
 पुरुष नियुक्त करें इस प्रकार ५ प्रकार के विष्णु हैं । १ अग्नि विष्णु, २
 सोम विष्णु, ३ अतिथि विष्णु, ४ इत्येन विष्णु, ५ रायस्पोषद अग्नि विष्णु ।
 इन के लिये ५ प्रकार की विशेष हवि या अन्नादि सामग्री प्रस्तुत करें ।
 जैसे शरीर में आत्मा प्रजापति पाँच प्राण, जैसे संवत्सरमय सूर्य के पाँच
 ऋतु वैसे राजा प्रजापति के ये पाँच विष्णु अर्थात् पाँच विभाग हैं जहाँ
 राजा अपने कोश और अन्न को प्रदान करे ॥

अग्नेर्जनित्रमासि वृषणौ स्थऽउर्वश्यस्यायुरासि पुरुरवा
 ऽआसि । इगायत्रेण त्वा छन्दसा मन्यामि त्रैष्टुभेन त्वा छन्दसा

मन्थामि जागतेन त्वा छन्दसा मन्थामि ॥ २ ॥

विष्णुर्यज्ञो वा देवता । (१) आर्षी गायत्री । षड्जः ।

(२) आर्षी त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—हे राष्ट्र ! तू (अग्नेः जनित्रम् असि) जिस प्रकार अग्नि को उत्पन्न करने के लिये नीचे काष्ठखण्ड रक्खा होता है, उस पर अग्नि उत्पन्न होती है उसी प्रकार तू भी (अग्नेः) अग्नि के समान शत्रुतापक राजा का (जनित्रम्) उत्पन्न करने वाला, उसका भोग्य रूप अन्न है । हे शत्रुहिंसक सेनापति और मन्त्रिन् ! तुम दोनों (वृषणौ स्थः) जिस प्रकार पुत्र को उत्पन्न करने वाले माता पिता दोनों वीर्य सेचन क्रिया में समर्थ होते हैं उसी प्रकार तुम दोनों भी (वृषणौ) सूर्य, वायु के समान राजा के समस्त कार्यों में बल प्रदान करने वाले हो । हे राजसभे ! (उर्वशी असि) तू उस विशाल राष्ट्र को वश करने में समर्थ है । हे राजन् या सभापते ! तू (पुरुरवाः असि) वृत्त से पुरुषों तक अपना ज्ञानमय उपदेश पहुंचाने में समर्थ सुवक्ता, उपदेष्टा है । हे राजन् ! (त्वा) तुझको (गायत्रेण छन्दसा) ब्राह्मणों, विद्वान् पुरुषों के रक्षा-बल से (मन्थामि) मथता हूँ । (त्रैष्टुमेन छन्दसा) त्रिष्टुप् अर्थात् क्षात्र बल से मथता हूँ । (त्वा जागतेन छन्दसा मन्थामि) तुझको जागत अर्थात् वैश्य के बल से मथता हूँ, तुझे उन सामर्थ्यों से युक्त करता हूँ ॥

पुत्रोत्पत्ति पक्ष में—जिस प्रकार हे वीर्य रूप हवि ! तू अग्नि, चेतना का उत्पत्तिस्थान है, शरीर में (वृषणौ स्थः) सेचन समर्थ स्त्री पुरुष हैं । उर्वशी स्त्री है, पुरुरवा पुरुष पति है । उसी प्रकार यह सूर्य का तेज ही विद्युत् का उत्पत्ति स्थान है । सूर्य और वायु जल को आकाश में सेचन

२—अग्नेः शकलम् । वृषणौ दर्भतरुणके । उर्वश्यासि त्रयाणां लिंगोक्ताः देवताः । गायत्रेण त्रीण्याग्नेयानि । सर्वा० ।

करते हैं, उर्वशी विद्युत् है। उसका पालक मेघ पुरुरवा महान् गर्जन करता है। गायत्री आदि पृथिवी, अन्तरिक्ष द्यौ लोक के भिन्न २ व्यापार से वह मथित होकर उत्पन्न होती है ॥

भवतन्नः समनसौ सचेतसावरेपसौ मा यज्ञं हिंसिष्टं
मा यज्ञपतिं जातवेदसौ शिवौ भवतमद्य नः ॥ ३ ॥

यज्ञो देवता । आर्षी पंक्तिः । पंचमः ॥

भा०—हे स्त्री और पुरुष ! तुम दोनों ! (नः) हममें (सचेतसौ) समान चित्त वाले, (अरेपसौ) पापरहित, (समनसौ) एक समान ज्ञान या संकल्प विकल्प वाले (भवतम्) होकर रहो । तुम दोनों (यज्ञम्) एक दूसरे के प्रति परस्पर दान या परस्पर के संग को (मा हिंसिष्टम्) विनाश मत करो । (यज्ञपतिम्) इस यज्ञ के पालक को भी नाश मत करो । (जातवेदसौ) धन और ज्ञान से युक्त होकर (अद्य) आज से (नः) हमारे लिये (शिवौ) कल्याण और सुखकारी (भवतम्) होकर रहो । इसी प्रकार अध्यापक शिष्य, राजा प्रजा, राजा सचिव आदि पर भी यह मन्त्र समान रूप से लगता है ॥ शत० ३ । ४ । १ । २०—२३ ॥

अग्नावग्निश्चरति प्रविष्टः ऋषीणाम्पुत्रो अभिशस्तिपावा । स नः
स्थोनः सुयजा यज्ञह देवेभ्यो हव्यं स दमप्रयुच्छन् स्वाहा ॥४॥

अग्निदेवता । आर्षी त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—जो (अभिशस्ति-पावा) चारों तरफ से होने वाला, घातक विपत्ति से बचाने वाला (ऋषीणाम् पुत्रः) वेदार्थवक्ता ऋषियों का पुत्र या शिष्य होकर (अग्नौ) अग्नि में जिस प्रकार (अग्निः) अग्नि (प्रविष्टः) प्रविष्ट होकर और अधिक प्रदीप्त हो, उसी प्रकार (अग्निः) अग्नि के समान तेजस्वी, तपस्वी और ज्ञानी होकर (अग्नौ) ज्ञान और तेज से

३—० 'सचेतसा अरेप०' इति काण्व० ॥

सम्पन्न गुरु के अधीन उसके चित्त में (प्रविष्टः) प्रविष्ट होकर (चरति) व्रत का आचरण करता है या अपने जीवन सुखों का, या अन्न आदि का भोग करता है और (देवेभ्यः) देवों, विद्वानों के लिये (हव्यम्) अन्न और (सदम्) निवासस्थान (स्वाहा) उत्तम वचन, मधुर वाणी सहित आदर पूर्वक (अप्रयुच्छन्) प्रदान करने में कभी आलस्य न करता हुआ (चरति) जीवन पालन करता है । हे मनुष्य ! तू (सः) वह (स्योनः) सर्व सुखकारी (सुयजा) उत्तम यज्ञ, दान कर्म से (इह) इस लोक में (यज) यज्ञ कर, दान पुण्य के कार्य कर ।

राजा सबका रक्षक विद्वानों का पुत्र होकर मानो अग्नि में अग्नि के समान प्रविष्ट होकर खूब तेजस्वी होकर विचरता है । वह प्रमाद रहित होकर उत्तम रीति से दान करे । अपने अधिकारी देव पुरुषों को उनका वेतन आदि देने में और विद्वानों को अन्न वस्त्र देने में भी आलस्य न करे ॥ शत० ३ । ४ । १ । २ । ५ ॥

१ आपतये त्वा परिपतये गृह्णामि तनूनम् शक्वराय शक्नोऽञ्जो-
जिष्ठाय । २ अनाधृष्टमस्यनाधृष्यं देवानामोजोऽनभिशस्त्यमिश-
स्तिपाऽअनामिशस्तेन्यमञ्जसा सत्यमुपगेषथं स्विते मा धाः ॥ १ ॥

विद्युद् देवता । (१) आर्षी उष्णिक् । ऋषभः ।

(२) भुरिगार्षी पंक्तिः । पंचमः ॥

भा०—हे सर्वश्रेष्ठ, सर्वोत्तम पुरुष ! मैं (त्वा) तुझको अपना (आपतये) चारों तरफ से, सब प्रकार से रक्षक होने के लिये, (परिपतये) सब स्थानों पर पालकरूप से, (तनूनम्) शरीर के रक्षकरूप से (शक्ने) शक्तिमान्, (शक्वराय) शक्तिशालियों के भी ऊपर उनके

१—आपतये वायव्यम् । अनाधृष्टमाज्यम् । सर्वा० ॥ 'आपतये त्वा गृह्णामि परिपतये त्वा गृ०', 'शक्मन्नाजि०' 'स्विते मा धाः' इति काण्व० ॥

अधिपतिरूप से विराजने के लिये (गृह्णामि) तुझे स्वीकार करता हूँ । हे राजन् ! सब से मुख्य उत्कृष्ट पुरुष ! तू (अनाष्टयम्) कभी भी पराजित न होने वाला (देवानाम्) देव, युद्धविजेता पुरुषों का (ओजः) शरीर में ओज के समान परम बल है । जो (अनभिशस्ति) कभी विनाश नहीं किया जा सकता, (अभिशस्तिषा) सब बाधाओं, पीड़ाओं और आघातों से रक्षा करने वाला और (अनभिशस्तेन्यम्) विपत्ति, घात-प्रतिघात से रहित, निर्विघ्न मार्ग में सबको लेआने, पहुँचा देने वाला है । (अजसा) जल्दी ही या स्पष्टरूप से, प्रकाश रूप से मैं (सत्यम्) अपने सत्य परिपालन के व्रत को (उपगेषम्) प्राप्त होऊँ । हे राजन् ! तू (स्विते मा धाः) सज्जनों से प्राप्त होने योग्य उत्तम मार्ग में स्थापित कर ॥

सब लोग अपने राष्ट्र को अजेय बना लेने के लिये शपथ पूर्वक अपने से श्रेष्ठ शक्तिशाली पुरुष को उत्कृष्ट रूप से अपना सर्वस्व स्वामी वरण करें और उससे द्रोह न करने की प्रतिज्ञा करें । वह उनको उत्तम मार्ग में रखे । आधिभौतिक में वायु, अध्यात्म में प्राण और परमेश्वर पक्ष में भी यह मन्त्र, समानरूप से है । इसी मन्त्र से शिष्य भी आचार्य का वरण करे ॥ शत० ३ । ४ । १ । १०-१४ ॥

अग्ने॑ व्रत॑पास्त्वे व्रत॑पा या तव॑ तनू॑रिय॑त्वं सा मयि॑ यो मम॑ तनू॑रेषा सा त्वयि॑ । सह॑ नौ व्रत॑पते व्रतान्यनु॑ मे दी॒क्षान्दी॒क्षा-
पति॑र्मन्य॑तामनु॑ तप॑स्तप॑स्पतिः ॥ ६ ॥

अग्निर्देवता । विराड् ब्राह्मी पंक्तिः । पंचमः ॥

भा०—हे अग्ने ! आचार्य ! अथवा परमेश्वर वा राजन् ! आप (व्रतपाः) व्रतों के, सत्य धर्माचरण और प्रजाओं के परस्पर व्यवहार शासन व्यवस्थाओं के पालक हैं । (त्वे) तेरे अधीन मैं (व्रतपाः) व्रतों

६—‘१था मम०’ इति काण्व० ॥

का पालन करने हारा होऊं । (तव) आपके (या) जो (तनूः)
विस्तृत शक्ति है (इयं) यह (सा) वह शक्ति (मयि) मुझ
पर शासन करे और (या) जो (मम) मेरे में (तनूः) व्यापक
सामर्थ्य है (सा) वह (त्वयि) तुझ में, तेरे आधीन रहे । हे (व्रत-
पते) व्रतों के पालक ! (नौ) हम दोनों के (व्रतानि) समस्त व्रत
(सह) एक साथ रहें । (दीक्षापतिः) दीक्षा का पालक (मे) मुझे
(दीक्षाम् अनु मन्यताम्) दीक्षा ग्रहण करने की अनुमति प्रदान करे ।
और (तपः-पतिः) तपश्चर्या का पालक, आचार्य और परमेश्वर (तपः)
मुझे तपो व्रत ग्रहण करने की अनुमति दे । राजा और उसके अधीन
प्रतिज्ञाबद्ध श्रुत्य, सेवक, सहायक एवं सेनापति, सैनिक और आचार्य,
शिष्य परस्पर ऐसी प्रतिज्ञा करें । शिष्य इस प्रार्थना से दीक्षा ले तप का
पालन करे ॥ शत० ३ । ४ । ३ । १-९ ॥

१ अ० अंशुर० अंशुष्टे दर्वे सोमाप्यायतामिन्द्रायैकधनविदे । आ तु
भ्यमिन्द्रः प्यायतामा त्वमिन्द्राय प्यायस्व । ३ आप्याययास्मान्स-
खीत्सन्त्यामेधया स्वस्ति ते देव सोम सुत्यामशीय । एष्टा रायः
प्रेषे भगाय ऽऋतमृतवादिभ्यो नमो द्यावापृथिवीभ्याम् ॥ ७ ॥

सोमो देवता । (१) आर्षी बृहती । मध्यमः । (२) आर्षी जगती ।

निषादः ॥

भा०—हे (देव सोम) प्रकाशस्वरूप सोम ! सर्वोत्पादक, सर्व-
प्रेरक परमेश्वर या परब्रह्मानन्द ! (ते अंशुः अंशुः) तेरा प्रत्येक अंशु,
तेरी प्रत्येक व्यापक शक्ति (एक-धन-विदे) एक विज्ञान मात्र धन को
लाभ करने वाले, (इन्द्राय) परमैश्वर्य युक्त ज्ञानसम्पन्न आत्मा को

७—अग्निदेवतति माधवः । लिंगोक्ता इति० सर्वा० । ० 'सुत्यामुदृचमशीय ।'

० 'नमः पृथिव्यै' । इति काण्व० ॥

(आप्यायताम्) बढ़ावे, उसको शक्ति प्रदान करे । (इन्द्रः) और वह इन्द्र (तुभ्यम्) तुझे (आप्यायताम्) बढ़ावें, (त्वम्) तू (इन्द्राय) इन्द्र को (आप्यायस्व) बढ़ा ! (अस्मान् सखीन्) हम मित्रों को भी (सन्न्या मेधया) सत् स्वरूप तक पहुंचाने वाली मेधा, धारणावती प्रज्ञा से (आप्यायय) बढ़ा, तृप्त कर । हे (देव सोम) प्रकाशस्वरूप सोम ! योग समाधि द्वारा प्राप्त ब्रह्मानन्द रस ! हम (स्वस्ति) सुख-पूर्वक (ते) तेरे (सुत्याम्) आनन्द रस की प्राप्ति को (अशीय) लाभ करें । हे सोम परमेश्वर ! (आ इष्टाः) सब प्रकार से इष्ट (रायः) ऐश्वर्यों को (इषे) अन्न और उत्तम कामना और (भगाय) ऐश्वर्य की प्राप्ति के लिये (प्र) उत्तम रीति से प्राप्त करें । (ऋतवादिभ्यः) सत्यवादी पुरुषों से हम (ऋतम्) सत्य ज्ञान प्राप्त करें और (द्यावापृथिवीभ्याम्) द्यौ और पृथिवी से हम (नमः) अन्न प्राप्त करें ॥

राष्ट्र पक्ष में—हे सोम राष्ट्र ! तेरा एक अंशु एक मात्र धन के स्वामी राजा को बढ़ावें, या उसके लिये बढ़े । तुझे इन्द्र राजा बढ़ावे । तू राजा के लिये वृद्धि को प्राप्त हो । हमारे मित्र राष्ट्र को (सन्न्या मेधया) सन्मार्गसे लेजाने वाली बुद्धि से बढ़ा । सुख पूर्वक हम तेरी (सुत्या) प्रेरक आज्ञा, या शासन व्यवस्था में रह कर इष्ट धनों को प्राप्त करें । उत्तम अन्न ऐश्वर्य लाभ करें । सत्यज्ञानियों से ज्ञान और द्यौ पृथिवी में से अन्न प्राप्त करें । इसी प्रकार हे सोम ! हे शिष्य ! एक मात्र विज्ञान के धनी आचार्य के लिये तेरा प्रत्येक अंग बढ़े, तुझे वह बढ़ावे, तू उसे बढ़ावे । हमारे स्नेहियों को सन्मार्ग गामिनी बुद्धि से बढ़ा । तेरी ज्ञान प्राप्ति में हम धन प्राप्त करें । तू ज्ञानियों से ज्ञान प्राप्त कर । द्यौ और पृथिवी से बल, धन, अन्न प्राप्त कर । इस प्रकार भिन्न २ प्रकरण में मन्त्रार्थ जानना चाहिये ॥

१या तेऽअग्नेऽयःशया तनूर्वर्षिष्ठा गह्वरेष्ठा । उग्रं वचोऽअपावधीत्स्वेषं वचोऽअपावधीत् स्वाहा । २या तेऽअग्ने रजःशया तनूर्वर्षिष्ठा गह्वरेष्ठा । उग्रं वचोऽअपावधीत्स्वेषं वचोऽअपावधीत् स्वाहा । या तेऽअग्ने हरिशया तनूर्वर्षिष्ठा गह्वरेष्ठा । उग्रं वचोऽअपावधीत्स्वेषं वचोऽअपावधीत् स्वाहा ॥ ८ ॥

आग्निदेवता । (१) विराड् आपीं बृहती ।

(२) निचृदापीं बृहती । मध्यमः ।।

भा०—हे (अग्ने) अग्ने ! राजन् ! (या) जो (ते) तेरी (तनूः) व्यापक शक्ति (अयःशया) अयस् अर्थात् निम्न श्रेणी की प्रजाओं में प्रसुप्त रूप में विद्यमान, (वर्षिष्ठा) नाना सुखों की वर्षा करने वाली (गह्वरेष्ठा) प्रजा के हृदयों में बसी है, वह शत्रुओं के (उग्रं वचः अपावधीत्) उग्र, भयकारी वचन का नाश करती है । और (त्वेषं वचः प्रदीप्त क्रोध-पूर्ण वचन को (अपावधीत्) नाश करती है । उसी प्रकार हे अग्ने ! (या ते तनूः) जो तेरी विस्तृत शक्ति (रजः शया) रजस्, अर्थात् राजस्, क्रिया-शील मध्यम श्रेणी के लोगों में व्याप्त है वह भी (वर्षिष्ठा) अति सुख वर्षक या बड़ी विस्तीर्ण और (गह्वरेष्ठा) निगूढ है । (उग्रं वच० इत्यादि) वह भी शत्रु के भयंकर और तीखे वचनों का नाश करती है । इसी प्रकार हे (अग्ने) राजन् ! (या ते तनूः) जो तेरी विस्तृत शक्ति (हरि-शया) हरणशील या ज्ञानवान् पुरुषों के भीतर या हरणशील, अश्व आदि पशु और सवारियों में, (वर्षिष्ठा गह्वरेष्ठा) अतिविस्तृत और निगूढ रूप से विमान है वह भी (उग्रं वचः अपावधीत्, स्वे वचः अपावधीत्) शत्रु के उग्र और तीक्ष्ण वचनों का नाश करती है । (स्वाहा) वह शक्ति राजा का उत्तम वचन ज्ञान रूप ही है ॥

विद्युत् और अग्नि पक्ष में—हे अग्ने ! तेरी जो (तनूः) शक्ति (अयःशया) लोह आदि धातु में है और तेरी शक्ति (रजःशया)

सूक्ष्म परमाणुओं में विद्यमान है और जो (हरिःशया) तीव्र गतिमान विद्युत्, प्रकाश, ताप आदि में विद्यमान है वह (वर्षिष्ठा गह्वरेष्ठा) अति बलवती और बहुत निगूढ़ है। वह भी (उग्रं) अति भयंकर (वचः) शब्द (अपावधीत्) उत्पन्न करती है। (त्वेपं वचः अपावधीत्) तीव्र वचन या शब्द या तेजोमयरूप उत्पन्न करने में समर्थ है। (स्वाहा) वह शक्ति उत्तम रीति से सब पदार्थों के भीतर विद्यमान है ॥

परमेश्वर के पक्ष—हे अग्ने ! परमात्मन् ! जो तेरी शक्ति (अयःशया) दिशाओं में या इस भूलोक में, (रजःशया) समस्त लोकों में और (हरिःशया) द्योलोक या आदित्य में व्यापक है वह (वर्षिष्ठा) सबसे महान् और (गह्वरेष्ठा) सबके भीतर गुप्तरूप से विद्यमान है। वह (उग्रं वचः अपावधीत्) बड़े बलवान् वचन या विज्ञान को प्रकट करती है। (त्वेपं वचः अपावधीत्) वह बड़े तीव्र वचन अर्थात् सुतीक्ष्ण ज्ञान को प्रकट करती है ॥ शत० ३।४।४।२३-२५ ॥

इस मन्त्र में कुछ शब्दों के स्पष्टीकरण नीचे लिखे उद्धरण, से स्पष्ट करते हैं—‘अयः’= दिशो वा अयस्मरयः। तै० ३।स ६।५।विशः एतद् रूपं यदयः। श० १३।२।२।१९ ॥ भूलोकस्य रूपमयस्मरयः। तै० ३।७।६।५ ॥ ‘रजः’—द्यौर्वै तृतीयं रजः। श० ६।७।४।५ ॥ इयं रजता। तै० १८।७।८ ॥ अन्तरिक्षस्य रूपं रजता। तै० ३।७।६।५ ५ ॥ राष्ट्रं हरिणः। श० १३।२।९।८ ॥ हरिणी हि द्यौः श० १४।१।३।१७ ॥ विड् वै हरणी। तै० ३।९।७।२ ॥ हरिश्रियः पशवः। तां० १५।३।१० ॥

‘तृप्तायनी मेऽसि वित्तायनी मेऽस्यवतान्मा नाधितादवतान्मा व्यधितात्। विदेदग्निर्नभो नामाग्नेऽश्रङ्गिर आयुन्ना नाम्नेहि

योऽस्यां पृथिव्यामसि यत्तेऽनाधृष्टं नाम यज्ञियं तेन त्वा दधे
विदेदग्निर्नभो नामाग्नेऽअङ्गिर आयुना ^३नास्नेहि यो द्वितीयस्यां
पृथिव्यामसि यत्तेऽनाधृष्टं नाम यज्ञियं तेन त्वा दधे विदेदग्निर्नभो
नामाग्नेऽअङ्गिरऽआयुना नास्नेहि यस्तृतीयस्यां पृथिव्यामसि
यत्तेऽनाधृष्टं नाम यज्ञियं तेन त्वा दधे । ४अनु त्वा देववीतये ॥६॥

अग्निदेवता । (१) मुरिगार्षी गायत्री । षड्जः । (२)

मुरिग् ब्राह्मी बृहती । मध्यमः । (३) निचृद् ब्राह्मी जगती,

निषादः याजुष्यनुष्टुप् । गांधारः ॥

भा०—(१) (तसायनी मे असि) हे पृथिवि ! तू तप्त, भूख आदि
से पीड़ित या आधिदैविक उत्पादक, हिम, वर्षा, आतप आदि से पीड़ित
पुरुष को अयन अर्थात् शरणरूप में प्राप्त होने वाली है । अथवा 'तप्त'
प्रतप्त या ताप देने वाले अग्न्युत्पादक पदार्थों को देनेवाली है । तू (विता-
अयनी मे असि) हे पृथिवि ! मेरे समस्त वित्त, धन ऐश्वर्य आदि भोग्य
पदार्थों और ज्ञातव्य पदार्थों को प्राप्त कराने वाली है । (मा) मुझको
(नाथितात्) संताप, पीड़ा, दीनता से (अवतात्) बचा । (व्यथितात्
मा अवतात्) व्यथा, कष्ट, शत्रुओं और दुष्ट जीवों के आक्रमण आदि से
बचा । (नभः नाम) नभः, सब प्रजाओं को अपने अधीन बाँधने वाला,
अथवा दुष्टों को बाँधने वाला (अग्निः) अग्रणी नेता पुरुष (नभः नाम)
'नभस्' नाम से प्रसिद्ध है, वह तुझे (विदेत्) प्राप्त करे । हे (अग्ने)
अग्ने ! अग्रणी नेता पुरुष ! हे (अङ्गिरः) शरीर में रस या प्राण के
समान समाज शरीर के प्राणभूत पुरुष ! तू (आयुना नाम्ना) समस्त
प्राणियों को एकत्र कर मिलाने और रक्षा करने हारा होने से 'आयु' है,

६—तसायनी चत्वारि पार्थिवानि । सर्वा० । '०मा व्यथितमवतांमा
नाथितम्' । 'विदेरग्ने०' ० 'दधे विदेरग्नेर्न०' । इति कायव० ॥

उसी 'आयु' नाम से प्रसिद्ध होकर (इहि) यहां प्राप्त हो । (यः) जो तू (अस्याम्) इस (पृथिव्याम्) पृथिवी पर (असि) सामर्थ्यवान् है और (यत्) जो (ते) तेरा (अनाष्टुष्टं) शत्रुओं से न धाँया किया जाने योग्य, दुःसह (यज्ञियम्) परस्पर संगतिकरण करने का बल कर्म है (तेन) उससे (त्वा) तुझे (आदधे) स्थापित करूँ । इसी प्रकार (नभः नाम अग्निः विदेत्) सबको व्यवस्था में बाधने वाला अग्रणी है उसे पृथिवी में प्राप्त करें । हे नभः नाम वाले अग्ने ! हे अङ्गिरः ! ज्ञानवान् ! तू 'आयु' नाम से प्रसिद्ध है । तू सबको एकत्र करने में समर्थ है । तू (द्वितीयस्यां पृथिव्याम् असि) दूसरी पृथिवी, अन्तरिक्ष में भी सामर्थ्यवान् है । वहां जो तेरा अप्रतिहत बल है उससे तुझे स्थापित करता रहूँ । इसी प्रकार हे अग्ने ! तू 'नभः' नामक है (अङ्गिरः) सूर्य के समान तेजस्वी तू सबको जीवनों का प्रदाता 'आयु' इस नाम से (तृतीयस्यां पृथिव्याम् असि) तीसरी पृथिवी-द्यौ में सूर्य के समान तेजस्वी है । हे राजन् (अनाष्टुष्टं नाम यज्ञियम्) जो अप्रतिहत, अविनाशी बल है (तेन त्वा दधे) उससे तुझे स्थापित करूँ और (देव-वीतये) देव, विद्वान्, शक्तिमान् पुरुषों की रक्षा के लिये दिव्य पदार्थों के प्राप्ति या भोग के लिये भी (त्वा अनुदधे) तुझे पुनः स्थापित करूँ । अर्थात्-पृथिवी में जल नामक 'नभः' अग्नि है, अन्तरिक्ष में, वायु या विद्युत् और द्यौलोक में सूर्य तीनों 'नभः' हैं । उन के समान राजा शक्तिशाली, सबको मिलाने धुलाने वाला, तेजस्वी प्राण-प्रद होकर 'आयु' नाम से प्रजा को प्राप्त हो । विद्वान् पुरोहित उसको अप्रतिहत, सर्वोच्च तेज से सम्पन्न करें, उसे राज्य पर स्थापित करें । वह उत्तम, मध्य और निऋष्ट तीनों पर शासन करे और समस्त देव, विद्वान्, शक्तिमान् पुरुषों की रक्षा करे ॥

विद्युत् पक्ष में—विद्युत् मेरे लिये वित्तायनी, ऐश्वर्य के देनेवाली और धनप्रद है । वह ऐश्वर्य से या पीड़ा से हमें रक्षा करे । वह प्रकाशपदः

होने से 'नभः' है। वह शरीर में जाठर अग्निरूप में 'अङ्गिरा' है। वह जीवनप्रापक होने से 'आयु' नाम से हमें प्राप्त है। उसको मैं अविनाशी रूप जीवन सम्पादक ब्रह्मरूप से यज्ञाग्नि के समान धारण करूँ। भौतिक अग्नि 'नभः' अन्तरिक्षस्थ जल को प्राप्त करे। वह अंगार में स्थित होने से 'अंगिरा'। जीवनप्रापक नाना वस्तुओं को प्राप्त करानेवाला होने से 'आयु' है। इसी प्रसिद्ध नाम से वह हमें प्राप्त होवे। वह द्वितीय पृथिवी अर्थात् अन्तरिक्ष में है। उस यज्ञ सम्बन्धी अग्नि को मैं धारण करूँ। तीसरा अग्नि सूर्य 'नभः' आकाश को प्राप्त है। वह (अंगिराः) व्यापक है। वह भी सर्व पदार्थ प्रापक होने से 'आयु' कहाता है। उसी प्रसिद्ध नाम से हमें प्राप्त हो। वह तृतीय कक्षा में विद्यमान भूमि अर्थात् द्यौलोक में है। उस नाना शिल्प विद्याओं के उपयोगी होने वाले यज्ञिय अग्नि को हम दिव्य गुणों के प्राप्त करने के लिये स्वीकार करें, अपने वश करें।

सि॒ध्ं॒ह्यसि सप॒त्नसा॒ही दे॒वेभ्यः॑ क॒ल्पस्व॑ सि॒ध्ं॒ह्यसि सप॒त्नसा॒ही दे॒वेभ्यः॑ शु॒न्धस्व॑ सि॒ध्ं॒ह्यसि सप॒त्नसा॒ही दे॒वेभ्यः॑ शु॒म्भस्व॑ ॥१०॥

वा॒गु॒दे॒वता । ब्रा॒ह्मशु॒ष्णिक् । ऋष॒भः ॥

भा०—हे सेने ! तू (सपत्नसाही ३) शत्रुओं का विजय करनेवाली (सिंही ३) उनका नाश करनेवाली (असि ३) है। तू (देवेभ्यः) देव राजाओं के लिये (कल्पस्व) शक्तिशाली होकर रह। तू उनके लिये (शुन्धस्व) समस्त कण्टकों का शोधन कर, तू (देवेभ्यः शुम्भस्व) देव, राजाओं को शोभित कर, उनकी शान का कारण बन ॥

वाणी के पक्ष में—तू दोषों के नाश करने और शब्दों के धारा प्रवाह बरसाने या उच्चारण करने से 'सिंही' है और प्रेम सिंचन द्वारा, शत्रुओं पर भी अपना अधिकार कर लेने से 'सपत्नसाही' है। तू देव, दिव्य गुण

१०—सि॒ध्ं॒ह्यसि त्रयाणां॑ वेदिः । सर्वा० ॥

वाले पुरुषों, विद्याभ्यासियों और शूरवीर पुरुषों को (कल्पस्व) समर्थ कर, और (देवेभ्यः शुन्धस्व) देव धार्मिकों को शुद्ध कर । और (देवेभ्यः शुम्भस्व) सुशील पुरुषों को सुशोभित कर । यज्ञ में यह उत्तर वेदि है जो स्त्री और पृथिवी की भी प्रतिनिधि है । इससे उन पक्षों में भी इसकी योजना करनी चाहिये ॥

इन्द्रघोषस्त्वा वसुभिः पुरस्तात्पातु प्रचेतास्त्वा रुद्रैः पश्चात्पातु मनोजवास्त्वा पितृभिर्दक्षिणतः पातु विश्वकर्मा त्वादित्यैरुत्तरतः पात्विदमहं तप्तं वावहिर्द्धा यज्ञान्निःसृजामि ॥ ११ ॥

वाग् देवता । निचृद ब्राह्मो । धैवतः ॥

भा०— हे मनुष्यो ! (इन्द्रघोषः) इन्द्र, विद्युत् के घोष या गर्जना के समान गर्जना उत्पन्न करने वाले आग्नेयास्त्र का ज्ञाता पुरुष (वसुभिः) राष्ट्र से सुखपूर्वक बसने में कारण रूप, शत्रुनिवारक योद्धाओं द्वारा (पुरस्तात् पातु) आगे से रक्षा करे । (प्रचेताः) उत्कृष्ट ज्ञानवान् पुरुष (रुद्रः) शत्रुओं को रूलाने में समर्थ बड़े १ सत्ताधारी सदाँर, नृपतियों, क्षत्रिय राजाओं के सहित (पश्चात्) पीछे से (त्वा पातु) तैरी रक्षा करे । (मनोजवाः) मनके वेग के समान वेगवान्, तीव्रगति वाला, अतिशीघ्रगामी रथों का अध्यक्ष, अथवा मानस ज्ञान और विचार से आगे बढ़ने वाला अतिविवेकी पुरुष (पितृभिः) पालन या रक्षा करने में समर्थ, वृद्ध, ज्ञानी, विचारवान्, ठण्डे दिमाग से सोचने वाले विद्वान् पुरुषों के साथ (त्वा) तुझ राष्ट्रवासी जनको (दक्षिणतः पातु) दक्षिण अर्थात् दायें से रक्षा करे । और (विश्वकर्मा) समस्त प्रकार के शिल्पों को रचनेहारा पुरुष विश्वकर्मा (आदित्यः) आदित्य, ऐश्वर्य प्राप्त करने वाले, व्यवहारकुशल वैश्यों द्वारा (उत्तरतः त्वा पातुं) उत्तर

११—इन्द्रघोषश्चतुर्णाम् उत्तर वेदि । स इदमहयापम् । सर्वा० ।

अर्थात् बायें से तेरी रक्षा करे । और मैं राजा (इदम्) इस प्रकार (तस्म) तपे हुए, खूब क्रोध और रोष से पूर्ण शत्रु के आक्रमण को न सहन करने वाले (वाः) उनको वारण करने वाले बलको (यज्ञात्) सुसंगठित देश से (बहिर्धा) बाह्य देश की रक्षा के लिये (निःसृजामि) नियुक्त करूं ॥

राष्ट्र की रक्षा के लिये वीर सुभट, राजा, नरपति लोग, विचारवान् पुरुष और शिल्पी और व्यापारी अपनी २ दिशा में रक्षा करें और उग्र, तीव्र या तप्त स्वभाव के लोगों को राष्ट्र की रक्षार्थ बाहर की छावनियों में लगावें ॥

इसके अतिरिक्त—(इन्द्रघोषः) परमेश्वर की वेदवाणी का उपदेश हमारी आगे से रक्षा करे । प्रेचता उत्कृष्ट ज्ञानी पुरुष रुद्र, ब्रह्मचर्यवान् पुरुषों सहित हमें पीछे से बचावे । 'मनोजवा' मनन बलवाले लोग ज्ञानी पालकों द्वारा दायें से और आदित्य ब्रह्मचारियों से (विश्वकर्मा) वह सृष्टिकर्ता परमेश्वर बायें से रक्षा करे । अध्यात्म में इन्द्रघोष, आत्मा का भीतरी मुख्य प्राण । वसु गौण प्राण । 'प्रचेताः' बुद्धि । मनोजव = मन, विद्वक्कर्मा, आत्मा । वसु, रुद्र, पितर, आदित्य ये सभी प्राण हैं । इनकी सहायता से वे शक्तियों हमें बचावें । (तप्तं वाः) क्रोध, शोक और दुःख वा रोगकारी जलांश को हम अपने यज्ञ अर्थात् आत्मा व देह से बाहर करें ॥

सि॒थ्रं॑ह्य॒सि स्वाहा॑ सि॒थ्रं॑ह्य॒स्यादित्य॑व॒निः स्वाहा॑ सि॒थ्रं॑ह्य॒सि
ब्रह्म॑व॒निः क्षत्र॑व॒निः स्वाहा॑ सि॒थ्रं॑ह्य॒सि सुप्र॑जाव॒नी राय॑स्पोष॒वनिः
स्वाहा॑ सि॒थ्रं॑ह्य॒स्याव॑ह दे॒वान्यज॑मानाय॒ स्वाहा॑ । भूतेभ्य॑स्त्वा ॥१२॥

वाग् देवता । भुरिग् ब्राह्मी पांक्तिः । पंचमः ॥

भा०—हे वाक् ! तू (स्वाहा) उत्तम रूप से उच्चारण करने योग्य

१२—सि॒थ्रं॑ह्य॒सिपञ्चानां॑ वाक् । भूतेभ्यः॑ स्तुक् । सर्वा० ॥

और (सिंही असि) अविद्या का नाश करनेवाली होने से 'सिंही' है । तू (सिंही असि) 'सिंही क्रूरता अर्थात् अज्ञान का नाशक है । तू (आदित्य-वनिः) बारह मासों को प्राप्त होने वाली, उनका वर्णन करनेवाली है, ज्योतिष्-विद्या जिस प्रकार उनका उत्तम वर्णन करती है । उसी प्रकार प्रजा के भीतर, कर-आदान करने वाले १२ प्रकार के राजाओं को उचित रीति से वर्णन करनेवाली (स्वाहा) वाणी है । तू भी (सिंही असि) उनके क्रूरता का नाश करती है । तू (ब्रह्मवनिः) ब्राह्मणों को प्राप्त होती और (क्षत्रवनिः) क्षत्रियों को प्राप्त होती है । तू भी (स्वाहा) उत्तम उप-देशमयी वाणी है । और (सिंही असि) घोर वस्तुओं के नाशक होने और अज्ञान का नाश करनेवाली होने से, या शत्रुओं के पराभव करने वाली होने से नीतिरूप 'सिंही' है । तू (सिंही) प्रजा के समस्त दुःखदायी चोर आदि दुष्ट और रोगों को नाश के उपाय बतलाने वाली होने से सिंहीरूप से ही (सु-प्रजावनीः) उत्तम प्रजाओं को प्राप्त करानेवाली (असि) है । तू (स्वाहा) उत्तम उपदेश देनेवाली होकर (रायस्पोषवनिः) ऐश्वर्य समृद्धि को प्राप्त करानेवाली है । (सिंही असि) तू सब दुःखों को नाश करनेवाली 'सिंही' है । तू (स्वाहा) उत्तम ज्ञानोपदेश करनेवाली होकर (यजमानाय) विद्वानों के पूजा सत्कार करनेहारे दानशील पुरुष के समीप (देवान्) विद्वान्, ज्ञानी, देव पुरुषों को प्राप्त कर । हे वाणि ! मैं तुझे (भूतेभ्यः) समस्त प्राणियों के उपकार के लिये प्रयोग करूँ ॥

राजशक्ति या व्यवस्था के पक्ष में—तू शत्रुनाशक सिंही है । (स्वाहा) उत्तम रीति से प्रयोग की जाकर (आदित्यवनिः) तू आदित्य, विद्वानों या आदित्य अर्थात् धनसंग्रही वैश्यों को वृत्ति देनेवाली है । तू (ब्रह्मवनिः, क्षत्रवनिः) ब्राह्मणों और क्षत्रियों को वृत्ति देती है । तू (सुप्रजावनिः राय स्पोषवनिः) उत्तम प्रजाओं की वृत्ति देनेवाली, धन समृद्धि के देनेवाली तू सर्वदा नाशक 'सिंही' है । तू (स्वाहा) उत्तम रीति से प्रयोग की

जाकर ही (यजमानाय) दानशील राजा के पास (देव) विद्वानों, विजयी सुयोद्धाओं को प्राप्त कराती है । (भूतेभ्यः त्वा) तेरा उत्तम उपयोग मैं समस्त प्राणियों के हित के लिये करूँ । राज शासन व्यवस्था भी एक विद्या या दण्ड नीति है वही यहां 'सिंही' वाग्रूप में कही गई है ॥

यदसुराणां लोकानादत्त तस्मादादित्यः । तै० ३ । ७ । २१ । २ ॥
एष उद्यन् एव क्षत्रं वीर्यमादत्त तस्मादादित्यो नाम । श० २ । १ । २ । १८ ॥
असौ वा आदित्यः पाप्मनोऽपहन्ता श० १३ । ८ । २ । ११ ॥ आदित्य
लोकस्तदित्यं क्षत्रम् । सा श्रीः तद् ब्रध्नस्य विष्टपम् तत् स्वाराज्यमुच्यते ॥

ध्रुवोऽसि पृथिवीं दृंह ध्रुवक्षिदस्यन्तरिक्षन्दृंह्याच्युतक्षिदसि
दिवं दृंह्याग्नेः पुरीषमसि ॥ १३ ॥

यज्ञा देवता । भुरिगापी अनुष्टुप् । गांधारः ॥

भा०—हे राजन् ! तू (ध्रुवः असि) तू निश्चल, स्थिर है । तू (पृथिवी दृंह) पृथिवी को, पृथिवीवासी प्रजा को बढ़ा, विस्तृत कर, उन्नत कर । तू (ध्रुवक्षित् असि) ध्रुव या स्थिर पदार्थों या स्थिर पदाधिकारियों को, स्थिर स्थायी कार्यप्रबन्धों, नियमों को स्थापन करने वाला है । तू (अन्तरिक्षम् दृंह) अन्तरिक्ष को और उसमें विद्यमान शक्ति मेघ, वायु आदि पदार्थों को (दृंह) बढ़ा, उन पर वशकर के उन शक्तियों को अधिक लाभदायक कर । तू (अच्युतक्षित् असि) अच्युत, विनाश रहित, स्थिर सिंहासन पर विराजमान, या नाशरहित स्थिर पदों या पदार्थों का स्थापक है । तू (दिवं दृंह) द्यौलोकस्थ प्रकाश आदि पदार्थ को और अधिक शक्तिशाली कर । तू (अग्नेः) अग्नि, विद्युत् आदि तेजोमय पदार्थ को (पुरीषम्) पूरा करनेवाला है । अथवा (अग्नेः पुरीषम् असि) अग्नि,

१३—ध्रुवोऽसि पृथिवीस्त्रयाणाम् । 'अग्नेः' सम्भाराः गुल्गुलवादयः । सर्वा ॥

० दृंह्याग्नेर्भस्माग्नेः पुरीषमसि ।' इति काण्व० ॥

शत्रुओं के संताप देनेताले महान् सामर्थ्य या सेनावल का 'पुरीष' एकमात्र परमेश्वर्यवान् या प्राणरूप राजा है । अथ यत् पुरीषं स इन्द्रः । श० १० । ४ । १ । ७ ॥ स एष प्राण एव यत् पुरीषम् । श० ८ । ७ । ३ । ६ ॥

यज्ञ पक्ष में—यज्ञ, पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्यौ तीनों लोको को बढ़ावे, स्थिर पदार्थों को प्रदान करे । वह (अग्नेः पुरीषम् असि) अग्नि, विद्युत् आदि की और पशु सम्पत्ति की पूर्ति करे । अध्यात्म यज्ञ पक्ष में—हे आत्मन् ! शरीर के पृथिवी भाग और, अन्तरिक्ष, मध्य भाग और द्यौ, मस्तक तीनों को पुष्ट कर । स्थिर अंगों में निवास कर, तू जाठर अग्नि का भी प्राण या प्रणेता है । ईश्वर पक्ष में—वह ध्रुव, नित्य परमात्मा तीनों लोकों को बनाता, विस्तार करता है । वह सब नित्य पदार्थ आकाश आदि में व्यापक हैं । वह अग्नि, तेजोमय सूर्यों का पुरीष=प्रणेता प्राण, या राजा है ।

युञ्जते मन उत युञ्जते धियो विप्रा विप्रस्य बृहतो विपश्चितः ।
वि होत्रा दधे वयुनाधिदेक इन्महीदेवस्य सवितुः परिष्टुतिः
स्वाहा ॥ १४ ॥

ऋ० ५ । ८१ । १ ॥

श्यावाश्व ऋषिः । सविता देवता । स्वराडाधीं जगती । निषादः ॥

भा०—(बृहतः) उस महान् (विपश्चितः) सर्वज्ञ, अनन्त विद्या के भण्डार, (विप्रस्य) मेधावी, विविध कामों को पूर्ण करने वाले नाना फलप्रदाता, परमेश्वर के ध्यान में (विप्राः) मेधावी, (होत्राः) अपने आत्मा की उसमें आहुति करने वाले, या प्राणापान की आहुति देने वाले पुरुष उसमें अपने (मनः युञ्जते) मन को योग द्वारा युक्त करते हैं । (उत) और (धियः) अपनी बुद्धियों, वाणियों और समस्त कर्मों या चेष्टाओं या क्रियाओं को (युञ्जते) उधर ही लगा देते हैं । वे उसका (वि दधे) विशेष रूप से वर्णन करते हैं । या मैं उसका (विदधे)

विशेष रूप से या नाना प्रकार से वर्णन करूं। वह (वयुनावित्) समस्त उत्तम कर्मों और विज्ञानों का ज्ञाता (एकः इत्) एक ही है। उस (सवितुः) सब के उत्पादक, सर्वप्रेरक (देवस्य) देव, सर्वद्रष्टा, सर्वप्रदाता, सर्वप्रकाशक परमेश्वर की (मही परिस्तुतिः) बड़ी भारी स्तुति, या महिमा है। (स्वाहा) वह सत्य वाणी का उपदेश है, या सत्यवाणी स्वरूप है ॥

अथवा—(विप्राः बृहतः विपश्चितः विप्रस्य मनः युञ्जते) विद्वान् जन उस महान् ज्ञानों कर्मों के ज्ञाता, सर्व काम पूरक प्रभु के ज्ञान का मनन करते हैं। वे उसके (उत धियः युञ्जते) कर्मों का एकाग्र चित्त से मनन करते हैं। वह (एकः इत् वयुनाविद् होत्राः विदधे) वह एकमात्र समस्त लोकों, भुवनों और कर्मों, ज्ञानों का ज्ञाता और कर्मफलों का दाता, समस्त वेद वाणियों का उपदेश करता है। उस (देवस्य सवितुः मही परिस्तुतिः) उस सर्वप्रद सर्वद्रष्टा, सर्वप्रेरक प्रभु की यह वेदवाणियाँ सर्व श्रेष्ठ स्तुति, वा उपदेश है।

राज पक्ष में—सब विद्वान् अपने में सबसे अधिक विद्वान् ब्राह्मण, मेधावी के प्रति अपने और कर्मों को जोड़ें, उसके अधीन रहें। वह सब शासन कार्यों का ज्ञाता होकर रहे। उसी सब के प्रेरक, देव, विद्वान् राजा की आज्ञा का सर्वोत्तम रीति से पालन हो ॥

यज्ञ में—मुख्य ब्रह्मा को करके सब ऋत्विज् अपना ध्यान उसकी ओर रखें, वह सबका ज्ञाता, सबका आज्ञापक रहे। यज्ञो वै प्रजापतिः ॥श०॥

इदं विष्णुर्वि चक्रमे त्रेधा निदधे पदम् ।

समूढमस्य पार्थसुरे स्वाहा ॥ १५ ॥ ऋ० १ । २२ । ७६ ॥

मेधातिथिर्ऋषिः । विष्णुदेवता । भुरिगार्गी गायत्री । षड्जः ।

१५—‘समूल्हम०’ ति काण्व० ।

भा०—(विष्णुः) चर और अचर समस्त जगत् में व्यापक परमेश्वर (इदं) इस समस्त जगत् को (विचक्रमे) विविध रूपों में व्याप्त होकर रचता है और उसने (त्रेधा) तीन प्रकार से इसमें (पदम्) अपने ज्ञान या स्वरूप को (निदधे) स्थापित किया है । और (पांसुरे) जिस प्रकार धूलिमय देश में कोई पदार्थ लुप्त रहता है और बड़ा यत्न करने पर ढूँढने से प्राप्त होता है उसी प्रकार (अस्य पदम्) उसका वह गूढ़ स्वरूप भी (समूढम्) खूब गूढ़ है, सर्वत्र व्यापक है, और मनन, निदिध्यासन द्वारा जानने योग्य है । (स्वाहा) उसका उत्तम रीति से ज्ञान करो और उसकी उपासना करो ॥

सत्त्व, रजस्, तमस् इन तीनों रूपों में परमेश्वर अपनी शक्ति सर्वत्र प्रकट करता है और चतुर्थ निर्गुण रूप भी प्रकृति के परमाणुओं के भीतर ही खूब सूक्ष्म रूप में व्यापक है । [विशेष विवेचना देखो सामवेद-भाष्य०] ॥

इरावती धेनुमती हि भुतथं सूयवसिनी मनवेदशस्या । व्यस्क-
आ रोदसी विष्णवेते दाधर्थं पृथिवीमभितो मयूखैः स्वाहा । १६॥

ऋ० ७ । १९ । ३ ॥

वसिष्ठ ऋषिः । विष्णुदेवता । स्वराड आषी त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—हे (विष्णो) सर्वव्यापक परमेश्वर ! आप (एते) इन दोनों (रोदसी) द्यौ और पृथिवी को (वि-अस्कभ्नाः) विशेष रूप से धाम रहे हो । और (अभितः) सब ओर से (मयूखैः) जैसे किसी पदार्थ के चारों ओर खूदियाँ या कीलें लगाकर उनमें तान दिया जाता है उसी प्रकार आपने (स्वाहा) अपनी धारण शक्ति से (पृथिवीम्) पृथिवी को भी (दाधर्थं) धारण किया है । ये दोनों द्यौ और पृथिवी, आकाश और भूमि

१६—० 'विष्ण एत'० इति काण्व० ।

(इरावती) अन्न और जल से पूर्ण, (धेनुमती) दुग्ध देने वाली गौओं और रसप्रद रश्मियों से पूर्ण, (सूयवसिनी=सु-यवसिनी) उत्तम अन्न चारे से पूर्ण (भूतम्) हैं। और (मनवे) मननशील पुरुष को सब प्रकार के पदार्थ (दशस्या) प्रदान करती हैं। अथवा, (दशस्या = दशस्याय) देने योग्य (मनवे) ज्ञान के लिये (एते) ये सब हम सबको बतलावें।

दम्पति के पक्ष में—हे स्त्री पुरुषो ! तुम दोनों (इरावती धेनुमती सूयवसिनी मनवे दशस्या भूतम्) अन्न गौओं और चारे आदि नाना पदार्थों से समृद्ध होकर ज्ञानवान् पुरुष के लिये दानशील रहो और हे विष्णो ! प्रजापते ! पुरुष ! तू (रोदसी व्यस्कन्नाः) अपने पूर्वज पिताओं और अगली सन्तान इन दोनों को थाम। और (मयूखैः) किरणों से (स्वाहा) स्वयं-वरण पूर्वक (अभितः पृथिवीं दाधर्थ) सब ओर से अपनी प्रजोत्पत्ति की आश्रय एक मात्र पृथिवी रूप स्त्री को धारण पोषण कर। यही योजना राजा-प्रजा-पक्ष में समक्षनी चाहिये। वे दोनों अन्न, पशु आदि से समृद्ध हों और राजा पृथिवी को (मयूखैः) करों द्वारा पालन करें ॥

मयूखैः—माड ऊखो मय च । उणादिसूत्रम् । मिमीते मान्यहेतुर्भवति इति मयूखः किरणः कान्तिः करो ज्वाला वा । इति दयानन्दः ॥

देवश्रुतौ देवेष्वघोषतं प्राचीं प्रेतमध्वरं कल्पयन्तीऽऊर्ध्वं यज्ञं नयत मा जिह्वरतम् । स्वं गोष्ठमावदतं देवी दुर्येऽत्रायुर्मा निर्वीदिष्टं प्रजां मा निर्वीदिष्टमत्र रमेथां वर्ष्मन् पृथिव्याः ॥१७॥

विष्णुदेवता । स्वराट् ब्राह्मी त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—हे स्त्री पुरुषो ! तुम दोनों (देवश्रुतौ) दिव्य विद्याओं में प्रसिद्ध, विद्वानों के बीच प्रसिद्ध, अथवा विद्वानों से बहुत शिक्षा प्राप्त होकर (देवेषु आ घोषतम्) देव, विद्वानों के बीच में अपने गृहस्थ धारण

१७—वसिष्ठ ऋषिः । ८० । देवश्रुतावचधुरौ । सर्वा० ॥

करने के उत्तम संकल्प को आघोषित करो, ऊंचे स्वर से निवेदित करो । आप दोनों (प्राची) सदा उत्तम, ऊंचे मार्ग पर, प्रकाश की ओर जाते हुए (प्र इतम्) आगे बढ़ो । और (अध्वरं) हिंसा रहित शुभ कर्म का (कल्पयन्ती) अनुष्ठान करते हुए आप दोनों (यज्ञम्) यज्ञ को, आत्मा को, या गृहस्थ कार्य को, या परस्पर की संगति को (ऊर्ध्वम्) ऊंचे पदतक (नयतम्) पहुँचा दो । और परस्पर (मा जिह्वरतम्) कभी कुटिलता का व्यवहार मत करो । और (स्वं) अपने (गोष्ठं) बातचीत (आ वदतम्) एक दूसरे को कहो, परस्पर सुख से वार्तालाप करो । या (स्वं गोष्ठम् आवदतम्) दोनों के अपने धन और गौशाला वा देह आदि स्थानों को अपना स्वीकार करो । (देवी दुर्ये) दिव्य रमण योग्य, सुखदायी घर में रहते हुए (आयुः) अपने जीवन को (मा निर्वादिष्टम्) नष्ट वा निन्दित मत करो । (प्रजाम्) अपनी प्रजा सन्तान को (मा निर्वादिष्टम्) नष्ट वा निन्दित मत करो । (अत्र) इस संसार में (पृथिव्याः) पृथिवी के (वर्ष्मन्) वृष्टि युक्त, हरे भरे, लम्बे चौड़े प्रदेश में (रमेथाम्) दोनों आनन्द पूर्वक जीवन व्यतीत करें । राजा प्रजा, गुरु शिष्य आदि सब गुणलों को यह उपदेश समान है ॥

विष्णोर्नु कं वीर्याणि प्रवोचं यः पार्थिवानि विममे रजांथंसि ।
योऽ अस्कभायदुत्तरं सधस्थं वि चक्रमाणस्त्रेधोरुगायो
विष्णवे त्वा ॥ १८ ॥

ऋ० १ । १५४ । १ ॥

श्रौतध्वो दीर्घतमा ऋषिः । विष्णुर्देवता । स्वराडाषी त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—(यः) जो (पार्थिवानि) पृथिवी या अन्तरिक्ष में विदित, या पृथिवी के (रजांसि) समस्त लोकों को (वि ममे) नाना प्रकार से बनाता है और (यः) जो (उत्तरं सधस्थम्) ऊपर के लोकों को या उत्कृष्ट कारण को भी (अस्कभायत्) थाम रहा है, अपने वश में करता

१८—२१ दीर्घतमा ऋषिः । दे० ॥

है। और जो (विचक्रमाणः) विविध रूप से क्रमण करता हुआ, सर्वत्र कारण के अवयवों को विविध प्रकार से संयुक्त करता हुआ (त्रेधा) तीन प्रकार से तीनों लोकों में, अग्नि, वायु, सूर्य इन तीन शक्तियों द्वारा सर्वत्र व्यापक है, वह (उरु-गायः) महान् व्यापक, सब का स्तुत्य, या सबको वेद द्वारा समस्त पदार्थों का उपदेष्टा है। उस (विष्णोः) व्यापक परमेश्वर के (जुक्म्) ही (वीर्याणि च) वीर्यों का नाना सामर्थ्यों का (प्र वोचम्) उत्तम रीति से प्रवचन करूँ, औरों को सिखाऊँ। और हे पुरुष ! उस (विष्णवे) परमेश्वर की उपासना के लिये (त्वा) तुझको मैं उपदेश करता हूँ ॥

दिवो वा विष्णोऽ उत वा पृथिव्या महो वा विष्णोऽ उरोरन्त-
रिक्षात् । उभा हि हस्ता वसुना पृणस्वा प्रयच्छ दक्षिणादोत
सव्याद्विष्णवे त्वा ॥ १६ ॥

अथर्व का० ७ । सू० २६ ॥

विष्णुर्देवता । निचृदाधीं जगती । निषादः ।

भा०—हे (विष्णो) यज्ञरूप प्रजापते ! चराचर में व्यापक परमेश्वर ! (दिवः) आकाश, विद्युत्, अग्नि से (उत वा महः) बड़ी भारी (पृथिव्याः) और पृथिवी से, हे (विष्णो) परमेश्वर ! (उरोः) विशाल (अन्तरिक्षात्) अन्तरिक्ष से तू हमारे (उभा हस्ता हि) दोनों ही हाथों को (वसुना) ऐश्वर्य से (आ पृणस्व) पूर दे । (दक्षिणात्) दायें (उत) और (सव्याद्) बायें से भी तू हमें नाना प्रकार का धन (आ प्रयच्छ) प्रदान कर । हे परमेश्वर ! (त्वा) तेरी हम (विष्णवे) यज्ञ या उपासना के निमित्त प्रार्थना करते हैं। अथवा (विष्णवे) आकाश, पृथिवी, अन्तरिक्ष से समस्त ऐश्वर्य प्रदान करने वाले विष्णु व्यापक परमेश्वर के लिये (त्वा) तुझ पुरुष को मैं उपदेश करता हूँ ॥

राजा के पक्ष में—वह तीनों लोकों से ऐश्वर्यमय विज्ञान और धन का संग्रह करके प्रजा को प्रदान करे ! हे पुरुष ! मैं तुझे ऐसे राज्य के कार्य में नियुक्त करूँ ॥

प्र तद्विष्णु स्तवते वीर्येण मृगो न भीमः कुचरो गिरिष्ठाः ।
यस्योरुषु त्रिषु विक्रमणेष्वधिक्षियन्ति भुवनानि विश्वा ॥२०॥

क्र० १ । १५४ । २ ॥

औतथ्या दाघंतमा ऋषिः । विष्णुदेवता । विराड् आर्षी त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—(यस्य) जिसके (उरुषु) महान् (त्रिषु विक्रमणेषु) तीन प्रकार के विक्रम, तीन लोक या सत्त्व, रजस्, तमस् त्रिगुणात्मक सर्ग में (विश्वा भुवनानि) समस्त उत्पन्न होने वाले पदार्थ और लोक (अधि क्षियन्ति) निवास करते हैं । (तद्) वह (विष्णुः) व्यापक परमेश्वर अपने महान् (वीर्येण) सामर्थ्य के कारण (कुचरः) वनादि में विचरने वाले (गिरिष्ठाः) पर्वतों के वासी (भीमः मृगः न) भयानक व्याघ्र या सिंह के समान (कुचरः) पृथ्वी आकाशादि में सर्वात्र व्यापक (गिरिष्ठाः) समस्त वेदवाणियों में प्रतिपाद्यरूप से स्थित (प्र स्तवते) सबसे उत्कृष्टरूप से वर्णन किया जाता है, या वह (प्र स्तवते) सबको उपदेश देता है ॥

राजा के पक्ष में—जिस राजा के महान् प्रज्ञा, उत्साह और शक्ति तीन प्रकार के विक्रमों के वश में समस्त लोक प्राणी बसते हैं, वह वनचर गिरिगुहावासी सिंह के समान भयावह अपने वीर्य के कारण ही स्तुति को प्राप्त होता है ।

विष्णो रराटमसि विष्णोः ऋग्वे स्थो विष्णोः स्यूरसि विष्णोः
ध्रुवोऽसि । वैष्णवमसि विष्णवे त्वा ॥ २१ ॥

विष्णुदेवता । भुरिगार्षी पंक्तिः । पंचमः ॥

भा०—हे जगत् ! तू (विष्णोः रराटम् असि) विष्णु, व्यापक परमेश्वर से उत्पन्न होता और उसके द्वारा वेदरूप से प्रकाशित किया जाता है । हे जड़ और चेतन दोनों प्रकार के पदार्थों ! तुम दोनों (विष्णोः) विष्णु, व्यापक परमेश्वर के (श्रप्त्रे स्थः) दो प्रकार की शुद्ध शक्तियाँ हों । हे वायो ! तू सब प्राणियों के भीतर (विष्णोः) व्यापक परमेश्वर के शक्ति से ही (स्यूः असि) सीनेवाला, परम सूत्र है । हे आत्मन् ! तू (विष्णोः) व्यापक परमेश्वर के सामर्थ्य से ही (ध्रुवः असि) सदा ध्रुव, अविनाशी है । हे समस्त जगत् ! (वैष्णवम् असि) तू उसी व्यापक परमेश्वर का बनाया हुआ है । हे पुरुष ! (त्वा विष्णवे) तुझको मैं व्यापक परमेश्वर की अर्चना के लिये नियुक्त करता हूँ ।

राजपक्ष में—(विष्णोः) व्यापक राज्यव्यवस्था का हे राजन् ! तू (रराटम् असि) ललाट, मस्तक भाग है । हे दोनों विद्वानों ! तुम उस राज्य के मुख्य भाग हो । हे पुरुष ! तू राज्य का सीवन करने वाला हो । हे राजन् ! तू (विष्णोः ध्रुवः असि) राज्य का ध्रुव, संस्थापक स्तम्भ है । हे राज्य के प्रजाजन ! या राष्ट्र ! तू (वैष्णवम् असि) विष्णु अर्थात् यज्ञ सम्बन्धी है या उस (विष्णवे त्वा) तुझे उस व्यापक शासन के लिये ही व्यवस्थित करता हूँ ।

१ देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्याम्पुष्पो हस्ताभ्याम् ।
२ आदेदे नार्यसीदमहथं रक्षसां ग्रीवा अपि कृन्तामि । बृहन्नसि
बृहद्रवा बृहतीमिन्द्राय वाचं वद ॥ २२ ॥

यज्ञो देवता । (१) साम्नी पांक्तिः । पंचमः

(२) मुरिगापां बृहता । मध्यमः ॥

२२—आदेदेऽग्निः । इदमह रक्षोघ्नम् । बृहन्नौपरवम् । इहमहं पञ्च लिंगोक्तानि । सर्वा० । ‘० रक्षसां ग्रीवा०’ इति काण्व० ।

भा०—हे स्त्री ! (सवितुः) सर्वोत्पादक (देवस्य) परमेश्वर के (प्रसवे) इस ऐश्वर्यमय संसार में (अश्विनोः) स्त्री पुरुष, जाया-पति की बाहुओं और (पूषणः) पुष्टिकारक पोषक पति के (हस्ताभ्याम्) हाथों से (आददे) स्वीकार करता हूं । हे स्त्री ! तू (नारी असि) नारी, गृहस्थ के समस्त कार्यों की नेत्री है और (अहं) मैं पुरुष; तेरा पति (इदम्) यह इस प्रकार से (रक्षसां ग्रीवाः अपि कृन्तामि) विघ्नकारी दुष्टों की गर्दनों को भी काटूं, उनका नाश करूं । हे विद्वान् पुरुष ! तू (बृहन् असि) हम सबसे बड़ा, ज्ञानवृद्ध है । तू (बृहद्-रवाः) बड़ा भारी उपदेशक है । तू (इन्द्राय) इन्द्र, ऐश्वर्यवान् राजा को (बृहतीं वाचम् वद) बृहती, वेदवाणी का उपदेश कर ॥

सेना के पक्ष में—राजा के राज्य में मैं सेनापति उस 'नारी' अर्थात् मनुष्यों की बनी सेना को अपने वश करूं । मैं दुष्ट पुरुषों की गर्दन काटूं । विद्वान् पुरुष राजा को वेदवाणी या राजनीति का उपदेश करें ॥

^१रक्षोहर्यां वलगहनं ^२वैष्णवीमिदमहं तं वलगमुत्किरामि यं मे निष्ठ्यो यममात्यो निचखानेदमहं तं वलगमुत्किरामि यं मे समानो यमसमानो निचखानेदमहं तं वलगमुत्किरामि ^३यं मे सर्वन्धुर्यमसवन्धुर्निचखानेदमहं तं वलगमुत्किरामि यं मे सजातो यमसजातो निचखानोत्कृत्याङ्किरामि ॥ २३ ॥

यज्ञो देवता । (१) याजुषी बृहती । मध्यमः । (२) स्वराड् बाह्यो उष्णिक् । ऋषभः ॥

भा०—पूर्व मन्त्र से 'इन्द्राय बृहतीं वाचं वद' इसकी अनुवृत्ति आती है । हे विद्वान् पुरुष ! तू (रक्षोहणम्) राक्षस, दुष्ट पुरुषों के नाश करने वाली (वलगहनम्) वलग-हन् अर्थात् गुप्त हिंसा के प्रयोगों को विनाश करने वाली, (वैष्णवीम्) यज्ञ, परस्पर संगतिकारिणी राष्ट्र नीति रूप (बृहतीम्) विशाल वेदवाणी का (वद) उपदेश कर ।

२३—इदमहं तं वलगमुद्वपाभि (४), 'कृत्यां किरामि' इति काण्व० ।

(अहम्) मैं (इदम्) इस प्रकार (तम् वलगम्) उस गूढ़ हिंसा प्रयोग को (उत् किरामि) खोद कर परे करूं, (यम्) जिस हिंसाकारी प्रयोग को (मे) मेरा (निष्ट्यः) सन्तान, पुत्र आदि, (यम्) जिस गुप्त घातक प्रयोग को (अमात्यः) और जिसको अमात्य, मन्त्री या मेरे गृह का कोई सम्बन्धी या मेरा साथी, मेरे विपरीत (निचखान) गाड़े । इसी प्रकार (यम्) जिसको (मे समानः) बल, विद्या में मेरे समान या (असमानः) मेरे असमान, न्यून या अधिक बलशाली पुरुष (निचखान) गाड़े (तम् वलगम्) उस गुप्त, संवृत घातक प्रयोग को भी (इदम् अहम्) मैं इस प्रकार प्रत्यक्ष रूप से (उत् किरामि) खोद डालूं । (मे सबन्धुः) मेरे कुल, शील आदि में बन्धु के समान और (यम्) जिस गुप्त प्रयोग को (असबन्धुः) बन्धु जनों से दूसरा व्यक्ति (निचखान) गाड़े, (इदम्) यह (अहम्) मैं (तं वलगम्) उस गुप्त घातक प्रयोग को भी (उत्किरामि) उखाड़ दूं और (यम्) जिस गुप्त प्रयोग को (सजातः) मेरे साथ उत्पन्न भ्राता, सहोदर भाई, और (यम्) जिस घातक प्रयोग को (असजातः) सहोदर भ्राता आदि से अतिरिक्त आदमी (निचखान) गाड़ दे (तम्) उसको भी मैं (इदम्) यह प्रत्यक्ष रूप में (उत् किरामि) उखाड़ दूं । इस प्रकार मैं सब (कृत्याम्) घातक गुप्त क्रिया को (उत् किरामि) उखाड़ दूं, निर्मूल कर दूं ॥

इस मन्त्र में महर्षि दयानन्द का 'बल-गहनम्', 'बलगहन' इत्यादि पाठ स्वीकार करना विचारणीय है ॥

वलग = बल बल्ल संवरणे । संवृतरूपेण गच्छति इति वलगः । शत पथ [का० ३ । ५ । ४ । ३७-१४] में 'वलगा कृत्या' का वर्णन किया है । यह वह कृत्या है जिसका अथर्ववेद का० १० । १ । ३१ तथा ५ । ३१ । १-१२ । में वर्णन किया गया है ॥

स्वराडसि सपत्नहा सत्रराडस्यभिमातिहा जनराडसि रक्षोहा
सर्वराडस्यमित्रहा ॥ २४ ॥

सूर्यविद्वांसौ देवत । भुरिगार्धनुडप् । गांधारः ॥

भा०—हे राजन् ! तू (स्वराट्) स्वयं सर्वोपरि विराजमान, (सप-
त्नहा) शत्रुओं का नाश करने वाला (असि) है । तू (अभि-मातिहा)
अभिमान करने वाले, गर्वीले शत्रुओं का हन्ता और (सत्र-राट्) सत्रों,
यज्ञों में विद्वत्सभाओं, या एकत्र परस्पर की रक्षा करने वाले संघों में
सर्वोपरि विराजमान (असि) होता है । हे राजन् ! तू (रक्षोहा)
राक्षस, विघ्नकारी पुरुषों का नाशक होकर (जनराड् असि) समस्त
जनों पर राजा के समान विराजता है । तू (अमित्रहा) अमित्र, न
स्नेह करने वाले शत्रुओं का नाशक होकर (सर्वराट् असि) समस्त
प्रजाओं व राजा के रूप में विराजमान होता है ॥

रक्षोहणो वो वलगहनः प्रोक्षामि वैष्णवान् रक्षोहणो वो वल-
गहनोऽव नयामि वैष्णवान् रक्षोहणो वो वलगहनोऽवस्तृणामि
वैष्णवान् रक्षोहणो वां वलगहनाऽउपदधामि वैष्णवी रक्षोहणौ
वां वलगहनौ पर्यूहामि वैष्णवी वैष्णवमसि वैष्णवा स्थ ॥ २५ ॥

विष्णुयज्ञो वा देवता । (१) बाही बृहती । मध्यमः ।

(२) आर्षी पक्तिः । पञ्चमः ॥

भा०—(वैष्णवान्) विष्णु, सर्वव्यापक यज्ञमय, राष्ट्र के पालक
(रक्षोहणः) राक्षसों के नाशकारी (वलगहनः) शत्रु के घातक प्रयोगों
को नाश करने वाले (वः) आप लोगों को मैं (प्रोक्षामि) अभिषिक्त

२४—स्वराडसि आपरवाणि चत्वारि । सर्वा० ॥ '०राडसि०' (४)
इति काण्व० ।

२५—'रक्षोहणो वलगहनः' (४) इति काण्व० ।

करता हूँ । मैं (रक्षोहणः) विघ्नकारी दुष्टों के नाशक (वलगहनः) छुपे स्थानों में विद्यमान घातक साधनों के नाशक पुरुषों वा (वः) आप वीर पुरुषों को (अवनयामि) अपने अधीन रखता हूँ । और अभीष्ट स्थान में जाने आदि की प्रेरणा करता हूँ । और (रक्षोहणः वलगहनः वः) दुष्टों के नाशक, गुप्त रूप से रखे घातक साधनों के नाशक आप लोगों को आप सब वीर पुरुषों को (अव-स्तृणामि) अपनी रक्षा में रखता एवं सुरक्षित रखता हूँ । हे प्रधान अधिकारियों ! आप दोनों भी (रक्षो-हणौ वलग-हनौ) राक्षसों और इनके गुप्त घातक प्रयोगों के नाशक हो । (वां) तुम दोनों को (उपदधामि) मैं अपने समीप के पद पर नियुक्त करता हूँ और इसी प्रकार पूर्वोक्त गुणवान् दो वीरों को (पर्यूहामि) विवेक से निश्चित करके उचित पद पर नियुक्त करता हूँ । यही (वैष्णवी) विष्णु अर्थात् यज्ञ वा प्रमुख्य प्रजापालक का स्थापना और रक्षा की उचित रीति नीति है । हे राष्ट्र ! तू (वैष्णवम् असि) विष्णु, राज्यपालनरूप सद्व्यवस्था का स्वरूप है । और हे शासक वीर, अधिकारी पुरुषो ! आप लोग भी (वैष्णवाः स्थ) विष्णु, प्रजापति राजा के उपकारक भाग हो । अध्यात्मपक्ष में— शतपथ ने इन इन्द्रियों को विष्णुरूप आत्मा के उपकारक, रक्षोघ्न, संवरणकारी अज्ञान का नाशक माना है । उनमें प्राणों का स्थापन प्रोक्षण है, उनमें चेतना का स्थापन अवनयन है, लोमादि लगाना अवस्तरण है, उनमें दो जबाड़े स्थित हैं, उनको दृढ़रूप से स्थापित करना पर्यूहण है । वहाँ शरीरमय अध्यात्म यज्ञ का वर्णन है ।

इसमें महर्षि दयानन्द ने 'बल-गहनः' 'बलगहनौ' उत्थादि पाठ स्वीकार किया है ।

१देवस्य त्वा सवितुः प्रसुवेऽश्विनोर्बाहुभ्याम्पुष्णो हस्ताभ्याम् ।
आदेदे नार्यसीदमहथं रक्षसाङ् ग्रीवाऽअपि कृन्तामि । ३यवो-
ऽसि यवयास्मद् द्वेषो यवयारातीर्दिवे त्वा ऽन्तरिक्षाय त्वा

पृथिव्यै त्वा शुन्धन्ताँल्लोकाः पितृषदनाः पितृषदनमसि ॥२६॥

यज्ञो देवता । (१) आर्षी पांक्तिः । पंचमः ।

(२) निचृदार्षी त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—(१) (देवस्य त्वा००अपि कृन्तामि) व्याख्या देखो अ० ५। म० २१ ॥ (२) हे राजन् तू (यवः असि) हमारे शत्रुओं को दूर करने में समर्थ है अतः तू 'यव' है तू (अस्मत्) हम से (द्वेषः) द्वेष करनेवालों या ईर्ष्यादि दोषों को (यवय) दूर कर । और (अरातीः) उन शत्रुओं को जो हमें कर नहीं देते हैं (यवय) दूर कर । (पितृ-सदनाः) पिता, पालक, ज्ञानी पुरुषों के पदों पर विराजमान देश के पालक (लोकाः) समस्त लोक, प्रजाजन, हे राजन् ! (त्वा) तुझे (दिवे) द्यौलोक में सूर्य के समान स्थापन करने के लिये (अन्तरिक्षाय) अन्तरिक्ष में वायु के समान और (पृथिव्यै) पृथिवी के हित के लिये (शुन्धन्ताम्) शुद्ध करे, अभिषेक करें । तू स्वयं (पितृषदनम् असि) समस्त प्रजा के पालक पुरुषों का आश्रय है ।

उद्दि०—स्तभानान्तरिक्षं पृण दृष्ट्वं हस्व पृथिव्यां द्युतानस्त्वा
मारुतो मिनोतु मित्रावरुणौ ध्रुवेण धर्मणा । ब्रह्मवनि त्वा क्षत्र-
वनि रायस्पोषवनि पर्यूहामि । ब्रह्म दृष्ट्वं ह क्षत्रं दृष्ट्वं हायुर्दृष्ट्वं ह
प्रजां दृष्ट्वं ह ॥ २७ ॥

यज्ञो देवता । ब्राह्मी जगती । निपादः ॥

भा०—हे राजन् (दिवम्) द्यौलोक या प्रकाशमान पिण्डों को या प्रकाश को जिस प्रकार सूर्य उठा रहा है । उस प्रकार तू भी (उत् स्तभान)

२६—यवोऽसि यवः । दिवेऽवौदुम्बरी । शुन्धन्तां पित्र्ये । सर्वा० ॥ ०२८सां
धोवा० इति काण्व० ॥

२७—उद्दि० पंचानामौदुम्बरी ।

प्रकाश या ज्ञान और उत्तम पुरुषों को ऊपर स्थापित कर । (अन्तरिक्षम्-
पूण) अन्तरिक्ष को जिस प्रकार वायु पूर्ण कर रहा है उसी प्रकार अन्त-
रिक्ष को या मध्यम श्रेणी के लोगों को पूर्ण कर या पालन कर । और तू
(पृथिव्याम्) इस पृथिवी पर (दंहस्व) राष्ट्र की वृद्धि कर । (द्युतानः)
देदीप्यमान, तेजस्वी, पुरुष (मारुतः) वायु के समान प्रबल होकर (त्वा)
तुझको (मिनोतु) संचालित करे । (मित्रावरुणौ) मित्र, न्यायकर्ता और
वरुण, दुष्टों का वारक दोनों अधिकारी जन भी (ध्रुवेण धर्मणा) अपने
ध्रुव, स्थायी, सामर्थ्य से (त्वा मिनुताम्) तुझे संचालित करें । (त्वा)
तुझको (ब्रह्मवनि) ब्रह्म, ब्राह्मणों का पोषक, (क्षत्रवनि) क्षात्रबल
का पोषक, (रायस्पोषवनि) धनों के, ऐश्वर्यों को पुष्ट करनेवाला (पर्य-
हामि) जानता हूँ । तू (ब्रह्म) ब्रह्मज्ञान और विद्या बल को (दंह)
बढ़ा, (क्षत्रं दंह) क्षालबल को व वीर्य को बढ़ा, (आयुः दंह) आयु
को बढ़ा, (प्रजाम् दंह) प्रजा की वृद्धि कर ॥

ध्रुवासि ध्रुवोऽयं यजमानोऽस्मिन्नायतने प्रजया पशुभिर्भूयात् ।
घृतेन द्यावापृथिवी पूर्येथामिन्द्रस्य छदिरासि विश्वजनस्य
च्छाया ॥ २८ ॥

यज्ञो देवता । आर्षो जगती । निपादः ॥

भा०—हे पृथिवी ! अथवा हे महती शक्ति ! तू (ध्रुवा असि) तू
ध्रुव, सदा स्थिर है । उसी प्रकार (अयं) यह (यजमानः) यजमान,
दानशील या संगतिकारक व्यवस्थापक राजा भी (अस्मिन् आयतने) इस
आयतन, गृह, प्रतिष्ठा के स्थान पर (प्रजया) प्रजा और (पशुभिः)
और पशुओं सहित (ध्रुवः भूयात्) ध्रुव, स्थिर होकर रहे । हे (द्यावा-

२८—घृतेन द्यावापृथिवी । इन्द्रस्यैन्द्रम् । सर्वा० ॥ —वासि ध्रुवोऽस्मिन्
यजमान आयतने भूयात्० ' इति कायव० ॥

पृथिवी) आकाश और भूमि ! तुम दोनों (घृतेन) तेज, घृत आदि पुष्टि-
कारक पदार्थों से (पूर्वेथाम्) पूर्ण होवो । अथवा हे पृथिवी और सूर्य
या प्रजा और राजन् ! एवं पति और पत्नि ! तुम दोनों आकाश और भूमि
के समान पुष्टिकारक पदार्थों से पूर्ण रहो । हे राजशक्ते ! तू (इन्द्रस्य)
परमेश्वर्यवान् राजा के लिये या ऐश्वर्यवान् राष्ट्र के लिये (छदिः) छदि
अर्थात् छत हो । उसको सब दुखों और आघातों से बचावेवाली आड़ हो ।
हे राजन् ! तू (विश्वजनस्य) सब श्रेणियों के मनुष्यों के लिये
(छाया) छाया, शरण या आश्रय (असि) है ।

परि त्वा गिर्वणो गिरः॑ इमा भवन्तु विश्वतः ।

वृद्धायुमनु वृद्धयो जुष्टा भवन्तु जुष्टयः ॥ २९ ॥

ऋ० १ । १० । १२ ॥

मधुच्छन्दा वैश्वामित्र ऋषिः । ईश्वरसमाध्यक्षौ देवते । अनुष्टुप् । गांधारः ॥

भा०—हे (गिर्वणः) समस्त वाणियों, स्तुतियों को भजन करनेवाले
उनके उपयुक्त पात्र ! (इमाः गिरः) ये समस्त वाणियां (विश्वतः) सब
प्रकार से (त्वा परि) तेरे ही लिये (भवन्तु) हों । (वृद्धायुम्) वृद्ध,
दीर्घजीवी, वृद्ध पुरुषों से युक्त या महापुरुष तुझको (अनु) लक्ष्य करके
ही (वृद्धयः) ये सब बढ़ी हुई सम्पत्तियां और (जुष्टयः) तृप्त करने
वाली सम्पत्तियां भी (जुष्टाः भवन्तु) प्राप्त हों ॥

ईश्वरपक्ष में—हे ईश्वर ! समस्त स्तुतियों के पात्र ! ये सब स्तुतियां
तेरी ही हैं । ये सब सम्पत्ति ऐश्वर्य भी तुझे ही प्राप्त हैं ।

इन्द्रस्य स्यूरसीन्द्रस्य भुवोऽसि । ऐन्द्रमसि वैश्वदेवमसि ॥ ३० ॥

ईश्वरसमाध्यक्षौ देवते । आच्युष्णिक् । ऋषभः ॥

२९—अनिरुक्ता ऐन्द्री । सर्वा० ।

३०—इन्द्रस्यैन्द्राणि त्रीणि चतुर्थं वैश्वदेवम् । सर्वा० ।

भा०—हे सभापते ! हे राजन् ! तू (इन्द्रस्य) इन्द्र, ऐश्वर्यवान् राजपद का (स्यूः) सूत्र के समान सीकर उसे दृढ़ करनेवाला है । जिस प्रकार सूत्र वस्त्र के खण्डों को सीकर दृढ़ कर देता है उसी प्रकार राजा भी राष्ट्रों के भिन्न २ ऐश्वर्यवान् भागों को सीकर दृढ़ कर देता है । (इन्द्रस्य) इन्द्र, राजा के पद को तू (ध्रुवः) ध्रुव, उसको स्थापन करनेवाला या उस पर स्थिररूप से विराजने वाला है । हे राजसिंहासन पद ! या हे राष्ट्र ! तू (इन्द्रम्) इन्द्र का पद (असि) है । तू (वैश्वदेवम् असि) समस्त देव, विद्वान् पुरुषों को सम्मिलित एक सामूहिक मानपद है ।

इसी प्रकार ईश्वर पक्ष में—ईश्वर, इन्द्र, आत्मा को अपने साथ सीनेवाला, उसका ध्रुव आश्रय, उसका प्रेमी, स्वयं ऐश्वर्यवान्, सर्वदेवों का हितकारी है ॥

विभूरसि प्रवाहणो वह्निरसि हव्यवाहनः ।

श्वात्रोऽसि प्रचेतास्तुथोऽसि विश्ववेदाः ॥ ३१ ॥

अग्निर्देवता । विराडाच्युनुष्टुप् । गांधारः ॥

भा०—हे राजन् ! तू (विभूः असि) विशेष ऐश्वर्य और सामर्थ्य से युक्त और (प्रवाहणः) महानद, नौका या रण के समान सब प्रजाओं के भार को अपने ऊपर उठा लेने में समर्थ है । और हे विद्वन् ! (वह्निः) जिस प्रकार अग्नि समस्त (हव्य-वाहनः) आहवनीय पदार्थों को वहन करता है उसी प्रकार तू सभी राज्य के पदार्थों और कार्यों को हवन करने में समर्थ और (हव्य-वाहनः) ग्राह्य पदार्थों और समस्त ज्ञानों का धारण करनेहारा (असि) है । हे विद्वन् ! तू (श्वात्रः) ज्ञानवान्, सर्वत्र पहुंचने वाला, या कल्याणकारी, (प्रचेताः) प्राण के समान सबको चेतना देने वाला, सबका शिक्षक और ज्ञानदाता है । हे विद्वन् ! तू

(विश्ववेदाः) जिस प्रकार सब प्राणियों में वायु समस्त विश्व के पदार्थों में व्याप्त है उसी प्रकार तू भी सबको प्राप्त करने वाला है, सर्वज्ञाता या सब धनों का स्वामी और (तुथः असि) तू ज्ञान का वर्धक या सब को ऐश्वर्य बांटने वाला है । इस प्रकार यहां चार विशेष पदाधिकारियों या राजा के ही चार स्वरूपों का वर्णन है ॥

तुथो ह स्म वै विश्ववेदा देवानां दक्षिणा विभजतीति । तैत्ति० ।

शिवा ह्यापस्तस्मादाह श्वात्राः स्थेति । श० ३ । ७ । ४ । १६ ॥

उशिगसि कविरङ्घारिरसि बम्भारिरवस्यूरसि दुवस्वाञ्जुन्ध्यु-
रसि मार्जालीयः । सम्राडासि कृशानुः परिषद्योऽसि पवमानो
नमोऽसि प्रतक्ता मृष्टोऽसि हव्यसुदन ऽश्रुतधामासि स्व-
ज्योतिः ॥ ३२ ॥

अग्निदेवता । स्वराड् बाह्वी त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—हे राजन् ! तू (उशिग्) सब का वश करने हारा, कान्ति-
मान्, तेजस्वी और (कविः) क्रान्तदर्शी, मेधावी (असि) है । तू
(अंघारिः) अंध अर्थात् पापी, कुटिल जीवों या पापों का अरि अर्थात् शत्रु है ।
और (बम्भारिः) पापी, दुष्ट पुरुषों का बांधने वाला, या सबका भरण
पोषण करने में समर्थ है । तू (अवस्यूः) अपने नीचे के समस्त कार्य-
कर्त्ताओं को सिये रहता; या परस्पर संयुक्त किये रहने में समर्थ या
(अवस्यूः) रक्षा करने में समर्थ है और (दुवस्वान्) अन्न या सेवा
करने योग्य ऐश्वर्य गुण से युक्त है । तू (शुन्ध्युः) स्वयं शुद्ध, निष्पाप
और (मार्जालीयः) अन्यो का भी शोधन करने हारा, पापों को पता
लगा कर, उनका दण्ड देकर, पापों का शोधने हारा (असि) है ।

३२—सम्राड् आहवनीयः । परिषद्यो वहिष्पवमानंदशः । नमोऽसि चात्वाला-
मृष्टोऽसि शामित्रः । श्रुतधामौदुम्बरी । सर्वा० ॥

तू (परिपद्यः) परिपद् अर्थात् विद्वानों की सभा में विराजने हारा है, उस द्वारा राजा बनाया जाता है और तू (पवमानः) सत्य-सत्य का निर्णय करके सत्य के बल से पवित्र करने वाला है। तू (नभः) सबको परस्पर बांधने, संगठित करने हारा या चोर आदि को वध दण्ड देने वाला, या उनको बांधने वाला और (प्रतक्का)^१ उनको खूब अच्छी प्रकार पीड़ा देने वाला (असि) है। तू (मृष्टः) सबको सेचन करने हारा, सबका पोषक या सहिष्णु और तितिक्षु और (हव्य-सूदनः) समस्त अन्नों और ऐश्वर्य के पदार्थों को क्षरित करने वाला, सबको प्रदान करने वाला (असि) है। (ऋत-धामासि) सत्य का धारण करने वाला, सत्य का आश्रय और जल के धारण करने में समर्थ सूर्य के समान (स्वर्ज्योतिः) आकाश में चमकने वाला, साक्षात् सूर्य है। या (स्वः-ज्योतिः) शत्रुओं का उपताप देने वाले प्रचण्ड भानु के समान (असि) है। ये ही सब विशेषण ईश्वर के भी हैं।

समुद्रोऽसि विश्वव्यचाऽअजोऽस्येकपादहिरसि बुध्न्यो वागस्यैन्द्रमासि सदोऽस्यृतस्य द्वारौ मा मा सन्ताममध्वनामध्वपते प्र मा तिर स्वस्ति मेऽस्मिन् पृथि देवयाने भूयात् ॥ ३३ ॥

अग्निदेवता । ब्राह्मी पंक्तिः । पंचमः ॥

भा०—हे विद्वन् ! और हे ईश्वर ! तू (विश्वव्यचाः) समस्त

१ तत्क कृच्छ्र जीवने भ्वादः । २. मृष्ट सेचन, सहने च, भ्वादी । मृष्ट तितिक्ष्याम् चुरादिः । ३ पृष्ट क्षरणे चुरादिः । भ्वादिश्च ।

३३—समुद्रोसि ब्रह्मासनम् । अजोऽसि शालादायः । अहिरसि प्राजहितः । वागसि सदः । ऋतस्य दायै । अध्वनां सूर्यः । सर्वा० । “बुध्न्यः सम्राडसि०” सूदनः [३२] समूहोसि विश्ववेदा उतातिरिक्तस्य प्रतिष्ठा ।^१ इति० कारण० ॥

विश्व में व्यापक, अपने समस्त राष्ट्रवासी जनों में व्यापक, उनको प्राप्त और (समुद्रः असि) समुद्र के समान, अगाध ज्ञान और ऐश्वर्य से सम्पन्न और समुद्र के समान गंभीर और अक्षय्य है। हे ईश्वर ! तू (एकपात्) एकस्वरूप, एकमात्र अद्वितीय, या अपने एक चेतन रूप में ही समस्त विश्व को धारण करने हारा और (अजः असि) कभी शरीर में बद्ध होकर उत्पन्न न होने वाला, अनादि है। हे राजन् ! तू भी (एकपात् अजः असि) एकच्छत्र राजा के रूप में ज्ञात, और राष्ट्र में व्यापक है। हे ईश्वर ! तू (बुध्न्यः) सब के मूल, आश्रय में विराजमान और (अहिः असि) अविनाशी, कभी विनाश को प्राप्त नहीं होता। हे सेनापते ! तू राष्ट्र का (बुध्न्यः) आश्रय और (अहिः) किसी से न मारने योग्य, सब से अधिक बलवान् है। हे ईश्वर ! तू (ऐन्द्रम् असि, वाग् असि) इन्द्र, ऐश्वर्यमय है और तू वाणी, ज्ञानमय वेदरूप है। हे विद्वन् ! तू इन्द्र के पद का स्वामी और वाक्, सब का उपदेष्टा, आज्ञापक है। हे ईश्वर ! तू (सदः) सबका आश्रय स्थान है। हे विद्वत्सभे ! तू भी (सदः असि) स्वयं परिपद् अर्थात् विद्वानों का आश्रय स्वरूप है। हे (ऋतस्य) सत्य व्यवहार के (द्वारौ) द्वारभूत दण्डकर्ता और न्यायकर्ता ! तुम दोनों (मा) मुझ सत्यवादी प्रजाजन को (मा संताप्तम्) कष्ट मत दो, पीड़ित मत करो। हे (अध्व-पते) समस्त मार्गों के स्वामिन् ! (मा) मुझको (अध्वनाम्) सब लोगों के (प्र तिर) पार उतार दे। (अस्मिन्) इस (देव-याने) देव, विद्वानों के, चलने योग्य (पथि) मोक्ष मार्ग में (मे) मेरा (स्वस्ति) सदा कल्याण हो। हे राजन् ! तेरे इस (देव-याने) विद्वानों के जाने योग्य सदाचार रूप मार्ग में या राजोचित मार्ग वा यान, सवारी साधना में चलते हुए मेरा सदा कल्याण हो।

भिन्नस्य मा चक्षुषेक्षध्वमग्नयः सगराः सगरा स्थ सगरेण नाम्ना
रोद्रेणानीकेन पात माग्नयः पिपृत माग्नयो गोप्रायत मा

नमो वोऽस्तु मा मां हिंशसिष्ट ॥ ३४ ॥

अग्निदेवता । स्वराड् ब्राह्मी बृहती । मध्यमः ॥

भा०—उक्त सब विद्वान् पुरुष और अधिकारी जन अग्निरूप हैं । उनको राजा स्वयं अग्नियों को यजमान के समान स्थापित करता है और उनके प्रति कहता है । हे (अग्नयः) विद्वान् पुरुषो ! (मा) मुझको (मित्रस्य चक्षुषा) मित्र की आंख से (ईक्षध्वम्) देखा करो । हे (सगराः) विद्योपदेश के सहित ज्ञानी पुरुषो ! आप लोग (सगराः स्थ) सभी समान रूप से ज्ञानवान् एवं स्तुति के पात्र हो । आप लोग अपने (सगरेण) ज्ञान-उपदेश सहित (नाम्ना) नमन करने वाले, शिक्षाकारी बल और (रौद्रेण अनीकेन) शत्रुओं को रलाने वाले सैन्य से (मा पात) मेरी रक्षा करो । हे (अग्नयः) अग्नि के समान प्रकाशवान्, ज्ञानी पुरुषो ! (मा पिपृत) मेरा पालन करो और मेरी न्यून शक्तियों की पूर्ति करो । हे (अग्नयः) आगे सेनापति रूप में या अग्रणीरूप में चलने हारे अग्रगण्य नेता पुरुषो ! आप लोग (मा गोपायत) मेरी रक्षा करो । (वः नमः अस्तु) आप लोगों को मैं सदा नमस्कार या आप लोगों को राष्ट्र में सदा (नमः) नमनकारी वज्र, बल, प्राप्त हो । तो भी (मा हिंसिष्टम्) आप लोग मेरा कभी घात मत करें ।

ज्योतिरसि विश्वरूपं विश्वेषां देवानां त्वं समित् । त्वं सोम तनु-
कृद्भ्यो द्वेषोभ्योऽन्यकृतेभ्यः ऽउरु यन्तासि वरूथं स्वाहा ।
जुषाणो ऽअमुराज्यस्य वेतु स्वाहा ॥ ३५ ॥

३४—मित्रस्य ऋत्विजः । सर्वा० । ‘अग्नयः सगराः० ० पिपृत माम्नयो नमो वोऽस्तु०’ इति काण्व० ॥

३५—द० । ज्योतिरसि वैश्वदेवम् त्वं । सोम क्रतुर्भागवः, सोमी गायत्रीमन्त्र-
वसानाम् । सर्वा० ॥

क्रतुर्भागव श्रधिः । अग्निर्देवता । निचृद्ब्राह्मी पंक्तिः । पंचमः ॥

भा०—हे राजन् ! तू (विश्वरूपं ज्योतिः असि) नानारूप से प्रकाशित होने वाला या सब प्रकार का ज्योति, प्रकाशक, सूर्य के समान तेजस्वी है । और (विश्वेषां देवानाम्) समस्त देवों, विद्वानों और राजपदाधिकारियों को (सम्-इत्) अच्छी प्रकार तेजस्वी बनाने और चमकाने वाला है । हे (सोम) सब के प्रेरक राजन् ! तू (तनूकृद्भ्यः) शरीरों के नाश करने वाले (द्वेषोभ्यः) और परस्पर द्वेष, कलह करने वाले और (अन्य-कृतेभ्यः) अन्य अर्थात् शत्रुओं से किये गये या लगाये गये, गूढ़ शत्रुओं से भी राष्ट्र को बचाने के लिये (उरु वरूथम्) शत्रु के वारण करने में समर्थ विशाल सेनावल को (यन्तासि) नियमन करता है । (सु-आहा) तेरे निमित्त हमारा यह उत्तम त्याग है । (आज्यस्य) आज्य, घृत के समान पुष्टि कारक या आजि, संग्राम योग्य बलवीर्य को (जुपाणः) सेवन एवं प्राप्त करता हुआ (अप्तुः) आप्त राजा (स्वाहा) उत्तम व्यवस्था से, इस उत्तम आहुति को (वेतु) प्राप्त करे ।

ईश्वर पक्ष में—सब देवों, दिव्य पदार्थों का प्रकाशक, 'विश्वरूप' ज्योति परमेश्वर है । हे सोम परमेश्वर ! हमारे शरीर के नाशक और अन्य सब द्वेषों को भी नियमन करने वाला तू ही स्वयं बड़ा भारी बल है । तू ही सर्व व्यापक समस्त आज्य = बल वीर्य का स्वामी होकर हमें भली प्रकार प्राप्त है ।

अग्ने नय सुपथा राये ऽ अस्मान्विश्वानि देव वयुनानि विद्वान् । युयोध्युस्मज्जुहुराणमेना भूयिष्ठान्ते नमऽउक्ति विधेम ॥ ३६ ॥

ऋ० १ । १८९ । १ ॥

अगस्त्य श्रधिः । अग्निर्देवता । निचृदार्पी त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—हे (अग्ने) अग्रणी ज्ञानवान् पुरुष ! राजन् ! हे (देव)

देव ! विद्वन् ! तू (विश्वानि) समस्त (वयुनानि) प्रशस्त कर्मों और मार्गों, ज्ञानों और प्रजाओं को (विद्वान्) जानता हुआ (राये) धन, ऐश्वर्य प्राप्त करने के लिये (अस्मान्) हमें (सु-पथा) उत्तम मार्ग से (नय) ले चल । और (अस्मत्) हमसे (जुहुराणम्) कुटिल (एनः) पाप को (युयोधि) दूर कर । (ते) तेरे लिये हम (भूयिष्ठाम्) बहुत बहुत (नमः उक्तिम्) नमस्कार वचन, स्तुति आदि और आदरसूचक वचन (विधेम) प्रयोग करें ।

ईश्वर के पक्ष में स्पष्ट हैं ।

अयं नो ऽग्निर्वरिवस्कृणोत्वयं मृधः पुरऽएतु प्रभिन्दन् ।
अयं वाजाञ्जयतु वाजसातावयथं शत्रूञ्जयतु जहृषाणः
स्वाहा ॥ ३७ ॥

अग्निदेवता । आर्षी त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—(अयम्) यह (अग्निः) अग्नि, अग्रगामी, नेता पुरुष, सेनापति ! (नः) हमारी (वरिवः) रक्षा (कृणातु) करे । अथवा (नः वरिवः कृणातु) हमारे लिये ऐश्वर्य प्रदान करे । और (अयम्) यह (मृधः) संग्राम सम्बन्धी (पुरः प्रभिन्दन्) गढ़ों, पुरों, नगरों को तोड़ता हुआ (एतु) आवे । अथवा (मृधः प्रभिन्दन्) संग्रामों को विजय करता हुआ (पुरः एतु) आगे बढ़े । और (वाज-सातौ) संग्राम कार्य में (वाजान्) संग्रामों को और (वाजान्) धन, अन्न व ऐश्वर्यों को भी (जयतु) विजय करे । और (जहृषाणः) खूब प्रसन्न हो होकर (स्वाहा) उत्तम आहुति, पराक्रम करता हुआ (शत्रून् जयतु) शत्रुओं को जीते ।

उरु विष्णो विक्रमस्वोरु क्षयाय नस्कृधि ।

३७—‘०वाजसाता अयं०’ इति कायव० ।

घृतं घृतयोने पिब प्र प्र यज्ञपतिं तिर स्वाहा ॥ ३८ ॥

विष्णुदेवता । अनुष्टुप् । गांधारः ॥

भा०—हे (विष्णो) विद्या अदि गुणों में व्यापक ! अथवा शत्रु के गढ़ों में और पूर्ण राष्ट्र में प्रवेश करने में चतुर सेनापते ! तू (उरु विक्रमस्व) खूब अधिक विक्रम, पराक्रम कर । (नः) हमारे (क्षत्राय) निवास के लिये (उरु) बहुत अधिक ऐश्वर्य एवं विशाल राष्ट्र को (कृधि) उत्पन्न कर । (घृतयोने) घृत से जिस प्रकार अग्नि बढ़ता है उसी प्रकार घृत अर्थात् दीप्ति और तेज के आश्रय भूत राजन् ! तू भी खूब (घृतं पिब) अग्नि के समान घृत = तेज पराक्रम का पान कर, उसको प्राप्त कर । और (यज्ञ-पतिम्) जिस प्रकार विद्वान् जन यज्ञ-पति, यजमान को पार कर देते हैं, उसी प्रकार तू भी (यज्ञ-पतिम्) यज्ञरूप सुव्यवस्थित, सुसंगत राष्ट्र के पालक राजा को (स्वाहा) अपनी उत्तम वीर्याहुति से (प्र प्र तिर) भली प्रकार विजय कार्य के पार कर दे ।

१देव सवितरेष ते सोमस्तथं रक्षस्व मा त्वा दभन् । २एतत्त्वं देव सोम देवो देवाँ ॥ उपागा ऽह्मदमहं मनुष्यान्तसह रायस्पोषेण स्वाहा निर्वरुणस्य पाशान्मुच्ये ॥ ३६ ॥

सोमसवितारौ देवते । (१) साम्नी बृहती । मध्यमः ।

(२) आर्षी पंक्तिः । पंचमः ॥

भा०—विजय करने के अनन्तर सेनापति राजा के प्रति कहे—हे (देव) राजन् ! हे (सवितः) सब के प्रेरक और उत्पादक ! (एषः सोमः) यह सोम, ऐश्वर्य समूह या राष्ट्र (ते) तेरा है । उसकी (रक्षस्व) रक्षा कर । इस रक्षा कार्य में (त्वा) तुझको शत्रुगण (मा दभन्) न मार सें । हे (देव) सुखप्रद ऐश्वर्यों के दाता राजन् ! हे (सोम)

ऐश्वर्यमय ! सबके प्रेरक ! राजन् ! तू (देवः) सब के अधिकार प्रदान करने हारा राजा, देव होकर (देवान्) अन्य अपने आधीन उसी प्रकार के राज-शासकों को (उप अगाः) प्राप्त हो ।

राजा का वचन—(अहम्) मैं (इदम्) इस प्रकार (रायः पोषेण सह) धनैश्वर्य की वृद्धि, पुष्टि के सहित (मनुष्यान्) राष्ट्र के मनुष्यों के प्रति (स्वाहा) अपने को राज्य-रक्षा के कार्य में उत्तम रीति से आहुति करता हूँ । और (वरुणस्य पाशात्) वरुण के पाश से अपने आपको (निर्मुच्ये) मुक्त करूँ । अथवा (इदम् अहम् रायः पोषेण सह मनुष्यान् स्वाहा वरुणस्य पाशात् निर्मुच्ये) इस प्रकार मैं राजा धनैश्वर्य की वृद्धि के साथ २ सब मनुष्यों को (स्वाहा) अपने सत्यवाणी के प्रयोग से वरुण अर्थात् सब को दुख में डालने वाले दुष्ट जन के पाश से छुड़ा दूँ । अथवा (वरुणस्य पाशात् निर्मुच्ये) इस राज्याभिषेक के हर्ष में जो अपराधी वरुण अर्थात् दण्डधर राजा के पाशों में फंसे हुए हैं उन सब को छोड़ता है । राज्याभिषेक के अवसर पर राजा अपने बहुत से अपराधियों को बन्धन से मुक्त करते हैं । इसका यह मूल प्रतीति होता है ॥

अग्ने॑ व्रत॑ण॒स्त्वे व्रत॑पा या तव॑ त॒नूर्मय्य॑भू॒देषा॑ सा त्वयि॑ यो मम॑ त॒नूस्त्वय्य॑भू॒दिय॑थं सा मयि॑ । यथा॑य॒थं नौ व्रत॑पते व्रता॑न्यनु॑ मे दी॒क्षां दी॒क्षाप॑तिर॒मथ॑स्तानु॑ तप॒स्तप॑स्पतिः ॥ ४० ॥

अग्निदेवता । निचृद् ब्राह्मी त्रिष्टुप् । गांधारः ॥

भा०—नियुक्त शासक जन राजा से अधिकार-पद की दीक्षा इस प्रकार लेते हैं—हे (अग्ने) राजन् ! हे (व्रतपाः) समस्त व्रत अर्थात् राज्य कार्यों को पालन करने हारे तुझको हम वचन देते हैं कि (या) जो (त्वे) तेरे में (व्रतपाः) व्रतों, राज्य कार्यों और परस्पर के

४०—० सात्वापि यामन ० इति काण्व ० ॥

सत्य प्रतिज्ञाओं के पालन करने वाला (तव तनूः) तेरा स्वरूप (मयि) मुझ में (अभूत्) है (एषा सा) यह वह (त्वयि) तुझ में भी हो । (यो = या उ) और जो (मम) मेरा (तनू) स्वरूप (त्वयि) तुझ में (अभूद्) विद्यमान है (सा इयम्) वह यह (मयि) मेरे में हो, अर्थात् राजा के शासक रूप से सौंपे अधिकार जो वह अपने अधीन अधिकारियों को प्रदान करता है वे राजा के ही समझे जायं । और जो अधिकार राजा के हैं वे कार्यनिर्वाह के अवसर पर अधिकारियों के समझे जायं, इस प्रकार राजा और राजकर्मचारी एक दूसरे के अधीन होकर रहें । हे (व्रतपते) व्रतों के पालक राजन् ! हम दोनों के (व्रतानि) कर्त्तव्य कर्म (यथायथम्) ठीक ठीक प्रकार से, उचित अधिकारों के अनुरूप रहें । (दीक्षापतिः) दीक्षा अर्थात् अधिकारदान का स्वामी तू राजा (मे) मुझे (दीक्षाम्) योग्य पदाधिकार की प्राप्ति की (अनु अमंस्त) अनुमति दे । और (तपस्पतिः) तप अर्थात् अपराधियों को सन्तप्त करने या दण्ड देने के सब अधिकारों का स्वामी राजा मुझको (तपः) दण्ड देने के भी अधिकार की (अनु अमंस्त) उचित रीति से अनुमति दे ॥

राजा और उसके अधीन शासकों का सा ही सम्बन्ध गुरु शिष्य का है । वे भी परस्पर इसी प्रकार प्रतिज्ञा करते हैं । हे अग्ने ! आचार्य ! तू व्रत का पालक है । तेरे भीतर जो विद्या का विस्तार है वह मुझे प्राप्त हो । मेरा विद्याभ्यास एवं हृदय तेरे भीतर रहे । हम दोनों के व्रत ठीक २ रहें ! समस्त दीक्षाओं के लिये दीक्षापति, आचार्य एवं परमेश्वर अनुमति दे । तपस्पति, हमारे तपों की अनुमति दे । हमें वह दीक्षाएं दे और तपस्याएं करने का आदेश दे ॥

उरु विष्णो विक्रमस्वरु क्षयाय नस्कृधि ।

धृतं धृतयोने पिब प्रप्र यज्ञपतिं तिर स्वाहा ॥ ४१ ॥

विष्णुर्देवता । भुरिगार्ष्यनुष्टुप् । गान्धारः ॥

भा०—व्याख्या देखो म० ३८ ॥

अत्यन्याँ२॥ अग्रान्नान्याँ२ऽउपागामर्वाक्त्वा परेभ्योऽविदम्परो-
ऽवरेभ्यः । तं त्वा जुषामहे देव वनस्पते देवयज्यायै देवास्त्वा
देवयज्यायै जुषन्तां विष्णवे त्वा । ओषधे त्रायस्व स्वधिते
मैनथं हिथंसीः ॥ ४२ ॥

अग्निर्देवता । स्वराट् ब्राह्मी त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—(अन्यान् अति अगाम्) तेरे से भिन्न और शत्रु राजाओं
को मैं अतिक्रमण कर दूँ और (अन्यान्) अन्य नाना राजाओं
के समीप भी मैं (न उप अगाम्) न जाऊँ । (परेभ्यः) परे के,
अर्थात् दूर के राजाओं की अपेक्षा (त्वा) तुझे (अर्वाक्) समीप और
(अवरेभ्यः) तेरी अपेक्षा अवर, निकृष्ट जनों की अपेक्षा तुझे (परः)
उत्कृष्ट जानकर ही (त्वा अविदम्) तेरे समीप प्राप्त हुआ हूँ । हे
(देव) देव राजन् ! हे (वनस्पते) महावृक्ष के समान छायाप्रद
आश्रय-वृक्ष ! शरण्य ! (देव-यज्यायै) देवों, अन्य विद्वानों का परस्पर
संगति लाभ करने के लिये (तम् त्वा जुषामहे) उस तेरी ही हम सेवा
करते हैं । (देवाः) और देव, राजा और विद्वान् लोग भी (देव-यज्यायै)
देव विद्वानों की परस्पर संगति लाभ के लिये ही (त्वा जुषन्ताम्) तुझे प्राप्त
हों । हम लोग (विष्णवे) वह यज्ञ रूप राष्ट्रपालन जिसमें सब
प्रजापुं प्रविष्ट हैं उस पद के लिये (त्वा) तुझे निगुक्त करते हैं । हे
(ओषधे) दुष्टों को दण्ड प्रदान करने वाले राजन् ! तू (त्रायस्व)
हमारी रक्षा कर । हे (स्वधिते) अपने ही बल से समस्त राष्ट्र की रक्षा

४२—अत्यन्मान्वनस्पतिः । आषध कुशतरुणम् । स्वधितेहरशुः । सर्वो ।

‘०परेभ्यः परोवरीः । इति काण्व० ॥

करने हारे हे शस्त्रवन् ! तू (मा एनं हिंसीः) इस राष्ट्र की या इस पुरुष की हत्या मत कर ॥

गुरु के प्रति शिष्य—हे आचार्य ! मैं (अन्यान् अति अगाम्) अन्य अविद्वान् या अन्य ज्ञानी लोगों को छोड़ कर तेरे पास आया हूँ और (अन्यान् न उप अगाम्) दूसरों के पास नहीं गया हूँ । बहुत उत्कृष्टों से कम और अन्य ज्ञानियों की अपेक्षा श्रेष्ठ जान कर तेरी शरण आता हूँ । 'देवयज्या' अर्थात् ईश्वरोपासना के लिये हम तेरी शरण में हैं और विद्वान् भी इसी निमित्त तेरे पास आते हैं ॥

द्यां मा लेखोरन्तरिक्षं मा हिंसीः पृथिव्या सम्भव । अथ थं
हि त्वा स्वधितिस्तेतिजानः प्राणिनाय महते सौभगाय ।
अतस्त्वं देव वनस्पते शतवल्शो विरोह सहस्रवल्शा वि वयं
रहेम ॥ ४३ ॥

यज्ञो देवता । ब्राह्मी त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—हे शस्त्र और अस्त्र गण ! या उनके धारण करने हारे पुरुष ! तू (द्याम्) द्यौ, आकाश को और उसके निवासी लोकों को (मा लेखीः) विनाश मत कर अर्थात् विद्वान् पुरुषों का मत नाश कर । इसी प्रकार अन्तरिक्ष को और उसके प्राणियों को (मा हिंसीः) मत विनाश कर । (पृथिव्या सम्भव) पृथिवी और उसके वासी प्राणियों से प्रेमभाव से मिलकर रह । हे राजन् ! (अयम् स्वधितिः) यह शस्त्र (तेतिजानः) अति तीक्ष्ण होकर भी (त्वा) तुझको (महते सौभगाय) बड़े भारी सौभाग्य के लिये (प्र निनाय) नियुक्त करता है । (अतः) इसलिये हे (देव) राजन् ! आप वृक्ष के समान ही (शत-वल्शः) बहुत से अंकुरों के समान बहुत से कार्य सामर्थ्यों से युक्त होकर (वि रोह) नाना

४३—द्यांमातरस्त्वं वनस्पतिः । सर्वा० । 'दिवं मा ले०' इति काण्ड० ॥

मार्गों में उन्नति और प्रतिष्ठा को प्राप्त हो और (वयम्) हम सब भी
(सहस्र-वल्शाः) सहस्रों शाखाओं सहित (वि रुहेम) नाना प्रकार से
फलें फूलें ॥

॥ इति पञ्चमोऽध्यायः ॥

[तत्र त्रयश्चत्वारिंशद्वचः]

इति मीमांसातीर्थ-प्रतिष्ठितविद्यालंकारविरुदोपशोभितश्रीमत्पाण्डितजयदेवशर्मकृते
यजुर्वेदालोकभाष्ये पञ्चमोऽध्यायः ॥



अथ षष्ठोऽध्यायः

॥ ओ३म् ॥ 'देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्याम्पु-
ष्णो हस्ताभ्याम् । आदेदे नार्यसीदमहं रक्षसां ग्रीवाः अपिकृन्ता-
मि । 'यवोऽसि यवयास्मद् द्वेषो यवयाराती' दिवे त्वाऽन्तरि-
क्षाय त्वा पृथिव्यै त्वा शुन्धन्ताँल्लोकाः पितृषदनाः पितृषदने-
मासि ॥ १ ॥

सविता देवता । (१) आर्षी पंक्तिः । धैवतः ॥ (२) आसुर्युष्णिक् ।

(३) भुरिगार्थ्युष्णिक् । ऋषभः ॥

भा०—व्याख्या देखो अ० ५, मं० २६ ॥

'अग्नेणीरासि स्वावेशेऽउन्नेतृणामेतस्य विक्षादधि त्वा
स्थास्यति 'देवस्त्वा सविता मध्वानक्तु सुपिप्पलाभ्यस्त्वौ-
पधीभ्यः । द्यामग्नेणास्पृक्षऽआन्तरिक्षमध्यैनांप्राः पृथिवी
सुपर्णेणादृश्वीः ॥ २ ॥

सविता देवता । (१) निचृद गायत्री । षड्जः ।

(२) स्वराट् पंक्तिः । पंचमः ॥

भा०—हे राजन् ! हे सभाध्यक्ष ! तू (अग्नेणीः असि) तू शिष्यो-
को गुरु के समान आगे ले चलने वाला अग्नेणी है । तू (उत् नेतृणाम्)

१—'रक्षसो ग्रीवा' इति काण्व० ॥

२—'पृथिवीमपरेण' इति महाधराभिमतः पाठः । अग्नेणीः शकलम् ।
देवस्त्वयूपः । सुर्पपल्लभ्यश्रपालम् । द्यामग्नेणयूपः । सर्वा० ॥ दिव्यग्नेणा०
इति काण्व० ॥

ऊपर ऊंचे मार्ग में ले चलनेवाले, उत्तम कोटि के नेताओं को भी (स्वावेशः) उत्तम रीति से सन्मार्ग में ले चलने और स्थापित करनेवाला है । तू (पुतस्य) इस महान् राष्ट्र के पालन कार्य को (वित्तात्) भली प्रकार जान या प्राप्त कर । (देवः सविता) सबका प्रेरक महान् देव, राजा या परमेश्वर (त्वा अधि स्थास्यति) तेरे पर भी अधिष्ठाता के रूप में विद्यमान रहेगा । और वही (त्वा) तुझको (मध्वा) मधुरगुण या मधुविद्या, ज्ञान से (अनक्तु) आज्ञे, चमकावे, विद्वान् करे । और वही (त्वा) तुझको (सुपिप्पलाभ्यः) उत्तम फलवती, (ओषधीभ्यः) दाहजनक सामर्थ्य को धारण करने और दोषों को नाश करने वाली क्रियाओं से भी (अनक्तु) प्रकाशित करे । तू (अग्रेण) अपने अग्रगामी यश या सर्वोत्कृष्ट गुण से (द्याम् असृक्षः) द्यौलोक या सूर्य को या प्रजा के उत्कृष्ट भाग पर वश कर, छू, स्पर्श कर, सूर्यलोक के समान बन । (मध्येन) अपने मध्य, बीच के साधारण कार्यों से (अन्तरिक्षम् आ अप्राः) अन्तरिक्ष को, प्रजा के मध्यम जनों को पूर्ण कर, पालन कर । और (उपरेण) अपने शेष नीचे के भाग से या उत्कृष्ट नियत व्यवस्था से (पृथिवीम्) पृथिवी लोक के, तीसरी श्रेणी के लोगों को (अदंहीः) दृढ़ कर ॥

अथवा—अग्र मुख्य बल से द्यौ अर्थात् विद्या और राजनीति को उन्नत कर, शेष बल से धर्म को और नियम से राज्य को पुष्ट कर ॥

१ या ते धामान्युश्मसि गमध्यै यत्र गावो भूरिशृङ्गाऽश्वपासः ।
 २ अत्राहु तदुरुगायस्य विष्णोः परमस्पदमवभारि भूरि । ३ ब्रह्म
 चनि त्वा क्षत्रवनि रायस्पोषवनि पर्यहामि । ब्रह्म ह थं ह क्षत्रं
 दृ थं हायुद थं ह प्रजां दृ थं ह ॥ ३ ॥ ऋ० १ । ५४ । ६ ॥

३—या ते शर्पदेवत्या । ब्रह्मवनि, ब्रह्महं हयूपदेवत्ये । सर्वो० ॥ 'ता वा वास्तून्युष्मास०', '०वृष्णः' शति ऋ० । 'अत्राहैत पुरु०' इति काण्व० ॥

दोषतमा ऋषिः । विष्णुदेवता । (१) आर्च्यु उष्णिक् । (२) साम्नात्रिष्टुप्
 ऋषभः । (३) भुरिगार्ची त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—हे सभाध्यक्ष ! राजन् ! (ते) तेरे (या) जिन २ (धामानि)
 सुखों को, धारण कराने वाले राज्यप्रबन्ध के सामर्थ्यों को हम लोग
 (गमध्वै) स्वयं प्राप्त होने के लिये (उष्मसि) कामना करते हैं (यत्र)
 जिनमें (भूरिशृङ्गाः) अति अधिक प्रकाशमान (गावः) किरण और
 बड़े बड़े सींगोंवाली गौवें हमें (अयासः) प्राप्त हों । अथवा जिनके द्वारा
 हमें बहुत सी ज्ञानोपदेश युक्त वाणियां प्राप्त होती हों । (अत्र अह) इस
 में ही (उरुगायस्य) अति अधिक स्तुति के योग्य (विष्णोः) विष्णु,
 व्यापक, ईश्वर, प्रभु का (परमम् पदम्) परम पद (भूरि) बहुत अधिक
 (अव भारि) निरन्तर पुष्ट होता है ॥

अथवा—राजगृह कैसे हों—हे राजन् ! हम (या ते धामानि गमध्वै
 उष्मसि) तेरे योग्य जिन विशेष सभा अदि भवनों को प्राप्त करना चाहते
 हैं वे ऐसे हों (यत्र भूरिशृङ्गाः गावः अयासः) जहाँ बहुत दीप्त किरणें आया
 करती हों । (उरुगायस्य विष्णोः तत्) अधिक स्तुतिभजन, प्रशंसनीय
 विष्णु, व्यापक सार्वभौम राज्य का वही उत्कृष्ट परमपद (अत्र अह अव
 भारि) यहाँ ही, इन महाभवनों में ही विराजता है । (३) मैं तुझको
 (ब्रह्मवनि, क्षत्रवनि, रायस्पोषवनि) ब्राह्मणों, क्षत्रियों और ऐश्वर्य से
 पुष्ट वैश्यों की यथोचित वृद्धि को विभाग करने वाला (पर्युहामि)
 जानता हूँ । तू (ब्रह्म दंह) ब्राह्मण बल को बढ़ा, (क्षत्रं दह) और
 क्षात्रबल को पुष्ट कर, (आयुः दंह) प्रजा की आयु को बढ़ा और
 (प्रजां दंह) प्रजा की भी वृद्धि कर ॥

विष्णोः कर्माणि पश्यन् यतो व्रतानि पस्पशे ।

इन्द्रस्य युज्यः सखा ॥ ४ ॥ ऋ० १ । ३३ । १९ ॥

मेधातिथिर्ऋषिः । विष्णुर्देवता । निचृदार्षी गायत्री । पङ्क्तः ॥

भा०—हे जनो ! (विष्णोः) व्यापक ईश्वर के (कर्माणि) उन नाना कार्यों को जगत् की उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय और व्यवस्था के कार्यों को (पश्यत) देखो (यतः) जिनके द्वारा वह (व्रतानि) नाना नियमों को (पस्पशे) बांधता है । वह परमेश्वर (इन्द्रस्य) आत्मा का (युज्यः) समाधि में उसको प्राप्त होने वाला (सखा) उसका मित्र है । अथवा हममें से प्रत्येक ईश्वर का मित्र है ॥

राजा के पक्ष में—(विष्णोः कर्माणि पश्यत) हे राजसभा के सभासदो ! राष्ट्र के व्यापक शक्तिवाले राजा के उन कर्मों को निरीक्षण करो । (यतः) जिनसे वह नाना नियमों को (पस्पशे) बांधता है । तुममें से प्रत्येक (इन्द्रस्य) इन्द्र, ऐश्वर्यवान् राजा का (युज्यः) योगदायी (सखा) मित्र है ॥

तद् विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः ।
दि॒वी॒व च॒क्षुरा॒त॒तम् ॥ ५ ॥ ऋ० १ । ३३ । २० ॥

ऋष्यादि पूर्ववत् । गायत्री ॥

भा०—(सूरयः) वेद के विद्वान् पुरुष (विष्णोः) व्यापक परमेश्वर के (तत्) उस (पदम्) पद को जो (दिवि) प्रकाश में (चक्षुः इव) चक्षु के समान (आततम्) व्यापक है अथवा (दिवि) आकाश में (चक्षुः इव) सूर्य के समान व्यापक है उस (परमम्) सर्वोत्कृष्ट (पदम्) पद, प्राप्त होने योग्य परम धाम का ही (पश्यन्ति) साक्षात् करते हैं ॥

राजा के पक्ष में—विष्णु, राष्ट्र के व्यापक उस राजा के ही परम पद को विद्वान् प्रजा के प्रेरक नेता पुरुष आकाश में सूर्य के समान तेज से प्राप्त होने वाला, देखते हैं ॥

परिवीरसि परि त्वा दैवीर्विशो व्ययन्तां परीमं यजमानं रायौ
मनुष्याणाम् । दिवः सुनुरस्येष ते पृथिव्याँल्लोक आरण्यस्ते
पशुः ॥ ६ ॥

विद्वांसो देवताः । (१) आर्युष्णिक् । ऋषभः । (२) भुरिक्
साम्नी बृहती । मध्यमः ॥

भा०—हे राजन् ! (त्वं) तू (परिवीः असि) समस्त विद्याओं
को प्राप्त करने वाला, अथवा प्रजा की चारों ओर से रक्षा करने वाला,
या प्रजाओं द्वारा चारों ओर से आश्रय किये जाने योग्य है । इसी कारण
(त्वा) तुझको (दैवीः विशः) देव, राजा सम्बन्धिनी वा विद्वान्
(विशः) प्रजाएं (परि व्ययन्ताम्) चारों ओर से अधीन अधिकारी रूप
में घेर कर बैठें । (इयं) इस (यजमानम्) राष्ट्र की व्यवस्था करने
हारे यजमान या दानशील इसको (मनुष्याणाम्) मनुष्यों के उपयोगी
(रायः) ऐश्वर्य भी (परि-व्ययन्ताम्) चारों ओर से प्राप्त हों । हे
राजन् ! तू (दिवः) प्रकाशमय सूर्य से (सुनूः) उत्पन्न होने वाले किरण
समूह के समान तेजस्वी (असि) है । और (एषः) यह (पृथिव्यां)
पृथिवी पर निवास करने वाला (लोकः) समस्त लोक, भूलोक, या जन
भी (ते) तेरा ही है, तेरे ही अधीन है । (आरण्यः पशुः) अरण्य-
पशुः) जाति भी (ते) तेरी ही सम्पत्ति है ॥

उपावीरस्युप देवान्दैवीर्विशः प्रागुरुशिजो वह्नितमान् ।
देव त्वर्ष्वसु रम हव्या ते स्वदन्ताम् ॥ ७ ॥

त्वष्टा देवता । आर्षी बृहती । मध्यमः ।

भा०—हे सभापते ! राजन् ! तू (उपावीः असि) प्रजा के नित्य

६—परिवीर्युपः । दिवः स्वरः । एष ते युपः । सर्वा० ॥

७—उपावीस्तुणम् । उपदेवाँल्लिंगोक्तम् । सर्वा० । पशव देवता इति अनन्त० ।

समीप रह कर उनका पालन करने वाला रक्षक है । (दैवीः विशः) देव, राजा की दिव्य, या उत्तम गुणवाली (विशः) प्रजापुं (उशिजः) कान्तिमान्, तेजस्वी (वन्हितमान्) राज्य के कार्यभार को उत्तम रीति से वहन करने वाले, समर्थ (देवान्) देव, विद्वान् पुरुषों को (उप प्र अगु) प्राप्त हों । हे (देव) देव ! राजन् ! हे (त्वष्टः) प्रजाओं के दुःखों को काटनेहारे ! तू (वसु) पशु, प्रजा और नानाविध सम्पत्तियों का (रम) उपभोग कर । (हव्या) नाना प्रकार के भोजन करने योग्य अन्न और भोग्य पदार्थ (ते) तुझे (स्वदन्ताम्) आस्वाद दें । अथवा (ते हव्या स्वदन्ताम्) तेरे नाना भोग्य पदार्थों को प्रजापुं भोग करें । विद्वांसो हि देवाः ॥ शत० ३ । ५ । ३ । ९-१२ ॥

१ रेवती रमध्वं बृहस्पते धारया वसूनि । २ ऋतस्य त्वा देवहविः
पाशेन प्रतिमुञ्चामि धर्षा मानुषः ॥ ८ ॥

बृहस्पतिर्देवता । (१) प्राजापत्यानुष्टुप् । ऋषभः ॥ (२) निचृत् प्राजापत्या बृहती । मध्यमः ।

भा०— हे (रेवतीः) ऐश्वर्य, पशु और धन से सम्पन्न प्रजाओ ! आप लोग (रमध्वम्) खूब आनन्द प्रसन्न होकर विचरण करो । हे (बृहस्पते) बृहती वेद वाणी के पालक विद्वान् पुरुष ! आचार्य ! तू (वसूनि) नाना ऐश्वर्यों को और पशु-सम्पत्ति को भी (धारय) धरण कर । और (ऋतस्य पाशेन) ऋत, सत्य ज्ञान और न्याय के पाश से (त्वा) तुझे (देवहविः) देवों विद्वानों के प्राप्त करने योग्य और चरित्र ही (प्रति मुञ्चामि) धारण कराता हूँ । हे विद्वन् ! तू (मानुषः) मनुष्य, मननशील होकर (धर्ष) सब अज्ञानों को धर्षण कर, बलपूर्वक वश कर ॥

८—ऋतस्य त्वा पशुः । सर्वा० । दीर्घतमा ऋषिः । ८० । '० धर्षा' इति काण्व० ॥

राजा के पक्ष में—प्रजाएं राष्ट्र में आनन्दित रहें। हे बड़े राष्ट्र के पालक ! तू समस्त ऐश्वर्यों को धारण कर। ऋत, सत्य, न्याय के पाश या व्यवस्था से देवोचित हविः अर्थात् आदान योग्य कर, बलि आदि द्वारा बाँधता हूँ तुझे नियुक्त करता हूँ। तू अब मनुष्य होकर भी प्रजा के भीतर के दुष्ट पुरुषों और शत्रुओं और प्रजाओं को परास्त कर ॥

१देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्याम् ।
 २अग्नीषोमाभ्यां जुष्टं नियुनज्मि । ३अद्भ्यस्त्वौषधीभ्योऽनु त्वा
 माता मन्यतामनु पितानु भ्राता सगृभ्योऽनु सखा सयूथ्यः ।
 ४अग्नीषोमाभ्यां त्वा जुष्टं प्रोक्षामि ॥ ६ ॥

सविता अश्विनौ पूषा च देवताः । (१) प्राजापत्या बृहती । मध्यमः ।

(२, ४) आसुरी पंक्तिः । निचृदाची पंक्तिः । पंचमः ॥

भा०—हे शिष्य ! और हे राजन् ! (त्वा) तुझको (देवस्य सवितुः) देव, सर्वप्रकाशक, सर्वोत्पादक परमेश्वर के (प्रसवे) उत्पादित जगत् और शासन में (अश्विनोः बाहुभ्याम्) सूर्य और चन्द्रमा के प्रकाशमान तेजस्वी (बाहुभ्याम्) पापबाधक शक्तियों या बाहुओं से और (पूष्णः) सब के पोषक पृथिवी के (हस्ताभ्याम्) हाथों के समान धारण और आकर्षण से स्वीकार करता हूँ। और (अग्नीषोमाभ्याम्) अग्नि, अग्रणी, सेनानायक और शान्तस्वभाव, न्यायाधीश दोनों से (जुष्टम्) युक्त तुझको (नि युनज्मि) राज्य कार्य में नियुक्त करता हूँ। (त्वा) तुझको (अग्निषोमाभ्याम् जुष्टम्) अग्नि और सोम, सेनापति और न्यायाधीश से युक्त अथवा अग्नि के समान सन्तापकारी और सोम, चन्द्रमा के समान आल्हादकारी भयानक और सौम्य गुणों से युक्त (त्वा) तुझको (अद्भ्यः)

६—अग्नीषोमाभ्यां लिंगोक्तम् । सर्वा० । '०धीभ्यः प्रोक्षाम्यनुत्वा० । इति काण्व० ॥

जलों और उनके समान आस पुरुषों और (ओषधीभ्यः) तापजनक, तीव्र रसयुक्त ओषधियों से (प्रोक्षामि) अभिषेक करता हूँ । या (अद्भ्यः ओषधीभ्यः त्वाम् प्रोक्षामि) आस पुरुषों और प्रजाओं के हित करने के लिये तुझे अभिषिक्त करता हूँ । (त्वा माता अनुमन्यताम्) तुझे इस महान् राज्याभिषेक के लिये तेरी माता अनुमति दे । (पिता अनुमन्यताम्) पिता तुझे अनुमति दे । (भ्राता अनु) भाई तुझे अनुमति दे । (सगर्भ्यः) एक ही गर्भ में सोनेवाला, सहोदर (अनु) तुझे अनुमति दे । (सयूथ्यः) एक जन्मसमुदाय में तेरे साथ रहने वाला साथी या सहपाठी या सहवर्गी पुरुष और (सखा) तेरा मित्रगण तुझे (अनु) अनुमति दे । इसी प्रकार आचार्य शिष्य को भी स्वीकार करे, जलों और ओषधियों से अभिषिक्त करे । और अपने अधीन लेते हुए उसे कहे कि तेरे माता, पिता, तेरे भाई, सहोदर, सहवर्गी, मित्र आदि तुझे आचार्य के अधीन विद्या प्राप्ति के लिये दीक्षित होने की अनुमति दें ॥ शत० ३ । ७ । ४ । ३-५ ॥

आपों वै सर्वे देवाः ॥ शत० १० । १ । ४ । १४ ॥ अग्नेर्वा आपः सुपत्न्यः ॥ शत० ६ । ८ । १ । ३ ॥ आपो वरुणस्य पत्न्यः । तै० १ । ९ । ३ । ८ ॥ ओषधयो वै देवानां पत्न्यः ॥ श० ६ । ५ । ४ ॥

१ अ० पां पेरुरस्यापो देवीः स्वदन्तु स्वात्तञ्चित्सद्देवहविः । २ संते प्राणो वातेन गच्छताथं समङ्गानि यजत्रैः सं यज्ञपतिराशिषा १०

आपो देवता (१) प्राजापत्या बृहती । मध्वमः । (२) निचृदार्पी बृहती । मध्वमः ।

भा०—हे दीक्षाप्राप्त राजन् ! या शिष्य ! तू (अपाम्) समस्त आस पुरुषों का (पेरुः) पालन करने वाला (असि) है । (देवीः) देव, दानशील, तत्त्वदर्शी (आपः) आस पुरुष (सु-आत्तम्)

१०—अद्भ्यो ऽपां पशुः । ० 'सदन्तु०' ० सं, 'यजमान आशिषा' इति काण्व० ॥

सुखपूर्वक प्राप्त की हुई अथवा (स्वात्तम्) आस्वादन करने योग्य भोग्य, आनन्दप्रद, (चित्) उत्तम (सत्) श्रेष्ठ पुरुषों या राजा के योग्य हविः अर्थात् अन्न आदि उपादेय पदार्थों का स्वयं (स्वदन्तु) भोग करें और तुझे भी भोग करावें । (आशिषा) सब बड़ों के आशीर्वाद से (ते प्राणः) तेरा प्राण (वातेन) वायु के साथ मिल कर अनुकूल रूप से (सं गच्छताम्) गति करे । अर्थात् तेरा प्राण वायु के समान बलवान् हो । और (अंगानि) तेरे समस्त अंग या तेरे राष्ट्र के समस्त अंग (यज्ञत्रैः) विद्वान्, पुरुषों द्वारा यज्ञ के अंगों के समान (संगच्छन्ताम्) शिक्षा, और पोषण द्वारा उत्तम रीति से बतें । और तू (यज्ञपतिः) समस्त राष्ट्र-मय यज्ञ का पालक होकर (आशिष सं गच्छताम्) उत्तम आशाओं, शुभ कामनाओं और आशीर्वाद से युक्त हो ॥ शत० ३ । ७ । ४ । ६-९ ॥

^१घृतेनाक्तौ पशून्त्रायेथाथं रेवति यजमाने प्रियं धाऽआविश ।
^२उरोरन्तरिक्षात्सज्जदेवेन वातेनास्य हविषस्तमना यज्ञ समस्य
 तन्वा भव । ^३वर्षो वर्षायासि यज्ञे यज्ञपतिं धाः स्वाहा देवेभ्यो
 देवेभ्यः स्वाहा ॥ ११ ॥

वातो देवता । (१) भुरिग्भाष्युष्णिक् । (२) भुरिगाभ्युष्णिक् । ऋषभः ।

(३) निचृत् प्राजापत्या बृहता ॥

भा०—हे स्त्री पुरुषो ! तुम दोनों (घृतेन अक्तौ) घृत = तेज और स्नेह से युक्त होकर (पशून्) पशुओं का (त्रायेथाम्) पालन करो । हे (रेवति) ऐश्वर्यवति वाणि ! या भाग्यवती स्त्री ! तू (यजमाने) इस यजमान देवोपासक या संगति करने वाले पुरुष में (प्रियम् धाः) उसका प्रियाचरण कर और (आ विश) उसमें प्रविष्ट हो । अर्थात् उसका ही एकाङ्ग होकर रह । अथवा हे स्त्री ! तू (रेवति यजमाने) ऐश्वर्य और

११—घृतेन स्वरुशासौ । रेवति वाक । वर्षो तृणम् । स्वाहा दैवे । सर्वा० ।

सौभाग्य सम्पन्न यजमान गृहपति के आश्रय रह कर उसका (प्रियं धाः) प्रिय आचरण कर और (आ विश) उसके भीतर एकचित्त होकर रह । (देवेन) देव, दिव्यगुणसम्पन्न (वातेन) प्राण के साथ (सजूः) इस की सहसंगिनी, मित्र के समान होकर (उरोः अन्तरिक्षात्) विशाल अन्तरिक्ष से जिस प्रकार वायु सब की रक्षा करता है उसी प्रकार बड़े संकट से तू उसकी रक्षा कर । और (अस्य) इसके (हविषः) हवि, होमयांग्य अन्न आदि पदार्थों से (त्मना) स्वयं भी (यज) यज्ञ कर । अथवा (अस्यः हविषा त्मना यज) इसके अन्न को स्वयं भी अपने उपभोग में ला और (अस्य तन्वा) उसके शरीर से ही तू (सम् भव) संगत होकर पुत्रलाभ कर, उससे एक होकर रह, उस के विपरीत आचरण मत कर । हे (वर्षे) सब सुखों के वर्षक, सब सुखों की दात्रि ! (वर्षीयसि यज्ञे) अति त्रिस्तीर्ण, बड़े भारी गृहस्थ रूप यज्ञ में (यज्ञपतिम्) यज्ञ को पालन करने में समर्थ गृहपति को (धाः) स्थापित कर । (देवेभ्यः स्वाहा) यज्ञ के पूर्व ही आये देवों, विद्वानों का प्रेमवचनों से सत्कार करो और (देवेभ्यः स्वाहा) यज्ञ के पश्चात् भी आदर—वाणी से विद्वानों का आदर सत्कार करो ॥

राज्य पक्ष में—हे शास ! अर्थात् शासक और हे स्वरो ! दुष्टों के दण्ड द्वारा उपतापक ! तुम धृत् अर्थात् तेज से युक्त रहो । हे रेवति ! वेदवाणि ! तू यजमान राजा में प्रिय, मनोहर रूप को धारण कर । अन्तरिक्ष में जिस प्रकार वेगवान् वायु सब प्राणियों को जीवन देता, उन पर शासन करता है, उसी के समान शासक होकर उस राजा के (हविषः त्मना) आत्मा पक्ष आत्मा के साथ (यज) संगत हो । सकल सुखों के वर्णन करनेवाले इस राष्ट्रमय महान् यज्ञ में यज्ञपति की रक्षा कर । हे राजन् ! समस्त विद्वान् ब्राह्मणों और शासकों का उत्तम वाणियों से आदर कर ॥

इसी प्रकार यजमान के यज्ञकर्ता भी उसकी इसी प्रकार सेवा करें,

उसके अनुकूल होकर रहें, उसकी हविसे यज्ञ करें, यज्ञ पति की स्थापना करें और यज्ञ में आये विद्वानों का आदर करें शत० ३।८।९।१-१६॥

माहिर्भूर्मा पृदाकुर्नमस्तऽआतानानर्वा प्रेहि ।

घृतस्य कुल्याऽउपऽऋतस्य पथ्याऽअनु ॥ १२ ॥

विद्वांसो देवताः । अनुष्टुप् । गांधारः ॥

भा०—हे पुरुष ! तू (अहिः) सर्प के समान कुटिल मार्ग पर चलने वाला या अकारण क्रोधी (मा भूः) मत हो । और तू (पृदाकूः) मूढ़ के समान अभिमानी, या व्याघ्र के समान हिंसक, या पृदाकू = अजगर के समान अपने संगी को हड़पजाने वाला, उसके प्राणों का नाशक (मा भूः) मत हो । स्त्री पुरुष को और प्रजा राजा को कहती है कि—(आतान) हे यज्ञसम्पादक पुरुष ! हे प्रजा के सुख को भली प्रकार विस्तार करने वाले पुरुष ! या सुख के विस्तारक ! (ते नमः) हम तेरा आदर करते हैं । (अनर्वा प्रेहि) तू अहिंसक होकर आ । और (घृतस्य कुल्याः) घृत आदि पुष्टिप्रद पदार्थ या घृत = जल की धारा अर्थात् सत्कारार्थ इन जलों को मुख आदि प्रक्षालन के लिये (उप इहि) प्राप्त हो, स्वीकार कर । और ऋत, अन्न के (पथ्या) खानेयोग्य भोजनों को भी (अनु) पीछे स्वीकार कर । अथवा (ऋतस्य पथ्याः अनु) सत्य ज्ञान के मार्गों को तू अनुसरण कर ॥

राजा के पक्ष में—हे राजन ! तू सर्प के समान कुटिलाचारी और अजगर के समान प्रजाभक्षी मत बन । हे विस्तृत राष्ट्रशासक ! तेरा हम प्रजाजन आदर करते हैं । तू (अनर्वा) बिना सवारी, या बिना अश्वसेना या बिना शत्रु के विचर । जल की धाराओं पर पुष्टिकर पदार्थों की धाराओं को प्राप्त हो, और सत्य के मार्गों का अनुसरण कर ॥ शत० ३।८।९-३॥

१२—माहिर्भूरज्जुः । नमस्ते यज्ञः । सर्वा० । '०पथ्या,उप०' इति काण्व० ।

वर के गृहद्वार पर भी स्वयंवरा कन्या और गृहपति के आने पर गृहपत्नी भी उसी प्रकार आतिथ्य करे, यह वेद का उपदेश है ॥

देवीरापः शुद्धा वोढ्वम् सुपरिविष्टा देवेषु सुपरिविष्टा वयं परिविष्टारो भूयास्म ॥ १३ ॥

आपो देवताः । निचृदार्यनुष्टुप् । गांधारः ॥

भा०—हे (आपः) आपगुणों से युक्त या प्राप्त होने योग्य, या जलों के समान स्वच्छ (देवीः) देवियों, विदुषी स्त्रियों ! आप लोग (शुद्धाः) शुद्ध आचरण वाली होकर (वोढ्वम्) स्वयंवर पूर्वक विवाह करो । और तुम कन्याजन ! (देवेषु) विद्वान् पुरुषों में ही (सु परिविष्टाः) उत्तम रीति से उनके अर्धाङ्गिनियों के रूप में उनको प्रदान की जाओ । कन्यायें उत्तर दें—हे विद्वान् पुरुषो ! (वयम्) हम कन्याएं (सु-परिविष्टाः) विद्वान् पुरुषों के हाथों दी जावें । पुरुष कहें—(वयम्) हम (परिविष्टारः) विवाह करने वाले उनका पाणिग्रहण करने वाले (भूयास्म) हों ॥

राजा प्रजा पक्ष में—राजा कहता है—हे प्रजाओ ! तुम शुद्ध रूप से आज्ञा को धारण करो और (देवेषु) विद्वानों के आश्रय में सुख से बस कर रहो । प्रजा कहे—हम प्रजा जनों के उत्तम रक्षक बनें । अर्थात् राजा प्रजा का व्यवहार स्वयंवृत पति पत्नी के समान हो ॥ शत० ३ । ८ । १ ॥
वाचं ते शुन्धामि प्राणं ते शुन्धामि चक्षुस्ते शुन्धामि श्रोत्रं ते शुन्धामि नाभिं ते शुन्धामि मेढूं ते शुन्धामि पायुं ते शुन्धामि चरित्रांस्ते शुन्धामि ॥ १४ ॥

विद्वांसो देवता । भुरिगार्भी जगती । निषादः ॥

१३—देवीरापो ऽर्धमापमर्धमाशीः । सर्वा० ।

१४—पशुदेवता । सर्वा० ॥

भा०—स्त्री स्वयंवर के अवसर पर पति को कहती है—और इसी प्रकार गुरुजन अपने शिष्यों को भी कहते हैं—(ते वाचम् शुं धामि) मैं तेरी वाणी को शुद्ध करती हूँ । (ते प्राणान् शुन्धामि) मैं तेरे प्राण को शुद्ध करती हूँ । (ते चक्षुः शुन्धामि) तेरी आंख को शुद्ध करती हूँ । (ते श्रोत्रं शुन्धामि) तेरे कान को शुद्ध करती हूँ । (ते नाभिम् शुन्धामि) तेरी नाभि को शुद्ध करती हूँ । (ते मेढ्रं शुन्धामि) तेरे प्रजननाङ्ग को शुद्ध करती हूँ । (ते पायुम् शुन्धामि) तेरे पायु अर्थात् गुदा भाग को शुद्ध करती हूँ और (चरित्रान् शुन्धामि) तेरे चरणों और आचरणों को भी शुद्ध करती हूँ । जितने भी सम्बन्ध आपस के भेद-भाव रहित निष्कपटता के हैं वहां २ परस्पर एक दूसरे के समस्त अंगों को पवित्र करें पवित्र और शुद्ध आचारवान् बनाने की प्रतिज्ञा करें । विवाह पद्धति में कन्यार्थ अंगहोम द्वारा उसी उद्देश्य को पूर्ण किया जाता है । उपनयनादि में गात्र स्पर्श द्वारा अचार्य भी वही कार्य करता है ॥

इसी प्रकार प्रजा भी राजा की वाणी, प्राण, चक्षु, श्रोत्र, नाभि, लिङ्ग, गुदा, चरण आदि सब को पवित्र करे । उनको उन अंगों से पाप में घेर न रखने दे ॥

‘मनस्त्वाप्यायतां वाक्त्वाप्यायतां प्राणस्त्वाप्यायताञ्चक्षु-
स्त्वाप्यायतां श्रोत्रं त्वाप्यायताम् । यत्ते क्रूरं यदास्थितं
तत्त्वाप्यायतां निष्ठायतां तत्ते शुद्ध्यतु शमहोभ्यः । ओषधे
त्रायस्व स्वधिते मेनश्च हिंसीः ॥ १५ ॥

विद्वांसा देवताः । (१) मुरिगार्ची त्रिष्टुप् । धैवतः ॥ (१) आर्षी पंक्तिः । पंचमः ॥

भा०—हे मनुष्य ! (ते मनः) तेरा मन, संकल्प विकल्प करने

१५—मनस्ते पशुः । शं लिंगोक्तम् । ओषधे वृणं । स्वधितेऽसिः सर्वा०

• ‘निष्ठायतां’ शान्त काण्व० ॥

वाला चित्त (आप्यायताम्) बड़े, शक्तिशाली हो । (ते वाक् प्राणः, चक्षुः श्रोत्रम् आप्यायताम् ४) तेरी वाणी प्राण, चक्षु, कान, ये समस्त इन्द्रियां शक्तिमान् हों और (यत्) जो (ते) तेरा (क्रूरम्) क्रूर स्वभाव है वह (निः स्त्यायताम्) दूर हो । और (यत्) जो (आस्थितम्) तेरा स्थिर निश्चय या स्थिर स्वभाव है वह (आप्यायताम्) वृद्धि को प्राप्त हो, बड़े । और (तत्) वह भी (ते) तेरा (शुध्यतु) शुद्ध हो । (अहोभ्यः) सब दिनों के लिये (शम्) शान्ति और कल्याण, सुख प्राप्त हो । हे (ओषधे) ओषधि और ओषधियों के प्रयोक्ता वैद्य लोगो ! (त्रायस्व) तुम इसकी रक्षा करो । हे (स्वधिते) शस्त्र वा हे शस्त्रधारी पुरुष ! (एनम्) इस मनुष्य को (मा हिंसीः) मत मार ॥

गुरु शिष्य पक्ष में—हे (ओषधे) दोषों को दूर करने में समर्थ गुरो ! तुम इस शिष्य की रक्षा करो । और हे (स्वधिते) शिष्याओं और शिष्यों को अपने पुत्र के समान पालने हारे गुरो । और आचार्याणि ! तुम (मा एनं हिंसीः) इस शिष्य को व्यर्थ ताड़ना मत करो ।

राजा की भी मन वाणी आदि शक्तियां बढें और शस्त्रधारी रक्षक उसका घात न करें ॥ शत० ३ । ८ । २ । १२ ॥

१ रक्षसां भागोऽसि निरस्तुं रक्षोऽइदमहं रक्षोऽभितिष्ठामीदमहं रक्षोऽवबाधऽइदमहं रक्षोऽधमन्तमो नयामि । २ घृतेन द्यावापृथिवी प्रोर्णवाथां वायो वे स्तोकानामग्निराज्यस्य वेतु स्वाहा स्वाहाकृतेऽऊर्ध्वनभसं मारुतङ्गच्छतम् ॥ १६ ॥

द्यावापृथिव्यौ देवते । (१, २) ब्राह्म्युष्णिक । ऋषभः ॥

१६—रक्षो, द्यावापृथिवी, वायुः अति वपाश्रपण्यौच देवताः । सर्वा० ।

० 'प्रोर्णवाथां वायो वेस्तोकानाम् । जुपायोऽग्निरा०' इति काण्व० ।

भा०—हे दुष्ट कर्म के करने वाले ! दुराचारिन् ! तू (रक्षसाम्) दूसरों के कार्यों का नाश करके अपने स्वार्थ की रक्षा करने वाले, नीच पुरुषों का ही (भागः असि) भाग है अर्थात् तू उनके आचरणों और नीच स्वभावों का सेवन करता है । एवं उनका आश्रय है । इस लिये (रक्षः) ऐसा स्वार्थी दुष्ट पुरुष (निरस्तम्) नीचे गिरा दिया जाय । (अहम्) मैं (इदम्) इस प्रकार (रक्षः) दुष्ट पुरुष के (अभि तिष्ठामि) ऊपर चढ़ाई करूं, उसका मुकाबला करूं । मैं (इदम्) इस प्रकार अभी, विना विलम्ब के, (रक्षः अववाधे) राज्य कार्य के विघ्नकारी पुरुष को नीचे गिरा कर दण्डित करूं । (इदम्) और शीघ्र ही इस प्रकार के (रक्षः) राक्षस, विघ्नकारी दुष्ट पुरुष को (अधमं तमः) नीचे गहरे अंधकार में, या अन्धेरी कोठरी में (नयामि) घोर दुःख भोगने के लिये भेजदूँ । और हे (द्यावापृथिवी) पिता, माता एवं पुरुष और स्त्री और गुरु, शिष्य ! जिस प्रकार द्यौ और पृथिवी (घृतेन) जल से या प्रकाश से आच्छादित रहती हैं । उसी प्रकार तुम दोनों (घृतेन) घृत आदि पुष्टिप्रद पदार्थ, वीर्य सामर्थ्य और ज्ञान से (प्र-ऊर्णुवाथाम्) अच्छी प्रकार सम्पन्न रहो । हे (वायो) ज्ञानवन् ! जिस प्रकार वायु जल के सूक्ष्म कणों को अपने भीतर वाष्परूप में ग्रहण कर लेता है उसी प्रकार तू भी (स्तोकानाम्) अत्यन्त सूक्ष्म २ तत्त्वों को भी (वेः) ज्ञान कर । और (अग्निः) अग्नि जिस प्रकार आज्य अर्थात् घृत को प्राप्त होकर प्रकाशमान होजाता है या सूर्य जिस प्रकार जल को ग्रहण करता, उसी प्रकार हे विद्वान् पुरुष : तू भी (अग्निः) अग्नि के स्वभाव का स्वयंप्रकाश होकर (आज्यस्य) अज, अविनाशी परमात्मविषयक ज्ञान को, अथवा आनन्द, ज्ञान, प्रणबल, सत्य तत्त्व, वीर्य या वेदज्ञान को (वेतु) प्राप्त करे । और (स्वाहा) यही सबसे उत्तम आहुति है । या वह उग्रम यश को उत्पन्न करता है । हे (स्वाहाकृते) इस प्रकार उत्तम

उपदेश-ज्ञान की परस्पर आहुति प्रदान या ग्रहण करने वाले स्त्री पुरुषो ! (ऊर्ध्व-नभसम्) जिस प्रकार अग्नि घृत को ग्रहण करके प्रज्वलित करता और वायु उसके सूक्ष्म कणों को ग्रहण कर लेता है और इस प्रकार ऊपर के जल से युक्त वायु को दोनों आकाश और पृथिवी प्राप्त कर लेते हैं । उसी प्रकार तुम दोनों (ऊर्ध्व-नभसम्) सर्वोच्च, सबके परम बन्धनकारी, (मारुतम्) सबके जन्म-मरण के कर्ता या प्राणस्वरूप परमेश्वर का (गच्छतम्) ज्ञान करो, उसको प्राप्त करो ॥

राज प्रजा के पक्ष में - राजा प्रजा (घृतेन) तेज से, ऐश्वर्य से एक दूसरे को आच्छादित करें । वायु स्वभाव प्रजा स्वल्प १ पदार्थों का भी संग्रह करे । अग्नि, राजा युद्धोपयोगी ऐश्वर्य को प्राप्त करे । एक दूसरे को (स्वाहा) उत्तम आदान-प्रतिदान करे । इस प्रकार (स्वाहाकृते) आदानप्रतिदान करने वाले हे राजा और प्रजाओ ! तुम दोनों (ऊर्ध्व-नभसम्) ऊपर सर्वोपरि बांधनेवाले एक नियन्त्रारूप (मारुतम्) मरुद्-गणों, समस्त सेनाओं या वैश्यों के महान् बल को प्राप्त करो ॥ शत० ३ । ८ । २ । १३-२२ ॥

इदमापः प्रवहतावद्यञ्च मलञ्च यत् । यच्चाभिदुद्रोहानृतं यच्च शेषे ऽअभीरुणम् । आपो मा तस्मादेनसः पवमानश्च मुञ्चतु ॥१७॥

आपो देवताः । निचृद् ब्राह्म्यनुष्टुप् । गंधारः ॥

भा०—हे (आपः) जलों के समान शान्त स्वभाव, एवं मलशोधक विद्याओं को प्राप्त करने हारे आस पुरुषो ! (अवद्यं च) जो निन्दनीय कर्म और (यत् मलं च) जो मल, मलिन कार्य है और (यत् च) जो कुल में (अभि दुद्रोह) दूसरे के प्रति द्रोहकार्य, द्वेष, घात, वैर आदि

१७—अयं मन्त्रः शतपथे नास्ति । इदमापः प्रवहतं यत्किञ्च दुरितं मयि यद्वाहमभिदुद्रोह यद्वा शेष उतानृतं । इति काण्व० ॥

कहूं और (यत् च) जो (अनृतम्) असत्य भाषण कहूं और जो (अभीरुणम्) निर्भय होकर मैं (शेषे) दूसरे को कोसूं, निन्दाजनक अपशब्द कहूँ उस सब मल को आप लोग (इदम्) बहुत शीघ्र (प्रवहत) जलों के समान बहाकर दूर करो और मुझे स्वच्छ करदो । और (आपः) वे आस पुरुष और (पवमानः च) पवित्र करनेहारा, या सूर्य वायु के समान अन्न को तुष से पृथक् २ कर देने हारा, वा न्यायकारी पुरुष (मा) मुझको (तस्मात्) उस पाप से (मुञ्चतु) छुड़ावे ॥

१सं ते मनो मनसा सं प्राणः प्राणेन गच्छताम् । २रेडस्यग्निष्ट्वा श्रीणात्वापस्त्वा समरिणन्वातस्य त्वा ध्राज्यै पूष्णो रथं ह्याऽ-
ऊष्मणो व्यथिषत्प्रयुतं द्वेषः ॥ १८ ॥

अग्निर्देवता । (१) प्राजापत्यानुष्टुप् । गांधारः । (२) निचृदार्षी बृहती । मध्यमः ॥

भा०—हे मनुष्य ! (ते मनः) तेरा मन, अन्नकरण (मनसा) मन, मनन सामर्थ्य या विज्ञान से युक्त हो और (प्राणः) प्राण (प्राणेन) प्राण बलसे (सं गच्छताम्) युक्त हो । अथवा स्त्री पुरुष, राजा प्रजा और गुरु शिष्य परस्पर प्रतिज्ञा करते हैं कि (ते मनः मनसा सं गच्छताम्) तेरा मन मेरे मन से मिलकर रहे । (ते प्राणः प्राणेन संगच्छताम्) तेरा प्राण मेरे प्राण से मिलकर रहे ॥

धौ और पृथिवी से उत्पन्न अन्न के पक्ष में— हे अन्न ! भोजनयोग्य पदार्थ ! तू (रेट् = लेट् असि) तू आस्वादन करने योग्य है । (त्वा अग्निः श्रीणातु) तुझे अग्नि परिपक्व करे । (आपः त्वा सम् अरिणन्) जल तुझ में मिले । (त्वा) तुझको (वातस्य) वायु के (ध्राज्यै) वेगवती, तीव्र गति और (पूष्णः) परिपोषक सूर्य के (रथं) प्रचण्डता की (उष्मणः) उष्णता से (व्यथिषत्) तपाया जाता है । और इस प्रकार (द्वेषः) अप्रीतिकर,

१८—हृदय, गसा, रेषश्च देवताः । सर्गा० ॥

बुरे पदार्थ तुष आदि को तुझे से (प्रयुतं) पृथक् कर दिया जाता है ॥

इसी प्रकार शिष्य के पक्ष में—(रेट् असि) तू ज्ञानवान् होने योग्य है । अग्नि, आचार्य तुझे ज्ञान में परिपक्व करे । आस पुरुष तेरे संग रहें । वात अर्थात् प्राण के तीव्रगति और परिपोषक सूर्य की प्रचण्डता की उष्णता से अर्थात् तप से तुझे तपस्या कराई गई है । अतः हे सहनशील मेरे भीतर से (प्रयुतं द्वेषः) प्राणियों के प्रति तेरे हृदय में वैठे द्वेषभाव को पृथक् कर दिया गया है ॥

राजा प्रजा पक्ष में और योद्धा पक्ष में—(रेट्) शत्रुओं का तू नाशक है । अग्नि, अग्रणी सेनापति युद्धाग्नि तुझे परिपक्व करे । या (वातस्य त्वा ध्राज्यै) वायु के प्रचण्डवेग और (पूष्णः रंह्यै) सूर्य के प्रचण्ड गति के प्राप्त करने के लिये (त्वा आपः सम् अरिणन्) जलों के समान शान्त स्वभाव के विद्वान् पुरुष तुझे प्राप्त हों । तेरी (ऊष्मणः) अपनी प्रचण्डता से (प्रयुतम्) लक्षों (द्वेषः) द्वेषकारी शत्रु (व्यथिषत्) पीड़ित हों ॥ शत० ३ । ८ । ३ । ९-१४ ॥

घृतं घृतपावानः पिवतु वसां वसापावानः पिवतुान्तरिक्षस्य
हविरोसि स्वाहा । दिशः प्रदिशऽश्वादिशो विदिशऽबुद्धिशो
दिग्भ्यः स्वाहा ॥ १६ ॥

विश्वेदेवा देवताः । ब्राह्मचनुष्टुप् । गांधारः ॥

भा०—हे (घृतपावानः) घृत = जल और घृत आदि के पान करनेहारे पुरुषो ! आप लोग (घृतम् पिवत) घृत, जल और घी आदि पुष्टिकारक पदार्थों का पान करो । अथवा हे (घृत-पावनः) परम तेज के पालन करनेहारे पुरुषो । तुम लोग 'घृत' अर्थात् राजयोग्य परम तेज को धारण करो ॥

१६—घृतं वैश्वेदेवम् । दिशः पंच दिश्यानि । सर्वां० ॥

[घृत शब्द वेद में नाना प्रकार से प्रयुक्त होता है जैसे—एतद्वा अग्नेः प्रियं धाम् यद् घृतम् । शत० ६ । ६ । १ । ११ ॥ घृतं वै देवानां वज्रं कृत्वा सोममघ्नन् । गो० उ० २ । ४ ॥ देवव्रतं वै घृतम् । तां १८ । २ । ६ ॥ रेतः सिक्तिर्वै घृतम् । घृतमन्तरिक्षस्य रूपम् । श० ७ । ५ । १ । ३ ॥ अन्नस्य घृतमेव रसस्तेजः । मै० २ । ६ । १५ ॥ तेजो वा एतत्पशूनां यद् घृतम् । तै० ८ । २० ॥]

अग्नि अर्थात् राजा का तेज राष्ट्र को प्राप्त करने के लिये शस्त्रबल, देव का व्रत अर्थात् राजा के निमित्त निर्धारित कर्तव्य, गृहस्थों का वीर्य-सेचन आदि कर्तव्य पालन, अन्न का परम रस और पशु सम्पत्ति ये सब पदार्थ सामान्यतः 'घृत' हैं उनको पान करने या पालन करने में समर्थ पुरुष इन वस्तुओं का पान अर्थात् प्राप्त करें और उसका उपयोग करें । (वसां वसापावानः पिबत) हे 'वसा' को पान करनेवालो ! तुम 'वसा' को पान करो ॥

'वसा'—श्रीवैपशूनां वसा । अथो परमं वा एतद् अन्नाद्यं यद् वसा । श० १२ । ८ । ३ । १२ ॥

अर्थात्—हे पशु सम्पत्ति और उत्तम अन्न समृद्धि के पालनेहारे पशु पालक और वैश्यजनो ! आप लोग (वसां पिबत) आप उत्तम पशु संपत्ति और उत्तम अन्न आदि खाद्य पदार्थों का पान करो, उपभोग करो उनसे प्राप्त दूध, दही, मक्खन और नाना लेह्य पदार्थ बनाकर खाओ । हे अन्नादि पदार्थों ! (अन्तरिक्षस्य हविः असि) तू अन्तरिक्ष की हवि अर्थात् प्राप्त और संग्रह करने योग्य पदार्थ है ॥

वैश्वदेवं वा अन्तरिक्षम् । तद्यदेनेनेमाः प्रजाः प्राणत्यश्चोदानत्यश्चान्त-
रिक्षमनुचरन्ति ॥ श० ॥

अन्तरिक्ष विश्वदेव का रूप है अर्थात् समस्त प्रजाएं अन्त-
रिक्ष हैं । पूर्वोक्त घृत और वसा अर्थात् उत्तम, अन्न, बल, शस्त्र

और पशुसम्पत्ति ये पदार्थ विश्वेदेव अर्थात् समस्त प्रजाओं का हवि अर्थात् उपादेय अन्न है । इसलिये (स्वाहा) इनको उत्तम रीति से प्राप्त करना उत्तम है । इन सब पदार्थों को (दिशः) समस्त दिशाओं से, (प्रदिशः) उपदिशाओं से (आदिशः) समीप के देशों से और (विदिशः) विविध दूर २ के देशों से और (उद्दिशः) ऊँचे पर्वती देशों से अर्थात् (दिग्भ्यः) सभी दिशाओं या देशों से (स्वाहा) भली प्रकार प्राप्त करना चाहिये । और नाना देशों को भेजना भी चाहिये ॥

वीरों के पक्ष में—वीर लोग 'अन्तरिक्ष की हवि हैं, अर्थात् दोनों देशों के बीच में लड़कर युद्ध यज्ञ में आहुति होने के योग्य हविरूप है अर्थात् वहाँ उनका उपयोग है । वे भी दिशा उपदिशा, दूर समीप के सभी देशों को प्रस्थित हों, वहाँ विजय करें ॥ शत० ३ । ८ । ३ । ३१-३५ ॥

ऐन्द्रः प्राणोऽअङ्गेऽअङ्गे निदीध्यदैन्द्रऽउदानोऽअङ्गेऽअङ्गे निधीतः । देव त्वष्टृभूरि ते सथ्समेतु सलक्ष्मा यद्विषुरुपम्भवाति । देवत्रा यन्तमवसे सखायोऽनु त्वा माता पितरो मदन्तु ॥२०॥

त्वष्टा देवता । निचृद ब्राह्मी त्रिष्टुप् । धैवतः ।

भा०—जिस प्रकार (ऐन्द्रः) इन्द्र अर्थात् जीव सम्बन्धी (प्राणः) प्राण, चेतना (अङ्गे अङ्गे) अङ्ग अङ्ग में, प्रत्येक अङ्ग में (निदीध्यत्) निरन्तर प्रकाशित या चेतनारूप से विद्यमान रहती और गति करती या क्रीड़ा करती है । और जिस प्रकार (ऐन्द्रः उदानः) जीव की एक शक्ति उदान भी (अङ्गे अङ्गे) प्रत्येक अङ्ग में (निधीतः) निरन्तर स्थिर रहती है उसी प्रकार (ऐन्द्रः प्राणः) राष्ट्र में भी प्राण के समान ऐन्द्र =

२०—ऐन्द्रः प्राणः पञ्चङ्ग प्राणदानं लिङोक्तम् । सर्वा० । ० निधीत ऐन्द्र० निदीधे ।' इति काण्व० ॥

अर्थात् इन्द्र राजा का उत्कृष्ट बल राष्ट्र के (अङ्गे २ निदीध्यत्) प्रत्येक अङ्ग में विराजमान हो, उज्ज्वलरूप में विद्यमान हो । और इसी प्रकार (ऐन्द्रः उदानः) राजा का उत्तम सामर्थ्य, उसको उन्नत करनेवाला बल भी (अङ्गे अङ्गे निधीतः) राष्ट्र के प्रत्येक अंग में स्थापित किया जाय । हे (देव) देव ! हे विजिगीषो ! राजन् ! सेनापते ! हे (त्वष्टः) शत्रुओं के बलको काटने वाले, हे प्रजापते ! और गृहपते ! हे वीर पुरुष ! (ते) तेरा (यत्) जो (सलक्ष्म) एक ही चिन्ह या लक्षण को धारण करने वाला, एक ही पोषाक पहनने वाला (विपुरुषम्) नाना प्रकार का सेनाबल है, (भूरि) बहुत अधिक मात्रा में (सम् एतु) एकत्र हो । (देवत्रा) देवों, राजाओं वा योद्धाओं के बीच (यन्तम्) गमन करते हुए (त्वा अनु) तेरे पीछे २ चलनेवाले (सखायः) तेरे सुहृद् राजा लोग (अवसे) तेरी रक्षा के लिए चले और (माता-पितरौ) तेरे माता पिता भी (त्वा अनु) तेरी उन्नति के साथ (मदन्तु) हर्षित हों । अथवा तेरे मित्रगण तेरे माता पिता को हर्षित करें ॥

गृहपति पक्ष में—(त्वष्टः) हे गृहपते ! हे वीर्यनिषेक्तः ! (यत्) जब (सलक्ष्मा) तेरे ही समान लक्षणोंवाली, तेरी धर्मपत्नी (विपुरुषं भवाति) विपुरुष अर्थात् सन्तानरूप से नाना रूप हो जाय तब वह (भूरि) बहुत अधिक (सम्, सम् एतु) तुझे सन्तान आदि सहित प्राप्त हो । (देवत्रा यन्तं सखायः मातापितरौ च त्वा अनु मदन्तु) और विद्वानों के बीच तेरे मित्र और माता पिता तुझे देख २ कर प्रसन्न हों । अथवा—(सलक्ष्मा ते भूरि सं समेतु) हे वीर्य निषेक्त करने में समर्थ युवा पुरुष ! (ते) तेरे समान लक्षणों वाली स्त्री तुझे प्राप्त हो । (यत्) वह (विपुरुषं, भवाति) नाना सन्तानों से नाना रूप हो । पूर्ववत् ॥ शत० ३ । ८ । ३ । ३६ ॥

‘त्वष्टा’—इन्द्रो वै त्वष्टा । ऐ० ६ । १० ॥ त्वष्टा वै रेतः सिक्तं विक्रोति । श० १।८।१।१०।३ ॥ रेतःसिक्तवै त्वाष्ट्रः । कौ० १९ । ६ ॥

१ समुद्रं गच्छ स्वाहा । २ अन्तरिक्षं गच्छ स्वाहा । ३ देवतं सवितारं गच्छ स्वाहा । ४ मित्रावरुणौ गच्छ स्वाहा । ५ अहोरात्रे गच्छ स्वाहा । ६ छन्दांसि गच्छ स्वाहा । ७ द्यावापृथिवी गच्छ स्वाहा । ८ यज्ञं गच्छ स्वाहा । ९ सोमं गच्छ स्वाहा । १० दिव्यं नभो गच्छ स्वाहा । ११ अग्निं वैश्वानरं गच्छ स्वाहा । १२ मनो मे हृदि यच्छ । १३ दिवं ते धूमो गच्छतु स्तुज्योतिः पृथिवीं भस्मनापृण स्वाहा ॥ २१ ॥

सेनापतिदेवता । (१, ६, १२) याजुषी उष्णिक् । ऋषभः । (२, ४, १०) याजुषी अनुष्टुप् । गांधारः । (३, ११) याजुषी पंक्तिः । पंचमः । (४७,) याजुषी बृहती । मध्यमः । (६, ८) याजुषी गायत्री । षड्जः । (१३) आर्च्युष्णिक् । ऋषभः ॥

भा०—(समुद्रं गच्छ स्वाहा) हे सेनापते ! तू (स्वाहा) उत्तम नौका आदि विद्या से तैयार किये, उत्तम उपाय से (समुद्रं गच्छ) समुद्र की यात्रा कर । विमानविद्या द्वारा बनाये विमान आदि उत्तम उपाय से (अन्तरिक्षं गच्छ) अन्तरिक्ष को प्राप्त कर, उसमें जा । (स्वाहा सवितारं देवं गच्छ) ब्रह्मविद्या से प्रकाशस्वरूप सविता, सर्वोत्पादक परमेश्वर को प्राप्त हो । (स्वाहा मित्रावरुणौ गच्छ) योग विद्या से मित्र और वरुण, प्राण और उदान को वश कर । (स्वाहा अहोरात्रे गच्छ) कालविद्या से दिन और रात्रि का ज्ञान कर । (स्वाहा छन्दांसि गच्छ) वेद वेदाङ्ग की विद्या से समस्त ऋग्, यजुः, साम और अथर्व चारों वेदों का ज्ञान कर । (स्वाहा द्यावापृथिवी गच्छ) आकाश,

२१—“हृदियच्छ” इत्यन्तो मन्त्रः शत० । दिवं०—स्वाहा’ शतपथं नास्ति । समुद्रं लिंगोक्तानि द्वादश । दिवं ते स्वरुः । सर्वा० । “समुद्रं गच्छ स्वाहा देवं १० सवितारं गच्छ स्वाहा अन्तरिक्षं० । ० सोमं गच्छ स्वाहा यज्ञं गच्छ स्वाहा नभो दिव्यं०, हाद्यच्छ । दिवं ते धूमा गच्छत्वन्तरिक्षं ज्योतिः । ०” इति कायव० ॥

खगोल, भूगोल और भूगर्भ, विद्या से द्यौ और पृथिवी, आकाश और भूमि के समस्त पदार्थों का ज्ञान कर । (स्वाहा यज्ञं गच्छ) उत्तम उपदेश से यज्ञ, अग्निहोत्र, राज्यशासन आदि कार्यों को जान । (स्वाहा सोमं गच्छ) उत्तम उपदेश द्वारा समस्त ओपधियों के परम रस व परम वीर्य को प्राप्त कर, उसका ज्ञान कर । (स्वाहा दिव्यं नभः गच्छ) उच्च विद्या द्वारा दिव्य गुणयुक्त 'नभः' आकाश के भागों को या जलों को जान । (स्वाहा अग्निम् वैश्वानरम् गच्छ) उत्तम विद्योपदेश द्वारा वैश्वानर अग्नि, जाठर अग्नि, अथवा सूर्य से प्राप्त अग्नि का ज्ञान कर ॥

हे परमात्मन् ! (मे) मेरे (हार्दि) हृदय में प्राप्त होने योग्य (मनः) उत्तम ज्ञान (यच्छ) प्रदान कर । हे अग्ने ! अग्रणी सेनापते ! (ते धूमः) जिस प्रकार अग्नि का धूआं आकाश को चला जाता है, उसी प्रकार (ते) तेरा (धूमः) शत्रुओं को कंपा देने वाला सामर्थ्य (दिवं गच्छ) प्रकाशमान सूर्य को प्राप्त करे अर्थात् प्रकाशित हो । तेरी (ज्योतिः) ज्योतिः = यज्ञ, (स्वः) सूर्य को प्राप्त हो, अर्थात् वह सूर्य के समान प्रकाशित हो । और तू (पृथिवीम्) पृथिवी को (भस्मना) अपने तेज और शत्रु को दवानेवाले आतङ्क से (स्वाहा) उत्तम नीति से (आपृण) पूर्ण कर । 'भस्मना'—भस भर्त्सनदीप्तयोः । इत्यतः सार्वधातुको मनिन् ॥

अर्थात् उत्तम २ विद्याओं द्वारा, और उत्तम विद्योपदेशों द्वारा समुद्र अन्तरिक्ष आदि को प्राप्त हो । अथवा हे राजन् ! तू (स्वाहा समुद्रं गच्छ) उत्तम आदान योग्य गुणों से समुद्र को प्राप्त हो अर्थात् तू समुद्र के समान गम्भीर, रत्नों का आश्रय हो । तू अन्तरिक्ष को प्राप्त हो अर्थात् अन्तरिक्ष के समान पृथिवी का रक्षक बन, सूर्य के समान सबका प्रेरक राजा बन, प्राण, उदान के समान राष्ट्र का जीवन बन । दिन, रात्रि के समान कार्य संचालक और विश्राम देनेवाला बन । इसी प्रकार वेदों के समान ज्ञानमय, आकाश और पृथिवी के समान सबका आश्रय, यज्ञ के समान सबका पालक,

सोम के समान रोगनाशक, आकाश या जल के समान व्यापक और शान्तिदायक, वैश्वानर अग्नि के समान सर्वहितकारी नेता, वन ॥ शत० ३।८।४।१०-१८ ॥ ३।८।५।१-९ ॥ यह मन्त्र प्रजोत्पत्ति पक्ष में शतपथ में व्याख्यात है। जिसका अभिप्राय है कि महान् परमेश्वर का वीर्य जिस प्रकार समुद्र अन्तरिक्ष, सूर्य, मित्र, वरुण, द्यौ, पृथिवी आदि नाना पदार्थों में परिवर्तित है, उसी प्रकार हे वीर्य ! तू भी माता के गर्भाशय में जाकर शरीर के ही नाना शक्तियुक्त भागों में परिवर्तित हो ॥

‘मापो मौषधीर्हिंसीर्धाम्नो धाम्नो राजंस्ततो वरुण नो मुञ्च ।
यदाहुरध्न्या इति वरुणेति शपोमहे ततो वरुण नो मुञ्च ।
सुमित्रिया न आप ओषधयः सन्तु दुर्मित्रियास्तस्मै सन्तु
ग्रेऽस्मान्द्वेष्टि यञ्च वयं द्विष्मः ॥ २२ ॥

वरुणा देवता । (१) ब्राह्मो स्वराड् उष्णिक् । ऋषभः ।

(२) विराड् गायत्री । षड्जः ॥

भा०—हे (राजन्) हे राजन् ! (वरुण) वरुण ! सर्वश्रेष्ठ प्रजाओं और आसों द्वारा वरण करने योग्य ! तू (आपः) आस प्रजाजनों को और (ओषधीः) दुष्टों के दोषों का नाश करने वाले, सामर्थ्यवान्, वीर्यवान् पुरुषों को, (मा हिंसीः) मत नाश कर । अथवा (आपः ओषधीः मा हिंसीः) राष्ट्र में जलों, कूप, तड़ाग आदि, और ओषधि, अन्न आदि के खेतों और बनों का नाश मत कर । उनकी रक्षा कर । और (धाम्नः धाम्नः) प्रत्येक स्थान से (नः) हमें (मुञ्च) भय से मुक्त कर, हमें स्वतन्त्र रख । (यत्) जब २ हम हे (अक्षयः) न मारने योग्य गौ प्रजा और ! विद्वान् ब्राह्मण गण ! हे (वरुण) सर्व श्रेष्ठ दोषवारक ! (इति) इस प्रकार

२२—मापोहृदयशूलम् धाम्नो धाम्नो वारुणम् । यदाहुवारुणा गायत्र्यव-
वसाना । सुमात्रया न आपम् । सर्वा० ।

कहकर हम (शपामहे) आगे अपराध न करने की शपथ लें (ततः)
तब उस अपराध के दण्ड से (नः) इसे (मुञ्च) मुक्त कर । (नः)
हमारे लिये (आपः) समस्त जल और (ओषधयः) ओषधियां और
आप्त पुरुष और दण्ड दाता अधिकारीजन (नः) हमारे (सुमित्रियाः)
उत्तम स्नेहकारी मित्र के समान वर्ताव करने वाले (सन्तु) हों । और
वे ही (तस्मै) उस मनुष्य के लिये (दुर्मित्रियाः) दुःखदायी हों (यः)
जो (अस्मान्) हमें (द्वेष्टि) द्वेष करता है और (यं च वयं द्विष्मः)
जिससे हम द्वेष करते हैं ॥

‘आपः’—आपो वै सर्वे देवाः । श० १० । ५ । ४ । १४ ॥ अपो
वरुणस्य पत्न्यः । तै० १ । ५ । ३ । ८ ॥ अग्निना वा आपः सुपत्न्यः ।
श० ६ । ८ । २ । ३ ॥ मनुष्या वा आपः चन्द्राः । श० ७ । ३ ।
१ । १० ॥

‘ओषधीः’—ओषधय इति तत ओषधयः समभवन् । तेज और ताप
को धारण करने वाला ‘ओषधि’ है ॥

गृहपत्नी पक्ष में यही मन्त्र व्याख्यात होता है । जिससे कुमारियां, स्त्रियाँ
और गर्भिणीएँ भी अदण्ड्य होती हैं ॥ शत० ३ । ५ । १० । ११ ॥

हविष्मतीरिमा ऽआपो हविष्माँ२ऽ आविवासति ।

हविष्मान्देवोऽअध्वरो हविष्माँ२ऽ अस्तु सूर्यः ॥ २३ ॥

आपो यज्ञः सूर्यश्च देवताः । निचृदार्थ्यनुष्टुप् । गान्धारः ॥

भा०—(इमाः आपः) ये जल सदा (हविष्मतीः) हवि, अर्थात्
ग्रहण करने योग्य रस और अन्न से युक्त हों, उनको (हविष्मान्) हविः,
उत्तम गुण और ज्ञान से सम्पन्न पुरुष (आविवासति) प्रयोग में लावे,
उपयोग करे । अथवा—(इमाः) इन (हविष्मतीः) ज्ञान से समृद्ध

२३—हविष्मतीर्लिङ्गोक्तदेवताऽनुष्टुप् । सर्वा० ।

प्रजाओं और आसपुरुषों या यज्ञादिक आस कर्मों को (हविष्मान् आविवासति) ज्ञान, जल; नाना उपायों और अन्नों से समृद्ध पुरुष ही सेवन करता है । (देवः) देव, साक्षात् राजा (अध्वरः) शत्रुओं से न पराजित होते वाला, (हविष्मान्) ग्रहण करने योग्य राष्ट्र से युक्त हो । और (सूर्यः) वह सूर्य के समान रश्मियों से युक्त तेजस्वी होकर (हविष्मान् अस्तु) अन्नादि उपयोगी पदार्थों से सम्पन्न हो ।

यज्ञ में ये आपः 'वसतीवरी' कहाती हैं जो 'वसति' अर्थात् राष्ट्र के नगर, ग्राम आदि में वरी श्रेष्ठ प्रजाओं की प्रतिनिधि हैं ।

अथवा—(हविष्मान्) हवि, ग्रहणशक्ति से सम्पन्न वायु जिस प्रकार (हविष्मतीः आपः आविवासति) रस वाले जलों को अपने भीतर लेता है उसी प्रकार (अध्वरः देवः हविष्मान्) अपराजित राजा स्वयं बलशाली होकर समस्त प्रजाओं को अपने वश रखे । और इसी प्रकार 'अध्वर' हिंसा रहित यज्ञ जिस प्रकार अन्नवान् है और जिस प्रकार सूर्य अपने रस-ग्रहण की शक्तिरूप हवि को धारण करता है उसी प्रकार राजा भी अन्न आदि से समृद्ध हो ॥ शत० ३ । ९ । २ । १०-१-१२ ॥ इसी प्रकार प्रत्येक गृहपति को भी हविष्मान् और पत्नी को हविष्मती अर्थात् वीर्यवती, वीर्यवती, होने का उपदेश है । इस मन्त्र में 'आपः' कन्या हैं क्योंकि उन को वरण द्वारा प्राप्त किया जाता है । उनके प्रतिनिधि भी 'वसतीवरी' हैं क्योंकि बसना चाहने वाले नवयुवकों को वे वरण करती हैं । और स्वयं वरा कन्या 'सूर्या' कहाती है । वरण योग्य पुरुष 'सूर्य' कहाता है ॥

^१अग्नेर्वोऽपन्नगृहस्य सदसि सादयामीन्द्राग्न्योर्भागधेयी स्थ
मित्रावरुणयोर्भागधेयी स्थ विश्वेषां देवानां भागधेयी स्थ ।
^२अमूर्या उप सूर्ये याभिर्वा सूर्यः सह ता नो हिन्वन्त्वध्वरम् २४

ऋ० १ । २३ । १७ ॥

२४—अग्नेर्वैश्वदेवार्वापानि । अमूर्या गायत्री मेधातिथिः । सर्वा० ।

अग्निर्देवता । (१) आर्षी त्रिष्टुप् । धेवतः । (२) मेधातिथिर्ऋषिः । त्रिपाद्
गायत्री । षड्जः ॥

भा०—हे स्वयं वरण करने हारी कन्याओ ! मैं तुम्हारा पिता (वः)
तुम सब को (अपन्नगृहस्य) विपत्तिरहित गृह वाले पुरुष के (सदसि)
गृह में (सादयामि) स्थापित करूँ । तुम (इन्द्राग्न्योः) इन्द्र और अग्नि,
इन्द्र = आचार्य और अग्नि = ज्ञानवान् गृहस्थ, अथवा इन्द्र, राजा, शक्ति-
शाली पुरुष और ज्ञानवान् पुरुषों के (भागधेयीः स्थ) भाग, अर्थात्
सेवन करने योग्य अंश को धारण करती हो अर्थात् उनके योग्य हो । अथवा
उनके सेवन करने योग्य अन्न आदि के धारण करने हारी हो । (मित्रा-
वरुणयोः भागधेयीः स्थ) मित्र, स्नेही पुरुष और वरुण, पापों से
निवारण करने वालों के भागों या अन्नादि पदार्थों को धारण करने वाली
हो । (विश्वेषां देवानाम्) समस्त देव, विद्वान् पुरुषों के (भागधेयीः स्थ)
योग्य अन्न आदि पदार्थों को धारण करने वाली हो । और ऐसी ही,
इन्द्र, आचार्य, अग्नि, ज्ञानवान् पुरुष, मित्रजन, पापनिवारक, हितैषी,
समस्त विद्वानों के लिये अन्नादि से उनका सत्कार करने वाली बनी
रहो ॥

(याः) जो गृहस्थ वधुएं (सूर्ये) सूर्य के समान तेजस्वी पुरुष के
(उप) समीप रहें और (याभिः सह) जिनके साथ (सूर्यः) सूर्य के समान तेजस्वी
पुरुष निवास करे (ताः) वे (नः) हमारे (अध्वरम्) अजेय राष्ट्र की
शक्ति को (हिन्वन्ति) बढ़ाने वाली हों ॥

राजा के पक्ष में—हे आप प्रजाओ ! तुमको (अपन्नगृहस्य सदसि
सादयामि) जिसका गृह अर्थात् वश करने की शक्ति कभी नष्ट नहीं
होती ऐसे राजा के 'सदस्' अर्थात् राजसभा में स्थापित करता हूँ आप सब
इन्द्र, राजा और अग्नि, सेनापति दोनों के (भागधेयीः) प्राप्त्य अंश को
धारण करती हैं, इसी प्रकार भिन्न, न्यायकर्ता और वरुण, दुष्टों के दमन-

कारी अधिकारियों के भी भागों को धारण करती हो । तुम समस्त (देवानाम्) राज्य शासकों के भागों को धारण करती हो । और जितनी प्रजाएं (सूर्ये उप) सूर्य समान तेजस्वी राजा के समीप, उसके आश्रय हैं और जिनके साथ तेजस्वी राजा सदा विद्यमान हैं, वे प्रजाएं राष्ट्र की वृद्धि करती हैं । अर्थात् प्रजा राज्य के सब विभागों को धन आदि से पालन करे और उनका व्यय दे । राजा प्रजा परस्पर मिल कर रहें तो राष्ट्र की वृद्धि होती है ॥ शत० ३ । ९ । २ । १३-१७ ॥

हृदे त्वा मनसे त्वा दिवे त्वा सूर्याय त्वा ।

ऊर्ध्वमिममध्वरं दिवि देवेषु होत्रा यच्छ ॥ २५ ॥

सोमो देवता । आषां विराड् अनुष्टुप् । गान्धारः ॥

भा०—हे कन्ये ! मैं तुझे (हृदे) हृदय वाले, प्रेम से युक्त पुरुष के लिये, (मनसे) मन वाले या ज्ञानी, (दिवे) प्रकाश वाले, तेजस्वी और (सूर्याय) सूर्य के समान कान्तिमान्, वरण करने योग्य पुरुष के हाथ [यच्छामि] प्रदान करता हूँ । और तू हे कन्ये ! (इमम्) इस वरण योग्य (अध्वरं) अपराजित, अहिंसक (ऊर्ध्वम्) उत्कृष्ट पद पर स्थित पुरुष को (दिवि) ज्ञान-प्रकाश में स्थित (देवेषु) देव, विद्वानों के बीच में (होत्राः) जो आहुति देने वाले वा दान देने योग्य गृहस्थ पुरुष हैं उनके नियम में (यच्छ) बांध । अथवा वरण करने हारी कन्या वर के प्रति कहती है । मैं (हृदे त्वा, मनसे त्वा, दिवे त्वा, सूर्याय त्वा वृणोमि) अपने हृदय, चित्त और प्रकाश या सुख और अपने प्रेरक बनाने के निमित्त वरण करती हूँ । (इमम् ऊर्ध्वम् अध्वरम्) तू इस गृहस्थ रूप यज्ञ को (दिवि) सुख लाभ के लिये (देवेषु) विद्वान् पुरुषों में से भी जो (होत्राः) ज्ञान ऐश्वर्य प्रदान करने वाले यज्ञशील पुरुष हैं उनको (यच्छ) प्रदान कर, उनके अधीन कर ॥

२५—हृद सौम्यनुष्टुप् । सर्वा० । ऊर्ध्वोऽध्वरं० इति काण्व० ॥

राजा के पक्ष में—हे राजन् तेरे हृदय, मन, तेज और राजपद के लिये तुझे हम प्रजाएं वरण करती हैं। ज्ञान, प्रकाश में जो विद्वानों में भी (होत्राः) उत्तम दानशील, उदार पुरुष हैं तू इस राष्ट्रमय यज्ञ को उनके अधीन कर ॥ शत९ ३ । ९ । ३ । १-५ ॥

१ सोमं राजन्विश्वास्त्वं प्रजाऽउपावरोह विश्वास्त्वां प्रजाऽउपावरोहन्तु । २ शृणोत्वग्निः समिधा हव मे शृण्वन्त्वापो धिषणाश्च देवीः । श्रोता ग्रावाणो विदुषो न यज्ञं शृणोतु देवः सविता हव मे स्वाहा ॥ २६ ॥

सामा राजा देवता । (२) भुरिग् गायत्री । षड्जः । (२) आधी त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—हे (सोम राजन्) सोम, सर्वप्रेरक राजन् ! सर्व उत्तम गुणों से प्रकाशमान ! सर्वोपरि विराजमान ! (त्वम्) तू (विश्वाः प्रजाः) समस्त प्रजाएं (त्वा उप अवरोहन्तु) तेरे अधीन होकर रहें । अर्थात् तुझ पर शासन प्रजा का हो और तेरा शासन प्रजा पर रहे ॥

(समिधा) उत्तम काष्ठ या ईंधन से जिस प्रकार अग्नि प्रदीप्त और प्रबल हो जाता है उसी प्रकार (सम्-इधा) उत्तम तेज या सेना बल से प्रतापी (अग्निः) अग्रणी, या सेनापति (मे) मेरी, मुझ वेदज्ञ विद्वान् की (हवम्) हव, आज्ञा को (शृणोतु) सुने । और (आपः) आप प्रजाएं और (देवीः) विदुषी (धिषणाः) ज्ञान, और बुद्धि के प्रदान करने वाली श्रेष्ठ प्रजाएं भी (मे हवम्) मेरी आज्ञा को (शृण्वन्तु) सुनें । हे (ग्रावाणः) ज्ञानपूर्वक विवेचन वा उपदेश करने वाले गुरुजनो ! आप लोग भी (विदुषः यज्ञं न) विद्वान् के उपास्य परमेश्वर को, जिस प्रकार विद्वान् लोग श्रवण करते हैं उसी प्रकार मेरे राष्ट्ररूप यज्ञ, के विषय में (श्रोत) श्रवण करो । और (सविता देवः) समस्त देवों, अधीन राजाओं का उत्पादक, प्रेरक राजा भी (मे हवम्) मेरे हव अर्थात् आज्ञा का

(शृणोतु) श्रवण करे । (स्वाहा) यही उत्तम वेदानुकूल व्यवस्था है ॥

‘उपावरोह, उपावरोहन्तु’ इन दोनों का अर्थ धातु, उपसर्ग साम्य से एक ही होना चाहिये । महीधर और उव्वट ने ‘उपावरोह’ का अर्थ किया है ‘आधिपत्याय तिष्ठ ।’ (उपावरोहन्तु) प्रत्युत्थानादिभिः प्राप्नुवन्तु ।’ यह दोनों परस्पर विरुद्ध होने से ठीक नहीं । ‘धिषणा’ — धीसादिभ्यो वा धीमानिन्य इति । निरु० २ । ४ ॥ शत० ३।१।३।६—१४ ॥

देवीरापो ऽअपान्नपाद्यो व ऽऊर्मिर्हविष्य ऽइन्द्रियावान् मदिन्तमः
तं देवेभ्यो देवत्रा दत्त शुक्रपेभ्यो येषाम्भागः स्थ स्वाहा ॥२७॥

आपो देवताः । निचूदार्षी त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—हे (देवीः आपः) दिव्य, उत्तम गुणवान्, विद्वान्, आप्त प्रजा-
जनो ! (यः) जो (वः) तुम में से (अपां नपात्) प्रजाओं में से ही
उत्पन्न, प्रजाओं के हित को कष्ट न होने दे, ऐसा (ऊर्मिः) जलों के
बीच तरङ्ग के समान उन्नत (हविष्यः) अन्न आदि से सत्कार करने
योग्य, (इन्द्रियावान्) समस्त इन्द्रियों से सम्पन्न, अथवा इन्द्र अर्थात्
राजपद के योग्य, ऐश्वर्य वैभव और बल सामर्थ्य से सम्पन्न (मदिन्तमः)
शत्रुओं को पराजय और अपने राष्ट्र को हर्षित करने में सब से अधिक
समर्थ है उसको (देवेभ्यः) समस्त राजगण और विद्वान् पुरुषों के हितार्थ
और (शुक्रपेभ्यः) शुक्र अर्थात् वीर्य का पालन करने वाले आदित्य ब्रह्म-
चारियों, योगियों और सत्य ज्ञान के पालन करने वाले विद्वानों के लिये
अथवा शुक्रप अर्थात् प्रजाओं के पालन करने वाले अथवा शुक्रप अर्थात्
शुक्र, आदित्य व्रत के पालक उन पुरुषों के लिये (देवत्रा) समस्त राजो-
चित अधिकार (दत्त) प्रदान करो (येषाम्) जिनमें से आप लोग
भी (भागः स्थ) एक श्रेष्ठ भाग हो । शत० ॥

२७ देवीराप आर्षीर्पक्तिः । सर्वा० ॥ ‘देवता दात शु०’ इति कायव० ॥

‘मदिन्तमः’—मदी हर्षग्लेषनयोः । मदयतीति मदी सोतिशयितो मदिन्तमः । नादघस्येति नुम् ।

‘शुक्रपेभ्यः’ । एष वै शुक्रो य एष आदित्यस्तपति । श० ४ । ३ । १६ ॥ अस्य अग्नेर्वा एतानि नामानि घर्मः अर्कः शुक्रः ज्योतिः सूर्यः । श० ९ । ४ । २ । २५ ॥ सत्यं वै शुक्रम् । श० ३ । ९ । ३ । २५ ॥ शुक्रा ह्यापः । थै० १ । ७ । ६ । ३ ॥

कार्षिँरसि समुद्रस्य त्वाक्षित्याऽउन्नयामि ।

समापोऽअग्निरगमत समोषधीभिरोषधीः ॥ २८ ॥

प्रजा देवताः । निचृद्गार्थ्यनुष्टुप् । गान्धारः ॥

भा०—हे वैश्यवर्ग ! तू (कार्षिः असि) समस्त भूमि पर कृषि कराने में समर्थ है । अथवा हे प्रजावर्ग ! और हे राजन् ! हे पुरुष ! (कार्षिः असि) परस्पर एक दूसरे को आकर्षण करने में समर्थ है । (त्वा) तुझको मैं परमेश्वर या राजा (समुद्रस्य अक्षित्यै) प्रजाओं के उत्पत्ति स्थान, इस राष्ट्रवासी वर्तमान प्रजाओं का कभी नाश न होने देने के लिये (उत् नयामि) उच्च आसन पर बैठाता हूँ (आपः अग्निः) जल जिस प्रकार जलों से मिलकर एक हो जाते हैं उस प्रकार प्रजाओं में स्त्रियें प्रेमपूर्वक पुरुषों को (सम् अगमत) प्राप्त हों । (ओषधीभिः ओषधीः सम् अगमत) ओषधियां जिस प्रकार ओषधियों से मिलकर अधिक गुणकारी और वीर्यवान् हो जाती हैं उसी प्रकार तेजस्वी पुरुष तेजस्वी पुरुषों से एवं तेजस्वी पुरुष तेजस्विनी स्त्रियों से मिलें और अधिक तेजस्वी सन्तान उत्पन्न हों ।

इसी प्रकार गृहस्थ पक्ष में—हे पुरुष ! तू (कार्षिः असि) कृषक के समान अपनी सन्तति की खेती करने में समर्थ एवं स्त्री को अपने प्रति प्रेम

२८—कार्षिँरज्यम् । अनुष्टुप् समाप आप । सर्वा० ।

से आकर्षण करनेहारा है । समुद्र = अर्थात् प्रजाओं के उद्भवरूप मानव समुद्र को नित्य बनाये रखने के लिये तुझे उन्नत पद देता हूँ । जलों में जैसे जल मिल जाएं उस प्रकार पुरुष स्त्रियों से प्रेमपूर्वक ही विवाहित होकर संगत हों । और (ओषधीभिः ओषधीः) जिस प्रकार एक गुण की ओषधियां परस्पर मिलकर अधिक वीर्य को उत्पन्न करती हैं । उसी प्रकार बलवीर्य युक्त स्त्री पुरुष मिलकर अधिक गुणवान् सन्तति उत्पन्न करें ॥ शत० ३ । ७ । ३ । २६ । १७ ॥

यमग्ने पृत्सु मर्त्यमवा वाजेषु यं जुनाः ।

स यन्ता शश्वतीरिषः स्वाहा ॥ २६ ॥ ऋ० १ । २७ । ७ ॥

मधुच्छन्दा ऋषिः । अग्निदेवता । मुरिगार्षी गायत्री । षड्जः ॥

भा०—हे (अग्ने) अग्रणी नेतः ! राजन् ! (यम् मर्त्यम्) जिस पुरुष को तू (पृत्सु) संग्रामों में (अवाः) रक्षा करता है और (वाजेषु) संग्रामों में (यम्) जिसको (जुनाः) भेजता है (सः) वह पुरुष ही (शश्वतीः) निरन्तर आजीवन प्राप्त होने योग्य (इषः) अन्न आदि वृत्तियोग्य पदार्थों को (यन्ता) प्राप्त हो । (स्वाहा) यह सबसे उत्तम व्यवस्था है । अर्थात् जो पुरुष संग्रामों में भेजे जायं राजा उनकी चिरकालिक या आजीवन या पुश्तैनी वृत्ति बांध दे : यह उत्तम व्यवस्था है । पेंशन आदि देने का यही वैदिक आदेश है ॥ शत० ॥ ३ । ७ । ३ । ३२ ॥

१ देवस्य त्वा सवितुः प्रसवे श्विनोर्वाहुभ्यां पुष्णो हस्ताभ्याम् ।
२ आदेहे रावासि गभीरमिममध्वरं कृधीन्द्राय सुषूतमम् । उत्तमेन पविनोजिस्वन्तं मधुमन्तं पर्यस्वन्तं ३ निग्राभ्या स्थ देवश्रुतस्तर्पयत मा ॥ ३० ॥

३०—यमग्ने मधुच्छन्दा । अग्नेयीं गायत्रीम् । सर्वा० ।

१ मनो मे तर्पयत २ वाचं मे तर्पयत ३ प्राणं मे तर्पयत ४ चक्षुर्मे तर्पयत
५ श्रोत्रं मे तर्पयत ६ त्मानं मे तर्पयत ७ प्रजां मे तर्पयत ८ पशुन्मे
तर्पयत ९ गुणान्मे तर्पयत १० गुणा मे मा वितृषन् ॥ ३१ ॥

सविता देवता । (१) प्राजापत्या बृहती । मध्यमः । (२) स्वराडार्पी पंक्तिः ।

पंचमः । (३) आसुरी अनुष्टुप् । गान्धारः ॥ ३० ॥

प्रजाः सभ्या राजानो देवताः । (१) उष्णिहः । ऋषभः ॥ ३१ ॥

भा०—हे सेनासमूह से सम्पन्न राजन् ! मैं (सवितुः देवस्य) सर्वोत्पादक, सर्वप्रेरक परमेश्वर के (प्रसवे) राज्य शासन में (अश्विनोः) सूर्य चन्द्रमा दोनों के (बाहुभ्याम्) शान्तिदायक और संतापकारी सामर्थ्यों द्वारा और (पूषणः) पुष्टिकारक अन्न के (हस्ताभ्याम्) मधुर एवं गुणों द्वारा (आददे) तुझे ग्रहण करता हूँ । तू (रावा असि) समस्त पदार्थों का प्रदान करने वाला है । (इमम् अध्वरम्) इस राष्ट्र रूप यज्ञ को (गभीरम्) गम्भीर, समुद्र के समान गम्भीर, अगाध ऐश्वर्यवान् और (इन्द्राय सु-सूतमम्) इन्द्र, परमैश्वर्यवान् राजा के लिये खूब ऐश्वर्य, बल एवं शक्ति के उत्पन्न करनेवाला (उत्तमेन पविना) उत्कृष्ट पवित्र अर्थात् वज्रस्वरूप, शस्त्रों के राजबल से इस यज्ञ को (ऊर्जस्वन्तम्) उत्तम बलयुक्त, (मधुमन्तम्) अन्नादि खाद्य पदार्थों से समृद्ध, (पयस्वन्तम्) दूध आदि पुष्टिकारक पदार्थ और गाय बैल आदि पशुओं से सम्पन्न (कृधि) बना ।

हे प्रजाजनो ! आप लोग (निग्राभ्याः स्थ) मुझ राजा से राज्य-व्यवस्था द्वारा वश करने योग्य हैं । आप लोग (देव-श्रुतः) देव अर्थात् राजा और विद्वान् पुरुषों की आज्ञा और उपदेश के श्रवण करने वाली हों । अतः मैं राजा तुम्हें आज्ञा देता हूँ कि—(मा तर्पयन्त) मुझे कर

३१—रावा इत्यस्य ग्रावा, निग्राभ्या इत्यादि मन्त्रस्य आपो देवताः । सर्वो० ॥

आदि द्वारा तृप्त करो, संतुष्ट करो ॥ ३० ॥ (मे मनः तर्पयत) मेरे मन को तृप्त करो । (मे वाचं तर्पयत) मेरी वाणी को तृप्त करो । (प्राणं मे तर्पयत) मेरे प्राण को तृप्त करो । (मे चक्षुः तर्पयत) मेरी चक्षुओं को तृप्त करो । (मे श्रोत्रं तर्पयत) मेरे कान को तृप्त करो । (मे आत्मानं तर्पयत) मेरे आत्मा को संतुष्ट करो । (मे प्रजाम् तर्पयत) मेरी प्रजा पुत्र पौत्र आदि को संतुष्ट करो । (मे पशून् तर्पयत) मेरे पशु, रथ, वाहन, अश्व, गौ, महिष आदि को संतुष्ट करो । (मे गणान्) मेरे अधीन शासकवर्गों को और सेनागण को (तर्पयत) संतुष्ट करो । और ऐसा तृप्त करो कि (मे गणाः) मेरे सैनिक और शासक वर्ग (मा वितृषन्) नाना पदार्थों के लिये तरसते न रहें, भूखे प्यासे न रहें ।

इन्द्राय त्वा वसुमते रुद्रवत् इन्द्राय त्वादित्यवत् इन्द्राय त्वाभि-
मातिघ्ने । श्येनाय त्वा सोमभृतेऽग्नये त्वा रायस्पोषदे ॥३२॥

सभापती राजा देवता । पञ्चपाद् ज्योतिष्मती जगती । निषादः ।

त्रिष्टुप् वा । धैवतः ॥

भा०—हे सोम ! राजन् ! सभाध्यक्ष ! अथवा राष्ट्र ! (त्वा) तुझको मैं (वसुमते) वसु, ऐश्वर्यवान् प्रजाजनों से युक्त (इन्द्राय) इन्द्रपद के लिये और (रुद्रवते) शत्रुओं को रोदन कराने वाले रुद्र, वीर पुरुषों से सम्पन्न (इन्द्राय) परमैश्वर्य युक्त इन्द्र पद के लिये और (आदित्यवते) आदित्य के समान तेजस्वी अथवा आदान प्रदान करने वाले वैश्व-गणों से युक्त (इन्द्राय) इन्द्र अर्थात् परमैश्वर्य पद के लिये और (अभिमातिघ्ने) अभिमान करने वाले शत्रुओं के नाशक (इन्द्राय) पराक्रमी इन्द्र पद के लिये और (सोमभृते) सोम रूप, राष्ट्र का भरण पोषण करने वाले (श्येनाय) श्येन, बाज़ पक्षी के समान शत्रु पर

३२—इन्द्राय त्वा पंच सौम्यानि । सर्वा० ॥

आक्रमण करने वाले सेनापति पद के लिये और (रायः पोपदे) धनै-
श्वर्य को पुष्टि देने वाले (अग्रये) अग्रणी पद के लिये (त्वा ५) तुझ
अमुक २ वीर, विद्वान्, ऐश्वर्यवान्, पराक्रमी, गुणवाब् पुरुष को पदा-
धिकारी बनाता हूँ । इस प्रकार राजा पाँच पदों के लिये पांच योग्य
शासक पुरुषों को नियुक्त करे ।

यत्ते सोम दिवि ज्योतिर्यत्पृथिव्यां यदुरावन्तरिक्षे ।

तेनास्मै यजमानायोरु राये कृध्यधि दात्रे वोचः ॥ ३३ ॥

सोमो देवता । मुरिगार्पी बृहती । मध्यमः ॥

भा०—हे सोम ! सर्वराष्ट्रप्रेरक राजन् ! सभाध्यक्ष ! (ते) तेरा
(यत्) जो (दिवि ज्योतिः) सूर्य में अर्थात् सूर्य के समान प्रखर
तेजस्वी रूप से रहने में जो तेज है और (यत् पृथिव्याम्) जो तेरा तेज
पृथिवी पर अर्थात् पृथिवी के समान सर्वाश्रय बने रहने में परा-
क्रम है और (यद् उरौ अन्तरिक्षे) जो विशाल अन्तरिक्ष अर्थात् वायु के
समान सबके प्राणों का स्वामी होने में तेरा तेज है (तेन) उससे
(अस्मै यजमानाय) इस यज्ञ सम्पादन करने वाले राष्ट्रयज्ञ के कर्त्ता
(उरु राये) महान् धनादि ऐश्वर्य सम्पन्न राष्ट्र के लिये समस्त कार्य
(कृधि) तू सम्पन्न कर । और (दात्रे) तुझे अधिकार और वेतन आदि
देने वाले इस राष्ट्र के लिये ही तू (अधि वोचः) अधिकार पूर्वक आज्ञा
प्रदान किया कर । शत० ३ । ९ । ४ । १२ ॥

श्वात्रा स्थ वृत्रतुरो राधोगूर्त्ता ऽअमृतस्य पत्नीः ।

ता देवीर्देवत्रेमं यज्ञं नयतोपहृताः सोमस्य पिबत ॥ ३४ ॥

यज्ञो देवता । स्वराड् आर्पी बृहती । मध्यमः ॥

३३—यत्ते सोमा विपरांता बृहती । सर्वा० । ० 'यदुरा अन्त०' इति काण्व० ॥

३४—निग्रास्या देवताः । अनन्तदेवः ॥

भा०—हे प्रजाजनो ! आप लोग ही (श्वात्राः) विशेष नियम में बद्ध जलधाराओं के समान शीघ्र कार्य सम्पादन करने में समर्थ (स्थ) हो । और तुम लोग (राधःगूर्ताः) राधस्, धन ऐश्वर्य को प्रदान करने वाले और (अमृतस्य पत्नीः) अमृत, अन्न और जल का उचित रूप से पालन करते हो । हे (देवीः) विद्वान् या धन दान करने वाले (ताः) वे प्रजाजन (देवत्रा) देव अर्थात् योग्य उत्तम राजाओं और शासक पुरुषों के हाथ (इमं यज्ञम्) इस राष्ट्रमय यज्ञ को (नयत) प्राप्त कराते हो । और आप लोग (उपहूताः) आदर पूर्वक बुलाये जाकर (सोमस्य) इस राष्ट्र से उत्पन्न उत्तम फल का या राजा के इस राज्य का (पिबत) पान करो, आनन्द प्राप्त करो ।

गृहस्थ पक्ष में—(श्वात्राः) विद्युत् के समान शीघ्र कार्य करने वाली, कार्यदक्ष (वृत्रतुरः) मेघ को जिस प्रकार बिजुली फाड़ देती है उसी प्रकार विघ्न के नाश करने वाली (राधोगूर्ताः) धन के बढ़ाने वाली (अमृतस्य सोमस्य पत्नीः) अमर, सदा स्थिर राजा की पालक शक्तियों के समान अमृत रस या अन्न की पालन करने वाली गृहपत्नी (देवीः) देवियां (देवत्रा) अपने देव-तुल्य पतियों के आश्रय रहकर (इमं यज्ञं नयत) इस गृहस्थ यज्ञ को पूर्ण करें, निबाहें । और वे (उपहूताः सोमस्य पिबत) आदरपूर्वक यज्ञ में बुलाई जाकर सोम आदि ओषधियां के रसका पान भी करें ।

शतपथ में—यह वर्णन 'निग्राभ्या आपः' का है । उनका विशेषण 'श्वात्राः' और 'वृत्रतुरः' है । इससे वे शीघ्र कार्य करने वाली, वेगवती, शत्रुओं के नाश करने वाली, अमृत, सोम रूप राजा की रक्षक हैं । अर्थात् जब तक उनका प्रेरक सेनापति या राजा मरता नहीं तब तक वे उसकी रक्षा पर डटी रहती हैं । वे ही (राधोगूर्ताः) समस्त धन ऐश्वर्य प्राप्त कराती हैं । समस्त देवों, विद्वान् शासकों के बीच में राष्ट्र को स्थापन

कर्त्ती और आदरपूर्वक निमन्त्रित होकर राज्य के उत्तम फलों का उपयोग करें । 'वृत्रतुरः' एता हि वृत्रमघ्नन् । श० ३ । ९ । ४ । १६ ॥

'सोमस्य पिबत'—तदुपहृता एव प्रथमभक्षं सोमस्य राज्ञो भक्षयन्ति । शत० ३ । ९ । ४ १६ ।

मा भेर्मा संविक्था ऽऊर्जं धत्स्व धिषणे वीड्वी सती वीडयेथामूर्जं दधाथाम् । पाप्मा हतो न सोमः ॥ ३५ ॥

द्यावापृथिव्यौ देवते । भुरिगार्घ्यंनुष्टुप् । गान्धारः ॥

भा०—हे राजन् ! और हे प्रजागण ! तू (मा भेः) भय मत कर । (मा संविक्थाः) तू भय से कंपित न हो । तू (ऊर्जं धत्स्व) 'ऊर्ज', बल को धारण कर । हे राजा और प्रजा ! तुम दोनों ! (धिषणे) एक दूसरे का आश्रय होकर आकाश और पृथिवी या सूर्य और पृथिवी के समान दोनों (वीड्वी सती) वीर्यवान्, बलवान्, दृढ़, हृष्ट पुष्ट होकर (वीडयेथाम्) एक दूसरे का बल बढ़ाओ । और अपने को बलवान् करो । इस प्रकार युद्धादि के अवसर पर भी यद्यपि राजा पर आक्रमण होगा तब भी प्रजा और राजा दोनों के बलिष्ठ होने पर (पाप्मा हतः) पाप करने वाला दुष्ट शत्रु पुरुष ही मारा जाय । (न सोमः) सोम, सर्वप्रेरक राजा या राष्ट्र वा उत्तम पुरुष का नाश नहीं हो । शत० ३ । ९ । ४ । १६-१८ ॥

गृहस्थ पक्ष में—हे पुरुष और हे स्त्री ! तुम दोनों गृह के पालन के कार्य में मत डरो । भय से कम्पित मत होओ । एक दूसरे के आश्रय और (धिषणे) बुद्धिमान् और आत्मसन्मानी, बलवान्, (वीड्वी) वीर्यवान् होकर सदा बलवान् व दृढ़ बने रहो और ऊर्ज, पराक्रम को धारण करो । इस प्रकार समस्त पाप नष्ट हो जाय । और 'सोम' अर्थात् परस्पर का गृहस्थ सुख या आह्लाद कभी नष्ट नहीं होगा ।

३५—मा भेः सौम्यमर्धं द्यावापृथिव्यमर्धम् । सर्वा० ।

प्रागप्रागुदगधराक्सर्वतस्त्वा दिशऽआधावन्तु ।

अम्ब निष्पर समरीविदाम् ॥ ३६ ॥

सौमो देवता । उष्णिक । ऋषभः ॥

भा०—हे राजन् ! (त्वा) तेरी शरण में (प्राक्) पूर्व, (अपाक्) पश्चिम, (अधराक्) दक्षिण और (उदक्) उत्तर (सर्वतः) इन सब ओरों से (दिशः) समस्त दिशाओं के प्रजाजन (आधावन्तु) आवें और कहें । हे (अम्ब) हमारे प्रेमी ! (निः पर) हमें सब प्रकार से पालन कर । (अरीः) समस्त प्रजाएं (त्वा) तुझे अपना स्वामी, माता के समान पालक (सम् विदाम्) भली प्रकार जानें ॥ शत० ३ । ९ । ४ । २१ ॥

गृहस्थ पक्ष में—हे (अम्ब) बच्चों की माता ! तेरे पुत्र सब दिशाओं से तेरे पास आवें, कहें हमें पालन कर । समस्त प्रजाएं तुझे अपनी माता ही जानें ।

त्वमङ्ग प्रशंसिषो देवः शविष्ठ मर्त्यम् । न त्वदन्यो मघवन्नस्ति मर्दितेन्द्र ब्रवीमि ते वचः ॥ ३७ ॥ ऋ० १ । ८४ । १९ ॥

गातम ऋषिः । इन्द्रो देवता । भुरिगार्भी अनुष्टुप् । गान्धारः ॥

भा०—हे (अङ्ग) हे (शविष्ठ) सब से अधिक शक्तिमन् ! तू (देवः) विजीगीपु राजा होकर (मर्त्यम्) मनुष्यमात्र को (प्र शंसिषः) उत्तम शिक्षा प्रदान कर, उत्तम उपदेश कर । हे (मघवन्) ऐश्वर्यवन् ! (त्वत् अन्यः) तेरे से दूसरा कोई (मर्दिता न) कृपालु, उन पर दया करने वाला, सुखकारी नहीं है । हे (इन्द्र) इन्द्र ! राजन् ! मैं (ते) तुझे (वचः) उत्तम वेदानुकूल राजधर्म के वचनों का उपदेश करता हूँ ॥ शत० ३ । ९ । ४ । २४ ॥

३६—प्राक् सौमा । सर्वा० ॥

३७—त्वमङ्ग गातम ऐन्द्रो पथ्याब्रूहीताम् । सर्वा० ।

परमेश्वर पक्ष में—हे परमेश्वर (शविष्ठ) सर्वशक्तिमन् ! त्वं समस्त
 (मर्त्यम्) मरणशील प्राणिमात्र या मानव जाति को (प्र) सबसे प्रथम
 (शंसिषः) उपदेश करता है । (त्वदन्यः०) तेरे से दूसरा कोई सुख-
 कारी दयालु नहीं है । (ते वचः ब्रवीमि) तेरे ही-वेद वचनों का मैं सर्वत्र
 उपदेश करूँ ।

॥ इति षष्ठोऽध्यायः ॥

[तत्र सप्तत्रिंशद्वचः]

इति मीमांसातीर्थ-प्रतिष्ठितविद्यालंकारविरुद्धोपशोभितश्रीमत्पाण्डित्यजयदेवशर्मकृते
 यजुर्वेदालोकभाष्ये पञ्चमोऽध्यायः ॥



अथ सप्तमोऽध्यायः

॥ ओ३म् ॥ वाचस्पतये पवस्व वृष्णो ऽअशुभ्यां
गभस्ति पूतः । देवो देवेभ्यः पवस्व येषां भागोऽसि ॥१॥

प्राणो देवता । निचृदार्यनुष्टुप् । गांधारः ॥

भा०—हे पुरुष ! तू (वाचः पतये) आज्ञा करने वाली वाणी के पालक अर्थात् स्वामी के लिये (पवस्व) पवित्र हो, उसकी आज्ञा पालन करने के निमित्त दत्तचित्त होकर, चित्त से वैर आदि के भावों को त्याग कर । (वृष्णः) सूर्य के (गभस्तिपूतः) किरणों से जिस प्रकार वायु पवित्र हो कर वाणी के पति, पालक प्राण के लिये शरीर में जाता है इसी प्रकार (वृष्णः) समस्त सुखों के वर्षक, राजा के (गभस्ति-पूतः) ग्रहण करने के सामर्थ्य, तेज या प्रताप से पवित्र होकर और उसके (अंशुभ्याम्) दोनों प्रकार की बाह्य और आभ्यन्तर शक्तियों से पवित्र होकर, तू स्वयं (देवः) देव, दान-शील, एवं विजिगीषु होकर (येषाम्) जिनका तू (भागः असि) स्वयं सेवनीय अंश है, (देवेभ्यः) उन, देव विद्वानों के उपकार के लिये (पवस्व) शुद्ध पवित्र होकर काम कर । जिस पुरुष को प्रथम राजकार्य में नियुक्त करे उसको अपने वाचस्पति अर्थात् अपने ऊपर के आज्ञादाता के प्रति स्वच्छ रहना चाहिये, वह उसकी आज्ञा का कभी उल्लंघन न करे । वह स्वयं विद्वान्, उनके ही निमित्त उसको बद्ध करे । राजा से लेकर अन्तिम कर्म करने तक यही मन्त्र लागू होता है । पदाधिकारी स्वयं भी 'देव' अर्थात् राजा के स्वभाव का हो ।

अध्यात्म में—दो अंशु प्रजापति आत्मा के दो भाग, प्राण और उदान हैं ॥ वायु उन द्वारा गृहीत होकर वाचस्पति, आत्मा, मुख्य प्राण के लिये शरीर में गति करता है। वह स्वयं एक मुखगत 'देव' या कर्मेन्द्रिय होकर अन्य अंगों या इन्द्रियों के लिये शरीर में गति करता है। इसी प्रकार राजा और मुख्य नियुक्त पुरुष भी अपने अधीन पदाधिकारियों के लिये पवित्र निष्कपट होकर काम करे। शतपथ में यह ग्रहों के प्रकरण में लिखा गया है। 'ग्रह' का अर्थ है राज्य को वश करने के निमित्त विशेष विभाग का अधिकारी। वे सब सोम राजा के ही अधिकार को बांट कर रहते हैं ॥ शत० ४।१।१।८—१२ ॥

यद् गृह्णाति तस्माद् ग्रहः। श० १०।१।१।५ ॥ तं सोमम् अन्नम्। तस्य यशो व्यगृह्णत ते ग्रहा अभवन्। यद्वित्तं (यज्ञं) ग्रहेर्च्यं गृह्णत तद् ग्रहाणां ग्रहत्वम्। श० ३।९ ॥ अध्यात्मम्—अष्टौ ग्रहाः। प्राणः जिह्वा, वाक् चक्षुः, श्रोत्रम् मनो, हस्तौ त्वक् च। श० १०।६।२।१ ॥ प्राणाः वै ग्रहाः। श० ४।२।४।१३ ॥ अङ्गानि वै ग्रहाः। श० ४।५।९।११। अर्थात्—जो ग्रहण करे सबको वश करे वह 'ग्रह' है। सोम को प्राप्त करके उसके विस्तृत सामर्थ्य के टुकड़े २ कर दिये, अर्थात् राजा के अधिकार को विभक्त कर दिया, वे राजा के अधीन विभागों के अध्यक्ष 'ग्रह' हो गये। यज्ञ अर्थात् प्रजापति के राष्ट्र को विभक्त कर दिया, वे 'ग्रह' हैं। शरीर में प्राण और जिह्वा आदि अंग 'ग्रह' हैं।

गभस्ति—गां भसति अदन्ति दीप्यन्ते वा गभस्तयः इति देवराजः। गृहेर्गभस्तिरिति माधवः।

मधुमतीर्न इषस्काधि यत्ते सोमादाभ्यं नाम जागृवि तस्मै ते सोम सोमाय स्वाहा स्वाहोर्वन्तरिक्षमन्वेमि ॥ २ ॥

२—मधुमती लिंगाक्तम्। यत्ते सौम्यम्। स्वाहोऽर्यजुषी लिंगाक्ते। सर्वा०।

सोमो देवता । निचृदार्षीं पंक्तिः । पंचमः ॥

भा०—हे राजन् ! (नः) हमारे लिये (मधुमतीः) मधुर रस से युक्त (इषः) अन्नों को (कृधि) उत्पन्न कर । अथवा, हे (मधुमतीः) अपनी (रायः) प्रेरक आज्ञाओं को (मधुमतीः) बल से युक्त कर । (यत्) क्योंकि हे (सोम) सर्वप्रेरक राजन् ! (ते नाम) तेरा नाम, तेरा स्वरूप या तेरा नमाने, या झुकाने, या दमन करने का सामर्थ्य भी (अदाम्यम्) कभी विनाश नहीं किया जा सकता, तोड़ा नहीं जा सकता और वह (जागृविः) सदा शरीर में प्राण के समान जागता रहता है । (तस्मै) इस कारण से, हे (सोम) सर्वप्रेरक राजन् ! (ते सोमाय स्वाहा) तेरे निमित्त हमारा यह आत्मत्याग है । अर्थात् हम पदों पर नियुक्त पुरुष सर्वप्रकार से तेरे अधीन हैं । राजा अपने अधीन पुरुषों और प्रजाओं को अपने प्रति ऐसा वचन सुनकर स्वयं भी कहे कि (स्वाहा) यह मेरा भी तुम्हारे लिये आत्मोत्सर्ग रूप आहुति है । अथवा—अपनी वश करनेवाली शक्ति या प्रतिष्ठा से मैं अब (उरु अन्तरिक्षम्) विशाल अन्तरिक्ष को (अनु एमि) अनुसरण करता हूँ । अर्थात् जिस प्रकार अन्तरिक्ष समस्त पृथिवी पर आच्छादित है इसी प्रकार मैं समस्त प्रजा पर सम्यक् रूप से शासक बनता हूँ । जिस प्रकार वायु सबका प्राण है उस पर सब जीते हैं इसी प्रकार मेरे आश्रय पर समस्त प्रजाएं जीवन धारण करें । अथवा (अन्तरिक्षम् अनु एमि) अन्तरिक्ष अर्थात् प्रजा और राजा के बीच के शासक मण्डल पर भी मैं अपना अधिकार करता हूँ । वे प्रजा की रक्षा करने से 'रक्षोगण' हैं, उनका वश करने के लिये राजा उन पर पूरा वश रखे ।

स्वाहा—स प्रजापतिर्विदांचकार स्वो वै मा महिमा आहेति, स

कृध्यन्तस्य प्राण उपांशुग्रहरूपो देवता । स्वाहाकारस्य अग्निः । उर्वन्तरिक्षमित्यस्य रक्षो देवता । अनन्त० ।

स्वाहेत्येवाजुहोत् । श० २ । २ । ४ । ६ ॥ हेमन्तो वै ऋतूनां स्वाहा-
कारः हेमन्तो हि इमाः प्रजाः स्वं वशमुपनयते । श० १ । ५ । ४ ।
५ ॥ अन्नं हि स्वाहाकारः । श० ६ । ६ । २ । १७ ॥ प्र तिष्ठा वै स्वाहा-
कृतयः । श० ४ ॥

‘अन्तरिक्षम्’—तद्यदस्मिन् इदं सर्वमन्तस्तस्मादन्तर्यक्षम् । अन्तर्यक्षं
ह वै नामैतत् तदन्तरिक्षमिति परोक्षमाचक्षते । जै० उ० १ । २० । ४ ॥
ईक्षं हैतन्नाम ततः पुरा अन्तरा वा इदमीक्षमभूदिति तस्मादन्तरिक्षम् ॥
शत० ७ । १ । २ । २३ ॥ अन्तरिक्षायतना हि प्रजाः । तां० ४ । ८ ।
१३ ॥ असुराः रजताम् अन्तरिक्षलोके अकुर्वन्त । ऐ० १ । २३ ॥

अर्थात्—प्रजापति का अपना बड़ा सामर्थ्य या ऋतुओं में तीक्ष्ण
प्रहार करनेवाले राजा का हेमन्त या पतझड़ का सा रूप है । ‘जो प्रजाओं
को अपने वश करने का सामर्थ्य या अन्न या प्रतिष्ठा हैं ये स्वाहा के रूप
हैं । सबके भीतर सबका निरीक्षक, पूजनीय, ‘अन्तरिक्ष’ है, भीतरी निरीक्षक,
दृष्टा आत्मा वा मुख्य पदाधिकारी ‘अन्तरिक्ष’ है । चांदी या धन के द्वारा
बंधे अधिकारी मण्डल भी ‘अन्तरिक्ष’ हैं । शत० ४ । १ । १ । १-५ ॥

स्वाङ्कृतोऽसि विश्वेभ्य इन्द्रियेभ्यो दिव्येभ्यः पार्थिवेभ्यो
मनस्त्वाष्टु स्वाहा त्वा सुभव सूर्याय देवेभ्यस्त्वा मरीचिपेभ्यो
देवाधंशो यस्मै त्वेडे तत्सत्यमुपरिप्रुता भङ्गेन हतोऽसौ फट्
प्राणाय त्वा व्यानाय त्वा ॥३॥

विद्वांसो देवताः । विराड् ब्राह्मी जगती । निषादः ॥

भा०—हे राजन् ! (इन्द्रियेभ्यः) इन्द्रियों के हित के लिये जिस

३—स्वाङ्कृतोऽस्युपांशुः । देवेभ्यस्त्वा देवम् । देवांशोलिगोक्तमाभिचारिकम् ।
प्राणाय ग्रहः । व्यानायां पांशुसवनः । सर्वा० । ‘०स्वभवसूर्याय’ ० यस्मै त्वेडे ॥
परिप्लुता० शक्ति काण्व० ।

प्रकार आत्मा (दिव्येभ्यः) आकाश या प्रकाशमान लोका के लिये जिस प्रकार सूर्य स्वयं अपने तेज से प्रकाशमान है उसी प्रकार (पार्थिवेभ्यः) पृथिवी के निवासी राजागण या प्रजा लोगों के हित के लिये तू (स्वाङ् कृतः) स्वयं अपने सामर्थ्य से राजा बनाया गया (असि) है । (त्वा मनः अण्डु) तुझे मन अर्थात् शुद्धविज्ञान प्राप्त हो । अथवा—तुझे मन-शील मन्त्री प्राप्त हो । अथवा, जिस प्रकार समस्त चक्षु आदि इन्द्रियों पर मन अधिष्ठाता है उसी प्रकार समस्त लोकों पर मन के समान, सर्व-विचारक और प्रेरक पद तुझे प्राप्त हो । हे (सुभवं) उत्तम सामर्थ्य से युक्त उत्तम कुलजात ! उत्तम पद पर विराजमान ! हे सुजात ! मैं विद्वान् पुरुष (त्वा) तुझको (सूर्याय) सूर्य के पद के लिये नियुक्त करता हूँ । अर्थात् सूर्य जिस प्रकार तेजस्वी और आकर्षक होकर सब ग्रहों को प्रकाशित और व्यवस्थित करता है उसी प्रकार समस्त प्रजा और शासकों को व्यवस्थित करने के लिये तुझे वरता हूँ । और (मरीचि-पेभ्यः देवेभ्यः) मरीचि, किरणों से जिस प्रकार सूर्य पृथिवी के जलों को चूस लेता है उसी प्रकार अपने मरीचि = मृत्युदायक, त्रासकारी साधनों से प्रजा के अन्न धनों को चूसनेवाले 'देव' विजुगीष राजाओं के लिये, उन पर वश करने के लिये भी (त्वा) तुझे नियुक्त करता हूँ । हे (देव) देव ! राजन् ! (अंशो) अंशो ! हे प्रजापते ! (यस्मै) जिस कारण से (त्वा ईडे) मैं तेरी स्तुति करता हूँ या मैं तेरी इतनी प्रतिष्ठा करता हूँ (तत्) वह तेरा (सत्यम्) सत्य है, सत्य का पालन, न्यायस्थापन तेरा धर्म या व्रताचरण ही है । अर्थात् राजा राष्ट्र के सत्यधर्म या कानून का पालन करता है, उसका यह सत्यपालन का कर्तव्य ही उसकी स्तुति और पूजा का कारण है । और (उपरि-भ्रुता) सत्य की मर्यादा को लांघ जाने वाले (भंगेन) नियमोलंघन व सत्य के रोंद डालने से (हतः) ताड़ित होकर (असौ) अमुक, असत्य मार्गगामी, विपरीत राजा (फट्)

विध्वंस होने योग्य है, उसे मार दिया जाय । हे राजन् (त्वा) तुझको (प्राणाय) शरीर में प्राण के समान राष्ट्र में समस्त कार्यों के सञ्चालन के लिये और (त्वा) तुझको (व्यानाय) शरीर में विभक्त होकर नाना कर्मेन्द्रियों के चालक व्यान के समान राष्ट्र में विविध कार्यों के चलाने के लिये नियुक्त करता हूँ ॥ शत० ४ । १ । १ । २२-२८ ॥

‘मरीचिपेभ्यः’—मृद् प्राण त्यागे (तुदादिः) अस्मादीचिः (उणा०) ‘अंशो’—प्राण एवांशुरुदानोऽदाभ्यः । चक्षुः एवांशुः श्रोत्रमदाभ्यः प्रजापातिर्वा एष यदंशुः । श० ४ । ६ । १ । १ ॥ अंशुर्वै नामग्रहः स प्रजापतिः । ४ । १ ॥ १ । २ ॥ सोऽस्य एष आत्मैव । ४ । ६ । २ । १ ॥ ‘सत्यम्’ त्रयी सा विद्या तत्सत्यम् । श० ८ । ५ । १ । १८ ॥ सत्यां वा ऋतम् । श० ७ । ३ । १ । ०३ ॥ यौ वै धर्मः सत्यं वै तत् । सत्यां वदन्तमाहुर्धर्मं वदतीति । धर्मं वा वदन्तं सत्यं वदतीति । श० १४ । ४ । २ । २६ ॥ समूलो ह वा एष परिशुष्यति य एवानृतं वदति ॥ बृहदा० उप० ॥

उपयामगृहीतोऽस्यन्तर्यच्छ मघवन् पाहि सोमम् ।

उरुष्य राय उपो यजस्व ॥ ४ ॥

इन्द्रा मघवा देवता । आर्ष्युष्णिक् । ऋषभः ॥

भा०—हे मघवन् ! ऐश्वर्यावन् ! तू (उपयामगृहीतः असि) तू ‘उपयाम’ इस समस्त पृथिवी के शासन-चक्र द्वारा गृहीत है । तुझे समस्त पृथ्वी देकर उसके बदले में तुझे राजकार्य में लगाया गया है । हे (मघवन्) ऐश्वर्या-सम्पन्न ! तू (अन्तः यच्छ) राष्ट्र का भीतर से नियन्त्रण कर और (सोमम् पाहि) सोम राजा या राष्ट्र की रक्षा कर । (रायः उरुष्य) समस्त पशु आदि ऐश्वर्यों की रक्षा कर और (इषः) अन्नों को (आ यजस्व) प्राप्त कर अर्थात् प्रजा से अन्नादि रूप में कर ले और भूमि को प्राप्त कर । शत०

४—‘रायावेषो’ इति काण्व० ।

४ । १ । २ । १५ ॥ 'उपयामः'—इयं पृथिवी वा उपयामः । इयं वा इदमन्नाद्यमुपयच्छति पशुभ्यो मनुष्येभ्यो वनस्पतिभ्यः । श० ४ । १ । २ । ८ ॥

अध्यात्म में—हे साधक ! तू (उपयाम-गृहीतः) स्वीकृत यम नियमादि द्वारा गृहीत है । प्राणादि को भीतर वश कर । योग सिद्ध ऐश्वर्य रूप सोम का पालन कर । ऋद्धि, सिद्धि रूप ऐश्वर्य और इच्छाओं की भी रक्षा कर ॥

अन्तस्ते द्यावापृथिवी दधाम्यन्तर्दधाम्युन्तरिक्षम् ।
सजूर्देवेभिरवरैः परैश्चान्तर्यामे मघवन् मादयस्व ॥ ५ ॥

मघवा ईश्वरो देवता । आर्षी पंवितः । पञ्चमः ॥

भा०—हे मघवन् ! इन्द्र ! राजन् ! (ते अन्तः) तेरे शासन के भीतर (द्यावा पृथिवी) द्यौ और पृथिवी दोनों को (दधामि) स्थापित करता हूँ । और (ते अन्तः) तेरे ही शासन के भीतर (उरु) विशाल (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष को भी (दधामि) स्थापित करता हूँ । अर्थात् तीनों को तेरे वश में रखता हूँ अथवा तुझे तीनों का पद प्रदान करता हूँ । वह 'द्यौ' सूर्य के समान सब का प्रकाशक, एवं समस्त सुखों का वर्णक, पृथिवी के समान सब का आश्रय और अन्तरिक्ष के समान उनका आच्छादक हो । और (अवरैः) अपने से नीचे के (देवेभिः) कर देनेवाले माण्डलिक राजाओं के साथ (सजूः) प्रेमयुक्त व्यवहार करता हुआ, उनका प्रेमपात्र होकर और (परैः च) अपने से दूसरे शत्रु राजाओं के साथ मित्रभाव करके (अन्तर्यामे) अपने राष्ट्र के भीतरी प्रबन्ध में (मादयस्व) समस्त प्रजाओं को सुखी, प्रसन्न कर ।

'अन्तर्यामः'—यद्वा अनेन इमाः प्रजा यतास्तस्मादन्तर्यामो नाम

५—मघवा देवता । 'सर्वा'० । ०न्तरिक्षमन्वेभि ॥ इति काण्व० ॥

सोऽस्य अयमुदानोऽन्तरात्मन् हितः । श० ४ । १ । २ । २ ॥ तेन उ ह
असावादित्य उद्यन्नेव इमाः प्रजा न प्रदहति तेनेमाः प्रजास्त्वोताः । श०
४ । १ । २ । १४ ॥

प्रजा का भीतरी प्रबन्ध विभाग 'अन्तर्याम' है । उसके प्रबल होने पर राजा बहुत बलिष्ठ होकर भी अपनी प्रजाओं को नाश नहीं करता । इस भीतरी प्रबन्ध में राजा अपने अधीन राजाओं और शत्रु राजाओं से सन्धि करके उनके साथ एकमति होकर मित्रभाव से रहता और अपनी उन्नति करता है इसी से उसकी प्रजा सुरक्षित रहती हैं ॥ शत० ४ । १ । २ ॥

स्वाङ्कृतोऽसि विश्वेभ्य इन्द्रियेभ्यो दिव्येभ्यः पार्थिवेभ्यो
मनस्त्वाष्टु स्वाहा त्वा सुभव सूर्याय देवेभ्यस्त्वा मरीचिपेभ्य
उदानाय त्वा ॥ ६ ॥

मधवा इन्द्रो योगी वा देवता । भुरिक् त्रिष्टुप् । धैवतः स्वरः ॥

भा०—(स्वाङ्कृतः असि० ० मरीचिपेभ्यः) इस भाग की व्याख्या देखो [अ० ७ मन्त्र ३] (उदानाय त्वा) हे राजन् ! अथवा हे उसी के समान बलशालिन् ऐश्वर्यवान् पुरुष ! तुझको शरीर में उदान के समान राष्ट्र में उपराज के पदपर नियुक्त करता हूँ । अथवा राजा को ही दोनों पद दिये जाय ॥ शत० ४ । १ । २ । १७-२७ ॥ यह दूसरा पुरुष भी राजा का सहयोगी उपराज समझा जाना चाहिये ।

अध्यात्म में—वह मुख्य प्राण के शक्ति-सामर्थ्य से इन्द्रियों के लिये हे (सुभव) योगिन् ! (त्वं स्वाङ्कृतः असि) तू स्वाङ्कृत, स्वयं सिद्ध अनादि आत्मा है । तू समस्त इन्द्रियों और दिव्य और पार्थिव बल प्राप्त करने में समर्थ है । (मनः त्वा अष्टु) योग द्वारा मनन शक्ति तुझे प्राप्त हो । (सूर्याय) सूर्य के समान तेजस्वी होने के लिये (मरीचिपेभ्यः

६—'उदानाय त्वा' इत्यस्य ग्रहो देवता । सर्वा० । '०स्वभवस्सूर्याय' इति काण्व० ।

देवेभ्यः) रक्षियों के पालक देव, दिव्य पदार्थों के समान तेजस्वी होने के लिये और (उदानाय) उदान की साधना या उदान के जय से उत्कृष्ट जीवन और बल का साधन करने के लिये तुझे उपदेश करता हूँ ॥ शत० ४ । १ । २ । १७-२४ ॥

आ वायो भूष शुचिपाऽउप नः सहस्रं ते नियुतो विश्ववार ।
उपो तेऽअन्धो मघमयामि यस्य देव दधिषे पूर्वपेयं वायवे
त्वा ॥ ७ ॥

ऋ० ७ । १२ । १ ॥

वसिष्ठ ऋषिः । वायुदेवता । निचृत् जगती । निषादः ॥

भा०—हे (वायो) वायु के समान देश में तीव्र गति से जाने वाले और शत्रु पर तीव्र गति से आक्रमण करने वाले और शरीर में प्राण के समान राष्ट्र में जीवन या अधिपति रूप से स्थित राजन् ! हे (शुचिपाः) सब व्यवहार में शुद्धता और निष्कपटता, छल-छिद्र रहितता के पालन करनेवाले ! सत्य और धर्म के पालक ! राजन् ! हे (विश्व-वार) समस्त प्रजाओं से राजपद पर वरण किये गये ! अथवा सबके रक्षक ! तू (नः) हमारे (उप) समीप (आ भूष) सुशोभित हो । (ते नियुतः सहस्रम्) तेरे अधीन सहस्रों नियुक्त पुरुष अश्व या अश्वारोही हैं । (ते) तेरे (मघम्) वृत्ति करनेवाले (अन्धः) अन्न को मैं (उपो अयामि) तुझ तक प्राप्त कराता हूँ । जिसका हे (देव) राजन् ! तू (पूर्व-पेयम्) सबसे प्रथम पान या ग्रहण (दधिषे) करता है । (त्वा) तुझ शक्तिशाली पुरुष को (वायवे) वायु के समान सर्वाश्रय, सर्वरक्षक पदपर नियुक्त करता हूँ । योग्य शक्तिशाली पुरुष को वायु पद पर स्थापित करे ।

अध्यात्म में—हे वायो ! प्राण ! तू शरीर में शुद्धता, दोषनाशक गुण को पालन करता है, शुद्ध कान्ति बनाये रखता है, तू समस्त प्राणियों

का पालक है । तू सदा (आ भूष) शरीर में गति कर । (ते सहस्रं नियुतः) तेरे हजारों प्रवेश द्वार या व्यापन के साधन है । तेरे लिये मैं तृप्तिकारक अन्न नित्य प्राप्त करता हूँ । हे देव प्राण ! तू इस अन्न को सबसे प्रथम ग्रहण करता है । अन्न को वायुरूप प्राण के लिये ग्रहण करते हैं । शत० ४ । १ । ३ । १-१८ ॥

अयं वै वायुः योयं पवते । एष वा इदं सर्वं विविनक्ति । यदिदं किञ्च विविच्यते । श० १ । १ । ४ । २२ ॥ वायुर्वै देवानामाशुः सारसारितमः । तै० ३ । ८ । ७ । १ ॥ योयं वायुः पवते सैष सोमः । श० ७ । ३ । १ । १ ॥ वायुर्वा उग्रः । श० ६ । १ । ३ । १ १३ ॥ वायुर्वा उपश्रोता गो० उ० २ । १९ ॥ तस्य वायोः मेनका च सहजन्या चाप्सरसौ रथ-स्वनश्च रथेच्चित्रश्च सेनानीग्रामण्यौ । श० ८ । ६ । १ । १७ ॥

वायुपदपर अधिष्ठित पुरुष सत्यासत्य का विवेक करता है । वह सब से अधिक तीव्रगामी, बलवान्, उग्र, सबसे ममताशून्य, युद्धशक्ति का अध्यक्ष है ।

योगी के पक्ष में—योगी वायु या प्राण के समान व्यापक, यम आदि का पालक, सब आनन्दों को वरणकर्ता, उसको हम तृप्तिदायक उत्तम अन्न दें । जिसके आधार पर वह श्रेष्ठ योगबल प्राप्त करता है ।

१ इन्द्रवायू ऽइमे सुताऽउप प्रयोभिरागतम् । इन्द्रवो वासु-
शान्ति हि । २ उपयामगृहीतोऽसि वायव ऽइन्द्रवायुभ्यां त्वैष
ते योनिः सृजोषोभ्यां त्वा ॥ ८ ॥

मधुच्छन्दा ऋषिः । इन्द्रवायू देवते । (१) आर्षी गायत्री । (२) स्वराड्
आर्षी गायत्री । षड्जः ॥

भा०—हे (इन्द्रवायू) इन्द्र और हे वायो ! हे सेनापते ! और हे न्यायकर्ताः । दोनों (प्रयोभिः) वेग से चलने वाले अश्वों से तुम दोनों (उप आ गतम्) आओ । (इमे) ये (सुताः) उत्तम रीति से प्रेरित, अपने पदों

पर स्थापित (इन्द्रवः) ऐश्वर्यावान् और शीघ्रगामी पुरुष (वाम्) तुम दोनों को (हि) निश्चय से (उशन्ति) चाहते हैं । हे राजन् ! तू (उपयाम-गृहीतः असि) उपयाम, अर्थात् पृथिवी के प्रजाजनों द्वारा स्वीकृत है । तुझे (वायवे) पूर्व कहे वायु पद या विवेचक पद के लिये नियत करता हूँ । और (त्वा) तुझको (इन्द्र-वायुभ्याम्) इन्द्र, सेनापति और वायु, विवेचक, उपदेष्टा पद के लिये भी नियत करता हूँ । (ते एषः योनिः) तेरा यह आश्रयस्थान या पद है । (त्वा) तुझे (स-जोपोभ्याम्) प्रेम सहित इन्द्र और वायु पद पर अधिष्ठित दोनों शासकों के पद पर शासक नियत करता हूँ । इन्द्र, वायु आदि पद कार्य भेद से भिन्न २ होकर भी सामान्य रूप से राजा के ही पद के भिन्न २ विभक्त रूप हैं ।

योगी पक्ष में—हे (इन्द्रवायू) योग के उपदेष्टा और अभ्यासी जन तुम दोनों को (इमे सुता इन्द्रवः वाम् उशन्ति) ये समस्त उत्पादित पदार्थ चाहते हैं, तुम इन सहित आओ । हे योग के जिज्ञासो ! तू उपयाम अर्थात् योगाङ्गों द्वारा स्वीकृत है, उसमें अभ्यस्त है । तू वायु ! अर्थात् योग में विचक्षण हो । यह योग ही तेरा (योनिः) दुःखवारक शरण है ॥ शत० ४ । १ । ३ । १९ ॥

१ अयं वां मित्रावरुणा सुतः सोमः ऋतावृधा । ममेद्विह श्रुतं हवम् । २ उपयामगृहीतोऽसि मित्रावरुणाभ्यां त्वा ॥ ६ ॥

ऋ० २ । ४१ । ४ ॥

गृत्समद ऋषिः । मित्रावरुणौ देवते । (१) आर्षी गायत्री । (२) आधुरी गायत्री । षड्जः ॥

भा०—मित्र और वरुण पदाधिकारियों का वर्णन करते हैं । हे (ऋतावृधा) ऋत, सत्य व्यवस्था को बढ़ानेवाले या सत्यधर्म की व्यवस्था से स्वयं बढ़ने वाले (मित्रावरुणा) मित्र, सबसे स्नेह करनेवाले, ब्राह्मण

गण और (वरुण) वरुण, सब दुष्टों का वारण करने वाले, क्षत्रिय (अयं सोमः) यह सोम सर्व भ्रेरकरूप से राजा (सुतः) बनाया, अभिषिक्त किया गया है। (इह) इस अवसर पर (मम इत्) मेरे ही (हवम्) आज्ञा या अभ्यर्थना का आप दोनों (श्रुतम्) श्रवण करो। हे राजन् (त्वा) तुझे (मित्रावरुणाभ्याम्) मित्र और वरुण पद के भी वश करने के लिये उन पर शासक रूप से नियुक्त करता हूँ।

अध्यापक और अध्येता के पक्ष में—वे दोनों ऋत = ज्ञान को बढ़ाने वाले हैं। उनका सोम, योगैश्वर्य है। वे दोनों मित्र और वरुण हैं। शिष्य 'मित्र' के समान है, आचार्य उसका पाप से निवारक होने से 'वरुण' है। अथवा आचार्य सुहृत् है और छात्र गुण-दोषवारक होने से 'वरुण' है। अध्यात्म में ज्ञान और बल दोनों मित्र और वरुण हैं।

ऋतुदक्षौ ह वा अस्य मित्रावरुणौ। एतन्वध्यात्मं, स यदेव मनसा कामयते इदं मे स्यादिदं मे कुर्वीय इति स एव ऋतुरथ यदस्मै तत्समृद्धयते स दक्षः। मित्र एव ऋतुर्वरुणो दक्षः। ब्रह्मैव मित्रः क्षत्रं वरुणः। अभिगन्ता एव ब्रह्म कर्त्ता क्षत्रियः। इत्यादि। शत० ४। १। ४। १—७ ॥

राया वयथ्ससवाथ्सो मदेम हव्येन देवा यवसेन गावः।
तां धेनुं मित्रावरुणा युवं नो विश्वाहा धत्तमनपस्फुरन्तीमेष ते
योनिर्ऋतायुभ्यान्त्वा ॥ १० ॥ ऋ० ४। ४२। १० ॥

वसदस्युर्ऋषिः। मित्रावरुणो देवते। ब्राह्मी बृहती। मध्यमः ॥

भा०—हे (मित्रावरुणा) मित्र और हे वरुण! हे ब्राह्मणगण, और हे क्षत्रगण? जिस रसपान कराने वाली वेदवाणियों की व्यवस्था के अनुसार (वयम्) हम लोग (राया) ऐश्वर्य का (ससवांसः) विभाग करते हुए जैसे (देवाः) देव, विद्वान्गण अपने अभिलषित ज्ञान से और (गावः यवसेन) गौ आदि पशु जिस प्रकार दैनिक चारा पाकर प्रसन्न

होते हैं उसी प्रकार प्रसन्न हों (ताम् धेनुम्) उस धेनु, सर्वरस पिलने वाली वाणी, गौ और पृथिवी को (युवम्) आप दोनों (विश्वाहा) सब दिन, नित्य (अनपस्फुरन्तीम्) बिना कष्ट के, व्यथारहित रूप से, उसे बिना तड़पाए (धत्तम्) उसका धारण पोषण करो । या उसका ऐसे पालन करो कि वह कष्ट पाकर किसी और के पास न चली जाय । हे राजन् ! (एष ते योनिः) तेरा यही ब्राह्मणगण और क्षत्रियगण, मित्र और वरुण दोनों आश्रय स्थान हैं । (ऋतायुभ्याम् त्वा) अर्थात् सत्य ज्ञान और आयु अर्थात् निर्विघ्न दीर्घ आयु दोनों के प्राप्त करने के लिये (त्वा) तुझ योग्य पुरुष को नियुक्त करता हूँ । शत०—४ । १ । ४ । १० ॥

या वां कशा मधुमत्यश्विना सूनृतावती । तथा यज्ञं निमिक्षतम् ।
उपयामगृहीतोऽस्यश्विभ्यां त्वैष ते योनिर्माध्वीभ्यां त्वा ॥११॥
ऋ० १ । २१ । ३ ॥

मेधातिथिर्ऋषिः । अश्विनौ देवते । ब्राह्मो उष्णिक् । ऋषभः ॥

भा०—हे (अश्विना) हे सूर्य और चन्द्र या सूर्य और पृथिवी के समान परस्पर नित्य मिले हुए राजा और प्रजाजनो ! या स्त्री पुरुषो ! (या) जो (वाम्) तुम दोनों वर्गों की (मधुमती) मधुर, आनन्दप्रद, रस से युक्त (सूनृतावती) उत्तम सत्य ज्ञान से पूर्ण (कशा) वाणी है (तथा) उससे (यज्ञम्) इस राष्ट्र रूप यज्ञ को (निमिक्षतम्) सेचन करते रहो, उससे इसमें निरन्तर आनन्द की वृद्धि करते रहो । हे योग्य पुरुष ! राजन् ! (उपयाम-गृहीतः असि) देश के शासन द्वारा तु बद्ध है । (त्वा) तुझको (अश्विम्याम्) देश के स्त्री और पुरुष दोनों की उन्नति के लिये नियुक्त करता हूँ । (एष ते योनिः) तेरे लिये यही आश्रय है । (त्वा) तुझको (माध्वीभ्याम्) मधु, उत्तम रस के प्रदान करने वाली, नीति और शक्ति दोनों के लिये प्रतिष्ठित करता हूँ ।

शिष्य अध्यापक के पक्ष में—वे दोनों सूर्य चन्द्र के समान प्रकाशित हैं, उनकी मधुमयी, ज्ञानमयी मधुर वाणी उनके ज्ञान-यज्ञ को बढ़ावे। यही उनका आश्रय है। शत० ४।१।५।१५ ॥

‘तं प्रत्नथा^१ पूर्वथा^२ विश्वथे^३मथा^४ ज्येष्ठता^५ति^६ वह्निषद^७त्वं^८ स्वर्विद^९म्।
प्रतीचीनं^{१०} वृजनं^{११} दोहसे^{१२} धुनिमाशुं^{१३} जयन्तमनु^{१४} यासु^{१५} वर्धसे।^{१६} उपया^{१७}
मगृहीतो^{१८} असि^{१९} शरडा^{२०}य त्वैष^{२१} ते योनिर्वीरतां^{२२} प्राह्यपमृष्टः^{२३} शरडो^{२४}
देवास्त्वा^{२५} शुक्रपाः^{२६} प्रणयन्त्वनाधृष्टा^{२७}सि ॥१२॥ ऋ० ५।४४।१ ॥

काश्यपोवत्सार ऋषिः। विश्वेदेवा देवताः। (१) निचृदार्षी जगती।

निषादः। (२) पंक्तिः। पंचमः ॥

भा०—हे राजन् ! तू (प्रत्नथा) अपने से पूर्वकाल के, (पूर्वथा) अपने से पूर्व या अधिक बलशाली राजाओं के, (विश्वथा) समस्त देशों के और (इमथा) इन प्रत्यक्ष वीर पुरुषों के समान (ज्येष्ठतातिम्) सब से ज्येष्ठ, उत्तम गुणशाली, (वह्निषदम्) उच्च आसन पर विराजमान, (स्वर्विदम्) तापकारीबल और तेज के धारण करनेवाले (प्रतीचीनम्) शत्रु के प्रति चढ़ाई करनेवाले, (वृजनम्) शत्रुओं को वारण करनेवाले, (धुनिम्) शत्रुओं को कंपा देनेवाले, उनको धुन डालने वाले, (आशुम्) अति शीघ्रकारी, सिद्धहस्त, (तम्) उस प्रसिद्ध, विख्यात पुरुष को (यासु) जिन जिन दिशाओं और प्रजाओं में (दोहसे) पूर्ण करता है, उनमें ही तू उसके अनुकूल होकर (अनु वर्धसे) स्वयं वृद्धि को प्राप्त होता है। अथवा ऐसे बलवान् पुरुष को साथ लेकर जिन प्रजाओं में तू स्वयं बढ़ता है तू उनके (प्रतीचीनं वृजनं दोहसे) शत्रु के प्रतिगामी बलको प्राप्त करता है। हे वीर पुरुष ! राजन् ! (उपयाम-गृहीतः असि) तुझे उपयाम, अर्थात् पृथिवी

१२—उपयामेति प्रजापतिः ऋषिः, शुक्रो देवता, सामगायत्री ग्रहणे विनियोगः
इति पद्यति पाठः। ‘दोहसे गिराशु०’ इति ऋग्वेदे पाठः ॥

निवासी प्रजातन्त्र ने स्वीकार किया है । (शण्डाय त्वा) बल के कारण पदयुक्त पुरुष के कम्पन के निमित्त (त्वा) तुझको इस पद पर नियुक्त करते हैं । (एषः ते योनिः) तेरे लिये यही योग्य पद है । तू (वीरताम्) अपने वीर्य, वीरस्वभाव या वीर जनों की (पाहि) रक्षा कर । (शण्डः) बलके मत में मत्त शान्ति नाशक पुरुष भी (अपमृष्टः) प्रजा से पृथक् कर दिया जाय । और (शुक्र-पाः) वीर्य के पालन करनेवाले, बलवान् (देवाः) युद्ध विजयी पुरुष भी तुझसे स्नेह करें, या तेरे लिये कार्य करें । और हे प्रजे ! या हे राजशक्ते ! इस प्रकार तू (अनाष्टः असि) कभी शत्रुओं द्वारा दवाई या पीड़ित नहीं की जा सकती । शत० ४ । १ । ९ ॥

योगी के पक्ष में—हे योगिन् ! तू (उपयाम-गृहीतः असि) योग के यमादि अंगों में अभ्यस्त हो । यही तेरा आश्रय है । इनसे (अपमृष्टः) शुद्ध होकर (शण्डः = शं-डः) शान्त स्वभाव होकर (यासु) जिन योग-क्रियाओं में (वर्धसे) तू वृद्धि को प्राप्त हो और पूर्व के अभ्यासी लोगों के समान, (ज्येष्ठतांति बर्हिषदं स्वविदं प्रतीचीनमाशुं जयन्तं धुनिं वृजनं च दोहसे) सब से उत्तम, आत्मस्थ, सुखकारी, विषयों के विरोधी, जयप्रद योगबल को प्राप्त करता है (तं) उसको (शुक्रपाः देवाः) वीर्यपालक, ब्रह्मचारी विद्वान् प्राप्त करावें । तू अपनी वीरता या बल-वीर्य की रक्षा कर । तेरा वीर्य कभी खण्डित न हो । यह मन्त्र पुनः प्रजनन पक्ष में भी लगता है । इस प्रकरण में सृष्टि-उत्पत्ति का रूप भी कहा है ।

१ सुवीरो वीरान् प्रजनयन् परीह्याभि रायस्पोषेण यजमानम् । सञ्जग्मानो दिवा पृथिव्या शुक्रः शुक्रशोचिषा निरस्तः शण्डः शुक्रस्याधिष्ठानमसि ॥ १३ ॥

विरवेदेवा देवताः । (१) निचृदार्षी त्रिष्टुप् । धैवतः । (२) प्राजापत्यः

गायत्री । पङ्क्तः ॥

भा०—हे वीर पुरुष ! तू (सु-वीरः) उत्तम वीर होकर और (वीरान्) और वीर पुरुषों को उत्पन्न करता हुआ (परि इहि) राष्ट्र से परे, दूर देशों में जा । और (रायः पोषेण) धन-पेक्ष्य की समृद्धि सहित (यजमानम्) अपने दानशील वृत्तिदाता राजा को (अपि इहि) प्राप्त हो । इस प्रकार (दिवा) सूर्य और (पृथिव्या) पृथिवी से (संज-मानः) सदा संगति लाभ करता हुआ उनके समान गुणवान्, तेजस्वी और सर्वाश्रय, ध्रुव, स्थिर होकर (शुक्रः) तेजस्वी सूर्य के समान (शुक्र-शोचिषा) शुद्ध कान्ति से युक्त होकर विराजमान हो । इस प्रकार से राज्य के भीतर (शण्डः) शान्तिभंगकारी बलवान् वीरपुरुष भी (निरस्तः) देश से बाहर कर दिया जाय । हे राजन् ! तू स्वयं (शुक्रस्य) तेजस्वी सूर्य का (अधिष्ठानम् असि) अधिष्ठान, परम पद है ॥ शत० ४ । २ । १ । १६ ॥

योगी के पक्ष में—उत्तम वीर के समान योगी वीर्यवान् गुणों को उत्पन्न करके ऐश्वर्य से युक्त हो, युद्धकान्ति से (निरस्तः) विषय वासना रहित, शान्त होकर वीर्य का आश्रय बने ॥

अच्छिन्नस्य ते देव सोम सुवीर्यस्य रायस्पोषस्य ददितारः स्याम । सा प्रथमा संस्कृतिर्विश्ववारा स प्रथमो वरुणो मित्रो अग्निः ॥ १४ ॥

विश्वेदेवा देवताः । स्वराड् जगती । निषादः ॥

भा०—हे (देव सोम) प्रकाशमान ! सबके प्रेरक राजन् ! (सुवीर्य-स्य ते) उत्तम वीर्यवान् तेरे (अच्छिन्नस्य) अच्छिन्न, अटूट, अक्षय (रायः पोषस्य) धनैश्वर्य की समृद्धि के हम प्रजाजन (ददितारः) देनेवाले (स्याम) हों । (सा) वह राजशक्ति ही (विश्व-वारा) समस्त राष्ट्र की रक्षा करने वाली (प्रथमा संस्कृतिः) सबसे उत्कृष्ट रचना है । (सः) इस प्रकार का बनाया हुआ राजा (प्रथमः) सब से उत्तम, प्रजा

१४—अच्छिन्नस्य सौम्यम् । सा प्रथमैन्द्री त्रिष्टुप् । सर्वा० ॥

का रक्षक, (मित्रः) सर्वोत्तम प्रजा का स्नेही और (प्रथमः अग्निः) सर्वोत्तम, अग्रणी नेता है । शत० ४ । २ । १ । २१ ॥

शिष्य-अध्यापक पक्ष में—हे शिष्य ! उत्तम वीर्यवान् अखण्ड ब्रह्मचारी को हम ज्ञान ऐश्वर्य के देनेवाले हों । यह शिक्षा सर्वश्रेष्ठ एवं सबको स्वीकार करने योग्य है । हम में से तुझे पाप से वारक अग्नि, आचार्य तेरा मित्र के समान स्नेही है ।

ईश्वर पक्ष में—हे देव ! सोम ! परमेश्वर ! महान् वीर्यवान् ! (अच्छिन्नस्य) अखण्ड ऐश्वर्य के परिपोषक तेरे हम सदा (ददितारः) देनेवाले, देनदार, ऋणी रहें । वही परमेश्वरी शक्ति सबसे उत्तम संस्कृति है, जो सबकी रक्षा करती है । वह परमेश्वर ही सब से श्रेष्ठ प्रथम, आदि मूल वरुण, मित्र और अग्नि है ॥

स प्रथमो बृहस्पतिश्चिकित्वाँस्तस्माद्इन्द्राय सुतमा जुहोत स्वाहा । तृम्पन्तु होत्रा मध्वो याः स्विष्टा याः सुप्रीताः सुहुता यत्स्वाहा याङ्ग्नीत् ॥ १५ ॥

विश्वेदेवा देवताः । निचृद् ब्राह्मयनुष्टुप् । गान्धारः ॥

भा०—(साः) वह (प्रथमः) सब से प्रथम, सर्वश्रेष्ठ (चिकित्वान्) विद्वान्, (बृहस्पतिः) बृहती, वेदवाणी का पालक है । हे विद्वान् पुरुषो ! आप लोग (तस्मै इन्द्राय) उस ऐश्वर्यवान् राज्य-पद के लिये (सुतम्) इस राष्ट्र के राजत्व पद को (स्वाहा) उत्तम शासन, वश-कारिणी शक्ति से (आजुहोत) प्रदान करो । और (होत्राः) राजा के मुख्य अधिकारी, जो राज्य के महान् कार्य को चलाने में समर्थ हैं, वे राज्य की विभाजक शक्तियां (मध्वो) मधुर अन्न आदि भोग्य पदार्थों से (तृम्पन्तु) तृप्त हों । (यत्) क्योंकि (याः) जो (स्विष्टाः) उत्तम

१५—होता देवता । अनन्त० । ०मधोर्यत् स्विष्टं यत् सुभृतं यत्स्वाहा ॥ इति का०

रीति से अपना भाग प्राप्त करके, (याः सुप्रीताः) जो सुप्रसन्न होकर और (सु-हुताः) उत्तम रीति से आदर-मान पाकर (स्वाहा) राष्ट्र का उत्तम रीति से वहन करती हैं । इस प्रकार (अग्नीत्) अग्रणी नेता को प्रज्वलित करने हारा, राष्ट्र यज्ञ का प्रमुख पुरुष (अयाद्) उस कार्य का सम्पादन करे । शत० ४ । २ । १ । २७, २८ ॥

‘होत्राः’— अंगानि वाच होत्रकाः । ऋतवो वा होत्राः गो० ३०६ । ३ । ‘अग्नीत्’— यज्ञमुखं वा अग्नीत् । गो० उ० ३ । १८ ॥

गृहस्थ पक्ष में—होत्राः = स्त्रियें । सुत = वीर्य । अग्नीत् = पुत्र । बृहस्पति = पुरुष ॥

‘अयं वेनश्चोदयत्पृश्निगर्भा ज्योतिर्जरायु रजसो विमाने । इममपां सङ्गमे सूर्यस्य शिशुं न विप्रा मतिर्भी रिहन्ति । उपयामगृहीतोऽसि मर्काय त्वा ॥ १६ ॥

वेनो देवता । (१) निचृदार्षी त्रिष्टुप् । धैवतः । (२) गायत्री । षड्जः ॥

भा०—(अयं) यह (वेनः) कान्तिमान् राजा उत्पन्न होने वाले बालक के समान है । (रजसः विमाने) गर्भस्थ जल के विशेष रूप से बने स्थान में स्वयं (ज्योतिः-जरायुः) बच्चा जिस प्रकार जेर में लिपटा रहता है उसी प्रकार वह राजा भी (रजसः विमाने) समस्त लोकों के बने विशेष संगठन के भीतर ज्योति, प्रकाश, तेज रूप जेर से लिपटा रहता है । बच्चा जिस प्रकार (पृश्नि-गर्भाः चोदयत्) माता के पेट के जलों को प्रथम बाहर फेंकता है उसी प्रकार यह राजा भी ज्योति के धारण करने वाले सूर्यवत् तेजस्वी पुरुष अपने भीतर ग्रहण करनेवाली प्रजाओं को (चोदयत्) प्रेरित करता है । (अपां संगमे) जलों के एकत्र हो जाने पर जिस प्रकार बच्चों को अंगुलियों के दबाव से बाहर कर लिया जाता है उसी

१६—अयं वेनो वेनस्य । सामस्तुतिराधिदैवतमधियज्ञं च । सर्वा० ।

प्रकार (विप्राः) मेधावी विद्वान् पुरुष (शिशुं न) बालक के समान ही (सूर्यस्य) सूर्य के समान, प्रचण्ड ताप के कारण (शिशुम्) प्रशंसनीय, या उसके समान दानशील राजा को (अपां संगमे) प्रजाओं के एकत्र होने के अवसर पर (मतिभिः) अपनी ज्ञानमय स्तुतियों से (रिहन्ति) अर्चना करते हैं। हे योग्य पुरुष ! (त्वम्) तू उपयामगृहीतः असि) राज्य के नाना अंगों, या राष्ट्र के समस्त भागों से स्वयं राजा रूप में स्वीकृत है। (त्वा) तुझको (मर्काय) मर्क अर्थात् शरीर में जिस प्रकार समस्त अंगों में प्राण वायु चेष्टा करता है उसी प्रकार समस्त राष्ट्र में विशेष प्रेरणा देने वाले उर्जजक पुरुष के पद पर तुझे नियुक्त करता हूँ। शत० ४ । २ । १ । ८—१० ॥

‘मर्काय’ मर्चतेः कन् (उणा०) । मर्चति चेष्टते असौ इति मर्कः शरीर-वायुर्वा ।

चन्द्रपक्ष में—यह (वेनः) कान्तिमान् चन्द्र (रजसः विमाने) जल के निर्माण अर्थात् वर्षाकाल में (ज्योतिर्जरायुः) दीप्ति में लिप्त कर (पृथिनगर्भाः चोदयत्) अन्तरिक्ष या वातावरण में स्थित जलों को वर्षा वा ओस रूप में प्रेरित करता है। और जलों के प्राप्त हो जाने पर विद्वान् लोग सूर्य के पुत्र के समान इसकी स्तुति करते हैं ॥

मनो न येषु हवनेषु त्रिमं विपः शच्या वनुथो द्रवन्ता ।
आ यः शर्याभिस्तुविनृम्णोऽश्रस्या श्रीणीता दिशं गभस्तावेष्टे
योनिः प्रजाः प्राह्यपमृष्टो मर्को देवास्त्वा मन्थिपाः प्रणयन्त्व-
नाधृष्टासि ॥ १७ ॥

ऋ० १० । ११ । ३ ॥

विश्वेदेवाः देवताः । स्वराड् ब्राह्मी त्रिष्टुप् । धैवतः स्वरः ॥

१७—मनो न त्रिष्टुप् सोमस्तुतिरधियज्ञानुवादिनी । अपमृष्टः शत के अभिचारिके, देवास्त्वा शुक्रामन्थितौ अनाधृष्टासि दक्षिणोत्तरवैदिश्रोयौ । सर्वा० ॥

भा०—हे राजन् ! हे प्रजाजन ! (येषु) जिन (हवनेषु) युद्ध के अवसरों पर (मनः न) मन के समान (तिग्मं) तीक्ष्ण, अति तीव्रगति वाले (विपः) विपश्चित्, या कार्यकुशल पुरुष को (शच्या) अपनी शक्ति या सेना से (द्रवन्तौ) गमन करते हुए (वनुथः) प्राप्त करते हैं। और जो (तुविनृम्णाः) बहुत ऐश्वर्यवान् (अस्थ) इस राजा के लिये (आदिशम्) प्रत्येक दिशा, या देश में (गभस्तौ) अपने ग्रहण या आक्रमण या देश विजय करने के बल पर (शर्याभिः) शर प्रहार करने वाली सेनाओं से (आश्रीणीत) सब प्रकार राजा का आश्रय करता या उसके शत्रु को संतप्त करता है, हे वीर पुरुष ! (एषः) यह प्रजा भी (ते योनिः) तेरा आश्रय स्थान, या पद है। तू (प्रजाः पाहि) प्रजाओं का पालन कर, इस प्रकार (मर्कः) प्रजा पर मृत्यु का दुःख डालने वाले शासकों का दुर्नय या दुष्प्रबन्ध और उसके कारण उत्पन्न होने वाला पारस्परिक घात-प्रतीघात या महामारी आदि जनपदोर्ध्वंसक रोग (अपमृष्टः) दूर किया जाय। हे राजन् (त्वा) तुझको (मन्थिपाः) शत्रुओं को मथन करने वाले पुरुष के रक्षक (देवाः) विजिगीषु लोग (प्र नयन्तु) आगे विजय मार्ग पर ले चलें। हे प्रजे ! इस प्रकार तू (अनाधृष्टा असि) शत्रुओं द्वारा कभी पीड़ित नहीं हो सकती। शत० ४।२।१।११ ॥

राजा एक ऐसे विद्वान् को नियुक्त करे जो युद्ध के अवसरों पर मन के समान तीक्ष्ण मननशील हो। राजा प्रजा उसकी शक्ति से सब कार्यों में आगे बढ़े। वह प्रत्येक दिशा में शत्रुओं को पराजित करे। उसको उचित आश्रय दे। जो राजा प्रजा का पालन करे, आक्रामक शत्रु का नाश करे उसका नाम 'मन्थी' है। उसकी आज्ञा के पालक राजा को आगे बढ़ावें, प्रजा सुरक्षित रहे। प्रजानाशक समस्त कारण प्रायः अधर्म मूलक होते हैं (चरक) ॥

सुप्रजाः प्रजाः प्रजनयन् परीह्यभि रायरूपोर्बेण यजमानम् ।

संजग्मानो दिवा पृथिव्या मन्थी मन्थिशोचिषा निरस्तो मर्कः
 २ मन्थिनोऽधिष्ठानमसि ॥ १८ ॥

प्रजापतिदेवता । (१) निचृत् त्रिष्टुप् । धैवतः । (२) प्रजापत्या
 गायत्री । षड्जः ॥

भा०—हे विद्वन् ! तू (सु-प्रजाः) उत्तम प्रजावान् होकर (प्रजाः)
 उत्तम प्रजाओं को (प्रजनयन्) बनाता या उत्पन्न करता हुआ (परि इहि)
 सर्वत्र गमन कर । (यजमानम्) तू भृति, वेतन एवं समस्त ऐश्वर्य को
 देने वाले राजा के समीप (रायः पोषेण अभि इहि) ऐश्वर्य की समृद्धि
 सहित प्राप्त हो । (दिवा) द्यौ या सूर्य के समान तेजस्वी राजा और
 (पृथिव्या) सर्वाश्रय, प्रजा दोनों के साथ (सं-जग्मानः) सत्संग करता
 हुआ (मन्थी) शत्रुओं, या असत्य और अविद्या का मथन या विनाश
 करने वाला होकर विद्यमान रह । (मन्थि-शोचिषा) ऐसे मथनकारी के
 तेज से (मर्कः) प्रजा के मृत्यु के कारण-रूप अन्यायी पुरुष एवं शत्रु,
 दुष्ट, हिंसक पुरुष वा रोग आदि को (निरस्तः) दूर कर दिया जाय । हे
 राजन् ! तू (मन्थिनः) उक्त प्रकार के शत्रु या दुष्ट पुरुषों के नाश करने
 वाले पुरुष का भी (अधिष्ठानम् असि) अधिष्ठाता, आश्रयदाता है ।
 शत० ४ । १ । १ । १५-२१ ॥

ये देवासो दिव्यकादश स्थ पृथिव्यामध्येकादश स्थ ।
 अप्सुक्षितो महिनैकादश स्थ ते देवासो यज्ञमिमं जुष-
 ध्वम् ॥ १९ ॥

परुच्छेप ऋषिः । विश्वेदेवा देवताः । मुरिगार्धी पंक्तिः । धैवतः ॥

भा०—हे (देवासः) विद्वान् ! देव ! पुरुषो ! आप लोग (ये) जो

१८—सुप्रजाः शुक्रामन्थिनौ । निरस्तो द्वे अभिचारके । शुक्रस्य मन्थिनः
 शकलम् । सर्वा० ।

(दिवः) सूर्य के समान तेजस्वी राजा के अधीन (एकादश स्थ) ११ राजसभा के सभासद हो, और आप लोग (पृथिव्याम् अधि) पृथिवी, पर (एकादश स्थ) ११ देव, अधिकारी गण हो । और (महिना) अपने महान् सामर्थ्या से (अप्सु-क्षितः) प्रजा में निवास करने वाले आप लोग एकादश स्थ) ११ हो, वे सब मिल कर (इमं) इस (यज्ञम्) यज्ञ को (जुषध्वम्) सेवन करें, उसमें अपना भाग लें ।

अर्थात् जिस प्रकार शरीर की रचना में, मूर्धा भाग में प्राण, अपान, उदान,, समान, नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त, धनंजय और ये ११, पृथिवी में पृथिवी, आपः, तेज, वायु, आकाश, आदित्य, चन्द्र नक्षत्र, अहंकार, महत् तत्त्व और प्रकृति ये ग्यारह और प्राणों में क्षोत्र, त्वक्, चक्षु, रसना, घ्राण, वाक्, हाथ, पाद, गुदा, मूत्राशय, और मन ये ग्यारह प्राण विद्यमान हैं और क्रम से शरीर और ब्रह्माण्ड के देहों को धारण करते, यथावत् समस्त कार्य चला रहे हैं उसी प्रकार राष्ट्रदेह में, राजा के साथ ११-११ विद्वान् प्रतिनिधि मिलकर सभाएं बना कर कार्य संचालन करें । शत० ४ । २ । २ । १ ९ ॥

उपयामगृहीतोऽस्याग्रयणोऽसि स्वाग्रयणः । पाहि यज्ञं
पाहि यज्ञपतिं विष्णुस्त्वामिन्द्रियेण पातु विष्णुं त्वं पाह्यभि
सर्वनानि पाहि ॥ २० ॥

यज्ञो देवता । निचृदार्पी जगती । निषादः ॥

भा०—हे सभापते ! तू (उपयामगृहीतः असि) राष्ट्र के नियम व्यवस्था द्वारा स्वीकृत है । तू (आग्रयणः असि) 'आग्रयण' अग्र अर्थात् मुख्य २ पद प्राप्त करने योग्य है । और तू (सु-आग्रयणः) उत्तम पूजा योग्य, अग्रपद प्राप्त, सर्वोच्च पदाधिकारी (असि) है । तू (यज्ञम् पाहि)

२०—आग्रयणोऽसि लिंगोक्तदेवतम् ।

इस व्यवस्थित राष्ट्र का पालन कर और (यज्ञ-पतिम्) यज्ञ या राष्ट्र के पालक स्वामी की भी (पाहि) रक्षा कर । हे राष्ट्र ! (विष्णुः) सब शक्तियों और राष्ट्र के विभागों में समानरूप से व्यापक राजा (त्वाम्) तुझको (इन्द्रियेण) अपने इन्द्र, ऐश्वर्यभाजन पदयोग्य राजबल से (पातु) पालन करे । (त्वम्) तू हे विद्वन् ! या प्रजाजन ! (विष्णुम्) उस व्यापक शक्तिमान् राजा को (पाहि) पालन कर और तू (सवनानि) समस्त ऐश्वर्य के द्योतक अधिकार पदों की भी (पाहि) रक्षा कर ॥ शत० ४ । २ । २ । ९-१० ॥

१ सोमः पवते सोमः पवतेऽस्मै ब्रह्मणेऽस्मै क्षत्रायास्मै सुन्वते यजमानाय पवतऽद्भ्यऽङ्गुर्जे पवतेऽद्भ्यऽश्रोषधीभ्यः पवते द्यावापृथिवीभ्यां पवते सुभुताय पवते विश्वेभ्यस्त्वा देवेभ्यः २ऽण्ण ते योनिर्विश्वेभ्यस्त्वा देवेभ्यः ॥ २१ ॥

सोमो देवता । (१) स्वराड् ब्राह्मो त्रिष्टुप् । धैवतः । (२) जगती । निषादः ॥

भा०—(सोमः) सर्वप्रेरक राजा (पवते) अपने कार्य में और सूर्य के समान राष्ट्र के सब कार्यों में प्रवृत्त होता और अन्यो को भी प्रेरित करता है । (सोमः पवते) राजा, सोम अर्थात् चन्द्र के समान या वायु के समान सर्वत्र जाता है । (अस्मै ब्रह्मणे) महान् परमेश्वर के बनाये नियम, वेद और ब्रह्मचर्य के पालन कराने के लिये ब्रह्म अर्थात् ब्राह्मण, विद्वान् प्रजा के लिये, (अस्मै क्षत्राय) इस क्षत्र, वीर्यवान् क्षत्रिय, वीर प्रजा के लिये, और (अस्मै सुन्वते यजमानाय) इस समस्त विद्याओं के सिद्धान्तों को प्रकट करनेहार, विद्या आदि प्रदान करनेवाले, सर्वसम्मत विद्वान् या ब्रह्मोपासक पुरुष की रक्षा और वृद्धि के लिये (पवते) राज्य में उद्योग

२१—सोमः पवत वैश्वदेवम् । सर्वा० ॥ 'अस्मै ब्रह्मणे पवतेऽस्मै क्षत्राय पवतेऽस्मै सु० ० सुभुताय पवते ब्रह्मवर्चसाय पवते ।' इति काण्व० ॥

करता है। वह राजा और विद्वान् पुरुष अपने राष्ट्र में (इषे, ऊर्जे) अन्न उत्पन्न करने और उससे बल प्राप्त करने के लिये (पवते) उद्योग करता है। वह (अद्भ्यः ओषधीभ्यः पवते) उत्तम जल और उत्तम ओषधियों के संग्रह के लिये उद्योग करता है। (द्यावापृथिवीभ्याम् पवते) द्यौः, सूर्य के प्रकाश, एवं उत्तम वृष्टि और पृथिवी के उत्तम २ पदार्थों की उन्नति के लिये अथवा, आकाश और पृथिवी दोनों के बीच में विद्यमान समस्त ऐश्वर्यों के लिये, उत्तम पिता और माता, स्त्री और पुरुषों की उन्नति के लिये (पवते) चेष्टा करता है। वह (सुभूताय पवते) उत्तम भूति, ऐश्वर्य की प्राप्ति, सबके उत्तम उपकार और उत्तम सन्तान की उन्नति के लिये उद्योग करता है। हे राजन् : (त्वा) तुझको हम (विश्वेभ्यः देवेभ्यः) समस्त देवों, राजाओं, विद्वानों, शासकों एवं वायु, विद्युत्, अग्नि, सूर्य, चन्द्र आदि दिव्य पदार्थों के उपकार और सद् उपयोग के लिये स्थापित करता हूँ। (ते एषः योनिः) तेरा यह आश्रय स्थान, पद या आसन है, (विश्वेभ्यः देवेभ्यः त्वा) समस्त देवों, उत्तम विद्वान्, सत्पुरुषों के लिये तुझे नियुक्त करता हूँ। शत० ४ । २ । २ । ११-१३ ॥

उपयामगृहीतोऽसीन्द्राय त्वा बृहद्वते वयस्वत उक्थाव्यं गृह्णामि ।
यत्तऽइन्द्र बृहद्वयस्मस्मै त्वा विष्णवे त्वैष ते योनिरुक्थेभ्यस्त्वा
देवेभ्यस्त्वा देवाव्यं युज्ञस्यायुषे गृह्णामि ॥ २२ ॥

ऋ० ३ । ५१ । १-२ ॥

विश्वेदेवा देवताः । ब्राह्मी त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—हे उत्तम, वीर पुरुष ! तू (उपयाम-गृहीतः असि) तू राज्य के उत्तम नियमों द्वारा 'गृहीत' अर्थात् बंधा हुआ है। (उक्थाव्यम्) उत्तम जानों की रक्षा करने वाले (त्वा) तुझ विद्वान् को मैं (इन्द्राय) परम

२२, २३—इन्द्रायत्वा लिगोक्तानि । ० 'उक्था युव०' ० 'देवायुव०' ॥

ऐश्वर्या युक्त (बृहद्वते) बड़े भारी राष्ट्र के कार्यों से युक्त (वयस्वते) अति दीर्घ जीवन वाले पद या राजा के लिये (गृह्णामि) नियुक्त करता हूँ । हे (इन्द्र) इन्द्र, परमैश्वर्यावन् । राजन् अथवा ! सेनापते ! (यत् ते) जो तेरा (बृहत्) महान् राज्य और (वयः) जो तेरा यह दीर्घजीवनसाध्य कार्य है (तस्मै) मैं उसके लिये (त्वा) तुझको नियुक्त करता हूँ । (विष्णवे त्वा) तुझे राज्यपालन रूप, विष्णु अर्थात् व्यापक राष्ट्र के पालन कार्य के लिये नियुक्त करता हूँ । (एषः ते योनिः) यह तेरा आश्रय स्थान या पद है । (देवाव्यम्) देव, विद्वानों, शासकों और पदाधिकारियों और अधीन राजाओं के रक्षक (त्वा) तुझको (देवेभ्यः गृह्णामि) उन देवों अर्थात् विद्वान् पदाधिकारी, अधीन राजाओं की रक्षा के लिये भी नियुक्त करता हूँ । और मैं तुझे (यज्ञस्य) इस 'यज्ञ' अर्थात् राज्य-व्यवस्था के (आयुषे) दीर्घजीवन के लिये भी (गृह्णामि) नियुक्त करता हूँ । शत० ४ । २ । २ । १-१० ॥

१ मित्रावरुणाभ्यां त्वा देवाव्यं यज्ञस्यायुषे गृह्णामीन्द्राय त्वा देवाव्यं यज्ञस्यायुषे गृह्णामीन्द्राग्निभ्यां त्वा देवाव्यं यज्ञस्यायुषे गृह्णामीन्द्रावरुणाभ्यां त्वा देवाव्यं यज्ञस्यायुषे गृह्णामीन्द्रावृहस्पतिभ्यां त्वा देवाव्यं यज्ञस्यायुषे गृह्णामीन्द्राविष्णुभ्यां त्वा देवाव्यं यज्ञस्यायुषे गृह्णामि ॥ २३ ॥

विश्वेदेवा देवताः । (१) अनुष्टुप् । (२) प्रजापत्यानुष्टुप् । (३) स्वराट् ।

साम्यनुष्टुप् । गांधारः स्वरः । (४) भुरिगार्ची गायत्री । षड्जः ।

(५) भुरिक् साम्यनुष्टुप् । गांधारः ॥

भा०—हे सभापते या राजन् ! (देवाव्यं त्वा) देव, विद्वानों और अधीन राजाओं के रक्षक तुझको (मित्रावरुणाभ्याम्) मित्र और वरुण इन

२३—१ देवायुषं • सवंत्र काण्व० ॥

पदों पर (यज्ञस्य आयुषे) राष्ट्रव्यवस्था के दीर्घ जीवन के लिये (गृह्णामि) नियुक्त करता हूँ । हे राजन् ! (देवाव्यम् त्वा) विद्वानों और राजा आदि जनों के रक्षक तुझको (इन्द्राय, यज्ञस्य आयुषे, गृह्णामि) इन्द्र अर्थात् ऐश्वर्यावान् सेनापति पद पर राष्ट्रमय यज्ञ के दीर्घ जीवन के लिये नियुक्त करता हूँ (देवाव्यम् इन्द्राग्नीभ्याम् यज्ञस्य आयुषे त्वा गृह्णामि) देवों, विद्वान् पुरुषों के रक्षक तुझको इन्द्र और अग्नि पद अर्थात् इन्द्र, राजा और अग्नि, दुष्टों के संतापक और अग्रणी पद पर राज्य की दीर्घायु के लिये नियुक्त करता हूँ । (त्वा देवाव्यं इन्द्रावरुणाभ्याम् यज्ञस्य आयुषे गृह्णामि) देवों के रक्षक, तुझको इन्द्र और वरुण पद पर यज्ञ की दीर्घायु के लिये नियुक्त करता हूँ । (त्वा देवाव्यं इन्द्राबृहस्पतिभ्यां यज्ञस्य आयुषे गृह्णामि) देवों के रक्षक तुझे इन्द्र और बृहस्पति पद पर राज्य के दीर्घ जीवन के लिये नियुक्त करता हूँ । (इन्द्र-विष्णुभ्यां त्वा, देवाव्यं यज्ञस्य आयुषे गृह्णामि) देवों के रक्षक तुझको इन्द्र और विष्णु पद पर राज्य की दीर्घायु के लिये नियुक्त करता हूँ । ४ । २ । १-१८ ॥

मित्र, वरुण, इन्द्र-अग्नि, इन्द्र-वरुण, इन्द्र-बृहस्पति, इन्द्र-विष्णु ये सब राज्य के विशेष अंग हैं । जिनके पदाधिकारी इन नामों से कहे जाते हैं । उन सबके लिये योग्य पुरुषों को नियुक्त करने और उन सबकी रक्षा के लिये उन सबके ऊपर सबको रक्षा करने में समर्थ एक पुरुष को नियुक्त करने का उपदेश वेद ने किया है । शत० ४ । २ । २ । १-१८

सुर्धानं दिवोऽअरतिं पृथिव्या वैश्वानरमृतऽआ जातमग्निम् ।
कुविथं सम्राजमतिथिं जनानामासन्ना पात्रं जनयन्त देवाः ॥२४॥

भरद्वाजो वार्हस्पत्यः । वैश्वानरो देवता । आर्षी त्रिष्टुप् । धैवतः ।

२४—सुर्धानं भरद्वाजो वैश्वानरीं त्रिष्टुभम् । सर्वा० । वैश्वानरो देवता ऋग्वेदे । विश्वेदेवाः । द० ।

भा०—(देवाः) विद्वान् पुरुष, समस्त राजगण मिलकर (दिवः सूर्या-
नम्) द्यौ लोक, आकाश के शिरोभाग पर जिस प्रकार सूर्य विराजमान
है उसी प्रकार समस्त (दिवः) ज्ञान, प्रकाश और विद्वान् पुरुषों के
सूर्धन्य शिरोमणि, (पृथिव्याः अरतिम्) पृथिवी में जिस प्रकार भीती
अग्नि व्यापक है, और अन्तरिक्ष में जिस प्रकार वायु व्यापक है उसी प्रकार
पृथिवी निवासी प्रजा में (अरतिम्) प्रेम और आदर पूर्वक सबके भीतर
व्याप्त, प्रतिष्ठित (वैश्वानरम्) समस्त विश्व के नेता, समस्त राष्ट्र के नेता
रूप (ऋते जातम्) सत्य व्यवहार, ऋत, वेद ज्ञान और (ऋते)
राज्य नियम में अति विद्वान्, निष्ठ, (अग्निम्) सबके अग्रणी, ज्ञानवान्
(कविम्) क्रान्तदर्शी, मेधावी, (सम्राजम्) अतिप्रकाशमान, सर्वोपरि
सम्राट्, (अतिथिम्) अतिथि के समान, पूजनीय, (जनाबाम् पात्रम्)
समस्त जनों के पालन करने में समर्थ, योग्य पुरुष को (आसन्) युक्त
अर्थात् सबसे मुख्य पद पर (आ जनयन्त) स्थापित करें । श० ४।१।३।१४ ॥
'उपयामगृहीतोऽसि ध्रुवोऽसि ध्रुवक्षितिर्ध्रुवाणां ध्रुवतमोऽच्यु-
तानामच्युतक्षित्तमऽ एष ते योनिर्वैश्वानराय त्वा । ध्रुवं ध्रुवेण
मनसा वाचा सोममवनयामि । अथा न इन्द्र इद्विशोऽसपत्नाः
समनसस्करत् ॥ २५ ॥

वैश्वानरो देवता । (१) याजुषी अनुष्टुप् । गांधारः । (२, ३) विराट् आर्षी

बृहती । मध्यमः ॥

भा०—हे सम्राट् ! पूर्व मन्त्र में कहे सर्वोपरि विराजमान पुरुष !
तू (उपयाम-गृहीतः असि) समस्त राज्यव्यवस्था के नियमों में बद्ध है ।
तू (ध्रुवः असि) तू ध्रुव, स्थिर है, तुझे शत्रुगण उखाड़ नहीं सकते । तू
(ध्रुव-क्षितिः) स्थिर निवासवाला हो अथवा तेरे अधीन यह भूमि सदा स्थिर
रूप से रहे । तू (ध्रुवाणां ध्रुवतमः) समस्त स्थिर, अचलरूप से रहने
वालों में सबसे अधिक स्थिर, प्रतिष्ठित, तू (अच्युतक्षित्तमः) शत्रुओं

के आक्रमण से भी अपने आसन से च्युत न होनेवाले, न विनष्ट होनेवाले राजाओं में से भी सबसे अधिक दृढ़ है। (एषः ते योनिः) यह तेरा पद या प्रतिष्ठा स्थान है। हे उत्तम पुरुष ! (त्वा) तुझको मैं (वैश्वानराय) समस्त प्रजाओं के नेतृपद पर नियुक्त करता हूँ। (ध्रुवेण मनसा) मैं ध्रुव, स्थिर चित्त से और (वाचा) वाणी से (सोमम्) सबके प्रेरक, प्रवर्तक राजा को (भव नयामि) अभिषिक्त करता हूँ, पद पर प्रतिष्ठित करता हूँ। (अथ) अब, इसके पश्चात् (नः इन्द्रः) तू हमारा इन्द्र, ऐश्वर्यवान् राजा होकर (इत्) ही (विशः) समस्त प्रजाओं को (अस-पत्नाः) शत्रुरहित, (समनसः) समान चित्त वाला, प्रेमयुक्त (करत्) करे, बनावे ॥ शत० ४ । २ । ३ । २४ ॥

ईश्वर पक्ष में—हे ईश्वर ! तू यम नियमों से, शास्त्र-सिद्धान्तों से स्वीकृत है। तू ध्रुव, स्थिर, अविनाशी है। आकाश, काल, आत्मा आदि अविनाशी पदार्थों में स्वयं अविनाशी होकर उनमें व्यापक है। उसको मैं एकाग्रचित्त से सबके सोम, सर्व-उत्पादक और सर्वप्रेरक, आनन्दरसरूप से ध्यान करूँ। वह हम सबको प्रेममय एक चित्त बनावे।

यस्ते द्रप्स स्कन्दति यस्तेऽश्रुशुर्ग्रावच्युतो धिषण्योरु-
पस्थात् । अध्वर्यो वा परि वा यः प्रवित्रात्तं ते जुहोमि मनसा
वषट्कृतं स्वाहा देवानामुत्क्रमणमसि ॥ २६ ॥

ऋ० १० । १७ । १२ ॥

देवश्रवा ऋषिः । यज्ञो देवता । स्वराद् ब्राह्मी बृहती । मध्यमः ॥

भा०—हे राजन् ! (ते) तेरा (यः) जो (द्रप्सः) सूर्य के समान तेजस्वी वीर्य और (यः) जो (ते) तेरा (अंशुः) व्यापक सामर्थ्य (धिषण्योः) द्यौ और पृथिवी इन दोनों के (उपस्थात्) समीप से (प्रावच्युतः) विद्वानों, प्रजाओं द्वारा या वीर सैनिकों द्वारा ज्ञात या

प्रकट होता है, और (यः) जो (अध्वर्योः) अध्वर्यु, अखण्डित, अहिंसित सेनापति या महामन्त्री या राज्य से (वा) अथवा (यः) जो (पवित्रात्) पवित्र अर्थात् सत्यासत्य के निर्णय करनेवाले तेरे व्यवहार से ज्ञात होता है (तत्) उस (ते) तेरे (मनसा) मन द्वारा, मनन द्वारा, या ज्ञानद्वारा (वषट्कृतम्) संकल्प किये गये या निश्चित किये गये स्वरूप, सामर्थ्य या बल, अधिकार को (स्वाहा) उत्तम वेदवाणी द्वारा (जुहोमि) तुझे प्रदान करता हूँ । अथवा वह अधिकार नेता पुरुष को प्रदान करता हूँ । हे राजपद ! (देवान्) तू समस्त देवों, राजाओं और विद्वानों में से (उत्क्रमणम्) सबसे अधिक ऊंचा जानेवाला (असि) है । शत० ४ । २ । ४ । १, ५ ॥

‘द्रप्सः’—असौ वा आदित्यो द्रप्सः । श० ७ । ७ । १२० ॥

‘अंशुः’—प्रजापति हं वा एष यदंशुः । सोऽस्य एष आत्मा एव । श० ११ । ५ । ९ । ११ ॥

‘अध्वर्युः’—राज्यं वा अध्वर्युः तै० ३ । ८ । ५ । १ ॥ मनोऽध्वर्युः । श० १ । ५ । २१ ॥

‘ग्रावा’—वज्रो वै ग्रावा । श० ११ । ५ । ९ । ७ ॥ विशो ग्रावाणः । श० ३ । ३ । ३ ॥ विद्वांसो हि ग्रावाणः । श० ३ । ९ । ३ । १४ ॥

‘वषट्कृतम्’—त्रयो वै वषट्काराः वज्रो धामच्छद्रिक्तः । ऐ० ३ । ७ ॥ वज्रो वै वषट्कारः । ऐ० ३ । ८ ॥

‘पवित्रात्’—पवित्रं वै वायुः । तै० ३ । २ । ५ । ११ ॥

‘प्राणाय’ मे वर्चोदा वर्चसे पवस्व ‘व्यानाय’ मे वर्चोदा वर्चसे पवस्व ‘हानाय’ मे वर्चोदा वर्चसे पवस्व ‘वाचे’ मे वर्चोदा वर्चसे पवस्व ‘ऋतुदत्ताभ्यां’ मे वर्चोदा वर्चसे पवस्व ‘श्रोत्राय’ मे वर्चोदा वर्चसे पवस्व ‘चक्षुभ्यां’ मे वर्चोदसौ वर्चसे पवेथाम् ॥ २७ ॥

१आत्मने मे वर्चोदा वर्चसे पवस्वौ^२ जसे मे वर्चोदा वर्चसे पव-
स्वा^३ युषे मे वर्चोदा वर्चसे पवस्व^४ विश्वाभ्यो मे प्रजाभ्यो वर्चो-
दसौ वर्चसे पवेथाम् ॥ २८ ॥

२७—यज्ञपतिदेवता । (१, २, ६) आसुर्यनुष्टुप् । गान्धारः । (३, ७)
आसुर्युष्णिक् । ऋषभः । (४) साम्नी गायत्री । (५) आसुरी गायत्री । षड्जः

२८—यज्ञपतिदेवता । समूहेन ब्राह्मी बृहती । मध्यमः ॥

भा०—अब राजा अपने अधीन नियुक्त पुरुषों को अपने राष्ट्र रूप शरीर के अंग मान कर इस प्रकार कहता है । जिस प्रकार शरीर में मुख्य प्राण है, वह आत्मा से उतर कर है, उसी प्रकार आत्मा के समान राजा के समीप का पद 'उपांशु' कहा है । हे उपांशु ! उपराज ! हे सभाध्यक्ष ! तू (वर्चोदाः) वर्चस, तेज का देने वाला है, तू (मे) मेरे (प्राणाय) शरीर में प्राण के समान राष्ट्र में मुख्य कार्य के लिये (पवस्व) उद्योग कर । हे (वर्चोदाः) मुझे बल देने वाले ! या बल की रक्षा करने वाले ! तू (व्यानाय) शरीर में व्यान के समान मेरे राष्ट्र-व्यापक प्रबंध के (वर्चसे) बल, तेज की वृद्धि के लिये (पवस्व) उद्योग कर । हे (वर्चोदाः) बल और अन्तर्नियन्त्रण के अधिकारी पुरुष ! (मे उदानाय वर्चसे) शरीर में उदान वायु के समान, आक्रमणकारी बल की वृद्धि के लिये तू उद्योग कर । हे (वर्चोदाः) ज्ञान रूप तेज के प्रदान करने वाले । उस वायु पद के अधिकारी विद्वान् पुरुष ! तू (मे वाचे वर्चसे) शरीर में वाणी के समान वेदज्ञान रूप मेरे तेज की वृद्धि के लिये (पवस्व) उद्योग कर । हे (वर्चोदाः) तेज और बलप्रद मित्रावरुण पद के अधिकारी पुरुष ! तू (क्रतु-दक्षाभ्यां) ज्ञान वृद्धि और बल वृद्धि और (वर्चसे) तेज की वृद्धि के लिये (पवस्व) उद्योग कर । हे (वर्चोदाः) बलप्रद 'आश्विन' पद के अधिकारी पुरुष ! तू मे (श्रोत्राय वर्चसे) शरीर में

श्रोत्र के समान राष्ट्र में परस्पर एक दूसरे के दुःख सुख श्रवण करने का तेज की वृद्धि के लिये (पवस्व) उद्योग कर । हे (वर्चोदसौ) तेज के देने हारे शुक्र और मन्थी पद के अधिकारी पुरुषो ! तुम दोनों (चक्षुभ्याम्) शरीर में आंखों के समान कार्य करने वाले अधिकारियों के (वर्चसे) बल वृद्धि करने के लिये (पवेथाम्) उद्योग करो । हे (वर्चोदाः) तेज, बल देने हारे ' आग्रयण ' पद के अधिकारी पुरुष ! तू (मे आत्मने वर्चसे पवस्व) तू मेरे आत्मा या देह के समान राष्ट्र या राजा के बल की वृद्धि के लिये उद्योग कर । हे (वर्चोदाः) तेज देने वाले उक्थ्य पद के अधिकारी पुरुष ! (ओजसे मे वर्चसे पवस्व) मेरे शरीर में ओजस् के समान राष्ट्र के ओजस्, पराक्रम, वीर्य के बढ़ाने के लिये तू उद्योग कर । हे (वर्चोदाः) तेज के बढ़ाने वाले ध्रुव पद के अधिकारी पुरुष ! तू (आयु मे वर्चसे पवस्व) मेरे शरीर में आयु के समान राष्ट्र के दीर्घ जीवन की वृद्धि के लिये उद्योग कर । हे (वर्चोदाः) तेज के बढ़ाने वाले पूतष्ट्व और आहवनीय पद के अधिकारी पुरुषो ! आप दोनों (मे विश्वाम्यः प्रजाभ्यः वर्चसे पवेथाम्) मेरी समस्त प्रजाओं के तेज बल बढ़ाने का उद्योग करो ।

शरीर में जितने प्राण कार्य करते हैं तदनुरूप राष्ट्र में अधिकारियों को स्थापित करने का वर्णन मन्त्र ३ से २६ तक किया गया है । जिसका तुलनात्मक सार नीचे देते हैं ।

शरीरगत प्राण	राष्ट्रगत पद नाम	मन्त्र संख्या
१ प्राण	उर्पांशु सवन	... देखो मन्त्र ३, ४, ५,
२ व्यान

शरीरगत प्राण	राष्ट्रगत पद नाम	मन्त्र संख्या
३ उदान	अन्तर्यामि	६, ७,
४ वाक्	इन्द्र वायु	८,
५ क्रतु-दक्ष	मित्रावरुण	९, १०,
६ श्रोत्र	आश्विन	११,
७ चक्षुः	शुक्रामन्थिन्	१२, १३, १४, १५, १६, १७, १८,
८ आत्मा	आग्रयण	१९, २०, २१,
९ ओजस्	उक्थ्य	२२, २३,
१० आयुष्	ध्रुव	२४, २५,
११ प्रजा	पूतभृत्-आहवनीय	२६,

१ कौऽसि कतमोऽसि कस्यासि को नामासि । ॥ यस्य ते नामाम-
न्महि यं त्वा सोमेनातीतृपाम । २ भूर्भुवः स्वः सुप्रजाः प्रजाभिः
स्याथं सुवीरो वीरैः सुपोषः पोषैः ॥ २९ ॥

प्रजापतिदेवता । (१) आर्ची (२) मुरिक् साम्नी पंक्तिः । पंचमः ॥

भा०—राजा नियुक्त अधिकारी का और अधिकारी लोग राजा का परस्पर परिचय प्राप्त करें । हे राजन् ! तूः (कः असि) कौन है ? (और कतमः) अपने वर्ग में से कौन सा (असि) है ? (कस्य असि) किस

पिता का पुत्र है । (कः नाम असि) तेरा शुभ नाम क्या है ? (यस्य ते) जिस तेरा (नाम) शुभ नाम (अमन्महि) हम जानें (यं) जिस (त्वा) तुझको (सोमेन) सर्वप्रेरक राजपद करके (अतीतृपाम) हम तुझे तृप्त, सन्तुष्ट करें ।

इसी प्रकार राजा भी प्रत्येक अधिकारी का परिचय करे । तू कौन है ? किस वर्ग का है ? किसका पुत्र है ? नाम क्या है ? जिसका वह राजा नाम जाने और जिसको (सोमेन) राज की ओर से दिये जाने वाले धनवा अन्न द्वारा वह तृप्त करे । मैं राजा (भूः) भूमि, (भुवः) अन्तरिक्ष (स्वः) सर्व प्रेरक सूर्य तीनों के ऐश्वर्य से युक्त होकर (प्रजाभिः) इन प्रजाओं से (सु-प्रजाः) उत्तम प्रजा से सम्पन्न (स्याम्) होऊँ । (वीरैः) इन वीर पुरुषों द्वारा मैं (सुवीरः स्याम्) उत्तम वीर होऊँ । (पौत्रैः) इन पोषक ऐश्वर्यवान् पुरुषों से मिलकर मैं (सुपोषः स्याम्) राष्ट्र का पोषक, समृद्धिवान् हो जाऊँ । उन्वट और महीधर के मत से 'कः' प्रजापति है ।

१ उपयामगृहीतोऽसि मध्वे त्वो २ पयामगृहीतोऽसि माधवाय त्वो ३ पयामगृहीतोऽसि शुक्राय त्वो ४ पयामगृहीतोऽसि शुचये त्वो ५ पयामगृहीतोऽसि नभसे त्वो ६ पयामगृहीतोऽसि नभस्याय त्वो ७ पयामगृहीतोऽसि तपो त्वो ८ पयामगृहीतोऽस्युर्जे त्वो ९ पयामगृहीतोऽसि सहसे त्वो १० पयामगृहीतोऽसि सहस्याय त्वो ११ पयामगृहीतोऽसि तपसे त्वो १२ पयामगृहीतोऽसि तपस्याय त्वो १३ पयामगृहीतोऽस्य थंहसस्पतये त्वा ॥ ३० ॥

प्रजापतिर्ऋषिः । १, ३-५, ६, ११ । साम्यो गायत्र्यः । षड्जः (२, ६, १०, १२)

आसुर्योऽनुष्टुभः । गांधारः । ७, ८, याजुष्यौ पक्षौ । पंचमः ।

१३ आसुर्युष्णिक् । ऋषभः ॥

३०—मध्वे त्वा लिङोक्तदेवतानि त्रयोदश ।

भा०—प्रजा और राजा के राज्य तन्त्र का संवत्सर रूप से वर्णन करते हैं तदनुसार राज्य के कार्यकर्त्ताओंकी नियुक्ति कहते हैं । हे योग्य पुरुष ! तू (उपयामगृहीतः असि) राज्यव्यवस्था के नियमों द्वारा नियुक्त किया जाता है । (त्वा मधवे) तुझे 'मधु' पद के लिये नियुक्त करता हूँ । (त्वा माधवाय) तुझको 'माधव' पद के लिये नियुक्त करता हूँ । (त्वा शुक्राय) तुझको 'शुक्र' पद के लिये नियुक्त करता हूँ । (त्वा शुचये) तुझको 'शुचि' पद के लिये नियुक्त करता हूँ । (ऊर्जे त्वा) तुझे 'ऊर्ज' पद के लिये नियुक्त करता हूँ । (इप्ते त्वा) तुझे 'इप्' पद के लिये नियुक्त करता हूँ । (सहसे त्वा) तुझे 'सहस्' पद के लिये नियुक्त करता हूँ । (सहस्याय त्वा) तुझे 'सहस्य' पद के लिये नियुक्त करता हूँ । (तपसे त्वा) तुझे 'तपस्' पद के लिये नियुक्त करता हूँ । (तपस्याय त्वा) तुझे 'तपस्य' पद के लिये नियुक्त करता हूँ । और (अहंसस्पतये त्वा) तुझे 'अहंसस्पति' पद के लिये नियुक्त करता हूँ । शत० ४ । ३ । १ । १—२ ॥

इस प्रकार राजा अपने अधीन १३ पदाधिकारियों को नियुक्त करता है और ये १३ पदाधिकारी राजा ही के मुख्य अधिकार के १३ विभाग हैं इसलिये ये १३ हों अधिकार राजा को भी प्राप्त हो जाते हैं ।

जैसे संवत्सर या वर्ष में ६ ऋतुएं और प्रत्येक ऋतु में दो २ मास हैं और १३वां मलमास है उसी प्रकार प्रजापति राजा के अधीन ६ सदस्य और प्रत्येक के अधीन दो २ अधिकारी नियुक्त हैं । जिनमें एक सेनानी, दूसरा ग्रामणी अर्थात् एक सेनापति दूसरा नगराध्यक्ष हो । परन्तु ये समस्त अधिकार राजा को भी प्राप्त हैं अतः प्रत्येक ऋतु भी राजा का एक रूपान्तर है ।

(१) 'मधु, माधव'—तस्य (अग्नेः) रथगृत्सश्च रथोजाश्च सेनानी-ग्रामण्यौ इति वासन्तिकौ तावत् । शत० ८ । १ । १ । १६ ॥ एतौ एवं

वासन्तिकौ मासौ । स यद् वसन्ते ओषधयो जायन्ते वनस्पतयः पच्यन्ते तेनोहैतौ मधुश्च माधवश्च ॥ श० ४ । ३ । १ । १४ ॥

(२) 'शुक्रः', 'शुचिः'—एतौ (शुक्रश्च शुचिश्च) एवं ग्रैष्मौ मासौ । स यदेतयोर्वलिष्ठं तपति तेनोहैतौ शुक्रश्च शुचिश्च । श० ४ । ३ । १ । १५ ॥ तस्य वायोः रथस्वनश्च रथेचित्रश्च सेनानीग्रामण्यौ । इति ग्रैष्मौ तावृत् । श० ८ । ६ । १ । १७ ॥

(३) 'नभः', 'नभस्यः'—तस्यादित्यस्य रथप्रोतश्चासमरथश्च सेनानीग्रामण्यौ इति वार्षिकौ तावृत् । श० ८ । ६ । १ । १८ ॥ एतौ (नभश्च नभस्यश्च) एव वार्षिकौ मासौ अमुतो वै दिवा वर्णति तेनोहैतौ नभश्च नभस्यश्च । श० ४ । ३ । १ । १६ ॥

(४) 'इषः', 'ऊर्जः'—एतावेव शारदौ स यच्छरद्वर्गस ओषधयो पच्यन्ते तेनोहैताविषश्चोर्जश्च । श० ४ । ३ । १ । ३ ॥ तस्य तार्क्ष्यश्चरिषि नेमिश्च सेनानीग्रामण्यौ इति शारदौ तावृत् । श० ८ । ६ । १ । १८ ॥

(५) 'सहः', 'सहस्यः' ।—तस्य सेनजिच्च सुगेणश्च सेनानीग्रामण्यौ हेमन्तिकौ तावृत् । श० ८ । ६ । १ । ७ ॥ एतौ एव हेमन्तिकौ स यद् हेमन्त इमाः प्रजा सहसैव स्वं वशमुपनयते तेनोहैतौ सहश्च सहस्यश्च । श० ४ । ३ । १ । १८ ॥

(६) 'तपः', 'तपस्यः'—एतौ एव शैशिरौ स यदेतयोर्वलिष्ठं दद्याति तेनोहैतौ तपश्च तपस्यश्च । श० ४ । ३ । १ । १९ ॥

संवत्सर के अंशों और प्रजापालक राजा के नियत पदाधिकारी पुरुषों की तुलना को साथ दिये मानचित्र से देखें ।

मं० ३०]

सप्तमोऽध्यायः

२६३

ऋतु नाम	मास नाम	विशेष नाम	पद नाम सेनानी, ग्रामणी
१ वसन्त	चैत्र	मधु	रथगृत्स सेनानी
	वैशाख	माधव	रथोजा ग्रामणी
२ ग्रीष्म	ज्येष्ठ	शुक्र	रथस्वन सेनानी
	आषाढ	शुचि	रथेचित्र ग्रामणी
३ वर्षा	श्रावण	नभस्	रथप्रोत सेनानी
	भाद्र	नभस्य	असमरथ ग्रामणी
४ शरद्	आश्विन, कुमार	इष	ताक्ष्य सेनानी
	कार्तिक	ऊर्ज	अरिष्टनेमि ग्रामणी
५ हेमन्त	मार्गशीर्ष	सहस्	सेनजित् सेनानी
	पौष	सहस्य	सुणेण ग्रामणी
६ शिशिर	माघ	तप
	फाल्गुन	तपस्य
७	मलमास	अहंसस्पति

अप्सरा नाम, संकेत	हेति, प्रहेति	दिशा	नेतारौ
पुञ्जिकस्थला, सेना क्रतुस्थला, समिति	दक्ष्ण पशु हेति पौरुषेय वध प्रहेति	पूर्वा	अग्नि हरिकेश
मेनका द्यौ सहजन्या पृथिवी	यातुधान हेति रक्षांसि प्रहेति	दक्षिणा	विश्वकर्मा वायु
प्रम्लोचन्ती अहः अनुम्लोचन्ती रात्रि	व्याघ्र हेति सर्प प्रहेति	पश्चिमा	विश्वन्यवस् आदित्य
विश्वाची वेदि धृताची स्रुक्	आपः हेति वात प्रहेति	उत्तरा	संयद्वसु यज्ञ
उर्वशी आहुति पूर्वचिन्ती दक्षिणा	अवस्फूर्जन् विद्युत्	उपरि	अर्वाङ्गवसु पर्जन्य
.....	अधः
.....	मध्य

इन्द्राग्नीऽ आगतं सुतं गीर्भिर्नभो वरेण्यम् । अस्य पातं धिये-
षिता । उपयामगृहीतोऽसीन्द्राग्निभ्यां त्वेष ते योनिरिन्द्राग्निभ्यां
त्वा ॥ ३१ ॥ ऋ० ३ । १२ । १ ॥

विश्वामित्र ऋषिः । इन्द्राग्नी देवतः । त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—हे (इन्द्राग्नी) इन्द्र ! सेनापते ! और हे अग्ने ! अग्रणी नेतः !
विद्वन् ! आप दोनों (सुतम्) अभिषिक्त हुए (गीर्भिः) नाना वाणियों,
स्तुतियों द्वारा या प्रजा या अधिक सभासदों की सम्मतियों द्वारा (वरेण्यम्)
वरण करने योग्य, सर्वश्रेष्ठ (नभः) सबको एक सूत्र में बांधने वाले,
अथवा आदित्य के समान तेजस्वी इस पुरुष के समीप (आगतम्) प्राप्त
होओ और उसके अधीन रहकर (धिया) अपनी प्रज्ञा या कर्म, कर्त्तव्य
द्वारा (इषिता) प्रेरित होकर (अस्य) इसकी आज्ञा का (पातम्)
पालन करो । उसको अपना राजा स्वीकार करो । (उपयाम-गृहीतः असि)
हे पुरुष ! तू राज्य की व्यवस्था द्वारा बद्ध है । (त्वा इन्द्राग्निभ्याम्)
तुझ को इन्द्र और अग्नि दोनों पदों पर शासन करने के लिये नियुक्त
करता हूँ । (एषः ते योनिः) यह तेरा आश्रय स्थान या पद है । (त्वा)
तुझको मैं (इन्द्राग्निभ्याम्) इन्द्र और अग्नि दोनों अधिकार पदों के
लिये नियुक्त करता हूँ । शत० ४ । ३ । १ । २३-२४ ॥

१ आ घा ये ऽअग्निमिन्धते स्तृणन्ति बर्हिर्ननुषक् । येषामिन्द्रो
युवा सखा । २ उपयामगृहीतोऽस्यग्नीन्द्राभ्यां त्वेष ते योनिर-
ग्नीन्द्राभ्यां त्वा ॥ ३२ ॥ ऋ० ८ । ४५ । १ ॥

त्रिशोक ऋषिः । विश्वेदेवा देवताः । (१) आर्षी गायत्री । षड्जः ।

(२) उष्णिक् । ऋषभः ॥

भा०—(ये) जो विद्वान् पुरुष (घ) नित्य (अग्निम् इन्धते)

३२—आघा त्रिशोक आग्नेन्द्राम् । सर्वा०

अग्नि के समान तेजस्वी पुरुष को प्रदीप्त करते, अधिक बलवान् करते हैं और जो (आनुपक्) पदों के क्रम से (बर्हिः) आसनों को (आस्तृणन्ति) योग्य पुरुषों के लिये बिछाते हैं। (येषाम्) जिनका (इन्द्रः) ऐश्वर्यवान् राजा (युवा) सदा तरुण, सदा उत्साही, नित्य बलशाली, (सखा) मित्र है वे (आनुपक्) राजा के अधीन उसके अनुकूल रहकर क्रम से, उत्तरोत्तर (बर्हिः स्तृणन्ति) योग्य पदों को योग्य आसन देते हैं। (उपयाम-गृहीतः असि० इत्यादि) पूर्ववत् ॥

१ ओमासश्चर्षणीधृतो विश्वे देवास आगत । दाश्वाशंसो दाशुपः सुतम् । उपयामगृहीतोऽसि विश्वेभ्यस्त्वा देवेभ्यः एष ते योनिर्विश्वेभ्यस्त्वा देवेभ्यः ॥ ३३ ॥

ऋ० १।३।७ ॥

मधुच्छन्दा ऋषिः । विश्व देवा देवताः । (१) आर्षी गायत्री । षड्जः ।

(२) आर्ची बृहती । मध्यमः ॥

भा०—हे (विश्वे देवासः) समस्त विद्वान् पुरुषो ! अधिकारी राजगण ! आप लोग (ओमासः) राष्ट्र के रक्षक और (चर्षणीधृतः) समस्त मनुष्यों को नियम या व्यवस्था में रखने वाले हो । आप लोग (दाशुपः) अपने को अन्न, धन आदि देने वाले राजा के प्रति (दाश्वांसः) उसको बल, ऐश्वर्य देने वाले हो । आप लोग (सुतम्) सुत, अर्थात् अभिषिक्त राजा के अधीन (आगत) आओ । हे पुरुष ! तू (उपयामगृहीतः) राज्य व्यवस्था द्वारा बद्ध है । (त्वा) तुझे (विश्वेभ्यः देवेभ्यः) समस्त देवों, विद्वानों अधिकारी राजाओं के लिये सर्वोपरि नियुक्त करता हूँ । (ते एषः योनिः) तेरा यह उच्च पद है । (विश्वेभ्यः देवेभ्यः त्वा) समस्त देवों, विद्वानों की रक्षा के लिये तुझे नियुक्त करता हूँ । शत० ४ । ३ । १ । २७ ॥

विद्वानों के पक्ष में—सोम=शिष्य के प्रति । हे विद्वान् पुरुषो !

आप लोग आओ, उसे शिक्षा दो । और हे शिष्य ! (उपयाम-गृहीतः) तू नियम में बद्ध होकर उनके अधीन है । वे विद्वान् ही उसके आश्रय हों ।

विश्वे देवासु आगत शृणुता म इमं हवम् । एदं वह्निर्निषीदत ।
उपयामगृहीतोऽसि विश्वेभ्यस्त्वा देवेभ्य एष ते योनिर्विश्वे-
भ्यस्त्वा देवेभ्यः ॥ ३४ ॥ ऋ० १ । ४१ । १३ ॥

गृत्समद ऋषिः । विश्वेदेवा देवताः । (१) आर्षी गायत्रा । पङ्कजः ।

(२) निचृदार्थ्युष्णक् । ऋषभः ॥

भा०—हे (विश्वे देवासः) समस्त विद्वान् देवगण ! प्रजाजनो ! आप लोग (आगत) आओ । (मे) मेरी (इदं हविः) इस अभ्यर्थना को (शृणुत) सुनो । (उपयामगृहीतः असि० इत्यादि) पूर्ववत् ।

इन्द्र मरुत्वऽ इह पाहि सोमं यथा शार्याते अपिबः सुतस्य ।
तव प्रणीती तव शूर शर्मन्नाविवासन्ति क्वयः सुयज्ञाः । उप-
यामगृहीतोऽसीन्द्राय त्वा मरुत्वत एष ते योनिरिन्द्राय त्वा
मरुत्वते ॥ ३५ ॥ ऋ० ३ । ५१ । ७ ॥

प्रजापतिरिन्द्रो देवता । (१) निचृदार्षी त्रिष्टुप् । धैवतः । (२) आर्ष्युष्णक् । ऋषभः ॥

भा०—हे (मरुत्वः इन्द्र) समस्त मरुद्गण अर्थात् प्रजागण या सैन्य के स्वामी इन्द्र ! सेनापते ! (इह) इस अवसर पर भी (सोमम्) सर्वप्रेरक राजा की (पाहि) रक्षा कर, या उसको स्वीकार कर । जिस प्रकार (शार्याते) वाणों द्वारा शत्रु पर आक्रमण करने के अवसर पर भी (सुतस्य अपिबः) सुत अर्थात् राजा के पद को स्वीकार किया था । हे (शूर) शूरवीर पुरुष ! तेरी (प्रणीती) उत्कृष्ट नीति से और (तव शर्मन्) तेरी शरण में (सु-यज्ञाः) उत्तम यज्ञशील, ईश्वरोपासक, या उत्तम दानशील, या उत्तम राष्ट्रपति, या उत्तम संग्रामकारी योद्धा लोग

३५—इन्द्र मरुत्वश्चतस्रं वैश्वामित्र एन्द्रमारुतास्त्रिष्टुभः । सर्वा० ॥

और (कवयः) क्रान्तदर्शी ऋषि, महर्षि, विद्वान् पुरुष (आ विवासन्ति) रहें, तेरी आज्ञा का पालन करें । हे शूरवीर पुरुष ! (उपयाम-गृहीतः असि) राज्यव्यवस्था द्वारा तुझे नियुक्त किया जाता है । (इन्द्राय मरुत्वते) प्रजाओं के या वायु के समान तीव्र सैनिकों के स्वामी पद के लिये (त्वा) तुझे नियुक्त करता हूँ । (एषः ते योनिः) यह तेरा आश्रयस्थान और पद है (इन्द्राय मरुत्वते) प्रजाओं और वीर सुभटों के स्वामी पद के लिये तुझे स्थापित करता हूँ । शत० ४ । ३ । ३ । १-१३ ॥

‘शार्याते’—शर्या अंगुलयः । शर्या इषवः । शृ हिंसायाम् (क्रयादिः) शृणाति पापम् इति देवराजः । शर्याभिः बाणैरतन्नि यस्मिन् तत् शर्यातम् शुद्धकर्म । अथवा शर्याभिः निवृत्तानि कर्माणि शर्याणि तान्यतति व्याप्नोति स शर्यातस्तस्मिन्, इति दयानन्दर्षिः ।

यहां ‘शार्यात’ शब्द से महीधर, ग्रीष्मिथ आदि का मनु के पौत्र, शर्याति के पुत्र का ग्रहण करना असंगत है, क्योंकि शतपथादि में भी उसका उल्लेख नहीं है ॥

^१मरुत्वन्तं वृषभं वावृधानमकवारिं दिव्यं शासमिन्द्रम् । विश्वासाहमवसे नूतनायोग्रं सहोदामिह तं हुवेम । ^२उपयामगृहीतोऽसीन्द्राय त्वा मरुत्वतऽएष ते योनिरिन्द्राय त्वा मरुत्वते । ^३उपयामगृहीतोऽसि मरुतान्तवौजसे ॥ ३६ ॥ ऋ० ३ । ४७ । ५ ॥

विश्वामित्र ऋषिः । प्रचापतिदेवता । (१) विराट् आर्षी त्रिष्टुप् । धेवताः ।

(२) आर्षी उष्णिक् । (३) साम्ना उष्णिक् । ऋषभः ॥

भा०—(मरुत्वन्तम्) मरुद्गण, प्रजाओं और सुभटों के स्वामी (वृषभम्) स्वयं सर्वश्रेष्ठ, सब सुखों के वर्पक, (वावृधानम्) सबको बढ़ानेवाले और स्वयं बढ़नेवाले, वृद्धिशील, उदयशील, विजिगीषु, (अक

वारिम् = अकव-अरिम्, अक-वारिम्) अकव अर्थात् अधर्मात्मा के शत्रु, अथवा अक = दुखों के वारण करनेवाले (दिव्यम्) दिव्य गुणवान् तेजस्वी, (विश्वासाहम्) समस्त शत्रुओं के विजयी, (सहोदाम्) बल-पूर्वक, वा सेना के दमन में समर्थ (शासम्) शासनकारी (तम्) उस पुरुष को हम (इह) इस अवसर पर (इन्द्रम् हुवेम) इन्द्र सेनापति या इन्द्र नाम से बुलाते हैं । (उपयाम-गृहीतः असि इन्द्राय त्वा मरुत्वते । एषः ते योनिः । इन्द्राय त्वा मरुत्वते) इति पूर्ववत् । (उपयामगृहीतः असि) तू राज्य की व्यवस्था द्वारा बद्ध है । (त्वा) तुझको (मरुताम्) वायु के समान तीव्र गतिशील सुभटों और प्रजाओं के (ओजसे) ओज, पराक्रम के कार्य के लिये नियुक्त करता हूँ ॥ शत० ४ । ३ । ३ । १४ ॥

‘सजोषा इन्द्र सगणो मरुद्भिः सोमं पिव वृत्रहा शूर विद्वान् । जहि शत्रूँ १५ रप मृधो नुदस्वाथाभयं कृणुहि विश्वतो नः । १६ उपयामगृहीतोऽसीन्द्राय त्वा मरुत्वत एष ते योनिरिन्द्राय त्वा मरुत्वते ॥ ३७ ॥

क्र० ३ । ४७ । २ ॥

विश्वामित्र ऋषिः । मरुत्वान् इन्द्रः प्रजापतिर्देवता । (१) निचृदाषीं त्रिष्टुप् । प्राजापत्या त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—(सजोषाः) सबको समान भाव से प्रेम करनेवाले (मरुद्भिः सगणः) वायुओं के समान तीव्र गतिमान् सैनिकों के गुणों से युक्त होकर हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवान् सेनापते ! (शूर) शूरवीर ! आप) विद्वान्, ज्ञानवान्, सब शत्रु के कल, बल, छल को जानते हुए (वृत्रहा) नगरों को घेरनेवाले शत्रुओं का नाश करके (सोमं) सोम अर्थात् राज्य-ऐश्वर्य के उत्तम पद को (पिव) पान कर, स्वीकार कर और तू (शत्रून् जहि) शत्रुओं को नाश कर । (मृधः) संग्रामों या संग्रामकारी शत्रुओं को (अप नुद) मार मगा । (अथ) और (नः) हमें (विश्वतः) सब तरफ से (अभयम्) भयरहित (कृणुहि) कर । (उपयाम० इत्यादि) पूर्ववत् ॥

१ मरुत्वो॑र॥ इन्द्र वृष॑भो रणा॑य पि॒त्रा सोम॑मनुष्वध॑म्मदा॑य ।
आसि॑ञ्चस्व ज॒ठरे मध्व॑ ऊ॒र्मि त्वथं॑ राजा॑सि प्रति॑पत्सु॒तानाम् ।
२ उप॒याम॑गृहीतोऽसीन्द्रा॑य त्वा मरु॑त्वत एष ते योनि॑रिन्द्रा॑य
त्वा मरु॑त्वते ॥ ३८ ॥

विश्वामित्र ऋषिः । मरुत्वान् इन्द्रः प्रजापतिर्देवता । (१) निचृदापीं त्रिष्टुप् ।

(२) प्राजापत्या त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—हे (इन्द्र) इन्द्र ! सेनापते ! (मरुत्वान्) उत्तम प्रजा और सेनाओं का स्वामी, (वृषभः) सर्वश्रेष्ठ, बलवान् या शत्रुओं पर शरवर्षा करनेवाला तू (अनु-स्वधम्) अपनी धारणशक्ति के अनुसार (मदाय) सबको सन्तुष्ट या हर्षित करने के लिये, (रणाय) संग्राम के लिये (सोमम्) 'सोम' ओषधि रस के समान बलकारी राजा के अधिकार को (पिब) पान कर, स्वीकार कर । (जठरे) पेट में जिस प्रकार (मध्वः ऊर्मिम्) अन्न के खालेने पर बल उत्पन्न होता है उसी प्रकार तू अपने (जठरे) जठर अर्थात् वंश में (मध्वः) अन्न और शत्रु के दमन सामर्थ्य के (ऊर्मिम्) उद्योग को (आ सिञ्चस्व) प्रवाहित कर । (त्वम्) तू (सुतानाम्) राज्य के समस्त अंगों के (प्रतिपत्) प्रत्येक पद पर (राजा असि) राजा रूप से विद्यमान है । (उपयामगृहीतः ० इत्यादि) पूर्ववत् ॥

१ महाँ२ऽ इन्द्रो॑ नृवदा च॑र्षणि॒प्रा उ॒त द्विव॑र्ही अ॒ग्निनः स॒होभिः॑ ।
अ॒स्मद्र॒य॒ग्वावृ॑धे वी॒र्या॑योरुः पृथुः सु॒कृतः क॒र्तृभिर्भू॑त् । २ उप॒याम॑
म॒गृही॑तोऽसि महेन्द्रा॑य त्वैष ते योनि॑र्महेन्द्रा॑य त्वा ॥ ३९ ॥

क्र० ६ । १९ । १ ॥

भरद्वाज ऋषिः महेन्द्रः प्रजासेनापतिर्देवता । (१) भुरिक् पंक्तिः, पंचमः ।

(२) साम्नी त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

३९—महाँ २ इन्द्रो भरद्वाजा महेन्द्रो त्रिष्टुभम् । सर्वा० ॥

भा०—(महान् इन्द्रः) महान् ऐश्वर्यवान् राजा (नृवत्) नेता पुरुषों का स्वामी, अथवा नेता के समान (चर्षणीप्राः) समस्त लोकों और प्रजाजनों को पूर्ण करने वाला (उत) और (द्वि-बर्हाः) दोनों प्रजा और राजा के अधीन-शासकजन दोनों को बढ़ाने वाला या दोनों का स्वामी, (सहोभिः अमिनः) अपने शत्रु-दमनकारी सामर्थ्यों और बलों में भूमित पराक्रमी (अस्मद्रयक्) हमारे प्रति कृपालु होकर (वावृधे) वृद्धि को प्राप्त हो । वह (वीर्याय) वीर्य के अधिक होजाने से ही (उरुः) विशाल (पृथुः) विस्तृत राज्यवाला और (कर्त्तभिः) उत्तम कार्यकर्त्ताओं के सहाय से (सु-कृतः) उत्तम राज्य-कार्यकर्त्ता (भूत् हो) हो । हे राजन् ! तू (उपयाम-गृहीतः असि) राज्य के समस्त नियमों द्वारा बद्ध है । (त्वा) तुझको (महेन्द्राय) महेन्द्र पद के लिये नियत करता हूँ । (एष ते योनिः) यह तेरा आसन है (त्वा महेन्द्राय) तुझे महेन्द्र पद के लिये स्थापित करता हूँ ॥ शत० ४ । ३ । ३ । १८ ॥ उक्त मन्त्र परमेश्वर पक्ष में स्पष्ट है ।

'महो० इन्द्रो यऽओजसा पर्जन्यो वृष्टिमाँ० इव । स्तौमैवित्स-
स्य वावृधे । उपयामगृहीतोऽसि महेन्द्राय त्वैष ते योनिर्महे-
न्द्राय त्वा ॥ ४० ॥

ऋ० ८ । ६ । १ ॥

वत्स श्रुतिः । इन्द्रः प्रजापातिर्देवता । (१) आर्षी गायत्री । (२) विराड् ।

आर्षी गायत्री । षड्जः ॥

भा०—(यः) जो (इन्द्र) ऐश्वर्यवान् राजा (ओजसा) बल से (महान्) महान् है । और (पर्जन्यः इव) मेघ के समान (वृष्टिमान्) प्रजा पर अत्यन्त सुख सम्पत्तियों की वर्षा करनेवाला है । वह (वत्सत्य) अपने राज्य में बसनेवाली, पुत्र के समान प्रजा के किये (स्तौमैः) स्तुति, गुणानुवादों, अथवा संघों द्वारा (वावृधे) वृद्धि को प्राप्त होता है । (उपयामगृहीतः असि० इत्यादि) पूर्ववत् ॥

परमेश्वर पक्ष में—वह बल में सबसे महान्, मेघ के समान समस्त सुखों का वर्षक, उसकी महिमा प्रजा की स्तुतियों से और भी बढ़ती है।

उदु त्यं जातवेदसं देवं वहन्ति केतवः ।

दृशे विश्वाय सूर्यं स्वाहा ॥ ४१ ॥

प्रस्कण्व ऋषिः । सूर्यो देवता । भुरिगार्षी गायत्री । षड्जः ॥

भा०—(त्यं) उस (जातवेदसम्) ऐश्वर्यवान् (देवम्) देव, राजा को (केतवः) ज्ञानवान् पुरुष भी (उद् वहन्ति) अपने ऊपर आदर से धारण करते, उसको अपने सिरमाथे, स्वामी स्वीकार करते हैं । उस (विश्वाय) समस्त कार्यों और प्रजाओं के (दृशे) दर्शन करने या कराने वाले साक्षीरूप (सूर्यम्) सूर्य के समान सर्वग्रेरक राजा को (स्वाहा) सर्वोत्तम कहा जाता है ॥

परमेश्वर पक्ष में—समस्त पदार्थों का दर्शन कराने के लिये जिस प्रकार (सूर्यम्) सूर्य को सर्वश्रेष्ठ कहते हैं और उसको (केतवः) रहिमयें प्राप्त हैं, उसी प्रकार समस्त संसार को दर्शाने वाले उस परमेश्वर को भी 'सूर्य' कहते हैं । समस्त (केतवः) ज्ञान उसी परमेश्वर, वेदों के उत्पत्ति स्थान को ही बतलाते हैं ॥ शत० ४ । ३ । ९ ॥

चित्रं देवानामुदगादनीकं चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्याग्नेः ।
आप्रा द्यावापृथिवीऽअन्तरिक्षं सूर्यऽआत्मा जगत्स्तस्थुषश्च
स्वाहा ॥ ४२ ॥

कुत्स ऋषिः । सूर्यो देवता । भुरिगार्षी त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—(देवानाम्) समस्त देवों, विद्वानों और राज्य के पदाधिकारियों में से यह राजा (चित्रम्) अति पूजनीय (अनीकम्) सर्वशिरोमणि, सबसे मुख्य होकर (उद् अगात्) उदय को प्राप्त होता है । वह (मित्रस्य, वरुणस्य, अग्नेः) मित्र, वरुण और अग्नि इन पदाधिकारियों का भी (चक्षुः)

आंख के समान मार्ग दिखाने वाला या उनपर निरीक्षक रूप से नियुक्त है । वह (द्यावापृथिवी अन्तरिक्षम्) द्यौ, पृथिवी और अन्तरिक्ष, राजा, प्रजा और बीच के शासक सबको (आ अप्राः) पूर्ण करता है वह (सूर्यः) सूर्य के समान सर्वभूतक तेजस्वी (जगतः) जगत् और (तस्थुषः च) स्थावर, पशु और जंगल, पर्वत, नगर आदि समस्त धनों का (आत्मा) आत्मा, अपनाने वाला, स्वामी (स्वाहा) कहा जाता है ॥ शत० ४।३।४।१० ॥

ईश्वर पक्ष में— इस शरीर में आत्मा और ब्रह्माण्ड-शरीर में परमात्मा (देवानाम् अनीकं) समस्त देवों, दिव्य शक्तियों में मुख्य, (चित्रम्) सबका पूजनीय मित्र, वरुण, अग्नि, वायु, जल, और अग्नि सबका (चक्षुः) द्रष्टा और सबका प्रकाशक है । वह द्यौ, पृथ्वी, अन्तरिक्ष सब का पालक है । स्थावर और जंगम सब का आत्मा, सब का स्वामी, सबमें व्यापक है । (स्वाहा) उसकी स्तुति करो । इस देह में—आत्मा (देवानाम्) चक्षु आदि इन्द्रियों का (अनीकम्) नेता । मित्र, वरुण, प्राणापान और जाठर अग्नि का प्रवर्त्तक, शिर, मध्य और चरम भाग तीनों का पालक, पोषक, गतिशील, अंग और स्थिर धातु सब का स्वामी है । वह 'आत्मा' कहाता है । उसका उत्तम रीति से ज्ञान करो ॥

अग्ने नय सुपथा रायेऽस्मान्विश्वा॑नि देव व्रयु॑नानि वि॒द्वान् ।
यु॒यो॒ध्यु॒स्मज्जु॑हुरा॒णमे॒नो भूयि॑ष्ठां ते नम॑ऽउ॒क्लिं वि॒धेम॑ स्वाहा ४३

ऋ० १।१८९।१ ॥ यजु० ५।३६ ॥

आगिरस ऋषिः । अग्निरन्तर्यामी जगदीश्वरो वा देवता । मुरिगार्षी त्रिष्टुप् ।
धैवतः ।

भा०—हे (अग्ने) अग्नि के समान सबके प्रकाशक अग्रणी या दुष्टों के तापदायक ! हे (देव) देव ! राजन् ! (अस्मान्) हमें (राये) ऐश्वर्य प्राप्त करने के लिये (सु-पथा) उत्तम मार्ग से (नय) ले चल ।

तू (विश्वानि वयुनानि) समस्त मार्गों और उत्कृष्ट ज्ञानों को (विद्वान्) जानता है । और (जुहुराणम्) कुटिलता कराने वा करनेवाले (एनः) पाप और पापी पुरुष को (अस्मत्) हम से (युयोधि) दूर कर । (ते) तैलिये हम (भूयिष्ठाम्) बहुत २ (नमः) आदर युक्त (उक्तिम्) वचन (विधेम) प्रयोग करते हैं । (स्वाहा) जिससे तेरा उत्तम यश हो ।

ईश्वर पक्ष में—हे अन्तर्यामिन् ! स्वप्रकाश ! देव ! तू हमें सम्मान से योगसिद्धि प्राप्त करने के लिये आगे बढ़ा । तू हमारे सब कर्म उत्कृष्ट ज्ञानों को जानता है । हमारे हृदय से कुटिल पाप को दूर कर । हम (स्वाहा) वेदवाणी से तेरी बहुत २ स्तुति करते हैं ॥ शत० ४ । १ । ४ । १२ ॥

अयं नोऽग्निर्वरिवस्कृणोत्वयं मृधः पुरऽएतु प्रभिन्दन् ।
अयं वाजाञ्जयतु वाजसातावयथं शत्रूञ्जयतु जर्हृषाणः स्वाहा ॥
यजु० ५ । ६० ।

भा०—व्याख्या देखो अ० ५ । ३७ ॥

रूपेण वो रूपमभ्यागां तुथो वो विश्ववेदा विभजतु । ऋतस्य पुष्य
प्रेतं चन्द्रदाक्षिणा वि स्वः पश्य व्युन्तरिक्षं यतस्व सदस्यैः ॥ ४५ ॥

प्रजापतिदेवता । निचृजगती । निषादः ॥

भा०—हे प्रजाओ और हें सेना के पुरुषो ! (रूपेण) रूप अर्थात् चान्दी आदि मूल्यवान्, एवं प्रिय पदार्थ से (वः) तुम्हारे (रूपम्) वास्तविक रूप, शरीर और उसमें विद्यमान तुम्हारे गुण या शिल्प को (अभि आगाम्) प्राप्त करता हूं । (विश्ववेदाः) समस्त धन ऐश्वर्य का स्वामी या सर्वज्ञ विद्वान्, (तुथः) ज्ञानवृद्ध ब्राह्मण, (वः) तुम्हारे (वि भजतु) नाना प्रकार से धन और ज्ञान का वितरण करे । अथवा (वः)

४५—रूपेण वा दाक्षिणाश्चतुर्णाम् । सर्वा० ॥

विभजतु) तुमको वर्गों में विभक्त करे । तुम सब (ऋतस्थ पथा) ऋत, सत्यज्ञान, यज्ञ, परस्पर संगत, सुव्यवस्था के मार्ग से (प्र इत) आगे बढ़ो, चलो । और (चन्द्र-दक्षिणाः) चन्द्र, सुवर्ण और चांदी आदि की दक्षिणा अर्थात् अपने क्रिया के बदले वेतन प्राप्त करो । हे राजन् ! तू (स्वः) आकाश में विद्यमान तेजस्वी सूर्य को (वि पश्य) विशेष रूप से देख अर्थात् उसके समान तेजस्वी, शत्रुतापक होकर राजपद को जान और उस का पालन कर । और (अन्तरिक्षं वि पश्य) अन्तरिक्ष को भी विशेष रूप से जान । अर्थात् अन्तरिक्ष जिस प्रकार समस्त पृथिवी पर आच्छादित रहता और वायु वृष्टि द्वारा सब को पालता है उसी प्रकार पृथ्वीनिवासी प्रजा का पालन कर । और (सदस्यैः) सभा के सदस्यों द्वारा (यत्स्व) राज्य को उन्नत करने का उद्योग कर ॥ शत० ४ । ३ । १४-१८ ॥

ब्राह्मणमद्य विदेयं पितृमन्तं पैतृमत्यमृषिमार्षेयथं सुधातुदक्षिणम् । अस्मद्राता देवत्रा गच्छत प्रदातारमाविशत ॥ ४६ ॥

विद्वांसो देवताः । भुरिगार्पी त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—मैं राजा (अद्य) इस राज्य कार्य में (पितृमन्तन्) उत्तम पिता, माता, गुरुजनों से युक्त, (पैतृमत्यम्) उत्तम जितेन्द्रिय, पितामह वाले, (ऋषिम्) स्वयं वेद मन्त्रों के द्रष्टा, (आर्षेयम्) ऋषियों के विज्ञान को जानने वाले, (सुधातु-दक्षिणम्) उत्तम सुवर्ण आदि धातु की दक्षिणा प्राप्त करने योग्य, (ब्राह्मणम्) ब्रह्म के ज्ञानी, विद्वान् पुरुष को मैं (विदेयम्) प्राप्त करूँ । हे सेना और प्रजा के पुरुषो ! आप लोग (अस्मद्राताः) हमसे वेतन प्राप्त करके (देवत्रा) विद्वान् पुरुषों को या विद्वान् पुरुषों के पदों को (गच्छत) प्राप्त करो । और (प्रदातारम्) उत्कृष्ट, दानशील अधिकारी के (आविशत) अधीन होकर रहे ॥ शत ४ । ३ । ४ । १९-२० ॥

४६—ब्राह्मणमद्य लिंगोक्तदेवतानि । सर्वा ० ॥

१अग्रये त्वा मह्यं वरुणो ददातु सोऽमृतत्वमशीयायुर्दात्र
 २एधि मयो मह्यम् प्रतिग्रहीत्रे ३रुद्राय त्वा मह्यं वरुणो ददातु
 सोऽमृतत्वमशीय प्राणो दात्र एधि वयो मह्यं प्रतिग्रहीत्रे ४बृह-
 स्पतये त्वा मह्यं वरुणो ददातु सोऽमृतत्वमशीय त्वग्दात्र एधि
 मयो मह्यं प्रतिग्रहीत्रे ५यमाय त्वा मह्यं वरुणो ददातु सोऽमृ-
 तत्वमशीय हयो दात्र एधि वयो मह्यम् प्रतिग्रहीत्रे ॥ ४७ ॥

वरुणो देवता । (१) भुरिक् प्रजापत्या । (२) स्वराट् प्राजापत्या ।

(३) निचृदार्ची । (४) विराड् आर्षी जगती । निषादः ॥

भा०—(१) राजा अपने अधीन पुरुषों को स्वर्ण आदि धन, गौ आदि पशु और वस्त्र और अश्व का प्रदान करता है । (१) (वरुणः) सर्वश्रेष्ठ, हमारे स्वयं अपनी इच्छा द्वारा वृत्त राजा, स्वामी (त्वा) सुवर्ण आदि धन को (मह्यम्) मुझ (अग्रये) अग्रणी नेता पदाधिकारी या अग्नि के समान शत्रुतापकारी पुरुष को (ददातु) प्रदान करे । (सः) वह मैं (अमृतत्वम्) पूर्ण आयु को प्राप्त करूं । (दात्रे आयुः) दाता की दीर्घ आयु हो । और (मह्यम् प्रतिग्रहीत्रे मयः) मुझ ग्रहण करने वाले को सुख हो । (२) पशु और अन्न आदि भोग्य पदार्थ (वरुणः त्वा मह्यं रुद्राय) वरुण राजा मुझे रुद्रस्वरूप शत्रुओं को हलाने वाले वीर पुरुष को (ददातु) प्रदान करे । (सः अमृतत्वम् अशीय) वह मैं अमृत अर्थात् पूर्ण आयु का भोग करूं । (प्राणः दात्रे) दान करने वाले को प्राण, उत्तम जीवन बल प्राप्त हो । (मह्यम् प्रतिग्रहीत्रे वयः) मुझ ग्रहण करने वाले को सुख प्राप्त हो । (३) (वरुणः) राजा वरुण (त्वा) वस्त्र आदि (मह्यं बृहस्पतये ददातु) बृहस्पति, वेदवाणी के पालक, मुझ विद्वान् को दे । जिससे मैं (अमृतत्वम् अशीय) अमृत, पूर्ण आयु का भोग करूं । (त्वग् दात्रे एधि) दानशील, दाता को आवरणकारी वस्त्र आदि समस्त पदार्थ प्राप्त हों ।

(मह्यम् प्रतिग्रहीत्रे मयः एधि) मुझ स्वीकार करने वाले को सुख प्राप्त हो (४) (वरुणः) सर्वश्रेष्ठ राजा (मह्यं यमाय) मुझ राष्ट्रनिबन्ता को हे अश्व ! तुझे (ददातु) प्रदान करे । मैं (अमृतत्वम् अशीय) अमृतत्व या जीवन के सुख प्राप्त करूँ । (हयः दान्ने एधि) दानशील पुरुष को घोड़े प्राप्त हों । (मह्यं प्रतिग्रहीत्रे वयः) और मुझ प्राप्ति स्वीकार करने वाले को सुख, दीर्घायु और बल, वेग हों ॥ शत० ४ । ३ । ४ । २८-३१ ॥

ईश्वर और आचार्य पक्ष में—अग्नि अर्थात् वसु नाम ब्रह्मचारी को आयु प्रदान करे । रुद्र को प्राण का बल दे । बृहस्पति वेदवक्ता को त्वचा की सहनशीलता प्रदान करे । और यम, ब्रह्मचारी को (हयः) उत्कृष्ट ज्ञान का उपदेश करे । जिससे ग्रहण करने वालों को सुख हो और दान देने वाले की वे शक्तियाँ और बढ़ें ॥

कौ०ऽदा०त्कस्मा० अदा०त्कामो०ऽदा०त्कामा०यादात् ।

कामो० दा०ता कामः० प्रतिग्रही०ता कामै०तत्तै० ॥ ४८ ॥

काम आत्मा देवता । आर्ष्युष्णिक । ऋषभः ॥

भा०—[प्रश्न]—(कः) अर्थात् कौन देता है ? और (कस्मै अदात्) किसको देता है ? [उत्तर] (कामः) कामना करनेवाला, अपने मनोरथ पूर्ण करने का इच्छुक स्वामी (अदात्) अपने अधीन पुरुषों को द्रव्य, अन्न आदि प्रदान करता है । और (कामाय) उस नियत द्रव्य को लेने के अभिलाषी पुरुष को ही वह प्रदान करता है । वस्तुतः (कामः दाता) मनोरथ या आवश्यकता वाला पुरुष ही प्रदान करता है । (कामः) इच्छुक या आवश्यकता वाला ही (प्रतिग्रहीता) उस दिये धन को लेता है । (एतत्) यह सब लेन देन का कार्य है (काम) अभिलाषी पुरुष ! हे संकल्प ! हे इच्छा ! (ते) तेरा ही है ॥ शत० ४ । ३ । ४ । ३१-३३ ॥

ईश्वर पक्ष में—(कः अदात् कस्मै अदात्) कौन ? किसको देता है ?

(कामः कामाय अदात्) महान् कमनीमय, संकल्पमय परमेश्वर संकल्प-
कारी इच्छावान् जीव को कर्मफल देता है । सबकी कामना का विषय
परमेश्वर भी 'काम' है वही दाता है । और कामनावान् 'काम' जीव
प्रतिग्रहीता लेनदार है । हे काम ! जीव ! (एतत्) यह वेदाज्ञा सभी तुझ
जीव के लिये ही देता हूँ ।

विवाहादि में स्त्री पुरुष एक दूसरे को अपने आप समर्पण करते हैं ।
वहाँ भी लेने की इच्छावाला लेता, देने की इच्छा वाला अभिलाषुक
प्रेमी अपने को देता है । इत्यादि स्पष्ट है । समस्त लेन देन पारस्परिक
लेन-देन की इच्छा या कामना से ही होता है, अन्यथा नहीं ॥

॥ इति सप्तमोऽध्यायः ॥

[तत्र अष्टात्रत्वारिंशद्वचः]

इति मीमांसातीर्थ-प्रतिष्ठितविद्यालंकार-विरुदोपशोभित-श्रीमत्पण्डितजयदेवशर्मकृते
यजुर्वेदालोकभाष्ये सप्तमोऽध्यायः ॥

अथ षष्ठोऽध्यायः



॥ ओ३म् ॥ उपयामगृहीतोऽस्यादित्येभ्यस्त्वा ।
विष्णोऽउरुगायैष ते सोमस्तथं रक्षस्व मा त्वा दभन् ॥ १ ॥

बृहस्पतिः सोमो देवता । आर्ची पंक्तिः । पञ्चमः ॥

भा०—हे वीर पुरुष ! राजन् ! तू (उपयाम-गृहीतः असि) राज्य-
नियम द्वारा बद्ध है । (त्वा) तुझको (आदित्येभ्यः) आदित्य के समान
तेजस्वी विद्वानों, ब्राह्मणों और प्रजाओं के लिये नियुक्त करता हूँ । हे
(विष्णो) विष्णो ! राष्ट्र में व्याप्त शासनवाले ! हे (उरु-गाय) महान्
कीर्तिवाले ! (एष) यह (सोमः) राजा का पद या राष्ट्र (ते) तेरे
अधीन है । (तम्) उसकी रक्षा कर । हे सोम राजन् ! ये आदित्यगण
तेजस्वी पुरुष (त्वा) तुझको (मा दभन्) विनाश न करें ॥ शत ४ ।
३ । ५ । ६ ॥

‘आदित्याः’—आदित्याः वै प्रजाः तै० १ । ८ । ८ । १ ॥ एते वै
खलु वादित्या यद् ब्राह्मणाः । तै० १ । १ । ९ । ८ ॥

गृहस्थपक्ष में—हे पुरुष ! तू (उपयाम-गृहीतः) विवाह द्वारा मुझ
संघ वर कन्या द्वारा स्वीकृत है । तुझे आदित्य के समान तेजस्वी पुत्रों के
लिये वरण करती हूँ । हे (विष्णो) विद्यादि गुणों में प्रविष्ट ! अथवा
मुझ में गृहस्थरूप से प्रविष्ट पते ! (एष ते सोमः) यह पुत्र गर्भ आदि में
स्थित तेरा ही है, इसकी रक्षा कर । (मा त्वा दभन्) तुझे काम आदि
व्यसन न सतावें ॥

१—विष्णो वैष्णव्यम् । सर्वा० ॥

कदा चन स्तरीरासि नेन्द्र सश्वसि दाशुषे । उपोपेन्नु मघवन्भूय
इन्नु ते दानं देवस्य पृच्यतऽ आदित्येभ्यस्त्वा ॥ २ ॥

ऋ० ८ । ५१ । ७ ॥

गृहपतिर्मघवा इन्द्रो देवता । भुरिक् पंक्तिः । पञ्चमः ॥

भा०—हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवान् राजन् ! तू (कदाचन) कभी भी (स्तरीः) प्रजा का हिंसक (न असि) नहीं है । और (दाशुषे) दान-शील कर-प्रदाता के हित के लिये कर को तू (सश्वसि) स्वीकार करता है । हे (मघवन्) उत्तम धनैश्वर्यसम्पन्न ! (ते देवस्य) तुझ दानशील का (दानम्) दिया हुआ दान (उप-उप इत् नु) अति समीप और (भूयः इत्) बहुत अधिक (पृच्यते) हमें प्राप्त होता है । (आदित्येभ्यः त्वा) तुझ को मैं आदित्यों के समान तेजस्वी पुरुषों या आदान-प्रतिदान करने वाले वैश्य लोगों की रक्षा के लिये नियुक्त करता हूँ ॥ शत० ४ । ३ । ५ । ११ ॥

गृहस्थ पक्ष में—हे इन्द्रपते ! आप (स्तरीः) कभी अपने भावों को नहीं छिपाते । आत्मसमर्पण करने वाले को प्राप्त होते हैं । आप विद्वान् का दिया दान ही सदा मुझे प्राप्त हो । आपको मैं वरती हूँ ॥

कदा चन प्रयुच्छस्युभे निपासि जन्मनी । तुरीयादित्य सर्वनन्त
इन्द्रियमा तस्थावमृतं दिव्यादित्येभ्यस्त्वा ॥ ३ ॥

ऋ० ८ । ५२ । ७ ॥

आदित्यो गृहपतिर्देवता । निचृदार्षी पंक्तिः । पञ्चमः ॥

भा०—हे (आदित्य) आदित्य ! सूर्य ! जिस प्रकार भूमि से जल अपनी रहिमियों से ग्रहण करके पुनः मेघरूप से भूमि पर ही बरसा देता

२—कदा च नादित्यदेवत्ये । सर्वा० ॥

३—‘०मातस्था अमृत’ इति काण्व० ।

है उसी प्रकार प्रजाओं से करादि लेकर प्रजा के उपकार में लगाने हारे आदित्य ब्रह्मचारिन् ! तू (कदा च न) भिक्षा आदि में भी कभी क्या (प्रयुच्छसि) प्रमाद करे ? नहीं । तू कभी प्रमाद मत कर । तू (उभे) दोनों (जन्मनी) जन्मों को (निपासि) पालन कर । हे (तुरीय) तुरीय ! सबसे अधिक उच्च, सबसे तीर्णतम ! चतुर्थ आश्रमवासिन् ! (आदित्य) आदित्य के समान तेजस्विन् ! विद्वन् ! (ते) तेरा (सवनम्) सबको प्रेरणा करने वाला या उत्पन्न करनेवाला या ऐश्वर्यवान् (इन्द्रियम्) इन्द्रिय या वीर्य (दिवि) प्रकाशमय ज्ञान, मनन में (अमृतं) अमृत, अविनाशी, अखण्डरूप में (आ तस्थौ) स्थिर हो । (त्वा) तुझको (आदित्येभ्यः) समस्त आदित्यों अर्थात् ज्ञानी पुरुषों के मुख्य पद पर अभिषिक्त करता हूँ ॥ शत० ४ । ३ । ५ । १२ ॥

उभे जन्मनी— दोनों जन्म, एक माता के गर्भ से, दूसरा आचार्य के गर्भ से । आदित्य पद पर ऐसे पुरुष को अभिषिक्त करें जो द्विज हो, चतुर्थाश्रमसेवी और अखण्ड ब्रह्मचारी हो ॥ शत० ४ । ३ । ५ । १२ ॥

गृहाश्रम पक्ष में स्त्री कहती है—हे पते ! (त्वं कदा च न प्रयुच्छसि) तू कभी प्रमाद न करे तो (उभे जन्मनी निपासि) भूत और भविष्यत् दोनों जीवनों को वचा सकेगा । (यदि ते सवनम् इन्द्रियम् आतस्थौ) यदि तेरा उत्पादक इन्द्रिय, प्रजननाङ्ग वश में रहा तो (आदित्येभ्यः त्वा) आदित्य समान पुत्रों या १२ मासों अर्थात् सदा के लिये तुझे वरती हूँ ॥ यज्ञो देवानां प्रत्यति सुम्नमादित्यासो भवता मृडयन्तः । आ वोऽर्वाची सुमतिर्ववृत्यादथं होशिचद्या वारिवोवित्तरासदादित्येभ्यस्त्वा ॥ ४ ॥

कुत्स श्रुतिः । आदित्यो गृहपतिदेवता । निचृत् जगता । निषादः ॥

भा०—(देवानां यज्ञः) देव, विद्वान् पुरुषों का संग या गृहस्थयज्ञ (सुम्नम् प्रति एति) सुख प्राप्त कराता है । हे (आदित्यासः) आदित्य

के समान तेजस्वी पुरुषो ! आप लोग (मृडयन्तः भवत) सबको सदा सुख देनेहारे बने रहो । (वः) आप लोगों की वह (सु मतिः) शुभ मति (अर्वाची) हमारे प्रति (आ ववृल्यात्) अनुकूल बनी रहे (या) जो (अंहोः चित्) पापी पुरुष को भी (वरिवः-वित्-तरा) अति अधिक ऐश्वर्य या सुखलाभ करानेवाली (असत्) होती है । हे राजन् ! या हे सोम ! (त्वा आदित्येभ्यः) तुझे मैं ऐसे आदित्य अर्थात् तेजस्वी पुरुषों की रक्षा के लिये नियुक्त करता हूँ । गृहस्थ पक्ष में—हे पते ! तुझे मैं १२ मासों के लिये वरती हूँ ॥ शत० ४ । ३ । ५ । १५ ॥

१ विवस्वन्नादित्यैष ते सोमपीथस्तस्विन् मत्स्व । २ श्रदस्मै नरो वचसे दधातन् यदाशीर्दा दम्पती वाममश्नुतः । पुमान् पुत्रो जायते विन्दते वस्वधा विश्वाहारप एधते गृहे ॥ ५ ॥

गृहपतयो देवताः । (१) प्राजापत्याऽनुष्टप् । गान्धारः । (२) निचृदापी जगती । निषादः ।

भा०—हे (विवस्वन्) विविध स्थानों पर निवास करनेहारे या विविध ऐश्वर्यों के स्वामिन् हे (आदित्य) आदित्य के समान तेजस्विन् ! राजन् ! पुरुष ! (एषः) यह (ते सोम-पीथः) तेरा सोमपद, राजपद का पालन करने का कर्तव्य है । (तस्मिन्) तू उसमें ही (मत्स्व) आनन्द प्रसन्न रह । हे (नरः) नेता पुरुषो ! (अस्मै वचसे) इसके वचन में (श्रत्-दधातन्) सत्य और श्रद्धा बुद्धि को धारण करो । (यत्) जिसके आश्रय पर (आशीर्दा) आशीर्वाद देनेवाले (दम्पती) पति पत्नी भी (वामम्) सुख को (अश्नुतः) भोगते हैं । और (पुमान् पुत्रः जायते) पुमान्, वीर पुत्र उत्पन्न होता है (वसु विन्दते) वह ऐश्वर्य प्राप्त करता है । और (विश्वाहा) सदा, नित्य (अरपः) पाप रहित, निर्विघ्न (गृहे) गृह में (एधते) वृद्धि को प्राप्त होता है ॥ शत० ४ । ५ । १७-२३ ॥

५—श्रदस्मै जगत्याशीः । सर्वा० ॥ 'विवस्वां २ आ०' इति काण्व० ॥

गृहस्थ पक्ष में—हे गृहाश्रमिन् ! (एष ते सोमपीथः) यह गृहाश्रम पालन ही तेरा सोम समान आनन्द रस के पान के बराबर है । तू इसमें सुख से रह । हे पुरुषो ! तुम इसके वचन को आदर से सुनो । जिसमें आशीर्वाद देनेवाले स्त्री पुरुष सुख से रहते हैं, उस गृह में पुमान् पुत्र उत्पन्न होता है, ऐश्वर्य प्राप्त करता है और निर्विघ्न बढ़ता है ।

वाममद्य सवितवामसु श्वो दिवे दिवे वामसस्मभ्यथं सावीः ।
वामस्य हि क्षयस्य देव भूररया धिया वामभाजः स्यान् ॥ ६ ॥

क्र० ६ । ७१ । ३ ॥

भरद्वाजऋषिः गृहपत्यः सविता वा देवता । निचृदाषीं त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—हे (सवितः) ऐश्वर्य उत्पादक ! सवितः ! (अद्य) आज (वामम्) प्राप्त करने योग्य उत्तम सुख (सावीः) उत्पन्न कर । (ऊँ श्वः वामम् सावीः) और आगामी दिन, कल भी उत्तम सुख को उत्पन्न कर । और (अस्मभ्यम्) हमारे लिये (दिवे-दिवे) प्रतिदिन (वामम्) भोग करने योग्य, उत्तम पदार्थ उत्पन्न कर । (हि) जिससे (वामस्य) सुन्दर, उत्तम (भूरे) बहुत ऐश्वर्यों से युक्त (क्षयस्य) परम निवासगृह के बीच हे (देव) देव ! राजन् ! हम (अया धिया) इस उत्तम बुद्धि से ही (वामभाजः स्याम्) सब उत्तम सुखों का भोग करनेवाले हों ॥ शत० ४ । ४ । १-२६ ॥

‘सविता’—सविता वै प्रसवानामीशे । कौ० ५ । २ ॥ प्रजापतिवै सविता । तां० १६ । ५ । १७ ॥ प्रजापतिः सविता भूत्वा प्रजा असृजत । तै० १ । ६ । ४ । १ ॥ सविता राष्ट्रं राष्ट्रपतिः । तै० २ । ५ । ७ । ४ ॥ उपयामगृहीतोऽसि सावित्रोऽसि चनोधाश्चनोधा असि चनो मयि धेहि । जिन्व यज्ञं जिन्व यज्ञपतिं भगाय देवाय त्वा सवित्रे ॥ ७ ॥

७—० चनोधाश्चनो मयि०; ‘भगाय सवित्रे त्वा’ । शत काण्व० ॥

भरद्वाज ऋषिः । सविता गृहपतिदेवता । विराट् ब्राह्मन् अनुष्टुप् । गान्धारः ॥

भा०—हे पुरुष ! तू (उपयाम गृहीतः असि) राज्य के नियम व्यवस्था द्वारा बद्ध है । तू (सावित्रः) सविता के पद पर स्थित (चनोधाः असि) अन्न समृद्धि को देने और सूर्य के समान ही धारण पोषण करने हारा है, क्योंकि तू (चनोधाः असि) अन्न का धारण पोषण करता है । तू (मयि) मुझे भी (चनः) अन्न (धेहि) प्रदान कर । (यज्ञं जिन्व) तू अन्न से यज्ञ, राष्ट्र को तृप्त कर (यज्ञ-पतिम्) राष्ट्रपति को भी (जिन्व) तृप्त कर ; (भगाय) समस्त ऐश्वर्यमय (देवाय) देव (सवित्रे) सविता के पद के लिये (त्वा) तुझको नियुक्त करता हूँ ॥ शत० ४ । ४ । १ । ६ ॥

गृहस्थ पक्ष में—हे पुरुष ! तुझे मैं भी स्त्री-उपयाम = विवाह द्वारा स्वीकार करती हूँ । तू सावित्र अर्थात् प्रजा के उत्पादक या परमेश्वर के उपासक या स्वयं सविता सूर्य के समान तेजस्वी है । तू अन्न समृद्धि का धारक है । तू गृहस्थ यज्ञ को पुष्ट कर । सविता रूप तुझे अर्थात् सन्तानोत्पादक पति पद के लिये वरती हूँ ।

१ उपयामं गृहीतोऽसि २ सुशर्मासि सुप्रतिष्ठानो बृहदुक्षाय नमः
विश्वेभ्यस्त्वा देवेभ्यऽ एष ते योनिर्विश्वेभ्यस्त्वा देवेभ्यः ॥ ८ ॥

विश्वेदेवा गृहपतयो देवताः । (१) प्राजापत्या गायत्री । षड्जः ।

(२) निचृदार्षी बृहती । मध्यमः ॥

भा०—(उपयामगृहीतः असि) हे पुरुष तू राज्यव्यवस्था द्वारा बद्ध है । हे योग्य पुरुष ! राजन् ! तू (सु-शर्मा असि) तू उत्तम सुखकारी आश्रय या गृह और शरणों वाला है और (सु-प्रतिष्ठानः) शरीर में प्राण के समान राष्ट्र में उत्तम रीति से प्रतिष्ठित हुआ है । (बृहद्-उक्षाय) महान् विश्व के भार के वहन या संचालन करने वाले प्रजापति के समान

बड़े राष्ट्र के कार्यभार को उठाने वाले तुझे (नमः) आदर प्राप्त हो, अथवा तुझे नमनकारी बल प्राप्त हो । (त्वा) तुझ को (विश्वेभ्यः देवेभ्यः) समस्त देव, विद्वान् पुरुषों की रक्षा के लिये नियुक्त करता हूँ । (एषः ते योनिः) यह तेरा स्थान या पद है । (विश्वेभ्यः देवेभ्यः त्वा) समस्त देव अर्थात् विद्वान् पुरुषों के लिये तुझको ' विश्वेदेव ' समस्त विद्वानों के हित पद पर नियुक्त करता हूँ ॥ शत० ४ । ४ । १ । १४ ॥

गृहस्थ पक्ष में— पुरुष विवाह द्वारा बद्ध हो । वह उगम गृह और प्रतिष्ठावान् हो । (बृहदुक्षाय) वीर्यसेचन में समर्थ उसको (नमः) आदर एवं अन्न आदि पदार्थ प्राप्त हों । समस्त विद्वानों के लिये मैं स्त्री तुझे वरती हूँ ।

१ उपयामं गृहीतोऽसि २ बृहस्पतिसुतस्य देव सोम त इन्द्रो-
रिन्द्रियावतः । पत्नीवतो ग्रहा २ऽऋध्यासम् । ३ अहं परस्ता-
दहमवस्ताद्यदन्तरिक्षं तदुं मे पिताभूत् । अहं सूर्यमुभयतो
ददर्शहं देवानां परमं गुहा यत् ॥ ६ ॥

विश्वेदेवा देवताः । (१) प्राजापत्या गायत्री । षड्जः । (२) आर्षी उष्णिक ।

ऋषभः । स्वराङ् आर्षी पङ्क्तिः । पञ्चमः ॥

भा०— हे योग्य पुरुष ! राजन् तू ! (उपयामगृहीतः असि) राज्य-
तन्त्र द्वारा स्वीकृत एवं बद्ध है । हे (देव सोम) देव ! सोम ! राजन् !
(इन्द्रियावतः) इन्द्र, राजा के योग्य ऐश्वर्य बल से सम्पन्न (इन्द्रोः)
सबके आह्लादक (पत्नीवतः) अपनी पालक शक्ति से युक्त (बृहस्पति-सुतस्य)
बृहती, वेद वाणी के पालक विद्वान् के द्वारा प्रेरित वा शिक्षित (ते) तेरे

६— बृहस्पतिसुतस्य लिङ्गोक्तम् । अहमप्रजापातिरुपेणात्मदेवतानि षड्पु ।
सर्वा० ॥ ० सुतस्य ते देव । इन्द्र इन्द्रियावतः ० “ तदुं मे पितास । ” इति
काण्व० ।

निमित्त (ग्रहान्) समस्त राज्य के अंगों को मैं (ऋध्यासम्) समृद्ध करता हूँ । (अहम्) मैं (परस्ताद्) परे से परे, दूर देशों में और (अवस्तात्) अति समीप अपने अधीन के देशों में भी (ऋध्यासम्) समृद्ध होऊँ । (यद् अन्तरिक्षम्) जो अन्तरिक्ष अर्थात् बीच का उत्तम प्रदेश है (तत् उ) वह भी (मे) मेरा (पिता अभूत्) पालक ही हो । (अहम्) मैं (सूर्यम्) सूर्य के समान तेजस्वी विद्वान् को ही (उभयतः) दोनों ओर (ददर्श) देखूँ । और (देवानाम्) देव, विद्वान् पदाधिकारियों के (गुहा) गुहा या हृदय में (यत्) जो (परमम्) परम तत्त्व ज्ञान हो उसका भी दर्शन करूँ ॥ शत० ४ । ४ । २ । १२ ॥

गृहस्थ पक्ष में—हे सोम ! वर ! बड़े विद्वान् के पुत्र आह्लादक ऐश्वर्यवान् वीर्यवान्, पत्नी सहित तेरे (ग्रहान्) स्वीकार किये समस्त कर्तव्यों को आगे पीछे मैं पत्नी बढ़ाऊँगी । हमें अन्तःकरण का विज्ञान प्राप्त हो । दोनों तरफ अर्थात् इस लोक परलोक दोनों में उस (सूर्य) सबके प्रेरक परमेश्वर को अपना पालक देखती हूँ । जो विद्वानों के हृदय में परम तत्त्व रूप से गुप्त रहता है ।

अग्नार्ह पत्नीवन्सज्जूदेवेन त्वष्टा सोमं पिव स्वाहा । प्रजापति
वृषासि रेतोधा रेतो मयि धेहि प्रजापतेस्ते वृष्णो रेतोधसो
रेतोधामशाय ॥ १० ॥

गृहपतयो देवताः । विराड् ब्राह्मी बृहती । मध्यमः ॥

भा०—हे (अग्ने) अग्ने ! अग्रणी राजन् ! (पत्नीवन्) राष्ट्र के पालन करने वाली अपनी शक्ति सहित ! तू (देवेन) देव, दानशील (त्वष्टा) त्वष्टा, सूर्यवत् तेजस्वी सेनापति के साथ (सज्जूः) सहयोग

१०—अग्नार्ह पत्नीवन्सज्जूदेवेन । प्रजापतिः प्राजपितृणम् ॥ सर्वा० अग्ने वाक्
पीन सज्जू०' इति काण्व० ।

करके (सोमम् पिव) सोम नाम राज पद का उपभोग कर (स्वाहा)
इससे तेरा उत्तम यश होगा । हे राजन् ! (प्रजापतिः) तू प्रजा का
पालक (वृषा) राष्ट्र पर सुखों का वर्षक या राष्ट्र का व्यवस्थापक
(असि) है । तू (रेतोधाः) जल को मेघवत् बल वीर्य को धारण करने
कराने वाला है (मयि) मुझ राष्ट्र वासी प्रजाजन में भी (रेतः) वीर्य
को (धाः) धारण करा । (प्रजापतेः) प्रजा के पालकवत्, (वृष्णः)
सब सुखों के वर्षक, (रेतोधसः) उत्पादक, वीर्यधारक (ते) तेरे (रेतो-
धाम्) वीर्य धारण करने में समर्थ राष्ट्र का (अशीय) मैं प्रजाजन भी
भोग करूँ ॥ शत० ४ । ४ । २ । १५-२८ ॥

गृहस्थ पक्ष में—हे अग्ने पत्नीवन् ! स्वामिन् (देवेन त्वष्टा सजः)
त्वष्टा, वीर्य को पुत्र रूप से परिणत करने वाले दिव्य सामर्थ्य से युक्त हो
कर तू (स्वाहा सोमम् पिव) वेदोपदिष्ट उत्तमरीति से सोम, ओषधि का पान
कर । हे पुरुष ! पते ! तू प्रजा का पालक, वीर्य सेचन में समर्थ, रेतस् ,
वीर्यधारण कराने वाला है । तू (मयि) मुझ पत्नी में वीर्य धारण करे ।
तुझप्रजापति के (रेतोधाम् अशीय) वीर्यवान् पुत्र को प्राप्त करूँ ।

उपयामगृहीतोऽसि हरिरसि हारियोजनो हरिभ्यान्त्वा ।

हयैर्धाना स्थ सहसोमा इन्द्राय ॥ ११ ॥

गृहपतयो देवताः । भुरिगाध्यनुष्टुप् । गान्धारः ॥

हे सोम राजन् ! तू (उपयाम-गृहीतः असि) उपयाम अर्थात् राज्य
तन्त्र द्वारा बद्ध है । तू (हरिः असि) राज्य को चलाने में समर्थ है । तू
(हारियोजनः) राष्ट्र के कार्यों को उठाने और चलाने वाले अपने अधीन
पदाधिकारियों को, सारथी जिस प्रकार घोड़ों को लगाता है उसी प्रकार

११—हरिरस्यकूसामे । हयैर्यस्तं लिंगोक्तं । सर्वा० ॥ हयैरित्य स्यधानाः
देवताः इति अनन्त० ॥

नाना पदों पर नियुक्त करने हारा है । (त्वा) तुझ वीर पुरुष को (हरि-
भ्याम्) उक्त दोनों ही हरि पदों के लिये नियुक्त करता हूँ । हे अन्य पदा-
धिकारीगण आप सब लोग (सहस्रोमा) मुख्य राजा सहित (इन्द्राय)
परमैश्वर्यवान् राजा या राज्य के लिये सभी (हर्योः धानाः स्थ) रथ में
अश्ववत् दोनों हरि पदों के धारण करने हारे हो ॥ शत० ४।४।३।६ ॥

राज्य तन्त्र के समान गृहस्थ तन्त्र में—हे पुरुष ! तू (उपयाम-गृहीतः
असि) स्त्री से विवाह द्वारा स्वीकृत है । अश्व के समान गृहस्थ को बहन करने
और सारथि के समान उसको सत् मार्ग पर ले चलने वाला भी है ।
तुझको ऋक्, साम के समान स्त्री पुरुष दोनों के हित के लिये गृहपति रूप में
मैं वरती हूँ । हे विद्वान् पुरुषो ! आप दोनों सब मेरे पति सोम सहित हम
समस्त स्त्री पुरुषों को सन्मार्ग में धारण करने हारे (स्थ) रहो ॥

यस्ते ऽश्वसनिर्भक्षो यो गोसनिस्तस्य त ऽइष्ट्यजुष स्तुत
स्तोमस्य शस्तोकथस्योपहूतस्योपहूतो भक्षयामि ॥ १२ ॥

गृहपतयो देवताः । आर्षी पंक्तिः । पञ्चमः ॥

भा०—हे सोम राजन् ! (यः ते) जो तू (अश्व-सनिः) अश्वों से
युक्त और (यः) जो तू (गो-सनिः) गौ आदि पशुओं से युक्त (भक्षः)
बल या राज्य की रक्षा करनेवाला अन्नरूप राज्य का भोक्ता है (तस्य)
उस (इष्ट-यजुषः) यज्ञशील, शुद्धविजयी (स्तुत-स्तोमस्य) प्रशस्त सेना
संघ से युक्त और (शस्तोकथस्य) उत्तम विद्वान् ब्राह्मणों से युक्त (उपहू-
तस्य) आदरपूर्वक आमन्त्रित एवं राज्यपद में अभिषिक्त तेरे द्वारा ही
(उपहूतः) आदरपूर्वक अनुज्ञा पाकर हम प्रजाजन भी (भक्षयामि)
उक्त सामर्थ्य को भोग करें ॥ शत० ४।४।३।११-१५ ॥

१२—भक्षणीयं द्रव्यं देवता इति अनन्त० । 'यस्ते देवाश्वसनि०'

'०कथस्योपहूत उपहूतस्य भ०' इति काण्व० ॥

गृहस्थतन्त्र में—हे पते ! तू अश्वों और गौ आदि ऐश्वर्यों से युक्त, अथवा अश्व, कर्मेन्द्रिय और गौ, ज्ञानेन्द्रियों से युक्त, अथवा अग्न्यादि, विद्या और भूमि का भोक्ता और दाता है उस तीनों वेदों के तुझ विद्वान् को आदर पूर्वक निमन्त्रित कर शेष का उपभोग करूं। इसी प्रकार पति अपनी विदुषी उदारपत्नी एवं अन्य वन्धुओं को आदरपूर्वक बुलाकर भोजनादि करावें।

१देवकृतस्यैनसोऽवयजनमसि २मनुष्यकृतस्यैनसोऽवयजनमसि
३पितृकृतस्यैनसोऽवयजनमस्या ४त्मकृतस्यैनसोऽवयजनमस्ये
नसऽएनसोऽवयजनमसि । ५यच्चाहमेनो विद्वाँश्चकार यच्चावि-
द्वाँस्तस्य सर्वस्यैनसोऽवयजनमसि ॥ १३ ॥

विश्वेदेवा गृहपत्यो देवताः । (१३४) निचृत्साम्नी । (१) साम्नी,
(५) प्राजापत्या, (६) निचृदार्षी उष्णिक् । ऋषभः ॥

भा०—हे परमेश्वर और हे राजन् ! तू (देवकृतस्य) दानशील या उपदेशकों विद्वान धनी पुरुषों के किये (एनसः) पाप अपराध को (अवय-
जनम् असि) दूर करनेवाला है। तू (मनुष्यकृतस्य एनसः) मनुष्यों
द्वारा किये पाप को भी (अवयजनम् असि) दूर करनेहारा है। इसी
प्रकार (पितृकृतस्य) माता पिता या राष्ट्र के पालक जनों के किये
पाप और अपराध का (अवयजनम् असि) दूर करने का साधन है।
(आत्मकृतस्य एनसः अवयजनम् असि) अपने आप किये गये पाप और
अपराध को दूर करने में समर्थ है। (एनसः एनसः अवयजनम् असि)
एक पाप या अपराध के कारण उससे उत्पन्न होनेवाले दूसरे अन्य अप-
राध या पाप को भी दूर करनेहारा है। अथवा (एनसः एनसः) प्रत्येक
प्रकार के अपराध या पाप को दूर करनेहारा है। और (यत् च) जो

१३—देवकृतस्याग्नेयानि षट्।

१६

(एनः) अपराध या पाप (अहम्) मैं (विद्वान् चकार) जान बूझ कर करुं और (यत् च अहम् अविद्वान् चकार) जो अपराध मैं बिना जाने करुं (तस्य सर्वस्य एनसः अवयजनम् असि) उस सब प्रकार के अपराध को तू दूर करने में समर्थ है ।

सं वर्चसा पयसा सन्तनूभिर्गन्महि मनसा सथं शिवेन ।
त्वष्टा सुदत्रो विदधातु रायोऽनुमार्ष्टु तन्वो यद्विलिष्टम् ॥१४॥
अथर्व० ६ । ५३ । ३ ॥

भरद्वाज ऋषिः । गृहपतयो विश्वेदेवा देवताः विराडार्षी त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—हम लोग (वर्चसा) तेज, ब्रह्मवर्चस और अन्न (पयसा) जल, दुग्ध आदि पुष्टिकर पदार्थ, (तनूभिः) उत्तम शरीर और (शिवेन मनसा) कल्याणकारी शुभ चित्त से सदा (सम् अगन्महि) संयुक्त हों । (सुदत्रः) उत्तम दानशील पुरुष, परमेश्वर या सुखप्रद वैद्य (रायः विदधातु) समस्त ऐश्वर्य प्रदान करे । (यत्) जो हमारे (तन्वः) शरीर का (विलिष्टम् = विरिष्टम्) पीड़ित, दुःखित भाग हो उसको (अनुमार्ष्टु) वह सुख युक्त करे ॥ शत० ४ । ४ । ४ । ८ ॥

समिन्द्र णो मनसा नेषि गोभिः सथं सुरिभिर्मघवन्त्सथं
स्वस्त्या । सं ब्रह्मणा देवकृतं यदस्ति सं देवानांथं सुमतौ यज्ञि-
यानाथं स्वाहा ॥ १५ ॥
ऋ० ५ । ४२ ४ ॥

अत्रिर्ऋषिः । गृहपतिदेवता सुरिगार्षी त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—हे (इन्द्र) इन्द्र ! ऐश्वर्यवान् हे (मघवन्) परम श्रेष्ठ ! धनवान् ! (नः) हमें (मनसा) मन से (गोभिः) इन्द्रियों, वेदवाणी गौ आदि पशुओं और (सुरिभिः) विद्वान् पुरुषों के साथ (सं नेषि) संगत कर, या इन द्वारा हमें सत्समार्ग पर चला । और (ब्रह्मणा) ब्रह्म, वेद या धन से और (देवकृतम् यत् अस्ति) देव, विद्वान् या इन्द्रियों

द्वारा जो उत्तम कार्य किया जाता है उससे भी हमें (सं नेषि) संगत कर । हमें उससे युक्त कर और (यज्ञियानां) सत्संग करने योग्य, आदरणीय (देवानाम्) श्रेष्ठ विद्वान् पुरुषों के (सुमतौ) शुभ मति के अधीन हमें (स्वाहा) उत्तम ज्ञानवाणी द्वारा (स्वस्त्या) सुखपूर्वक (सं नेषि) सब कुछ प्राप्त करा । (स्वाहा) यह तेरा उत्तम यशोजनक कर्त्तव्य है ॥ शत० ४ । ४ । ४ । ७ ॥

सं वर्चसा पर्यसा सं तनूभिरगन्महि मनसा सथं शिवेन ।
त्वष्टा सुदत्रो विदधातु रायोऽनुमार्ष्टु तन्वो यद्विलिष्टम् ॥ १६ ॥

भा०—व्याख्या देखो [अ० २ । १४ और अ० ५ । १४] ।

धाता रातिः सवितेदं जुषन्तां प्रजापतिर्निधिपा देवो अग्निः ।
त्वष्टा विष्णुः प्रजया सथं रराणा यजमानाय द्रविणं दधातु
स्वाहा ॥ १७ ॥

अथर्व० ७ । १७ । ४ ॥

विश्वेदेवा गृहपतयो देवताः । स्वराडाधीं त्रिष्टुप् । धैवतः ।

भा०—(धाता रातिः सविता प्रजापतिः निधिपा अग्निः देवः त्वष्टा विष्णुः) धाता, राति, सविता, प्रजापति, अग्नि, त्वष्टा और विष्णु ये सब देवगण अधिकारी वर्ग (इदम् जुषन्ताम्) इस परस्पर के सहयोग से बने राष्ट्र को प्रेम से स्वीकार करें और (प्रजया) अपने संतान के समान प्रजा के साथ (सं रराणाः) अच्छी प्रकार आनन्द प्रसन्न रहते और जीवन को सुखी करते हुए, (यजमानाय) अपने को धारण पोषण देने वाले राजा को (द्रविणम्) धनैश्वर्य (स्वाहा) उत्तम धर्मयुक्त रीति से (दधातु) प्रदान करें, उसे पुष्ट करें । श० ४ । ४ । ९ ॥

सुगा वो देवाः सदाना ऽअकर्म य ऽआजग्मेदथं सवनं जुषाणाः ।

१७—धाता लिङ्गोक्तबाहुद्वयत्वा । सुगा वो देवा ।

भरमाणा वहमाना हवींशं ष्यस्मे धत्त वसवो वसूनि स्वाहा ॥ १८ ॥

अथर्व० ७ । ९७ । ४ ॥

विश्वेदेवा देवताः । आर्षी त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—हे (देवाः) देव, विद्वानों और दानशील वैश्य पुरुषों ! या राजपदाधिकारियों ! (ये) जो आप लोग (इदं) इस (सवनं जुषाणाः) राष्ट्र-मय यज्ञ की सेवा करते हुए और (हवींषि) नाना अन्न आदि उपादेय पदार्थों को (भरमाणाः) भोग करते हुए और (वहमानाः) उनको प्राप्त करते हुए अथवा (भरमाणाः) यहाँ से लेजाते हुए और (वहमानाः) यहां को लाते हुए (आजग्मुः) आते हैं (वः) उन आप लोगों के लिये (सुगाः) सुखपूर्वक चलने योग्य मार्ग और (सदन) उत्तम आश्रय स्थान, व्यापार के निमित्त मार्ग और दुकान, मण्डियां, मार्केट या बाज़ार आदि हम- (अकर्म) बना । हे (वसवः) यहाँ के निवासी वसुजनो, प्रजाजनो ! आप लोग (अस्मे) हमारे राष्ट्र के लिये (स्वाहा) उत्तम रूप से धर्मानुकूल प्राप्त करने और दान देने योग्य (वसूनि धत्त) ऐश्वर्यों को धारण करो, कराओ ॥ शत० ४ । ४ । ४ । १० ॥

यौ२५ आवहोऽ उशतो देव देवाँस्तान् प्रेरय स्वेऽअग्ने सधस्थे ।
जक्षिवांशः पपिवांशश्च विश्वेऽसुं घर्मंश्च स्वरातिष्ठतानु
स्वाहा ॥ १६ ॥

अथर्व० ७ । ९३ । ३ ॥

गृहपतयो देवताः । भुरिगर्षी त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

१८—यास्कसम्मतः पाठस्तु—‘सुगा वो देवाः सदनमकर्म य आजग्मुः सवनमिदं जुषाणाः । जक्षिवांशः पपिवांशश्च विश्वेऽस्मे धत्त वसवो वसूनि ।’

(दि०) य अजग्म सवनेमा जुषाणाः । (तृ०) वहमाना भरमाणा स्वा वसूनि (च०) वसुं धर्मं दिवमारोहतानु इति अथर्व० ॥

१६-२०—यौ आवहो, वयम् आग्नेय्यौ । सर्वा० ।

भा०—हे (अग्ने) अग्रणी पुरुष ! हे (देव) राजन् ! (यान्)
 जिन (उशतः) नाना कामनाओं और इच्छाओं से युक्त (देवान्)
 देवों, विद्वानों, ऐश्वर्यवान् पुरुषों को तू स्वयं (स्वे सधस्थे) अपने सह-
 योग के पद पर (आवह) स्थापित करता है (तान्) उनको (प्रेरय)
 प्रेरित कर । हे (देवाः) राजपदाधिकारी पुरुषो ! आप लोग (जक्षिवांसः)
 भोजन करते हुए (पपिवांसः च) जल आदि पान करते हुए (स्वाहा)
 उत्तम रीति से (असुम्) अपने प्रज्ञा और प्राण को प्राप्त करो । (धर्मम्)
 अतितेजोयुक्त (स्वः) सुखमय उत्तम पद पर अनु (आतिष्ठत) विराजो
 और सुखी रहो ॥ शत० ४ । ४ । ४ । ११ ॥

व्य० हि त्वा प्रयति यज्ञे अस्मिन्नग्ने होतारमवृणीमहीह । ऋध-
 गयाऽऋधगुताशमिष्ठाः प्रज्ञानन्यज्ञमुपयाहि विद्वान्त्स्वाहा ॥२०
 अथर्व० ७ । १७ । १ ॥

गृहपतयो देवताः । स्वराडार्षी त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—हे (अग्ने) तेजस्विन् ! (वयं) हम सब लोग (अस्मिन्)
 इस (प्रयति यज्ञे) राष्ट्ररूप यज्ञ के प्रारम्भ में ही (इह) इस
 यज्ञ में (होतारम्) यज्ञ में होता के समान यज्ञनिष्पादक रूप
 से आदान-प्रतिदान करने में निपुण नेता का वरण करते हैं । हे विद्वान्
 समर्थ पुरुष ! तू (ऋधक्) समृद्धि-सम्पत्ति की वृद्धि करता हुआ
 (अयाः) इस महान् यज्ञ को सम्पादन कर । (उत) और (ऋधक्)
 समृद्धि करता हुआ ही (अशमिष्ठाः) इस कार्य में आने वाले विद्वानों का
 शमन कर । तू (यज्ञम्) यज्ञ, राष्ट्र के व्यवस्था के समस्त कार्य को
 (विद्वान्) जानता हुआ ही (स्वाहा) उत्तम विज्ञान सहित (उप याहि)
 प्राप्त हो ॥ शत० ४ । ४ । ४ । १२ ॥

ये य कार्य में योग्य पुरुष को वरण करके उसे उस कार्य के लिये

नियत करें । वह उसको करे और उसके बीच में आनेवाले विष्णों का वही शमन करे ॥

देवा गातुविदो गातुं विन्वा गातुमित ।

मनसस्पत ऽहमं देव यज्ञं स्वाहा वाते धाः ॥ २१ ॥

गृहपतयो देवताः । स्वराडाभ्युष्णिक् । ऋषभः ।

भा०—इसकी व्याख्या देखो [अ० २ । मं० ११ ।] । शत० ४ । ४ । ४ । १३ ॥

१ यज्ञं यज्ञं गच्छ यज्ञपतिं गच्छ स्वां योनिं गच्छ स्वाहा । २ एष ते यज्ञो यज्ञपते सहसूक्तवाकः सर्ववीरस्तजुषस्व स्वाहा ॥ २२ ॥

गृहपतयो देवताः (१) भुरिक् साम्नी बृहती (२) विराडाची बृहती । मध्यमः ॥

भा०—हे (यज्ञ) यज्ञ ! राष्ट्ररूप यज्ञ ! तू (यज्ञम्) परस्पर की संगति को, एक दूसरे के प्रति समर्पण भाव को (गच्छ) प्राप्त कर । (यज्ञपतिम् गच्छ) उसको पालन करने वाले योग्य, समर्थ पुरुष को प्राप्त कर । तू (स्वाम् योनिम् गच्छ) अपने आश्रय को प्राप्त कर । (स्वाहा) तभी उत्तम रीति से सम्पादन हो सकता है । हे (यज्ञपते) यज्ञ के पालक राष्ट्रपते ! (ते) तेरा ही (एषः यज्ञः) यह यज्ञ है । यह (सहसूक्तवाकः) उत्तम वेद के सूक्तों का अध्ययन करनेवाले विद्वान् पुरुषों से युक्त और (सर्ववीरः) सब प्रकार के वीर पुरुषों से युक्त है । (तम्) उसको तू (स्वाहा) उत्तम रीति से वेदानुकूल (जुषस्व) स्वीकार कर ॥ शत० ४ । ४ । ४ । १४ ॥

१ माहिर्भुर्मा पृदाकुः । २ उरुथं हि राजा वरुणश्चकार सूर्याय पन्थामन्वेतवा उ । ३ अपदे पादा प्रतिधातवेऽकरुतापवक्त्रा हृदयाविधश्चित् । ४ नमो वरुणायभिष्ठितो वरुणस्य पाशः ॥ २३ ॥

ऋ० १ । २४ । ८ ॥

२३—शुनःशेपो वारुणीं त्रिष्टुभम् । सर्वा० । नमो वारुणम् ॥ सर्वा० ।

गृहपतयो देवताः । (१) याजुषी उष्णिक् । ऋषभः ॥ (२) ऋग्वेदे शुनःशेष
 ऋषिः । वरुणो देवता । भुरिगर्षी त्रिष्टुप् । धैवतः (३) आसुरी
 गायत्री षड्जः ॥

भा०—राज्यव्यवस्था में राजा की न्यायानुकूल व्यवस्था । हे पुरुष !
 तू (अहिः मा भूः) सांप के समान कुटिल, क्रोधी मत बन । (मा पृदाकुः)
 अजगर के समान सब प्राणियों को निगलनेवाला, एवं उनको अपने
 बंधन में बाँधकर मारनेवाला, क्रूर या कुत्सितभाषी भी तू मत बन ।
 (वरुणः राजा) सर्वश्रेष्ठ राजा ने (सूर्याय) सूर्य के प्रकाश के समान
 उज्ज्वल सत्य तक (अनु एतवे उ) पहुँचने के लिये ही (उरुम् पन्थाम्
 चकार) विशाल मार्ग बना दिया है । वह (अपदे) जहाँ पैर भी
 नहीं रखा जा सके ऐसे स्थानों में भी (पादा प्रतिधातवे) पैर रखने के
 लिये मार्ग (अकः) बना देता है और वह वरुण श्रेष्ठ राजा (हृदयाविधः
 चित्) हृदय को कटु वाक्यों और अपने क्रूर कृत्यों से दूसरों के छेदने
 वाले मर्मभेदी दुष्ट पुरुष का भी (अपवक्ता) अपवाद करनेवाला उसके
 प्रति अभियोग चला कर निग्रह करनेवाला है । ऐसे (वरुणाय) सर्वश्रेष्ठ
 पापों के वारण करनेहारे राजा को (नमः) नमस्कार है । (वरुणस्य)
 ऐसे सर्वश्रेष्ठ राजा का (पाशः) पाश, राज्य नियमों का दमनकारी पाश
 (अभिष्ठितः) सर्वत्र स्थिर रहे ॥ शत० ४ । ४ । ५ । १-११ ॥

अग्नेरनीकमप ऽत्राविवेशापां नपात् प्रति रत्नसुर्यम् । दमे दमे
 समिधं यद्यग्ने प्रति ते जिह्वा घृतमुच्चरयत् स्वाहा ॥ २४ ॥

अग्निगृहपतिदेवता । आपीं त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—(अग्नेः) अग्रणी नेता, राजा का (अनीकम्) मुख्यबल या
 सेनासमूह (अपां नपात्) प्रजाओं को गिरानेवाला न होकर, उनका विना-
 शक न होकर प्रत्युत (अपां नपात्) प्रजाओं के पुत्र के समान ही हो

कर (असुर्यम्) उनके प्राण धारणोपयोगी द्रव्य, जान माल की (प्रति-
रक्षन् रक्षा करता हुआ (अपः) आस प्रजाओं में (आविवेश) प्रविष्ट
या व्याप्त होकर रहे । हे (अग्ने) अग्ने ! राजन् ! तू (दमे-दमे) घर घर
में, या प्रत्येक दमन के कार्य में (समिधम्) प्रकाशयुक्त तेजस्वी पुरुष
को (यक्षि) नियुक्त कर । हे राजन् ! (ते) तेरी (जिह्वा) वशकारिणी
शक्ति, वा आज्ञा (घृतम्) घृत, तेज उग्रता को (स्वाहा) भली प्रकार
(उत् चरण्यत्) प्राप्त करे ॥ शत० ४ । ४ । ५ । १२ ॥

समुद्रे ते हृदयमप्स्वन्तः सं त्वा विशन्त्वोषधीरुतापः । यज्ञस्य
त्वा यज्ञपते सूक्तोक्तौ नमोवाके विधेम यत् स्वाहा ॥ २५ ॥

सोमो गृहपतिर्देवता । भुरिगार्थी पंक्तिः । पञ्चमः ॥

भा०—हे राजन् ! (ते) तेरा (हृदयम्) हृदय (अप्सु अन्तः)
प्रजाओं के भीतर, (समुद्रे) नाना प्रकार के उन्नतिकारक व्यवहार में लगे।
और (त्वाम्) तुझ में (ओषधीः) दुष्टों को दण्डद्वारा पीड़ित करनेवाले जन,
अधिकारी (उत्) और (आपः) आस प्रजाजन सब (आविशन्तु)
आश्रय पावें, वे तेरे आधीन रहें । हे (यज्ञपते) राष्ट्र-यज्ञ के पालक !
(यज्ञस्य) यज्ञ के (सूक्तोक्तौ) जिसमें वेद के सूक्त प्रमाणरूप से कहे
जायँ ऐसे उत्तम कार्य में और (नामोवाके) आदर योग्य वचनों के कार्य
में (यत्) जो भी (स्वाहा) उत्तम त्याग योग्य और ग्रहण योग्य पदार्थ
हैं वह (त्वा) तुझे (विधेम) प्रदान करें ॥ शत० ४ । ४ । ५ । १० ॥

गृहस्थ पक्ष में—वेदादि के अध्ययन कार्य और आदर योग्य वचनों
से युक्त (समुद्रे) उत्तम धर्म-कार्य में हे गृहपते ! तेरा हृदय प्रणों के
भीतर रहे । ओषधियां और शुद्ध जल तुझे प्राप्त हों । उसी उत्तम कार्य में
तुझे हम नियुक्त करें ।

२५—समुद्रे ते सोमो विराट् । सर्वा० ।

देवीराप एष वो गर्भस्तथं सुप्रीतं सुभृतं विभृत ।
देव सोमैष ते लोकस्तस्मिञ्छं च वक्ष्व परि च वक्ष्व ॥ २६ ॥

आपः सोमा गृहपतयो देवताः । स्वराडापीं बृहती । मध्यमः ॥

भा०—हे (देवीः) दानशील, या ज्ञान प्रकाशयुक्त (आपः)
आस प्रजाओ ! (एषः) यह राजा (वः) आप लोगों का (गर्भः) माताओं
या गृह-देवियों द्वारा उत्तम रीति से गर्भ के समान रक्षा करने एवं धारण
करने योग्य है । (तम्) उसको (सुप्रीतम्) अति उत्तम रीति से तृप्त,
संतुष्ट और (सुभृतम्) उच्चम रीति से परिपुष्ट रूप में (विभृत) धारण
करो । हे (देव सोम) राजन् सर्वप्रेरक सोम ! (ते एषः लोकः) तेरा
यह प्रजाजन ही निवास करने योग्य आश्रय है । तू (तस्मिन्) उसमें
विद्यमान रहकर (शं वक्ष्व च) शान्ति प्राप्त करा और उसको (परि
वक्ष्व च) अन्य नाना पदार्थ प्राप्त करा, अथवा उसको सब ओर से धारण
कर । या राष्ट्रवासियों को (परि वक्ष्व) सब कष्टों से पार कर, उससे
बचा ॥ शत० ४ । ४ । ५ । २१ ॥

गृहस्थ पक्ष में—हे देवियो ! तुम लोग अपने गर्भ को भली प्रकार
सुष्ट, तृप्त और सुप्रसन्न रूप में धारण पोषण करो । हे गृहपते ! यह
पत्नी ही तेरा आश्रय है । उसको शान्ति दे और उसको अन्य पदार्थ भी
प्रदान कर ।

अवभृथ निचुम्पुण निचेरुरसि निचुम्पुणः । अव देवैर्देवकृत-
मेनां ऽयासिषमव मर्त्यैर्मर्त्यकृतं पुरुराव्णो देव रिषस्पाहि ।
देवानां थं समिदासि ॥ २७ ॥

यजु० २ । ४८ ॥

दम्पती देवत । (१) भुरिक् प्राजापत्याऽनुष्टुप् । गांधारः ।

(२) स्वराडापीं बृहती । मध्यमः ॥

२६—देवीरापः पंक्ति बृहता वा पूर्वार्धचं आप उत्तरः । सर्वा० ॥

२७—देवानामापनेयम् । सर्वा० ।

भा०—हे राजन् ! हे (अवभृथ) अपने अधीन समस्त अधिकारी और प्रजावर्ग को भरण पोषण करनेहारे ! और हे (निचुम्पुण) मन्द, अलक्षितरूप से गतिशील ! तू ! (निचेरुः असि) नित्य चलता रहता है, सर्वत्र राष्ट्र में व्यापक है पर तो भी (निचुम्पुणः) तेरी अत्यन्त मन्दगति है, तेरी गति का पता नहीं लगता। हे (देव) राजन् ! देव, द्रष्टः ! विजयशील ! दमनकारिन् ! मैं (देवकृतम्) देवों, पूज्य विद्वानों के प्रति किये गये (एनः) अपराध को (देवैः) विद्वान् पुरुषों द्वारा (अव अयासिपम्) दूर कर त्याग दूँ । और (मर्त्यकृतम् एनः) साधारण लोगों के प्रति किये अपराध को (मर्त्यैः) साधारण जनों से मिलकर (अव अयासिपम्) दूर करूँ । हे (देव) देव ! राजन् ! तू (पुरुराव्णः) नाना विध दारुण कष्टों के देनेवाले (रिषः) हिंसक पुरुष से हमें (पाहि) रक्षा कर । तू (देवानाम्) देव, विद्वानों और समस्त राष्ट्र के पदाधिकारियों के बीच में (समित्) प्रज्वलित काष्ठ वा सूर्य के समान तेजस्वी (असि) है । शत० ४ । ४ । ५ । २२ ॥

१ एजतु दशमास्यो गर्भो जरायुणा सह । द्यथायं वायुरेजति यथा समुद्रो एजति । २ एवायं दशमास्यो अस्त्रज्जरायुणा सह ॥ २८ ॥

दम्पतो देवते । (३) आसुर्युष्णिक् । ऋषभः ।

(२) प्राजापत्यानुष्टुप् । गांधारः ॥

भा०—मंत्र २६ में राजा को गर्भ से उपमा दी है । उसी का पुनः निर्वाह करते हैं । (दशमास्यः गर्भः) दश मास का गर्भ जिस प्रकार (जरायुणा) जेर के साथ शनैः २ बाहर आता है और माता को प्रसवकाल में पीड़ा देता है उसी प्रकार दश मास के परिपक्व गर्भ के समान अच्युत, दृढ़ (गर्भः) राष्ट्र को पूर्ण प्रकार से ग्रहण करने में समर्थ, वा सुरक्षित राजा ।

२८—गर्भो देवता । अनन्त० । एजतु द्यवसाना महाप्राप्तिः । सर्वा० ॥

(जरायुणा) अपने जरायु अर्थात् चारों ओर से घेरनेवाले, अपनी स्तुति करने वाले, अपने सपक्ष दल के साथ (एजतु) चले । और (तथा) जिस प्रकार (अयं वायुः) यह वायु बड़े वेग से समस्त वृक्ष आदि कंपता हुआ (एजति) चलता है और (यथा समुद्रः एजति) जिस प्रकार समुद्र गर्जता हुआ तरङ्गों द्वारा कंपता है (एव) उसी प्रकार (अयम्) यह (दशमास्यः) दशों दिशाओं में मासू अर्थात् चन्द्रमा के समान बाह्यादक दशमास्य गर्भ के बालक के समान स्वयं उत्पन्न होनेहारा और प्रजाओं को प्रसन्न करने हारा राजा (जरायुणा सह) अपने स्तुति करने हारे दल के साथ (अन्तत्) बाहर आता है, स्पष्टरूप में प्रकट होता है ॥
शत० ४ । ५ । २ । ४, ५ ॥

‘जरायु’—शणा जरायु श० ६ । ६ । २ । १५ ॥ यत्र वा प्रजा-
पतिरजायत गर्भो एतस्मात् यज्ञात् । तस्य यन्नेदिष्टमुल्वमासीत् ते शणाः ॥
श० ३ । २ । १ ११ ॥

गर्भपक्ष में—दस मास का गर्भ जरायु के साथ चले । जिस वेग से वायु और समुद्र चलता है उस प्रकार बिना बाधा के जरायु सहित गर्भ बाहर आवे । इस मन्त्र को महीधर आदि ने गर्मणी गाय के गर्भ-कर्त्तन में लगाया है, सो सर्वथा असंगत है ।

यस्यै ते यज्ञियो गर्भो यस्यै यानिर्हिरण्ययी । अङ्गान्यहुता यस्य
ते मात्रा समजीगमथ् स्वाहा ॥ २६ ॥

दम्पती देवत । भुरिगार्थ्यनुष्टुप् । गान्धारः ।

भा०—गृहस्थ पक्ष में—(यस्यै) जिसका (यज्ञियः) संगीत के योग्य (गर्भः) गर्भाशय है और (यस्यै) जिसकी (योनिः) योनि, आश्रय, देश वा भूमि भी (हिरण्ययी) अभिरमण करने योग्य है, अथवा स्वर्ण के समान

२९—यस्यै ते वशा । सर्वा० ।

स्वच्छ, सम्पन्न निर्दोष हैं उस (मात्रा) पुत्र की भावी माता होने योग्य स्त्री के साथ (तम्) उस पुरुष को (यस्य अंगानि) जिसके अंग (अङ्गुता) कुटिल नहीं हों, (सम् अजीगमम्) हम संग करावें । (स्वाहा) यही उत्तम प्रजननाहुति है । अथवा तभी उत्तम गर्भ ग्रहण होता है ॥ शत० ४ । ५ । २ । १४ ॥

इस मन्त्र में 'मातृ' पद पुत्रोत्पत्ति के पूर्व ही वेद का कहना इसलिये संगत है कि (१) डिम्ब को उत्पन्न करने से ही वह प्रथम माता है । (२) पुत्रोत्पादन से वह भावीकाल में 'माता' बनेगी (३) उस स्त्री को मातृशक्ति या उत्पादिका शक्ति ही संगति में प्रेरित करे ।

राजा के पक्ष में—(यस्यै) जिस पृथिवी के हित के लिये (यज्ञियः) राष्ट्र एवं प्रजापति पद के योग्य ही (गर्भः) उसके वश करने में समर्थ, पुरुष है । और (यस्यै) जिसकी (योनिः) आश्रय (हिरण्ययी) सुवर्ण आदि ऐश्वर्य से युक्त कोश है । उस (मात्रा) माता के समान पृथिवी के साथ (तम्) उस राजा को (यस्य अङ्गानि अङ्गुतानि) जिसके अंग अर्थात् देह वा राज्य के समस्त अंग कुटिलता से रहित, निर्दोष हों जो सत्यवादी, सौम्य, और धर्मात्मा हो उसको उस पृथिवी के ऊपर शासन के लिये (सम् अजीगमम्) मैं पुरोहित संयुक्त करता हूँ ।

पुरुदस्मो विषुरूप इन्दुरन्तर्महिमानमानञ्ज धीरः । एकपदी द्विपदी त्रिपदी चतुष्पदीमष्टापदी भुवनानु प्रथन्ताथं स्वाहा ॥३०॥

दम्पती देवते । गर्भव्यवस्था । आर्षी जगती । मध्यमः ॥

भा०—(पुरुदस्मः) अति अधिक दानशील, अथवा बहुत से प्रजा-जनों के बीच दशनीय, अथवा बहुत से दुखों का नाशक (विषुरूपा) राष्ट्र में व्यापक, बहुत से रूपों में प्रकट होनेवाला (इन्दुः) ऐश्वर्यवान्

३०—पुरदस्मगर्भः । सर्वा० ।

(धीरः) धीर, बुद्धिमान्, सर्व व्यवहारों में कुशल होकर (अन्तः) प्रजाओं के बीच (महिमानम्) अपने महान् सामर्थ्य को (आनञ्ज) प्रकट करता है। हे विद्वान् पुरुषो ! आप लोग (एकपदीम्) राजा रूप एकमात्र चरण अर्थात् आश्रयवाली (द्विपदीम्) राजा और राजाङ्गरूप से दो चरणवाली, (त्रिपदीम्) राजा, राज्याङ्ग और राजसभा इन तीन अंगों से तीन चरणोंवाली, (चतुष्पदीम्) चारों वर्णों से चतुष्पदी, चार चरणोंवाली अथवा सेना के चार अंगों द्वारा चतुष्पदी और (अष्टापदीम्) चार वर्ण और चार आश्रम द्वारा अष्टापदी अथवा राज्य के सात अंग और पुरोहित इनसे अष्टापदी, 'वशा' अर्थात् राज्य की वशकारिणी शक्ति को (भुवना अनु) समस्त भुवानों में (स्वाहा) उत्तम रीति से (प्रथन्ताम्) विस्तृत करो ॥
शत० ४।५।२।१२ ॥

गृहस्थ पक्ष में—दुखों का नाशक, ऐश्वर्यवान्, धीर, गृहस्थ पुरुष अपने सामर्थ्यरूप वीर्य को स्त्री के भीतर स्थापित करे। सब लोग एकपदी, द्विपदी आदि विशेषणों से युक्त वेदवाणी को सर्वत्र विस्तृत करें। 'ओम्' यह एक पद। शब्द और अर्थ दो पद। ऋग्, यजु, साम तीन पद। धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष, चार पद। ४ वर्ण, ४ आश्रम आठ पद। अर्थात् इनको प्राप्त करानेवाली।

मरुतो यस्य हि क्षये प्राथा दिवो विमहसः ।

स सुगोपातमो जनः ॥ ३१ ॥ ऋ० १।८६।१ ॥

गौतमऋषिः । दम्पती गृहपतयो वा मरुतो देवताः । आर्षी गायत्री । षड्जः ॥

भा०—हे (विमहसः) विधि रूपों से और विशेष रीति से पूजन, आदर-सत्कार करने योग्य (मरुतः) मरुद्गणो ! वैश्यजनो ! और विद्वान् पुरुषो ! एवं वायु के समान तीव्रगामी सैनिक पुरुषो ! आप लोग (यस्य हि क्षये) जिसके अधीन राष्ट्र में रहकर (दिवः) दिव्यगुणों या उत्तम पदार्थों को (प्राथ) प्राप्त होते और पालन करते हो (सः) वह

मही (जनः) पुरुष (सु-गोपा-तमः) सबसे उत्तम पृथ्वी या वाणी या प्रजा का रक्षक है ॥ शत० ४ । ५ । २ । १७ ॥

मही द्यौः पृथिवी च न इमं यज्ञं मिमिक्षताम् ।

पिपृतां नो भरीमभिः ॥ ३२ ॥ ऋ० १ । २२ । १३ ॥

मेधातिथिर्ऋषिः । द्यावापृथिव्यौ दम्पती देवते । आर्षी गायत्री । षड्जः ।

भा०—(मही) बड़ी भारी पूजनीय (द्यौः) आकाश के समान या सूर्य के समान तेजस्वी और वीर्यवान्, सेचनसमर्थ राजा और पति और (पृथिवी च) उसके आश्रय पर प्राण धारण करनेवाली पृथिवी और धारणादि शक्ति सम्पन्न स्त्री के समान पृथिवीवासिनी प्रजा, दोनों (इमं यज्ञम्) इस राष्ट्रमय और गृहस्थरूप यज्ञ को (मिमिक्षताम्) सेचन करे । जैसे सूर्य पृथिवी पर वर्षा करता है और पृथ्वी अपना जल प्रदान करती है इस प्रकार वे प्राणियों के जीवनरूप अन्न से उनको पालते हैं उसी प्रकार राजा प्रजा से कर ले, प्रजा राजा के ऐश्वर्यों से बलवान् बने । इसी प्रकार पति पत्नी वीर्य सेचन करें और प्रजा लाभ करें । और दोनों (नः) हमें (भरीमभिः) भरण पोषणकारी पदार्थों और साधनों से (पिपृताम्) पालन करें, पूर्ण करें ॥ शत० ४ । ५ । २ । १८ ॥

१ आतिष्ठ वृत्रहन्तं युक्ता ते ब्रह्मणा हरी । अर्वाचीनं सु ते मनो
प्रावा कृणोतु वग्नना । २ उपयामगृहीतोऽसीन्द्राय त्वा षोडशिनं
ऽऽप त्वे योनिरिन्द्राय त्वा षोडशिनं ॥ ३३ ॥ ऋ० १ । ८४ । ३ ॥

गोतम ऋषिः । षोडशी इन्द्रो गृहपतिदेवता । (१) आर्ष्यनुष्टुप् । गान्धारः

आर्ष्युष्णिक् । ऋषभः ॥

भा०—शोडपी इन्द्र का वर्णन—हे (वृत्रहन्) वृत्र—मेघ के समान पुर के घेरने वाले शत्रु के या विघ्नकारी पुरुष के नाशकारिन् ! राजन् ! वृ (रथम्) रमणीय राज्यासन रूप रथ पर (आ तिष्ठ) विराजमान हो ।

(ते) तेरे (हरी) हरणशील, वेगवान् अश्वों के समान धारण, आकर्षण गुण (ब्रह्मणा) ब्रह्म ज्ञान या ज्ञानी पुरुष, ब्रह्मवेत्ता विद्वान् या ऐश्वर्य या बल से (युक्ता) युक्त हों । (प्रावा) मेघ के समान सुखों का वर्षक, ज्ञानोपदेशक विद्वान् (वग्नुना) उत्तम वाणी द्वारा (अर्वाचीनम्) अधोगामी वा अभिमुख (ते मनः) तेरे चित्त को (सु कृणोतु) उत्तम मार्ग में प्रवृत्त करे । हे पुरुष ! तू (उपयामगृहीतः असि) राज्य की नियमव्यवस्था द्वारा स्वीकृत है । (त्वा) तुझको (षोडशिने इन्द्राय) सोलहों कलाओं से सम्पन्न, इन्द्र परमैश्वर्यवान् राजा के लिये नियुक्त करता हूँ (ते एषः योनिः) तेरा यह आश्रय, पद है । (त्वा षोडशिने इन्द्राय) तुझ योग्य पुरुष को षोडश कला वाले राज्य के प्रधान १६ पदाधिकार शक्तियों से युक्त अथवा १६ महामात्यों से युक्त इन्द्र के लिये नियुक्त करता हूँ ॥ शत० ४ । ५ । ३ । १ ॥

षोडश कला—स प्रजापतिः षोडशधा आत्मानं व्यकुरुत । भद्रं च समासिश्चाऽऽभूतिश्च सम्भूतिश्च, भूतं च सर्वं च, रूपञ्चापरिमितं च, श्रीश्च यशश्च नाम चाग्रञ्च, सजाताश्च पयश्च मही च रसश्च । जै० उ० १ । ४६ । १ ॥ प्रजापति की भद्र आदि १६ कला हैं । राज्य के १६ अमात्य १६ कला हैं । यज्ञ में १६ ऋत्विज् हैं । देह में शिर, ग्रीवा आदि १६ अंग हैं । ब्रह्म में सत्, असत्, वाक् आदि १६ कला हैं । गृहपति पक्ष में मंत्र स्पष्ट है । 'युत्वा हि केशिना हरी वृषणा कन्द्यप्रा । अथा न इन्द्र सोमपा गिरामुपश्रुतिं चर । उपयामगृहीतो ऽसीन्द्राय त्वा षोडशिने एष ते योनिरिन्द्राय त्वा षोडशिने ॥ ३४ ॥ ऋ० १ । १४ । ३ ॥

यथुक्त्वा ऋषिः । षोडशी इन्द्रो गृहपतिर्वा देवता । (१) विराडार्यनुद्धप् ।

गान्धारः । (२) आर्युष्णिक् ऋषभः ॥

३४—' षोडशी ० ' सर्वत्र कायव० ॥

भा०—हे (इन्द्र) इन्द्र ! ऐश्वर्यवान् ! राजन् ! तू (वृषणा) वीर्यवान्, वर्षणशील, (केशिनौ) उत्तम केशों वाले (कक्ष्य-प्रा) बगल में बंधने की पेटी से भरे पूरे, कसे कसाये, (हरी) दो अश्वों को अपने रथ में (युक्ष्व) जोड़ । उसी प्रकार अपने रमणीय राष्ट्र में (कक्ष्य-प्रा) एक दूसरे के कक्ष्य अर्थात् दायें बायें पार्श्वों के पूर्ण करने वाले, (वृषणा) वीर्य सेचन में समर्थ, (हरी) परस्पर के चित्तहारी (केशिनौ) उत्तम प्रसाधित केशवान्, सुरूप स्त्री पुरुष रूप जोड़ों को गृहस्थ कार्य में (युक्ष्व) नियुक्त कर । तू (सोम-पाः) सोम=राष्ट्र का पालक होकर (नः) हमारी (उप-श्रुतिम्) स्पष्ट सुनी जाने वाली (गिराम्) वाणी को प्राप्त कर, जान । (उपयामगृहीतः असि० इत्यादि) पूर्ववत् ॥ शत० ४।५।३।१० ॥

^१इन्द्रमिन्द्रा वहतोऽप्रतिघृष्टशवसम् । ऋषीणां च स्तुतीरूपं यज्ञं च मानुषाणाम् । ^२उपयामगृहीतोऽसीन्द्राय त्वा षोडशिनोऽण्ड ते योनिरिन्द्राय त्वा षोडशिनो ॥ ३५ ॥ ऋ० १।८४।२ ॥

गौतम ऋषिः । षोडशीन्द्रो गृहपति देवता । विराडाध्वनुण्डप् । गान्धारः

(२) आर्युष्णिक् ऋषभः ॥

भा०—(अप्रतिघृष्टशवसम्) जिसके बल को शत्रु कभी सहन करने में समर्थ नहीं हैं ऐसे (इन्द्रम्) इन्द्र, परमैश्वर्यवान् राजा या सेनापति को ही (हरी) तीव्र गतिमान् अश्व (वहतः) वहन करते हैं । हे वीर-पुरुष राजन् ! तू (ऋषीणाम्) वेद-मन्त्रार्थ-द्रष्टा ऋषियों की (स्तुतीः) स्तुतियों और (मानुषाणां च) मनुष्यों के (यज्ञम्) आदर-सत्कार को (उप) प्राप्त हो ।

परमेश्वर पक्ष में—हरी = ऋग्वेद और सामवेद । दोनों उस सर्वशक्तिमान् का वर्णन करते हैं । सब ऋषियों की स्तुतियाँ और सबकी उपासना उसी को प्राप्त हैं ॥

यस्मान्न ज्ञातः परोऽन्योऽस्ति यऽत्राविवेश भुवनानि विश्वा
प्रजापतिः प्रजया सत्तराणस्त्रीणि ज्योतींश्च सचते स
षोडशी ॥ ३६ ॥

विवस्वान् ऋषिः । इन्द्रः । षोडशी प्रजापतिः परब्रह्म परमेश्वर वा देवता ।

भुरिगार्षी त्रिष्टुप । धैवतः ॥

भा०—(यस्मात्) जिससे (परः) उत्कृष्ट, उत्तम (परः अन्यः)
दूसरा कोई (न ज्ञातः अस्ति) नहीं हुआ है और (यः) जो (विश्वा
भुवनानि) समस्त भुवनों, लोकों में (आविवेश) आविष्ट, विराजमान,
एवं व्यापक है । वह (प्रजापतिः) प्रजा का पालक राजा और परमेश्वर
(प्रजया) अपनी प्रजा से (सं रराणः) भली प्रकार रमण करता हुआ
अथवा समस्त उत्तम पदार्थों का दान करता हुआ (त्रीणि ज्योतींश्च) सूर्य,
विद्युत्, और अग्नि इन तीनों ज्योतियों को (सचते) अपने भीतर धारण
करता है । (सः) वह ही (षोडशी) सोलहों कलाओं से युक्त है ॥

ब्रह्म पक्ष में—इच्छा, प्राण, श्रद्धा, पृथिवी, आपः, अग्नि, वायु,
आकाश, इन्द्रिय, मन, अन्न, वीर्य, तपः, मन्त्र, लोक और नाम ये १६
कला हैं (देखो प्रश्न उप०) !

राजा के पक्ष में—‘षोडशी’ प्रजापति सम्राट् वह कहानेयोग्य है, जिस
से उत्कृष्ट दूसरा न हो । वह अपने राज्य के समस्त स्थानों और पदों पर
शासक हो । वह अपनी प्रजा सहित रमण करता हुआ तीनों ज्योति सूर्य,
विद्युत् अग्नि के समान तेजस्वी हो । वह ‘षोडशी’ सोलह कलावान् अथवा
१६ राजसभा के सदस्यों से युक्त पुरुष पुरुषोत्तम पद का भागी होता है ॥

इन्द्रश्च सम्राट् वरुणश्च राजा तौ ते भूतं चक्रतुरग्र एतम् ।
तयोरहमनु भूतं भक्षयामि वाग्देवी जुषाणा सोमस्य तृप्यतु
सह प्राणेन स्वाहा ॥ ३७ ॥

विवस्वान् ऋषिः । इन्द्रावरुणौ सम्राट् माण्डलिकराजानौ देवते । (१) साम्ना
त्रिष्टुप् (२) आर्ची त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—(इन्द्रः वरुणः च) इन्द्र और वरुण (सम्राट् राजा च)
दोनों क्रम से सम्राट् और राजा हैं । अर्थात् महाराजा चक्रवर्ती राजा को
सम्राट् या इन्द्र कहा जाता है और माण्डलिक राजा को राजा या वरुण
कहना उचित है । हे प्रजाजन ! या हे राष्ट्र ! (तौ) वे दोनों (अग्ने)
सब से प्रथम, मुख्य पद पर विराज कर (ते) तेरे (एतम्) इस
(भक्षम्) उपभोग करने योग्य पदार्थ को सेवन (चक्रतुः) करते हैं
और (तयोः अनु) उन दोनों के बाद (अहम्) मैं विद्वान् प्रजाजन
(भक्षम् अनुभक्षयामि) राष्ट्र के भोग्य पदार्थ का भोग करता हूँ । (वाग्)
वाणी जिस प्रकार (प्राणेन स्वाहा) प्राण के साथ मिलकर (सोमं जुषाणा)
ज्ञान का सेवन करती हुई तृप्त होती है उसी प्रकार यह (देवी) देवी,
पृथिवी या महारानी (सोमस्य) सब के शासन करने वाले राजा के साथ
(जुषाणा) प्रेम करती हुई (स्वाहा) उत्तम कीर्ति से (तृप्यतु) तृप्त हो ॥

१ अग्ने पवस्व स्वपाऽश्रस्मे वर्चः सुवीर्यम् । दधद्र्यि मयि
पोषम् । २ उपयामगृहीतोऽस्यग्नये त्वा वर्चसऽपृष ते योनिर्ग्नये
त्वा वर्चसे । ३ अग्ने वर्चस्विन्वर्चस्वाँस्त्वन्देवेष्वसि वर्चस्वा-
नहं मनुष्येषु भूयासम् ॥ ३८ ॥

वैखानस ऋषिः । राजादयो गृहपतयो वा अग्निदेवता । भुरिक् त्रिपाद् गायत्री ।
पङ्कजः । (२) स्वराडाचर्यनुष्टुप् । (२) भुरिगाचर्यनुष्टुप् । गांधारः ॥

भा०—हे (अग्ने) अग्रणी, ज्ञानवान् पुरुष ! तू (स्वपाः) शुभ कर्म

३७—इन्द्रश्चेन्द्रावरुणौ । षोडशीदेवत्या वा यजुरन्ता । सर्वा० ।

३८—‘१’ इत्यस्य स्थाने ‘अग्न आर्यंषि०’ इत्ययं च (यजु० १६ । ३८)
पठ्यते । काण्व० । अग्न वर्चस्वन्० इति काण्व० ३९ ।

और ज्ञान से युक्त हो और (अस्मे) हमें (सुवीर्यम्) उत्तम वीर्य से युक्त (वर्चः) तेज (पचस्व) प्रदान कर । (मयि) मुझ में (पोषम्) पुष्टि-कारक समृद्धिजनक (रयिम्) वीर्य और ऐश्वर्य (दधत्) धारण करा । हे पुरुष ! तू (उपयामगृहीतः असि) उत्तम राज्यव्यवस्था के वश है । (अग्रये) अग्नि पदके (वर्चसे) तेज के लिये (त्वा) तुझको नियत करता हूँ । (ते एषः योनिः) तेरा यह पद है । (अग्रये वर्चसे त्वा) अग्नि के तेजस्वी पद के लिये तुझे स्थापित करता हूँ । हे (वर्चस्विन् अग्ने) तेजस्विन् ! अग्ने ! अग्रणी, विद्वन् ! (देवेषु) देवों, विद्वानों और राजाओं के बीच में (त्वं वर्चस्वान्) तू तेजस्वी (असि) है । (अहम्) मैं (मनुष्येषु) मनुष्यों में (वर्चस्वान् भूयासम्) वर्चस्वी होऊँ, अग्नि शब्द से अग्रणी, राजा, विद्वान्, आचार्य आदि ग्रहण करने चाहियें ॥ शत० ४।५।४।९ ॥

^१उत्तिष्ठन्नोजसा सह प्रीत्वी शिप्रेऽश्रवेपयः सोममिन्द्र चमू सुतम् । ^२उपयामगृहीतोऽसीन्द्राय त्वौजसऽएष ते योनिरिन्द्राय त्वौजसे । ^३इन्द्रौजिष्ठौजिष्ठस्त्वं देवेष्वस्योजिष्ठोऽहम्मनुष्येषु भूयासम् ॥ ३६ ॥

ऋ० ८।७६।१० ॥

ऊरुस्तुति वैखानसो वा ऋषिः । इन्द्रो राजादयो गृहस्था वा देवताः । (१, २) आपीं गायत्री । षड्जः । (३) आचर्युष्णिक् । ऋषभः ॥

भा०—हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवान् राजन् ! ऐश्वर्य की प्राप्ति के अभिला-
षिन् ! तू (ओजसा सह) अपने बल, पराक्रम के साथ (उत् तिष्ठन्)
ऊपर उठता हुआ, उन्नति लाभ करता हुआ (चमू) अपनी सेनाओं द्वारा

३६—वैखानस ऋषिः । द० ॥ अग्न आयाष द्वे वैखानसः अग्नेयौ ॥ इति

काण्व सर्वा० । कुरुस्तुतिः ऋषिः । सर्वा० । कुरुस्तुतिः ऋषिः । इन्द्रो राजादयो गृहस्था वा देवताः । (१, २) आपीं गायत्री । षड्जः । (३) आचर्युष्णिक् । ऋषभः ॥

(सुतम्) सम्पादित (सोमम्) सोम अर्थात् ऐश्वर्ययुक्त राज्यपद को (पीत्वी) प्राप्त करके (शिप्रे) अपने हनु और नासिका दोनों को (अवेपयः) कंपा । अर्थात् जिस प्रकार मनुष्य स्वादु पदार्थ पीकर तृप्त होजाने पर नाक मुख हिलाता है इसी प्रकार तू भी राज्यैश्वर्य प्राप्त करके अपना सन्तोष प्रकट कर । हे योग्य वीर पुरुष ! तू (उपयामगृहीतः असि) राज्यव्यवस्था के द्वारा स्वीकृत है । (त्वा इन्द्राय ओजसे) तुझको पराक्रमशील इन्द्र पद के लिये मैं नियत करता हूँ । (एषः ते योनिः) यह तेरा सिंहासन है । (इन्द्राय त्वा ओजसे) इस पराक्रमशील इन्द्र पद के लिये तुझे इस पद पर स्थित करता हूँ । हे (ओजिष्ठ इन्द्र) सबसे अधिक ओज, तेज, और पराक्रम से युक्त, इन्द्र ! राजन् ! (त्वं देवेषु ओजिष्ठः असि) तू समस्त राजाओं में से सबसे अधिक पराक्रमी है । (अहं) मैं तेरे द्वारा (मनुष्येषु ओजिष्ठः भूयासम्) मनुष्यों में सबसे अधिक ओजस्वी हो जाऊँ ॥ शत० ४ । ५ । ४ । १० ॥

अदृश्रमस्य केतवो वि रश्मयो जनाँऽऽ अनु । आजन्तोऽअग्नयो यथा । उपयामगृहीतोऽसि सूर्याय त्वा भ्राज्यायैष ते योनिः सूर्याय त्वा भ्राजाय सूर्यं आजिष्ठ आजिष्ठस्त्वं देवेष्वसि । आजिष्ठोऽहं मनुष्येषु भूयासम् ॥ ४० ॥ ऋ० १ । ५० । ३ ॥

प्रस्कण्व ऋषिः । सूर्योऽग्नयो गृहपत्यो राजादयो देवताः ॥ (१) आर्षी गायत्री ।

(२) स्वराडापी गायत्री । पङ्क्तः ॥

भा०—सूर्य की रश्मियां जिस प्रकार प्रदीप्त अग्नियों के समान दिखाई पड़ती हैं उसी प्रकार (अस्य) इस राजा के (रश्मयः) सूर्य-किरणों के समान दीप्तिवाले तेजस्वी (केतवः) ज्ञापक, ज्ञानवान् अधिकारी

४०, ४१—अदृश्रम् प्रस्कण्वः सौरीम् । सर्वा० ॥ 'सूर्याय त्वा भ्राज्यायैष ते योनिः' सर्वत्र । 'सूर्यं भ्राज्यायैष ते योनिः' इति काण्व० ॥

लोग (यथा) जिस प्रकार (भ्राजन्तः) देदीप्यमान (अग्नयः) अग्नि हों
 उसी प्रकार तेजस्वी ज्ञानवान् अग्रणी पुरुष हैं, उनको (जनान् अनु)
 समस्त प्रजाजनों के उपकार के लिये नियुक्त (अदृशम्) देखता हूँ । हे
 तेजस्वी पुरुष ! तू (उपयामगृहीतः असि) राज्य के व्यवस्था-नियमों से
 बद्ध है । (भ्राजाय सूर्याय त्वा) प्रकाशमान तेजस्वी 'सूर्य' पद के लिये
 तुझे वरता हूँ । (एषः ते योनिः) तेरा यह आश्रय पद है । (भ्राजाय
 सूर्याय त्वा) प्रदीप्त सूर्य पद के लिये तुझे स्थापित करता हूँ । हे (भ्राजिष्ठ
 सूर्य) अति दीप्त सूर्य के समान पदाधिकारिन् ! (भ्राजिष्ठः देवेषु असि)
 तू सव्य देव, विद्वानों और राजाओं में सबसे अधिक तेज और दीप्ति से युक्त
 है । तेरे तेज से (मनुष्येषु अहम्) मनुष्यों में मैं (भ्राजिष्ठः भूयासम्)
 सबसे अधिक दीप्तिमान् होऊँ ॥ शत० ४ । ५ । ४ । ११ ॥

३८-४० तीनों मन्त्र परमात्मा के पक्ष में स्पष्ट हैं जैसे—(१)
 हे ज्ञानवान् ! परमेश्वर ! हमें वीर्यवान् तेज और पुष्टिकारक बल दे । (२)
 हे इन्द्र ! परमेश्वर ! अपने (चमू) आदान सामर्थ्यों से इस प्रकट (सोमन्)
 महान् संसार को स्वयं पान करके, ग्रहण करके तू (शिमे) पृथिवी और
 आकाश दोनों को चला रहा है । तू सबसे अधिक बलशाली है हमें बल दे ।
 (३) हे (सूर्य) सूर्य के समान परमेश्वर ! आपकी समस्त किरणें अभियों
 के समान दीप्त हैं । आप हमें दीप्ति दें । हम दीप्तिमान् हों ।

'उदुत्यं जातयेदसं देवं वहन्ति केतवः । दृशे विश्वाय सूर्यम्
 उपयामगृहीतोऽसि सूर्याय त्वा भ्राजायैष ते योनिः सूर्याय त्वा
 भ्राजाय ॥ ४१ ॥ ऋ० १ । ५० । १ ॥

प्रक्ष्व ऋषिः । सूर्यो देवता । (१) निचृदर्षी, (२) स्वराडार्षी गायत्री । षड्जः ॥

४१—देवानामर्षिम् । सर्वा० । ऋग्वेदे प्रकण्वः काण्व ऋषिः ॥ अतः पर
 'वित्र देवानाम्' इति (यजु० ७ । ४२) मन्त्रः, (८ । ४०) उपयाम०
 भूयासम्, अयं च मन्त्रः ।

भा०—(त्वं) उस (जातवेदसम्) समस्त पदार्थों के ज्ञाता, वेदों के मूलकारण या समस्त पदार्थों के स्वामी परमेश्वर को और ऐश्वर्यवान् (सूर्य देवम्) सूर्य के समान तेजस्वी देव, राजा और परमेश्वर को (केतवः) किरणों के समान प्रकाशमान ज्ञानी विद्वान् लोग (विश्वाय दृशे) समस्त संसार के यथायोग्य ज्ञानपूर्वक देखने के लिये निरीक्षक साक्षीरूप से (उद् वहन्ति) सबसे ऊपर स्थापित करते हैं । हे सूर्य के समान तेजस्वी पुरुष ! तू (उपयामगृहीतः असि) राज्य-नियमव्यवस्था द्वारा सुबद्ध है । (त्वा सूर्याय भ्राजाय) तुझको तेजोयुक्त सूर्य पद के लिये नियुक्त करते हैं (एषः ते योनिः) यह तेरा पद है । (सूर्याय भ्राजाय त्वा) सूर्य के समान तेजस्वी पदाधिकार के लिये तुझको स्थापित करता हूँ ।

परमात्मा पक्ष में—(केतवः) ज्ञानी पुरुष उस सर्वज्ञ परमेश्वर देव को (विश्वाय दृशे) समस्त विश्व के हित के लिये उस पर साक्षीरूप से द्रष्टा के रूप में (उद् वहन्ति) सर्वोच्च बतलाते हैं ॥ शत० ४ । ६ । २८ ॥

आजिघ्र कलशं मृह्या त्वा विशान्तिवन्दवः । पुनरूर्जा निवर्त्तस्व
सा नः सहस्रं धुन्वोरुधारा पयस्वती पुनर्माविशताद्वयिः ॥४२॥

कुसुशविन्दुर्धृषिः । पत्नी गौर्वा देवता । स्वराड् ब्राह्मी उष्णिक् । ऋषभः ॥

भा०—हे (महि) पूजा करने योग्य, गौ के समान महती, एवं गृहस्थ में पत्नी के समान आदर करने योग्य पृथिवी ! तू (कलशम्) समस्त कलाओं, राज्य के अंगों को सुचारु रूप से धारण करनेवाले राष्ट्र और राष्ट्रपति को (आ जिघ्र) आघ्राण कर, स्वीकार कर (त्वा) तुझमें (इन्दवः) ऐश्वर्यवान् राजा, प्रजाजन और ऐश्वर्य के पदार्थ (आ विशन्तु) प्रविष्ट हों । तू (पुनः) बार २ (ऊर्जा) अन्न आदि पुष्टिकारक पदार्थों सहित (निवर्त्तस्व) भरी पूरी हो, और हमें प्राप्त हो । (सा)

४२—आजिघ्रेडे कुसुशविन्दुर्गव्ये । सर्वा० ।

वह तू (नः) हमें (उरुधारा) बहुत से धारण पोषण के सामर्थ्यवाली और (पयस्वती) अन्न, दूध आदि से युक्त गौ के समान होकर (सहस्रं) हजारों ऐश्वर्य (धुक्व) प्रदान कर । और (रयिः) ऐश्वर्यरूप तू (मा) मुझे (पुनः) बार ३ (आविशतात्) प्राप्त हो या दान दे । इसी प्रकार गृहस्थ अपनी पत्नी को भी कहे, वह कलश के समान पति को सुपात्र जानकर ग्रहण करे, उसमें सब ऐश्वर्य प्राप्त हो । वह अन्न से युक्त हो । घर के सहस्रों ऐश्वर्य बढ़ावे । पुनः पति को ही बार २ प्राप्त हो । शत० ४ । ५ । ८ । ७=९ ॥

इडे रन्ते हव्ये काम्ये चन्द्रे ज्योतेऽदिते सरस्वति महि विश्रुति ।
एता तेऽअध्न्ये नामानि देवेभ्यो मा सुकृतं ब्रूतात् ॥ ४३ ॥

अग्निदेवते पूर्वोक्ते । आर्षी पांक्तिः । पंचमः ॥

भा०—हे (इडे) स्तुति योग्य अन्नदात्री ! हे (रन्ते) रमण करने योग्य रमणीय ! हे (हव्ये) स्वीकार करनेयोग्य ! हे दान करने योग्य ! हे (काम्ये) कामना योग्य, कमनीय ! कान्तिमति ! हे (ज्योते) ज्योतिष्मति ! प्रकाशस्वरूप ! हे (चन्द्रे) चन्द्र के समान आल्हादकारिणी ! धनैश्वर्यरूपे ! हे (अदिते) अविनाशिनि ! अखण्डचरित्रे ! हे (महि) पूजनीय ! हे महति ! हे (विश्रुति) विविध गुणों से प्रसिद्ध, विविध विद्याओं में कुशल ! (मा) मुझे अपने पति, पालक को (देवेभ्यः) अन्य विद्या आदि देनेवाले एवं विजयी पुरुषों के समक्ष (सुकृतम्) उत्तम कर्म करनेवाला पुण्याचारवान् (ब्रूतात्) बतला, प्रसिद्ध कर । हे (अध्न्ये) कभी दण्ड न देने योग्य ! कभी न मारने योग्य ! न कभी विनाश करने योग्य ! (एता) इडा, रन्ता, हव्या, चन्द्रा, ज्योता अदिति, सरस्वती, मही, विश्रुता ये सब (ते) तेरे ही (नामानि) नाम, तेरे ही स्वरूप हैं ॥ शत० ४ । ५ । ८ । १० ॥

गौ, स्त्री और पृथिवी तीनों को समानरूप से यह मन्त्र बतलाता है ।

अध्यात्म में ब्रह्मशक्ति, आत्मा का, चितिशक्ति और वेदवाणी का भी इस मन्त्र में वर्णन है ।

१वि नऽइन्द्र मृधो जहि नीचां यच्छ पृतन्यतः । योऽअस्माँऽ
अभिदासत्यधरं गमया तमः । २उपयामगृहीतोऽसीन्द्राय त्वा
विमृधेऽएष ते योनिरिन्द्राय त्वा विमृधे ॥ ४४ ॥

ऋ० १० । १५ । १४ ॥

शासो भारद्वाज ऋषिः । इन्द्रो देवता । (१) निचृद् अनुष्टुप् । गान्धारः ।

(२) स्वराढापी गायत्री । षड्जः ॥

भा०—हे (इन्द्र) सेनापति या राजन् ! तू (नः) हमारे (मृधः) शत्रुओं को (वि जहि) विनाश कर (पृतन्यतः) युद्ध के लिये सेना-संग्रह करने वाले या सेना से चढ़ाई करने वाले शत्रुओं को (नीचा यच्छ) नीचे, गहरे स्थानों में बन्द करके रख, या (नीचा यच्छ) उन नीच, दुष्ट पुरुषों को बांध कर रख । (यः) जो (अस्मान्) हमको (अभिदासति) सब प्रकार से नाश करना चाहता है, उसको (अधरं तमः) नीचे गहरे अन्धकार के स्थान में (गमय) पहुँचा । हे योग्य पुरुष ! तू (उपयामगृहीतः) असि) राज्यव्यवस्था द्वारा स्वीकृत है । (त्वा) तुझको (विमृधे इन्द्राय) विशेषरूप से शत्रुओं के नाशक, विशेष संग्रामकारी इन्द्र सेनापति के पद पर नियुक्त करता हूँ । (ते एषः योनिः) तेरा यह पद या आश्रय है । (विमृधे इन्द्राय त्वा) 'विमृध् इन्द्र' अर्थात् विशेष सांग्रामिक सेनापति (Admiral) नामक पद पर तुझे स्थापित करता हूँ ॥ शत० ४।६।४।४॥

१वाचस्पतिं विश्वकर्माणमुतये मनोजुवं वाजेऽअद्या हुवेम ।
स नो विश्वानि हवनानि जोषद्विश्वशम्भुरवसे साधुकर्मा ।
२उपयामगृहीतोऽसीन्द्राय त्वा विश्वकर्माण एष ते योनिरिन्द्राय
त्वा विश्वकर्माणे ॥ ४५ ॥

शासो भारद्वाज ऋषिः । ईश्वरः सभेशो वाचस्पतिर्विश्वकर्मा इन्द्रो देवता ।

(१) मुरिगार्पी त्रिष्टुप् धैवतः । (२) विराडार्घ्यनुष्टुप् । गांधारः ।

भा०—(वाचः पतिम्) वाणी के स्वामी, सब आज्ञाओं के स्वामी, (विश्व-कर्माणम्) समस्त कर्मों और धर्मों के व्यवस्थापक, उनके सम्पादन करने कराने में समर्थ, (मनोजुवम्) मनके समान वेगवान् पुरुष को हम (अद्य) आज, नित्य (वाजे) संग्राम कार्य में (हुवेम) बुलाते हैं, चाहते हैं । (सः) वह (साधु-कर्मा) उत्तम श्रेष्ठ कर्म करने हारा सदा-चारी, अथवा सब कामों के करने में कुशल (विश्व-शम्भूः) सबका कल्याणकारी होकर (नः) हमारे (विश्वानि) समस्त (हवनानि) आर्यनाओं को, अभिलाषाओं को (जोषत्) स्वीकार करे और पूर्ण करे । हे योग्य पुरुष ! तू (उपयाम-गृहीतः असि) राष्ट्रव्यवस्था द्वारा स्वीकृत है । (त्वा इन्द्राय विश्वकर्मणे) तुझको 'विश्वकर्मा इन्द्र' के पद पर नियुक्त करता हूँ । (एषः ते योनिः) यह तेरा पद और स्थान है (त्वा इन्द्राय विश्वकर्मणे) तुझको 'इन्द्र विश्वकर्मा' पद पर स्थापित करता हूँ ॥ शत० ४ । ६ । ४ । ५ ॥

विश्वकर्मन् हविषा वर्धनेन त्रातारमिन्द्रमकृणोरबुध्यम् । तस्मै विशः समनमन्त पूर्वीर्यमुग्रो विहव्यो यथासत् । उपयानगृहीतोऽसीन्द्राय त्वा विश्वकर्मणः एष ते योनिरिन्द्राय त्वा विश्वकर्मणे ॥ ४६ ॥

शासो भारद्वाज ऋषिः । विश्वकर्मा इन्द्रो देवता । निचृदार्पी । त्रिष्टुप् । धैवतः
(२) विराडार्घ्यनुष्टुप् । गांधारः ॥

भा०—हे (विश्वकर्मन्) समस्त कला कौशल के कार्यों को भली

४६—अतः परं 'विश्वकर्मन् ० ० सूरिरस्तु' अयं (यजु० १७ । २२) अत्र पठ्यते । काण्व० ॥

प्रकार से सम्पादन करने में समर्थ, विद्वान्, क्रियाकुशल पुरुष ! तू (वर्धनेन हविषा) वृद्धि करने वाले उपाय या साधन से या काष्ठ, लोह आदि पदार्थों के छेदन-भेदन की (हविषा) उचित साधन-सामग्री से (त्रातारम्) राष्ट्र के रक्षक इन्द्र को (अवध्यम् अकृणोः) अवध्य बना देता है। अर्थात् तेरे कौशलों से सुरक्षित राजा को कोई भी युद्ध में मारने से समर्थ नहीं होता है। (तस्मै) उस रक्षक राजा के आगे (पूर्वोः) शिक्षा में पूर्ण, (विशः) समस्त प्रजाएं (सम् अनमन्त) भली प्रकार झुकती हैं। तेरे ही कारण (अयम्) यह राजा (विहव्यः) विशेष साधनों से सम्पन्न (यथा असत्) जिस प्रकार हो तू ऐसा प्रयत्न कर। हे योग्य पुरुष (उपयाम गृहीतः असि०) इत्यादि पूर्वत् ॥ शत० ४।५।४।६॥

उपयामगृहीतोऽस्यग्नये त्वा गायत्रच्छन्दसं गृह्णामीन्द्राय त्वा त्रिष्टुप्छन्दसं गृह्णामि विश्वेभ्यस्त्वा देवेभ्यो जगच्छन्दसंगृह्णाम्यनुष्टुप्तेऽभिगरः ॥ ४७ ॥

देवा ऋषयः । अदाभ्यो विश्वकर्मा इन्द्रो देवता ! विराड् ब्राह्मी बृहती । मध्यमः ।

भा०—हे योग्य पुरुष ! तू (उपयामगृहीतः असि) राज्यव्यवस्था द्वारा स्वीकृत है। (अग्नये) अग्नि पद के लिये (गायत्र-छन्दसम्) गायत्री छन्द से युक्त (त्वा) तुझको (गृह्णामि) स्वीकार करता हूँ। और हे पुरुष (त्रिष्टुप् छन्दसम् त्वा) त्रिष्टुप्-छन्द से युक्त तुझको (इन्द्राय) इन्द्रपद के लिये स्वीकार करता हूँ। (जगत्-छन्दसं त्वा) जगत् छन्द से युक्त तुझको (विश्वेभ्यः देवेभ्यः) समस्त देव विद्वानों के हित के लिये (गृह्णामि) स्वीकार करता हूँ। हे राजन् ? (ते अभिगरः) तेरा उपदेश आज्ञापक (अनुष्टुप्) अनुष्टुप्, यह वेदवाणी है ॥ शत० ॥

४७—अग्नये त्वा देवर्षाणि अदाभ्यदेवत्यानि । सर्वा० ॥

(१) 'गायत्रच्छन्दसं'—गायत्रोऽयं भूलोकः ॥ कौ० ८ । ९ ॥ ब्रह्म-
गायत्रो, क्षत्रं त्रिष्टुप् । भूलोक और ब्रह्म वेद या ब्राह्मणों के 'छन्दस्',
अर्थात् आच्छादक रक्षक को 'अग्नि' पद के लिये नियुक्त करे ।

(२) क्षत्रस्यैवैतच्छन्दो यत् त्रिष्टुप् । कौ० १० । ५ ॥ बलं वै वीर्यं
त्रिष्टुप् । कौ० ७ । २ ॥ बल की रक्षा करने वाले को 'इन्द्र' पद के लिये
नियुक्त करे ।

(३) पशवो वै जगती । कौ० ११ । २ ॥ जगती वै छन्दसां परमं
पोषं पुष्टा । समस्त अन्य देवों के पदों पर पशु, प्रजा, समृद्धि के पालक
पुरुषों को नियुक्त करे ।

(४) 'अनुष्टुप्'—वाग् वा अनुष्टुप् । शत० ३ । १ । ४ । १ ॥
प्रजापतिर्वा अनुष्टुप् । ता० ४ । ८ । ६ ॥ आनुष्टुभो राजन्यः । तै०
१ । ८ । १ ॥ वाणी और प्रजापालक शक्ति राष्ट्र का 'अभिगर' आज्ञा-
पक या उपदेष्टा हो ।

^१ब्रेशीनां त्वा पत्सन्नाधूनोमि । ^२कुक्कूननानां त्वा पत्सन्ना-
धूनोमि । ^३मध्वन्तमानां त्वा पत्सन्नाधूनोमि । ^४मुदिन्तमानां त्वा
पत्सन्नाधूनोमि । ^५मध्वन्तमानां त्वा पत्सन्नाधूनोमि । ^६शुक्रं
त्वा शुक्र आधूनोम्यन्हो रूपे सूर्यस्य रश्मिषु ॥ ४८ ॥

देवा ऋषयः । प्रजापतया देवताः । (१) याजुषी पोक्तः । पंचमः (१, ४, ५,)

याजुषी जगता । निषादः । (६) साम्नी बृहती । मध्यमः ॥

(३) याजुमीत्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—हे सोम ! राजन् ! हे (पत्सन्) पतनशील ! (ब्रेशीनाम्)
आवृत्तस्थान पर शयन करने वाली प्रजाओं के बीच धर्माचरण से गिरते
हुए (त्वा) तुझको (आधूनोमि) कंपाता हूँ । (कुक्कूननानां त्वा पत्सन्
आधूनोमि) निरन्तर विद्याभ्यास करने वाली विनयशील प्रजाओं के बीच

४८—ब्रेशीनान्त्वा सोम्यानि । सर्वा० । 'मध्वन्तमानां०' इति वाख्य० ॥

न्यायाचरण से गिरने पर (त्वा) तुझको मैं (आधूनोमि) कम्पित करूँ ।
 (भन्दनानां) कल्याणकारिणी, सुख देने वाली प्रजाओं के बीच (पत्मन्
 त्वा आधूपयामि) तेरे अधःपतन होने पर मैं पुरोहित तुझको कम्पित
 करूँ । (मदिन्तमानां पत्मन् त्वा आधूनोमि) अत्यन्त हर्षकारिणी, स्वयं
 सदा सन्तुष्ट रहने वाली प्रजाओं के बीच नीच आचरण से गिरने पर
 तुझको मैं दण्ड से कम्पित करूँ । (मधुन्तमानां त्वा पत्मन् अधूनोमि)
 मधुर स्वभाव वाली ज्ञान-सम्पन्न प्रजाओं के बीच अन्याय से गिरने पर
 तुझको मैं कम्पित करूँ । हे (शुक्र) कान्तिमान् शुद्धाचरण राजन् !
 (अन्हः रूपे) दिन या सूर्य के प्रदीप्त स्वरूप में और (सूर्यस्य रश्मिषु)
 सूर्य की किरणों के समान स्वयं सब प्रकार का कार्य साधन करने वाले
 पुरुषों में (शुक्रम्) दीप्तिमान् तुझको मैं (पत्मन्) नीचाचार होने पर
 (आ) कम्पित (धूनोमि) करता हूँ । पुरोहित राजा को नाना प्रकार की
 प्रजाओं में रहकर नीच आचार करने पर भयादि दिखाकर उन दुराचारों
 से बचावे । राजा प्रजा के समान पति-पत्नी का भी व्यवहार है । अतः
 पत्नी या पुरोहित भिन्न स्वभाव की परदाराओं के निमित्त दुराचार में
 गिरने वाले पति को नाना उपायों से दण्डित कर दुष्ट मार्ग से बचावे ॥

१ ककुभश्च रूपं वृषभस्य रोचते बृहच्छुक्रः शुक्रस्य पुरोगाः सोमः
 सोमस्य पुरोगाः । २ यत्ते सोमादाभ्यन्नाम जागृवि तस्मै त्वा
 गृह्णामि तस्मै ते सोम सोमाय स्वाहा ॥ ४६ ॥

देवा ऋषयः । विश्वेदेवाः प्रजापतयो देवताः । (१) विराट् प्राजापत्या जगती ।
 निषादः । (२) निचृद् उष्णिक् । धैवतः ॥

भा०—(वृषभस्य) सब सुखों के वर्धक राजा या सभापति का

४९—‘ककुहश्च’० ‘बृहत्सोमः सोमस्य पुरोगाः शुक्रा शुक्रस्य पुराणाः स्वाहा
 इति काण्व० ॥

(ककुभम्) दिशा के समान शुद्ध और आदित्य के समान कान्तिमान् (रूपरोचते) रूप प्रकाशित होता है। (बृहत्) महान् (शुक्रः) कान्तिमान् आदित्य जिस प्रकार (शुक्रस्य) शुद्ध दीप्मान् तेजआदिका (पुरोगाः) पुरोगामी, नेता, प्रवर्तक, होता है उसी प्रकार (शुक्रः) तेजस्वी, शुद्धाचारी राजा ही (शुक्रस्य पुरोगाः) शुक्र और तेजस्वी धर्मानुकूल राष्ट्र का नेता होता है, या तेजस्वी विद्वान् ही पुरोगामी नेता होता है। इसी प्रकार हे राजन् ! तू (सोमः) सोम, सबका प्रेरक होकर (सोमस्य) ऐश्वर्यपूर्ण राष्ट्र का (पुरोगाः) नेता हो। हे सोम ! राजन् ! (यत्) क्योंकि (ते) तेरा (अदाभ्यम्) कभी नाश न होने वाला (जागृवि) सदा जागरणशील, सदा सावधान (नाम) स्वरूप है (तस्मै) उस कर्त्तव्य के लिये ही (त्वा गृह्णामि) तुझे मैं ग्रहण करता हूँ। हे (सोम) राजन् ! (तस्मै ते) उस तेरे लिये (सु-आहा) उत्तम यश प्राप्त हो ॥

उशिक् त्वं देव सोमग्नेः प्रियं पाथोऽपीहि वशी त्वं देव सोमेन्द्रस्य प्रियं पाथोऽपीह्यस्मत्सखा त्वं देव सोम विश्वेषां देवानां प्रियं पाथोऽपीहि ॥ ५० ॥

देवा ऋषयः । प्रजापतिः सोमो देवता । भुरिगर्षी जगतो । निषादः ॥

भाः—हे (देव सोम) दानशील, राजन् ! सोम ! तू (उशिक्) कान्तिमान् एवं इच्छावान् होकर (अग्नेः) उत्तम विद्वान्, अग्रणी पुरुष के (प्रियम् पाथः) प्रिय लगने वाले, पालनकारी कर्त्तव्य को (अपीहि) प्राप्त हो। हे (देव सोम) देव ! सोम ! राजन् ! (त्वम्) तू (इन्द्रस्य

५०—अतः परं (७।२७-२९), (७।४१-४८), (८।१५-२२) (८।२३-२७), (८।२८-३३), (८।४२-४३) ८।५२) कभराः पठ्यन्ते का० ॥

प्रियम् पाथः अपीहि) इन्द्र, ऐश्वर्यवान् सेनापति के प्रिय पालन व्यवहार को प्राप्त हो । हे (देव सोम) देव राजन् ! सोम ! तू (अस्मत् सखा) हमारा मित्र होकर (विश्वेषां देवानाम्) समस्त देवों, विद्वानों, राज्याधिकारियों और प्रजाजनों के (प्रियम् पाथः) प्रिय, अभिमत पालन-कर्तव्य या पदाधिकार को प्राप्त हो ।

इह रतिरिह रमध्वमिह धृतिरिह स्वधृतिः स्वाहा । उपसृजन्धरुणमात्रे धरुणो मातर धयन् । रायस्पोषमस्मासु दीधरत् स्वाहा ॥ ५१ ॥

देवां ऋषयः । प्रजापतयो गृहस्था देवताः । भुरिग् आषीं जगती । निषादः॥

भा०—हे प्रजापालक राजा के अधीन पुरुषो ! हे गृहपति जनो ! (इह) इस राष्ट्र और घर में (रतिः) आनन्द प्रमोद, आपकी इच्छा रहे । (इह रमध्वम्) यहां आप लोग आनन्द से जीवन व्यतीत करो । (इह) यहां (धृतिः) सब पदार्थ और व्यवहार स्थिर हैं आप लोगों की (स्वधृतिः) अपनी स्थित और आपके समस्त पदार्थों की स्थिति (स्वाहा) सत्यवाणी और क्रिया भी यहां ही रहे । हे प्रजापालको ! आप लोग (धरुणम्) धारण करने योग्य जिस सन्तान को (मात्रे) पुत्र की माता के (उप सृजन्) अधीन करते हो वह (धरुणः) बालक (मातरम्) उस माता का (धयन्) स्तन्य-पान करता हुआ (अस्मासु) हम में (स्वाहा) उत्तम विद्या और सदाचार लाभ करके (रायः पोषम् दीधरत्) धनैश्वर्य की वृद्धि और धारण करे ॥ शत० ४ । ६ । ७ । ९ ॥

सत्रस्य ऽञ्चद्विरस्यगन्म ज्योतिरमृता ऽअभूम ।

दिवं पृथिव्या ऽअध्यारुहामाविदाम देवान्स्वर्ज्योतिः ॥ ५२ ॥

ऋ० ८ । १८ । ३ ॥

५१—इहरतिः पशुदेवतम् । सर्वा० ॥ उपसृजन्नुष्णिगारनेया ॥

५२—सत्रस्य बुद्धी यजमानानामात्मस्तुतिः । सर्वा० ॥

देवा ऋषयः । प्रजापतिर्देवता । भुरिगार्भी बृहती । मध्यमः ॥

भा०—हे विद्वन् ! हे राजन् ! (सत्रस्य) परस्पर संगत या एकत्र जुए राजा प्रजाजनो का (ऋद्धिः असि) तू ऐश्वर्य या समृद्ध रूप या शोभा है । हम सब प्रजाजन (ज्योतिः अगन्म) विज्ञान के प्रकाश और ऐश्वर्य को प्राप्त हों । हम लोग (अमृताः अभूम्) अमृत, १०० वर्ष तक के दीर्घ जीवन वाले हों । (पृथिव्याः) इस पृथिवी से (दिवम्) प्रकाशमय लोक, ज्ञान ऐश्वर्य को (अधि आरुहाम) प्राप्त हों । (देवान्) विद्वान् पुरुषों का (आ अविदाम) नित्य संग लाभ करें । और (ज्योतिः) सब पदार्थों के प्रकाशक (स्वः) सुखस्वरूप, आनन्दमय परम मोक्ष को भी प्राप्त करें ॥ कत० ४ । ६ । ९ । १२ ॥

युवं तमिन्द्रापर्वता पुरोयुधा यो नः पृतन्यादप तं तमिद्धतं
चज्रेण तं तमिद्धतम् । रदूरे चत्ताय छन्सद् गहनं यदि नक्षत् ।
अस्माकं शत्रुन् परि शूर विश्वतो दर्मा दर्षीष्ट विश्वतः ।
भूर्भुवः स्वः सुप्रजाः प्रजाभिः स्याम सुवीरा वीरैः सुपोषाः
पोषैः ॥ ५३ ॥ ऋ० १ । १३२ । ६ ॥

परुच्छेप ऋषिः । (१) इन्द्रापर्वतौ (२, ४) गृहपतयो वा देवताः (१) आर्य-
नुष्टुप् । गान्धारः (२) आसुर्युष्णिक् । ऋषभः । (३) प्राजापत्या बृहती ।
मध्यमः (४) साम्नी त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—हे (इन्द्रापर्वता) इन्द्र और पर्वत ! सूर्य के समान तेजस्विन् और पर्वत के समान अभेद्य सेनापते ! और व्यूहकारिन् सेनापति के सेनाजनो ! (युवम्) आप दोनों (पुरोयुधा) आगे बढ़कर युद्ध करनेवाले होकर (यः) जो भी (नः) हम पर (पृतन्यात्) सेना से चढ़ाई करे (तं तं)

५३—'सुप्रजाः प्रजया ।' इति काण्व० ॥

भुवन्त परुच्छेय ऐन्द्रोम् अत्यदिष्ट न्यवसाम् अऽधोर्ध्व ऐन्द्रापर्वतः । सर्वा० ।

उत्तर को (इत्) ही (अप हतम्) मार भगाओ । (तन्तं) उस १
को (इत्) ही (वज्रेण, खाँडा आदि अस्त्र-शस्त्रों से (हतम्) मारो ।
(यद्) यदि वह शत्रुदल (गहनम्) हमारे सैन्य तक (इनक्षत्) पहुँच
जाय तो उसको (दूरे चत्ताय) दूर भगा देने के लिये (छन्सत्) पराक्रम
से दूर करो । हे (शूर) शूरवीर सेनापते ! तू (दर्मा) शत्रुदल के
फाड़ देने में समर्थ होकर (अस्माकम्) हमारे (विश्वतः) चारों तरफ आये
हुए (शत्रून्) शत्रुओं को (विश्वतः) सब ओर से एकदम (दर्पीष्ट)
काट फाट डाल । (भूः भुवः स्वः) भूमि, अन्तरिक्ष और अकाश तीनों
लोकों में हम (प्रजाभिः) अपनी उत्तम सन्तानों से (सुप्रजाः स्याम)
उत्तम प्रजावान् बनें (वीरैः) वीरों से, (सुवीराः) उत्तम वीरों वाले और
(पौपैः) धनादि ऐश्वर्यों से (सुपोपाः) उत्तम समृद्धिशाली (स्याम)
हों । शत० ४ । ६ । ९ । १४-२५ ॥

परमेष्ठुयभिधीतः प्रजापतिर्वाचि व्याहृतायामन्धो अच्छेतः ।
सविता सन्यां विश्वकर्मा दीक्षायां पुषा सोमक्रयणायाम् ॥ ५४ ॥
वसिष्ठ ऋषिः । परमेष्ठो प्रजापतिर्देवता । निचृद् ब्राह्मयुष्णिक् । ऋषभः ॥

भा०—यज्ञमय प्रजापति या सोम के या राजा के कर्तव्यों के भिन्न १
रूप । (सोमः अभिधीतः) साक्षात् संकल्प किया जाय या मन से विचार
जाय तो यह वस्तुः (परमेष्ठी) परम = सर्वोच्चस्थान पर विराजनेवाला है ।
(२) (वाचि व्याहृतायाम्) उच्चारण की जानेवाली वाणी या आज्ञा करने
में वह (प्रजापतिः) 'प्रजा' का स्वामी है । (३) (अच्छेतः अन्धः)
साक्षात् देखने या प्राप्त करने पर 'अन्धः' अर्थात् अन्न के समान
प्राणप्रद है । (४) वह (सन्यां) प्रजाओं को ऐश्वर्य बाँटने के
कार्य में राजा स्वयं (सविता) सूर्य के समान सबको समान
रूप से प्रदान करता है । (५) (दीक्षायां विश्वकर्मा) दीक्षा
अर्थात् व्रत धारण करने में समस्त कर्मों को कराने वाला विश्वकर्मा

हो । (६) (सोमक्रयण्याम्) सोमक्रयणी अर्थात् सोम, राजा को शासन कार्य के लिये समस्त पृथिणी को समक्ष रखकर प्राप्त करने अवसर पर वह साक्षात् (पूषा) 'पूषा' सबका पोषक है ॥

सोमयाग के पक्ष में—यजमान के संकल्प करने पर सोम परमेष्ठी है । मुंह से कह देने पर कि मैं सोमयाग करूंगा वह सोम 'प्रजापति' है । सोम को आंखों से देखले तो वह सोम 'अन्ध्रस्' है । सोम को विभक्त करने पर वह 'सविता' है । दीक्षा लेने के अवसर पर वह 'विश्वकर्मा' है । सोमक्रयणी इष्टि के अवसर पर वह 'पूषा' है ।

इन्द्रश्च मरुतश्च क्रयायोपोत्थितोऽसुरः प्रयमानो मित्रः क्रीतो विष्णुः शिपिविष्ट उज्रावासन्नो विष्णुर्नरन्धिषः ॥ ५५ ॥

भा०—(७) (क्रयाय उप-उत्थितः) क्रय अर्थात् द्रव्य लेकर उसके बदले में शत्रु के विरुद्ध उठकर चढ़ते समय 'सोम' अर्थात् राजशक्ति का स्वरूप (इन्द्रः मरुतः च) इन्द्र, सेनापति और मरुत् अर्थात् प्राणघातक सेना के वीरजन हैं । (८) (पण्यमानः) नाना भोग्य पदार्थों के एवज में खरीद कर उसको राजपद देते समय वह राजा 'सोम' स्वयं (असुरः) महान् व्यापारी है । (९) (क्रीतः मित्रः) जब स्वीकार ही कर लिया जा चुका है तब वह प्रजा का 'मित्र' अर्थात् स्नेही है । (१०) (उरौ) विशाल राज्य के आसन पर (आसन्नः) स्थित राजा साक्षात् (शिपिविष्टः विष्णुः) किणों से आवृत, व्यापक तेज से युक्त सूर्य के समान 'शिपिविष्ट' अथवा शयन स्थान में सोया, प्रसुप्तरूप से विद्यमान, व्यापक आत्मा के समान है । (११) (नरन्धिषः) समस्त मनुष्यों को आज्ञा देने हारा और सबको हिंसा से बचाने वाला होकर वह (विष्णुः) 'विष्णु' है ।

'इन्द्रश्च मरुतश्च क्रपायोपोत्थिः' यह पाठ मर्हाप दयादनन्द को अभिप्रेत

५५—'० क्रपाय०' इति दयानन्दाभिमतः पाठः । 'उज्रा आ०' इति काण्व० ॥

है। उस पाठ में (कृपाय उप-उत्थितः) बलपूर्वक कार्य करने के लिये उद्यत राजा 'इन्द्र और मरुत्' हैं। ऐसा अर्थ जानना चाहिये ॥

'शिपिविष्टः'—शिपयोऽन्तरश्मयः उच्यन्ते तैराविष्टो भवति । निरु० ५।२।३ ॥ अन्यत्र । ऋ० ७।९००। 'किमिते विष्णोऽपरिचक्ष्यं भूत् । प्रयद् वक्षे शिपिविष्टो अस्मि । मा वर्षो अस्मदपगूह एतत् यद् अन्यरूपः समिथे बभूथ' । हे प्रजापालक विष्णो ! राजन् ! तेरे विषय में हम क्या कहें ? तू अपने को 'शिपिविष्ट' कहता है । अपना वह तेजस्वीरूप हम से मत छिपा, जो दूसरा युद्ध में तू रूप धारण करता है ॥

प्रोह्यमाणः सोमऽग्रागतो वरुणऽआसन्धामासन्नोऽग्निग्रीध्रऽइन्द्रो हविर्धानेऽथर्वापावाह्रियमाणः ॥ ५६ ॥

वसिष्ठ ऋषिः । विश्वेदेवाः गृहस्थाः देवताः । बृहती मध्यमः ॥

भा०—(प्र-ऊह्यमानः आगतः) अति आदर से सवारी आदि द्वारा लाया जाकर जब राजा प्राप्त होता है तब वह (सोमः) 'सोम', सर्वोपरि शासक और सबका आज्ञापक है । (आसन्धाम् आसन्नः) आसन्दी अर्थात् राज्यसिंहासन पर स्थित हुआ वह राजा (वरुणः) सर्वश्रेष्ठ, सब से वरण करने योग्य, पापों से निवारक 'वरुण' है । (आग्नीध्रे अग्निः) तेजस्वी पद पर विराजमान, अग्नि के समान सन्तापकारी पद पर विराजमान वह (अग्नि) अन्तरीक्ष में विद्युत् के समान, वा कुण्ड में अग्निवत् होने से वह 'अग्नि' है । (हविर्धाने) वह अन्न द्वारा सब राष्ट्र के पालक 'हविर्धान' नामक सब से मुख्य पद पर विराजता हुआ, समस्त पृथिवी पर शासन करता हुआ राजा (इन्द्रः) 'इन्द्र' है (उपावाह्रियमाणः) प्रजा की रक्षा करने के लिये सदा उसके संनिकट स्थापित रहता हुआ वह (अथर्वा) अहिंसक, प्रजापालक 'अथर्वा', प्रजापति है ॥

'आग्नीध्रम्'—अन्तरिक्षम् आग्नीध्रम् । शत० ९।२।३। १५।
धावापृथिव्यौ वा एष यदाग्नीध्रः । शत० १।८।१।४ ॥

हविर्धानम् । शिर एवाऽस्य यज्ञस्य हविर्धानम् । शत० ३ । ५ । ३ ।
५ ॥ अयं वै लोको दक्षिणं हविर्धानम् कौ० ८ । ४ ॥

विश्वे देवाऽअशुषु न्युप्तो विष्णुराप्नीतपाऽआप्यायमानो यमः
सूयमानो विष्णुः सम्भ्रियमाणो वायुः पुयमानः शुक्रः पुतः शुक्रः
क्षीरश्रीमन्थी सक्तुश्रीः ॥ ५७ ॥

आपिदेवते पूर्वोक्ते । निचृद् ब्राह्मी बृहती । मध्यमः ॥

भा०— (अंशुषु) राज्य शासन के विभागों में वही राजपद
(न्युतः) पृथक् १ बांट दिया जाकर (विश्वेदेवाः) 'विश्वदेव' अर्थात् समस्त
राजपदाधिकारी रूप हो जाता है । (आःप्नीत-पाः) सब प्रकार से सन्तुष्ट
प्रजाजनों का पालन करने हारा और (आप्यायमानः) स्वयं भी प्रजाओं
द्वारा शक्ति में अति हृष्ट-पुष्ट होकर राजा (विष्णुः) 'विष्णु' सर्व राष्ट्र के
व्यापक शक्तिवाला होता है । (सूयमानः यमः) राजसूय द्वारा राज्याभिषेक
किया जाकर राजा 'यम' अर्थात् सर्वनियन्ता होता है । (सम्भ्रियमाणः)
प्रजा द्वारा पालित-पोषित, हृष्ट-पुष्ट होकर राजा (विष्णुः) व्यापक
शक्ति से युक्त 'विष्णु' हो जाता है । (पुयमानः) स्वयं पवित्र आचारणों
से युक्त राजा (वायुः) वायु के समान राष्ट्र का जीवन, एवं प्रजा को भी
पवित्राचारी बनाने में समर्थ होता है । (पुतः शुक्रः) स्वयं पवित्र
आचारवान् होकर ही वह 'शुक्र' तेजस्वी, कान्तिमान् होता है । (शुक्रः)
कान्तिमान्, वीर्यवान् वह राजा (क्षीरश्रीः) क्षीर, दुग्ध के समान कान्ति-
वाला, कीर्तिमान् होता है । और (सक्तुश्रीः मन्थी) प्राप्त हुए अन्नादि
पदार्थों से स्नेही मित्रवर्ग का आश्रय लेकर ही राजा 'मन्थी' शत्रुओं का
मथन करनेहारा होता है ।
विश्वे देवाश्चमसेषून्नतोऽसुहोमायोद्यतो रुद्रो ह्युयमानो वातो-

५७— 'अंशुषु न्युप्यमानेषु' इति काण्व० ।

ऽभ्यावृत्तो नृचक्षुः प्रतिख्यातो भक्षो भक्ष्यमाणः पितरो नारा-
शंसाः ॥ ५८ ॥

अपिदेवते पूर्वोक्ते । आर्षी जगती । निषादः ॥

भा०— (चमसेपु उन्नीतः) भिन्न २ पात्रों में अर्थात् राज्य के भिन्न भिन्न अंगों में बंटा हुआ राजपद (विश्वे देवाः) 'विश्वे देव' अर्थात् समस्त विद्वान् राज्यपदाधिकारियों के रूप से रहता है । (होमाय उद्यतः) होम आहुति करने अर्थात् युद्ध करने के लिये उद्यत राजा (असुः) 'असु' देहधारी प्राण वा शस्त्र प्रक्षेपा धनुर्धर के रूप में होता है । (हूयमानः रुद्रः) जब वह युद्ध में आहुति होजाता है तब वह 'रुद्र', दुष्टों को रूलने में समर्थ 'रुद्र' रूप हो जाता है । (अभि-आवृत्तः) जब साक्षात् सामने वेग से आक्रमण कर रहा होता है तब वह (वातः) 'वात', प्रचण्ड वायु के समान 'वात' अर्थान् साक्षात् 'आँधी' होता है । अथवा (अभि-आवृत्तः) जब राजा प्रजा या परराष्ट्र को चारों ओर से घेर लेता है तब वह (वातः) वात, वायु के समान उसको घेरता है । (प्रतिख्यातः) प्रत्येक पुरुष को देखनेवाला होने से वह (नृ-चक्षाः) मनुष्यों का निरीक्षक 'नृचक्षा' कहाता है । (भक्ष्यमाणः भक्षः) जब समस्त प्रजाजन उसके राजत्व का सुख भोगते हैं तब वह 'भक्ष' सब राष्ट्र का भोक्ता कहाता है । तब (नाराशंसाः) सभी उसकी प्रजा के लोग उसकी प्रशंसा करते हैं और नाना प्रकार से वह प्रजा का पालन करता है, इसलिये वही राजा (पितरः) पितृगणों या प्रजापालकों के रूप में प्रकट होता है ।

सन्नः सिन्धुरवभृथायोद्यतः समुद्रोऽभ्यवाह्रियमाणः सलिलः-
प्रप्लुतो ययोरोजसा स्कभिता रजशंसि वीर्यभिर्वीरतामा
शविष्ठा या पत्यैतेऽप्रतीता सहोभिर्विष्णु अगन्वरुणा पूर्व-
इतौ ॥ ५९ ॥

अथर्व ७ । २ । ५ । १ ॥

५८—० भक्षः पीतः पितरो नाराशंसाः साद्यमानः, इति काण्व० ।

अभिदेवता च पूर्वोक्ते । विष्णुर्वरुणश्च देवते । (१) विराट् प्रजापत्या (२)
 निचिदार्षी त्रिष्टुप् । धैवतः । अथवा (१) विराडार्षी । (२) मुरिग्
 ब्राह्म्युष्णिग् । अपभः ॥

भा० - (अवमृथाय) राष्ट्र के-पालन करने के लिये (उद्यतः)
 उत्कृष्ट नियमकारी राजा (सन्नः) अपने राज्यासन पर अभिषिक्त होकर
 विराजा हुआ साक्षात् (सिन्धुः) महान् समुद्र के समान अति गम्भीर
 और अगाध गुणरत्नों से युक्त, भयंकर भी होने से 'सिन्धु' रूप है ।
 (अभ्यवहियमाणः) जब प्रजाजनों द्वारा राजपद पर बैठा दिया जाता है
 और प्रजा उसका उपभोग करती है, तब वह (समुद्रः) समस्त पदार्थों
 का उत्तम रीति से प्रदान करनेवाला, अनन्त रत्नों का आकर होने से
 'समुद्र' तुल्य होता है । (प्रप्लुतः सलिलः) वह राजा सर्वत्र प्रजाओं में
 समान भाव से व्यापक होके पानी के समान फैल जाता है अतः 'सलिलः'
 अर्थात् मानो दयाभाव से पानी १ हो जाता है ।

(ययोः) जिन दोनों के (ओजसा) पराक्रम से (रंजांसि समस्त)
 लोक (स्कमिता) स्थिर हैं और (या) जो दोनों (वीर्येभिः) अपने २
 वीर्यों, सामर्थ्यों से (वीरतमा) सबसे अधिक वीर और (शविष्ठा) सबसे
 अधिक बलशाली हैं । और (या) जो दोनों (अप्रतीतौ) सर्व साधारण
 द्वारा न पहचाने गये, जिनके गुण वीर्य कोई नहीं जानता कि कितना है,
 अथवा (अप्रति-इतौ) शत्रुओं द्वारा मुकाबले पर न पराजित अर्थात् जिन
 पर शत्रु आक्रमण करने में समर्थ न हों, ऐसे (सहोभिः) अपने पराजय
 करनेवाले बलों, सेनाओं सहित जो दोनों (पत्येते) शत्रु पर जा दूटते हैं वे
 दोनों ही (विष्णू) व्यापक सामर्थ्यवान् और (वरुणा) वरुण, सर्वश्रेष्ठ
 वरण करने योग्य एवं शत्रुओं के वारण में समर्थ, (पूर्वदूतौ) सर्व प्रथम
 मुख्यरूप से विद्वानों द्वारा स्वीकार किये जाते हैं । उनको (अगन्)
 समस्त प्रजाजन प्राप्त होते हैं । अथवा उनको समस्त राष्ट्र प्राप्त है ।

देवान्दिवमग्न्यज्ञस्ततो मा द्रविणमष्टु मनुष्यान्तरिक्षमग्न्य-
ज्ञस्ततो मा द्रविणमष्टु पितृन् पृथिवीमग्न्यज्ञस्ततो मा द्रविण-
मष्टु यं कं च लोकमग्न्यज्ञस्ततो मे भद्रमभूत् ॥ ६० ॥

विश्वेदेवा देवताः । स्वराट् ब्राह्मी त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—जो (यज्ञः) यज्ञ (देवान्) देवों, विद्वानों को और (दिवम्) विद्या आदि के प्रकाश को (अगन्) प्राप्त होता है (ततः) उससे (मा) मुझे (द्रविणम् अष्टु) द्रव्य, ऐश्वर्य प्राप्त हो । जो (यज्ञः) यज्ञ, राजा प्रजा का व्यवहार (मनुष्यान् अन्तरिक्षम् अगन्) मनुष्यों को और अन्तरिक्ष, मेघ आदि को प्राप्त होता है (ततः मा द्रविणम् अष्टु) उससे मुझे ऐश्वर्य प्राप्त हो । और जो (यज्ञः पितृन् पृथ्वीम् अगन्) राष्ट्र के पालक पितृलोगों, ओषधियों और पृथिवी को प्राप्त है (ततः मा द्रविणम् अष्टु) उससे मुझे ऐश्वर्य प्राप्त हो । (यज्ञः) यज्ञ (यं कं च) जिस किसी (लोकम्) लोक को भी (अगन्) प्राप्त हो (ततः) उससे (मे) मुझे (भद्रम्) कल्याण और सुख ही (अभूत्) हो ।
चतुस्त्रिंशत्तन्तो ये वितन्तिरे य इमं यज्ञं स्वधया ददन्ते ।
तेषां त्रिंशत् सन्वेतद्धामि स्वाहा घर्मोऽभ्येतु देवान् ॥ ६१ ॥

यज्ञो देवता । ब्राह्म्युष्णिक । ऋषभः । स्वराट् पंक्तिः । पंचमो, विराट्

त्रिष्टुप् धैवतो वा ।

भा०—(ये) जो (इयं) इस (यज्ञं) यज्ञ को (वितन्तिरे) विस्तृत करते हैं वे (चतुस्त्रिंशत्) ३४ चौंतीस हैं । यज्ञ के विस्तार करने से ही वे (तन्तवः) तन्तु हैं । वस्त्र को बनाने वाले जैसे तन्तु होते हैं उसी प्रकार राज्य आदि के घटक अवयव भी 'तन्तु' ही कहाते हैं । इसीप्रकार

६० — देवां दिवमाशीर्लिंगोक्तदेवता । सर्वा० ।

६१ — चतुस्त्रिंशद् घर्मदेवत्या पंक्तिस्त्रिष्टुब् वा । सर्वा० ।

जगन्मय यज्ञ के घटक भी ३४ तन्तु ही है । (ये) जो वे (इमं यज्ञं) इस यज्ञ को (स्वधया ददन्ते) स्वधा, अपने धारणसामर्थ्य और अन्न आदि पोषण सामर्थ्य से (ददन्ते) धारण करते हैं (तेषाम्) उनका जो (छिन्नम्) पृथक् अपना १ कर्त्तव्य कर्म और अंश है उसको मैं (एतत्) इस प्रकार एक संगठित रूप से (स्वाहा) सत्य वाणी या उत्तम परस्पर आदान-प्रतिदान द्वारा (सम् दधामि) एकत्र जोड़ता हूँ । वह (घर्मः) घर्म, यज्ञ, प्रदीप्त राष्ट्र या एकत्र किया हुआ एकीभूत यज्ञ (देवान्) देवों, विद्वान् शासकों को (अप्येतु) प्राप्त हो, उनके वश में रहे । ब्रह्माण्ड जगन्मय यज्ञ के ३४ तन्तु, आठ वसु ११ रुद्र, आदित्य, इन्द्र, प्रजापति और प्रकृति ये जगत् के ३४ कारण हैं । राष्ट्र में तन्तु ५४ से ५९ तक कहे सोम राजा के अधीन ३४ पदाधिकारी जो सोम के ही अंश हैं वे ३४ तन्तु हैं ॥

यज्ञस्य दोहो विततः पुरुत्रा सोऽष्टधा दिवमन्वाततान । स यज्ञं धुक्व महि मे प्रजायाम् रायस्पोषं विश्वमायुरशीय स्वाहा ॥६२॥

यज्ञो देवता । स्वराडार्षी त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—(यज्ञस्य) यज्ञ का (दोहः) भरा पूरा सामग्री-समूह या उत्तम फल (पुरुत्रा) नाना पदार्थों में नाना प्रकार से (विततः) विस्तृत है । (सः) वह (अष्टधा) आठों दिशा में आठ प्रकार का होकर (दिवम् अनु आततान) सूर्य के प्रकाश के समान आकाश में फैल जाता है । हे (यज्ञ) यज्ञ ! वह तू (मे प्रजायाम्) मेरी प्रजा में (महि) बड़ा भारी (रायः पोषं) धनैश्वर्य की समृद्धि को (धुक्व) प्रदान कर । और मैं (स्वाहा) उत्तम आचरण और उत्तम आहुति, उत्तम वाणी और उत्तम व्यवस्था द्वारा (विश्वम् आयुः) सम्पूर्ण आयु का (अशीय) भोग करूँ । राष्ट्रमय यज्ञ का उत्तम फल नाना प्रकार से फैलता है, वह (अष्टधा) आठ अमात्य आदि प्रकृतियों के रूप में सब के ऊपर शिरांभाग

के समान रहता है । वह मेरी प्रजाओं का ऐश्वर्य बढ़ावे । मैं राजा उत्तम आदान-प्रतिदान से पूर्ण आयु का भोग करूँ ।

आ पवस्व हिरण्यवदश्ववत्सोम वीरवत् ।

वाजं गोमन्तमा भर स्वाहा ॥ ६३ ॥

नैध्रुविः कश्यप ऋषिः । यज्ञो देवता । स्वराडार्षी गायत्री । षड्जः ॥

भा०—हे (सोम) सोम राजन् ! तू (वीरवत्) वीर पुरुषों से युक्त, (अश्ववत्) अश्व और अश्वारोहियों से युक्त (हिरण्यवत्) सुवर्ण रत्नादि से समृद्ध धनैश्वर्य को (आ पवस्व) पवित्र कर, प्राप्त करा और हमें (गोमन्तम् वाजम्) गौ आदि पशु सम्पत्ति से समृद्ध (वाजम्) ऐश्वर्य को (स्वाहा) उत्तम यश कीर्ति और उत्तम ज्ञान और कर्म द्वारा (आ भर) प्राप्त करा ।

राजा राष्ट्र में सुवर्णादि धन, घोड़े, वीर पुरुष, गौओं और अन्नादि की वृद्धि करे । इसी प्रकार गृहयज्ञ का पति गृहस्थ भी ऐश्वर्य को प्राप्त करे ।

॥ इत्यष्टमोऽध्यायः ॥

इति मीमांसातीर्थ-प्रतिष्ठितविद्यालंकार-विरुदोपशोभित-श्रीमत्पाण्डितजयदेवशर्मकृते
यजुर्वेदालोकभाष्येऽष्टमोऽध्यायः ॥

६३—आपवस्व सौमी गायत्री नैध्रुविः कश्यपः । सर्वा० ।

अथ नवमोऽध्यायः

१-३४ इन्द्रो बृहस्पतिश्च ऋषा ।

॥ ओ३म् ॥ देव सवितः प्रसुव यज्ञं प्रसुव यज्ञपतिं भगाय ।
दिव्यो गन्धर्वः केतपूः केतं नः पुनातु वाचस्पतिर्वाजं नः
स्वदत्तु स्वाहा ॥ १ ॥

सविता देवता । स्वराडार्षी त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—हे (सवितः) सबके प्रेरक, आज्ञापक, ऐश्वर्यवन् ! चक्र-
वर्तिन् ! (देव) दानशील ! तेजस्विन् ! कीर्तिमन् ! राजन् ! तू (यज्ञम्)
यज्ञ प्रजापालन आदि राज्य कार्य को (प्र सुव) अच्छी प्रकार चला और
(यज्ञ-पतिम्) यज्ञ, सुसंगत राज्य के पालन करने वाले अधिकारी और
प्रजावर्ग को भी (प्र-सुव) उत्तम रीति से चला । (दिव्यः) प्रकाशमान क्षात्र
आदि गुणों से सम्पन्न, (गन्धर्वः) पृथिवी का पालक, भूमिपति (केतपूः)
सब के ज्ञानों, मतियों को पवित्र रखने वाला, उनमें कभी दुष्ट विचार न
उत्पन्न होने देने वाला धर्मात्मा, राजा और (वाचस्पतिः) वेदवाणी का
पालक विद्वान्, आचार्य (नः) हमारे (केतम्) ज्ञान और विचारों को
(पुनातु) सदा शुद्ध बनावे और वह (स्वाहा) उत्तम रीति से, वेदानुकूल

१—अथ वाजपेयः । सर्वा० ॥ काण्वशाखायां इतः पूर्व [अ० ७ । २७—
२६, ४१—४८] मन्त्राः पठ्यन्ते । ततः [अ० ८ । २३—२७, २८—३२,
४२—४३, ४२, ४३, ४४—६०] एते मन्त्राः क्रमशः पठ्यन्ते । ततो देव-
सवित० । इत्यादि । 'प्रसुवेमं भगाय ।' ० 'केतपूः० । 'स्पतिर्नो अथ वाजं
स्वदत्तु' इति काण्व० ।

(नः वाजं) हमारे अन्न आदि उपभोग योग्य ऐश्वर्य का (स्वदत्त) उपभोग करे । राजा सबको उत्तम व्यवस्था में चलावे, सबको उत्तम शिक्षादे समस्त प्रजा के ऐश्वर्य का भोग करे । शत० ५ । १ । १ । १६ ॥

१ ध्रुवसदं त्वा नृषदं मनः सदमुपयामगृहीतोऽसीन्द्राय त्वा जुष्टं गृह्णाम्येष ते योनिरिन्द्राय त्वा जुष्टतमम् । २ अप्सुषदं त्वा घृतसदं व्योमसदमुपयामगृहीतोऽसीन्द्राय त्वा जुष्टं गृह्णाम्येष ते योनिरिन्द्राय त्वा जुष्टतमम् पृथिविसदं त्वाऽन्तरिक्षसदं दिविसदं देवसदं नाक्सदमुपयामगृहीतोऽसीन्द्राय त्वा जुष्टं गृह्णाम्येष ते योनिरिन्द्राय त्वा जुष्टतमम् ॥ २ ॥

इन्द्रो देवता । (१) आर्षी पंक्तिः । पञ्चमः । (२) विकृतिः । मध्यमः ॥

भा०—हे इन्द्र ! राजन् ! तू (उपयाम-गृहीतः असि) राज्यव्यवस्था में नियुक्त राजपुरुषों, प्रजा के और राज्य के उत्तम पुरुषों और राज्य के साधनों और उपसाधनों से स्वीकृत है । (त्वा इन्द्राय) तुझको इन्द्रपद के (जुष्टं) योग्य जानकर (गृह्णामि) इस पद के लिये नियुक्त करता हूँ । (ते एषः योनिः) यह तेरा आश्रयस्थान और पद है । (जुष्टतमम्) सब से योग्यतम (ध्रुवसदम्) ध्रुव, स्थिररूप से विराजनेवाले (नृ-सदम्) समस्त नेता पुरुषों में प्रतिष्ठित (मनः-सदम्) सब प्रजाओं के मन में और मनन योग्य विज्ञान में प्रतिष्ठित (त्वा) तुझको स्थापित करता हूँ । इसी प्रकार, (अप्सु-सदम्) प्रजाओं में, समुद्रों में और्वानल या विद्युत् के समान तेज पूर्वक विराजमान, (घृत-सदम्) घृत वाजल में अग्नि के समान तेजस्वीरूप से विराजमान, (व्योम-सदम्) आकाश में सूर्य के समान प्रतापी होकर विराजमान (त्वा) तुझको स्थापित करता हूँ । (उपयाम-गृहीतः इत्यादि, पूर्ववत् । इसी प्रकार (पृथिवि-सदम्) पृथिवी पर पर्वत के

समान स्थिररूप से विराजने हारे (अन्तरिक्ष-सदम्) अन्तरिक्ष में वायु के समान व्यापक, (दिवि-सदम्) द्यौलोक या नक्षत्रगणों में सूर्य या चन्द्र के समान विराजमान (देव-सदम्) देव, विद्वानों और योद्धाओं में विजिगीषु पुरुषों में प्रतिष्ठित (नाक-सदम्) दुःखरहित धर्म या परमेश्वर में दत्तचित्त, (त्वा) तुझको मैं राज्यपद पर प्रतिष्ठित करता हूँ । (उपयाम-गृहीतः असि० इत्यादि) पूर्ववत् ॥ शत० ५ । १ । २ । १ । ६ ॥

अपाथं रसमुद्वयसं सूर्ये सन्तं समाहितम् । अपाथं रसस्य यो रसस्तं वो गृह्णाम्युत्तममुपयामगृहीतोऽसीन्द्राय त्वा जुष्टं गृह्णाम्येष ते योनिरिन्द्राय त्वा जुष्टतमम् ॥ ३ ॥

इन्द्रो देवता । निचृद् अतिशक्वरी । पञ्चमः ॥

भा०—(उद्वयसम्) उत्कृष्ट दीर्घ जीवन को देने वाले (सूर्ये सन्तम्) सूर्य में सदा वर्तमान, सूर्य की रश्मि द्वारा प्राप्त और (समाहितम्) उनके बल पर सर्वत्र व्याप्त, (अपाम्) जलों के (रसम्) वीर्य साररूप जीवन को और (अपां रसस्य) जलों के रस अर्थात् साररूप भाग का भी (यः रसः) जो रस, सारिष्ठ, सब से अधिक साररूप वीर्य धातु है, विद्वान् पुरुष जिस प्रकार (आपः) जलों के (उत्तमम्) सब से उत्कृष्टरस वीर्य को ग्रहण करते हैं उसी प्रकार हे (आपः) आप प्रजाजनो ! (अपाम्) आप प्रजारूप (वः) आप लोगों का (उद्वयसम्) उत्कृष्ट, उन्नत जीवन वाले, दीर्घायु, अनुभवी (सूर्ये) सर्व प्रेरक राजा के आश्रय पर (सन्तम्) विद्यमान एवं (समाहितम्) उसके प्रति एकाग्र चित्त होकर रहने वाले (रसम्) वीर्यवान् राजबल को और (अपां रसस्य) प्रजाओं के बलवान् भाग में से भी जो (रसः) उत्तम बल है (वः तम् उत्तमम्-रसम्) आप लोगों के उस सर्वोत्कृष्ट रस या बल को मैं राष्ट्र का पुरोहित

(गृह्णामि) प्राप्त करता हूँ और उसे राष्ट्र के कार्य में नियुक्त करता हूँ ।
(उपयाम-गृहीतः असि०) इत्यादि पूर्ववत् शत० ५ । १ । २ । ७ ॥

ग्रहाऽऽर्जुर्जाहुतयो व्यन्तो विप्राय मतिम् । तेषां विशिप्रियाणां
वोऽहमिषमूर्जं समग्रममुपयामगृहीतोऽसीन्द्राय त्वा जुष्टं गृह्ण-
म्येष ते योनिरिन्द्राय त्वा जुष्टतमम् । सम्पृचौ स्थः सं मा
भद्रेण पृङ्क्तं विपृचौ स्थो वि मा पाप्मना पृङ्क्तम् ॥ ४ ॥

लिंगोक्ता राजधर्मराजादयो देवताः । मुरिकृतिः । निषादः ॥

भा०—हे (उर्जाहुतयः) अन्न और बल को ग्रहण करने और
प्रदान करनेवाले (ग्रहाः) राज्य के भिन्न २ विभागों और अंगों को
अपने अधीन पदाधिकारीरूप में स्वीकार करनेवाले पुरुषो ! आप लोग
(विप्राय) राष्ट्र को विविध सम्पत्तियों से पूर्ण करनेवाले विद्वान् राजा
को (मतिम्) सत् मति, मनन योग्य ज्ञान और शत्रुस्तम्भक बल
(व्यन्तः) विविधि प्रकार से देते रहते हो । (विशि-प्रियाणाम् तेषाम्)
प्रजाजनो के प्रिय, या (विशिप्रियाणाम्) विविधि शक्तियों और बल
के समर्थों से युक्त (तेषाम्) उन आप लोगों के लिये मैं (इषम्)
इच्छानुकूल अन्न, और (उर्जम्) बलकारी अन्न, रस को (सम्-अग्रमम्)
संग्रह करता हूँ । (उपयाम-गृहीतः असि) इत्यादि पूर्ववत् । हे राष्ट्र के
स्त्री पुरुषो ! तुम दोनों गण ! (सम्-पृचौ स्थः) परस्पर अच्छी प्रकार
सम्बद्ध होकर, दृढतया पतिपत्नीभाव से बँध कर रहो । अथवा हे
न्यायधीश और राजन् ! आप दोनों कल्याण और सुख से युक्त करते हैं अतः
आप 'सम्पृक्' हो, अतः (मा) मुझ राष्ट्रपति को (भद्रेण) कल्याण
और सुख से (सम् पृङ्क्तम्) युक्त करो । हे न्यायधीश और पालक शक्ति

४—गृहा लिंगोक्तदेवताऽनुष्टुप् । सम्पृचा यजुषी । सर्वा० ॥ 'सम्पृच स्थ०
सं मा भद्रेण पृङ्क्तं विपृच स्थ वि मा पाप्मन पृङ्क्तं,' इति कारण० ।

के स्वामिन् ! राजन् ! धर्मव्यवस्थापक विद्वान् पुरुषो ! हे स्त्री-पुरुषो !
तुम दोनों (वि-प्रृचौ स्थः) 'विप्रृक्' हो, क्योंकि (मा) मुझको (पाप्मना)
पाप से (विप्रृङ्क्तम्) दूर रखने में समर्थ हो । शत० ५।१।२८-१८ ॥

यज्ञ प्रकरण में सोम और सुराग्रह को 'सम्प्रृचौ' और अध्वर्यु और
नेष्टा को 'विप्रृचौ' कहा है । प्रतिनिधिवाद से सोम और सुरा दोनों पुरुष
और स्त्री के संकेतिक नाम है । और अध्वर्यु, वायु = विवेचक और नेष्टा,
पत्नीवान् = पालनशक्ति का स्वामी राजा कहाते हैं । वे कल्याण और सुख
के साथ में योग करानेवाले और पाप से छुड़ानेवाले होने के कारण ही
'सम्प्रृक्' और 'विप्रृक्' कहे जाते हैं ।

इन्द्रस्य वज्रोऽसि वाजसास्त्वयाऽयं वाजं सेत् । वाजस्य नु
प्रसवे मातरं महीमदिति नाम वचसा करामहे । यस्यामिदं
विश्वं भुवनमाविवेश तस्यान्नो देवः सविता धर्मं साविषत् ॥५॥

सविता देवता । भुरिग् अष्टिः । मध्यमः ॥

भा०—हे वीर पुरुष ! तू (इन्द्रस्य) ऐश्वर्यवान् राजा का (वज्रः)
शत्रु निवारक वज्र या खड्ग के समान शत्रु का नाशक (असि) है । तू
(वाज-साः) संग्रामों का पूर्ण अनुभवी है । (त्वया) तेरे द्वारा (अयम्)
यह राजा (वाजम्) संग्राम को विजय (सेत्) करे । (नु) शीघ्र ही
(वाजस्य प्र-सवे) वीर्य के या युद्ध के ऐश्वर्यजनक कार्य में (महीम्)
बढ़ी (अदितिम्) अखण्डित, अविनाशी (मातरम्) भूमि माता को हम
(वचसा) अपनी आज्ञा से (नाम) अपने आधीन वश (करामहे)
करें । (यस्याम्) जिसमें (इदं) यह (विश्वं भुवनम्) समस्त
संसार (आविवेश) स्थित है । (तस्याम्) उसमें (सविता) सब

५—'इन्द्रस्य रथः वाजस्य पार्थिवी अतिजगती । अन्त्यः पादः सावित्रः ।
सर्वा ॥ ० साविषक्' शत काण्व० ।

अधिकारियों का प्रेरक, प्रवर्तक और उत्पादक (देवः) देव, राजा (नः) हमारे लिये (धर्म) धर्म, धारण या राष्ट्र-व्यवस्था को (साविषत्) चलावे । अथवा (यस्याम् इदं भुवनं आविवेश) जिसमें यह समस्त विश्व स्थित है, उस (धर्म साविषत्) में सर्वोत्पादक परमेश्वर हमारे पालन पोषण की सुव्यवस्था करे ॥ शत० ५ । १ ४ । ३ । ४ ॥

रथपक्ष में—हे रथ ! तू इन्द्र का संग्रामगामी वज्र है । तुझ से वह संग्राम में जावे । (वाजस्य प्रसवे) ऐश्वर्य के लाभ के लिये हम अखण्ड पृथिवी को (वचसा नाम करामहे) अपनी आज्ञा से वश करें । इत्यादि पूर्ववत् ।

अप्स्वन्तरमृतमप्सु भेषजमपामुत प्रशस्तिष्वश्वा भवत वाजिनः ।
देवीरापो यो वऽऊर्मिः प्रतूर्तिः ककुन्मान्वाजसास्तेनायं वाजं
सेत् ॥ ६ ॥

अश्वो देवता । भुरिगूजगता । निषादः ।।

भा०—(अमृतम्) अमृत, मृत्यु का निवारण करनेवाला, मूल कारण (अप्सु अन्तः) जलों के भीतर विद्यमान है । और (भेषजम्) रोगों के दूर करने का सामर्थ्य भी (अप्सु) जलों के भीतर है । (उत) और हे (वाजिनः) वीर्यावान् और ज्ञानवान् पुरुषो ! आप लोग (अपाम्) जलों के (प्रशस्तिषु) उत्तम प्रशंसनीय गुणों के आधार पर ही (अश्वाः भवत) अति वेगवान् और बलवान् हो जाओ ।

राजा के पक्ष में—(अप्सुः अन्तः) आप प्रजाओं के बीच में ही (अमृतम्) राष्ट्र के मृत्युरूप शत्रु के आक्रमण आदि को निवारण करने का बल है और (अप्सु) उन प्रजाओं में ही (भेषजम्) सब कष्टों के दूर करने का सामर्थ्य है । हे (वाजिनः) वीर्यावाले योद्धा लोगो ! आप

६ —‘देवीरापो अपां नयाद्यो वः ऊर्मिः०’ इति काण्व० ॥

लोग (अपाम् प्रशस्तिषु) प्रजाओं के भीतर विद्यमान, प्रशंसनीय, उत्तम गुणवान् पुरुषों के आधार पर ही (अश्वः) शीघ्रगामी अश्व, बलवान् क्षत्रिय (भवत) होओ । हे (आपः देवीः) दिव्य आस पुरुषो ! हे राजा की प्रजाओ ! (यः) जो (वः) तुम्हारा (ऊर्मिः) उच्च सामर्थ्य और (प्रवृत्तिः) उत्तम क्रिया शक्ति है उनसे यह राजा (ककुन्मान्) सर्वश्रेष्ठ पद और सामर्थ्य को धारण करने और (वाजसाः) युद्ध में जाने के समर्थ हो । (तेन) उस पराक्रम से वह (वाजं सेत्) युद्ध को प्राप्त करे, युद्ध का विजय करे ।

जलों के पक्ष में—जल के उत्तम गुणों पर ही अश्व अधिक वेग वाले होते हैं । उसी से बैल भी हृष्ट-पुष्ट और भूमि भी खूब उपजाऊ होती है, उससे भूमि-पति भी प्रभूत अन्न प्राप्त करता है ॥ शत० ५।१।४।७ ॥

वातो वा मनो वा गन्धर्वाः सप्तविंशतिः ।

ते ऽग्रे ऽश्वमयुञ्जस्ते ऽस्मिन् जवमादधुः ॥ ७ ॥

सेनापतिदेवता । उष्णिक् । ऋषभः ॥

भा०—(वातः वा) वायु जिस प्रकार वेग को धारण करता है, (मनः वा) और जिस प्रकार मन वेग को धारण करता है, और जिस प्रकार (सप्तविंशतिः गन्धर्वाः) सत्ताईस गन्धर्व = प्राण, इन्द्रियें और स्थूल सूक्ष्म भूत, सभी वेग धारण करते हैं उसी प्रकार (ते) वे विद्वान् पुरुष भी (अग्रे) अपने गाड़ियों और रथों के आगे (अश्वम्) वेगवान् अश्व, गतिसाधन यन्त्र या अश्व के समान कार्य निर्वाहक अग्रणी पुरुष को (अयुञ्जन्) जोड़ते हैं और वे विद्वान् पुरुष (अस्मिन्) उसमें (जवम्) वेग और बल का (आदधुः) आधान करते हैं ॥ शत० ५।१।४।८ ॥

७—अश्वो देवता । सर्वा० ॥ ८० ॥ 'वातो वो वा मनो वा०' शत काण्व० ।

वातरथं हा भव वाजिन् युज्यमानऽइन्द्रस्येव दक्षिणः श्रियैधि ।
युजन्तु त्वा मरुतो विश्ववेदसऽआ ते त्वष्टा पत्सु जवं दधातु ॥ ८ ॥

प्रजापतिरश्वा देवता । मुरिक् विष्टप् । धैवतः ॥

भा०—हे (वाजिन्) ज्ञान और बल से युक्त पुरुष ! वेगवान् अथ जिस प्रकार गाड़ी में लगाया जाता है और वह (वात-रंहा) वायु के समान तीव्र वेग से जाता है उसी प्रकार तू (युज्यमानः) राष्ट्र के कार्य में नियुक्त होकर वायु के समान तीव्र वेगवान् (भव) हो । और (दक्षिणः) तू दक्षिण अर्थात् बल के कार्यों में कुशल होकर (इन्द्रस्य) इन्द्र, राजा या सेनापति की (श्रिया) लक्ष्मी, शोभा से युक्त (एधि) हो । अथवा तू (दक्षिणः इन्द्रस्य) दक्ष, बल, सामर्थ्य वाले इन्द्र राजा की लक्ष्मी से युक्त हो, अथवा (इन्द्रस्य दक्षिणः इव) इन्द्र, राजा के दायें हाथ के समान, उसका सर्वश्रेष्ठ सहायक होकर लक्ष्मी, धन ऐश्वर्य से युक्त हो । (विश्ववेदसः मरुतः) समस्त प्रकार के ऐश्वर्यों और ज्ञानों के स्वामी मरुत् गण, देव तुल्य राजा, सैनिक, लोग, विद्वान् लोग और वैद्यगण (त्वा) तुझको उचित कार्य में (आ युजन्तु) नियुक्त करें और (त्वष्टा) शिल्पी जिस प्रकार वेगयुक्त यन्त्र को रथ में लगाता है और उसके (पत्सु) गमन करने वाले अंगों, चक्रों में, (जवं) वेग उत्पन्न करता है उसी प्रकार (त्वष्टा) राजा (ते) तेरे (पत्सु) चरणों में गमन करने के साधनों में (जवम् आदधातु) वेग स्थापित करे ॥ शत० ५।१।४।९ ॥

शिल्प यन्त्र के पक्ष में—हे (वाजिन्) वेग वाले, बल वाले पदार्थ तू यन्त्र में नियुक्त होकर वायु वेग से चला । तू (दक्षिणः इन्द्रस्य) बलशाली विद्युत् की दीप्ति से चमक । सर्वज्ञ (मरुतः) विद्वान् लोग तुझे नियुक्त करें । (त्वष्टा) शिल्पी तेरे पैरों, चक्रों में गति स्थापित करें ।

८—अश्वादेवता । सर्वा० ।

मं० ६]

नवमोऽध्यायः

३३७

ज्वो यस्ते वाजिन्निहितो गुहा यः श्येने परीत्तोऽअचरच्च वाते ।
 तेन नो वाजिन् बलवान् बलेन वाजिजिच्च भव समने च पार-
 यिष्णुः । वाजिनो वाजजितो वाजं सारिष्यन्तो बृहस्पतेर्भाग-
 मवजिग्रत ॥ ६ ॥

वीरो देवता । धृतिः । ऋषभः ॥

भा०—हे (वाजिन्) विद्या, शास्त्र-ज्ञान और संग्राम-साधनों से युक्त बलशालिन् सेनापते ! वीर पुरुष ! (गुहा निहितः) यन्त्र के गूढ़ स्थान में जिस प्रकार वेगजनक पदार्थ रक्खा जाता है उसी प्रकार (ते यः ज्वः) तेरा जो वेग, तेरी (गुहा) गुहामें, बुद्धि में (निहितः) स्थित है और (यः) जो वेग (श्येने) श्येन अर्थात् उत्तम गतिमान् यान, यन्त्र वा वाज पक्षी में और उसके समान आक्रमण करने वाले तुझ में विद्यमान है और (यः) जो वेग (धाते च) प्रचण्ड वायु में (अचरत्) व्याप्त है हे (वाजिन्) वेग और बल से युक्त सेनापते ! वीर पुरुष ! (तेन) उस वेग से और (बलेन) उस बल से तू (वाजजित् च) संग्राम विजयी भी हो और (समने) संग्राम में भी (पारयिष्णुः) हम सबको संकट से तारने वाला (भव) हो । हे (वाजिनः) वेगवान्, बलवान्, वीर, अधारोही पुरुषो ! आप लोग (वाजजितः) संग्राम का विजय करने हारे हैं । आप लोग (वाजं सारिष्यन्तः) जब संग्राम में तीव्र वेग से शत्रु पर धावा करने को हों, तब सब लोग (बृहस्पतेः) बृहती, बड़ी भारी सेना के स्वामी, सेनापति, या बड़े १ सेना-संञ्चालकों के भी स्वामी, सेनाध्यक्ष अथवा-बृहती, वाणी, आज्ञा के पति स्वामी, आज्ञापक पुरुष के (भागम्) सेवन करने योग्य आज्ञा-वचन को (अवजिग्रत) सदा सँघते रहो, सदा प्राणवत् ग्रहण करते हो, उसकी सदा खोज लगाते रहो, उसके प्रति सदा सावधान रहो ॥ शत० ५।१।४।१०।-१५ ॥

६—० 'वाजिजिच्चैधि म०' इति काण्ड० ।

देवस्याह॑त्वं स॒वितुः स॒वे स॒त्यस॒वसो बृह॑स्पतेरुत्त॑मं नाक॑त्वं
रुहेय॑म् । देवस्याह॑त्वं स॒वितुः स॒वे स॒त्यस॒वस इन्द्र॑स्योत्त॑मं
नाक॑त्वं रुहेय॑म् । देवस्याह॑त्वं स॒वितुः स॒वे स॒त्यप्र॑सवसो बृह॑स्पते-
रुत्त॑मं नाक॑मरुह॑म् देवस्याह॑त्वं स॒वितुः स॒वे स॒त्यप्र॑सवस इन्द्र॑-
स्योत्त॑मं नाक॑मरुह॑म् ॥ १० ॥

इन्द्राबृहस्पता देवते । विराड् उत्कृतिः । पङ्कजः ॥

भा०—(अहम्) मैं (सवितुः) सर्वप्रेरक, (सत्य-सवसः) सत्य
मार्ग पर चलने की आज्ञा देने वाले, (बृहस्पतेः) बृहती, बड़ी भारी
सेना के पालक, सेनाध्यक्ष के (सवे) आज्ञा, अनुशासन में रह कर और
उसी प्रकार (सत्यसवसः) सर्वप्रेरक, सत्यमार्ग या उचित मार्ग में आज्ञा
करने वाले, (इन्द्रस्य) ऐश्वर्यवान् राजा के (सवे) शासन में रह कर
(उत्तमम् नाकम्) सव से उत्कृष्ट, सुखमय लोक और पद को (रुहेयम्)
प्राप्त होऊँ ॥ शत० ५ । १ । ५ । १-५ ॥

परमेश्वर के पक्ष में—(देवस्य) सर्व प्रकाशमान, (सवितुः) सकल
जगत् के उत्पादक, (सत्य-सवसः) सत्य ऐश्वर्यवान्, (बृहस्पतेः) बृहती
वेदवाणी और महती प्रकृति आदि के पालक स्वामी, परमेश्वर के (सवे)
उत्पन्न किये संसार में और (सत्यसवसः इन्द्रस्य) सत्य न्याययुक्त
शासन वाले, इन्द्र, परमैश्वर्यवान् सम्राट् या राजा के (सवे) ऐश्वर्य या
समृद्ध शासन में रहकर मैं (उत्तमं नाकम् रुहेयम्) उत्तम दुःखरहित
और सुखमय आनन्द को प्राप्त होऊँ ।

उसी प्रकार (अहम्) मैं (सवितुः) सकल ऐश्वर्योत्पादक (सत्य-
प्रसवसः) सत्य ज्ञान के प्रसव करनेवाले, सकल बोधों के जनक
(बृहस्पतेः सवे) वेदवाणी के पालक आचार्य के शासन में रहकर मैं

१०—देवस्य वयं स०, '० मरुहम् । इन्द्रास्योत्तमं नाकयारुहाम्'
इतिकाण्व० ।

(उत्तमं नाकम् अरुहम्) उत्तम सुखमय स्थिति को प्राप्त करूं । इसी प्रकार (देवस्य) धनुर्विद्या में विज्ञ (सवितुः) विजयोत्पादक (सत्य-प्रसवसः) सत्य व्यवहारों और विजयों के कर्त्ता (इन्द्रस्य) शत्रुनाशक सेनापति के (सवे) शासन में रहकर मैं (उत्तमं नाकम् अरुहम्) उत्तम सुख को प्राप्त होऊं ॥

वृहस्पते वाजं जय वृहस्पतये वाचं वदत वृहस्पतिं वाजं जापयत ।
इन्द्र वाजं जयेन्द्राय वाचं वदतेन्द्रं वाजं जापयत ॥ ११ ॥

इन्द्रावृहस्पती देवते । जगता । निषादः ॥

भा०—हे (वृहस्पते) वृहस्पते ! महती सेना के स्वामिन् ? तू (वाजं जय) संग्राम को विजय कर । (वृहस्पतये) उक्त वृहस्पति के लिये हे विद्वान् पुरुषो ! आप लोग (वाचं) उत्तम विज्ञानयुक्त वाणी का (वदत) उपदेश करो, उसके योग्य उसको ज्ञान प्राप्त कराओ । हे विद्वान् पुरुषो ! आप लोग (वृहस्पतिम्) महान् राष्ट्र के पालक राजा के (वाजम्) संग्राम को (जापयत) विजय कराने में सहायता दो । हे (इन्द्र) इन्द्र ! राजन् ! तू (वाजं जय) संग्राम का विजय कर । हे विद्वान् पुरुषो ! इन्द्राय वाचं वदत) इन्द्रपद के योग्य ज्ञानवाणी का उपदेश करो । और (इन्द्रं वाजं जापयत) इन्द्र, राजा की युद्ध-विजय में सहायता करो ।

वेदज्ञ वृहस्पति के पक्ष में—वह (वाजं जय) ज्ञान, विद्या, बोध प्राप्त करे और (वाचं) वेदवाणी का उसको उपदेश करे । उसको ज्ञान प्राप्त करने में सब सहायता दें ॥ श० ५ । १ । ५ । ८-९ ॥

एषा वः सा सत्या संवाग्भूद्यया वृहस्पतिं वाजमजीजपता-
जीजपत वृहस्पतिं वाजं वनस्पतयो विमुच्यध्वम् । एषा वः सा
सत्या संवाग्भूद्ययेन्द्रं वाजमजीजपताजीजपतेन्द्रं वाजं वनस्प-
तयो विमुच्यध्वम् ॥ १२ ॥

इन्द्रावृहस्पती देवते । स्वराड् अतिधृतिः । षड्जः ॥

भा०—हे विद्वान् पुरुषो ! (वः) आप लोगों की (एषा) वह

(सा) वह (सत्या) सत्य, न्याययुक्त, उचित (सं-वाग्) सम्मिलित, एक दूसरे से संगत वाणी (अभूत्) होनी चाहिये (या) जिससे (बृहस्पतिम्) बृहती, बड़ी भारी सेना के स्वामी, सेनाध्यक्ष या बृहत् राष्ट्र के पालक राजा को (वाजम्) संग्राम का (अजीजपत) आप लोग विजय कराने में समर्थ होते हैं । आपलोग उस एक सम्मिलित उत्तम ज्ञान-वाणी से ही (बृहस्पतिम्) इस बृहस्पति राजा को (वाज अजीजपत) संग्राम का विजय कराने में समर्थ हुए हैं । अतः हे (वनस्पतयः) प्रजा-समूहों एवं सैनिक समूहों के पालक पुरुषो ! आप लोग (विमुच्यध्यम्) अपने सैनिकों, अश्वों और दस्तों को बन्धन से छोड़ दो । (एषा) यह (वः) तुम लोगों की (सत्या संवाग्) सच्ची, परस्पर सम्मिलित सहमति (अभूत्) है (यथा) जिससे आप लोग (इन्द्रम्) ऐश्वर्यवान् राजा को (वाजम् अजीजपत) संग्राम का विजय कराते हो । आप लोग ही (इन्द्रम्) इन्द्र को (वाजम् अजीजपत) संग्राम विजय कराते हो । हे (वनस्पतयः) सैनिक समूहों के पालक, अध्यक्ष कप्तान लोगो ! (विमुच्यध्वम्) आप विजय के अनन्तर अपने सैनिकों, घोड़ों और रथों को छोड़ दो, उनके बन्धन खोल दो, उनको आराम दो ॥ शत० ५ । १ । ५ । १२ ॥

समस्त सैनिक सेनानायक लोग मिलकर एक आवाज़, एक आज्ञा से चलकर सेनापति राजा के युद्ध को विजय कराते हैं और विजय करनेवाले पर उनको अपने दस्तों और अश्व आदि के बन्धनमुक्त करने की आज्ञा हो ।

देवस्याह॑थं स॒वितुः स॒वे स॒त्यप्र॑सवसो बृहस्पते॑र्वा॒जिजितो॑ वा॒जं जेष॑म् । वा॒जिनो वा॒जजितो॑ऽध्व॒न स्क॑भ्नुवन्तो यो॒जना॑ मिमा॒नाः का॒ष्ठां गच्छ॑त ॥ १३ ॥

सविता देवता । अतिजगती । निषादः ॥

१३—वाजिनोऽश्वाः । सर्वा० । देवस्य वयं०, ०जेष्म । वाजिनो वाजं जयताध्वनः स्कभन्तः । ०अनुसन्तर्वात्वश्प० इति काण्व० ।

भा०—(अहम्) मैं सेनानायक (सवितुः) सर्वभरक (सत्य प्रसवसः) सत्य, यथाथ, यथोचित आज्ञा के प्रदाता (देवस्य) सर्वप्रद, सर्वप्रकाशक विद्वान् (बृहस्पतेः) संग्रामविजयी के (वाजम्) संग्राम को (जेपम्) विजय करूं । हे (वाजजितः वाजिनः) संग्राम का विजय करनेहारे, वेगवान्, बलवान् अश्वो और अश्वरोही वीर सवार लोगो ! आप लोग (अध्वनः) शत्रु के बढ़ने के मार्गों को (स्कम्भुवन्तः) रोकते हुए (योजनाः मिमानाः) कोसों को मापते हुए, अर्थात् वेग से कोसों लांघते हुए (काष्ठां गच्छत) परली सीमा तक पहुंच जाओ ॥ शत० ५ । १।४।१५-१७ ॥

एष स्य वाजी क्षिपणिं तुरण्यति ग्रीवायां बद्धोऽपिकृक्ष
आसनि । क्रतुं दधिका अनु स॒थंसनिष्यदत्पथामङ्कथंस्यन्वा-
पनीफणत् स्वाहा ॥ १४ ॥

दधिकावा वामदेव्य ऋषिः । बृहस्पतिर्देवता । जगती । निषादः ॥

भा०—(एषः स्यः) यह वह वीर सेनापति (वाजी) वेगवान् होकर (क्षिपणिम्) कक्षा या शत्रुनाशक सेना को (तुरण्यति) बड़े वेग से चलाता या आगे बढ़ाता है । (दधिकाः) घुड़सवार को अपनी पीठ पर लेकर वेगसे दौड़ने वाला अश्व (ग्रीवायां) गर्दन, (अपिकृक्षे) बगलों और (आसनि) मुख में भी (बद्धः) बंधा हुआ होकर (क्रतुम्) क्रियावान्, ज्ञानवान् कर्त्ता पुरुष, सवार को लेकर (अनु) उसके अभिप्राय के अनुकूल (संसनिष्यत्) निरन्तर दौड़ता हुआ (स्वाहा) अपने उत्तम वेग से, अपने पालक की वाणी के अनुसार (पथाम्) मार्गों के (अंकांसि) बीच में लगे समस्त मार्गद्योतक चिह्नों को या ढाँचे नीचे टेढ़े मेढ़े समस्त रास्तों को (अनु आ पनीफणत्) सुख से पार कर जाया करता है । सेनापति सेना को आगे की बढ़ावे । घुड़सवार

हण्टर लगावे । घोड़ा मय सवार के सब रास्ते पार करे । ऐसे घुड़सवार लेने चाहियें ॥ शत० ५ । १ । ४ । १८-१९ ॥

उत स्मास्य द्रवतस्तुरग्यतः पर्णं न वेरनुवाति प्रगर्धिनः ।
श्येनस्यैव ध्रजतोऽङ्गसं परि दधिकाव्णः सहोर्जा तरित्रतः
स्वाहा ॥ १५ ॥

दधिकावा वामदेव्य ऋषिः । बृहस्पतिदेवता । जगती । निषादः ॥

भा०—(उत) और (अस्य एव) इसके ही (द्रवतः) भागते हुए और (तुरग्यतः) वेग से जाते हुए, (प्रगर्धिनः) प्रबल वेग से आगे मार्ग को पहुँचने की अभिलाषा करनेवाले, (ऊर्जा सह) पराक्रम के साथ (परि तरित्रतः) बड़े वेग से भागते हुए (दधिकाव्णः) मार्ग की समस्त बाधाओं को लांघते हुए अश्व को (अङ्गसम्) ध्वज, चामर आदि चिह्न (वेः पर्णं न) वेग से जाते हुए पक्षी या तीर के पंखों के समान और (प्रगर्धिनः) मांस या शिकार के अभिलाषी, (ध्रजतः) वेग से झपटते हुए (श्येनस्य इव) सेन के पंखों के समान (अनुवाति) उसके पीछे ही वेग से जाते हैं ॥ शत० ५ । १ । ५ २० ॥

अथवा—(अङ्गसं तरित्रतः) चिह्न से युक्त मार्ग पर दौड़ते हुए अश्व का (पर्णम्) पालनकारी पंछ और वस्त्रादि शिकार पर झपटते हुए बाज के पंखों के समान पीछे को हो जाते हैं । इस स्थल से 'पर्णम्' शब्द दीपकालंकार से है ।

शं नो भवन्तु वाजिनो हवैषु देवताता मितद्रवः स्वर्काः । जम्भयन्तोऽहिं वृकथं रक्षांसि सनेम्यस्मद् युयवन्नमीवाः ॥ १६ ॥

वसिष्ठ ऋषिः बृहस्पतिदेवता । भुरिक् पंक्तिः । पंचमः ॥

१४, १५—अश्वदेवत्ये जगत्यौ । सर्वा० ।

१६—अश्वदैवत्यम् । अनन्त० ॥

भा०—(हवेपु) संग्रामों में (वाजिनः) वेगवान् घोड़े और घुड़-
सवार (नः) हमें (शम् भवन्तु) कल्याणकारी हों । और वे (देवता)
देवों, युद्ध के विजय करनेवाले विजेता लोगों के कामों में (मित-द्रवः)
परिमित गति से जाने वाले, (सु-अर्काः) उत्तम संस्कार वाले, खूब सजे
सजाये हों । वे (अहिम्) सर्प को, सर्प के समान कुटिलता से भागनेवाले
या मेघ के समान वायु वेग से जाने या अपने उपर शर वर्षण करनेवाले
शत्रु को और (वृकं) चोर या भेड़िये के समान पीछे से आक्रमण
करनेवाले और (रक्षांसि) विघ्नकारी दुष्ट पुरुषों को और (अमीवाः)
रोग के समान दुःखदायी शत्रुओं को (सनेमि) सदा या शीघ्र ही (अस्मद्
युयव्) हम से दूर करें ॥ शत० ५ । १ । ५ । २२ ॥

ते नोऽअर्वन्तो हवन्श्रुतो हवन् विश्वे शृण्वन्तु वाजिनो मितद्रवः ।
सहस्रसा मेघसाता सन्निष्यवो महो ये धनं सन्निधेपु
जग्निरे ॥ १७ ॥

नामानदिष्ट ऋषिः । बृहस्पतिर्देवता । जगती । निषादः ॥

भा०—(ते अर्वन्तः) अश्व, अश्वों के ऊपर चढ़ने हारे राजा के
अधीन वे वीर लोग (हवन्-श्रुतः) ग्राह्य आज्ञाओं और शास्त्र-वचनों का
श्रवण करने वाले ज्ञानी पुरुष हों । वे (विश्वे) सब (वाजिनः) ज्ञान
और बल से युक्त (मित-द्रवः) शास्त्र से जाने गये समस्त पदार्थों तक
पहुँचाने वाले होकर (मे) मुझ राजा और राष्ट्रवासी प्रजाजन की
(हवम्) ज्ञान पूर्ण वचन या आज्ञा (शृण्वन्तु) सुनें । वे (सहस्रसाः)
सहस्रों का वेतन पाने वाले (मेघ-साता) प्राप्त होने योग्य अन्नों को (सन्नि-
ष्यवः) प्राप्त करना चाहते हैं । (ये) जो (सन्निधेपु) संग्रामों में (महः धनम्)
बड़े भारी धन ऐश्वर्य को (जग्निरे) प्राप्त करते हैं वे लोग संग्राम के अवसरों
पर देश की आगे लिखे प्रकार से रक्षा करें ॥ शत० ५ । १ । ५ । २३ ॥

१७—‘सहस्रसा मेघसाता इव त्मना महा०’ शत काण्व० ।

वाजेवाजेऽवत वाजिनो नो धनेषु विप्राऽअमृताऽऽमृतज्ञाः । अस्य
मध्वः पिवत मादयध्वं तृप्ता यात पृथिभिर्देवयानैः ॥ १८ ॥

वसिष्ठ ऋषिः बृहस्पतिर्देवता । निचृत् त्रिष्टुप् । धैवतः ।

भा०—हे (वाजिनः) बल वीर्य और अन्नादि वाले एवं अश्व के समान
वेगवान्, एवं अश्वों पर चढ़ने वाले वीर पुरुषो और ज्ञानी लोगो ! आप
लोग (वाजे-वाजे) संग्राम संग्राम में (नः अवत) हमारी रक्षा किया करो ।
और हे (विप्राः) मेधावी विद्वान् जनो ! हे (अमृताः) अमर, कभी नष्ट न
होने वाले, एवं जीवन्मुक्त दीर्घजीवी लोगो ! हे (ऋतज्ञाः) सत्य
व्यवस्था के जानने वालो ! आप लोग (अस्य) इस (मध्वः) मधु,
मधुर अन्न और ज्ञान का (पिवत) पान करो, भोग करो और (मादय-
ध्वम्) तृप्त होओ । और (तृप्ताः) तृप्त होकर (देवयानैः पृथिभिः)
देवों, विद्वानों के चलने योग्य धार्मिक या उत्तम रथोचित, राजोचित मार्गों
से (यात) गमनागमन करो ॥ शत० ५ । १ ५ । २४ ॥

आ मा वाजस्य प्रसवो जगम्यादेमे द्यावापृथिवी विश्वरूपे ।
आ मा गन्तां पितरा मातरा चा मा सोमोऽअमृतत्वेन गम्यात् ।
वाजिनो वाजजितो वाजिं ससृवांसो बृहस्पतेर्भागमवजिघ्रत
निमृजानाः ॥ १९ ॥

वसिष्ठ ऋषिः । प्रजापतिर्देवता । निचृद् धृतिः । निषादः ॥

भा०—(मा) मुझको (वाजस्य प्रसवः) ज्ञान, बल और अन्न का
ऐश्वर्य (आ जगम्यात्) प्राप्त हो । (इमे) ये दोनों (विश्वरूपे)
समस्त रोचना या दीप्ति युक्त पदार्थों को धारण करने वाले (द्यावा-
पृथिवी) आकाश और पृथिवी, राजा और प्रजा (आ गन्ताम्) मुझे प्राप्त
हों । (मा) मुझे (पितरा मातरा च) पिता और माता दोनों

१९—'० गन्त पितरा मातरा युवमा सोमो अमृतत्वाय गम्यात् ।' इति काय० ।

(आगन्ताम्) प्राप्त हों। (मा) मुझे (सोमः) सर्वप्रेरक राजपद, ऐश्वर्य और औषधियों का परम रस और वीर्य (अमृत्वेन) रोगानवारक दीर्घजीवन रूप से (आजगम्यात्) प्राप्त हो। हे (वाजजितः) संग्रामों का विजय करने वाले (वाजिनः) बलवान् अश्वारोही वीर पुरुषो! आप लोग (वाजं ससुवांसः) संग्राम को जाने वाले हैं। आप लोग (निमृजानाः) सर्वथा शुद्ध पवित्र चित्त होकर (बृहस्पतेः भागम्) बृहती सेना के स्वामी सेनाध्यक्ष के सेवन करने योग्य वचन को (अवजिघ्रत) आदरपूर्वक, सावधान होकर ग्रहण करो। शत० ५। १। ५। २६, २७ ॥

आपये स्वाहा स्वापये स्वाहाऽपिजाय स्वाहा क्रतवे स्वाहा
वसवे स्वाहाऽहर्पतये स्वाहाह्ने मुग्धाय स्वाहा मुग्धाय वैनथं
शिनाय स्वाहा विनथंशिनऽग्रन्त्यायनाय स्वाहान्त्याय
मौवनाय स्वाहा भुवनस्य पतये स्वाहाऽधिपतये स्वाहा ॥२०॥

वसिष्ठ ऋषिः । प्रजापतिर्देवता । भुरिक् कृतिः । निषादः ॥

भा०—सूर्य के जिस प्रकार १२ मास हैं और उनमें उसके १२ रूप हैं इसी प्रकार प्रजापति के भी १२ रूप, तदनुसार उसकी १२ अवस्थाएं हैं और उनके अनुसार १२ नाम हैं। [१] (आपये स्वाहा) सकल विद्याओं और सज्जनों को प्राप्त करने वाला, बन्धु के समान राजा 'आपि' है। उसको समस्त विद्याएं और ऐश्वर्य प्राप्त करने के लिये (स्वाहा) सत्य क्रिया, यथार्थ साधना करनी चाहिये। [२] (सु-आपये स्वाहा) शोभन पदार्थों को प्राप्त करने कराने वाला या उत्तम बन्धु पुरुष 'स्वापि' है। उत्तम पदार्थों और सुखों की प्राप्ति के लिये (स्वाहा) उसे उत्तम धर्मानुकूल आचरण करना चाहिये। [३] (अपिजाय स्वाहा) पुनः पुनः ऐश्वर्यवान् होने वाला, एक के बाद दूसरा आने के कारण राजा भी 'अपिज' है। इस प्रकार पुनः १ प्रतिष्ठा प्राप्त कर पदाधिकारी होने के लिये (स्वाहा) पुरुषार्थ युक्त साधना करनी चाहिये। [४] क्रतवे

स्वाहा) समस्त कार्यों का सम्पादक, एवं सब विद्याओं का विचारक ज्ञानी 'क्रतु' है । शरीर में आत्मा और राष्ट्र में राजा वह भी 'क्रतु' है । उस पद के योग्य ज्ञान प्राप्त करने के लिये (स्वाहा) अध्ययन अध्यापन की उत्तम व्यवस्था होनी चाहिये । [५] (वसवे स्वाहा) समस्त प्रजाओं को बसाने हारा राजा 'वसु' है । उस पद को प्राप्त करने के लिये भी (स्वाहा) सत्य व्यवहार वाणी और न्याय होना चाहिये । [६] (अहःपतये स्वाहा) सूर्य जिस प्रकार दिन का स्वामी है, पुरुषार्थ से काल-गणना द्वारा समस्त दिवस का पालक पुरुष भी 'अहःपति' है उसके लिये (स्वाहा) वह काल-विज्ञान की विद्या का अभ्यास करे । [७] (मुग्धाय) जिसको मोह का कारण उपस्थित होजाने पर ज्ञान का प्रकाश न रहे ऐसे (अह्ने) मेघ से आवृत सूर्य के समान ऐश्वर्य के मद में ज्ञान रहित प्रजापालक के लिये भी (स्वाहा) उसको चेतानेवाली वाणी का उपदेश होना चाहिये । [८] (मुग्धाय वैनंशिनाय) नाशवात्र पदार्थों और नाशकारी आचरणों में, मोहवश ऐश्वर्यप्रेमी, विलासी एवं अत्याचारी राजा के लिये (स्वाहा) सावधान करने और सन्मार्ग में लानेवाले उत्तम उपदेश होने चाहिये । [९] (विनंशिने) स्वयं विनाश को प्राप्त होनेवाले या राष्ट्र का विनाश करने पर तुले हुए (अन्त्यायनाय) अन्तिम सीमा तक पहुँचे हुए, अन्तिम नीचतम कोटि तक गिरे हुए राजा को (स्वाहा) विनाशकारी आचरणों से बचानेवाला उपदेश और उपाय होना उचित है । [१०] (आन्त्याय) सबके अन्त में होनेवाले, सबसे परम, सर्वोच्च (भौवनाय) सब भुवनों, पदों में व्यापक उनके अधिपति के लिये (स्वाहा) उन सब पदों के व्यवहार-ज्ञान के उपदेशों की आवश्यकता है । [११] (भुवनस्य पतये) भुवन, राष्ट्र के पालक राजा को (स्वाहा) राष्ट्र-पालन की विद्या, दण्डनीति जाननी चाहिये और [१२] (अधिपतये स्वाहा) सब अध्यक्षाओं के उपर स्वामी रूप से विद्य-

मान राजा के कार्य के लिये (स्वाहा) उत्तम राज्य-नीति जाननी चाहिये ॥

शत० ५ । २ । १ । २ ॥

आयुर्यज्ञेन कल्पतां प्राणो यज्ञेन कल्पतां चक्षुर्यज्ञेन कल्पतां
श्रोत्रं यज्ञेन कल्पतां पृष्ठं यज्ञेन कल्पतां यज्ञो यज्ञेन कल्पताम् ।
प्रजापतेः प्रजाऽअभूम स्वर्देवाऽअगन्मामृताऽअभूम ॥ २१ ॥

वसिष्ठ ऋषिः । यज्ञः प्रजापतिदेवता । अत्यष्टिः । गान्धारः ॥

भा०—(यज्ञेन) यज्ञ, परस्पर के आदान-प्रतिदान, राज्य की सुव्यवस्था सत्संग तथा प्रजापति रूप यज्ञ से (आयुः) सब प्रजाओं का दीर्घ जीवन (कल्पताम्) स्वस्थ बना रहे । (यज्ञेन प्राणः कल्पताम्) यज्ञ, एक दूसरे के अन्न आदि दान से प्राण पुष्ट हों । (यज्ञेन चक्षुः कल्पताम्) यज्ञ से ज्ञान-व्यवहार के देखने में समर्थ चक्षु बलवान् हो । (यज्ञेन श्रोत्रं कल्पताम्) यज्ञ द्वारा ही श्रोत्र, श्रवण शक्ति समर्थ बनी रहे । (यज्ञः) हमारे यज्ञ, ईश्वरोपासना और आपस के धर्मकार्य सब (यज्ञेन कल्पताम्) उत्तम राजा के प्रजा पालन के कार्य से बने रहें । हम सब (प्रजापतेः) प्रजा के पालक राजा और परमेश्वर की (प्रजाः अभूम) प्रजाएं बनी रहें । हम लोग (देवाः) विजयी, ज्ञानवान् होकर (स्वः अगन्म) परम सुखमय मोक्ष और सुखप्रद राज्य को प्राप्त हों । हम (अमृताः अभूम) परमेश्वर के राज्य में अमृत, मुक्त हो जायें और उत्तम प्रजापालक राजा के राज्य में (अमृताः) पूर्ण सौ वर्ष और उससे भी अधिक आयुवाले हों ॥ शत० ५ । २ । १ ३-१४ ॥

एतद्वै मनुष्यस्यामृतत्वं यत्सर्वमायुरेति । शत० ९ । ५ । १ । १० ॥
य एव शतं वर्षाणि, यो वा भूयांसि जीवति स हैवैतदमृतमाप्नोति ।
श० १० । २ । ६ । ८ ॥

२१—प्रजापतेः स्वः अमृताः यजमानः । सर्वा० ॥ '० कल्पताम् । जाय एहि स्वो रोहाव । प्रजापतेः०' इति काण्व० ।

अस्मे वोऽअस्त्विन्द्रियमस्मे नृम्णमुत क्रतुरस्मे वर्चांसि सन्तु
वः । नमो मात्रे पृथिव्यै नमो मात्रे पृथिव्याऽइयं ते राड्यन्तासि
यमनो ध्रुवोऽसि धरुणः । कृष्यै त्वा क्षेमाय त्वा रय्यै त्वा पोषाय
त्वा ॥ २२ ॥

दिशो देवताः । । निचृदत्यष्टिः । गान्धारः ॥

भा०—हे (दिशः) दिशाओ, समस्त दिशाओं के निवासी प्रजा-
जनो ! (वः) तुम्हारा (इन्द्रियम्) समस्त ऐश्वर्य और बल (अस्मे
अस्तु) हम राज्यकर्ताओं के लिये उपयोगी हो । आप लोगों का (नृम्णम्)
धन, (उत क्रतुः) बल और ज्ञान (अस्मे) हमारी रक्षा और वृद्धि के
लिये हो । (वः) आप लोगों के (वर्चांसि) तेज (अस्मे) हमारे लिये
उपयोगी (सन्तु) हों । इसी प्रकार प्रजाजन राज्य के अधिकारियों से
यही कहें कि—हे चारों दिशाओं के रक्षक पुरुषो ! आप लोगों का बल,
धन, प्रज्ञान और तेज सब हमारी वृद्धि और रक्षा के लिये हो ।
सामान्यतः, हम सब परस्पर प्रेम से रहते हुए अपने इन्द्रिय-सामर्थ्य,
धन, बल, विज्ञान और तेजों का एक दूसरे के लिये उपयोग करें ।
(मात्रे पृथिव्यै नमः १) माता पृथिवी जो समस्त प्रजा को उत्पन्न करती
और अन्न देती और राजा को भी उत्पन्न करती और पोषती है, उसका
हम आदर करते हैं । हे राजन् (इयं) यह पृथिवी ही तेरी
(राड्) राजशक्ति है । त्व (यन्ता असि) नियन्ता, व्यवस्थापक है । त्व
(यमनः) सब प्रकार से नियमन करनेवाला, (ध्रुवः) ध्रुव, नक्षत्र के
समान स्थिर, निश्चल, (धरुणः असि) राष्ट्र को धारण करनेहारा,
आश्रय-स्तम्भ है । हे राजन् ! हे पुरुष ! (त्वा) तुझको (कृष्यै) कृषि,
खेती, पृथिवी पर अन्नादि उत्पन्न करने के लिये (त्वा क्षेमाय) तुझको

२२—नमो मात्रे पृथिव्या इयं०, कृष्यै क्षेमाय रय्यै पोषाय । इति काण्व० ।

जगत् के कल्याण के लिये, (त्वा रय्यै) तुझको राष्ट्र के ऐश्वर्य वृद्धि के लिये
(त्वा पोषाय) तुझको राष्ट्र की पशु-समृद्धि के लिये निरुक्त किया जाता
है ॥ शत० ५ । २ । १ । १५-२५ ॥

वाजस्येमं प्रसवः सुषुवेऽग्रे सोमं राजानमोषधीष्वप्सु । ता
अस्मभ्यं मधुमतीर्भवन्तु वयं राष्ट्रं जागृत्याम पुरोहिताः
स्वाहा ॥ २३ ॥

प्रजापतिदेवता । स्वराट् त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—(वाजस्य प्रसवः) संग्राम और वीर्य का ऐश्वर्य या समृद्धि
ही (अग्रे) सबसे प्रथम (ओषधीषु सोमम्) ओषधियों में जिस प्रकार
सोम सर्वश्रेष्ठ सबसे अधिक वीर्यवान् है उसी प्रकार (अप्सु) प्रजाओं में
(इमं राजानम्) सर्गोपरि राजमान सम्राट् को (सुषुवे) उत्पन्न करता
है । (ताः) वे ओषधियां (अस्मभ्यम्) हमारे लिये (मधुमतीः) अन्न
आदि मधुर पदार्थों से सम्पन्न हों और वे प्रजाएं भी अन्न आदि ऐश्वर्य से
युक्त हों और जल भी मधुरगुण से युक्त हो । (वयम्) हम अमात्य आदि
राष्ट्र के पालक पुरुष (राष्ट्रे) राष्ट्र में, राष्ट्र के सब कार्यों में (पुरोहिताः) अग्र-
सर होकर, मुख्य पद पर विराजकर राष्ट्र में (स्वाहा) उत्तम शासन
व्यवस्था सहित (जागृत्याम) सदा जागते रहें, सदा सावधान होकर
शासन करें ॥ शत० ५ । २ । २ । १ । ५ ॥

वाजस्येमां प्रसवः शिश्रिये दिवमिमा च विश्वा भुवनानि सम्राट् ।
अदित्सन्तं दापयति प्रजानन्तस नो रयिं सर्ववीरं नियच्छतु
स्वाहा ॥ २४ ॥

प्रजापतिदेवता । भुरिग् जगती । निषादः ॥

भा०—(वाजस्य) अन्न, वीर्य और सांग्रामिक बल का (प्रसवः)

२४—० 'च्छतु ।' इति काण्व० ।

उत्पादक यह (सम्राट्) सम्राट्, महाराज, (इमाम्) इस और (दिवम्) आदित्य, के समान प्रकाशमयी और आकाश के समान विस्तृत ज्ञानपूर्ण राजसभा को और विश्वा (भुवनानि) समस्त भुवनों, देशों, लोकों को, समस्त लोकों को परमेश्वर के समान, विशाल शक्ति से (शिश्रिये) धारण करता है। वह (प्रजानन्) सब कुछ जाननेहारा (अदित्सन्तम्) कर या किसी की देन को न देना चाहनेवाले से भी (दापयति) दिलवाता है। (सः) वह (नः) हमें (सर्ववीरम् रयिम्) सब वीर पुरुषों से युक्त ऐश्वर्य को (स्वाहा) उत्तम धर्मानुकूल व्यवस्था से (नियच्छतु) प्रदान करे।
 वाजस्य नु प्रसव आ बभूवेमा च विश्वा भुवनानि सर्वतः।
 सनेमि राजा परियाति विद्वान् प्रजां पुष्टिं वर्धयमानो अस्मे
 स्वाहा ॥ २५ ॥

वासिष्ठ ऋषिः प्रजापतिदेवता । स्वराट् त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—जो पुरुष (वाजस्य) ज्ञान, बल और ऐश्वर्य को (नु) बहुत शीघ्र (प्रसवे) प्राप्त करने, उत्पन्न करने और साधने में (आ बभूव) समर्थ होता और (इमा च) इन (विश्वा भुवनानि) समस्त लोकों, उनमें उत्पन्न प्राणियों और अधीन शासकपदों के भी (सर्वतः आ बभूव च) सब प्रकार से उनके उपर शासक रूप से विद्यमान है, वह (विद्वान् राजा) विद्वान्, ज्ञानी राजा (अस्मे) हमारे कल्याण के लिये (स्वाहा) उत्तम व्यवस्था, नीति और कीर्ति से (प्रजाम्) प्रजा और (पुष्टिम्) धन, अन्न और पशुओं की समृद्धि को (वर्धयमानः) बढ़ाता हुआ (सनेमि) अपनी सदातन, स्थिर नीति से (परियाति) सबसे ऊपर के पद को प्राप्त हो जाता है। वही हमारा राजा होने योग्य है ॥
 शत० ५ ॥ २ । २ । ७ ॥

२५—'विद्वान् रयि पुष्टि०' इति कार्यव० ।

सोमं राजानमवसेऽग्निमन्वारभामहे । आदित्यान्विष्णुं सूर्यं
ब्रह्माणं च बृहस्पतिं स्वाहा ॥ २६ ॥ ऋ० १० । १४१ । ३ ॥

तापस ऋषिः । सोमाग्न्यादित्याविष्णुसूर्यब्रह्मबृहस्पतयो विभेदेवाश्च देवताः ।

अनुष्टुप् । गांधारः ॥

भा०—हम लोग (अवसे) रक्षा के लिये (सोमम्) सौम्य
स्वभाव, सबके प्रेरक और (अग्निम्) अग्नि के समान शत्रुतापक या
प्रकाशवान्, तेजस्वीविद्वान् पुरुष को (राजानम्) राजा (अनु आरभामहे)
बड़े सोच-विचार के पश्चात् बनावें । और (स्वाहा) उत्तम विद्या और
आचार के अनुसार ही (आदित्यान्) ४८ वर्ष के ब्रह्मचारी, आदित्य के
समान तेजस्वी विद्वानों को (विष्णुम्) व्यापक, सर्व विद्याओं और राज-
व्यावस्थाओं में व्यापक, विज्ञ या पारंगत (सूर्यम्) सूर्य के समान सबको
समानरूप से प्रकाश देनेवाले और (ब्रह्माणम्) वेदों के विद्वान् और
(बृहस्पतिम्) बृहती वेदवाणी, बृहत्, महान्, राष्ट्र और बृहत् बड़े बड़े
आप्त पुरुषों के पालक पुरुष को भी हम (अनु-आ-रभामहे) अपनी रक्षा
के लिये नियुक्त करें, उसको शासक अधिकारी बनावें ॥ शत० ५ । २ ।
२ । ८ ॥

अर्यमणं बृहस्पतिमिन्द्रं दानाय चोदय । वाचं विष्णुं सर-
स्वतीं सवितारं च वाजिनं स्वाहा ॥ २७ ॥

ऋ० १० । ११ । ५ ॥

तापस ऋषिः अर्यमबृहस्पतीन्द्र-वायु-विष्णु-सरस्वत्यो मन्त्रोक्ता देवताः ।

स्वराङ् अनुष्टुप् । गांधारः ॥

भा०—हे राजन् ! तू (अर्यमणम्) पक्षपातरहित, न्यायकारी,
(बृहस्पतिम्) वेदादि समस्त विद्याओं के विद्वान्, (इन्द्रम्) परम

२६—‘आदित्य वि०’ इति काण्व० ।

ऐश्वर्यवान् इन पुरुषों को (दानाय) दान करने के लिये (चोदय) प्रेरणा कर । न्यायकारी पुरुष उत्तम न्याय दे । बृहस्पति, विद्वान् ज्ञान प्रदान करे और इन्द्र, ऐश्वर्यवान् पुरुष धन दान दे और (वाचम्) वेदवाणी को, (विष्णुम्) व्यापक शक्ति वाले या सकल विद्यापारंगत पुरुष को और (सरस्वतीम्) बहुतसे विद्याज्ञानों को धारण करने वाली स्त्रियों को, (सवितारम्) सबके प्रेरक, आचार्य, सर्वोपदेश पुरुष को और (वाजिनम्) ज्ञानी, बलशाली, ऐश्वर्यवान् पुरुष को (च) भी (स्वाहा) उत्तम सदाचार नीति से (चोदय) चला ॥ शत० ५ । २ । २ । ९ ॥

अग्ने अच्छा वदेह नः प्रति नः सुमना भव । प्र नो यच्छ सहस्रजित्वथं हि धनदा असि स्वाहा ॥ २८ ॥ ऋ० १० । १४१ । १॥

तापस ऋषिः । अग्निदेवता । भुरिगनुष्टुप् । गांधारः ॥

भा०—हे (अग्ने) अग्रणी ! शत्रुतापक ! ज्ञानवन् ! तेजस्विन् ! राजन् ! तू (इह) यहां, इस लोक में, राष्ट्र में (नः) हमें (अच्छ वद) उत्तम उपदेश कर । (नः प्रति सुमनाः भव) हमारे प्रति उत्तम चित्त वाला होकर रहा । तू (सहस्र-जित्) हजारों युद्धों का विजय करने हारा है । तू (नः प्रयच्छ) हमें ऐश्वर्य प्रदान कर । (त्वं हि) तू निश्चय से (स्वाहा) उत्तम नीति, रीति और कीर्ति से ही (नः) हमें (धनदाः असि) धनैश्वर्य का प्रदाता है ॥ शत० ५ । २ । २ । १० ॥

प्र नो यच्छत्वय्यमा प्र पुषा प्र बृहस्पतिः ।

प्र वाग्देवी ददातु नः स्वाहा ॥ २९ ॥ ऋ० १० । १४१ । १ ॥

तापस ऋषिः । अर्यमादयो मन्त्रोक्ताः । भुरिगार्षीः । गायत्री । षड्जः ॥

भा०—(अर्यमा) न्यायाधीश (पुषा) राष्ट्र का पोषक, सब को वेतनादि देने हारा, भागधुक् नामक वेतनाध्यक्ष या कराध्यक्ष (बृहस्पतिः)

२९—'बृहस्पतिः प्र सरस्वती । प्र वाग्'० इति काण्व० ।

वेद का विद्वान् और ये सब (प्र यच्छतु ३) हमें उत्तम २ पदार्थ प्रदान करें और (वाग् देवी) वाणी, देवी अथवा विद्या से युक्त देवी, माता (नः) हमें (स्वाहा) उत्तम रीति से ज्ञान और पुष्टि (प्र ददातु) प्रदान करे ॥ शत० ५।२।२।११ ॥

देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पुष्णो हस्ताभ्याम् ।
सरस्वत्यै वाचा यन्तुर्यन्त्रिये दधामि बृहस्पतेष्ट्वा साम्राज्ये-
नाभिषिञ्चाम्यसौ ॥ ३० ॥

तापस ऋषिः । सुन्वन् सम्राट् देवता । जगती । निषादः ॥

भा०—(सवितुः देवस्य) सविता देव, सर्वोत्पादक परमेश्वर के (प्रसवे) उत्पन्न किये संसार में, अथवा सर्वप्रेरक, सर्वोत्पादक पुरोहित (देवस्य) विद्वान् के (प्रसवे) विशेष आज्ञा या नियन्त्रण में मैं (अश्विनोः बाहुभ्याम्) शीघ्रगामी सूर्य और चन्द्र के समान या दिन और रात्रि के समान स्त्री पुरुषों की (बाहुभ्याम्) धारण और आकर्षणशील बाहुओं से और (पूष्णः) पोषक वर्ग के (हस्ताभ्याम्) हाथों से और (सरस्वत्यै) सरस्वती, परम विदुषी, परिषद् और (बृहस्पतेः) महान् वेदवाणी और महान् राष्ट्र के पालन में समर्थ (वाचाः यन्तुः) वाणी का नियमन या अभ्यास करने वाले के (यन्त्रिये) उत्तम नियन्त्रण में (त्वा) तुमको (दधामि) स्थापित करता हूँ । और (असौ) हे अमुक नाम वाले पुरुष ! (साम्राज्येन) इस महान् साम्राज्य के पदाधिकार सहित तुमको (अभि-सिञ्चामि) अभिषिक्त करता हूँ ॥ शत० ५।१।२।१३ ॥

अग्निरेकाक्षरेण प्राणमुदजयत् तमुज्जैषमश्विनौ द्व्यक्षरेण द्विपदौ

३०—‘सम्राट् देवता’ । द० । ‘यन्तुर्येतुर्य दधामि०’ शो० । ‘षिञ्चामीन्द्रस्य’ ।
‘त्वा साम्राज्येनाभिषिञ्चामि’ शत० काण्व० ।

मनुष्यानुदजयतां तानुजेषं विष्णुस्त्र्यक्षरेण त्रीँल्लोकानुदजयत्ता-
नुजेषथं सोमश्चतुरक्षरेण चतुष्पदः पशूनुदजयत्तानुजेषम् । ३१

तापस ऋषिः । अग्न्यादयो मन्त्रोक्ताः देवताः । अत्यष्टिः । गान्धारः ॥

भा०—[१] (अग्निः) अग्नि, जिस प्रकार जीव, परमेश्वर (एकाक्षरेण) एक अक्षर ओंकार के बल से, एकमात्र वायु की अक्षय शक्ति से (प्राणम्) प्राण और महाप्राण वायु को (उद् अजयत्) अपने वश करता है, उसी प्रकार मैं राजा स्वयं (अग्निः) अग्नि के समान शत्रुओं का संतापकारी और अग्रणी होकर (एकाक्षरेण) अपने क्षीण होनेवाले, अपार बल से (तम् प्राणम्) उस प्राण को, प्रजा के जीवनाधार अन्न को (उत् जेषम्) अपने वश करूँ ।

[२] (अश्विनौ) दो अश्वी, दिन और रात्रि, सूर्य और चन्द्र, माता और पिता दोनों अपने (द्व्यक्षरे) दो प्रकार का अक्षय बल, प्रकाश, अन्धकार या श्रम और विश्राम, ताप और शीतलता, पराक्रम और प्रेम से (द्विपदः मनुष्यान्) दोपाये मनुष्यों को (उद् अजयताम्) अपने वश करते हैं उसी प्रकार मैं राजा दिन रात्रि, सूर्य चन्द्र और माता पिता के समान होकर (द्विपदः मनुष्यान्) दो पाये मनुष्यों को कामना और आरम्भ, तीव्रता और सौम्यता, पराक्रम और प्रेम इन दो-दो प्रकार के अनश्वर सामर्थ्यों से (उत् जेषम्) अपने वश करूँ और उनको उन्नत करूँ ।

[३] (विष्णुः) व्यापक प्रकाशवाला सूर्य जिस प्रकार (त्र्यक्षरेण) अपने आदित्य, विद्युत् और अग्नि इन तीन प्रकार के अक्षय बलों या तेजों से (त्रीन् लोकान्) तीनों लोकों को (उद् अजयत्) अपने वश कर रहा है उसी प्रकार मैं भी अपने प्रज्ञा, उत्साह और बल इन तीन अक्षय सामर्थ्यों से (तान् त्रीन् लोकान्) उत्तम, मध्य और निकृष्ट तानों प्रकार के उन लोकों को (उत् जेषम्) वश करूँ ।

[४] (सोमः) सोम परमेश्वर जिस प्रकार (चतुरक्षरेण) अपने

चार अक्षय बल या अ, उ, मू और अमात्र इन चार अक्षरों से (चतुष्पदः) चार चरणों वाले एवं जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीय इन चार स्वरूप या चार स्थिति वाले (पशून्) साक्षात् द्रष्टा जीवात्माओं को (उत् अजयत्) अपने वश करता है उसी प्रकार मैं (सोमः) सर्वैश्वर्यवान्, सबका प्रेरक होकर (चतुरक्षरेण) अपने चार अक्षय बल, चतुरङ्ग सेना या साम, ज्ञान, भेद और दण्ड इन चार उपायों द्वारा (तान् पशून्) उन पशुओं आदि को, वा समृद्धि-ऐश्वर्यों को या पशुओं के समान प्राणोपजीवी प्रजा पुरुषों को (उत् जेषम्) विजय करूं ॥ शत० ५।२।२।१७ ॥

पूषा पञ्चाक्षरेण पञ्च दिश उदजयत्ता उज्जेषथं सविता षडक्षरेण षड् ऋतूनुदजयत्तानुजेषं मरुतः सप्ताक्षरेण सप्त ग्राम्यान् पशूनुदजयत्तानुजेषं बृहस्पतिरष्टाक्षरेण गायत्रीमुदजयत्तामुजेषम् ॥ ३२ ॥

तापस ऋषिः । पूषादयो मन्त्रोक्ता देवताः । कृतिः । निषादः ।

[५] (पूषा) सर्वपोषक परमेश्वर या चन्द्र (पञ्चाक्षरेण) अपने पांच अक्षय, अविनाशी और पांच भूतरूप पांच सामर्थ्यों से (पांच दिशः) पूर्व, पश्चिम, दक्षिण, उत्तर, अधः, ऊर्ध्व, इन पांच दिशाओं को अथवा समष्टि जीव संसार में विद्यमान पांच ज्ञानदर्शक, ज्ञानेन्द्रियों को (उद् अजयत्) वश करता है इसी प्रकार मैं राजा (पूषा) स्वयं राष्ट्र की प्रजा का पोषक होकर (पञ्चाक्षरेण) अपने पांचों अक्षय भोग्य सामर्थ्यों से (पञ्च दिशः उत् जेषम्) पांचों दिशाओं को वश करूं ।

[६] (सविता) सूर्य या सर्वोत्पादक परमेश्वर (षड्-अक्षरेण) अपने छः प्रकार के अक्षय बलों से (षड् ऋतून् उद् अजयत्) छहों ऋतुओं को अपने वश करता है उसी प्रकार मैं (सविता) सबका आज्ञापक होकर (षड्-अक्षरेण) अपने छः प्रकार के अक्षर, न द्रवित होनेवाले, सन्धि, विग्रह, यान, आसन, संश्रय, द्वैधीभाव, (षड् ऋतून्) इन छहों ऋतुओं

के समान (तान्) राष्ट्र के छः गुणों पर विचार करनेवाले महामात्यों या
छहों गुणों पर वश करूं ।

[७] (मरुतः) मरुद्गण, प्राणगण जिस प्रकार (सप्ताक्षरेण)
सात अक्षय बलों द्वारा (सप्त ग्राम्यान् पशून्) सातों ग्राम्य-पशुओं को
अपने वश करते हैं उसी प्रकार मैं भी (सप्ताक्षरेण) सातों प्रकार के
अन्नों द्वारा (तान्) सातों ग्राम के पशु, गौ आदि को एवं ग्राम अर्थात्
जन-समूह में विद्यमान शीर्षण्य सातों प्राणों वा मुख्य नायक को (उत
जेषम्) वश करूं ।

[८] (बृहस्पतिः) बृहत् अर्थात् महान् ब्रह्माण्ड का स्वामी परमेश्वर
(अष्टाक्षरेण) अपने आठ अक्षय सामर्थ्यों से (गायत्रीम्) आठ अक्षरों
वाली गायत्री के समान अष्टधा प्रकृति से बनी प्राणपालनी-सृष्टि को अपने
वश करता है उसी प्रकार मैं राष्ट्रपति आठ अपने सामर्थ्यों से स्वामी,
अमात्य, सुहृद्, कोष, राष्ट्र, दुर्ग, बल और भूमि, अथवा आठ महामात्यों
से (गायत्रीम् उत जेषम्) सब राष्ट्र के प्राणों की पालिका पृथ्वी को
अपने वश करूं ।

मित्रो नवाक्षरेण त्रिवृत्तं स्तोममुदजयत् तमुज्जैषं वरुणे
दशाक्षरेण विराजमुदजयत्तामुज्जैषमिन्द्र एकादशाक्षरेण त्रिष्टुभ-
मुदजयत्तामुज्जैषं विश्वे देवा द्वादशाक्षरेण जगतीमुदजय-
त्तामुज्जैषम् ॥ ३३ ॥

तापस ऋषिः । मित्रादयो मन्त्रोक्ताः । कृतिः । निषादः ।

[९] (मित्रः) सब का स्नेही, एवं स्नेहपात्र यह मुख्य प्राण
(नवाक्षरेण) अपने नव-द्वारों में स्थित अक्षय सामर्थ्य से (त्रिवृत्
स्तोमम्) त्रिवृत् स्तोम अर्थात् नव द्वारों में विद्यमान नवों प्राणों को
(उद् अजयत्) अपने वश करता है और जिस प्रकार (मित्रः) सर्व-

स्नेही तपस्वी, ब्राह्मण (नवाक्षरेण) नवों द्वारों में अक्षर अर्थात् अस्वलित रूप से विद्यमान वीर्य द्वारा (त्रिवृतं स्तोमम्) त्रिगुण सामर्थ्य को पालन करता है या जिस प्रकार (मित्रः) सबका स्नेही परमेश्वर (नवाक्षरेण) अपने अक्षय नव प्रकार के सामर्थ्यों से अष्ट वसु और नवां कुमार अर्थात् नवधा दैव सगों को (उत् अजयत्) रचता और वश करता है उसी प्रकार मैं (मित्रः) समस्त प्रजा का मित्र राष्ट्रपति राजा (नव-अक्षरेण) अपने नवों प्रकार के अक्षय कोशों से (त्रिवृतं स्तोमम्) मौल, भृत्य और मित्र तीनों बल को (उत् जेषम्) वश करूं ॥

[१०] (वरुणः) वरुण, सर्वश्रेष्ठ परमेश्वर जिस प्रकार (विराजम्) विराट् प्रकृति को (दशाक्षरेण) पांच स्थूल और पांच सूक्ष्म भूतों द्वारा विभक्त करके उसे अपने (उद् अजयत्) वश में रखता है या (वरुणः) समस्त अंगों के वरण करने में समर्थ योगी अपने दशविध प्राण-बल से अपने (विराजम्) विविध प्रकाशमान चित्ति शक्ति पर वश करता है या जिस प्रकार 'वरुण' मुख्य प्राण, दशविध इन्द्रियों से विराट् = अन्न को अपने भीतर ग्रहण करता है, उसी प्रकार मैं विजिगीषु (वरुणः) सब से श्रेष्ठ प्रजा द्वारा राजा वरा जाकर (दश अक्षरेण) अपने दसों प्रकार के दशावरा परिषद् के सदस्यों द्वारा ही (विराजम्) विविध ऐश्वर्यों से प्रकाशमान या अन्य राजा से रहित राज्यव्यवस्था को या पृथिवी को (उत् जेषम्) वश करूं ॥

[११] (इन्द्रः) इन्द्र, ऐश्वर्यवान् परमेश्वर जिस प्रकार (एकादश अक्षरेण) अपने ११ रुद्र रूप सामर्थ्यों से (त्रैष्टुभम्) त्रिलोकी को (उद् अजयत्) वश करता है, अथवा (इन्द्रः) जीव जिस प्रकार दश इन्द्रिय और ११ वां मन इनसे (त्रैष्टुभम्) तीन प्रकार से स्थित मन, इन्द्रिय, शरीर को वश करता है उसी प्रकार मैं (इन्द्रः) ऐश्वर्यवान् होकर (एकादश-अक्षरेण) दश सदस्य और ११ वें सभापति द्वारा या

शत्रुओं को हरानेवाले ११ मुख्य सेनापतियों द्वारा (त्रैष्टुभम्) अपने मित्र, शत्रु, उदासीन इन तीन प्रकार के राजन्य-बलों को (उद्-जेपम्) वश करूं ॥

[१२] (विश्वे देवाः) समस्त देवगण, विद्वान् और उनका स्वामी प्रजापति इसी प्रकार जैसे (विश्वे देवाः) समस्त देव = किरणगण और उनका पुञ्ज सूर्य (द्वादश-अक्षरेण) १२ अक्षय शक्ति, १२ मासों से (जगतीम्) जगती इस पृथिवी को अपने वश करते हैं और जिस प्रकार (विश्वे देवाः) समस्त प्राणगण १२ विभागों में विभक्त प्राणों द्वारा गमनशील शरीर को वश रखते हैं उसी प्रकार मैं (विश्वे देवाः) समस्त राजपुरुषों पर अधिकारस्वरूप होकर (द्वादश-अक्षरेण) १२ अक्षय, अर्थात् प्रबल सहायकों द्वारा (ताम् उत् जेपम्) उस पृथिवी के ऊपर वसे वैश्यों की व्यवहार नीति को और पृथिवी को वश करूं ।

१ वसवस्त्रयोदशाक्षरेण त्रयोदशं स्तोममुदजयस्तमुज्जेषम् ।
 रुद्राश्चतुर्दशाक्षरेण चतुर्दशं स्तोममुदजयस्तमुज्जेषम् २ आ-
 दित्याः पञ्चदशाक्षरेण पञ्चदशं स्तोममुदजयस्तमुज्जेषमदितिः
 षोडशाक्षरेण षोडशं स्तोममुदजयस्तमुज्जेषम् प्रजापतिः
 सप्तदशाक्षरेण सप्तदशं स्तोममुदजयस्तमुज्जेषम् ॥ ३४ ॥

तापस ऋषिः । वस्वादयो मन्त्रोक्ता देवताः । (१) निचृज्जगती । निषादः ।

(२) निचृद् धृतिः । ऋषमः ॥

भा०—[१३] (वसवः) गृह बसाने योग्य, २४ वर्ष का ब्रह्मचारी, विद्वान् पुरुष (त्रयोदश-अक्षरेण) नव बाह्यद्वार और चार अन्तःकरणों में स्थित १३ अक्षय वीर्यों से जिस प्रकार (त्रयोदशं स्तोमम्) इन १३हों के समूह रूप काम पर (उद् अजयन्) वश करते हैं उसी प्रकार मैं भी राजा, १३ प्रधान पुरुषों के बल से (तं त्रयोदशं स्तोमम्) उन १३ विभागों से युक्त राष्ट्र को (उत् जेपम्) वश करूं ।

[१४] (रुद्राः) प्राणों के अभ्यासी, ३३ वर्ष के नैष्ठिक ब्रह्मचारी जिस प्रकार दश बाह्येन्द्रिय और ४ भीतरी अन्तःकरणों को वश करके (चतुर्दशं स्तोमम् उत् अजयन्) १४ हों के समूहित बलों को वश करते हैं उसी प्रकार मैं रुद्ररूप शत्रुओं को रलाने में समर्थ होकर १४ अध्यक्षों से युक्त राष्ट्र को (उत् जेषम्) वश करूँ ।

[१५] (आदित्यः) आदित्य के समान तेजस्वी ४८ वर्ष तक ब्रह्मचर्यपालक विद्वान् पुरुष जिस प्रकार (पञ्चदशाक्षरेण) मेरुदण्ड के चौदह मोहरों और उनमें व्यापक १५ वें वीर्य को सुरक्षित रखकर (पञ्चदशं स्तोमम् उदजयन्) १५ के समूह इस मेरुदण्ड को वश करते, उसे खूब दृढ़ करते हैं उसी प्रकार मैं आदित्य के समान तेजस्वी होकर १५ राष्ट्र के विभागाध्यक्षों के बल से (पञ्चदशं स्तोमम्) १५ विभागों से युक्त राष्ट्र को (उत् जेषम्) वश करूँ ।

[१६] (अदितिः) अखण्ड ब्रह्मचारिणी जिस प्रकार (षोडशाक्षरेण) १६ वर्ष के अखण्ड तप से (षोडशं स्तोमम् उद् अजयत्) १६ वर्ष-समूह पर विजय प्राप्त करती है और जिस प्रकार (अदितिः) अखण्ड ब्रह्मशक्ति १६ कला-समूह पर वश करती है, उसी प्रकार मैं (अदितिः) अखण्ड शासन से युक्त सूर्यवत् होकर (षोडशाक्षरेण) १६ सदस्यों द्वारा (षोडशं स्तोमम्) उनसे चलाये गये राज्य-कार्य को (उत् जेषम्) वश करूँ ।

[१७] (प्रजापतिः) प्रजा का पालक परमेश्वर (सप्तदशाक्षरेण) १६ कलाओं और १७ वीं ब्रह्मकला के अक्षत बल से युक्त होकर (सप्तदशं स्तोमम् उदजयत्) सप्तदश स्तोम, १७ हों शक्तियों के समूह को वश करता है उसी प्रकार मैं (प्रजापतिः) प्रजा का स्वामी राजा होकर १६ अमात्य एवं १७ वीं अपनी मति सहित सबके अक्षर, अखण्ड-बल से (तम्) उस सब पर (उत् जेषम्) वश करूँ ।

१	अग्निः	एकाक्षरेण	प्राणम्	उदजयत्
२	अश्विनौ	द्व्यक्षरेण	द्विपदः मनुष्यान्	"
३	विष्णुः	त्र्यक्षरेण	त्रीन् लोकान्	"
४	सोमः	चतुरक्षरेण	चतुष्पदः पशून्	"
५	पूषा	पञ्चाक्षरेण	पञ्च दिशः	"
६	सविता	षडक्षरेण	षड् ऋतून्	"
७	मरुतः	सप्ताक्षरेण	सप्तग्राम्यान् पशून्	"
८	बृहस्पतिः	अष्टाक्षरेण	गायत्रीम्	"
९	मित्रः	नवाक्षरेण	त्रिवृतं स्तोमम्	"
१०	वरुणः	दशाक्षरेण	विराजम्	"
११	इन्द्रः	एकादशाक्षरेण	त्रिष्टुभम्	उदयाचल
१२	विश्वे देवाः	द्वादशाक्षरेण	जगतीम्	"
१३	वसवः	त्रयोदशाक्षरेण	त्रयोदशं स्तोमम्	"
१४	रुद्राः	चतुर्दशाक्षरेण	चतुर्दशं स्तोमम्	"
१५	आदित्याः	पञ्चदशाक्षरेण	पञ्चदशं स्तोमम्	"
१६	अदितिः	षोडशाक्षरेण	षोडशं स्तोमम्	"
१७	प्रजापतिः	सप्तदशाक्षरेण	सप्तदशं स्तोमम्	"

एष ते निर्ऋते भागस्तं जुषस्व स्वाहाऽग्निनेत्रेभ्यो देवेभ्यः पुरः
सद्भ्यः स्वाहा यमनेत्रेभ्यो देवेभ्यो दक्षिणासद्भ्यः स्वाहा विश्वे

देवेनेत्रेभ्यो देवेभ्यः पश्चात्सद्भ्यः स्वाहा मित्रावरुणेनेत्रेभ्यो वा
मरुत्त्रेभ्यो वा देवेभ्यः उत्तरासद्भ्यः स्वाहा सोमनेत्रेभ्यो देवेभ्यः
उपरिसद्भ्यो दुवस्वद्भ्यः स्वाहा ॥ ३५ ॥

वरुण ऋषिः । विश्वेदेवा देवताः । निचृदुत्कृतः षड्जः ॥

भा०—हे (निरुते) सर्वथा सत्याचरण करनेवाले, सत्यधर्म के
पालक राजन् ! अथवा हे (निरुते) पृथिवी ! राष्ट्र ! (एषः ते भागः)
यह तेरा भाग है, विभाग है । (तं जुषस्व) उसको तू प्रेम से स्वीकार कर ।
(स्वाहा) और इस सत्य व्यवस्था को पालन कर । (पुरः-सद्भ्यः)
राजसभा में आगे विराजनेवाले, (अग्नि-नेत्रेभ्यः) अग्नि के समान
शत्रुतापक, सेनानायक पुरुष को अपने नेता स्वीकार करनेवाले (देवेभ्यः)
युद्ध-विजयी वीर पुरुषों के लिये (स्वाहा) धर्मानुकूल उत्तम अन्न और
ऐश्वर्य प्राप्त हो । (दक्षिणा-सद्भ्यः) दक्षिण की ओर, दायीं ओर
विराजनेवाले, (यम-नेत्रेभ्यः) दुष्टों के नियन्ता यम को अपना नेता स्वीकार
करनेवाले, अथवा वायु के समान तीव्रगति वाले, युद्ध-विजयी पुरुषों के
लिये (स्वाहा) उत्तम अन्न-भाग प्राप्त हो । (विश्व-देव-नेत्रेभ्यः देवेभ्यः
पश्चात्-सद्भ्यः स्वाहा) पीछे या पश्चिम की ओर विराजनेवाले समस्त
विद्वानों को अपना नेता मानने वाले, उनके द्वारा अपनी नीति प्रयोग
करनेवाले विद्वान् विजयी पुरुषों को उत्तम अन्न ऐश्वर्य प्राप्त हो । (मित्रा-
वरुण-नेत्रेभ्यः) शरीर में प्राण-अपान के समान राष्ट्र में जीवन सञ्चार
करनेवाले अथवा मित्र = सूर्य और वरुण = मेघ के समान, नीति वाले
या मित्र, न्यायाधीश और वरुण, दुष्टवारक पुरुष को अपना नेता स्वीकार
करनेवाले (वा) और (मरुत्-नेत्रेभ्यः) मरुत् अर्थात् शत्रु-मारण में
क्षत्र पुरुषों को नेता रखनेवाले (देवेभ्यः) विजयी (उत्तरा-सद्भ्यः)
उत्तर दिशा में या बायीं ओर विराजनेवाले पुरुषों को (स्वाहा) उत्तम

३५—अथ राजसूयः । वरुणस्यार्धम् । अतः परं राजसूयमन्त्रा वरुणदृष्टाः । सर्वा ॥

अन्न और ऐश्वर्य, योग्य दूत आदि का कार्य प्राप्त हो । (सोम-नेत्रेभ्यः) सोम, सोम्य स्वभाववाले आचार्य, योगी पुरुष को अपना नेता बनानेवाले (उपरिसद्भ्यः) सर्वोपरि विराजमान (दुवस्वद्भ्यः) ईश्वरोपासना, यज्ञ, विद्याध्ययनादि कार्य आचरण करनेवाले (देवेभ्यः) इन विद्वान् पुरुषों को (स्वाहा) उत्तम अन्न, धन और ज्ञानैश्वर्य प्राप्त हो ॥ शत० ५ । २ । ३ ॥ ३ ॥

राजा के राजकार्य को पांच विभाग में बांटा जिनके नेता, मुख्य अधिकारी अग्नि, यम, विश्वेदेव, मित्रावरुण, मरुत् और सोम हैं । राज-दरबार में उनके पांच भिन्न १ स्थान हों और पृथ्वी के शासन में उनके पांच विभाग हों ।

ये देवा अग्निनेत्राः पुरःसदस्तेभ्यः स्वाहा ये देवा यमनेत्रा दक्षिणासदस्तेभ्यः स्वाहा ये देवा विश्वदेवनेत्रा पश्चात्सदस्तेभ्यः स्वाहा ये देवा मित्रावरुणनेत्रा वा मरुत्नेत्रा वोत्तरासदस्तेभ्यः स्वाहा ये देवाः सोमनेत्रा उपरिसदो दुवस्वन्तस्तेभ्यः स्वाहा ॥ ३६ ॥

वरुण ऋषिः । विकृतिः । विश्वेदेवा देवताः । मध्यमः ॥

भा०—(ये) जो (देवाः) देव, राज्यकार्य में नियुक्त विद्वान् पुरुष (अग्निनेत्राः) 'अग्नि' अर्थात् ज्ञानवान्, तेजस्वी पुरुष को प्रमुख रखनेवाले (पुरः-सदः) आगे या पूर्व भाग में विराजते हैं, (तेभ्यः स्वाहा) उनको उत्तम आदर यश प्राप्त हो, अथवा (ये अग्निनेत्राः) जो अग्नि, विद्युत् आदि तत्त्वों को जाननेवाले हैं उनको उत्तम यश, धन, ज्ञानैश्वर्य प्राप्त हों । (ये देवाः यमनेत्राः दक्षिणासदः) जो देव, विद्वान् दक्षिण दिशा में विराजमान या बल, शक्ति में विराजमान अथवा (यमनेत्राः) अहिंसा आदि यम नियमों में निष्ठ, अथवा पूर्वोक्त शत्रुनियामक मुख्य पुरुष के अधीन हैं (तेभ्यः स्वाहा) उनको उत्तम आदर, यश, अन्न, ऐश्वर्य प्राप्त हो । (ये देवाः विश्वदेवनेत्राः)

जो विजयी, विद्वान्, विश्व देव अर्थात् प्रजा या प्रजापति को प्रमुख मानने वाले या प्रजाओं के नेता (पश्चात्-सदः) पीछे के, पश्चिम भाग में विराजते हैं (तेभ्यः स्वाहा) उनको उत्तम यश और आदर प्राप्त हों । (ये देवाः मित्रावरुण-नेत्राः) जो विद्वान् मित्र और वरुण न्यायाधीश और नगर की पोलिस के अध्यक्ष के अधीन (वा) और (मरुत्-नेत्राः) वायु के समान तीव्र चढ़ाई करनेवाले सेनापति के अधीन वीर पुरुष (उत्तरासदः) उत्तर दिशा में विराजते हैं (तेभ्यः स्वाहा) उनको उत्तम यश, आदर और ऐश्वर्य प्राप्त हो । (ये देवाः सोम-नेत्राः) जो विद्वान् शासक लोग सोम आचार्य या राजा के अधीन (दुवस्वन्तः) ईश्वरपरिचर्या या ज्ञानाराधना, धर्म, यज्ञ यागादि करते हैं और (उपरि-सदः) सबसे ऊपर विराजते हैं, (तेभ्यः स्वाहा) उनको उचित आदर, यश अन्न, धन प्राप्त हो ॥ शत० ५।२।४५ ॥

राज्याभिषेक में राजसूय में, पांचों विभागों में विराजनेवाले प्रतिष्ठितों का आदर सत्कार, स्वागत, धन, अन्न, ऐश्वर्य से मान, प्रतिष्ठा करनी चाहिये और उनको राज्य में भी उत्तमभूमि और पदाधिकार देने चाहियें ।

अग्ने सहस्व पृतना अभिमातीरपास्य ।

दुष्टरस्तरन्नरातीर्वचो धा यज्ञवाहसि ॥ ३७ ॥

देवश्रवो देववातश्च ऋषी भारतौ । अग्निर्देवता । निचृदनुष्टुप् । गांधारः ।

भा०—(अभिमातीः) अभिमान और गर्व से भरी हुई शत्रु-सेनाओं को (अपास्य) दूर फेंक कर, परास्त करके हे (अग्ने) अग्रणी, अग्नि के समान संतापक तेजस्वी सेनापते ! (पृतनाः) समस्त संग्रामों और शत्रु-सेनाओं को तू (सहस्व) बलपूर्वक विजय कर । तू स्वयं (दुःतरः) दूसरे शत्रुओं द्वारा दुस्तर, अजेय, अबध्य, अपार, दुःसाध्य होकर (अरातीः तरन्) शत्रुओं को नाश करता हुआ (यज्ञ-वाहसि) परस्पर संगत राजधर्मों और व्यवस्थाओं को धारण करने वाले राष्ट्र और

राष्ट्रपति में (वर्चः धाः) तेज और बल का प्रदान कर ॥ शत० ५ ।
३४ । १६ ॥

देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्याम् ।
उपांशोर्वीर्येण जुहोमि हतं रक्षः स्वाहा । रक्षसां त्वा वधा-
यावधिष्म रक्षोऽवधिष्मामुमसौ हतः ॥ ३८ ॥

देवतातां देवश्रवाश्च ऋषी । रक्षोघ्नो देवता । भुरिग् ब्राह्मी बृहती । मध्यमः ॥

भा०—हे वीर पुरुष ! (सवितुः) सबके उत्पादक, कर्ता एवं प्रेरक (देवस्य) देव, राजा के (प्रसवे) ऐश्वर्यमय राज्य में (अश्विनोः बाहुभ्याम्) अश्वियों के बाधक सामर्थ्यों से और (पूष्णः) परिपोषक मित्र राजा के (हस्ताभ्याम्) सब हनन साधनों से और (उपांशोः) उपांशु, प्राणस्वरूप प्रजापति राजा के (वीर्येण) बल, वीर्य और अधिकार से (रक्षसां) राक्षसों, विघ्नकारियों के (वधाया) विनाश करने के लिये ही (त्वा जुहोमि) तुझे युद्ध-यज्ञ में आहुति देता हूं, भेजता हूं जाओ । (स्वाहा) उत्तम युद्ध की शैली से उत्तम कीर्ति और नामवरी सहित (रक्षः) राक्षसों, राज्य के विघ्नकारी लोगों को (हतम्) मार डाला जाय । हे (रक्षः) राक्षस, दुष्ट पुरुष ! (त्वा) तुझको युद्धस्थल में हम (अवधिष्म) नाश करते हैं । इस प्रकार हम (रक्षः) समस्त दुष्ट पुरुषों को (अवधिष्म) विनाश करें । और (अमुम् अवधिष्म) हम उस अमुक विशेष शत्रु का नाश करते हैं । इस प्रकार (असौ हतः) वह शत्रु छांट कर मारा जाय ॥ शत० ५ । ३ । ४ । १७ ॥

सविता त्वा सवानां सुवतामग्निगृहपतीनां सोमो वन-

३८—'०वधिष्म रक्षोऽमुष्यत्वा वधायामुमवधिष्म । जुषाणोऽध्वान्यस्य वेदु स्वाहा ।' इति काण्व० ।

स्पतीनाम् । बृहस्पतिर्वाच इन्द्रो ज्यैष्ठ्याय रुद्रः पशुभ्यो मित्रः
सत्यो वरुणो धर्मपतीनाम् ॥ ३६ ॥

ऋषिदेवते पूर्वोक्ते । अतिजगती । निपादः ॥

भा०—हे राजन् ! तू (सवानां सविता) समस्त ऐश्वर्यों का उत्पादक होने से 'सविता' है । (गृह-पतीनाम् अग्निः) गृहस्थों के बीच में उनका अग्नि, ज्ञानवान्, अग्रणी नेता एवं तेजस्वी है । (वनस्पतीनाम्) वनस्पतियों के बीच में सोम के समान सर्वश्रेष्ठ अथवा वनस्पतियों अर्थात् जनसंघ पतियों के ऊपर उनका अधिष्ठाता, उनका आज्ञापक है । (वाचः) वेदवाणी का (बृहस्पतिः) तू बृहस्पति, परम विद्वान् प्रवक्ता है (ज्यैष्ठ्याय) सबसे उत्कृष्ट परमैश्वर्यपद के प्राप्त करने के कारण तू (इन्द्रः) 'इन्द्र' है । (पशुभ्यः) पशुओं के हित के लिये तू साक्षात् (रुद्रः) उनका रोधक, पालक पशुपति है । (सत्यः) सत्यवःदी तू (मित्रः) सर्वस्नेही, न्यायाधीश है । (धर्मपतीनाम्) धर्मपालकों में से तू (वरुणः) दुष्टों का वारक है । (त्वा) तुझको सब लोग (सुवताम्) राजपद पर अभिषिक्त करें ॥
शत० ५ । ३ । ३ । ११ ॥

इमं देवा असप्तन्थं सुवध्वं महते क्षत्राय महते ज्यैष्ठ्याय महते
जानराज्यायेन्द्रस्येन्द्रियाय । इममसुष्यपुत्रमसुष्यै पुत्रमस्यै विश
एष वोऽभी राजा सोमोऽस्माकं ब्राह्मणानां राजा ॥ ४० ॥
देवश्रवोदेववातो ऋषी । यजमानो देवता । स्वराड् ब्राह्मी त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—(महते क्षत्राय) बड़े भारी क्षात्रबल के लिये (महते

३६—सविता द्वे यजमानः । सर्वा० ॥ '०प्रसवानां०' । '०रुद्रः पशूनां मित्रः सत्याय०' इति काण्व० ।

४०—'०महते ज्यैष्ठ्याय इममसु०, ०असुष्याः पुत्र० । एष वः कुरवो राजैष वः पञ्चाला राजा सोमो०' इति काण्व० ।

ज्यैष्ठ्याय) बड़े भारी सर्वश्रेष्ठ राजपद के लिये (महते जानराज्याय) बड़े भारी जनों के ऊपर राजा होजाने के लिये और (इन्द्रस्य) परम ऐश्वर्यवान् राजा के (इन्द्रियाय) ऐश्वर्यप्राप्ति के लिये (देवाः) विजयी वीरगण और विद्वान् शासक पुरुष (असपत्नम्) शत्रुओं से रहित (इमम्) इस वीर विजयी, योग्य पुरुष को (सुवध्वम्) अभिषिक्त करें । (इमम्) इस (अमुष्य पुत्रम्) अमुक पिता के पुत्र, (अमुष्यै पुत्रम्) अमुक माता के पुत्र को (अस्यै विशे) इस प्रजा के हित के लिये राज्य पर अभिषिक्त किया जाता है । हे (अमी) अमुक २ प्रजाओ ! (वः एषः राजा) आप लोगों का यह राजा (सोमः) सोम, चन्द्र के समान आह्लादक और सोमलता के समान आनन्द, वृत्ति, वीर्य और हर्ष का जनक और प्रवर्तक है । वह (अस्माकम्) हम (ब्राह्मणानाम्) वेद-ज्ञान के विद्वान् ब्राह्मणों का भी (राजा) राजा है । व हमारे बीच में शोभायमान हो ॥ शत० ५ । ३ । ३ । १२ ॥

॥ इति नवमोऽध्यायः ॥

इति मीमांसातीर्थ-प्रतिष्ठितविद्यालंकार-श्रीमत्पाण्डित्यजयदेवशर्मकृते

यजुर्वेदालोकभाष्ये नवमोऽध्यायः ॥

अथ दशमोऽध्यायः

अथ राज्याभिषेकः

॥ ओ३म् ॥ आपो देवा मधुमतीरगृभ्णन्नूर्जस्वती राजस्व-
चितानाः । याभिर्मित्रावरुणावभ्यषिञ्चन्त्याभिरिन्दूमनयन्नत्य-
रातीः ॥ १ ॥

वरुण ऋषिः । आपो देवताः । निचृदार्षी त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—(देवाः) देव, विद्वान् पुरुष (मधुमतीः अपः) मधुर गुण-
वाले जलों के समान (मधुमतीः) ज्ञान और बल, क्रियाशक्ति से युक्त
(अपः) आस प्रजाजनों को (अगृभ्णन्) ग्रहण करते हैं । जो स्वयं
(ऊर्जस्वतीः) अन्नादि समृद्धिवाले (चितानाः) ज्ञानवाले या विवेक से
कार्य करनेवाले हैं और (राजस्वः) राजा को बनाने या उसके अभिषेक
करने में समर्थ हैं । (याभिः) जिनके बल से (देवाः) विजिगीषु,
विद्वान् पुरुष, (मित्रावरुणौ) मित्र और वरुण सर्वरक्षक और सर्वश्रेष्ठ
दोनों का (अभि अषिञ्चन्) अभिषेक करते हैं । और (याभिः) जिनसे
(इन्दुम्) ऐश्वर्यवान् राजा को (अरातीः) कर न देनेवाले समस्त शत्रुओं के
(अति अनयन्) ऊपर विजय प्राप्त कराते हैं ॥ शत० ५ । ३ । ४ । ३ ॥

वृष्णाऽ ऊर्मिरसि राष्ट्रदा राष्ट्रं मे देहि स्वाहा ।

वृष्णाऽ ऊर्मिरसि राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै देहि ।

वृषसेनोऽसि राष्ट्रदा राष्ट्रं मे देहि स्वाहा ।

१—वृष्ण ऊर्मि लिंगोक्ता । सर्वा० । '०वरुणा अभ्य०' इति कायव० ।

वृषसेनोऽसि राष्ट्रदा राष्ट्रसमुष्मै देहि ॥ २ ॥

वरुण ऋषिः । वृषो देवता । स्वराड् ब्राह्मी पंक्तिः । पञ्चमः ॥

भा०—(१) हे पुरुष ! तू (विष्णोः) बलवान् पुरुष को (ऊर्मिः असि) ऊंचे पद पर पहुँचाने में समर्थ है । तू (राष्ट्रदाः) राष्ट्र को देने में समर्थ है । तू (स्वाहा) उत्तम नीतिव्यवस्था से (मे राष्ट्रं) मुझे राष्ट्र, अर्थात् राज्यशक्ति (देहि) प्रदान कर । (वृष्णः) तू सुख-वर्षक राज्य का (ऊर्मिः असि) ज्ञाता है, तू (राष्ट्रदाः) राज्य देने में समर्थ होकर (अमुष्मै) अमुक नाम के पुरुष को (राष्ट्रम् देहि) राष्ट्र-राजपद, या राज्याधिकार प्रदान कर ।

(२) हे वीर पुरुष ! तू (वृषसेनः असि) वृषसेन, बलवान्, हष्ट-पुंठ सेना से युक्त है । तू (राष्ट्रदाः) राज्यशक्ति प्रदान करनेहारा होकर (स्वाहा) उत्तम रीति से (मे राष्ट्रं देहि) मुझको राज्यपद प्रदान कर और इसी प्रकार (वृषसेनः राष्ट्रदाः असि) बलवान् पुरुषों की बनी सेना से युक्त होकर राष्ट्र को देने में समर्थ है । (अमुष्मै राष्ट्रम् देहि) अमुक पुरुष को राष्ट्र या राज्य-सम्पद् प्रदान कर ।

इस प्रकार मन्त्र के पूर्व भाग से बलवान् और सेनासम्पन्न पुरुषों से राजा बल की याचना करे और उत्तर भाग से पुरोहित उस राजा को राज्यपद प्रदान करने की अनुमति ले । सर्वत्र ऐसा ही समझना चाहिये । इस मन्त्र से तरंग के जलों से राजा को स्नान कराते हैं ।

‘अर्थेत् स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रं मे दत्त स्वाहार्थेत् स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रसमुष्मै दत्तौजस्वती स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रं मे दत्त स्वाहौजस्वती स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रसमुष्मै दत्तापः परिवाहिणी स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रं मे दत्त स्वाहापः परिवाहिणी स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रसमुष्मै दत्तापां पतिरसि राष्ट्रदा राष्ट्रं मे २ देहि स्वाहाऽपां पतिरसि राष्ट्रदा

राष्ट्रमुष्मै देह्यपां गर्भोऽसि राष्ट्रदा राष्ट्रं मे देहि स्वाहाऽपां
गर्भोऽसि राष्ट्रदा राष्ट्रसमुष्मै देहि ॥ ३ ॥

अपां पतिर्देवता । (१) अभिकृतिः । ऋषभः ।

(२) निचृत् जगती । निषादः ॥

भा०—[राजा] (३) हे (आपः) आस पुरुषो । आस समागत प्रजाजनो ! आप लोग (अर्थतः स्थ) अर्थ—विशेष इष्ट प्रयोजन से बलपूर्वक गमन करने में, शत्रु पर चढ़ाई करने में समर्थ हैं, अतएव आप भी (राष्ट्र-दाः) राष्ट्र-सम्पद वो देने में समर्थ हैं। आपलोग (मे राष्ट्रं स्वाहा दत्तम्) उत्तम रीति से मुझे राष्ट्र, राज्यैश्वर्य प्रदान कीजिये । [अध्वर्यु] हे वीर पुरुषो ! आप (अर्थतः राष्ट्र-दाः स्थ) अर्थ, धन, सम्पत् के बल पर या उसके निमित्त शत्रु पर चढ़ाई करने में समर्थ हैं। अतः एव राष्ट्र दिलानेहारे हैं, आप लोग (अमुष्मै राष्ट्रं दत्त) अमुक नाम के योग्य पुरुष को राष्ट्र प्रदान करो ।

इस मन्त्र से बहती नदियों के जल से राजा को स्नान कराते हैं ।

(४) [राजा] (अजोस्वतीः स्थ राष्ट्र-दाः) आप लोग ओजस्वी, विशेष पराक्रमशील और राष्ट्र को देने में समर्थ हैं । (राष्ट्रं मे दत्त) मुझे राष्ट्र प्रदान करें । [अध्वर्यु] (ओजस्वतीः राष्ट्रदाः स्थ) आप लोग ओजस्वी हैं, आप राष्ट्र, राज्य-सम्पद देने में समर्थ हैं । (अमुष्मै राष्ट्रं दत्त) अमुक योग्य पुरुष को राज्य प्रदान करें ।

जो जल प्रवाह से विपरीत बहें उन जलों से स्नान कराते हैं ।

(५) [राजा] (परिवाहिणीः राष्ट्रदाः स्थ) हे वीर प्रजाजनो ! आप लोग सब प्रकार की उत्तम सेनाओं से युक्त, प्रिय हो, अतः राष्ट्र प्राप्त कराने में समर्थ हो । आप (मे राष्ट्रं दत्त) मुझे राष्ट्र प्रदान करें । [अध्वर्यु] हे वीर प्रजाजनो ! आप लोग (परिवाहिणीः राष्ट्रदाः स्थ, अमुष्मै राष्ट्रं

दत्त) सब प्रकार से सेनाओं से युक्त, राज्य प्रदान करने में समर्थ हो । आप अमुक नामक योग्य पुरुष को राज्य प्रदान करो ।

इस मन्त्र से जो नदियों की शाखाएं फूटकर पुनः उनमें ही जा मिलती हैं उनके जलों से स्नान कराते हैं ।

(६) [राजा] (अपां पतिः असि) तू समस्त जलों के समान प्रजाजनों का पालक है । (राष्ट्र-दाः) तू राष्ट्र प्राप्त करानेवाला है, (राष्ट्रं मे देहि) तू मुझे राष्ट्र प्राप्त करा । [अध्वर्यु] (अपां पतिः असि, राष्ट्र-दाः, राष्ट्रम् अमुष्मै देहि) तू समस्त प्रजाओं का पालक है । तू सबका नेता, राष्ट्र प्राप्त कराने में समर्थ है । तू अमुक योग्य पुरुष को राष्ट्र प्रदान कर । इस मन्त्र से समुद्र के जलों से स्नान कराते हैं ।

(७) [राजा] तू (अपां गर्भः असि, राष्ट्र-दाः राष्ट्रं मे देहि स्वाहा) प्रजाओं को अपने अधीन उनके बीच और उनको अपने साथ रखने में समर्थ है । तू मुझे राष्ट्र अच्छी प्रकार प्राप्त करा । तू मुझे राष्ट्र प्रदान कर । [अध्वर्यु] तू (अपां गर्भः राष्ट्रदाः असि राष्ट्रम् अमुष्मै देहि) प्रजाओं को वश करने में समर्थ है । तू राष्ट्र प्राप्त कराने हारा है । तू अमुक योग्य पुरुष को राज्य प्रदान कर । [इस मन्त्र से निवेष्ट्य, अर्थात् नदी के भँवर के जलों से स्नान कराते हैं ॥ शत० ५ । ३ । ४ । ४-११ ॥

^१ सूर्यत्वचस स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रं मे दत्त स्वाहा सूर्यत्वचस स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै दत्त ^२सूर्यवर्चस स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रं मे दत्त स्वाहा सूर्यवर्चस स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै दत्त ^३मान्दा स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रं मे दत्त स्वाहा मान्दा स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै दत्त ^४व्रजक्षित स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रं मे दत्त स्वाहा व्रजक्षित स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै दत्त ^५वाशा स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रं मे दत्त स्वाहा वाशा स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै दत्त ^६शविष्ठा स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रं मे दत्त स्वाहा शविष्ठा स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै दत्त ^७शक्करी स्थ

राष्ट्रदा राष्ट्रं मे दत्त स्वाहा शक्ती स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रमुष्मे दत्त
 जनभृत स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रं मे दत्त स्वाहा जनभृत स्थ राष्ट्रदा
 राष्ट्रमुष्मे दत्त विश्वभृत स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रं मे दत्त स्वाहा
 विश्वभृत स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रमुष्मे दत्ता १० पः स्वराज स्थ राष्ट्रदा
 राष्ट्रमुष्मे दत्त । ११ मधुमतीर्मधुमतीभिः पृथ्यन्तां महि क्षत्रं
 क्षत्रियाय वन्वाना ऽअनाधृष्टाः सीदत सहोजसो महि क्षत्रं
 क्षत्रियाय दधतीः ॥ ४ ॥

वक्ष्य श्रुतिः सूर्यादयो मन्त्राक्ता देवताः । (१, २) अनुष्टुप् । गान्धारः । (३, ५,)
 विराड् उष्णिक् (६, ७) उष्णिक् श्रुतमभः । (४, ८, ९) आर्चीपक्तिः । पंचमः ।
 (१०) सामान्यनुष्टुप् । गान्धारः । (११) मुरिक् त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—(८) हे उत्तम प्रजागण ! आप लोग (सूर्यत्वचसः स्थ)
 सूर्य के दोसिमान् आवरण के समान उज्ज्वल आवरणवाले, धनैश्वर्यवान्,
 तेजस्वी हो । (९) (सूर्यवर्चसः स्थ) सूर्य के तेज के समान तेज
 धारण करनेहारे हो । (१०) (मान्दाः स्थ) सबको आनन्दित, सुप्रसन्न
 करनेहारे हो । (११) (व्रजक्षितः स्थ) आप लोग गौ आदि पशुओं के
 समूहों के बीच में निवास करनेहारे हो । (१२) (वाशाः स्थ) आप
 लोग कान्तिमान् और जनों को अपने वश करनेहारे, अथवा उत्तम मधुर
 वचन बोलने और उत्तम सुमधुर गायन या उपदेश करनेहारे वाग्मी हो ।
 (१३) आप लोग (शविष्ठाः स्थ) अति बलवान् हो । (१४) आप
 लोग (शक्तीः स्थ) शक्तिशाली हो । (१५) आपलोग (जनभृतः स्थ)
 समस्त गणों के कृषि आदि द्वारा, भरण-पोषण करने में समर्थ हो । (१६)
 आप लोग (विश्वभृतः स्थ) विश्व, समस्त प्रजाओं का भरण पोषण करने
 में समर्थ हो । (१७) आप लोग (स्वराजः स्थ) स्वयं अपने बल से उत्तम

४—सं मधुमती० । ० 'सहोजसा' इति कायव० । अतः परं [६ । २६,
 ४०] पठ्येते । कायव० ॥

पद, प्रतिष्ठा पर विराजमान हो, आप सब नाना उत्तम गुणों को धारण करनेहारे प्रजागण, आप लोग सभी अपने-सामर्थ्यों से (राष्ट्रदाः) राष्ट्र के देने या पालने में समर्थ हो । (मे राष्ट्रं) मुझे आप सब लोग राष्ट्र या राज्य का कार्य (स्वाहा) अति उत्तम रीति से सुविचार कर (दत्त) प्रदान करो । [अध्वर्यु] हे उपरोक्त नानागुणवाले प्रजाजनो ? आप लोग राष्ट्र के देने में समर्थ हो, आप लोग (अमुष्मै) अमुक योग्य पुरुष को (राष्ट्रं दत्त स्वाहा) राज्य प्रदान करते हो, आप सब प्रजाएँ (मधुमतीः) जिस प्रकार मधुर जल मधुर जलों से मिलकर और मधुर होजाते हैं उसी प्रकार आप लोग (मधुमतीः) उत्तम वाणी और ज्ञान से युक्त होकर (मधुमतीभिः) उत्तम बल और ज्ञानवान् विद्वानों से युक्त अन्य प्रजाओं से परस्पर (पृच्यन्ताम्) सम्पर्क करो, मिलके एक दूसरे का सत्संग करो । और (क्षत्रियाय) देश को क्षति से त्राण करने, पालन करने में समर्थ पुरुष को आप सब (महि क्षत्रम्) बड़ा भारी पालक बल, वीर्य (वन्वानाः) प्रदान करते हुए और स्वयं भी (क्षत्रियाय) बलवान् शूरवीर राष्ट्र को क्षति होने से त्राण करने या बचाने वाले राजा के लिये (महि क्षत्रं दधतीः) बड़ा भारी बल-सामर्थ्य धारण करती हुई (सहोजसः) उसके समान एक साथ ही पराक्रमी, बलशाली होकर (अनाष्टष्टाः) शत्रुओं से कभी भी पराजित न होने वाली, अजेय होकर (सीदत) इस राष्ट्र में विराजमान रहो । प्रतिनिधिवाद से इन १६ प्रकार की प्रजाओं के द्वारा राज्याभिषेक को निवाहने के लिये कर्मकाण्ड में १६ प्रकार के भिन्न २ प्रकार के जलों को ग्रहण किया जाता है । उनसे राजा रानी को सभी अमात्य, पुरोहित, ब्राह्मण, वैश्य एवं प्रजा के भिन्न १ प्रतिनिधिगण बारी १ से स्नान कराते हैं । गौणवृत्ति से ये सब विशेषण उन नाना जलों में भी संगत होते हैं । ये सोलह प्रजाएं राष्ट्रकलश और राजा की १६ कलाएं वा अङ्ग समझने चाहियें । १६ प्रकार की प्रजाएं

और १७ वां राजा स्वयं वह प्रजापति का 'सप्तदश' स्वरूप भी स्पष्ट है ॥
शत० ५।३।४।२२-२८ ॥

उक्त १७ प्रकार के राष्ट्रदा जलों के मिश्रलिखित रूपसे गौणार्थ जानने चाहियें—

- (१) (वृष्णः ऊर्मिः) जल में प्रविष्ट पशु या पुरुष के आगे की तरंग का जल, (वृष्णः) सेचन में समर्थ पुरुष का (ऊर्मिः) तरंग है ।
- (२) उसी पुरुष या पशु के पीछे की तरंग का जल (वृषसेनः असि०) बलवान् समर्थ पुरुष की सेना के समान है ।
- (३) (अर्थेतः स्थ) किसी अर्थ या प्रयोजन अर्थात् यन्त्रचालन आदि में प्रेरित जल ।
- (४) (ओजस्वतीः स्थ) विपरीत दिशा में लौट के जानेवाले जल वा विशेष बल से युक्त प्रजा 'ओजस्वती' हैं ।
- (५) (परि-वाहिनीः स्थ) नदी के मार्ग को छोड़कर शाखा फूटकर बहनेवाले जल 'अपयतीः आपः' कहाते हैं, वे 'परिवाहिणीः' हैं ।
- (६) (अपांपतिः) समुद्र के जल ।
- (७) (अपां गर्भाः) नदी में पड़े भँवर अर्थात् निवेश्य जिन जलों को अपने गर्भ में लेता है ।
- (८) (सूर्य-वचसः) बहते जलों में से जो जल स्थिर हों, जो सदा धाम में रहते हों ।
- (९) धूप के रहते २ जो जल बरसते हों वे 'आतपवर्ग्य' जल कहाते हैं वे (सूर्य-वर्चसः) 'सूर्यवर्चस्' कहाते हैं ।
- (१०) तालाब के जल (मान्दाः) नाना जीवों के प्रमोद हेतु होते से 'मान्द' कहाते हैं ।
- (११) कुण्ड के जल (व्रजक्षितः) मेघ के जल 'व्रजक्षित' कहाते हैं ।

(१२) ओस के बिन्दुओं से संग्रह किये जल (वाशाः) 'वाशा' कहाते हैं ।

(१३) मधु को (शविष्ठाः) 'शविष्ठा' कहा जाता है ।

(१४) गौ के प्रसव के पूर्व गर्भाशय से बाहर आनेवाले जल (शक्करीः) 'शक्करी' कहे जाते हैं ।

(१५) (जनभृतः) दूध 'जनभृत्' कहाते हैं ।

(१६) घृत (विश्वभृतः) 'विश्वभृत्' कहाते हैं ।

(१७) स्वयं घाम से तपे जल (स्वराजः आपः) 'स्वराज' कहे जाते हैं ।

ये नाम गौणवृत्ति से कहे गये हैं । यज्ञ में या अभिषेक के अवसर पर ये प्रतिनिधिवाद से राज्यपद देनेवाली उगम गुणवती प्रजाओं और आस पुरुषों के गुणों का श्लेष से वर्णन किया गया है, और ये नाना जल भिन्न २ गुणों के दर्शक हैं ।

सिंहासनरोहण

सोमस्य त्विषिरसि तवेव मे त्विषिर्भूयात् । अग्नये स्वाहा
सोमाय स्वाहा सवित्रे स्वाहा सरस्वत्यै स्वाहा पूष्णे स्वाहा
बृहस्पतये स्वाहेन्द्राय स्वहा घोषाय स्वाहा श्लोकाय स्वाहा
शाय स्वाहा भगाय स्वाहार्धमे स्वाहा ॥ ५ ॥

अग्न्यादयो मन्त्राक्ता देवताः । सुरिगतिवृत्तिः । अश्वमः ।

भा०—हे सिंह ! या सिंहासन-पद ! तू (सोमस्य) राजा की (त्विषिः
असि) कान्ति, तेज या शोभा है । (तव इव) तेरे समान, तेरे अनुरूप ही
(मे) मेरी, मुझ राजा की भी (त्विषिः) कान्ति, तेज, शोभा (भूयात्)

५—'सोमस्य विषिरस्यग्नये' 'इन्द्राय स्वाहा' शाय श्लोकाय स्वाहा घोषाय
स्वाहा भगाय' इति काण्व० ॥

हो । (अग्नये स्वाहा) हे राजन् ! तू अग्नि के उत्तम तेज को धारण कर ।
 (सोमाय स्वाहा) हे राजन् ! तुझे सोम राष्ट्र का क्षात्रबल उत्तम रीति
 से प्राप्त हो । (सवित्रे स्वाहा) समस्त दिव्य तेजों के उत्पादक सूर्य का
 तेज तुझे भली प्रकार प्राप्त हो । (सरस्वत्यै स्वाहा) सरस्वती, वेदवाणी
 का उत्तम ज्ञान तुझे प्राप्त हो । (पूष्णे स्वाहा) पुष्टिकारक पशुओं की
 समृद्धि तुझे प्राप्त हो । (बृहस्पतये स्वाहा) ब्रह्म, वेद के पालक विद्वान्
 पुरुषों का ज्ञान-बल तुझे प्राप्त हो । (इन्द्राय स्वाहा) परम वीर्यवान्
 राजा का वीर्य तुझे प्राप्त हो । (घोषाय स्वाहा) घोष, सबको आज्ञा
 प्रदान करने और घोषणा करने का उत्तम अधिकार तुझे प्राप्त हो ।
 (श्लोकाय स्वाहा) समस्त जनों द्वारा स्तुति और यश प्राप्त करने का पद
 तुझे प्राप्त हो । (अंशाय स्वाहा) सबको उचित उनके अंश, धन, भूमि
 आदि के बांटने का अधिकार तुझे प्राप्त हो । (भगाय स्वाहा) समस्त
 ऐश्वर्यों का स्वामित्व तुझे प्राप्त हो । (अर्यम्णे स्वाहा) सब राष्ट्र पर
 स्वामी होकर उनको न्याय प्रदान करने का अधिकार तुझे प्राप्त हो ॥
 शत० ५ । ३ । ५ । ६-९ ॥

तेजो वा अग्निः । तेजसा एवैनमभिषिञ्चति । क्षत्रं वै सोमः । क्षत्रेणै
 वैनमेतदभिषिञ्चति । सविता वै देवानां प्रसविता । सवितृप्रसूत एव एन-
 मेतदभिषिञ्चति । वाग् वै सरस्वती । वाचैवैनमेतदभिषिञ्चति । पशवो वै
 पूषा । ब्रह्म वै बृहस्पतिः । वीर्यं वा इन्द्रः । वीर्यं वै घोषः । वीर्यं वै श्लोकः ।
 वीर्यं वा अंशः । वीर्यं वै भगः । अर्यम्णे स्वाहा । तदेनमस्य सर्वस्य
 अर्यमणं करोति ॥ शत० ५ । ३ । ५ । ८-९ ॥

अथवा—हे राजन् ! तू (सोमस्य त्विषिः) परम ऐश्वर्य की शोभा
 है । तुझे भी ऐसी शोभा प्राप्त हो । (अग्नये स्वाहा) विद्युत् आदि के
 ज्ञान के लिये (सोमाय) ओषधि-ज्ञान के लिये, (सवित्रे) सूर्यविज्ञान
 के लिये (सरस्वत्यै) वेदवाणी के लिये, (पूष्णे) पशु पालन के लिये,

(बृहस्पतये) परमेश्वर के ज्ञान के लिये, (इन्द्राय) जीव के ज्ञान के लिये, (घोषाय) वाणी, (श्लोकाय) काव्य गद्य-पद्य, छन्दोज्ञान के लिये, (अंशाय) परमाणु ज्ञान के लिये, (भगाय) ऐश्वर्यप्राप्ति के लिये, और (अर्यम्णे) न्यायाधीश पद के लिये हे राजन् ! तू उनके योग्य (स्वाहा ११) विज्ञानों का अभ्यास कर ।

अथवा—सूर्य के १२ मासों के जिस प्रकार १२ रूप होते हैं उसी प्रकार अग्नि, सोम आदि भिन्न २ गुणों, अधिकारों और सामर्थ्यों के सूचक १२ पद या अधिकार राजा को प्राप्त हों ।

पवित्रे स्थो वैष्णव्यौ सवितुर्वः प्रसवेऽत्पुनाम्यच्छिद्रेण पवित्रेण
सूर्यस्य रश्मिभिः । अनिभृष्टमसि वाचो वन्धुस्तपोजाः सोमस्य
दात्रमसि स्वाहा राजस्वः ॥ ६ ॥

वरुण ऋषिः । आपो देवताः । स्वराड् ब्राह्मी बृहती । मध्यमः ।

भा०—हे स्त्री पुरुषो ! दोनों प्रकार की प्रजाओ ! तुम (पवित्रे) पवित्र, शुद्ध आचरणवाली (स्थः) होकर रहो । तुम दोनों (वैष्णव्यौ) समस्त विद्याओं में निष्णात होओ । अथवा (वैष्णव्यौ) राष्ट्र की व्यापक राजशक्ति के मुख्य अंग होवो । (वः) तुम लोगों को (सवितुः) सर्वोत्पादक परमेश्वर और सर्वप्रेरक राजा के (प्रसवे) बनाये ऐश्वर्यमय जगत् और राजा के राज्य में (अच्छिद्रेण) छिद्र या बृष्टि रहित (पवित्रेण) शुद्ध पवित्र, ब्रह्मचर्य, विद्या, शिक्षा आदि के आचार व्यवहार द्वारा (उत्पुनामि) पवित्र आचारवान् करके उन्नत करूँ । और (सूर्यस्य रश्मिभिः) सूर्य की किरणों से शुद्ध पवित्र होकर जल जिस प्रकार ऊर्ध्व आकाश में जाता है उसी प्रकार मैं भी शुद्ध उत्तम शिक्षा आदि द्वारा अपनी प्रजाओं को शुद्ध आचारवान् करके उन्नत पद को पहुँचाऊँ । हे राष्ट्र

५-६—सोमस्य चर्म । अग्नये लिङ्गोक्तानि । अनिभृष्ट आपम् । सर्वा० ॥

और हे राष्ट्रवासी प्रजाओ ! तुम (अनिभृष्टम् असि) शत्रु और दुष्ट पुरुषों से कभी सताए न जाओ । और तुम (वाचः बन्धुः) वाणी द्वारा परस्पर प्रिय भाषण करते हुए एक दूसरे के बन्धु समान प्रेम में बद्ध होकर रहो । आप लोग (तपः-जाः) तप, ब्रह्मचर्य, विद्याध्ययन आदि तपों द्वारा अपने को बढ़ाओ, परिपक्व वीर्यों से सन्तान उत्पन्न करो । आप लोग (सोमस्य) सोम अर्थात् राजा के पद को (दात्रम्) प्रदान करने में समर्थ (असि) हो । (स्वाहा) इसी कारण अपने सत्याचरण और व्यवहार से आप (राजस्वः) राजा को उत्पन्न करने में समर्थ हो । शत० ५ । ३ । ५ । १४ ॥

राजा, स्त्रियों, पुरुषों दोनों प्रजाओं को उन्नत करे । दोनों तपश्चर्या करें, बल बढ़ावें और राज्य कार्यों में भाग लें, दोनों राजा का अभिषेक करें ।

सधमादौ द्युम्निनीरापः एताः अनाधृष्टाः अप्रस्यो वसानाः ।
पस्त्यासु चक्रे वरुणः सधस्थम्पाशं शिशुर्मातृतमास्वन्तः ॥७॥

वरुण देवता । विराडाधी त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—(एताः) ये (आपः) आपस प्रजाएं (सधमादः) समस्त एक साथ ही आनन्द अनुभव करनेहारी और (द्युम्निनीः) धन, ऐश्वर्य और बल-वीर्य वाली हों । वे (अपस्यः) उत्तम कर्म करने में कुशल, (अनाधृष्टाः) शत्रुओं से धर्षित और पीड़ित न होकर, एक ही राष्ट्र में (वसानाः) रहती हैं । उन (पस्त्यासु) गृह बना कर रहनेवाली प्रजाओं में (वरुणः) उन द्वारा वरण करने योग्य सर्वोत्तम राजा (अपां शिशुः) जलों के भीतर व्यापक अग्नि के समान और (मातृतमासु अन्तः) उत्तम माताओं के भीतर जिस प्रकार बालक निर्भय होकर रहता और पालन पोषण पाता है उसी प्रकार राजा उन (मातृतमासु) राजा को सर्वोत्तम रूप से माता के समान मान करनेहारी प्रजाओं के बीच (शिशुः) व्यापक रूप से लेकर उनमें ही (सधस्थम्) अपना आश्रय स्थान (चक्रे) बनाता है और उनके साथ ही रमता है । शत० ५ । ६ । ३ । १९ ॥

क्षत्रस्योल्बमसि क्षत्रस्य जराय्वसि क्षत्रस्य योनिरसि क्षत्रस्य
नाभिर्सीन्द्रस्य वार्त्रघ्नमसि मित्रस्यासि वरुणस्यासि त्वयायं
वृत्रं वधेत् । द्वासि रुजासि क्षुमासि । पातैनं प्राञ्चं पातैनं प्रत्य-
ञ्चं पातैनं तिर्यञ्चं दिग्भ्यः पात ॥ ८ ॥

यजमानो देवता । क्रांतः । निषादः ॥

भा०—हे राजन् ! तू (क्षत्रस्य) राष्ट्र के क्षात्रबल का (उल्बमसि) गर्भ की रक्षा करनेवाले आवरण के समान रक्षक है । (क्षत्रस्य जरायुः असि) तू क्षात्रबल का जरायु, जेर के समान आवरण है । तू स्वयं (क्षत्रस्य योनिः असि) क्षात्रबल का आश्रय है । तू (क्षत्रस्य नाभिः असि) तू क्षात्रबल का केन्द्र है । हे शस्त्र और शस्त्रधारिन् ! तू (इन्द्रस्य) राजा के (वार्त्रघ्नम्) शत्रुनाशक बल-स्वरूप है । तू (मित्रस्य वरुणस्य) सर्वस्नेही और शत्रुओं के वारक राजपदाधिकारियों के योग्य अस्त्र-शस्त्र (असि) है । (त्वया) तुझ द्वारा (अयम्) यह राजा (वृत्रम्) विघ्नकारी शत्रु को (वधेत्) विनाश करे । तू (द्वा असि) शत्रुओं के गद्दों को तोड़ने वाला है । तू (रुजा असि) बाण के समान शत्रुओं को पीड़ादायक है । तू (क्षुमा असि) शत्रुओं को क्षमा देने वाली शक्ति है । हे वीर सैनिक पुरुषो ! आप लोग (प्राञ्चं) आगे बढ़ते हुए (एनं) इस राजा की (पात) रक्षा करो । (एनम् प्रत्यञ्चं पात) इसकी पीछे जाते की रक्षा करो । (एनं तिर्यञ्चं पात) इसकी तिरछे जाते की रक्षा करो । इस राजा की आप लोग (दिग्भ्यः पात) समस्त दिशाओं से रक्षा करें ॥ ५ । ३ । ५ २०-३० ॥

८—क्षत्रस्य चतुर्णां तार्ष्याण्ड्वाधावासाण्योपाणि । सर्वा० ॥ इन्द्रस्य धनुः । मित्रस्य बाहू । त्वया धनुः । द्वा घणाभिः । 'वार्त्रघ्नमसि त्वयायं वृत्रं वधेत्' मित्रस्या० । 'क्षुमासि' । काण्व० ॥

इस मन्त्र से राज्याभिषेक के अवसर पर राजा को तार्य्य, पाण्ड्व, अधि-
शास नामक तीन वस्त्र, एक उष्णीष, धनुष और तीन वाण दिये जाते हैं ।
आविमर्याऽआविरोऽअग्निर्गृहपतिरावित्तऽइन्द्रो वृद्धश्रवाऽआ-
वित्तौ मित्रावरुणौ धृतव्रतावावित्तः पूषा विश्ववेदाऽआवित्त-
द्यावापृथिवी विश्वशम्भुवावावित्तादितिरुरुशर्मा ॥ ६ ॥

प्रजापतिदेवता । भुरिगष्टिः । मध्यमः ॥

भा० — हे (मर्याः) मनुष्यो ! आप लोगों ने यह (अग्निः)
अग्नि, अग्नी, अग्नि के समान तेजस्वी, (गृहपतिः) गृह के स्वामी के समान
राष्ट्रपति, और आप सबके गृहों का पालक (आविः) साक्षात् (आवित्तः)
प्राप्त किया है । आप लोग इसे गृहपति के समान अपना स्वामी जानें ।
आप लोगों को यह (वृद्ध-श्रवाः) अति प्रभूत धनैश्वर्यसम्पन्न, बहुज्ञ (इन्द्रः)
ऐश्वर्यवान्, राजा (आविः आवित्तः) साक्षात् विदित एवं प्राप्त हो । (धृत-
व्रतौ) सब राज्यव्यवस्थाओं को धारण करनेवाले (मित्रावरुणौ) मित्र,
न्यायाधीश और वरुण, बलाध्यक्ष दोनों (आवित्तौ) आप लोगों को
साक्षात् विदित हों । (विश्ववेदाः) समस्त धनैश्वर्यवान्, (पूषा) सबका
पोषक यह राजा तुम्हें (आवित्तः) प्राप्त हो । तुम लोगों को (विश्व
शम्भुवौ) समस्त संसार को शान्ति, कल्याण देनेवाली (द्यावापृथिवी)
धौ और पृथिवी, माता पिता, (आवित्तौ) सब प्रकार से प्राप्त हों । (उरुशर्मा
अदितिः) बहुतों को शरण देनेवाली अखण्ड राजनीति, या पृथिवी या
वपन योग्य भूमि, स्त्री भी तुम्हें (आवित्ता) प्राप्त हो । राजा ही तुम्हें ये
सब प्राप्त करावे ॥ शत० ५ । ३ । ५ । ३१-३७ ॥

अवेष्टा दन्डशूक्राः प्राचीमारोह गायत्री त्वावतु रथन्तरथं सामं
त्रिवृत् स्तोमो वसन्त ऋतुर्ब्रह्म द्रविणम् ॥ १० ॥

यजमानो देवता । विराडार्षी पंक्तिः । पंचमः ॥

१० — अवेष्टा मृत्युनाशनम् । प्राचीपञ्चानां यजमानः ॥ सर्वा० ॥

भा०—(दन्द्शूकाः) मधुमक्खी, ततैये, वरं, आदि के समान दुःखदायी प्राणी (अवेष्टाः) नीचे गिराकर मार डाले जाय । अब हें राजन् ! तू (प्राचीम्) प्राची दिशा अर्थात् आगे की ओर (आरोह) चढ़, उधर बढ़, (गायत्री) गायत्री छन्द, (रथन्तरं साम) रथन्तर साम और (त्रिवृत् स्तोमः) त्रिवृत् स्तोम, (वसन्तः ऋतुः) वसन्त ऋतु और (ब्रह्मं द्रविणम्) ब्राह्मण रूप धन (त्वा अवतु) तेरी रक्षा करें ॥ शत० ५।४।१।१-९ ॥

दक्षिणामारोह त्रिष्टुप् त्वावतु बृहत्साम पञ्चदशस्तोमो ग्रीष्म ऋतुः क्षत्रं द्रविणम् ॥ ११ ॥

प्रतीचीमारोह जगती त्वावतु वैरूपं साम सप्तदश स्तोमो वर्षा ऋतुर्विड् द्रविणम् ॥ १२ ॥

उदीचीमारोहानुष्टुप् त्वावतु वैराजं सामैकविंश स्तोमः शरदृतुः फलं द्रविणम् ॥ १३ ॥

११-१२—यजमानो देवता । (११-१३) आर्ची पंक्तिः पंचमः । (११) अनृताव्यनुष्टुप् । गान्धारः ।

भा०—(दक्षिणाम आरोह) तू दक्षिण दिशा पर चढ़, उस पर आक्रमण या वश कर । (त्रिष्टुप्) बृहत्साम, पञ्चदश स्तोमः, ग्रीष्मः ऋतुः, क्षत्रम् द्रविणम्) त्रिष्टुप्, बृहत् साम, पञ्चदश स्तोम, ग्रीष्म ऋतु और क्षत्र बल रूप द्रविण, धन (त्वा अवतु) तेरी रक्षा करें ॥ ११ ॥

(प्रतीचीम् आरोह) तू प्रतीची, पश्चिम दिशा की ओर बढ़ । (त्वा) तुलको (जगती, वैरूपं साम, सप्तदश स्तोमः, वर्षा ऋतुः, विड् द्रविणम् अवतु) जगती छन्द, वैरूप साम, सप्तदश स्तोम, वर्षा ऋतु, और विड् अर्थात् वैश्यरूप धन रक्षा करे ।

(उदीचीम् आरोह) उदीची दिशा पर चढ़ । वहां (अनुष्टुप् वैराजं साम, एकविंशः स्तोमः शरद् ऋतुः, फलं द्रविणम्, त्वा अवतु) अनुष्टुप्

छन्द, वैराज साम, एकविंश स्तोम, शरद् ऋतु और फल अर्थात् श्रम द्वारा प्राप्त अन्न आदि कृपि तेरी रक्षा करे ॥ ५ । ४ । १ । ४-६ ॥

उर्ध्वमारोह पङ्क्तिस्त्वावतु शाकररैवते सामनी त्रिणवत्रय-
स्त्रिंशौ स्तोमौ हेमन्तशिशिरावृतू वर्चो द्रविणं प्रत्यस्तं नमुचेः
शिरः ॥ १४ ॥

यजमानो देवता । भुरिगजगती । निपादः ॥

भा०—(उर्ध्वाम् आरोह) उर्ध्व दिशा की ओर चढ़, उधर आक्रमण-
कर । (पङ्क्तिः, शाकररैवते सामनी, त्रि-नव-त्रयस्त्रिंशौ, स्तोमौ, हेमन्त-शिशिरौ
ऋतू, वर्चः द्रविणं त्वा अवतु) पङ्क्ति छन्द, शाकर और रैवत साम,
त्रिनव और त्रयस्त्रिंश नामक दोनों स्तोम, हेमन्त और शिशिर दोनों ऋतु
और वर्चस = तेजरूप धन ये तेरी रक्षा करे । (नमुचेः) पापाचार को
न छोड़नेवाले का (शिरः) शिर (प्रति अस्तम्) काटकर फेंक दिया
जाय । शत० ५ । ४ । १ । ७-६ ॥

(१०-१४) (१) दन्दशूकाः—नैते क्रिमयो नाक्रिमयः यद्
दन्दशूकाः । लोहिता इव हि दन्दशूकाः । श० ५ । ४ । १ । २ ॥ लाल
घमूढ़ या लाल बर 'दन्दशूक' कहाता है, वह विना प्रयोजन काटता है ।
उसी के स्वभाव वाले व्यर्थ परपीड़क लोग भी 'दन्दशूक' कहाते हैं ।

(२) 'प्राची'—प्राची हि दिग् अग्नेः । श० ६ । ३ । ३ । २ ॥
अग्निनेत्रेभ्यो देवेभ्यः पुरःसद्भ्यः स्वाहा । यजु० ९ । ३५ ॥ अथैन-
मिन्द्रं प्राच्यां दिशि वसवो देवा अभ्यषिञ्चन् साम्राज्याय । ए० ८ । १४ ॥
वसवस्त्वा पुरस्तादभिषिञ्चतु गायत्रेण छन्दसा ! तै० २ । ७ । १५ । ५ ॥
तेजो वै ब्रह्मवर्चसं प्राची दिक् ॥ ऐ० १ । ८ ॥

(३) 'गायत्री'—सेयं सर्वा कृत्स्ना मन्यमाना अगायत् । यद्गायद्
१४—प्रत्यस्तं मारुतं । सर्वा० । '०शिशिरा ऋतू' इति काण्व० ।

तस्मादियं पृथिवी गायत्री । श० ६ । १ । १ । १५ ॥ गावन्नोऽयं भूर्लोकः ।
कौ० ८ । ६ ॥ गायत्री वसूनां पत्नी । गो उ० २ । ९ ॥ गायत्री वै
रथन्तरस्य योनिः । तां० १५ । १० । ५ ॥ या द्यौः सा अनुमतिः सा
एव गायत्री । ऐ० २ । १७ ॥

(४) 'रथन्तरं साम'—अभि त्वा शूर नोनुम (ऋ० ७ । ३२ ।
२२) इत्यस्यामृचि उत्पन्नं साम रथन्तरम् । ऐ० ४ । १३ ॥ सायणः ।
इयं वै पृथिवी रथन्तरम् । ऐ० ८ । १ ॥ वाग् वै रथन्तरम् । ऐ० ४ ।
२८ ॥ रथन्तरं वै सम्राट् । तै० १ । ४ । ४ । ९ ॥

(५) 'त्रिवृत् स्तोमः'—वायुर्वा आशुः त्रिवृत् । श० ८ । ४ । १ ।
६ ॥ वज्रो वै त्रिवृत् । श० ३ । ३ । ४ तेजो वै त्रिवृत् तां० २ । १७ ।
४ ॥ ब्रह्मवर्चसं वै त्रिवृत् । तां० ७ । ६ । ३ ॥

(६) 'वसन्त ऋतुः'—तस्य अग्नेः रथगृत्सश्च, रथौजाश्च सेनानीग्रामण्यौ
इति वासन्तिकौ तावृत् । श० ८ । ६ । १ । १६ ॥ वसन्तो वै ब्राह्मणस्य
ऋतुः । तै० १ । १ । १६ ॥

सोमस्य त्विषिरसि तवैव मे त्विषिर्भूयात् ।

मृत्योः पाह्योऽसि सहोऽस्यमृतमसि ॥ १५ ॥

परमात्मा देवता । उष्णिग् । ऋषभः ।

भा०—हे सिंहासन ! एवं राज्यपद ! हे परमेश्वर तू ! (सोमस्य)
सर्वप्रेरक राजा की ही (त्विषिः) कान्ति या शोभा (असि) है ।
(मे त्विषिः) मेरी शोभा भी (तव इव) तेरे ही समान (भूयात्)
हो जाय । हे परमेश्वर ! तू अमृत है, तू (मृत्योः पाहि) मृत्यु से रक्षा
कर । (ओजः असि, सहः असि, अमृतम् असि) तू ओज है । तू सहस् है,
तू बल है, तू अमृतस्वरूप है ॥ शत० ५ । ४ । १ । ११ — १४ ॥

१५—सोमस्य सुन्वन् । सर्वा० । मृत्योः ओजोऽसि रुक्मः । सर्वा० ।

अथवा— राजा के प्रति प्रजा का वचन है । तू सोम, अधिकारी या राज्य पद के योग्य शोभा है । मुझ प्रजाजन की भी तेरे सामने कान्ति हो । हे राजन् ! तू राष्ट्र को मृत्यु से बचा । तू ओज, पराक्रमरूप बलरूप और अमृत है । परमेश्वर के पक्ष में स्पष्ट है ।

हिरण्यरूपा उषसो विरोकऽउभाविन्दुऽउदिथः सूर्यश्च ।
आरोहतं वरुण मित्रं गतं ततश्चक्ष्वाथामदितिं दितिं च
मित्रोऽसि वरुणोऽसि ॥ १६ ॥

मित्रावरुणौ देवत । स्वराडार्षी जगती । निषादः ॥

भा०—हे मित्र और हे वरुण ! (उभा) आप दोनों (हिरण्यरूपौ) स्वर्ण के समान तेजस्वी (इन्द्रौ) राजा के समान ऐश्वर्यवान् (उषसः) उषाओं के (विरोके) विशेष प्रकाशद्वारा (सूर्यः च) सूर्य और चन्द्र के समान नाना कार्यों और विद्याओं को प्रकाशित करते हुए (उदिथः) उदय होवो । आप दोनों हे वरुण ! हे मित्र ! (गतम्) रथ पर और राष्ट्रवासी प्रजाओं के ऊपर (आरोहतम्) आरुढ़ होओ और उन पर शासन करो । (ततः) और तब (अदितिम्) अखण्ड राज्यव्यवस्था या पृथिवी और (दितिम्) खण्ड २ रूप से विद्यमान समस्त विभक्त व्यवस्था का भी (चक्ष्वाथाम्) उपदेश करो या उनका निरीक्षण करो । हे राजन् ! (मित्रः असि) तू ही स्वयं मित्र, सर्वस्नेही है और (वरुणः असि) तू ही वरुण, सब शत्रुओं को वारण करने में समर्थ, सर्वश्रेष्ठ है ॥ शत० ५ । ४ । १ । १६-१७ ॥

सोमस्य त्वा द्युस्नेनाभिषिञ्चास्यग्नेर्भ्राजसा सूर्यस्य वर्चसेन्द्र-
स्यन्द्रियेण । क्षत्राणां क्षत्रपतिरेध्याति दिद्युन् पाहि ॥ १७ ॥

क्षत्रपतिर्देवता । आर्षी पंक्तिः । पञ्चमः ॥

१६—'इन्द्रा उदित०' इत काण्व० ।

१७—सोमस्य सुन्चन् । सर्वा० । ० इन्द्रियेण मरुताग्नेजसा, क्षत्राणां ० । इति काण्व० ।

भा०—हे राजन् ! वीर पुरुष ! (त्वा) तुझको (सोमस्य) सोम, सर्वप्रेरक, सर्वश्रेष्ठ राजपद के योग्य (द्युम्नेन) यश और ऐश्वर्य से (अग्नेः) अग्नि या अग्रणी नेता के (भ्राजसा) तेज से और (सूर्यस्य वर्चसा) सूर्य के तेज से और (इन्द्रस्य इन्द्रियेण) इन्द्र, विद्युत् या वायु के बल से (त्वा अभिषिञ्चामि) तेरा अभिषेक करता हूँ । हे अभिषिक्त राजन् ! तू (क्षत्राणाम्) वीर्यवान् क्षत्रियों, राजाओं का (क्षत्रपतिः पृथि) क्षत्रपति, राजाधिराज होकर रह । (दिद्यून्) प्रजा के नाश करनेवाली सब विपत्तियों को (अति) पार करके प्रजाओं की (पाहि) रक्षा कर । अथवा (दिद्यून्) विद्या और धर्म के प्रकाश करनेवाले व्यवहारों और विद्वानों को (अति पाहि) सब कष्टों से पार करके भी रक्षा कर अथवा (दिद्यून्) बाण आदि शस्त्रों की खूब (पाहि) रक्षा कर । उन पर पर्याप्त प्रतिबन्ध रख जिससे वे परस्पर हिंसा का कारण न हों ॥ शत० ५ । ४ । १ । २ ॥

इमं देवाऽअसपत्नं सुवध्वं महते क्षत्राय महते ज्यैष्ठ्याय महते जानराज्यायेन्द्रस्येन्द्रियाय । इमममुष्य पुत्रममुष्यै पुत्रमस्यै विशऽएष वोऽमी राजा सोमोऽस्माकं ब्राह्मणानां राजा ॥ १८ ॥

यजमानो देवता । स्वराड् ब्राह्मो त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—व्याख्या देखो अ० ९ । ४० ॥ शत० ५ । ४ । २ । ३ ॥

हे (देवाः) विद्वान् पुरुषो ! आप लोग (इमम्) इस योग्य पुरुष को (महते क्षत्राय) बड़े भारी क्षात्रबल सम्पादन करने के लिये, (महते ज्यैष्ठ्याय) बड़े भारी उत्तम राज्य प्राप्त करने के लिये, (महते जानराज्याय) बड़े भारी जन्मराज्य स्थापित करने के लिये और (इन्द्रस्य इन्द्रियाय) इन्द्रपद के सामर्थ्य प्राप्त करने के लिये (असपत्नं) शत्रु रहित इस वीर पुरुष को (सुवध्वम्) अभिषिक्त करो । (अमुष्य पुत्रम्) अमुक पिता के पुत्र, (अमुष्यै पुत्रम्) अमुक माता के पुत्र (इमम्) इसको (अस्यै विशे) इस प्रजा के कल्याण के लिये अभिषिक्त करो । हे (अमी) अमुक प्रजाजनो !

(एषः वः राजा) यह आप लोगों का राजा है। (एषः सोमः) यह राजा-सोम ही (अस्माकं ब्राह्मणानां राजा) हम वेद के विद्वान् ब्राह्मणों का भी राजा है। यह हम विद्वानों को भी अभिमत है।

प्रपर्वतस्य वृषभस्य पृष्ठान्नावश्चरन्ति स्वसिच इयानाः। ताऽभाववृत्रन्नधरागुदक्ताऽअहिं बुध्न्युमनु रीयमाणाः। विष्णोर्विक्रमणमसि विष्णोर्विक्रान्तमसि विष्णोः क्रान्तमसि ॥ १६ ॥

आपः विष्णुश्च देवताः। विराड् ब्राह्मा त्रिष्टुप्। धैवतः ॥

भा०—जिस प्रकार (पर्वतस्य पृष्ठात्) पर्वत या मेघ के पृष्ठ से (इयानाः) निकलनेहारी (नावः) जल-धाराएं बहती हैं। उसी प्रकार (वृषभस्य) नर-श्रेष्ठ राजा के पीठ पर से भी (इयानाः) जाती हुई (स्व-सिचः) शरीर का सेचन करनेवाली (नावः) जलधाराएं अभिषेक काल में (चरन्ति) बहें। (ताः) वे (अधराक् उदक्) नीचे और ऊपर सर्वत्र (बुध्न्यम्) सबके आश्रय में स्थित (अहिम्) अहन्तव्य, जिसको कोई न मार सके, ऐसे श्रेष्ठ वीर पुरुष को, पर्वत की जलधाराएं जिस प्रकार उसके मूल भाग को घेरती हैं उसी प्रकार (रीयमाणाः) घेरती हुई (ताः) वे (भाववृत्रन्) उसको घेरें या प्राप्त करें ॥ शत० ५।४।२।५, ६ ॥

राजा प्रजा पक्ष में - (नावः) स्तुति करनेवाली प्रजाएं (स्वसिचः) स्व अर्थात् धन से राजा को सेचन, वृद्धि करनेवाली (पर्वतस्य) पर्वत के समान दृढ़ एवं (वृषभस्य) वृषभ के समान बलवान्, अथवा मेघ के समान सब के काम्य सुखों के वर्षक, अति दानशील पुरुष के (पृष्ठात्) पीठ से, उसका आश्रय लेकर (इयानाः) सर्वत्र गमन करती हुई (चरन्ति) विचरण करती हैं। (ताः) वे समस्त प्रजाएं अपने राजा को (बुध्न्यम्) आश्रयभूत, सब के अहन्ता, पालक का (अनु रीयमाणाः) अनुगमन करती हुई उसको (अधराक्) नीचे से और (उदक्) ऊपर से (भाववृत्रन्) व्याप्त होकर रहती हैं। उसको घेरे रहती हैं।

हे पृथिवी ! तू (विष्णोः क्रमणम् असि) व्यापक राजशक्ति का विक्रम करने का स्थान है । हे अन्तरिक्ष ! शासकगण ! तू (विष्णोः) वायु के समान बलशाली राजा का (विक्रान्तम् असि) नाना प्रकार के पराक्रमों का स्थान है । हे स्वः लोक ! राज्यपद ! तू आदित्य के समान (विष्णोः) राजा के (क्रान्तम् असि) पराक्रम का स्थान है ।

प्रजापते न त्वदेतान्यन्यो विश्वा रूपाणि परि ता बभूव । यत्का मास्ते जुहुमस्तन्नो अस्त्वयममुष्य पिताऽसावस्य पिता वयं स्याम पतयो रयीणां स्वाहा । रुद्र यत्ते क्रिवि परं नाम तस्मिन् हुतमस्य मेष्टमसि स्वाहा ॥ २० ॥ ऋ० । । १० । १२१ । १० ॥

प्रजापतिदेवता । स्वराड् अतिधृतिः षड्जः ॥

भा०—हे (प्रजापते) प्रजा के पालक राजन् ! अथवा परमेश्वर ! (एतानि) इन (ता विश्वा रूपाणि परि) समस्त नाना रूपवाले पदार्थों और चर अचर प्राणि शरीरों के ऊपर (त्वत् अन्यः न बभूव) तुझ से दूसरा कोई स्वामी नहीं है । हम लोग (यत्-कामाः) जिस पदार्थ की कामना या अभिलाषा करते हुए (जुहुमः) तुझे कर प्रदान करते और तुझे राजा स्वीकार करते हैं (तत् नः अस्तु) वह हमारा प्रयोजन पूर्ण हो । (अयम्) यह राजा (अमुष्य पिता) अमुक बालक का पिता है । (अस्य) और इस राजपद पर आरुढ़ पुरुष का (असौ पिता) अमुक पुरुष पिता है । हम उस प्रकार तुझको अपना राजा स्वीकार करते हैं । तेरे द्वारा (वयम्) हम सब (स्वाहा) उत्तम व्यवस्था और धर्मानुकूल आचरण द्वारा (रयीणाम्) ऐश्वर्यों के (पतयः स्याम) पालक, स्वामी बनें ॥ शत० ५ । ४ । २ । ९, १० ॥

२०—रुद्र यद् रौद्रस् । सर्वा० ॥ 'तन्नो अस्तु वयं स्याम०', 'क्रिवि परं नाम तस्मै०' इति कायव० ॥

हे (रुद्र) रुद्र ! सर्व प्रजाओं के पालक और सब प्रजाओं के रोचक, वशकारक एवं शत्रुओं को रुलानेहारे ! (ते) तेरा (यत्) जो (परं नाम) पर, सर्वोत्कृष्ट स्वरूप और नाम (क्रिवि) क्रिवि अर्थात् सब कार्य करने में समर्थ, एवं सबको मारने में समर्थ, सर्वशक्तिमान्, सर्वहन्ता का पद या अधिकार है (तस्मिन्) उस पर तू (हुतम् असि) स्थापित किया गया है । तू (अमा) घर घर में (इष्टम् असि) पूज्य और आदर के योग्य बनाया जाता है (स्वाहा) यह सब तेरे उत्तम आचरण और सत्य व्यवस्था काही परिणाम है ।

इन्द्रस्य वज्रोऽसि मित्रावरुणयोस्त्वा प्रशास्त्रोः प्रशिषा युनज्मि ।
अव्यथायै त्वा स्वधायै त्वारिष्टो अर्जुनो मरुतां प्रसवेन जयापाम
मनसा समिन्द्रियेण ॥ २१ ॥

चतुर्पातिदेवता । मुरिगु ब्राह्मी बृहती । मध्यमः ॥

भा०—हे राजन् ! तू (इन्द्रस्य) परम ऐश्वर्यवान् राजपद का (वज्रः असि) वज्र अर्थात् उस पर विराज कर सब दुष्टों का दलन करनेहारा है । (त्वा) तुझको (मित्रावरुणयोः) पूर्व कहे हे मित्र और वरुण, सभाध्यक्ष और सेनाध्यक्ष, न्यायाधीश और बलाध्यक्ष ! (प्रशास्त्रोः) इन दोनों उत्तम शासकों के (प्रशिषाः) उत्तम शासनाधिकार से (युनज्मि) युक्त करता हूँ । (त्वा) तुझको (स्वधायै) स्वकीय राष्ट्र के पालन पोषण और उससे अपने शरीर मात्र की भृति प्राप्त करने और (अव्यथायै त्वा) प्रजा को किसी प्रकार की व्यथा न हो इस लिये नियुक्त करता हूँ । तू (अरिष्टः) किसी से भी हिंसित न होकर और (अर्जुनः) अति सुशोभित, सुप्रतिष्ठित होकर, वा अतिप्रदीप्त, तेजस्वी होकर (मरुतां) प्रजाओं, वैद्यों या शत्रुओं के मारनेहारे वीरभटों के (प्रसवेन) उत्कृष्ट बल से या

२१—इन्द्रस्य लिङ्गोक्तानि । सर्वा० । रथो धुर्यो यत्रमानश्च देवताः । अनन्त० ॥
•रिष्टः फल्गुनः •इति काण्व० ।

(मरुतां प्रसवेन) विद्वानों के आज्ञानुकूल (जय) विजय प्राप्त कर और हम लोग (मनसा) मन से और (इन्द्रियेण) शरीर और ऐश्वर्य बल से भी (सम् आपाम) तेरे साथ मिले रहें, तेरी भली प्रकार रक्षा करें ॥ शत० ५।४।३।५-१० ॥

मा त॑ऽइन्द्र ते व॒यं तुरा॑षाड्यु॒क्तासोऽब्र॑ह्म॒ता विद॑साम । ति॒ष्ठा रथ॑मधि यं व॒ज्रह॑स्ता र॒श्मीन्दे॑व यम॒से स्व॑श्वान् ॥ २२ ॥

संवरण ऋषिः । इन्द्रो देवता । निचृदार्षी त्रिदुष्पू । धैवतः ॥

भा०—हे (वज्रहस्त) वज्र, खड्ग वा दण्डविधान को हाथ में लिये हुए राजन् ! तू (तुराषाड्) शीघ्र ही शत्रुओं को पराजय करने में समर्थ होकर (यम् रथम्) जिस रथ पर, रथ के समान राज्यपद पर भी (अधिष्ठितः) अधिष्ठाता में होकर विराजता है और हे (देव) राजन् ! जिसके (स्वश्वान्) उत्तम घोड़ों या अश्वों के समान राष्ट्र-सञ्चालक उत्तम पुरुषों को (रश्मीन्) उनकी बागडोरों से (यमसे) अपने नियन्त्रण में रखता है (ते) तेरे उस राज्य में (वयम्) हम निवास करें । (ते) तेरे प्रति (अयुक्तासः) अयुक्त अधर्माचरण करते हुए (अब्रह्मता) वेद और ईश्वरनिष्ठा से रहित होकर या ब्रह्म अर्थात् ज्ञान और अन्न से रहित होकर हम (मा विदसाम) कभी नष्ट न हों ॥ शत० ५।४।३।१४ ॥

राजा जिस रथ पर चढ़े उसमें लगे घोड़े भी जिस प्रकार रथ में न लगाने के अवसर पर भी चारा पाते के राज्य में नियमपूर्वक कार्यों में लगे रहें । वे बेरोजगार होकर भी (अब्रह्मता) अपराध में, या अन्नाभाव से भूखे न मरें । अ॒ग्नये॑ गृहप॑तये स्वाहा सोम॑ाय वन॒स्पत॑ये स्वाहा । म॒रुता॑मोज॒षे स्वाहे॑न्द्र॒स्येन्द्रि॑याय स्वाहा । पृथि॑वि मात॒र्मा मां हि॑ शंसी॒मोऽब्र॑ह्म॒त्वाम् ॥ २३ ॥

मंत्रोक्ता अग्न्यादयो देवताः । जगती । निषादः ॥

२२—‘मा न इन्द्र’ इति शतप्रथपाठः । ०यद् वन०, ०युवसे ० इति काण्व० ।

२३—०स्वाहा मरुतामोजसे स्वाहा । इति काण्व० ।

भा०—(गृह-पतये) गृहों के पालक या गृह के समान राज्य के पति (अग्रये) अग्नि, अग्रणी या विद्वान् पुरुष का (स्वाहा) हम आदर करें । (वनस्पतये सोमाय स्वाहा) वन अर्थात् सेना समूह के पालक सोम राजा का हम आदर सत्कार करें । (मरुताम्) शत्रु को मारने में समर्थ, वायु के समान तीव्रगामी भटों के (ओजसे) बल के लिये (स्वाहा) हम अन्न धनादि को प्रदान करें । (इन्द्रस्य) ऐश्वर्यवान् राजा के (इन्द्रियाय) बल का हम आदर करें । राजा भी प्रजाजन से कहे—हे (पृथिवी मातः) मातः पृथिवी ! पृथिवीवासी जन ! (मा) मुझको तू (मा हिंसीः) विनाश मत कर और (अहम्) मैं (त्वाम्) तुझको भी (मा) विनाश न करूँ । प्रजावासी लोग गृहों के पालक, तेजस्वी, सेनाओं के पालक और बलवान् ऐश्वर्यवान् राजा का आदर करें । वह प्रजा का नाश न करे और प्रजा उसका नाश न करे । उसी प्रकार सामान्यतः भी पुत्र माता को कष्ट न दे और माता पुत्र को कष्ट न दे । विद्वान् गृहपति, वनस्पति आदि सोम ओषधि, प्राणों और विद्वानों और केवल इन्द्र, जीव की इन्द्रियों का उनकी उत्तम विद्या के अनुकूल उपयोग लें ॥ शत० ५ । ३ । ३ । १६-२० ॥

हंसः शुचिषद्वसुरन्तरिक्षसद्भोता वेदिषदतिथिदुरोणसत् ।
नृपद्वरसद्वत्सद्वयोमसद्वजा गोजाऽऋतजाऽअद्रिजाऽऋतं
ब्रुवत् ॥ २४ ॥ ऋ० । ४ । ४० । ५ ॥

वामदेव ऋषिः । सूर्यो देवता । भुरिगार्षी जगती । निषादः ॥

भा०—हे राजन् ! तू (हंसः) शत्रुओं का नाशक है । तू (शुचिषत्) शुद्ध आचरण और व्यवहार में वर्तमान, निश्छल, निर्लोभ, निष्काम-स्वरूप, परायण है । तू (वसुः) प्रजाओं को बसानेहारा है । तू (अन्तरिक्ष-सत्) अन्तरिक्ष के समान प्रजा के ऊपर रहकर उसका पालन करता है । (होता) राष्ट्र से कर ग्रहण करने और अपने आपको उसके लिये युद्धयज्ञ में आहुति देनेवाला है । तू (वेदिषत्) भूमिरूप वेदि में प्रतिष्ठित है,

(अतिथिः) राष्ट्र में, राष्ट्रकार्य से बराबर भ्रमण करनेवाला, एवं अतिथि के समान सर्वत्र पूजनीय है । (दुरोण-सत्) बड़े १ कष्ट सहन करके पालन योग्य राष्ट्ररूप गृह में विराजमान, (नृ-पत्) समस्त नेता पुरुषों में प्रतिष्ठित, (ऋतसत्) ऋत = सत्य पर आश्रित, (व्योम-सत्) विशेष रक्षाकारी राजपद पर स्थित, (अब्जाः) प्रजाओं द्वारा प्रजाओं में विशेषरूप से प्रादुर्भूत, (गोजाः) पृथ्वी पर विशेष सामर्थ्यवान्, (ऋतजाः) सत्य और ज्ञान से विशेष सामर्थ्यवान्, (अद्रिजाः) न विदीर्ण होनेवाले, अभेद्य बल से सम्पन्न या उसका उत्पादक और साक्षात् (बृहत्) स्वयं बड़ाभारी (ऋतम्) सत्यरूप बल वीर्य है ॥ शत० ५ । ४ । ३ । १२ ॥

परमात्मा पक्ष में—(हंसः) सर्व पदार्थों को संघात करनेवाले, (शुचिपत्) शुद्ध पवित्र पदार्थों और योगियों के हृदयों में और पवित्र गुणों में विराजमान, (अन्तरिक्ष-सत्) अन्तरिक्ष में व्यापक, (होता) सबका, दाता, सबका गृहीता, (अतिथिः) पूज्य, (दुरोणसत्) ब्रह्माण्ड में व्यापक, (नृसत्, वरसत्) मनुष्यों में और वरणीय श्रेष्ठ पुरुषों के हृदयों में विराजमान, (व्योमसत्) आकाश में व्यापक, (ऋतसत्) सत्य में व्यापक, ज्ञानमय, (अब्जाः) जलों का उत्पादक, (गोजाः) गौ पृथिव्यादि लोकों और इन्द्रियों का उत्पादक, (ऋत-जाः) सत्यज्ञान वेद का उत्पादक, (अद्रिजाः) मेघ पर्वतादि का जनक, स्वयं (बृहत् ऋतम्) महान् सत्यस्वरूप है । अध्यात्म में और सूर्य पक्ष में भी यह लगता है ।

इयं दस्यायुरस्यायुर्मयि धेहि युङ्क्ष्वसि वर्चोऽसि वर्चो मयि धेह्ये
र्गस्यूर्जं मयि धेहि । इन्द्रस्य वां वीर्यकृतो वाहू अभ्युपावह
रामि ॥ २५ ॥

सूर्यो देवता । आर्षी जगती । निषादः ॥

२५—इयच्छतमानौ । ऊर्गसि शाखा । इन्द्रस्य वाहू । सर्वा० ॥

‘०देहि०’ ‘वीर्यकृता उपा०’ इति काण्व० ।

भा०—हे परमेश्वर ! तू (इयत् असि) इतना बड़ा है। हे जीव स्वरूप ! (इयत् असि) इतना छोटा ही है। तू (आयुः असि) हे देव ! तू आयु जीवन स्वरूप है। (मयि आयुः धेहि) मुझे मैं आयु प्रदान कर। तू (युङ् असि) सबको शुभ कार्यों में जोड़नेवाला एवं अपने से मिलाने-हारा है। हे परमेश्वर ! तू (वर्चः असि) तेजःस्वरूप है (मयि वर्चः धेहि) तू मुझे तेज प्रदान कर। (ऊर्ग असि) तू बलस्वरूप है (मयि ऊर्ग धेहि) तू मुझे बल प्रदान कर। हे सभाध्यक्ष और सेनापते ! मित्र और वरुण ! (वाम्) तुम दोनों ! (वीर्यकृतः सामर्थ्यवान् (इन्द्रस्य) ऐश्वर्यवान् राजा के (बाहू) दो बाहुओं के समान हो। मैं पुरोहित या राजा तुम दोनों को (अभि उप आहरामि) राजा के समक्ष उसके अधीन स्थापित करता हूँ। अथवा—हे राजा और प्रजाजनो (वां बाहू इन्द्रस्य अभ्युपा-वहरामि) तुम दोनों के बाहुबल को परमेश्वर के अधीन करता हूँ ॥ शत० ५।४।३।२५-२७ ॥

स्योनासि सुषदासि क्षत्रस्य योनिरसि। स्योनामासीद सुषदामा सीद क्षत्रस्य योनिमासीद ॥ २६ ॥

आसन्दी राजपत्नी देवता। मुरिगनुष्टप्। गांधारः ॥

भा०—हे पृथिवि ! और हे आसन्दि ! तू (स्योना असि) सुखकारिणी है। तू (सुषदा असि) सुख से बैठने योग्य है। तू (क्षत्रस्य योनिः असि) क्षत्र, राष्ट्र के रक्षाकारी बलवीर्य का आश्रय और उत्पत्तिस्थान है। हे राजन् ! तू (स्योनाम् आसीद) सुखकारिणी उस राजगद्दी और इस भूमि पर अधिकारी होकर विराज। (सुषदाम् आसीद) सुख से बैठने योग्य इस गद्दी पर विराज और (क्षत्रस्य योनिम्) क्षात्रबल के परम आश्रयरूप इस गादी पर (आसीद) विराज ॥ शत० ५।४।४१-४२ ॥

२६—स्योनास्यासन्दी। क्षत्रास्याधीवासम्। स्योनां सुवन्। सर्वा०।

निषसाद धृतव्रतो वरुणः पस्त्यास्वा ।

साम्राज्याय सुक्रतुः ॥ २७ ॥ ऋ० १ । २५ । १० ॥

शुनःशेष ऋषिः । वरुणो देवता । पिपीलिकामध्या विराड् गायत्री । षड्जः ॥

भा०—(धृत-व्रतः) व्रत, प्रजा-पालन के शुभ व्रत और राज्य-व्यवस्था को धारण करनेवाला (सु-क्रतुः) उत्तम क्रियावान्, प्रज्ञावान्, (वरुणः) सर्वश्रेष्ठ राजा (पस्त्यासु) न्याय-गृहों में और प्रजाओं के के बीच (साम्राज्याय) साम्राज्य की स्थापना और उसके संचालन के लिये (आ नि-ससाद) अधिष्ठाता रूप से विराजमान हो ॥ ५ । ४ । ४ । ५ ॥

अभिभूरस्येतास्ते पञ्च दिशः कल्पन्तां ब्रह्मस्त्वं ब्रह्मासि सवि
तासि सत्यप्रसवो वरुणोऽसि सत्यौजा इन्द्रोऽसि विशौजा
रुद्रोऽसि सुशेवः । बहुकार श्रेयस्कर भूयस्करेन्द्रस्य वज्रोऽसि
तेन मे रध्य ॥ २८ ॥

यजमाना देवता । विराड् धृतिः । ऋषभः ॥

भा०—हे राजन् ! तू (अभिभूः असि) शत्रुओं का पराजय करने में समर्थ है । (एताः पञ्च दिशः) ये पांचों दिशाएं (ते कल्पन्ताम्) तेरे लिये सुखकारी और बल-पुष्टिकारी हों । हे (ब्रह्मन्) महान् शक्ति-वाले ! (ब्रह्मा असि) तू महान् शक्ति सम्पन्न, सबका वृद्धिकार है । तू (सत्य-प्रसवः सविता असि) सत्य ऐश्वर्यवाला, सत्य व्यवहार का उत्पादक 'सविता' है । तू (सत्यौजाः वरुणः असि) सत्य पराक्रमशील वरुण है । तू (विशौजाः इन्द्रः असि) प्रजाओं के द्वारा पराक्रम करनेहारा 'इन्द्र'

२८—अभिभूरस्येताः यजमाना वा । ब्रह्मस्त्वमामंत्रणानि पञ्च लिंगो-
क्तानि । इन्द्रस्य स्फ्यः । सर्वा० ॥ अभिभूरस्येता नाभेतास्ते० । प्रियङ्कर श्रेय०
इति काण्व० ।

है। तू (सु-शेवः) सुखपूर्वक सेवन करने योग्य, उत्तम सुखदायक (रुद्रः असि) प्रजाओं का रोधक और शत्रुओं को रूढ़ानेहारा एवं ज्ञानोपदेष्टा भी है। हे (बहुकार) बहुत से कार्यो, अधिकारों के निभाने में समर्थ ! हे (श्रेयस्कर) प्रजा के कल्याण करनेवाले ! हे (भूयस्कर) अति अधिक समृद्धि के कर्ता ! तू विद्वान् पुरुष (इन्द्रस्य) इन्द्र राजा, का भी (वज्र) वज्र है, उसको पापमागों से वर्जन करने में समर्थ और उसको ऐश्वर्य पद का प्रापक है। (तेन) उससे (मे) मुझे (रध्य) अपने वश कर। अथवा मेरे लिये राष्ट्र को वशकर ॥ शत० ५ । ४ । ४ । ६-२६ ॥

अग्निः पृथुर्धर्मणस्पतिर्जुषाणो अग्निः पृथुर्धर्मणस्पतिराज्यस्य वेतु स्वाहा स्वाहाकृताः सूर्यस्य रश्मिभिर्यतध्वं सजातानां मध्यमेष्ठ्याय ॥ २६ ॥

अग्निर्देवता । स्वराडाधी जगती । निषादः ॥

भा०—(अग्निः) अग्रणी, दुष्टों का संतापक राजा सूर्य के समान कान्तिमान् (पृथुः) बड़ा भारी (धर्मणः पतिः) धर्म का पालक है। उसी प्रकार वह (अग्निः) राजा भी अग्नि के समान तेजस्वी होकर (पृथुः) विशाल शक्तिसम्पन्न होकर (धर्मणः पतिः) राजधर्म का पालक होकर (स्वाहा) उत्तम, सत्य व्यवहार और व्यवस्था से (आज्यस्य) संग्राम योग्य तेज, पराक्रम को (वेतु) प्राप्त करे। हे (स्वाहाकृताः) उत्तम धन, पद, ऐश्वर्य आदि देकर बनाये गये अधिकारी पुरुषो ! आप लोग (सूर्यस्य रश्मिभिः) सूर्य की किरणों से बलवान् होकर जिस प्रकार आँखें देखती हैं उसी प्रकार सूर्य के समान तेजस्वी राजा की (रश्मिभिः) रश्मियों, दिलाये उपायों द्वारा आप लोग (स-जातानां) इसके समान शक्ति में समर्थ राजाओं के (मध्यमेष्ठ्याय) मध्य में रहकर सम्पादन करने

२६—स्वाहाकृता अक्षाः । ०ज्यस्य हविषो वेतु० इति काण्व० ॥

योग्य कार्य करने के लिये (यतध्वम्) यत्न करो ॥ शत० ५।४।
४।२२, २३ ॥

सवित्रा प्रसवित्रा सरस्वत्या वाचा त्वष्टा रूपैः पुष्पा पशु-
भिरिन्द्रेणास्मे बृहस्पतिना ब्रह्मणा वरुणेनौजसा अग्निना तेजसा
सोमेन राज्ञा विष्णुना दशम्या देवतया प्रसूतः प्रसर्पामि ॥३०॥

सवित्रा मंत्रोक्ता देवताः । भुरिग ब्राह्मी त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—(१) (प्रसवित्रा) समस्त ऐश्वर्यों के उत्पादक, सब कर्मों के प्रेरक (सवित्रा) सविता सूर्य या वायु के समान विद्यमान प्रेरक आज्ञापक और कार्यप्रवर्तक के दिव्यगुण से, (२) (सरस्वत्या वाचा) उत्तम विज्ञान युक्त वाणी से, (३) (रूपैः) नाना प्रकार के प्राणियों की नाना जातियों के द्वारा प्रसिद्ध (त्वष्टा) प्रजापति, त्वष्टा के समान प्रजा और राष्ट्र के पशुओं के नाना भेदों से प्रसिद्ध त्वष्टा या प्रजापति के रूप से, अथवा नाना प्रकार के विविध शिल्पों से उत्पन्न पदार्थों सहित त्वष्टा, शिल्पी वा तीक्ष्ण विवेक युक्त न्यायसे (४) (पशुभिः पुष्पा) पशुओं से युक्त पुष्पा, या सर्वपोषक पृथिवी से (५) (ब्रह्मणा) वेद के ज्ञान से युक्त (बृहस्पतिना) वाक्पति वेदज्ञ से, (६) (अस्मे इन्द्रेण) अपने आप स्वयं इन्द्र, राजा रूप से, (७) (ओजसा वरुणेन) पराक्रम से युक्त वरुण से, (८) (तेजसा अग्निना) तेज से युक्त अग्नि से, (९) (राज्ञा सोमेन) राजा स्वरूप सोम से, (१०) (दशम्या) दश संख्यापूर्ण करने वाले (विष्णुना) व्यापक राजशक्ति रूप या समस्त राष्ट्रमय यज्ञ या प्रजापति रूप विष्णु इन दस (देवतया) देव अर्थात् राजा होने योग्य विशेष गुणों और सामर्थ्यों द्वारा (प्रसूतः) प्रेरित या शक्तिमान् होकर मैं (प्रसर्पामि) आगे उन्नत, उत्कृष्ट मार्ग पर गमन करूँ ॥ शत० ५ ॥ ४।५।२ ॥

अश्विभ्यां पच्यस्व सरस्वत्यै पच्यस्वेन्द्राय मुत्रास्थौ पच्यस्व ।

वायुः पुतः पवित्रेण प्रत्यङ्कसोमो अतिक्षुतः ।
इन्द्रस्य युज्यः सखा ॥ ३१ ॥

अश्विनानृषो । सोमः क्षत्रपतिदेवता । अर्षो त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—हे पुरुष ! हे राजन् ! तू (अश्विभ्याम्) स्त्री पुरुषों, राजा और प्रजा, गुरु और शिष्य उनके हित के लिये (पच्यस्व) अपने को परिपक्व कर, तप कर अर्थात् उनकी सेवा के लिये श्रम कर, अथवा स्वयं उत्तम माता पिता बनने के लिये श्रम और तप कर । (सरस्वत्यै पच्यस्व) सरस्वती, वेद की ज्ञानवाणी के प्राप्त करने और उन्नति करने के लिये अपने को परिपक्व कर, श्रम और तप कर । (सुत्राम्णे) राष्ट्र की उत्तम रीति से रक्षा करने हारे (इन्द्राय) परमैश्वर्यवान् राजपद या राज्य-व्यवस्था के लिये (पच्यस्व) स्वयं परिपक्व, बलवान् होने का यत्न कर । (वायुः) वायु के समान सर्वत्र गतिशील, यत्नवान् ज्ञानी, (पवित्रेण पुतः) पवित्र आचार व्यवहार और तप से पवित्र होकर (प्रत्यङ्क) साक्षात् पूजनीय (सोमः) सोम, सौम्यगुणों से युक्त राजा रूप से (अतिक्षुतः) सबको लांघ कर सबसे उच्च हो जाता है और जिस प्रकार पवित्र करने की विधि से पवित्र होकर (वायुः) व्यापक प्राण शरीर में (पुतः सोमः) वीर्य बनकर उत्कृष्ट रूप धारण करता है और वह इन्द्र अर्थात् जीव का मित्र हो जाता है, अथवा पवित्र आचार से पवित्र होकर वायु या प्राण का अभ्यासी स्वयं वायु के समान शुद्ध पवित्र, (सोमः) योगी, ज्ञानी पुरुष (अतिक्षुतः) अति ज्ञानी हो जाता है और वह (युज्यः) योग युक्त होकर (इन्द्रस्य सखा) इन्द्र, परमेश्वर का मित्र बन जाता है, उसी प्रकार पवित्र आचार से पवित्र होकर ज्ञानवान् विद्वान् पुरुष

१३—अथ चरकसौत्रामणी । अश्विनोराषम् । अश्विभ्यां त्राणं लिङो-
क्तानि । सर्वा० ॥

(अतिस्रुतः) सबसे आगे बढ़कर (इन्द्रस्य) ऐश्वर्यवान् राजा का (युजः) उच्च पद पर नियुक्त होने योग्य, (सखा) मित्र के समान अमात्य आदि हो जाता है ! इसके लिये भी उस पुरुष को परिपक्व होने अर्थात् तप करने की आवश्यकता है ॥ शत० ५ । ५ । ४ । २०-२३ ॥

कुविदुङ्ग यवमन्तो यवं चिद्यथा दान्त्यनुपूर्वं वियूय । इहैषां कृणुहि भोजनानि ये बर्हिषो नमऽउक्तिं यजन्ति । उपयामगृहीतोऽस्यश्विभ्यां त्वा सरस्वत्यै त्वन्द्राय त्वा सुत्राम्णे ॥ ३२ ॥

क्र० १० । १३१ ॥ २ ॥

काचीवतः सुकोत्तिर्द्धीषः । सोमः क्षत्रपतिर्देवता । निचृद् ब्राह्मा त्रिष्टुप । धैवतः ।

भा०—(अङ्ग) हे ज्ञानवान् पुरुष ! (यथा) जिस प्रकार (यवमन्तः) जौ के खेतों वाले किसान लोग (यवं चित्) जौ को (दान्ति) काटते हैं, तब (अनुपूर्वम्) क्रम से, नियमपूर्वक उसको (वियूय) विविध रीतियों से सूप, छाज आदि द्वारा फटक कर, तुप आदि से अलग करके बाद में (ये) जो (बर्हिषः) समृद्ध प्रजा के योग्य गुरु, अतिथि, माता पिता आदि वृद्धजन हैं वे (नमः उक्तिम्) नमस्कार योग्य वचन, आदर सत्कार (यजन्ति) प्राप्त करते हैं उनको ही (इह इह) इस इस स्थान में अर्थात् प्रत्येक स्थान में (एषां) उनको (भोजनानि कृणु) भोजन प्राप्त करा । उसी प्रकार विद्वान् पुरुष (यवमन्तः) शत्रुनाशक राजा, सेनापति आदि 'यव' वीर पुरुषों से सम्पन्न होकर (यवम्) पृथक् करने योग्य शत्रु को काट देते हैं और क्रम से उनको (वियूय) पृथक् करके, नाश करके राष्ट्र को स्वच्छ कर देते हैं और जो (बर्हिषः) राष्ट्र के परिवर्धक, पालक लोग (नम उक्तिं यजन्ति) हमारे आदर वचनों को प्राप्त करते अथवा (नमः उक्तिम्) शत्रुओं को नमाने या वश करने के वचनों या आज्ञाओं का प्रदान करते हैं (इह इह एषां भोजनानि कृणुहि) उन उनका हे राजन् ! तू भोजन आच्छादन आदि का प्रबन्ध कर ।

हे योग्य पुरुष ! तू (उपयाम-गृहीतः असि) राज्य के उत्तम नियमों और ब्रह्मचर्य सदाचार के नियमों द्वारा सुबद्ध है (त्वा) तुझको (अश्वि-भ्याम्) माता पिता, राजा और प्रजा के उपकार के लिये नियुक्त करता हूँ। (त्वा) तुझको हे योग्य पुरुष ! (सरस्वत्यै) ज्ञानमयी वेदवाणी के अर्जन के लिये नियुक्त करता हूँ। हे योग्य पुरुष ! (त्वा) तुझको (सुत्राण्यो इन्द्राय) प्रजाओं की उत्तम रक्षा करने वाले 'इन्द्र' ऐश्वर्यवान् राजपद के लिये नियुक्त करता हूँ ॥ शत० ५। ५। ४। २४ ॥

युव॑श्च सुरा॑ममश्वि॒ना नमु॑चावामुरे सचा॑ ।

वि॒पिपा॑ना शु॒भस्प॑ती इन्द्रं॑ कर्म॑स्वावतम् ॥ ३३ ॥

ऋ० १०। १३१। ४ ॥

अश्विनौ देवते । निचृदनुष्टुप् । गांधारः ॥

भा०—हे (अश्विनौ) प्रजा के स्त्री पुरुषों ! अथवा सूर्य चन्द्र के समान सभापति और सेनापते ! तुम दोनों (नमुचौ) कभी भी न छूटने वाले, अथवा कर्त्तव्य कर्म को न छोड़ने वाले, (आसुरे) असुर, बलवान् पुरुष द्वारा किये जाने योग्य, मेघ के समान शत्रु पर किये गये शरवर्षण आदि युद्धकार्य में अथवा (नमुचौ) शरीर से कभी न छूटनेवाले (आसुरे) आसुर, भोग विलासादि के कार्य में भी वर्तमान (सुरामम्) अति रमणीय, अति मनोहर राजा को (विपिपाना) विविध उपायों से रक्षा करते हुए या (सुरामम् सोमम् विपिपानौ) उत्तम रमणीय 'सोम', राज्य समृद्धिका भोग करते हुए (शुभस्पती) शुभ गुणों के पालक होकर (युवम्) तुम दोनों (कर्मसु) सब कार्यों में (इन्द्रम्) ऐश्वर्यवान् राजा की (आवतम्) रक्षा करते रहो ॥ शत० ५। ५। ४। २५ ॥

भोगविलासमय आसुरकर्म 'नमुचि' है। उसको 'अपां फेन' अर्थात् आस पुरुषों के शुद्ध स्वच्छ ज्ञानोपदेश से नाश करें। ऐश्वर्य जिसको भोग-विलास ग्रसे हुए था उसको भोगविलास से बचाकर रजो-विमिश्रित ऐश्वर्य

का नरनारी आनन्दप्रद भोग करें । तो भी वे इन्द्र अर्थात् अपने राष्ट्र और राष्ट्रपति की सदा रक्षा करें ।

पुत्रमिव पितरायश्विनोमेन्द्रावधुः काव्यैर्दंष्ट्रसनाभिः । यत्सुराम्
व्यपिबः शचीभिः सरस्वती त्वा मघवन्नभिष्णक् ३४

ऋ० १० । १३१ । ५ ॥

अश्विनौ देवते । भुरिक् पंक्तिः । पंचमः ॥

भा०—(पितरौ पुत्रम् इव) जिस प्रकार माता और पिता पुत्र की रक्षा करते हैं उसी प्रकार (अश्विनौ) राष्ट्र में व्यापक शक्तिवाले सभाध्यक्ष और सेनाध्यक्ष या रक्षक दो घुड़सवार अथवा राष्ट्र के नर और नारीगण (काव्यैः) विद्वान् पुरुषों द्वारा रचे गये (दंष्ट्रसनाभिः) उपायों और प्रयोगों द्वारा हे (इन्द्र) इन्द्र ! राजन् ! तेरी (अवधुः) रक्षा करें । और (यत्) जब तू अपनी (शचीभिः) शक्तियों के बल से (सुरामम्) अति सुन्दर, रमणीय, सुख से रमण करने योग्य 'सोम' राज्यपद का (वि अपिबः) भोग कर रहा हो तब हे (मघवन्) ऐश्वर्यवान्, राजन् ! (सरस्वती) विद्या या ज्ञानमयी वाणी के समान सुखप्रदा पत्नी भी (त्वा) तुझे (अभिष्णक्) प्राप्त हो, तुझे सुख प्रदान करे ॥ शत० ५।५।४५१ ॥

अर्थात् सभाध्यक्ष, सेनाध्यक्ष राजा को अपने पुत्र के समान नाना उपायों से रक्षा करे और राजा की शक्तियों द्वारा सुरक्षित राष्ट्र रहने पर राजा विदुषी पत्नी से गृहस्थ का सुख ले । इतिराजसूयः ॥

॥ इति दशमोऽध्यायः ॥

[तत्र चतुस्त्रिंशद्वचः]

इति । मांसांसातीर्थ-प्रतिष्ठितविद्यालंकार-श्रीमत्पाण्डितजयदेवशर्मकृते

यजुर्वेदालोकभाष्ये नवमोऽध्यायः ॥

३३-३४—युवमनुष्टुप् । पुत्रमिव त्रिष्टुप् अश्विसरस्वतीन्द्रदेवत्वे । सर्वा ॥ इति राजसूयः ॥

एकादशोऽध्यायः

११—१८ अध्यायानां प्रजापतिः साध्या वा ऋषयः ॥

॥ ओ३म् ॥ युञ्जानः प्रथमं मनस्तत्त्वाय सविता धियः ।
अग्नेज्योतिर्निचाय्य पृथिव्या अध्याभरत् ॥ १ ॥

सविता ऋषिः । सविता देवता । विराड् आर्ष्यनुष्टुप् । गांधारः ॥

भा०—(सविता) सर्व-उत्पादक, प्रजापति परमेश्वर (प्रथमम्) सब से प्रथम अपने (मनः) ज्ञान और (धियः) समस्त कर्मों या धारण सामर्थ्यों को (तत्त्वाय *) विस्तृत करके (अग्नेः) अग्नि तत्त्व से या सूर्य से (ज्योतिः) ज्योति, दीप्ति, परम प्रकाश को (निचाय्य) उत्पन्न करके (पृथिव्या अधि) पृथिवी पर (आभरत्) फैलाता है ।

योगी के पक्ष में—(सविता) सूर्य जिस प्रकार अपने किरणों को फैलाकर अपने भीतरी (अग्नेः ज्योतिः निचाय्य) अग्नि तत्त्व की दीप्ति को एकत्र करके (पृथिव्याः अधि आभरत्) पृथिवी पर पहुंचाता है उसी प्रकार (युञ्जानः) योग समाधि का अभ्यासी आदित्य योगी पुरुष (प्रथमं) सबसे प्रथम (मनः) अपनी मनन वृत्ति और (धियः) ध्यान करने और धारण करने की वृत्तियों को (तत्त्वाय) विस्तार करके अथवा (तत्त्वाय

* अथाग्निं प्रजापतिरपश्यत् । साध्यावापश्यन् । सोमिः पंचचितिकः । प्रथमा प्रजापतेः । द्वितीया देवानाम् । तृतीयेन्द्राग्न्यां विश्वकर्मणः । चतुर्थीषीणाम् । पञ्चमीपरमष्ठिनः । अथ प्रतिकर्म दर्शिनः ॥

१-८ युञ्जानोऽष्टौ सावित्राणि सवितापश्यत् ॥

* 'तत्त्वाय' इति उक्त्वमर्हीधरसम्मतः पाठः ।

युञ्जानः) तत्त्व ज्ञान के लिये समाहित या एकाग्र करता हुआ (अग्नेः) ज्ञानवान् परमेश्वर के (ज्योतिः) परम ज्योति का (निचाय्य) निश्चित ज्ञान करके (पृथिव्या अधि) इस पृथिवी पर, अन्य वासियों को भी (आभरत्) प्राप्त कराता है ॥ शत० ६ । ३ । १ । १२ ॥

अथवा—(सविता) सूर्य के समान तीव्र सात्त्विक ज्ञानी (प्रथमं) सबसे प्रथम सृष्टि के आदि से (तत्त्वाय मनः धियः युञ्जानः) परम तत्त्व ज्ञान को प्राप्त करने के लिये अपने मन और बुद्धि वृत्तियों को योग समाधि द्वारा समाहित, स्थिर, एकाग्र करता हुआ (अग्नेः) परम परमेश्वर के (ज्योतिः) ज्ञानमय प्रकाश को (पृथिव्याः अधि) पृथिवी पर (आभरत्) प्राप्त करता है, प्रकट करता है । इस योजना से आदित्य के समान अग्नि, वायु, आदित्य, अंगिरा चारों एक ही कोटी के तेजस्वी ज्ञानियों द्वारा वेद-ज्ञान का योग द्वारा साक्षात् करना क्षौर पुनः प्रकाशित करना जाना जाता है ।

राजा के पक्ष में—(सविता) विद्वान् राज्यकर्त्ता पुरुष अपने मन, ज्ञान और नाना कर्मों को (तत्त्वाय) विस्तृत करके प्रथम जब (युञ्जानः) कर्त्ताओं को नियुक्त करता है तब (अग्नेः) मुख्य अग्रणी, नेता पुरुष के ही (ज्योतिः) पराक्रम और तेज को (निचाय्य) स्थित करके, उसको प्रबल करके (पृथिव्या अधि आभरत्) पृथिवी पर अधिष्ठाता रूप से फैला देता है ।

युक्तेन मनसा वयं देवस्य सवितुः सवे । स्वर्ग्याय शक्या ॥ २ ॥

अग्निदेवते पूर्वोक्ते । शंकुमती गायत्री । षड्जः ॥

भा०—(वयम्) हम सब लोग (युक्तेन मनसा) योग द्वारा समाहित, एकाग्र, स्थिर (मनसा) चित्त से (सवितुः) सर्वोत्पादक

२—एकस्मिन् पञ्चके पाद छन्दः शकुमती । अनन्त० ।

(देवस्य) परम देव, परमेश्वर के (सवे) उत्पादित जगत् में (शक्त्या) अपनी शक्ति से (स्वर्ग्याय) परम सुख लाभ के लिये (ज्योतिः आ भरेम) उस परम ज्ञान को प्राप्त करें ।

राजा के पक्ष में—एकाम्र, शुद्ध चित्त से हम प्रेरक राजा के राज्य में अपनी शक्ति से सुखमय राष्ट्र की उन्नति के लिये यत्न करें ॥ शत० ३ । ३ । १ । १४ ॥

युक्त्वाय सविता देवान्त्स्वर्यतो धिया दिवम् ।

बृहज्ज्योतिः करिष्यन्तः सविता प्रसुवाति तान् ॥३॥

अपि देवते पूर्ववत् । निचृदनुष्टुप । गांधारः ॥

भा०—(सविता) जगत् के समस्त प्रकाशमान पदार्थों को उत्पन्न करनेवाला परमेश्वर (स्वः यतः) सुख और प्रकाश और ताप को प्राप्त करने या देनेवाले (देवान्) विद्वानों, एवं दिव्य गुणों, सूक्ष्म दिव्य तत्त्वों को (धिया) अपनी धारण शक्ति और क्रिया शक्ति से (दिवम्) तेज के साथ (युक्त्वाय) युक्त करके बाद (बृहत् ज्योतिः करिष्यन्तः) बड़े भारी प्रकाश या विज्ञान को पैदा करनेवाले (तान्) उनको (प्रसुवाति) उत्तम रीति से प्रेरित करता है । उसी प्रकार (सविता) वैज्ञानिक पदार्थों का उत्पादक विद्वान् पुरुष (दिवं स्वः यतः) प्रकाश और सुख या ताप उत्पन्न करनेवाले (देवान्) दिव्य सूक्ष्म उन तत्त्वों को जो (बृहत् ज्योतिः करिष्यन्तः) बड़े २ भारी प्रकाश या विज्ञानसिद्ध कार्य को करने में समर्थ हैं उनको (प्रसुवाति) उत्पन्न करे, प्रेरित करे, संयोजित करे ॥ शत० ३ । ३ । ११ । १५ ॥

योगी के पक्ष में—सविता, आदित्य-योगी (स्वः यतः देवान्) सुख या परमानन्द की तरफ जानेवाले इन्द्रियरूप प्राणों या साधनों को (दिवम्) प्रकाशस्वरूप परमेश्वर के साथ (युक्त्वाय) योग द्वारा समाहित करके (सविता) सूर्य के समान या प्रजापति के समान बृहत् (ज्योतिः

करिष्यतः तान् प्र सुवाति) कालान्तर में महान् ज्योति को साक्षात् करने में समर्थ उनको प्रेरित करे ।

परमेश्वर के पक्ष में—सविता परमेश्वर (स्वः यतः दिवम्) सुख और मोक्ष की तरफ जानेवाले (देवान्) विद्वानों को अपने (धिया) ज्ञान से युक्त करके (बृहत् ज्योतिः) महान् ब्रह्म तेज का सम्पादन करनेवाले उनको (प्र सुवाति) और भी उत्कृष्टरूप से प्रेरित करता है ।

राजा के पक्ष में—प्रेरक, आज्ञापक सेनापति अपनी बुद्धि में सुख और तेज को प्राप्त (देवान्) विजयेच्छु पुरुषों और विद्वानों को स्थान २ पर नियुक्त करके (बृहत् ज्योतिः करिष्यतः तान्) बड़े भारी वीर्य, बल या राज्य के वैभव को बनाने या देनेवाले उनको (सविता) प्रेरक आज्ञापक राजा (प्र सुवाति) उत्तम रीति से चलता है । इति दिक् ।

युञ्जते मन उत युञ्जते धियो विप्रा विप्रस्य बृहतो विपश्चितः ।
वि होत्रा दधे वयुनाविदेक इन्मही देवस्य सवितुः परिण्डुतिः ।

॥ ४ ॥ ऋ० ५ । ८१ । १ ॥

ऋषिदेवतं पूर्ववत् । जगती । निषादः ॥

भा०—(विप्राः) ज्ञान को विशेष रीति से पूर्ण करने वाले (होत्रा) दूसरों को ज्ञान देने और अन्यो से ज्ञान ग्रहण करनेवाले मेधावी, विद्वान् पुरुष (बृहतः) बड़े भारी (विपश्चितः) ज्ञान के संग्रही, सकल विद्याओं के भण्डार के समान स्थित, परम गुरु (विप्रस्य) विशेष रूप से समस्त संसार को अपने ज्ञान से पूर्ण करने हारे परमेश्वर के प्राप्त करने के लिये (मनः) अपने मनको उसमें (युञ्जते) योगाभ्यास द्वारा एकाम्र कर उसका चिन्तन करते हैं (उत) और (धियः) अपनी धारण समर्थ वृत्तियों को भी (युञ्जते) उसी से जोड़ते हैं और उससे ज्ञान प्राप्त करते हैं । वह (विप्रः) पूर्ण ज्ञानवान् परमेश्वर (एक इत्) एक ही ऐसा है जो (वयुना विद्) समस्त प्रकार के विज्ञानों, कर्मों और लोकों को जानने द्वारा होकर

संसार को (विदधे) विविध रूप में बनाता और उसे विविध शक्तियों से धारण करता है। हे विद्वान् पुरुषो ! (सवितुः) उस सर्वोत्पादक (देव-स्य) ज्ञान-प्रकाशस्वरूप, समस्त अर्थों के द्रष्टा और प्रदाता परमेश्वर की (मही) बड़ी भारी (परि-स्तुतिः) सत्य वर्णन करने वाली वेदवाणी या बड़ी भारी स्तुति, या महिमा है ॥ शत० ६ । २ । २ । १६ ॥

इसी प्रकार जिस पूर्ण विद्वान् के पास अन्य ज्ञानपिपासु लोग मन और बुद्धियों को एकाग्र कर विद्याभ्यास करते हैं वह सविता आचार्य्य समस्त ज्ञानों को जानता है, उसकी बड़ी महिमा है।

युजे वां ब्रह्म पुर्व्यं नमोभिर्वि श्लोक एतु पथ्येव सुरैः ।
शृण्वन्तु विश्वेऽमृतस्यऽपुत्रा आ ये धामानि दिव्यानि तस्थुः
॥ ५ ॥ ऋ० १० । १३ । १ ॥

(श्रविदेवते पूर्वोक्त । विराडाषीं त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—हे स्त्री पुरुषो ! और हे गुरुशिष्यो ! हे राजा प्रजाजनो ! (वाम्) आप दोनों के हित के लिये मैं विद्वान् पुरुष (नमोभिः) उत्तम आत्मा को विनय सिखानेवाले उपायों द्वारा, (पुर्व्यं) पूर्ण योगि-जनों, ऋषियों से साक्षात् किये गये (ब्रह्म) ब्रह्मज्ञान को, वेद को, या परमेश्वर को (युजे) अपने चित्त में एकाग्र होकर साक्षात् करूं और आप लोगों को उसका उपदेश करूं। वह (श्लोकः) सत्यवाणी से युक्त, वेद ज्ञान अथवा सत्य ज्ञान से युक्त, विद्वान् अथवा (सुरैः श्लोकः) सूर्य के समान विद्वान् का वह 'श्लोक' अर्थात् ज्ञानोपदेश (वां) आप दोनोंके लिये (पथ्या इव) उत्तम मार्ग के समान (वि एतु) विविध उद्देश्यों तक पहुंचे। (ये) जो (दिव्यानि) दिव्य ज्ञानमय (धामानि) तेजों, प्रकाशों को, या उच्च स्थानों, पदों को (आतस्थुः) प्राप्त हैं उन लोगों से हे (विश्वे पुत्रः) समस्त पुत्रजनो ! आपलोग (अमृतस्य) उस अमृतस्वरूप परमेश्वरविषयक ज्ञान का (शृण्वन्तु) श्रवण करें ॥ शत० ६ । २ । ३ । १७ ॥

यस्य प्रयाणमन्वन्त्य इद्युर्देवा देवस्य महिमान्मोजसा ।
यः पार्थिवानि विममे स एतशो रजांसि देवः सविता महि-
त्वना ॥ ६ ॥ ऋ० ५ । ८१ । ९३ ॥

ऋषिदेवते पूर्वोक्त । निचृद् जगती । निषादः ॥

भा०—(यस्य देवस्य) जिस देव के (ओजसा) वीर्य से पराक्रम-
पूर्वक किये गये (प्रयाणम्) प्रकृष्ट या गमन के (अनु) पीछे पीछे
(अन्ये देवाः) अन्य देव, विद्वान्गण (इत्) भी (ययुः) गमन करते
हैं और जिसके (महिमानम् अनु ययुः) महान् सामर्थ्य का अन्य विद्वान्
अनुगमन करते हैं और (यः) जो (पार्थिवानि) पृथिवी पर प्रसङ्ग
(रजांसि) समस्त लोकों को (महित्वना) अपने महान् सामर्थ्य से
(विममे) विविध प्रकार से बनाता है । (सः) वह (एतशः) सर्व
जगत् में व्यापक (देवः) प्रकाशस्वरूप देव ही (सविता) सविता,
सबका उत्पादक है ॥ शत० ६ । २ । ३ । १८ ॥

राजा के पक्ष में—(यस्य देवस्य प्रयाणम् अनु) जिस देव, राजा के
प्रयाण अर्थात् विजय यात्रा के पीछे (अन्ये देवाः ययुः) विजयेच्छुक अन्य राजा
लोग गमन करते हैं, (ओजसा) बल पराक्रम से जिनके (महिमानम् अनु
ययुः) महान् सामर्थ्य का भी वे अनुकरण करते हैं, जो पृथिवी के समस्त
जनों को अपने (महित्वना) बड़े भारी बल से (विममे) वश करता है,
(सः एतशः) वह सूर्य के समान तेजस्वी (देवः) राजा (सविता इव)
' सविता ' कहा जाता है ।

देव सवितुः प्रसुव यज्ञं प्रसुव यज्ञपतिं भगाय । दिव्यो
गन्धर्वः केतपूः केत नः पुनातु वाचस्पतिर्वाच नः स्वदतु ॥ ७ ॥

यजु० अ० ९ । १ ॥

ऋषिदेवते पूर्वोक्ते । आर्षी त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—व्याख्या देखो अ० ९ । मं० १ ॥

हे (देव सवितः) सूर्य के समान सर्व कार्यों के प्रवर्तक तेजस्वी पुरुष ! विद्वान् ! तू (यज्ञं) सुखप्रद राष्ट्र-व्यवस्था को, (यज्ञ-पतिम्) राष्ट्र के पालक राजा को (भगाय प्रसुव २) ऐश्वर्य को प्राप्त करने के उल्लूक मार्ग पर चला । (दिव्यः) विजय करने में समर्थ, उत्तम गुणवान् (गन्धर्वः) पृथ्वी या वाणी का पालक, सबको ज्ञान से पवित्र करने वाला, (नः केतं पुनातु) हमारे ज्ञान को सदा पवित्र निर्मल बनाये । (वाचः पतिः) वाणी, वेद का रक्षक विद्वान् (नः) हमें (वाचं स्वदतु) वेदवाणी को आनन्दप्रद रीति से आस्वादन करावे ॥ शत० ६ । २ । ३ । १९ ।

इमं नो देव सवितर्यज्ञं प्रणय देवाव्युथं सखिविदुथं सत्रा-
जितं धनजितं स्वर्जितम् । ऋचा स्तोमं समर्धय गायत्रेण
रथन्तरं बृहद्गायत्रवर्त्तनि स्वाहा ॥ ८ ॥

अभिदेवते पूर्वोक्ते । शकरी ॥ धैवतः ॥

भा०—हे (देव सवितः) देव ! विद्वान् ! सवितः ! सर्वप्रेरक ! तू (इमम्) इस (नः यज्ञम्) हमारे यज्ञ को, राष्ट्र को, यज्ञ = प्रजापति राजा को भी (देवाव्यम्) विद्वानों का रक्षक, (सखि-विदम्) मित्रों का प्राप्त करनेवाला, (सत्राजितम्) सत्य की उन्नति करनेवाला या युद्ध-विजयी, (धन-जितं) धनैश्वर्य के विजय करनेवाला और (स्वर्जितम्) सुख के बढ़ानेवाला (प्रणय) बना, या उसको उत्तम मार्ग पर चला । (स्तोमं) स्तुति करने योग्य पुरुष या राष्ट्र को (ऋचा) ऋग्वेद के ज्ञान से (समर्धय) समृद्ध कर । (गायत्रेण) ब्रह्म-यज्ञ से (रथन्तरं) रथों के बल पर तरण अर्थात् शू सकट से पार करनेवाले क्षात्रबल को और (गायत्रवर्त्तनि) ब्राह्म-बलपर अपने मार्ग बनानेवाले (बृहत्) बड़े भारी राष्ट्र को (स्वाहा) उत्तम व्यवस्था और ज्ञानोपदेश से (समर्धय) समृद्ध कर ॥ शत० ६ । २ । ३ । २० ॥

[१] अध्यात्म में—गायत्रः प्राणः । ता० २९ । १६ । ५ ॥ वाग् वै रथन्तरम् । ता० ७ । ६ । २९ ॥ अर्थात् प्राण के बल से वाणी को समृद्ध करो । मनो वै बृहत् । ता० ७ । ६ । १९ ॥ (गायत्रवर्त्तनि बृहत् स्वाहा समर्धय) प्राणमार्ग से चलनेवाले मन को उत्तम प्राणायाम विधि से समृद्ध, बलवान् करो ।

[२] भौतिक विज्ञान में—अग्निर्गायत्री गायत्रो वा अग्निः । कौ० १ । ७ ॥ इयं पृथिवी रथन्तरम् ॥ अग्नि, विद्युत् आदि के बल से पृथिवी को समृद्ध करो, अग्नि के द्वारा पृथिवी को, यन्त्र कला-कौशल आदि से सम्पन्न करो और (गायत्रवर्त्तनि) अग्नि के द्वारा जलने वाले (बृहत्) बड़े बड़े कार्य सन्पन्न करो ।

[३] तेजो वै रथन्तरम् । ता० १५ । १० । ९ । रथन्तरं वै सम्राट् तै० १ । १ । ४ । १ । ९ ॥ गायत्रो वै ब्राह्मणः । ऐ० ९ । २८ ॥ गायत्री ब्रह्मवर्चसं । तै० २ । ७ । २ । ३ । वीर्यं वै गायत्री । ता० ७ । ३ । १३ ॥ बार्हतोऽसौ स्वर्गो लोकः । गो० ४ । १२ ॥ पशवो बृहती । कौ० १७ । २ ॥ अर्थात् ब्राह्मण-बल से सम्राट् को समृद्ध करो और उनके दिखाये मार्ग पर बड़ा भारी राष्ट्र समृद्ध हो । दूसरे, ब्रह्मचर्य से तेज बढ़ा कर और ब्रह्मचर्य के द्वारा ही पशुओं की वृद्धि करो । इत्यादि नाना पक्षों के अर्थ जानने चाहियें ॥

देवस्य त्वा सवितुः प्रसुव्वेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पुष्णो हस्ताभ्याम् । आददे गायत्रेण छन्दसाङ्गिरस्वत्पृथिव्याः सधस्यादग्निं पुरीण्यमङ्गिरस्वदाभरत्रैष्टुमेन छन्दसाङ्गिरस्वत् ॥ ६ ॥

प्रजापतिः साध्या वा श्वपयः । सविता दवता । मुरिगति शकरी । पञ्चमः ॥

भा०—हे वज्र ! हे वज्र धारक, राष्ट्र के बलधारिन् क्षत्रपते ! (त्वा)

६—आददे ऽग्निः । सर्वा० ।

तुलको (सवितुः) सूर्य के समान देव, राजा या परम विद्वान् के (प्रसवे) शासन में रह कर (अश्विनोः बाहुभ्याम्) प्राण और उदान, स्त्री पुरुषों, राजा प्रजा के बाहुओं या बाधक बलों से और (पूष्णः) पोषणकारी राजा के (हस्ताभ्याम्) हाथों से (आददे) ग्रहण करता हूँ । (गायत्रेण छन्दसा) गायत्र छन्द से, (अंगिरस्वत्) अंगारों के समान जाज्वल्यमान (पुरीष्यम् अग्निम्) पुरीष्य अग्नि को (पृथिव्याः) पृथिवी के आश्रयपर (आ भर) प्राप्त कर और इसी प्रकार (त्रैष्टुभेन छन्दसा) त्रैष्टुभ छन्द, अंगारे के तुल्य अग्नि को स्वयं (अंगिरस्वत्) अंगारों के समान विद्याप्रकाश से प्रकाशमान होकर (आ भर) प्राप्त करा ॥ शत० ६ । १ । ३ । ३८-३९ ॥

(१) (गायत्रेण छन्दसा अंगिरस्वत् पुरीष्यमग्निम् आ भर)-गायत्रो-
ज्यं भूलोकः । को० ८ । ९ ॥ इमे वे लोकाः गायत्रम् । ताँ० ७ । ३ ।
१ ॥ यदु गायन्तं त्रायति तद् गायत्रस्य गायत्रत्वम् । जै० उ० ३ । ३८ ।
४ ॥ अंगिरा हि अग्निः । श० १ । ४ । १ । (पुरीष्यम्) इति वै तमाहुः
श्रियं गच्छति । श० १ । १ । १ । ७ ॥ पुरीषं वा इयं पृथिवी । श०
११ । ५ । २ । ५ । ॥ यत् पुरीषं स इन्द्रः । ५ । १० । ४ । १ । ७ ॥
देवाः पुरीषम् । श० ८ । ७ । ४ । १७ । प्रजाः पुरीषम् श० ९ । ७ ।
१६ । पशवः पुरीषम् । अर्थात् (गायत्रेण छन्दसा) पृथिवीलोक अर्थात्
उसके निवासियों को अपने अभिलाषा के द्वारा अथवा विद्वान् पुरुषों की
अनुमति से (पुरीष्यम्) इन्द्र पद के योग्य, ऐश्वर्यवान्, प्रजा, पशु और
विद्वानों के हितकारी, (अङ्गिरस्वत्) अग्नि और अंगारों के समान तेजस्वी
पुरुष को (आ भर) राजारूप से प्राप्त करा । कहां से प्राप्त करें ?
(पृथिव्याः सधस्थात्) पृथिवी पर एकत्र निवास करनेवाले जन समुदायों
में से ही । वह पुरुष किस प्रकार अग्नि के समान तेजस्वी रहे ? (त्रैष्टु-
भेन छन्दसा अंगिरस्वत्) वज्रः त्रिष्टुप् । कौ० ३ । ११ । शत० ६ । ३ ।
१ । ३९ ॥ त्रिष्टुप् इन्द्रस्य वज्रः । ऐ५ १ । २ ॥ बलं वै वीर्यं त्रिष्टुप् ।

कौ० ७ । २ ॥ त्रैष्टुभो वै राजन्यः । क्षत्रं त्रिष्टुप् । कौ० ३ । ५ ॥ या
या राका सा त्रिष्टुप् । ऐ० ३ । ४७ । ४८ ॥ हे राजा वज्र, आनुधवल
और राजशक्ति या पूर्णिमा के समान सर्वप्रिय, सर्वाङ्गपूर्ण शासकशक्ति के
(छन्दसा) स्वरूप से (अंगिरस्वत्) अग्नि सूर्य, और विद्युत् के समान
तेजस्वी हो ।

अभिरसि नार्यसि त्वया वयमग्निं शकेम ।

खनितुं सधस्थ आ । जागतेन छन्दसाङ्गिरस्वत् ॥१०॥

सविता देवता । भुरिगनुष्टुप् । गांधारः ॥

भा०—हे वज्र ! तू (अभिः असि) तू अभि, पृथ्वी खोदने वाले
यन्त्र के समान तीक्ष्ण स्वभाव, एवं शत्रु के बीच में बिना किसी रोक के
घुस जाने में समर्थ है । तुझे कोई भी रोकने में समर्थ नहीं है ! अतः
(नारी असि) तू नारी, स्त्री के समान सर्वकार्यसाधिका, एवं सर्वथा शत्रु
रहित या नेता पुरुषों द्वारा बनी हुई सेना वा सभा रूप है । (त्वया)
तुझसे (वयम्) हम (सधस्थे) समान आश्रय-स्थान, इसी सभा भवन
में, जिसमें हम और हमारे प्रतिद्वन्द्वी एवं आधीन लोग भी रहते हैं उस
स्थान में (अग्निम्) सोने के समान दीप्तिमान् पदार्थों को जिस प्रकार
रम्भी या कुदाली से (खनितुं शकेम) खोद या पा सकते हैं उसी प्रकार
हम लोग (त्वया) तुझ अप्रतिहत वीर्यवाली सेना या सभा से (अग्निम्)
अग्रणी पुरुष या अग्नि के समान तेजस्वी पुरुष को प्राप्त करें । वह अग्नि
के समान तेजस्वी पुरुष किस प्रकार का हो ? वह (जागतेन छन्दसा)
जागत छन्द, अर्थात् वैश्यबल, धनबल अथवा ४८ वर्ष के ब्रह्मचर्यसे (अंगि-
रस्वत्) अग्नि के समान तेजस्वी, ऐश्वर्यवान् हो ॥ शत० १ । ३ । १ । ४१ ॥

(१) 'जागतेन छन्दसा'—जगती गततमं छन्दः । जज्जगतिर्भवति ।

१०—अभिः । सर्वा० ।

क्षिप्रगतिः जम्बला कुर्वन् आसृजते इति ब्राह्मणम् । दे० य० ३ । १७ ॥
 जगती हि इयं पृथिवी । श० २ । २ । १ । १० ॥ जगत्य ओषधयः । श०
 १ । २ । २ । २ ॥ पशवो वै जगती । गो० पु० ५ । ५ । ॥ जागतोऽश्वः
 प्राजापात्यः । तै० ३ । ८ । ८ । ४ ॥ जागतो वै वैश्यः । ऐ० १ । २८ ॥
 द्वादशाक्षरपदा जगती । तां० ६ । ३ । १३ ॥ अष्टाचत्वारिंशदक्षरा जगती ।
 जगत्यादित्यानां पत्नी । गो० उ० २ । ० ॥ जागतो वा एष य एष सूर्यः
 तपति । बलं वै वीर्यं जगती । कौ० ११ । २ ॥ जागतं श्रोत्रम् । तां०
 २० । १६ । ५ ॥ जागता वै ग्रावाणः । कौ० २९ । १ ॥ अर्थात् (१)
 शुद्ध से तीव्रगति से राजा तेजस्वी बने । (२) इस पृथिवी के राज्य से
 बलवान् हो । (३) पशु, ओषधि और अश्वदि सेना द्वारा प्रजा का
 पालक होकर तेजस्वी हो । (४) वैश्यों की समृद्धि, व्यापार, १२
 पदाधिकारियों की सगठित सभा, सूर्य के समान प्रखरता, ब्रह्मचर्य बल,
 वीर्य द्वारा तेजस्वी हो और श्रोत्र द्वारा ज्ञान प्राप्त करके ज्ञानवान् हो ।

अध्यात्ममें - वाणी अभि है । वेदवाणी के अभ्यास से हम विद्वानों
 को प्राप्त करें । और वह (जागतेन छन्दसा) ४८ वर्ष के आदित्य ब्रह्म-
 चर्य से तेजस्वी हो ।

हस्ते आधाय सविता विभ्रदभिथं हिरण्ययीम् । अग्नेज्योति-
 निचाय्य पृथिव्या अध्याभरदानुष्टुभेन छन्दसाङ्गिरस्वत् ॥११॥

प्रजापति श्रुतिः । सविता देवता । भुरिगु आर्षी पंक्तिः । पञ्चमः ॥

भा० - (सविता) शिल्पी जिस प्रकार (हिरण्ययीम्) लोहे की
 चमकती हुई (अभिम्) कुदाली को (हस्ते आधाय) हाथ में लेकर
 (पृथिव्याः) पृथिवी के गर्भ से (अग्नेः ज्योतिः) अग्निके मूलभूत ज्योति-
 मय सुवर्ण आदि पदार्थ को (अधि आभरत्) खन कर प्राप्त करता है
 उसी प्रकार पूर्वोक्त सर्वग्रेरक सविता, विद्वान् (हिरण्ययीम्) सुवर्णमण्डित
 या धातु के बने वज्र बल, तेज से बने या सेनाबल को अपने हाथ में रखकर

(पृथिव्याः अधि) पृथिवी के निवासियों में से ही (अग्नेः) अग्नि के समान तेजस्वीपुरुष के (ज्योतिः) वीर्य, अर्थात् बलानुसार अधिकार सामर्थ्य की (निचाय्य) उत्पन्न कर (अधि आभरत्) प्राप्त करता है। वह अग्नी पुरुष किस प्रकार तेजस्वी हो ? वह (अनुष्टुमेन छन्दसा) आनुष्टुभ छन्द से (अङ्गिरस्वत्) अग्नि के अङ्गारों के समान तेजस्वी हो ॥ शत० ६ । १ । १॥

‘आनुष्टुमेन छन्दसा’—अनुष्टुप् अनुस्तोभनात् । दे० ३ । ७ ॥
 ष्टुभ स्तम्भे । भ्वादिः । यस्याष्टौ ता अनुष्टुभम् । कौ० ९ । २ ॥ द्वान्नि-
 शादक्षरानुष्टुप् । कौ० १६ । १ ॥ अनुष्टुम्मित्रस्य पत्नी । गो० ३० । २ ॥
 ९ ॥ वाग् अनुष्टुप् । कौ० ५ । ३ ॥ ज्यैष्ठ्य वा अनुष्टुप् । यां० ८ । ७ ।
 ३ ॥ प्रजापतिर्वा अनुष्टुप् । ता० ४ । ८ । ९ ॥ आनुष्टुभः प्रजापतिः ।
 तै० ३ । ३ । २ । १ ॥ यस्य ते (प्रजापतेः) अनुष्टुप् छन्दोऽस्मि । ऐ०
 ३ । १२ ॥ अनुष्टुप् सोमस्य छन्दः कौ० १५ । १२ ॥ विश्वेदेवाः अनु-
 ष्टुभं समभरन् । जै० ३० । १ । १८ । ७ ॥ आनुष्टुभो राजन्यः । तै०
 १ । २ । ८ । २ ॥ सत्यानृते वा अनुष्टुप् । तै० १ । २० । १० । ४ ॥
 आनुष्टुभी रात्रिः । ऐ० ४ । ६ ॥ उदीची दिक् । श० ८ । ३ । १ । १० ॥
 वृष्टिः । तां० १२ । ८ । ८ ॥ अर्थात् शत्रुके स्तम्भन करने वाले बलसे,
 अष्टप्रधाना आमात्य-परिषद् से, मित्र अर्थात् मरण से त्राणकारी बल से,
 राजा की पालनी शक्ति, से सब से बड़े पद से, प्रजापति के पद से, सबके
 सन्तोषकारक, सत्य और अनृत के विवेक-बल से राजा तेजस्वी हो।
 विद्वान्पुरुष वाणी के अभ्यास से और ३२ वर्ष के ब्रह्मचर्य से तेजस्वी बने।
 प्रतूतं वाजिन्नाद्रव वरिष्ठामनु संवतम् । दिवि ते जन्म परम्
 मन्तरिञ्चे तव नाभिः पृथिव्यामधि योनिरिति ॥ १२ ॥

नाभानन्निष्ठ श्वभिः । वाजी देवता । आस्तारपांक्तिः । पञ्चमः ॥

भा०—हे (वाजिन्) ज्ञान और बल से युक्त ! विद्वान् राजन् !
 वीर ! ते (प्रतूत) अश्व जिस प्रकार अच्छी भूमि में बड़े वेग से जाता है

इसी प्रकार (वरिष्ठाम्) सबसे श्रेष्ठ (संवत्सम्) सेवन करने योग्य पदवी को (प्रवृत्तम्) अति वेग से, (आ द्रव) प्राप्त कर । (ते) तेरी (दिवि) तेजस्विता में, ज्ञान-प्राप्ति में और विजय में या विद्वानों की बनी राजसभा में ही (परमम् जन्म) परम, सर्वोत्कृष्ट प्रादुर्भाव होता है । (अन्तरिक्षे) अन्तरिक्ष या वायु जिस प्रकार सब संसार पर आच्छादित है उसी प्रकार प्रजा के ऊपर पक्षपात रहित होकर, सबको सुखादि देकर पालन करने के कार्य में (ते नाभिः) तेरा बन्धन अर्थात् निगुक्ति की जाती है । और (पृथिव्याम् अधि) पृथिवी पर (तव) तेरा (योनिः) आश्रयस्थान है । अर्थात् पृथिवी की प्रजाओं में ही राजा का परम आश्रय है । प्रजा के आश्रय पर राजा स्थित है । भौतिक विज्ञानपक्ष में— हे विद्वान् शिल्पिन् ! शिल्पविद्या में तुम्हारा उत्तम प्रादुर्भाव है । अन्तरिक्ष में तुम्हारी (नाभिः) स्थित है । पृथिवी पर आश्रय है । तू विमानों द्वारा शीघ्र गति से जाने में समर्थ हो ॥ शत० ६ । ३ । १ । २ ॥

युञ्जाथाथुं रासभं युवमस्मिन् यामे वृषण्वसू ।

अग्निं भरन्तमस्मयुम् ॥ १३ ॥

कुशिश्रृङ्गिः । रासभो देवता । गायत्री । षड्जः ॥

भा०—हे (वृषण्वसू) समस्त सुखों के वर्षक और सबको बसाने वाले श्री पुरुषो या विद्वान् गण ! (युवम्) तुम दोनों (यामे) गमन करने में समर्थ रथ में जिस प्रकार (रासभम्) शब्द और दीप्त से युक्त अग्नि का शिल्पी लोग प्रयोग करते हैं उसी प्रकार, हे (वृषण्वसू) प्रजा पर सुख वर्षण करनेहारे वीर पुरुष ! और हे वसो ! वासशील प्रजाजन (युवं) आप लोग (अस्मिन् यामे) इस राज्य की नियम-व्यवस्था में (अस्मयुम्) हमें मुख्य उद्देश्य तक पहुँचाने में समर्थ या हमें चाहने वाले, हमारे प्रिय, हितैषी, (भरन्तम्) राष्ट्र के भरणपोषणकारी या कार्य-संचालन करनेहारे (रासभम्) विज्ञानोपदेश से प्रकाशमान, (अग्निं)

ज्ञानवान् पुरुष को (युञ्जाम्) उत्तम पदपर नियुक्त करो । अथवा (अंघ्रि भरन्तम् = हरन्तं) अग्नि के समान तेजस्वी विजिगीषु राजा को और सम्मान पर लेजाने हारे विद्वान् पुरुष को नियुक्त करो ॥ शत० ६।३।२।३ ॥
योगैर्योगे तवस्तरं वाजैवाजे हवामहे सखाय इन्द्रमुतये ॥१४॥

शुनःशप ऋषिः । इन्द्रः क्षत्रपतिर्देवता । गायत्री । पङ्कजः ॥

भा०—हे (सखायः) मित्रजनो ! (योगे-योगे) प्रत्येक नियुक्त होने के पद पर (तवस्तरम्) औरों से अधिक बलशाली (इन्द्रम्) ऐश्वर्यवान् पुरुष को (उतये) अपनी रक्षा के लिये (वाजे-वाजे) प्रत्येक संग्राम के अवसर पर (हवामहे) हम आदर से बुलावें । उसे अपना नेता बनावें ॥ शत० ३।३।२।४ ॥

प्र तूर्वन्नेह्यवक्रामन्नशस्ती रुद्रस्य गाणपत्यं मयोभूरेहि ।
उर्वन्तरिजं वीहि स्वस्ति गव्यूतिरभयानि कृण्वन्
पूष्णा सयुजा सह ॥ १५ ॥

अश्वरासभौ गणपतिर्वा देवता । अर्धं जगती । निषादः ॥

भा०—हे वीर पुरुष ! तू (तूर्वन्) अतिवेग से गमन करता हुआ (अशस्तीः) अशस्त, शासना को उद्ध्वेग करने वालों या उच्छृङ्खल हुए पुरुषों को और शत्रु सेनाओं को या उनकी की हुई अपकीर्तियों को (अवक्रामन्) पददलित करता हुआ (प्र एहि) आगे बढ़ । और (मयोभूः) सबके सुख और कल्याण की भावना करता हुआ, (रुद्रस्य) शत्रुओं के हलाने वाले सेना-समूह के (गाणपत्यं) गण के पति पद अर्थात् सेनापतित्व को (एहि) प्राप्त कर । और तू (स्वस्ति गव्यूतिः) सुखपूर्वक निष्कण्टक मार्गवाला होकर और (सयुजा) अपने साथ रहने वाले (पूष्णा) पुष्टिप्रद पृथिवी वासी राष्ट्र जन और पुष्ट

१५—विराड् रूपा यजुर्गर्भा । सर्वा० ॥

सेनाबल के (सह) साथ सब स्थानों को (अभयानि) भय रहित (कृष्णन्) करता हुआ (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष मार्ग को अथवा विशाल अन्तरिक्ष के समान सर्वाच्छादक सर्वोपरि विद्यमान राजपद को (विह्वि) विशेष रूप से प्राप्त कर ॥ शत० ६ । ३ । २ । ७-८ ॥

पृथिव्याः सधस्थादग्निं पुरीष्यमङ्गिरस्वदाभराग्निं पुरीष्यमङ्गिरस्वदच्छेमोऽग्निं पुरीष्यमङ्गिरस्वद्वरिष्यामः ॥ १६ ॥

अग्निदेवता । मुरिक पांक्तः । पंचमः ॥

भा०— हे विद्वान् पुरुष ! तू (पृथिव्याः) पृथिवी को (सधस्थात्) उस एक स्थान से ही जहां प्रजा बसी है (पुरीष्यम्) समस्त प्रजाओं को पालन करने में समर्थ, (अङ्गिरस्वत्) अग्नि या सूर्य के समान तेजस्वी (अग्निम्) अग्रणी नेता पुरुष को (आभर) प्राप्त कर । हम लोग भी (पुरीष्यम्) पालन करने में समर्थ, समृद्ध (अङ्गिरस्वत्) सूर्य या विद्युत् के समान तेजस्वी, (अग्निम्) अग्नि के समान शत्रुसंतापक नेता को (अच्छ इमः) प्राप्त हों । (पुरीष्यम् अङ्गिरस्वद् भरिष्यामः) उक्त प्रकार के समृद्ध तेजस्वी नेता को हम भी धारण करेंगे और हम उसको प्राप्त करेंगे, उसका पालन पोषण करेंगे । शत० ६ । ३ । २ । ८-९ । ३ । ३ ४ ॥

पृथिवी के जिस स्थान की प्रजा हो (सधस्थ) उसी स्थान का उनका शासक नेता होना चाहिये । वे उसको स्वयं चुनें, और उसको स्थापित करें ।

अन्वग्निरुषसामग्रमख्यदन्वहानि प्रथमो जातवेदाः ।
अनु सूर्यस्य पुरुत्रा च रश्मीननु द्यावापृथिवी आततन्थ ॥ १७ ॥

पुरोधस ऋषयः । अग्निदेवता । निचृत् त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०— (अग्निः) महान् अग्नि (प्रथमः) सबसे प्रथम (जातवेदाः) विद्यमान, ज्ञानवान् परमेश्वर ही (उषसाम्) उषाओं के (अग्रम्) अग्र

मुख्य भाग सूर्य को भी (अव्ययत्) प्रकाशित करता है । (अनु) उसके पश्चात् स्वयं सूर्य तदनुसार अन्य उत्कृष्ट विद्वान् पुरुष भी व्यवहारों को प्रकाशित करें । (अनु अहानि अव्ययत्) वही परमेश्वर दिनों को प्रकाशित करता है । (सूर्यस्य) वही सूर्य की (पुरुत्रा) बहुतसी (रश्मीन्) रश्मियों, किरणों को भी प्रकाशित करता है (अनु) वही (द्यावापृथिवी) आकाश और पृथिवी को भी (आततन्थ) सर्वत्र विस्तृत करता है । उसी प्रकार राष्ट्र में (प्रथमः जातवेदाः) सब से श्रेष्ठ विद्वान् पुरुष भी (उपसाम् अग्रम्) उदय कालों को प्रकाशित कर (अहानि) प्राप्त दिनों को प्रकाशित करे । (सूर्यस्य पुरुत्रा रश्मीन्) सूर्य के समान तेजस्वी राजा के नाना प्रबन्ध-व्यवस्थाओं और कार्यों को प्रकाशित करे । वह (द्यावा पृथिवी) राजा प्रजा दोनों की वृद्धि करे ॥ शत० ६।३।३।६ ॥

आगत्य वाज्यध्वान् सर्वं मृधो विधूनुते ।
अग्निं सघस्थे महति चक्षुषा निचिकीषते ॥ १८ ॥

मयोभुव ऋषयः । अग्निर्देवता । निचृदतुष्टुप् । गांधारः ॥

भा०—जिस प्रकार (वाजी) वेगवान् अश्व (अध्वानम्) मार्ग पर आकर अपनी सब थकावटों को झाड़ फेंकता है उसी प्रकार (वाजी) बलवान् राजा (अध्वानम् आगत्य) राष्ट्र को प्राप्त करके (सर्वाः मृधः) समस्त संग्रामकारी शत्रुओं को (वि धूनुते) कंपा देने में समर्थ होता है । और (महति) बड़े महत्व युक्त प्रतिष्ठा के (सघस्थे) अपने योग्य स्थान पर ही (अग्निम्) जनवान् तेजस्वी पुरुष को (चक्षुषा) अपनी आँखों से (निचिकीषते) देख लेता है । या (चक्षुषा) दर्शन सामर्थ्य से युक्त (अग्निम्) विद्वान् को उस पद पर (निचिकीषते) युक्त कराता है । शत० ६।३।३।८ ॥

राजा बलपूर्वक शत्रुओं का दमन करके प्रजा के शासन कार्य पर विद्वान् को अपना स्थानापन्न नियुक्त करे ।

आक्रम्य वाजिन् पृथिवीमग्निमिच्छ रुचा त्वम् ।

भूम्या वृत्वाय नो ब्रूहि यतः खनेम तं त्रयम् ॥ १६ ॥

अग्निर्वाजी देवता । निचृदनुष्टुप् । गांधारः ॥

भा०—हे (वाजिन्) वेगवान् अश्व के समान बलवान्, एवं संग्राम में शूर पुरुष ! (त्वम्) तू (पृथिवीम् आक्रम्य) पृथिवी पर आक्रमण करके (रुचा) दीप्ति या कान्ति या अपनी रुचि, प्रीति के अनुसार (अग्निम्) अग्नि के समान तेजस्वी पुरुष या उस पद को (इच्छ) चाह । (भूम्या) भूमि पर (वृत्वाय) पूर्ण अधिकार करके तू (नः) हमें (ब्रूहि) स्वयं बतला (यतः) जहाँ से हम (तं) उस ज्ञानवान् तेजस्वी पुरुष को (खनेम) प्राप्त करें या जहाँ उसको स्थापित करें ॥ शत० ६ । ३ । ३ । ११ ॥

द्यौस्ते पृष्ठं पृथिवी सधस्थमात्मान्तरिक्षं समुद्रो योनिः ।
विख्याय चक्षुषा त्वमभि तिष्ठ पृतन्यतः ॥ २० ॥

क्षत्रपतिर्देवता । निचृदार्षी बृहती । मध्यमः ॥

भा०—हे राजन् ! प्रजापते ! (ते) तेरा (पृष्ठम्) पालन सामर्थ्य प्रजा को अपने ऊपर उठाने का बल (द्यौः) आकाश के समान महान् एवं सबको जल वर्षा कर अन्न-सुख देने हारा है । (सधस्थम्) रहने का स्थान, आश्रय (पृथिवी) पृथिवी या पृथिवी के समान विस्तृत और घ्रुव है । (आत्मा) अपना स्वरूप (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष या वायु के समान सब का आच्छादक, शरणदायक है (योनिः) तेरा आश्रय तुझे राजा बनानेवाले, तेरा राज्य स्थापन करने वाले अमर्त्य आदि या, अन्य कारण (समुद्रः) समुद्र के समान गम्भीर और अमर्यादित, अगाध है ।

१६—० 'भूमे वृत्वाय०' इति काण्व० ।

२०—अश्वदेवत्या । अनन्त० ।

(चक्षुषा) अपने चक्षु, दर्शन शक्ति से (विख्याय) विशेषरूप से आलोचना करके (त्वम्) तू (पृतन्यतः) अपनी सेना से आक्रमण करने वाले शत्रुओं पर (अभि तिष्ठ) आक्रमण कर ॥ शत० ६ । ३ । ३ । १२ ॥

उत्क्राम महते सौभगायास्मादास्थानाद् द्रविणोदा वाजिन् ।
वयथं स्याम सुमतौ पृथिव्या अग्निं खनन्त उपस्थं अस्याः ॥२१॥

द्रविणोदा वाजी देवता । आर्षी पाक्तिः । पंचमः ॥

भा०—हे (वाजिन्) ऐश्वर्य और बल से सम्पन्न राजन् ! तू (द्रविणोदाः) प्रजा और नियुक्त पुरुषों को यथोचित धन प्रदान करने में समर्थ होकर (महते) बड़े भारी (सौभगाय) यज्ञ में शोभनेयोग्य ऐश्वर्य को प्राप्त करने के लिये (अस्मात् आस्थानात्) इस निवास स्थान से (उत्क्राम) ऊपर उठ । (वयम्) हम लोग (अस्याः पृथिव्याः) इसी पृथिवी के (उपस्थे) पीठ पर (अग्निम्) अग्नि के समान ज्ञानवान्, अग्रणी, तेजस्वी पुरुष को श्रम से (खनन्तः) प्राप्त करते हुए वा स्थापित करते हुए उसके (सुमतौ) उत्तम ज्ञान और मन्त्रणा के अधीन (स्याम) रहें ॥ शत० ६ । ३ । ३ । १३ ॥

उदक्रमीद् द्रविणोदा वाज्यर्वाकः सुलोकं सुकृतं पृथिव्याम् ।
ततः खनेम सुप्रतीकमग्निं स्वो रुहाणा अधि नाकमुत्तमम् ॥२२॥

द्रविणोदा वाजी देवता । निचृशर्षी त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—(अर्वा) अश्व के समान बलवान् एवं (वाजी) ज्ञानवान्, (द्रविणोदाः) प्रकाशप्रद सूर्य के समान विद्वान् राजा (उत् उदक्रमीत्) उदय को प्राप्त होता है और (पृथिव्याम्) इस पृथिवी पर (लोकम्) समस्त लोक, जन-समुदाय को (सुकृतम्) पुण्य आचारवान् श्रेष्ठ (सु अकः) बना देता है । हम लोग (उत्तमम्) उत्तम, सर्वोत्कृष्ट (नाकम्) सुखमय लोक को (अधिरुहाणाः) प्राप्त कर (ततः) वहांसे (सुप्रतीकम्) उत्तम, कान्तिमान् सुन्दर (अग्निम्) स्वर्ण के समान

कान्तिमान्, विद्वान् पुरुष को (खनेम) प्राप्त करें । उत्तम राजा राज्य को उत्तम बनावे, प्रजा के उस उत्तम राज्य में से ही विद्वान् नर-रत्न उत्पन्न हों ॥ ६ । ३ । ३ । १४ ॥

आ त्वा जिघर्षि मनसा घृतेन प्रतिलियन्तं भुवनानि विश्वा ।
पृथुं तिरश्चा वयसा बृहन्तं व्यचिष्टमन्नं रभसं दृशानम् ॥ २३ ॥

गृ ममद ऋषिः । अग्निः प्रजापातदेवता । आर्षी त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—(घृतेन) घी से जिस प्रकार अग्नि को आहुति द्वारा सेचन किया जाता है उसी प्रकार (विश्वा भुवनानि) समस्त पदार्थों के भीतर (प्रतिलियन्तम्) निवास करनेवाले, व्यापक (त्वा) तुझ शक्ति को (मनसा) मन से, ज्ञान द्वारा (आ जिघर्षि) प्रज्वलित करता हूँ । (तिरश्चा) तिरछे गति करनेवाले, (वयसा) जीवन सामर्थ्य से (पृथुम्) अति विस्तृत, (बृहन्तम्) महान्, (व्यचिष्टम्) सबसे अधिक व्यापक, अति सूक्ष्म । (रभसम्) बलस्वरूप, (दृशानम्) दर्शनीय उस आत्मा को (अन्नैः) अन्न और उसके समान भोगयोग्य सुखों द्वारा (आ जिघर्षि) प्रदीप्त करता हूँ । इसी प्रकार राजा और विद्वान् के पक्ष में—समस्त पदों पर अपने बल से रहनेवाले विद्वान् राजा को दूरगामी बल से विशाल, बड़े, व्यापक सामर्थ्यवान्, दर्शनीय, बलवान् पुरुष को हम (अन्नैः) अन्नादि भोग्य पदार्थों से उसी प्रकार जैसे घृत से अग्नि को प्रदीप्त करते हैं, सत्कार करें ॥ शत० ६ । ३ । ३ । १९ ॥

आ विश्वतः प्रत्यञ्चं जिघर्ष्य रक्षसा मनसा तज्जुषेत । मर्यैश्ची
स्पृह्यद्वर्णो अग्निर्नाभिमृशे तन्वा जर्भुराणः ॥ २४ ॥

गृत्समद ऋषिः । अग्निदेवता । आर्षी पंक्तिः । पंचमः ॥

भा०—जिस प्रकार अग्नि में घृत का आसेचन करके उसको प्रज्वलित और अधिक दीप्तिमान् किया जाता है उसी प्रकार हे राजन् ! मैं (विश्वतः) सब ओर से (प्रत्यञ्चं) शत्रु के प्रति आक्रमण करनेवाले तुझको

(आजिघर्मि) सब प्रकार से उत्तेजित, प्रदीप्त करूं । वह राजा (तत्) इस प्रेम से दिये उत्तेजना-सामग्री को (अरक्षसा) निर्विघ्न, राक्षस या क्रूर स्वभाववाले दुष्ट पुरुष से विपरीत, सज्जनस्वभावयुक्त, (मनसा) चित्त से (जुषेत) स्वीकार करे । वह (अग्निः) अग्रणी, राजा (मर्य-श्रीः) मनुष्यों द्वारा आश्रय करने योग्य या मनुष्यों के बीच विशेष शोभावात्, उनका शिरोमणिस्वरूप और (स्पृहयद्-वर्णः) प्रेमयुक्त पुरुषों द्वारा अपना नेता चुना गया, या कान्तिमान् अग्नि के समान तेजस्वी (तन्वा) अपने विस्तृत शक्ति या अपने स्वरूप से (जभुराणः) अंगों को ऊपर नीचे नमाता हुआ, लचकती ज्वालाओं से (अग्निः) अग्नि जिस प्रकार अति तीक्ष्ण होकर (अभिमृशे न) स्पर्श करने के योग्य नहीं होता, उसको कोई छू नहीं सकता उसी प्रकार वह भी शुद्ध में जब अति तीक्ष्ण होकर अपने गात्र नमाता या पैतरे चलता है तब (अग्निः) आग के समान तेजस्वी होकर (अभिमृशे न) वह किसी भी द्वारा अभिमर्शन, या तिरस्कार करने योग्य नहीं रहता, उसका कोई अपमान नहीं कर सकता ॥ शत० ३।३।३।१५ ॥

परि वाजपतिः क्विरग्निर्हव्यान्यक्रमीत् ।

दधद्रत्नानि दाशुषे ॥ २५ ॥

सोमक ऋषिः । अग्निदेवता । निचृद् गायत्री । पङ्क्तिः ॥

भा०— (वाजपतिः) संग्राम का पालक, सेनापति (कविः) दूर देश तक दर्शन करने में समर्थ, क्रान्तदर्शी, दूरदर्शी (अग्निः) अग्नि के समान तेजस्वी, एवं अग्रणी होकर (हव्यानि) प्राप्त करने योग्य, विजय करने योग्य स्थानों पर (परि अक्रमीत्) सब ओर से आक्रमण करे और (दाशुषे) करादि दान देनेवाले या दान देने योग्य प्रजाजनों को (रत्नानि) नाना रमणीय, रत्न, सुवर्ण आदि पदार्थ (दधत्) प्रदान करे ।

गृहपति के पक्ष में—(वाज-पतिः) अन्नादि का पालक विद्वान् अग्नि

के समान तेजस्वी होकर (हव्यानि) ग्रहण करने योग्य पदार्थों को प्राप्त करे । (दाशुपे) दान योग्य ब्राह्मण, अतिथि आदि को (रत्नानि दधत्) सुवर्ण रत्नादि प्रदान करे ।

परि त्वाग्ने पुरं वयं विप्रं सहस्य धीमहि ।

धृषद्वर्णं दिवेदिवे हन्तारं भङ्गुरावताम् ॥ २६ ॥

ऋ० १० । ८७ । २२ ॥

पायुर्ऋषिः । अग्निदेवता । अनुष्टुप् । गांधारः ॥

भा०—हे (अग्ने) अग्ने ! अग्रणी, अग्नि के समान तेजस्विन् ! राजन् ! हे (सहस्य) अपने बल को चाहने वाले ! (वयम्) हम प्रजा के लोग (विप्रम्) विविध प्रकारों से राष्ट्र को पूर्ण करने वाले और (पुरम्) नगर के कोट के समान पालन करने में समर्थ (दिवेदिवे) प्रतिदिन, नित्य (भङ्गुरावताम्) विनाश करने योग्य, दुष्ट स्वभावों वाले पुरुषों के (हन्तारम्) नाश करनेवाले और (धृषद्वर्णम्) प्रगल्भ, तीक्ष्ण, असह्य वर्ण अर्थात् स्वभाव वाले, तेजस्वी (त्वा) तुझको अपने (परि धीमहि) चारों तरफ रक्षा करने के लिये नियुक्त करते हैं । वीर पुरुष को रक्षा के लिये चारों तरफ नियुक्त करना चाहिये ।

त्वमग्ने शुभिस्त्वमाशुशुक्लाणिस्त्वमद्भ्यस्त्वमश्मन्स्परि ।

त्वं वनेभ्यस्त्वमोषधीभ्यस्त्वं नृणां नृपते जायसे शुचिः ॥ २७ ॥

ऋ० २ । १ । १ ॥

गृत्समद ऋषिः । अग्निदेवता । पंक्तिः । पंचमः ॥

भा०—हे (अग्ने) अग्ने ! अग्रणी ! तेजस्विन् ! (नृपते) मनुष्यों

२६—० 'दिवे भन्तारं भङ्गुं' इति काण्व० ।

२७—त्रिष्टुप् इति सर्वा० । पंक्तिः । वराट्स्थाना त्रिष्टुप् वा । जगता ।

"सकृ सर्वा० ।

के पालक राजन् ! (त्वं द्युभिः जायसे) जिस प्रकार प्रकाशमान किरणों से सूर्य प्रकाशित होता है और प्रकाशमान तेजों से अग्नि दीप्त होता है, उसी प्रकार न्याय, विनय, प्रताप आदि तेजस्वी गुणों से तू भी प्रकाशमान होता है । (त्वम् आशुशुक्षणिः) अग्नि या सूर्य जिस प्रकार शीघ्र ही अन्धकार का नाश करता है उसी प्रकार तू भी दुष्टों का शीघ्र नाश करता है । (अदमनः परि) जिस प्रकार विद्युत् मेघ से उत्पन्न होता और प्रकाशित होता है उसी प्रकार (त्वम्) तू (अदमनः) व्यापक सामर्थ्य या वज्ररूप शस्त्र-बल के ऊपर (परि जायसे) वृद्धि को प्राप्त होता है । (वनेभ्यः) किरणों से जिस प्रकार सूर्य प्रकाशित होता है और वनों से जिस प्रकार सर्वदाहक दावानल पैदा होता है उसी प्रकार (त्वं) तू भी (वनेभ्यः) सेवन करने योग्य प्रजाजनों के बीच में से उत्पन्न होता है । (त्वम् ओषधीभ्यः) ओषधियों के बीच में से, काष्ठ आदि में से जिस प्रकार अग्नि प्रकट होती है अथवा जिस प्रकार ओषधि-रसों से, तेजस्वरूप दाहक रस उत्पन्न होता है, अथवा दाह या ताप धारण करनेवाले रश्मियों से जैसे सूर्य प्रकट होता है उसी प्रकार तू (ओषधीभ्यः) दाह, प्रताप, पराक्रम को धारण करनेवाले वीरों के बीच में से प्रकट होता है । (त्वं नृणाम् शुचिः) तू समस्त मनुष्यों को शुद्ध, उज्ज्वल करनेवाला और उन सब में स्वयं (शुचिः) शुद्ध, तेजस्वी, एवं निश्छल, निष्कपट, शुद्ध व्यवहारवान्, सत्यवादी, निष्पाप होकर (जायसे) प्रकट होता है ।

‘शुचिः’ शोचतेज्ज्वलतिकर्मणः । अयमपि इतरः शुचिरेतस्मादेव निष्पिक्तमस्मात् पापकम् इति नैरुक्ताः । निरु० ६ । १ ॥

देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पुष्णो हस्ताभ्याम् ।
पृथिव्याः सधस्थादिग्निं पुरीष्यमङ्गिरस्वत् खनामि । ज्योतिष्म-
न्तं त्वाग्ने सुप्रतीकमजस्रेण भानुना दीयतम् । शिवं प्रजाभ्योऽ-
हिंशंसन्तं पृथिव्याः सधस्थादिग्निं पुरीष्यमङ्गिरस्वत् खनामि ॥ २८ ॥

अग्निदेवता । भुरिक् प्रकृतिः । धैवतः ॥

भा०—हे अग्ने ! विद्वन् ! (सवितुः देवस्य प्रसवे) सर्वप्रेरक देव, राजा और परमेश्वर के शासन में रहकर (अश्विनोः बाहुभ्याम्) इस संसार में यौ, और पृथिवी के धारण और आकर्षण के समान राजा और प्रजा, स्त्री और पुरुष दोनों के (बाहुभ्याम्) बाहुओं से और (पृष्णः) पुष्टिकारक, प्राण के बल और पराक्रम के समान पोषक राजा के बल पराक्रम स्वरूप (हस्ताभ्याम्) हनन करने के अस्त्र और शान्तरूप साधनों से (अंगिरस्वत्) शरीर में विद्यमान प्राणवायु, अन्तरिक्ष में व्यापक वायु या आदित्य के समान बलवान् तेजस्वी, (पुरीष्यम्) राष्ट्र के पूर्ण करने वाले साधनों से सम्पन्न, (अग्निम्) अग्नि के समान तेजस्वी पुरुष को (पृथिव्याः सधस्थात्) पृथिवी अर्थात्, पृथिवी निवासी प्रजाजन के एकत्र होने के सभा-भवनरूप स्थान से (खनामि) पृथिवी से खोदकर जिस प्रकार अंग में रसस्वरूप, पुष्टिकारक, पशव्य अग्नि अर्थात् पशूपयोगी घास आदि पदार्थ को या अङ्गिरस्वत्, तेजोमय शोभा जनक सुवर्ण आदि धातु को खना जाता है उसी प्रकार राजा को मैं मुख्य पुरोहित, प्रजा की परिषद् में चुपे हुए गुप्त, वीर्यवान्, उत्तम पुरुष को ऊपर उठाता हूँ, उसे मानो नरसभा में से खोदता हूँ, उच्च पद प्रदान करता हूँ । हे (अग्ने) अग्ने ! तेजस्वी पुरुष ! (सु-प्रतीकम्) सुन्दर शोभावान् (अजस्त्रेण भानुना) निरन्तर कान्ति, दीप्ति से (दीद्यतम्) चमकनेवाले, (ज्योतिष्मन्तम्) ज्योतिष्मान्, सूर्य के समान दीदीप्यमान, कान्तिमान्, यशस्वी, तेजस्वी, ऐश्वर्यवान्, (प्रजाभ्यः) प्रजाओं के लिये (शिवं) कल्याणकारी, (अहिंसन्तम्) प्रजा का नाश न करते हुए (त्वा) तुझको (पृथिव्याः सधस्थात्) इस पृथिवी से उपर के निवासियों के एकत्र होने के सभास्थान से (अंगिरस्वत् पुरीष्यम्-अग्निम्) अंगारों के समान जाज्वल्यमान, समृद्धि से सम्पन्न, अग्रणी नेता को (खनामः) रत्न सुवर्णादि के ही समान यत्पूर्वक ऊपर खोदते, निकालते, अर्थात् नीचेसे उच्च पद पर लाते हैं ॥ शत० ६ । ४ । १ । २ ॥

अपां पृष्ठमसि योनिर्गनेः समुद्रमभितः पिन्वमानम् । वर्धमानो
महाँऽ आ च पुष्करे दिवो मात्रया वरिष्णा प्रथस्व ॥ २६ ॥

अग्निदेवता । स्वराट् पक्तिः । पंचमः ॥

भा०—हे राजन् ! (अपाम्) जिस प्रकार जलों का (पृष्ठम्) पृष्ठ या पृष्ठ पर स्थित पद्मपत्र आदि पदार्थ उसके ऊपर विद्यमान रहता है उसी प्रकार तू भी (अपां) प्रजाओं के भीतर (पृष्ठम्) उनका पृष्ठ स्वरूप, पोषकरूप, उनका धारक, उनके ऊपर आच्छादक, रक्षकरूप में रहकर उनसे ऊपर और उनसे अधिक वीर्यवान् होकर (असि) रहता है । हे विद्वान् ! तू (अग्नेः योनिः असि) जिस प्रकार वेदि अग्नि का आश्रय है उसी प्रकार तू (अग्नेः) अग्नि के समान तेजस्वी राजा के पद, प्रताप का (योनिः) आश्रय है । तू (अभितः) सब ओर (पिन्वमानम्) ऐश्वर्य द्वारा सुखों का वर्णन करते हुए या बढ़ते हुए, (समुद्रम्) समुद्र के समान गम्भीर राजपद को वेला के समान धारण कर । और तू (पुष्करे) महान् आकाश में सूर्य के समान, (पुष्करे) अपने पुष्टिकर्ता राष्ट्र के आधार पर तेजस्वी होकर (वर्धमानः) नित्य बढ़ता हुआ, (महान् च) सबसे अधिक महान् होकर (दिवः) सूर्य की (मात्रया) तेजः-शक्ति से और (वरिष्णा) पृथिवी की विशालता से (आ प्रथस्व च) चारों ओर स्वयं विस्तृत राज्यसम्पन्न हो ॥ शत० ६ । ४ । १ । ८ ॥

इस मन्त्र में राजा और उसके पोषक दोनों का वर्णन है । जो अगले मन्त्र में स्पष्ट है ।

शर्म च स्थो वर्म च स्थोऽङ्घ्रिद्रे बहुलेऽउमे ।
व्यचस्वती संवसाथां भृतमग्निं पुरीष्यम् ॥ ३० ॥

दम्पती देवते । विराडाव्यनुष्टुप् । गान्धारः ॥

२६—अपां पुष्करपर्णं स्वराट् पक्तिः ॥ सर्वा० ॥

भा०—हे स्त्री पुरुषो ! हे राजा और प्रजा, तुम दोनों ! (शर्म च
 स्थः) एक दूसरे के सुखकारी, गृह के समान आश्रयप्रद हो । (वर्म च
 स्थः) कवच के समान एक दूसरे की सब ओर से रक्षा करनेवाले हो ।
 (उभे) तुम दोनों (अच्छिद्रे) छिद्र रहित, कष्ट न देनेवाला और (बहुले) बहुत से
 पदार्थ, एवं सुखों को प्राप्त करानेवाले, (व्यचस्वती) एक दूसरे के लिये विशाल
 अवकाश वाले होकर (सं-वसाथाम्) एक दूसरे को अच्छी प्रकार वस्त्र के
 के समान आच्छादित किये रहो, धारण किये रहो । और जिस प्रकार स्त्री
 पुरुष मिलकर वीर्य धारण करते और गर्भस्थ बालक की रक्षा और धारण
 पोषण करते हैं उसी प्रकार तुम दोनों राजवर्ग और प्रजावर्गों ! (पुरीष्यम्
 अग्निम्) पालन-कार्यों में उत्तम, अग्नि के समान तेजस्वी, ऐश्वर्यवान् पुरुष
 को (भृतम्) धारण करो, उसे सुरक्षित और सुपुष्ट बनाये रखो । शत०
 १।४।१।१० ॥

संवसाथाः स्वर्विदा समीची उरसा त्मना ।

अग्निमन्तर्भरिष्यन्ती ज्योतिष्मन्तमजस्रमित् ॥३१॥

जायापती देवते । विरड् अनुष्टुप् । गान्धारः ॥

भा०—(स्वर्विदा) सुख को प्राप्त करनेवाले (उरसा) उरःस्थल
 से उरःस्थल को और (त्मना) पूर्ण देह से (समीची) पूर्ण देह को
 आलिंगन करते हुए एक दूसरे से (ज्योतिष्मन्तम्) तेजोयुक्त, शुद्ध,
 (अजस्रम्) अविनाशी, (अग्निम्) तेज या वीर्य को (अन्तः भरि-
 ष्यन्ती) गर्भ के भीतर धारण करते हुए स्त्री पुरुष जिस प्रकार (सं वसा-
 थाम्) एकत्र संगत होते हैं, गृहस्थ बनकर सन्तानोत्पत्ति करते हैं, उसी
 प्रकार हे राजा-प्रजाजनो ! आप दोनों (स्वर्विदा) एक दूसरे को सुख
 प्रदान करते हुए (उरसा) राजा अपने उरःस्थल से अर्थात् क्षात्रबल से

३०, ३१—शर्म द्वे अनुष्टुभौ कृष्णाजिनपुष्कर पर्यौ ॥ सर्वा० ॥

और प्रजाजन (त्मना) अपने वैश्य भाग से (ज्योतिष्मन्तम्) तेजस्वी अजस्रम् इत्) और अविनाशी, अक्षय (अग्निम्) ऐश्वर्य को (भरिष्यन्ती) धारण करते हुए (समीची) एक दूसरे से संगत, परस्पर सुसंबद्ध रहकर (सं वसाथाम्) एकत्र होकर रहो, एक दूसरे की रक्षा करो ॥ शत० ६ । ४ । २ । ११ ॥

पुरीष्योऽसि विश्वभरा अथर्वा त्वा प्रथमो निरमन्थदग्ने ।
त्वामग्ने पुष्करादध्यथर्वा निरमन्थतामुध्नो विश्वस्य वाघतः ॥ ३२ ॥

भरद्वाज ऋषिः । अग्निदेवता त्रिष्टुप् । धैःतः ॥

भा०—हे (अग्ने) अग्ने ! तेजस्वी पुरुष ! तू (पुरीष्यः असि) पुरीष्य अर्थात् नाना ऐश्वर्यों से सम्पन्न है । तू (विश्वभराः असि) सूर्य के समान समस्त विश्व का भरण-पोषण करने में समर्थ है, (त्वा) तुझको (प्रथमः) सर्वश्रेष्ठ, सबसे प्रथम विद्वान् (अथवा) प्रजापालक, अहिंसक विद्वान्, अग्नि को जिस प्रकार मथकर निकालता है उसी प्रकार परस्पर संघर्ष या प्रतिस्पर्धा द्वारा (निः अमन्थत) मथन करके प्राप्त करता है । हे (अग्ने) तेजस्विन् राजन् ! (अथर्वा) अथर्वा, व्यापकशील वायु जिस प्रकार विद्युत् को (पुष्करात्) पुष्कर, अन्तरिक्ष से मथन करके प्रकट करता है और जिस प्रकार (अथर्वा) अथर्वा, प्राण, हे अग्ने ! जाठर अग्ने ! तुझको (पुष्करात्) पुष्टिकर अन्न से प्राप्त करता है, इसी प्रकार हे अग्ने ! राजन् (वाघतः) मेधावी, (अथर्वा) प्रजाओं में से वीर पुरुष को ढूँढकर प्राप्त करने में कुशल वेदवित् विद्वान् (विश्वस्य) समस्त राष्ट्र के (मूर्धः) मूर्धास्थल, उच्चपद पर विराजमान (पुष्कराद्) पुष्टिकारी अंश से ही (त्वाम् निः अमन्थत) तुझे अग्नि के समान संघर्ष या प्रति स्पर्धा द्वारा मथन करते ही प्राप्त करता है ॥ शत० ६ । ४ । २ । ११ ॥

तमु त्वा दुध्यङ्घ्रिः पुत्रोऽङ्घ्रेऽअथर्वणः ।
वृत्रहर्णं पुरन्दरम् ॥ ३३ ॥

भरद्वाज ऋषिः । आग्नेदेवता । निचृद् गायत्री । षड्जः ॥

भा०—हे अग्ने ! तेजस्विन् ! राजन् ! (तम् त्वा उ) उस तुझको (अथर्वणः) अहिसक, रक्षक विद्वान् के (दध्यङ्) प्रजा के धारण करने वाले समस्त साधनों को प्राप्त करने में समर्थ, (पुत्रः) पुरुषों का त्राणकर्त्ता, (वृत्रहणम्) मेघों के सूर्य के समान शत्रु के हन्ता और (पुरन्दरम्) शत्रुओं के गढ़ तोड़ने में समर्थ तुझको (ईधे) तेजस्वी, मन्यु और पराक्रम से प्रज्वलित करे ॥ शत० ६ । ४ । २ । ३३ ॥

तमु त्वा पाथ्यो वृषा समीधे दस्युहन्तमम्

धनञ्जयथं रणे रणे ॥ ३४ ॥ ऋ० ६ । १६ । १५ ॥

भरद्वाज ऋषिः । आग्नेदेवता । निचृद् गायत्री । षड्जः ॥

भा०—(पाथ्यः वृषा) पाथस् = अन्तरिक्ष में उत्पन्न, वर्षण समर्थ वायु जिस प्रकार विद्युत् रूप अग्नि को संघर्षण द्वारा मेघों के जलों में उत्पन्न करता है उसी प्रकार (पाथ्यः) राष्ट्रपालन के समस्त मार्गों का उत्तम ज्ञाता, (वृषा) सब पर उत्तम व्यवस्था-बन्धन करने वाला विद्वान् (दस्युहन्तमम्) प्रजा के नाशकारी चोर डाकुओं के सब से प्रबल विनाशक, (रणे-रणे धनञ्जयम्) प्रत्येक संग्राम से ऐश्वर्य-धन के विजय करने हारे (तम् त्वा उ) उस तुझको ही (सम्-ईधे) युद्धादि में भली प्रकार प्रदीप्त करता है, पराक्रम से युद्ध करने के लिये उत्तेजित करता है ॥ शत० ६ । ४ । २ । ४ ॥

सीद होतः स्व उलोके चिकित्वान्त्सादया यज्ञथं सुकृतस्य योनौ ।
देवावीर्देवान्हविषा यज्ञास्यग्ने बृहद्यजमाने वयो धाः ॥ ३५ ॥

ऋ० ३ । २९ । ८ ॥

देवश्रवो देववातश्च ऋषी । आग्नेदेवता । निचृत् त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—हे (होतः) राजपद या उसके किसी विभाग के दाना-पक्ष के पदाधिकार को स्वीकार करने वाले योग्य विद्वान् ! तू (स्वे उ)

अपने ही या सुखमय या शान्तिप्रद (लोके) स्थान, प्राप्त पद या अधिकार में (सीद) प्रतिष्ठित हो । और (यज्ञम्) धर्मानुकूल परस्पर संगत, राजा-प्रजा के व्यवहाररूप राज्य-कार्य को (सु-कृतस्य) उत्तम पुण्या-चारवान् धार्मिक (योनौ) आश्रय या आधार, मूल पर (सादय) स्थापित कर । हे (अग्ने) तेजस्विन् ! विद्वन् ! तू (देवावीः) विद्वानों और उत्तम गुणों की रक्षा करने हारा, वा स्वयं सुरक्षित होकर (हविषा) उनके अन्न आदि दातव्य वेतनादि पदार्थों द्वारा (देवान्) विद्वान्, शासक अधिकारियों को (यजासि) प्राप्त कर, राष्ट्र में नियुक्त कर । और (यजमाने) समस्त राज्य व्यवस्था को संचालन करने, सर्वोपरि राजा में या करादि देने वाले प्रजाजन में (बृहत् वयः) बड़ा भारी दीर्घ जीवन और ऐश्वर्य (धाः) धारण करा ॥ शत० ६ । ४ । २ । ६ ॥

नि होता होतृषदने विदानस्त्वेषो दीदिवान् २५ असदत्सुदक्षः ।
अदब्धव्रतप्रमतिर्वसिष्ठः सहस्रम्भरः शुचिजिह्वो अग्निः ॥ ३६ ॥

ऋ० २ । ९ । ११ ॥

गृत्समद ऋषिः । अग्निदेवता । त्रिष्टुप् । धैवतः ।।

भा०—(विदानः) विद्वान् पुरुष, (त्वेषः) सूर्य या अग्नि के समान कान्तिमान्, (दीदिवान्) तेजस्वी, (सु-दक्षः) उत्तम कार्यानुकूल, समर्थ, प्रज्ञावान् होकर (होता) आदान-प्रतिदान करने में चतुर अधिकारी (होतृ-सदने) 'होता' के पद पर (नि असदत्) विराजे । वह (वसिष्ठः) सब से अधिक वसुमान्, ऐश्वर्यवान्, सब को बसाने वाला, सबका रक्षक (सहस्रम्भरः) सहस्रों, अपरिमित प्रजाजनों के पालन-पोषण करने में समर्थ, (शुचि-जिह्वः) शुद्ध सत्य वाणी बोलने वाला (अदब्धव्रत-प्रमतिः) अखण्डित व्रतों, ब्रह्मचर्य, धर्माचरण और नियम, व्यवहारों द्वारा उत्कृष्ट मतिमान् पुरुष भी (अग्निः) अग्नि के समान तेजस्वी और ज्ञानवान् 'अग्नि' कहाने योग्य है ॥ शत० ३ । ४ । २ । ७ ॥

सधुंसीदस्व महौ२५ असि शोचस्व देववीतमः । वि धूम
मग्ने ऽअरुषं मियेध्य सृज प्रशस्त दर्शतम् ॥३७॥ ऋ० १।३६।९॥

प्रस्कएव ऋपिः । अग्निदेवता । निचृदार्षी बृहती । मध्यमः ॥

भा—हे (अग्ने) अग्ने ! विद्वन् ! योग्य अधिकारिन् ! राजन् ! तू
अपने पद, आसन पर (सं सीदस्व) अच्छी प्रकार विराजमान हो । तू
(महान् असि) महान् है । तू (देव-वीतमः) देवों, विद्वानों, अधीन
राजाओं और शुभ गुणों से, प्रकाश युक्त किरणों से सूर्य और अग्नि के
समान (शोचस्व) कान्ति युक्त हो । और हे (मियेध्य) दुष्टों के दलन
करने हारे ! और हे (प्रशस्त) सबसे श्लाध्यतम ! राजन् ! विद्वन् !
अग्ने ! (वि-धूमम्) धूम से रहित (अरुपम्) उज्ज्वल, (दर्शतम्)
दर्शनीय, तेजोमय अग्नि के समान तू भी (वि-धूमम्) भय न दिलाने वाले,
सौम्य (अरुपम्) रोपरहित, प्रेमयुक्त, (दर्शतम्) दर्शनीय, सुन्दर, कल्याण
स्वरूप को (सृज) प्रकट कर ॥ शत० ३ । ४ । २ । ९ ॥

अपो देवीरुपं सृज मधुमतीरयक्ष्माय प्रजाभ्यः ।

तासाम्नास्थानादुज्जिहतामोषधयः सुपिप्पलाः ॥ ३८ ॥

सिन्धुद्वीप ऋपिः । आपो देवताः । न्यङ्कुसरिणी बृहती । मध्यमः ॥

भा०—हे विद्वान् पुरुष ! हे राजन् ! हे सदैवैद्य ! तू (प्रजाभ्यः)
प्रजाओं के (अयक्ष्माय) रोगों को नाश करने के लिये (मधुमतीः)
मधुर गुण युक्त, (देवीः) दिव्य गुणसम्पन्न (अपः) जलों को (सृज)
उत्पन्न कर । (तासाम्) उन जलों के (आस्थानात्) आश्रय स्थान से या
देश में सर्वत्र बने रहने से ही (सु-पिप्पलाः) उत्तम फल वाली (ओषधयः)
ओषधियां, (उज्जिहताम्) उत्पन्न हों, उगें । शत० १ । ४ । ३ । २ ॥
सं ते वायुर्मातरिश्वा दधातूत्तानाया हृदयं यद्विकस्तम् ।
यो देवानां चरसि प्राणथेन कस्मै देव वर्षडस्तु तुभ्यम् ॥ ३९ ॥

३९—सन्ते त्रिष्टुप् पार्थिवा ऽर्धो वायव्यो ऽर्धः । सर्वा० ॥

पृथिवी वायुश्च देवतं । विराट् त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—जिस प्रकार (उत्तानायाः) ऊपर को विस्तृत रूप से फैली पृथिवी का (यद् हृदयम्) जो हृदय के समान भीतरी भाग, गढ़ा आदि (विकस्तम्) खुल जाता है उसको (मातरिश्वा) अन्तरिक्ष में गति करनेवाला (वायुः) वायु भर देता है उसी प्रकार हे स्त्री ! (मातरिश्वा) अन्तःकरण में प्रियतम रूप से व्यापक, हृदयगत (वायुः) विवाहित पति, प्रजापति, स्वामी भी (यत्) जब (ते) तेरा (हृदयं) हृदय (विकस्तम्) खूब खिले प्रसन्न हो (उत्तानायाः) तब उत्सुक एवं उतान हुई तेरे साथ (दधातु) संग कर गर्भ धारण करावे । स्त्री कहे—हे (देव) स्वामिन् देव ! जो तू (देवानां) विद्वान् उत्तम पुरुषों के बीच में मेरे (प्राणथेन) प्राण के समान प्रिय होकर (वरसि) विचरते हो (तुभ्यम्) तुझ (कस्मै) क = प्रजापति स्वरूप, सुखप्रद पति के लिये (वषट् अस्तु) सदा सत्कार हो और मेरा सर्वार्पण या कल्याण हो ॥ त० ६ । ४ । ३ । ४ ।

राजा के पक्ष में—हे पृथिवीवासिनि प्रजे ! (मातरिश्वा वायुः) आकाशचारी वायु के समान पृथिवी या माता अर्थात् राष्ट्र निर्माताओं की राजसभा में प्राणरूप से विराजमान वायु, प्रजापति, राजा (यत्) जब (उत्तानायाः) उत्सुक हुई प्रजा का (हृदयं विकस्तं) हृदय उसके प्रति खिले, अति प्रसन्न हो; तब २ वह (ते संधातु) प्रजा के साथ भली प्रकार मिले, संधि से रहे, या उसे खूब भरण पोषण करे । (यः) जो राजा (देवानां) राजाओं और अधीन शासकों, विद्वानों के बीच प्रजा के (प्राणथेन) प्राणरूप से (चरसि) विचरे, हे (देव) देव, राजन् ! (कस्मै) प्रजा के सुखप्रद प्रजापति स्वरूप (तुभ्यम् वषट् अस्तु) तुझे सत्कार, यश, बल, क्षेम प्राप्त हो ।

‘वायुः’—वायुर्वा उशन । तां० ७ । ५ । १९ ॥ वायुर्वै देवः । जै० उ० ३ । ४ । ८ ॥ एतद् वै प्रजापतेः प्रत्यक्षां रूपम् । कौ० १९ । २ ॥

अयं वै पूषा । श० १४ । २ । १ । ९ ॥ एष स्वर्गस्य लोकस्य अभिवोढा ।
ऐ० ४ । २० ॥ वायुरेव सविता (उत्पादकः) । श० १४ । २ । २ । ९ ॥

‘वषट्’ - वाग्वै वषट्कारः । वाग् रेतः । रेत एव एतत् सिञ्चति वषट्
इति । तद्वतुष्वेदैतद्रेतः सिञ्चति । तद्वतवः रेतसिक्तमिमा प्रजाः प्रजन-
यति तस्मादेव वषट् करोति । एते वै वषट्कारस्य प्रियतमे तनू यदोजश्चः
सहस्र । ऐ० ३ । ८ ॥

सुजातो ज्योतिषा सह शर्म वरूथमासदत्स्वः ।

वासो अग्ने विश्वरूपं संव्ययस्व विभावसो ॥ ४० ॥

अग्निदेवता । आग् अनुष्टु । गांधरः ॥

भा०—हे (अग्ने) अग्ने ! तेजोमय राजन् ! तू (ज्योतिषा सह)
ज्योति, प्रकाश और तेज के साथ (सु-जातः) उत्तम रूप से प्रकट होकर
(वरूथम्) श्रेष्ठ, उत्तम (स्वः) सुखकारी (शर्म) गृह को (आसदत्)
प्राप्त है । हे (विभावसो) विशेष कान्ति से युक्त ऐश्वर्यवान् स्वामिन् !
तू (विश्व-रूपं) उत्तम गृहपति के समान विविध प्रकार के चित्र विचित्र
स्वरूप के (वासः) वस्त्र को (सं व्ययस्व) सुसज्जित दुलहे के समान
धारण कर, । शतपथ में यह प्रजोत्पत्ति सम्बन्धी प्रकरण अद्भुत रहस्य
के साथ वर्णित है, जो प्रजनन-संहिता के व्याख्यान में संगत होता है ।
हमारा अभिमत राजोत्पत्ति प्रकरण है इसलिये यहां उस परक संगति
दर्शाई है ॥ शत० ६ । ४ । ६८ ॥

उदुतिष्ठ स्वध्वरावा नो देव्या धिया ।

दृशे च भासा बृहता सुशुकनिराग्ने याहि सुशस्तिभिः ॥ ४१ ॥

ऋ० । ८ । २३ । ५, ६ ॥

विश्वमना वैयश्च ऋषिः । अग्निदेवता । मुरिगनुष्टुप् । गान्धारः ॥

भा०—हे (अग्ने) अग्ने ! विद्वन् ! राजन् ! तू (सु-अध्वरावा)
उत्तम अहिंसक, यज्ञमय रक्षा के कार्य व्यवहारों वाला होकर (नः)

हमारे बीच में से (देव्या) देवी, अपनी धर्मपत्नी, रानी सहित और (धिया) धारण-पोषण समर्थ शक्ति एवं ध्यान करने में समर्थ बुद्धि के साथ (उत् तिष्ठ उ) उठ खड़ा हो, उन्नत पद पर स्थित हो । और (बृहता भासा) बड़े भारी प्रकाश, तेज से सूर्य के समान (सु-शुक्लानि) उत्तम पवित्र, कान्ति या पवित्र आचारों से युक्त हो कर (सु-शस्तिभिः) उत्तम कीर्तियों और उत्तम शिक्षाओं और उत्तम गुणों सहित, उत्तम सधे घोड़ों से रथी के समान (आ याहि) हमें प्राप्त हो ॥ शत० ६ । ४ । ३ । ९ ॥

ऊर्ध्व ऊ पु ण ऊतये तिष्ठा देवो न सविता । ऊर्ध्वो वाजस्य सनिता यदञ्जिभिर्वाघद्भिर्विह्वयामहे ॥ ४२ ॥ ऋ० १ । ३६ । १३ ॥

कण्व ऋषिः । अग्निर्देवता । उपरिष्ठाद् बृहती । मध्यमः ॥

भा०—हे राजन् ! विद्वन् ! (देवः सविता न) प्रकाशमान सूर्य के समान आप भी (देवः) विद्या और बल से तेजस्वी, विजयशील होकर (ऊतये) राष्ट्र की उत्तम रीति से रक्षा करने के लिये (नः) हमारे (ऊर्ध्वः ऊँ) ऊपर उच्च पदस्थ होकर ही (तिष्ठ) विराजमान हो । तु (ऊर्ध्वः) ऊर्ध्व, सबसे ऊपर सूर्य के समान रहकर अपने (अञ्जिभिः) प्रकाशमय (वाघद्भिः) सूर्य की किरणों के समान ज्ञानों के प्रकाशक विद्वानों द्वारा अथवा अति गतिशील योद्धाओं द्वारा (वाजस्य सनिता) अन्न, बल और युद्ध विजय का देनेहारा हो । तुझको हम (वि ह्वयामहे) विविध प्रकारों से स्तुति करें ॥ शत० ३ । ४ । ३ । १० ॥

स जातो गर्भो असि रोदस्योरग्रे चाहर्विभूत ओषधीषु चित्रः शिशुः परितमास्यक्तून् प्र मातृभ्यो अग्निं कनिकदद्माः ॥ ४३ ॥
 ऋ० १० । १ । २ ॥

त्रित ऋषिः । अश्वोऽग्निर्देवता । विराट् त्रिष्टुप् । धेवतः ॥

भा०—हे (अग्ने) राजन् ! हे विद्वन् ! (सः) वह आप (जातः)

नव उत्पन्न (गर्भः) गर्भ के समान है । (रोदस्योः) आकाश और पृथिवी के बीच में सूर्य के समान (चारुः) अति सुन्दर और (ओषधीषु) माता पिताओं के द्वारा धारण किया गया गर्भ जिस प्रकार ओषधियों के द्वारा (विभृतः) विशेषरूप से धरित-पोषित होता है उसी प्रकार हे राजन् ! हे विद्वन् ! (ओषधीषु) दुष्टों के सन्तापजनक वीर पुरुषों के बीच में विशेषरूप से स्थित, एवं (ओषधीषु विभृतः) तापधारक रश्मियों के भीतर विशेषरूप से विद्यमान, तेजस्वी सूर्य के समान है । आप (चित्रः) नानावर्ण की रश्मियों से विचित्र, एवं (शिशुः) बालक के समान अद्भुत और अद्भुत पराक्रमी, (शिशुः) प्रशंसनीय है । और सूर्य जिस प्रकार (अक्तून्), रात्रिरूप (तमांसि) अन्धकारों को (मातृभ्यः) परिमाण करनेवाली दिशाओं से (परि) दूर करता हुआ (अधि कनिक्रदत् प्रगाः) पृथिवी के भागों पर फैलता हुआ आता है । और बालक जिस प्रकार (मातृभ्यः) अपने मान करने योग्य माताओं से (तमांसि अक्तून्) शोकादि अन्धकारों को दूर करता हुआ (अधि कनिक्रदत् प्र गाः) हर्ष-ध्वनि करता हुआ जाता है उसी प्रकार तू सुप्रसन्न होकर (रोदस्योः गर्भः जातः) रोधकारी, मर्यादाशील राजप्रजा वर्गों के बीच वश करने में समर्थ होकर (ओषधीषु चारुः विभृत) शत्रुसन्तापक वीर पुरुषों के बीच संचरण करनेवाला एवं सुरक्षित, (चित्रः) पूजनीय, चेतनावान् ज्ञानवान्, (शिशुः) अतिप्रशस्त (तमांसि अक्तून् परि) घोर अन्धकार अज्ञानों को दूर करता हुआ (मातृभ्यः) राष्ट्र के बनानेवाले, बड़े-अनुभवी पुरुषों से अथवा (मातृभ्यः = प्रमातृभ्यः) उत्कृष्ट ज्ञानवान् गुरुओं से (अधि कनिक्रदत्) विद्याओं का अध्ययन करके (प्र गाः) आवे ॥ शत० ६ । ४ । ४ २ ॥

इसमें वाचकलुसोपमा द्वारा गर्भजात बालक और सूर्य की उपमा देकर विद्वान् राजा का श्लिष्ट वर्णन किया है ।

स्थिरो भव वीड्वङ्ग आशुर्भव वाज्यर्वन् ।

पृथुभव सृषदस्त्वमग्नेः पुरीषवाहणः ॥ ४४ ॥

रासभो ऽग्निर्देवता । विराड् अनुष्टुप् स्वगाड्डीष्णग् वा । गांधार श्रवमान् ॥

भा०—हे (अर्वन्) विज्ञानयुक्त ! अति शीघ्रगामिन् ! विद्वान् वीर ! ब्रह्मचारिन् ! तू (स्थिरः) स्थिर (वीड्वङ्गः) दृढ़ अंगों वाला, (आशुः) अश्व के समान वेगवान् और (वाजी) ज्ञानवान्, बलवान्, ऐश्वर्यवान् (भव) हो । (त्वम्) तू (पृथुः) विशाल शरीरवाला (सृषदः) सुख से आश्रय करने योग्य, या गुणों का उत्तम आश्रय और (अग्नेः) अग्रणी राजा के लिये (पुरीष-वाहनः) उसके ऐश्वर्य को वहन करनेवाला (भव) हो । अश्व के पक्ष में स्पष्ट है ॥ शत० ३ । ४ । ४३ ॥

शिवो भव प्रजाभ्यो मानुषीभ्यस्त्वमङ्गिरः । मा द्यावापृथिवी
श्रमि शोचीर्मान्तरिक्षं मा वनस्पतीन् ॥ ४५ ॥

अग्निर्देवता । विराट् पथ्या बृहती । मध्यमः ॥

भा०—हे (अङ्गिरः) सूर्य के समान तेजस्विन् ! हे प्राण के समान प्रिय विद्वन् ! (त्वम्) तू (मानुषीभ्यः प्रजाभ्यः) मानव प्रजाओं के लिये (शिवः भव) कल्याणकारी हो । तू (द्यावापृथिवी) आकाश और पृथिवी, इन दोनों के बीच के प्राणियों को (मा अमि शोचीः) और पृथिवी, इन दोनों के बीच के प्राणियों को (मा अमि शोचीः) संतप्त मत कर । (अन्तरिक्षम् मा) अन्तरिक्षस्थ प्राणियों को भी मत सता । (वनस्पतीन् मा) वनस्पतियों को भी कष्ट मत दे, उनका व्यर्थ नाश मत कर ॥ शत० ३ । ४ । ४ । ४४ ॥

प्रेतु वाजी कर्निकद्वज्जानद्वद्रासभः पत्वा । भरन्नग्निं पुरीष्युं मा

४४—रिधिरा रासभ्यनुष्टुप्स्वगाड्डीष्णग्वा । सर्वा० ॥

४५—शंनोभवाजी पथ्याबृहती । सर्वा० । अनुष्टुप् बृहती वेति संहिता-
भाष्ययोः । अनन्त० । ० 'रासभस्पत्वा'० इति कायव० ।

प्रायुषः पुरा । वृषाग्निं वृषणं भरन्नुपां गर्भैश्च समुद्रियम् ।
अग्न आयाहि वीतये ॥ ४६ ॥ अग्ने ऋ० ६ । १६ । १० ॥

वाजी रासभाग्निदेवता । ब्राह्मी बृहतो । मध्यमः ॥

भा०—(वाजी) ज्ञानवान् पुरुष, (कनिक्रदद् प्रएतु) उपदेश करता हुआ आवे । अथवा—(वाजी) बलवान् पुरुष (कनिक्रदद्) मेघ के समान गर्जन करता हुआ, या विद्युत् के समान कड़कता हुआ (प्रएतु) शत्रु पर आगे बढ़े । (रासभः) बल से शोभायमान या ज्ञानसे तेजस्वी पुरुष (पत्वा) शीघ्रगामी अश्व के समान, एवं विद्याओं में गतिशील होकर (नानदत्) सिंह के समान गर्जता हुआ (प्र एतु) आगे बढ़े । (पुरीष्यम्) प्रजाओं के पालन करनेवाले, समृद्धिशाली (अग्निम्) तेजस्वी राजा को (भरन्) पुष्ट करता हुआ (आयुषः पुरा मा पादि) आयु के पूर्व न मरे । अथवा विद्वान् पुरुष (पुरीष्यम् अग्निम् भरन्) पालन या रक्षा कार्यों में समर्थ विद्युत् अग्नि को धारण करता हुआ (आयुषः पुरा मा पादि) अपनी आयु के पूर्व विनष्ट न हो । (वृषा) बलवान् वायु जिस प्रकार (समुद्रियम्) समुद्र या अन्तरिक्ष से उत्पन्न होनेवाले (अपां-गर्भम्) जलों के भीतर छुपे, (वृषणम्) वर्षणशील विद्युत् को (भरन्) धारण करता है उसी प्रकार (वृषा) बलवान् पुरुष (समुद्रियम्) सेना के महा-समुद्र के बीच में तेजस्वी (अपां गर्भम्) आस प्रजाओं को वश करने में समर्थ, उनके मध्य में विराजमान, (वृषणं) सुखों के वर्षक, एवं स्वतः बलवान् राजा या सेनापति को (भरन्) धारण करे । हे (अग्ने) अग्रणी, ज्ञानवान् तेजस्विन् ! राजन् ! आप (वीतये) कान्ति या प्रकाश के लिये या विविध ऐश्वर्यों के भोग करने के लिये (आ याहि) हमें प्राप्त हों ॥ शत० ६ । ४ । ४ । ७ ॥

४६—महाप्राक्तस्वयवसाना । अग्नेगायत्र्यकपदा । सर्वा० । षडष्टका महाप्राक्तिः । अनन्त० ॥

ऋतं सत्यमृतं सत्यमग्निं पुरीष्यमङ्गिरस्वद्धरामः । ओषधयः ।
प्रतिमोदध्वमग्निमेतं शिवसायन्तमभ्यत्र युष्माः । व्यस्यन्
विश्वा अनिरा अमीवा निषीदन्तो अप दुर्मतिं जहि ॥ ४७ ॥

आग्निदेवता । विराड् ब्राह्मी त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—(अङ्गिरस्वत्) वायु जिस प्रकार (पुरीष्यम् अग्निम्) रक्षा-
कारी साधनों में सबसे उत्तम मेघस्थ विद्युत् को धारण करता है । और जिस
प्रकार (अङ्गिरस्वत्) तेजस्वी विद्वान् (पुरीष्यम्) पालन करने में समर्थ सम्प-
न्न (अग्निम्) अग्नि के समान परंतप राजा को पुष्ट करता है उसी प्रकार हम
लोग (सत्यम्) सत्य, यथार्थ ज्ञान को या (सत्यम्) सत् पुरुषों में
विद्यमान, (ऋतम्) यथार्थ ज्ञान प्रकाश, और कर्म को, या वेदज्ञान
को (भरामः) धारण करें । (ओषधयः) जिस प्रकार विजली प्रासक के
जैसे ओषधियां अति प्रसन्न होकर लहलहाती हैं उसी प्रकार हे
(ओषधयः) वीर्यों को धारण करने वाले वीर पुरुषों ! आप लोग
(शिवम्) कल्याणकारी (युष्माः अभि) आप लोगों के प्रति (अत्र
आयन्तम्) इधर, इस राष्ट्र में प्राप्त होते हुए (एतम् अग्निम्) इस
तेजस्वी शत्रुसंतापक राजा को प्राप्त कर (प्रति मोदध्वम्) सत्कारों द्वारा
हर्ष प्रकट करो । हे राजन् ! हे विद्वन् ! तू (विश्वाः) समस्त प्रकार के
(अनिराः) अन्नादि समृद्धियों को न देने वाली अथवा (अनिराः)
अन्नादि के नाशक दैवी विपत्तियों को (वि-अस्यन्) दूर करता हुआ (अमीवाः)
स्वयं रोग रहित होकर (नि षीदन्) विराजमान होकर (नः) हमारे
(दुर्मतिम्) दुष्टमति या दुष्ट मार्गों में जाने वाली दुःखदायी मति को या
(नः दुर्मतिम्) हममें से दुष्ट बुद्धि वाले पुरुष को (अप जहि) विनाश
कर । दूर कर शत० ६ । ४ । ४ । १०—१६ ॥

कालिदास ने वसिष्ठ का वर्णन इस प्रकार रघुवंश में लिखा है—
पुरुषानुषजीविन्यो निरातङ्गाः निरीतयः ।

यन्मदीयाः प्रजास्त हेतुस्त्वद्ब्रह्मवर्चसम् ॥ १ । ६३ ॥

उपपन्नं ननु शिवं सप्तस्वङ्गेषु यस्य मे ।

दैवीनां मानुषीणां च प्रतिहर्ता त्वमापदाम् ॥ १ । ६० ॥

हविरावर्जितं होतस्त्वया विधिवदग्निषु ।

वृष्टिर्भवति सस्यानामवग्रहविशोषिणाम् ॥ १ । ६२ ॥

ओषधयः प्रतिगृभ्णीति पुष्पवतीः सुपिप्पलाः ।

अयं वो गर्भं ऋत्विज्यः प्रत्नथं सधस्थमासदत् ॥ ४८ ॥

अग्निदेवता । भुरिगनुष्टुपू । गान्धारः ॥

भा०— जिस प्रकार (पुष्पवतीः) फूलशाली और (सुपिप्पलाः) उत्तम फल देनेवाली (ओषधयः) ओषधियां गर्भ ग्रहण करती हैं उसी प्रकार हे (ओषधयः) वीर्य को धारण करने में समर्थ स्त्रियो ! आप सभी (पुष्पवतीः) रजस्वला एवं (सुपिप्पलाः) उत्तम, सफल होकर (प्रतिगृभ्णीत) प्रत्येक, पृथक् २ गर्भ ग्रहण करो । (वः) तुम्हारा (अयं) यह (गर्भः) ग्रहण किया हुआ गर्भ (ऋत्विज्यः) ऋतुकाल में प्राप्त होकर (प्रत्नम्) अपने प्रथम प्राप्त (सधस्थम्) स्थान पर ही (आसदत्) स्थिर रहे ।

राजा के पक्ष में—हे (ओषधयः) वीर प्रजाजनो ! आप लोग (पुष्पवतीः) पुष्टिप्रद अन्न आदि से समृद्ध और (सु-पिप्पलाः) उत्तम रक्षा-साधनों से युक्त होकर (प्रतिगृभ्णीत) प्रत्येक सुरक्षित रहो । (अयं वः) यह राजा तुम्हें (गर्भः) ग्रहण या वश करने में समर्थ है । वह (प्रत्नं) पूर्व प्राप्त (सधस्थम्) उच्च आश्रय को (आसदत्) प्राप्त किये रहे, अपने पूर्व पद से न गिरे ॥ शत० ६ । ४ । ४ । १७ ॥

वि पाजंसा पृथुना शोशुचानो वाधस्व द्विषा रक्षसोऽभ्रमीवाः
सुशर्मणो बृहत्तः शर्मणि स्यामग्नेरेहथं सुहवस्य प्रणीतौ ॥ ४९ ॥

ऋ० ३ । १५ । १ ॥

४९-४८—ओषधयस्त्रिष्टुबनुष्टुबाषधिदेवत्ये । सर्वा० ।

उत्कौल कात्य ऋषिः । अग्निदेवता । त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—हे राजन् ! पृथिवीपते ! पालक ! तू (पृथुना) बड़े (विस्तृत पाजसा) वीर्य, बल से (शोशुचानः) तेजस्वी होता हुआ (अमीवाः) राष्ट्र के रोग स्वरूप (रक्षसः) विघ्नकारी, दुष्ट (द्विषः) शत्रुओं को (विबाधस्व) नाना प्रकार से पीड़ित कर । (बृहता) बड़े भारी (सु-शर्मणः) उत्तम सुखकारी शरणवाले (अग्नेः) अग्नि के समान तेजस्वी राजा के (शर्मणि) गृह में, पति के गृह में पत्नी के समान (अहम्) मैं प्रजां वर्ग (सु-हवस्य) उत्तम रूप से ग्रहण करने वाले एवं उत्तम ऐश्वर्य, वीर्य के देने वाले पालक स्वामी के (प्र-नीतौ) उत्कृष्ट नीति में (स्याम्) रहूँ ॥ शत० ६ । ४ । ४ । २० ॥

आपो हि ष्ठा भयोभुवस्ता न ऊर्जे दधातन ।

महे रणाय चक्षसे ॥ ५० ॥ ऋ० १० । ९ । १॥ यजु० ३२ । ४ ॥

सिन्धुद्वीप ऋषिः । आपो देवता । गायत्री । षड्जः ॥

भा०—हे (आपः) आपसजनो ! आप लोग अपनी जलधारा के समान शीतल एवं ज्ञानरस से युक्त (हि) ही सदा (स्थ) रहते हो, अतः (ताः) वे आप लोग (भयोभुवः) सुख को उत्पन्न करनेहारे होकर (ऊर्जे) बल, पराक्रम और (महे) बड़े भारी (चक्षसे) दर्शनोय (रणाय) संग्राम के समान साहस योग्य उत्तम कार्य करने के लिये (नः) हमें (दधातन) पुष्ट करो ॥ शत० ६ । ५ । १ ५ ॥

विद्वानों के पक्ष में—(आपः) आप पुरुष (ऊर्जे) बलस्वरूप (महे) बड़े पूजनीय, (चक्षसे रणाय) दर्शनीय, परम रमणीय उपास्य देव की प्राप्ति के लिये हमें (दधातन) धारण करें, अपने शिष्यरूप से स्वीकार करें ।

स्त्रियों के पक्ष में—(आपः) जल के समान शीतल, सरल स्वभाववाली स्त्रियों हमें (महे रणाय चक्षसे) बड़े भारी, दर्शनीय, उत्तम कारण अर्थात् रमणीय कार्य, गृहस्थ आदि के लिये (दधातन) पति आदि रूप से स्वीकार करें ।

यो वः शिवतमो रसस्तस्य भाजयतेह नः ।

उशतीरिव मातरः ॥ ५१ ॥ यजु० ३६ । १५ । ऋ० १० । ९ । २ ॥

सिन्धुदीप ऋषिः । आपो देवताः । गायत्री । पङ्क्तः ॥

भा०—(उशतीः मातरः इव) पुत्रों के प्रति कामना युक्त, स्नेह से युक्त माताएं जिस प्रकार अपने उत्तम कल्याणकारी दुग्धरस से उनको पृष्ट करती हैं उसी प्रकार, हे (आपः) जलो ! और जलों के समान ज्ञानरस से पूर्ण आस पुरुषो ! एवं स्त्रीजनो ! आपका जो (शिव-तमः) सब से अधिक कल्याणकारी (रसः) रस, बल, प्रेम है । (तस्य) उसको (इह) इस लोक में (नः) हमें (भाजयत) प्राप्त कराओ ॥ शत० ६ । ५ । १५ ॥

तस्मा ऽअरं गमाम वो यस्य क्षयाय जिन्वथ ।

आपो जनयथा च नः ॥ ५२ ॥ ऋ० १० । ९ । ३ ॥ यजु० ३५ । १६ ॥

ऋषिदेवताच्छन्दःस्वराः पूर्वोक्ताः ॥

भा०—हे (आपः) आस पुरुषो ! आप लोग (यस्य) जिस ज्ञानरस से (क्षयाय) मुखपूर्वक इस संसार में निवास करने के लिये (जिन्वथ) समस्त प्राणियों को तृप्त करते हो, अपना ज्ञानरस प्रदान करते हो, हम (तस्मै) उस रस को (अरम्) पर्याप्त रूप से (गमाम) प्राप्त हों । और हे (आपः) आस पुरुषो ! आप लोग (नः च) हमें भी (जनयथ) योग्य बनाओ ॥ शत० ५ । १ । २ ॥

स्त्रियों के पक्ष में—हे (आपः) जल के समान शीतल स्वभाववाली स्त्रियो ! (यस्य) जिस आनन्द-रस के प्रेम और बल से (क्षयाय) गृहस्थ कार्य के सम्पादन के लिये तुम (जिन्वथ) सबको प्रसन्न एवं तृप्त करती हो हम (तस्मै) उसी प्रेम-सुख को (अरम् गमाम) भली प्रकार प्राप्त करें और तुम ही (नः च जनयथ) हमारे लिये सन्तान उत्पन्न करने में समर्थ होवो ।

मित्रः स॒थ्सृज्य॑ पृथि॒वीं भूमिं॑ च ज्योति॑षा सह ।
सुजा॑तं जा॒तवे॑दसमय॒क्ष्माय॑ त्वा स॒थ्सृजामि॑ प्रजाभ्यः ॥ ५३ ॥

मित्रो देवता । उपरिष्ठाद् बृहती । मध्यमः ॥

भा०—(मित्रः) सूर्य के समान स्नेही परमेश्वर (पृथिवीम्) विस्तृत अन्तरिक्ष और (भूमिम् च) भूमि को (ज्योतिषा) अपने प्रकाश से (संसृज्य) संयुक्त करके जिस प्रकार (सु-जातम्) उत्तम गुणों से युक्त, (जातवेदसम्) अग्नि को भी (प्रजाभ्यः) प्रजाओं के (अयक्ष्माय) रोगों के नाश के लिये (ज्योतिषा सह संसृजति) तेज के सहित उत्पन्न करता है उसी प्रकार (मित्रः) सबका स्नेही राजा मैं (पृथिवीम्) विशाल राजशक्ति और (भूमिम् च) जनपद, भूमि को (ज्योतिषा सह संसृज्य) तेजोमय ऐश्वर्य से युक्त करके (प्रजाभ्यः अयक्ष्माय) प्रजाओं के रोग-सन्ताप के नाश करने के लिये (त्वा) तुझे (सु-जातम्) उत्तम गुणों और विद्याओं में सुविख्यात (जात-वेदसम्) विज्ञानवान् विद्वान् पुरुष को (संसृजामि) भली प्रकार नियुक्त करता हूँ ॥ शत० ६ । ५ । १ । ५ ॥

रुद्राः स॒थ्सृज्य॑ पृथि॒वीं बृहज्ज्योतिः॑ समी॒धिरे ।
तेषां॑ भानुरज॑स्र इच्छु॒क्रो दे॒वेषु॑ रोचते ॥ ५४ ॥

रुद्रा देवताः । अनुष्टुप् । गान्धारः ॥

भा०—(रुद्राः) प्राणरूप से सूक्ष्म, प्राकृतिक, जीवनप्रद, परमाणु रूप वायुएं या रश्मियां जिस प्रकार (बृहत् ज्योतिः) महान् दीप्ति स्वरूप सूर्य तेजको (संसृज्य) परस्पर मिलकर उत्पन्न करके (पृथिवीम्) पृथिवी को भी (सम् ईंधिरे) खूब प्रज्वलित और प्रकाशित करते हैं (तेषाम्) उनमें से (भानुः इत्) यह ज्योतिर्मय 'अग्नि तत्त्व' है जो (अजस्रः) कभी क्षीण न होकर, (शुक्रः) सदा कान्तिमान् होकर, समस्त (देवेषु) देव, दिव्य पदार्थों में (रोचते) प्रकाशित होता है ।

उसी प्रकार (रुद्राः) दुष्टों को रलाने वाले वीर पुरुष (संसृज्य) परस्पर मिल कर एक व्यवस्थित राष्ट्र बनाकर (पृथिवीम्) पृथिवी पर (बृहत् ज्योतिः) सूर्य के समान बड़े भारी तेजस्वी सम्राट् को (सम् ईधिरे) मिल कर प्रज्वलित करते, उसको बहुत तेजस्वी बना देते हैं । (तेषाम्) उनमें से (अजस्रः) शत्रुओं से कभी विनष्ट न होने वाला (भानुः) सूर्य के समान तेजस्वी, (शुक्रः) शुद्ध, कान्तिमान् वह राजा (इत्) ही (देवेषु) विद्वानों और राजाओं में (रोचते) बहुत प्रकाशित होता है ।
शत० ६ । ५ । १ । ७ ॥

संश्रुष्टां वसुभी रुद्रैर्धीरैः कर्मण्यां मृदम् ।

हस्ताभ्यां मृद्धीं कृत्वा सिनीवाली कृणोतु ताम् ॥ ५५ ॥

सिनीवालो देवता । विराडनुष्टुप् । गान्धारः ॥

भा०—जिस प्रकार (हस्ताभ्याम्) हाथों से (मृदम्) मिट्टी को (मृद्धीं कृत्वा) कोमल करके, सान २ करके, जलों से मिलाकर शिल्पी या कुम्भार उसको (कर्मण्यां करोति) घड़ा आदि नाना पदार्थों को बनाने के काम का बना लेता है, उसी प्रकार (सिनीवाली) परस्पर बांधने में समर्थ शक्तियों को अपने में गूढ़रूप से धारण करनेवाली, महती ब्रह्मशक्ति (धीरैः) क्रियाशील, धारणपोषणसमर्थ, (वसुभिः) जीवों को वास करानेवाले आठ विकारों और (रुद्रैः) रोदनकारी, रोगहारी, प्राणों से (संश्रुष्टाम्) भली प्रकार संशुक्त हुई (मृदम्) सब प्रकार से मर्दन करने योग्य, नाना विकारवती प्रकृति को (हस्ताभ्यां) संयोग, विभागरूप हाथों से (मृद्धीं कृत्वा) मृदु, विकृत होने योग्य करके (कर्मण्याम्) सृष्टि के नाना पदार्थों के रचने योग्य (कृणोतु) करती है । इसी प्रकार कन्याओं के पक्ष में—(सिनीवाली) प्रेमबद्ध कन्याओं की रक्षिका, हाथों

५५—संश्रुष्टां सिनीवाली देवत्य । सर्वा० ॥

से कोमल करके मिट्टी को जिस प्रकार जलों से मिलाकर योग्य बना लेते हैं उसी प्रकार (वसुभिः) २४ वर्ष के, (रुद्रैः) ३६ वर्ष के (धीरैः) बुद्धिमान् धारणावान् विद्वान् पुरुषों से (संसृष्टां) संसर्ग को प्राप्तहोने, योग्य कन्याओं को (कर्मण्यां कृणोतु) गृहस्थ के प्रजोत्पादन आदि कार्यों के योग्य (कृणोतु) वनावें ॥ शत० ६ । ५ । १ । ९ ॥

राजपक्ष में—(सिनीवाली) राष्ट्र को नियम में बांधनेवाली राज-सभा (वसुभिः) विद्वान्, (रुद्रैः) वीर्यवान्, धीर पुरुषों से (संसृष्टां) बनी हुई (मृदम्) पृथिवीवासिनी प्रजा को (हस्ताभ्यां) दमन करने के बाह्य और आभ्यन्तर, प्रकट और अप्रकट साधनों से (मृद्धीं) कोमल, विनीत बनाकर (कर्मण्यां करोतु) उत्तम कर्म करनेवाली बनाये । 'मृत्' यहां सामान्य प्रजा का वाचक उसी प्रकार है जैसे वह प्रजा का वाचक है ।

सिनीवाली सुकपर्दा सुकुरीरा स्वौपशा ।

सा तुभ्यमदिते मह्योखां दधातु हस्तयोः ॥ ५६ ॥

अदितिर्देवता । विराड् अनुष्टुप् । गान्धारः स्वरः ॥

भा०—हे (अदिते) अखण्डित प्रजातन्त्ररूप आनन्दवाली गृहिणी ! हे (महि) पूजनीय ! जो (सिनीवाली) प्रेमबन्धन से युक्त, (सुकपर्दा) उत्तम केशवाली, (सुकुरीरा) उत्तम आभूषणवाली, (स्वौपशा) उत्तम अंगोंवाली है (सा) वह (तुभ्यम्) तेरे लिये (हस्तयोः) हाथों में (उखाम् इव) डेग या पात्र के समान (उखाम्) 'उखा' अर्थात् अर्थात् प्रजापति के सन्तान प्रसव के कर्म को (आदधातु) धारण करे ॥ शत० ६ । ५ । १ । १० ॥

अर्थात् घर में सुन्दर सुभूषित, सुकुमारियां वधू आवें और वे गर्भ धारण कर उत्तम सन्तान उत्पन्न करें ।

५६—उखामादित्या । अनन्त० ॥

‘उखा’—आत्मा वा उखा । श० ६ । ५ । ३ । ४ ॥ उदरम् उखा ।
 श० ७ । ५ । १ । ३८ ॥ योनिर्वा उखा । श० ७ । ५ । २ । २ ॥
 इमे वै लोका उखा । श० ६ । ५ । २ । १८ ॥ प्राजापत्यम् एतत् कर्म
 यदुखा । श० ६ । ५ । २ । १७ ॥

ब्रह्मपक्ष में—हे अदिते ! अखण्ड आनन्दमय ब्रह्मशक्ते ! (तुभ्यम्)
 तेरे प्राप्त करने के लिये (सिनीवाली) सर्वनियमकारिणी (सु-कपर्दा)
 सुखमयी (सु-कुरीरा) उत्तम कर्ममयी, (स्वौपशा) उत्तम योग-निद्रा,
 समाधिकाल में स्थिर (सा) वह चितस्थिति (उखां आदधातु) ऊर्ध्व
 पद को प्राप्त करनेवाले आत्मा को सदा धारण करे ।

राष्ट्र पक्ष में—हे (अदिते) अखण्ड शासनशक्ति ! सिनीवाली
 नामक सभा ! उत्तम कपर्द = अर्थात् राज्य प्रबन्धवाली वह राजनीति उत्तम
 कर्मवाली, उत्तम व्यवस्थावाली, तेरे समस्त पृथिवीनिवासी लोगों को
 हाथ में कलसी के समान धारण करे ।

उखां कृणोतु शक्त्या बाहुभ्यामदितिर्धिया । माता पुत्रं यथो-
 पस्थे सार्गिन् विभर्तु गर्भं आ । मखस्य शिरोऽसि ॥ ५७ ॥

अदितिर्देवता । भुरिग् बृहती । मध्यमः ॥

भा०—शिल्पी जिस प्रकार (बाहुभ्याम्) अपनी बाहुओं से (उखां
 कृणोति) मट्टी से हांडी बनाता है उसी प्रकार परमेश्वर (धिया)
 धारण आकर्षण करने वाली (शक्त्या) शक्ति से (उखां) इस पृथ्वी को
 (कृणोतु) बनाता है । और (यथा) जिस प्रकार (माता) माता (उपस्थे)
 अपनी गोद में (पुत्रं आ विभर्ते) पुत्र को धारण और पालन करती है
 उसी प्रकार (सः) वह (उखा) पृथिवी (गर्भं) अपने भीतर (अग्निम्)
 अग्नि के समान तेजस्वी राजा को (आ विभर्तु) धारण करे और उसी

५७—मखस्य मृत्पिण्डः । सर्वा० ॥

प्रकार (सा) ब्रह्म पृथिवी के समान (उखां) उत्तम सन्तान उत्पन्न करने में समर्थ स्त्री भी (गर्भे) अपने गर्भ में (अग्निम्) तेजस्वी वीर्य को (आ विभक्तुं) प्रेम से धारण करे। हे राजन् ! हे गृहपते ! तू (मखस्य शिरः असि) यज्ञ और ऐश्वर्यमय राष्ट्र का शिर, मुख्य है। इसी प्रकार हे गर्भगत वीर्य ! तू (मखस्य) शरीर रचना रूप यज्ञ का (शिरः असि) आश्रय रूप मुख्य अंश या प्रारम्भरूप है ॥ शत० ६ । ५ । १ । ११ ॥

१ वसवस्त्वा कृण्वन्तु गायत्रेण छन्दसाऽङ्गिरस्वद्भुवासि पृथिव्यासि धारया मयि प्रजा५ रायस्पोषं गौपत्यथं सुवीर्यथं सजातान्यजमानाय २ रुद्रास्त्वा कृण्वन्तु त्रैपुमेन छन्दसाङ्गिरस्वद्भुवास्यन्तरिक्षमसि धारया मयि प्रजा५ रायस्पोषं गौपत्यथं सुवीर्यथं सजातान्यजमानाय ३ दित्यास्त्वा कृण्वन्तु जागतेन छन्दसाङ्गिरस्वद्भुवासि द्यौरसि धारया मयि प्रजा५ रायस्पोषं गौपत्यथं सुवीर्यथं सजातान्यजमानाय ४ विश्वेत्वा देवा वैश्वानराः कृण्वन्त्वानुष्टुमेन छन्दसाङ्गिरस्वद्भुवासि दिशोऽसि धारया मयि प्रजा५ रायस्पोषं गौपत्यथं सुवीर्यथं सजातान्यजमानाय ॥ ५८ ॥

वसुरुद्रादित्यविश्वदेवा देवताः । (१, २) भुरिग् जगती । (३) जगती
(४) भुरिगतिजगती । निषादः ॥

भा०—गृहस्थ प्रकरण में—हे स्त्री ! तुझे (वसवः) राष्ट्र में बसने वाले विद्वान् पुरुष (गायत्रेण छन्दसा) गायत्र छन्द से (अंगिरस्वत्) शरीर में विद्यमान प्राण के समान मेरे हृदय-गृह में प्रिय (कृण्वन्तु) बनावें । तू (भुवा असि) गृहस्थ व्रत में अचल हो, (पृथिवी असि) पृथिवी के समान सबका आश्रय (असि) हो । (मयि)

१—चतुर्थ्ये सप्तमी ।

मेरे लिये (प्रजाम्) सन्तान को अपने भीतर (धारय) धारण कर, (रायस्पोषं) धनैश्वर्य की समृद्धि, (गौपत्यम्) गौ आदि पशुओं की सम्पत्ति और (सुवीर्यम्) उत्तम वीर्य से उत्पन्न, अनुरूप पुत्रों और भाइयों को (यजमानाय) विद्या के प्रदान करने वाले आचार्य के अधीन कर । इसी प्रकार स्त्री भी वरण योग्य पति से कहे-हे प्रियतम ! (वसवः) वसु नाम विद्वान् गण (गायत्रेण छन्दसा) वेदोपदिष्ट प्राणों, इन्द्रियों और वीर्यों की रक्षा के सुदृढ़ उपाय से तुझको (अङ्गिरस्वत् कृण्वन्तु) अग्नि के समान तेजस्वी और अंग या शरीर में रस के समान प्रवाहित होने वाले प्राणके समान प्रिय बना देवें । हे प्रिययम ! आप (ध्रुवः पृथुः असि) पर्वत के समान अचल और पृथ्वी के समान विशाल सर्वाश्रय हो । आप (मयि) मुझ अपनी प्रियतमा स्त्री में (प्रजाम्) प्रजा (रायः-पोषम्) धन समृद्धि (गौपत्यम्) पशु सम्पत्ति (सुवीर्यम्) उत्तम वीर्य (धारय) धारण कराओ और (सजातान्) हम दोनों के समान वीर्य से उत्पन्न पुत्रों को (यजमानाय) विद्या के प्रदाता आचार्य विद्वान् पुरुष के अधीन रख । इसी प्रकार (रुद्रः) रुद्र नामक विद्वान् नैष्ठिक पुरुष (त्रैष्टुभेन छन्दसा) वेदोक्त त्रिष्टुभ् छन्द से (अङ्गिरस्वत् कृण्वन्तु) ज्ञान और वीर्य से तेजस्वी बनावें । (आदित्याः) आदित्य के समान तेजस्वी विद्वान् (जागतेन छन्दसा) जागत, अर्थात् लोकोपकारी वृत्ति की शिक्षा से तुझे (अङ्गिरस्वत्) ज्ञानवान्, तेजस्वी बनावें । और (वैश्वानराः) समस्त नेता पुरुषों के नेताओं में भी उच्चपदों पर विराजमान (विश्वे देवाः) समस्त दानशील एवं दर्शनशील राजा और विद्वान् लोग (आनुष्टुभेन छन्दसा अङ्गिरस्वत् कृण्वन्तु) आनुष्टुभ छन्द से अर्थात् परस्पर एक दूसरे के अनुकूल व्यवस्था पूर्वक रहने की शिक्षा से सूत्रात्मक वायु के समान प्रिय बनावें (ध्रुवा असि० यजमानाय ३ इत्यादि) पूर्ववत् । शत० ६ । ५ । २ । ३—६ ॥

राजपक्ष में—हे पृथिवि ! हे राजन् ! तुझको (गायत्रेण छन्दसा)

गायत्रछन्द, अर्थात् ब्राह्मण बल से (वसवः) वसु नामक विद्वान्गण (अंगिरस्वत्) अग्नि, सूर्य और वायु और आकाश के समान तेजस्वी बलवान् और व्यापक बनावें । (रुद्राः) शत्रुओं को रूलाने में समर्थ वीर सैनिक (त्रेष्टुभेन छन्दसा) क्षात्रबल से तुझको तेजस्वी बनावें । (आदित्यैः) आदान कुशल वैश्यगण से तुझको तेजस्वी ऐश्वर्यवान् बनावें । (वैश्वानराः) समस्त प्रजा के नेता लोग (आनुष्टुभेन छन्दसा) परस्परानुकूल व्यवहार से युक्त श्रमी वर्ण के बल से तुझे बलवान् बनावें । हे पृथिवी ! तू पृथिवी है । तू (ध्रुवा असि) ध्रुव, स्थिर है । तू (मयि) मुझ राष्ट्रपति के लिये (प्रजां, रायःपोषम्, गौपत्यं, सुवीर्यं धारय) प्रजा, धनैश्वर्य, पशु समृद्धि, उत्तम वीर्य धारण कर । (यजमानाय सजातान्) मेरे समान बलशाली राजाओं को भी मुझ यज्ञशील राष्ट्रपति के अभ्युदय के लिये (धारय) धारण कर ।

अदित्यै रास्नास्यदितिष्टे विलं गृम्णातु । कृत्वाय सा महीमुखां मृन्मयीं योनिमृग्नये । पुत्रेभ्यः प्रायच्छददितिः श्रपयानिति ॥५९॥

अदितिर्देवता । आर्षी त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—हे विदुषि स्त्रि ! तू (अदित्यै) अदिति अर्थात् अखण्ड विद्या का (रास्ना) दान करनेवाली (असि) है । हे विद्ये ! (ते विलम्) तेरे विज्ञानप्रकाश, या गूढ़ रहस्य को (अदितिः) अखण्ड व्रत का पालन करनेवाला कुमार और कुमारी (गृम्णातु) ग्रहण करे । (अदितिः) पुत्रों की माता जिस प्रकार (मृन्मयीम् उखां कृत्वाय) मट्टी की हांडी को बना कर (पुत्रेभ्यः प्रायच्छत्) पुत्रों को दे देती है और आज्ञा दे दिया करती है कि (श्रपयान् इति) उसको आग पर पकाओ । उसी प्रकार (सा) वह विदुषी माता (महीम्) पूजनीय

५९—अदित्यै रास्ना देवता । सर्वा० ।

(अग्नये) अग्निस्वरूप ज्ञानवान् आचार्य के अधीन (योनिम्) अपने पुत्र पुत्रियों के आश्रय निवासस्थान में प्राप्त होनेवाली (उखाम्) उत्तम फलदात्री विद्या को (कृत्वाय) प्राप्त करके (अदितिः) स्वयं अखण्ड व्रत होकर, विद्या का प्रदानकर्ता आचार्य, (पुत्रेभ्यः प्रायच्छत्) पुत्रों को विद्या प्रदान करे। और कहे कि इस ब्रह्मविद्या रूप परम आनन्दरस की दात्री को (श्रपयान् इति) तप द्वारा परिपक्व करो ॥ शत० ६।५।५।१२ ॥

वसवस्त्वा धूपयन्तु गायत्रेण छन्दसाङ्गिरस्वद् रुद्रास्त्वा धूपयन्तु त्रैष्टुभेन छन्दसाङ्गिरस्वदादित्यास्त्वा धूपयन्तु जागतेन छन्दसाङ्गिरस्वत्। विश्वे त्वा देवा वैश्वानरा धूपयन्त्वानुष्टुभेन छन्दसाङ्गिरस्वदिन्द्रस्त्वा धूपयतु वरुणस्त्वा धूपयतु विष्णुस्त्वा धूपयतु ॥ ६० ॥

वस्वादयो लिङ्गोक्ता देवताः । स्वराट् संकृति गान्धारः ॥

भा०—हे पृथिवि ! (गायत्रेण) पूर्वोक्त गायत्र छन्द, (त्रैष्टुभेन छन्दसा) त्रैष्टुभ छन्द और (जागतेन छन्दसा) जागत छन्द और (आनुष्टुभेन छन्दसा) वेदोक्त अनुष्टुभ छन्द इन सबके अध्ययन, मनन-द्वारा एवं पूर्वोक्त ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं श्रमी प्रजाओं के परस्पर प्रेम व्यवहार से (अङ्गिरस्वत्) अग्नि या ज्ञानवान् के समान विदुषी, तेजस्विनी, समृद्ध (त्वा) तुझको (वसवः) वसु नामक विद्वान् प्रजागण, (रुद्राः) रुद्र नामक नैष्ठिक, राष्ट्र के प्राणस्वरूप शत्रुनाशक लोग (आदित्याः) आदित्य के समान तेजस्वी और (विश्वेदेवाः) समस्त देवगण जो (वैश्वानरा) वैश्वानर अग्नि के समान सर्व प्रकार या समस्त प्रजा के नेता लोग हैं वे लोग (धूपयन्तु) तुझे सुसंस्कृत करें तुझे शिक्षित करें। (इन्द्रः) ऐश्वर्यवान् राजा (वरुणः त्वा धूपयतु) सर्व श्रेष्ठों का वारक, शासक तुझे उत्तम संस्कृत करे। (विष्णुः) व्यापक शक्तिका स्वामी राजा (त्वा धूपयतु) तुझे शुद्ध

एवं संस्कृत, सुशिक्षित करे । ब्रह्मचारिणी पक्ष में—वसु आदि विद्वान् गायत्री आदि वेदोक्त मन्त्रों द्वारा कन्याओं और कुमारों को शिक्षित और संस्कार युक्त करें । (वरुणः विष्णुः) आचार्य, विद्या के लिये गुरुरूप से चरण करने योग्य और समस्त विद्याओं में व्यापक विद्वान् आचार्य जन भी तुझे शिक्षित करे ॥ शत० ६ । ५ । ३ । १० ॥

‘धूपयन्तु’—धूप भाषार्थः । चुरादिः ॥ ‘सुगन्धान्नादिभिः, विद्या सुशिक्षाभ्यां, सत्यव्यवहारग्रहणेन, राजविद्यया राजनीत्या संस्कृवन्तु, इति श्रीदयानन्दर्षिः ।

‘अदितिंष्ट्वा देवी विश्वदेव्यावती पृथिव्याः सधस्थेऽ अङ्गिरस्वत् खनत्ववट देवानां त्वा पत्नीर्देवीर्विश्वदेव्यावतीः पृथिव्याः सधस्थे अङ्गिरस्वदधत्तूखे धिपणास्त्वा देवीर्विश्वदेव्यावतीः पृथिव्याः सधस्थे अङ्गिरस्वदभीन्धताम् उखे वरूत्रीष्ट्वाम् देवीर्विश्वदेव्यावतीः पृथिव्याः सधस्थे अङ्गिरस्वच्छपयन्तूखे र्नास्त्वा देवीर्विश्वदेव्यावतीः पृथिव्याः सधस्थे अङ्गिरस्वत् पचन्तूखे जनयस्त्वाच्छन्नपत्रा देवीर्विश्वदेव्यावतीः पृथिव्याः सधस्थे अङ्गिरस्वत्पचन्तूखे ॥ ६१ ॥

अदित्यादयो लिङ्गोक्ता देवताः । (१) भुरिक् कृतिः । निषादः ।

(२) प्रकृतिः । धैवतः ॥

भा०—विद्वान् पुरुष जिस प्रकार गढ़े को खोदता है उसी प्रकार हे (अवट) रक्षण करनेहारे पुरुष ! (विश्वादेव्य-वतीः *) समस्त विद्वानों के योग्य ज्ञानों से पूर्ण (अदितिः) अत्रण्डितर अजशक्ति (पृथिव्याः सधस्थे) पृथिवी के पीठ पर (अङ्गिरस्वत्) शरीर में प्राणशक्ति के समान (त्वा) तुझे (खनतु,) खने, गुरुरूप में छिपे, तुझे खोद के

६१—अदितिरावम् । देवानां पञ्चौखानि । त्वां० ॥ मतौ दीर्घः पा० ६ । ३ । १३ । १॥

प्राप्त करे । और (देवानां पत्नीः) देवों, विद्वानों और राजा के पालन करनेवाली राजसभाएं, राजर्षि महर्षिओं के समान (विश्वदेव्य-वतीः) समस्त विद्वानों से प्राप्त ज्ञानों से युक्त होकर (पृथिव्याः सधस्थे) पृथिवी के ऊपर, हे (उखे) उखे ! पृथिवी ! (त्वा दधतु) तुझे वे धारण करें । हे (उखे) उखे ! पृथिवी ! (विश्वदेव्य-वतीः) विद्वानों के ज्ञानों से पूर्ण (धिपणाः देवीः) उत्तम वाणी से युक्त बुद्धियां या सभाएं (पृथिव्याः सधस्थे) पृथिवी के ऊपर (त्वा अभि इन्धताम्) तुझे प्रज्वलित करें । तुझे तेजस्वी और यशस्वी करें । हे (उखे) उखे ! पृथिवी ! प्रजे ! (विश्वदेव्य-वतीः) समस्त ज्ञानों से युक्त (वरुत्रीः देवीः) श्रेष्ठ, राजशक्तियां (पृथिव्याः सधस्थे) पृथिवी के ऊपर (त्वा श्रपयन्तु) तुझे परिपक्व, तपस्वी और दृढ़ बलवान् बनावें । हे (उखे) पृथिवी ! प्रजे ! (विश्वदेव्य-वतीः) ग्नाः देवीः) समस्त ज्ञानों और राजबलों से युक्त व्यापक वेदवाणियां और स्त्रियां या व्यापक राजशक्तियां (पृथिव्याः सधस्थे) पृथिवी के ऊपर (अङ्गिरस्वत्) आग पर रखी हांडी के अंगारों के समान (त्वा पचन्तु) तुझे परिपक्व करें । और (अल्लिन्नपत्राः) अल्लिन्न या अखण्डित रथों वाली (जनयः) प्रजाएं (विश्वदेव्य-वतीः) समस्त विजयोपयोगी सामग्री से युक्त इस (पृथिव्याः सधस्थे) पृथिवी के ऊपर, हे (उखे) उखे ! पृथिवी ! हे प्रजे ! (त्वा) तुझको (अङ्गिरस्वत्) हांडी को अंगारों के समान (पचन्तु) पक्व करें । कन्या आदि सन्तानों के पक्षमें — (अदितिः) विदुषी माता (अवटं त्वा खनतु) तुझ बालक को प्राप्त करें । (धिपणाः) विदुषी स्त्रियां, (वरुत्रीः) श्रेष्ठ रक्षाकर्त्री-स्त्रियां, (प्राः) वेदवाणियों के समान ज्ञानपूर्ण वा उत्तम आचारवाली स्त्रियां और (अल्लिन्नपत्राः जनयः) अखण्डिताचार वाली स्त्रियां, अंगारों पर जिस प्रकार हांडी पकाई जाती है उसी प्रकार प्रजा को भी (दधतु) धारण पोषण करें, (अभि इन्धताम्) विद्यादि गुणों से प्रज्वलित करें, (श्रपयन्तु,

पचन्तु, पचन्तु) ब्रह्मचर्यं व्रत पालनादि से मन वाणी और शरीर को परिपक्व, दृढ़ करें ॥ शत० ६ । ५ । ४ । १-८ ॥

मित्रस्य चर्षणीधृतोऽवो देवस्य सानसि ।

द्युम्नं चित्रश्रवस्तमम् ॥ ६२ ॥

विश्वामित्र ऋषिः । मित्रो देवता निचृद् गायत्री । षड्जः स्वरः ॥

भा०—(मित्रस्य) प्रजा को मरने से बचानेवाले (चर्षणीधृतः) प्रजाओं को धारण पोषण करने में समर्थ, (देवस्य) देव, राजा के (सानसि) सदा से चले आये, (चित्रश्रवःस्तमम्) विचित्र अन्न आदि भोग्य पदार्थों से समृद्ध (द्युम्नम्) ऐश्वर्य को हे प्रजे ! हे पृथिवि ! तू (अवः) प्राप्त हो । इसी प्रकार स्त्री के पक्ष में—स्त्री अपने मित्रभूत, प्रजा के पालक (देवस्य) कमनीय पति की नाना धनःसम्पत्ति को प्राप्त करे ॥ शत० ६ । ५ । ४ । १० ॥

देवस्त्वा सवितोद्वपतु सुपाणिः स्वङ्गुरिः सुबाहुस्त शक्त्या ।
अव्यथमाना पृथिव्यामाशा दिश आर्पण ॥ ६३ ॥

सविता देवता । भुरिग्वृहती । मध्यमः ॥

भा०—(सविता देवः) सूर्य के समान तेजस्वी राष्ट्र का संचालक देव, विद्वान् राजा हे पृथिवि ! (सु-पाणिः) उत्तम पालन करनेवाले साधनों से युक्त, (सु-अङ्गुरिः) उत्तम अंगों, राज्य के समस्त अंगों से सम्पन्न, (सु-बाहुः) शत्रुओं को बांधनेवाले उत्तम सेना, आयुध आदि से युक्त होकर (उत) और (शक्त्या) शक्ति से युक्त होकर (त्वा) तुझको (उद् वपतु) स्वीकार करे और उत्तम बीज वपन करे । इसी प्रकार (सु-पाणिः) उत्तम हाथोंवाला (सु-अङ्गुरिः) उत्तम अंगुलियों वाला, (सु-बाहुः) उत्तम बाहुबल (उत शक्त्या) और उत्तम शक्ति से युक्त होकर हे स्त्रि ! (त्वा उद्वपतु) तुझ में सन्तानार्थ बीज वपन करे । हे प्रजे ! तू (अव्यथमाना) किसी प्रकार का कष्ट न पाती हुई (पृथिव्याम्)

इस भूतल पर (आशाः दिशः) समस्त दिशाओं और उपदिशाओं को भी (आ पूण) पूर ले, अर्थात् फल फूलकर सर्वत्र फैल जा । और हे स्त्री ! तू अपने पति द्वारा कभी पीड़ित न होकर इस पृथिवी पर (आशाः दिशः) अपनी समस्त कामनाओं और दिशाओं, उत्तम शिक्षाओं को भी पूर्ण कर ॥ शत० ॥ ६ । ५ । ४ । ११, १२ ॥

उत्थाय बृहती भवोदु तिष्ठ ध्रुवा त्वम् ।

मित्रैतां त उखां परिददाम्यभित्या ऽएषा मा भेदि ॥ ६४ ॥

उखा [कन्या] मित्रश्च देवते । अनुष्टुप् । गान्धारः ॥

भा०—हे प्रजे ! तू (उत्थाय) उठकर, अभ्युदयशील होकर (बृहती भव) बहुत बड़ी हो । तू (उत् तिष्ठ) उदय को प्राप्त हो, उठ, (ध्रुवा त्वम्) तू ध्रुवा है, सदा स्थिर रहने वाली है । हे (मित्र) प्रजा के सुहृद्-रूप जेहो राजन् ! (उखाम्) नाना ऐश्वर्यों को प्रदान करने वाली इस प्रजा को हांडी के समान (ते परि) तेरे अधीन (अभित्यै) कभी छिन्न भिन्न न होने देने के लिये (ददामि) प्रदान करता हूँ । देखना, (एषा) यह (मा भेदि) कभी टूट न जाय, कभी छिन्न भिन्न न हो, कलह से नष्ट न हो ॥

इसी प्रकार हे स्त्री ! तू उठकर बड़े पुरुषार्थ वाली हो । उठ, तू स्थिर होकर खड़ी हो । हे मित्रवर ! स्नेहशील इस (उखां) प्रजाको खनन या प्राप्त कराने वाली स्त्री को तुझे सौंपता हूँ, तुझ से कभी अलग न होने के लिये प्रदान करता हूँ । यह तुझ से भिन्न होकर न रहे ॥ शत० ६ । ५ । ४ । १३ ॥

वसवस्त्वाछन्दन्तु गायत्रेण छन्दसाङ्गिरस्वद्रुद्रास्त्वाछन्दन्तु
त्रैष्टुभेन छन्दसाङ्गिरस्वदादित्यास्त्वाछन्दन्तु जागतेन छन्द-
साङ्गिरस्वद्विश्वे त्वा देवा वैश्वानरा ऽआछन्दन्त्वानुष्टुभेन छन्द-
साङ्गिरस्वत् ॥ ६५ ॥

६४—उत्थाय पूर्वोर्ध्व औख उत्तरो मैत्रः । सर्वा० ॥

वस्वादयो लिङ्गोक्ता देवताः । भुरिग् धृतिः । षड्जः ॥

भा०—हे उखे ! पृथिवीवासिनी प्रजे ! (त्वा) तुझको (वसवः) प्रजाओं को बसाने में समर्थ वसु नामक विद्वान् (गायत्रेण छन्दसा) पूर्वोक्त गायत्र छन्द, ब्राह्मण शक्ति से (अंगिरस्वत्) अग्नि के समान तेज से युक्त होकर (आच्छन्दन्तु) तेजस्वी बनावें । (रुद्राः त्रैष्टुभेन छन्दसा अङ्गिरस्वत् आच्छन्दन्तु) अंगारे जिस प्रकार हंडिया को तपाते हैं उसी प्रकार रुद्र नामक विद्वान् तेजस्वी पुरुष तुझको त्रैष्टुप् छन्द से तेजस्वी, और ज्ञानवान् करें । (आदित्याः त्वा जागतेन छन्दसा आच्छन्दन्तु अङ्गिरस्वत्) आदित्य नामक विद्वान् अग्नि के समान तुझको जागत छन्द से तेजस्वी, पराक्रमशील समृद्धिमान् करें । (वैश्वानराः) समस्त प्रजाओं के नेता (विश्वे देवाः) समस्त विद्वान् पुरुष (आनुष्टुभेन छन्दसा) अनुष्टुप् छन्द से (अङ्गिरस्वत्) प्रदीप्त अग्नि के समान या सूर्य की किरणों के समान (त्वा आच्छन्दन्तु) मुखे प्रदीप्त, उज्ज्वल, सम्पन्न, वैभवयुक्त करें ॥ शत० ६ । ५ । ४ । १७ ॥

हे स्त्री वा पुरुष ! तुमको वसु, रुद्र, आदित्य और विश्वेदेव नामक विद्वान् गायत्री आदि वेद मन्त्रों से ज्ञानवान् तेजस्वी करें ।

आकूतिमग्निं प्रयुज॑ स्वाहा मनो मेधामग्निं प्रयुज॑ स्वाहा
चित्तं विज्ञातमग्निं प्रयुज॑ स्वाहा वाचो विधृतिमग्निं प्रयुज॑ स्वाहा । प्रजापतय॑ मनवे स्वाहाग्नये॑ वैश्वानराय॑ स्वाहा ॥ ६६ ॥

अग्न्यादयो मन्त्रोक्ता देवताः । वराह ब्राह्मी त्रैष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—(आकूतिम्) समस्त अभिप्रायों का ज्ञान करनेवाली, प्रोत्साहक शक्ति और उसके (प्रयुजम्) प्रयोग करनेहारे (अग्निम्) ज्ञानवान् आत्मा को (स्वाहा) यथार्थ सत्य क्रिया के अभ्यास से जानो । (मनः) मनन करनेवाले अन्तःकरण और (मेधाम्) धारणावती बुद्धि को और (अग्निम्)

६६—आकूतिं लिगाक्तान्याद्ग्रभणानि । सर्वा० ।

प्रयुजम्) उसके प्रेरक अग्नि आत्मा को या विद्युत् शक्ति को (स्वाहा) उत्तम योग-क्रिया द्वारा प्राप्त करो। (चित्तम्) चिन्तन करनेवाले (विज्ञा-त्म्) विशेष ज्ञान के साधन और (प्रयुजम्) उसके प्रेरक (अग्निम्) अग्नि के समान प्रकाशित आत्मा को (स्वाहा) उत्तम रीति से जानो। (वाचः विधृतिम्) वाणी को विशेषरूप से धारण करनेवाले अग्नि, विद्युत् शक्ति को (स्वाहा) उत्तम रीति से प्राप्त करो। हे पुरुषो! आप लोग (मनवे) मननशील (प्रजापतये) प्रजा के पालक पुरुष का (स्वाहा) उत्तम आदर सत्कार करो, (वैश्वानराय) समस्त पुरुषों से प्रकाश-मान, सबके हितकारी (अग्नये) सबके प्रकाशक, परमेश्वर या विद्वान् का (स्वाहा) उत्तम रीति से स्तवन, गुणगान करो ॥ शत० ६। १। १। १५-२० ॥

विश्वो देवस्य नेतुर्मर्त्तो वुरीत सख्यम् ।

विश्वो राय इषुध्यति द्युम्नं वृणीत पुष्यसे स्वाहा ॥ ६७ ॥

आत्रेय ऋषिः । सविता देवता । अनुष्टुप् । गान्धारः ॥

भा०—(विश्वः मर्त्तः) समस्त मनुष्य (देवस्य नेतुः) सबके नायक राजा और विद्वान् एवं सब सुखों के प्रापक परमेश्वर के (सख्यं वुरीत) प्रेम या मित्रता को चाहें। (विश्वः) समस्त मनुष्य ही (राये) ऐश्वर्य के लिये (इषुध्यति) ईश्वर से प्रार्थना करते अथवा (इषुध्यति) पराक्रम से शस्त्रादि धारण करते या आकांक्षा करते हैं और (पुष्यसे) पुष्ट होने के लिये (स्वाहा) सत्य व्यवहार द्वारा वे (द्युम्नं वृणीत) धन ऐश्वर्य को प्राप्त करें ॥ शत० ६। ६। १। २१ ॥

मा सु भित्था मा सु रिषोऽम्ब धृणु वीर्यस्व सु ।

अग्निश्चेदं करिष्यथः ॥ ६८ ॥

अम्बा देवता । गायत्री । षड्जः ॥

भा०—हे (अम्ब) राजा के मातृवत् मान्य प्रजे! एवं पुरुष के आदर योग्य

स्त्री ! तू (मा सु भित्थाः) राजा एवं अपने पालक पति से भेद या द्रोह मत कर । (मा सु रिषः) अपने हित के लिये कभी विनष्ट मत हो, अपना नाम मत कर या अपने पालक पति या राजा का घात मत कर । हे (अम्ब) हे स्त्री ! पुत्रों की माता के समान तू (धृष्णु) दृढ़ता से (सु वीर्यस्व) अपने ही हितार्थ पराक्रम और बल के कार्य कर । तू (अग्निः च) अग्नि के समान तेजस्वी राजा और प्रजा दोनों मिलकर राज्य के समस्त कार्य करें और अग्नितत्त्व-प्रधान पति, वीर्यवान् पुरुष और सोम प्रधान स्त्री दोनों मिलकर गृहस्थ कार्य (करिष्यथः) करें ॥ शत० ६ । ६ । २ । ५ ॥

दृ॒ष्टं ह॑स्व देवि पृथिवि स्वस्तये ऽआसुरी माया स्वधया कृता असि ।
जुष्टं देवेभ्यः ऽइदमस्तु हव्यमरिष्टा त्वमुदिहि यज्ञे ऽअस्मिन् ॥ ६९ ॥

अम्बा देवता । त्रिष्टुप् । षड्जः ॥

भा०—हे (देवि पृथिवि) देवि ! पृथिवि ! तू (स्वधया) अन्न और जल से या स्वधा = अर्थात् शरीर को धारण पोषण करने वाली शक्ति से (असुरी माया) प्राणों की या प्राणों में रमण करने वाली जीवों या बलवान् बुद्धिमान् पुरुषों की प्रज्ञा या बुद्धि या चमत्कार करने वाली अद्भुत शक्ति से (कृता असि) बनाई जाती है, तैयार की जाती है । तू (स्वस्तये) कल्याण के लिये (दृहस्व) दृढ़ हो, वृद्धि को प्राप्त हो । (इदम् हव्यम्) यह अन्न, उपादेय भोग्य पदार्थ (देवेभ्यः) विद्वान्, विजयी पुरुषों को (जुष्टम् अस्तु) प्रिय लगे । (त्वम्) तू (अस्मिन् यज्ञे) इस यज्ञ में, इस यज्ञ, प्रजापति राजा के आश्रय रहकर (अरिष्टा) विना क्लेश पाये, अपीडित, सुखी, प्रसन्न रहती हुई (उद् इहि) उदय को प्राप्त हो, उन्नतिशील हो । पृथिवी के भीतर अग्नि है, उखा नाम हांडी के भीतर अग्नि रक्खी जाती है, आसुरी अर्थात् विस्फोटक बॉम्ब आदि में भीतर अग्नि है, इस उपमा के बल से

६८, ६९—मास्वौख्यौ । सर्वा० ॥

पृथिवी निवासी प्रजा भी अपने भीतर राजा, विद्वान् रूप अग्नि को धारण करके और गृहपत्नी पति के वीर्य रूप अग्नि (तेज) को धारण करके आसुरी माया प्राणधारक जीवन को गर्भ में धारनेवाली भूमि के समान हो जाती है ॥ शत० ६ । ६ । २ । ६

स्त्री-पक्ष में हे देवि ! तू (स्वधया कृता असि) अन्न से पुष्ट होकर कल्याण के लिये (दृंहस्व) वृद्धि को प्राप्त हो । तेरा यह अन्न विद्वानों को वृत्तिकर हो । तू इस यज्ञ, प्रजापति या गृहस्थ कार्य से (उदिहि) उदय को प्राप्त हो ।

द्रवन्नः सर्पिरासुतिः प्रत्नो होता वरेण्यः ।

सहसस्पुत्रोऽअद्भुतः ॥ ७० ॥ ऋ० २ । ७ । ६ ॥

सोमाहुतिर्भागैव ऋषिः । अग्निर्देवता । विराड् गायत्री । षड्जः ॥

भा०—(द्रु-अन्नः) अग्नि जिस प्रकार काष्ठों को जलाता है, वे ही उसके अन्न हैं । इसी प्रकार मनुष्य भी (द्रु-अन्नः) 'द्रु' अर्थात् ओषधि वनस्पतियों का आहार करने हारा है । (सर्पिरासुतिः) अग्नि जिस प्रकार घी से वदता है इसी प्रकार तू भी घृत के सेवन से वृद्धि को प्राप्त होने वाला अथवा सर्पिः, अर्थात् वीर्य को आसेचन करने में समर्थ है । वह (प्रत्नः) सदा से (वरेण्यः) स्वीकार करने योग्य, (होता) वीर्य आदि का आधानकर्त्ता, एवं पत्नी का प्रहीता है । वह (सहसः पुत्रः) बल से उत्पन्न एवं बलवान् पुंश्व से उत्पन्न होकर पुत्र रूप से (अद्भुतः) आश्चर्यजनक गुण, कर्म, सम्भाव वाला होता है ॥ शत० ६ । ६ । २ । १४ ॥

राजा पक्ष में—पृथिवी रूप उखा में राजा रूप अग्नि (द्रु-अन्नः) काष्ठादि को जलाने वाले अग्नि के समान तेजस्वी, (सर्पिरासुतिः) तेज से उत्पन्न, (प्रत्नः वरेण्यः होता) सभापतिरूप से वरने योग्य, सबका दाता, प्रतिप्रहीता, (सहसः) अपने बल पराक्रम से युक्त, (पुत्रः) बहुतों को दुःखों से त्राण करने में समर्थ (अद्भुतः) आश्चर्यकारी, प्रतापवान् है ।

इसी प्रकार स्त्री रूप उखा में ओषधि वनस्पतियों का परिणाम भूत वीर्य, तेजोमय, स्वीकार करने योग्य, गर्भ में आहुति के तुल्य है। वह बल से उत्पन्न आश्चर्यकारी है, जो पुत्र रूप से उत्पन्न होता है।

परस्या अधि संवतो ऽवरान् २५ अभ्यातर ।

यत्राहमस्मि ताँ २५ अत्र ॥ ७१ ॥ ऋ० ८ । ६४ । १५ ॥

विरूप आंगिरस ऋषिः । अग्निदेवता । विराड् गायत्री । षड्जः ॥

भा०—स्त्री-पक्ष में—हे कन्ये ! परस्याः) उत्कृष्ट गुणोंवाली कन्या की अपेक्षा (संवतः अधि) समान कोटि के और (अवरान्) नीची कोटि के पुरुषों को तू (अभि आतर) त्याग दे, मत वर । और (यत्र) जिस पदपर (अहम् अस्मि) मैं उत्कृष्ट पद का पुरुष स्थित हूँ तू भी (तान् अव) उनको वरण कर, उनको प्राप्त हो ।

राजा के पक्ष में—हे राजन् अग्ने ! (परस्याः) शत्रु सेना के साथ होनेवाले (संवतः अधि) युद्ध में स्थित हम (अवरान् अभ्यातर) समीपस्थों की रक्षा कर (यत्र अहम् अस्मि) मैं जहाँ स्थित हूँ (तान् अव) उन सब की रक्षा कर ॥ शत० ६ । ६ । ३ । १ ।

परमस्याः परावतो रोहिदश्व इहागहि ।

पुरीष्यः पुरुप्रियो ऽग्ने त्वं तरा मृधः ॥ ७२ ॥

आरुणिकः ऋषिः । अग्निदेवता । अरिगुणिक । ऋषमः ॥

भा०—हे राजन् ! तू (रोहिदश्वः) लाल वर्ण के या वेगवान् अश्व से युक्त होकर (परमस्याः) दूर से दूर की दिशा के (परावतः) दूर देश के भी (आ गहि) यहाँ आकर प्राप्त हो । हे अग्ने ! शत्रुतापक राजन् ! तू (पुरीष्यः) समृद्धिमान्, इन्द्रपद के योग्य, (पुरु-प्रियः) बहुत सी प्रजाओं को प्रिय होकर (त्वं मृधः) तू शत्रु सेनाओं को (तर) विनाश कर ।

गृहपति पक्ष में—हे अग्नि के समान तेजस्विन् ! पुरुष ! अग्नि आति वाहन-साधनों से समान होकर (परमस्याः कृते) परम श्रेष्ठ स्त्री को प्राप्त

करने के लिये (परावतः) दूर देश से भी (इह आगहि) यहां आ और (मृधः
तर) शत्रुओं या रोगों, कष्टों को विनाश कर, उनसे पार हो ॥ शत० ६।१।३।४॥

यदग्ने कानिकानि चिदा ते दारुणि दध्मसि ।

सर्वं तदस्तु ते घृतं तज्जुषस्व यविष्ठय ॥ ७३ ॥ ऋ० ८।११।२० ॥

जगदग्निर्ऋषिः । अग्निर्देवता । निचृदनुष्टुप् । गांधारः ॥

भा०—हे (अग्ने) प्रकाशस्वरूप तेजस्विन् अग्ने ! (यत्) जब (ते)
तेरे लिये (कानि कानि चित्) जो कुछ भी नाना प्रकार के (दारुणि
= दारुणि) काष्ठ जिस प्रकार अग्नि में रखे जाते हैं और उनको प्रज्वलित
करते हैं उसी प्रकार, हे राजन् ! (ते) तुझे हम (कानि-कानि चित्)
नाना प्रकार के कितने ही (दारुणि) हिंसा जनक, शत्रु के भयजनक,
शत्रु सेनाओं के विदारण करने में समर्थ शस्त्रास्त्र, साधन, अथवा आदर
योग्य उत्तम २ पदार्थ (आ दध्मसि) प्रदान करते हैं (तत्) वह (सर्वम्)
सब (ते) तेरा (घृतम्) तेजोवर्धक, प्रिय (अस्तु) हो । हे (यविष्ठय)
बलवन्, सबसे महान् (तत्) उसको (जुषस्व) तू प्रेम से स्वीकार कर ॥
शत० ६।१।३।५ ॥

‘दारुणि’—दारुणि इति यावत् । ‘दारुणि’ इति ऋग्वेदीयः शत-
पथीयश्च पाठः । ‘दारुणि’ इत्यत्र ‘रु’ इति ह्रस्वदछान्दसः । दारु दृणाते-
दृणातेर्वा, तस्मादेव दुः । इति निरु० ४ । ३ । ७ ॥ ‘दसनि’ ० इति
उणादि जुण् । दारु । दड् आदरे, दृ भये, भ्वादी । दृ हिंसायाम्, भ्वादिः ।
द विदारणे क्र्यादिः । द्रञ् हिंसायाम् ब्रथादिः । तेभ्यो जुण् । हिंसासाध-
नानि, आदरयोग्यानि, दारणसाधनानि आयुधानि दारुणि । ‘दारुणि’ इति
सप्तम्यन्तं पदम् इति श्री दया० ॥

पति पक्ष में—हे पते ! हम जितने भी (दारुणि) अग्नि में काष्ठों के
समान आदर योग्य पदार्थ तुझे प्रदान करें वे सब तुझे घृत के समान
पुष्टिजनक, तेजोवर्धक हों । हे उत्तम युवक ! उनको तू स्वीकार कर ।

यदस्युपजिह्विका यद्वम्नोऽति सर्पति । सर्वं तदस्तु ते घृतं
तज्जुषस्व यविष्ठय ॥७४॥ ऋ० ८ । ९१ । २१ ॥

जमदग्निर्ऋषिः । अग्निर्देवता । विराडनुष्टुप् । गांधारः ॥

भा०—(यत्) जिस प्रकार (उपजिह्विका) दीमक (अति-
काठ को खाजाती है और (यत्) जिस प्रकार (वम्नः) बड़ा दीमक (अति-
सर्पति) फैलकर लग जाता है और जिस प्रकार आग तीव्रता से प्रज्वलित
होता है (तत्) उसी प्रकार (सर्वं ते घृतम् अस्तु) सब पदार्थ तेरा 'घृत'
के तुल्य तेज बढ़ानेवाला हो और तू उसे (जुषस्व) प्रेम से स्वीकार कर ।
अथवा = हे राजन् ! (उपजिह्विका) शत्रु के बीच उपजाप करनेवाली
संस्था और (यत्) जो कुछ खाजाती है (वम्नः) दीमक के समान
समस्त वृत्तान्त को राजा के सम्मुख वमन करनेवाला चर-विभाग (यत्)
जिस पदार्थ तक भी (अति सर्पति) पहुंच जाय (तत् सर्वं) वह सब
(ते घृतम् अस्तु) तेरे लिये यशोजनक एवं तेजोवर्धक ही हो । हे
(यविष्ठय) उत्तम बलवान् राजन् ! (तत् जुषस्व) उसका तू सेवन कर ॥
शत० ६ । ६ । ३ । ६ ॥

स्त्री पक्ष में—हे पुरुष (उप-जिह्विका) जिह्वा को वश करनेहारी
निलोभ स्त्री जो पदार्थ और जो (वम्नः) प्राणों द्वारा बाहर आवे वह
सब तुझे पुष्टिकारक हो ।

अहरहरप्रयावं भरन्तो ऽश्वायेव तिष्ठते घ्रासमस्मै ।
रायस्पोषेण समिषा मदन्तो ऽग्ने मा ते प्रतिवेशा रिषाम ॥७५॥

अथर्व० १९ । ५५ । १ ॥

नाभानेदिष्ठ ऋषिः । अग्निर्देवता । विराट् त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—(तिष्ठते अश्वाय घ्रासम् इव) घर पर खड़े घोड़े को जिस
प्रकार नित्य नियम से, बिना नागा, घ्रास दिया जाता है उसी प्रकार हे
राजन् ! हम लोग (अहः-अहः) प्रतिदिन (घ्रासम्) खाने पीने योग्य

भोग्य-सामग्री को (भरन्तः) प्राप्त करते हुए और तुझे प्रदान करते हुए (रायः पोषेण) धनैश्वर्य की समृद्धि से और (इषा) अन्न की समृद्धि से (सम् मदन्तः) अति हर्षित, आनन्द, तृप्त होते हुए, हे (अग्ने) गृहपते ! राज्यपते ! हम लोग (ते प्रतिवेशाः) तेरे पड़ोसियों के समान तेरे में प्रविष्ट, तेरे अधीन, तेरी बनाई धर्म-मर्यादाओं में रहते हुए हम (मा रिषाम) कभी पीड़ित न हों ॥ शत० ६ । ६ । ३ । ७ ॥

नाभा पृथिव्याः समिधानेऽअग्नौ रायस्पोषाय बृहते हवामहे ।
इरम्मदं बृहदुक्थं यजत्रं जेतारमग्निं पृतनासु सासहिम् ॥ ७६ ॥

नाभानेदिष्ठ अग्निः । अग्निदेवता । स्वराडार्षी त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—(पृथिव्याः नाभा) पृथिवी के नाभिस्थान, केन्द्र या मध्य भाग में (समिधाने) अति प्रदीप्त (अग्नौ) अग्नि में जिस प्रकार आहुति दी जाती है उसी प्रकार हम लोग (बृहते) बड़े भारी (रायः पोषाय) ऐश्वर्यों की वृद्धि के लिये (इरम्मदम्) अन्नादि पदार्थों और पृथ्वी आदि ऐश्वर्य से प्रसन्न होनेवाले, (बृहदुक्थम्) महान् कीर्ति से युक्त, (यजत्रम्) दानशील (पृतनासु) संग्रामों में (सासहिम्) शत्रु को बराबर पराजय करने में समर्थ (जेतारम्) विजयी (अग्निम्) अग्नि, तेजस्वी, प्रतापी पुरुष को (हवामहे) हम लोग आदर से बुलावें, उसका आदर करें ॥ शत० ६ । ६ । ३ । ९ ॥

याः सेना अभीत्वरीराव्याधिनीरुगणा उत ।

ये स्तेना ये च तस्करास्तास्तेऽअग्नेऽपिदधाम्यास्ये ॥ ७७ ॥

अग्निदेवता । मुरिगनुष्टुप् । गान्धारः ।

भा०—राजा को आग्नेय स्वरूप । हे (अग्ने) शत्रुसंतापक राजन् ! (याः) जो (अभीत्वरीः) हम पर आक्रमण करनेवाली, (आव्याधिनीः) सब ओर से शस्त्र प्रहार करने वाली, (उगणाः) शस्त्र आदि उठाये हुए (सेनाः) सेनाएं हों (उत) और (ये स्तेनाः) जो चोर और (ये च)

जो (तस्कराः) नाना हत्या आदि पाप करनेवाले डाकू हैं (तान्) उन सबको (ते) तेरे (आस्ये) शत्रुओं के विनाशकारी बल में, मुख में जिस प्रकार ग्रास डाला लिया जाता है उसी प्रकार (दधामि) झोंक दूँ । तू उनको ग्रस जा, विनाश कर ॥ शत० ६ । ६ । ३ । १० ॥

द०१०॥ भ्यां मलिम्लुञ्जम्भ्यैस्तस्कराँ २५ उत । हनुभ्यां स्तेनान् भगवस्ताँस्त्वं खाद सुखादितान् ॥ ७८ ॥

अग्निदेवता । भुरिगुष्णिक् । ऋषभः ॥

भा०—जिस प्रकार मनुष्य अपनी (दंष्ट्राभ्याम्) दाढ़ों से चबाकर (जम्भ्यैः) मुखके, अगले कुतरनेवाले दांतों से कुतर २ कर (हनुभ्याम्) दोनों दाढ़ों और जबाड़ों से कुचिल २ कर उत्तम रीति से (सु-खादितान्) चबाये गये ग्रासों को खा जाता है, उसी प्रकार हे अग्ने ! राजन् ! हे (भगवः) ऐश्वर्यवान् राजन् ! (दंष्ट्राभ्याम्) दांतों के समान दशन करनेवाले शस्त्रों के दोनों दलों से (मलिम्लन्) मलिन कार्य करने, एवं प्रजाओं की मृत्यु करनेवाले उपायों और दुष्टों को और (तस्करान्) छुपे पापों, हत्याओं को करनेवाले पुरुषों को (जम्भ्यैः) बांध २ कर मारनेवाले उपायों से, और (हनु-भ्याम्) हनन करनेवाले द्विविध उपायों से (स्तेनान्) चोर, डाकू पुरुषों को (त्वं) तू (खाद) चबा डाल, कुचिल २ कर ग्रस ले ॥ शत० ६ । ६ । ३ । १० ॥

ये जनेषु मलिम्लव स्तेनासस्तस्करा वने ।

य कक्षेष्वायवस्ताँस्ते दधामि जम्भयोः ॥ ७९ ॥

नामानेष्टिष्ठ ऋषिः । सेनापतिराग्निदेवता । निचृदनुष्टुप् । गान्धारः ।

भा०—(ये) जो (जनेषु) प्रजा के लोगों में (मलिम्लवः) मलिनाचार वाले और जो (वने) वन में (स्तेनासः) चोर और (तस्कराः) डाकू छिपे हों, (कक्षेषु) हमारे गृहों के इधर उधर या नदी पर्वतादि के तटों में या राजा के पार्श्ववर्त्ती सामन्त राजाओं और अमात्य आदि में (अघायवः) अपने पाप से दूसरों पर पापाचार करना चाहते हैं

(तान्) उन सबको (जम्भयोः) दाढ़ों में ग्रास के समान (ते) तेरे वश में (दधामि) धरता हूँ ॥ शत० ६ । ६ । ३ । १० ॥

यो ऽश्मभ्यमरातीयाद्यश्च नो द्वेषते जनः ।

निन्दाद्यो ऽश्मस्मान् धिप्साच्च सर्वं तं मस्मसा कुरु ॥ ८० ॥

अध्यापकोपदेशकोभिर्देवता । अनुष्टुप् । गान्धारः ॥

भा०—(यः) जो पुरुष (अस्मभ्यम्) हमारे प्रति (अरातीयात्) शत्रु के समान वर्ताव करे (यः च) और जो (जनः) जन (नः) हम से (द्वेषते) द्वेष, अप्रीति का वर्ताव करे । (यः च) जो (अस्मान्) हमारी (निन्दात्) निन्दा करे और (धिप्सात् च) हमें मारना या हम से छलकर हमें हानि पहुंचाना चाहता है (सर्वं तम्) उन सबको हे राजन् ! (मस्मसा कुरु) दाढ़ों में अन्न के समान पीस डाल ॥ शत० ६ । ६ । ३ । १० ॥ सथं शितं म ब्रह्म सथं शितं वीर्यं बलम् । सथं शितं क्षत्रं जिष्णु यस्याहमस्मि पुरोहितः ॥ ८१ ॥ अथर्व० ३ । १९ । १ ॥

अग्निः पुरोहितो यजमानश्च देवते । निचृदार्षी पंक्तिः । पञ्चमः ॥

भा०—(यस्य) जिसका (अहम्) मैं (पुरोहितः) पुरोहित, मार्गदर्शी (अस्मि) होऊँ । उसका (जिष्णुः) जयशील (क्षत्रं) क्षात्रबल अथवा वही (जिष्णु क्षत्रम्) विजयशील क्षत्रिय कुल (संशितम्) खूब अच्छी प्रकार तीव्र रहे । और (मे) मेरा (ब्रह्म) ब्रह्म, वेदज्ञान और ब्रह्मचर्य बल भी (संशितम्) खूब तीक्ष्ण रहे । और मेरा (वीर्यं बलम्) वीर्य और बल पराक्रम भी (संशितम्) खूब तीक्ष्ण, प्रचण्ड रहे ॥ शत० ६ । ६ । १४ ॥ उद्देशां बाहू ऽतिरमुद्वर्चो ऽअथो बलम् । क्षिणोमि ब्रह्मणा मित्रानुन्नयामि स्वाँऽहम् ॥ ८२ ॥ अथर्व० ३ । २७ । ३ ॥

८०—० 'मस्मसा कुरु' इति० ८० । तन्मते मस्मसात् इत्यत्र छान्दसस्तलोपः । मस्मसा इति सर्वत्र पाठः । 'सर्वान् निमग्मषाकरं दृषदा खल्वांश्च', [इति अथर्व० ५ । ३ । ८ ॥] अथर्वगतः पाठस्तत्रानुसंधेयः ।

८१—सथितं म हृदं ब्रह्म० क्षत्रमजरमस्तु जिष्णुर्वैशाम० इति अथर्वपाठः ॥

अग्निः सभापतिर्यजमानो वा देवता । विराडनुष्टुप् । गान्धारः ॥

भा०—(एषाम्) मैं इन दुष्ट पुरुषों एवं शत्रुओं के (बाहू) बल वीर्यों को (उत् अतिरम्) उल्लंघन कर जाऊं । (अथो) और उनके (वर्चः) तेज और (बलम्) शरीर-बल या सेना-बलको भी (उद् अतिरम्) अतिक्रमण कर जाऊं, उनसे अधिक होजाऊं । (ब्रह्म) वेद-ज्ञान के बल से अथवा अपने बड़े भारी क्षात्रबल से मैं (अमित्रान्) शत्रुओं का (क्षिणोमि) विनाश करूं । और (अहम्) मैं (स्वान्) अपने पक्ष के योद्धा, वीर पुरुषों को (उत् नयामि) ऊंचा उठाऊं, उनके उन्नत पद प्रदान करूं ॥ शत० ६ । ६ । ३ । १५ ॥

अन्नपतेऽन्नस्य नो देह्यनमीवस्य शुष्मिणः ।

प्रप्र दातारं तारिषऽऊर्जं नो धेहि द्विपदे चतुष्पदे ॥ ८३ ॥

अन्नपतिर्यजमानः पुरोहितश्च देवताः । उपरिष्टाद् ब्रूहिती । मध्यमः ॥

भा०—हे (अन्नपते) अन्नों के पालक स्वामिन् ! तू (नः) हमें (शुष्मिणः) बलकारी, (अनमीवस्य) रोगरहित (अन्नस्य) अन्न (देहि) दे और (दातारम्) दानशील पुरुष को (प्र-प्र तारिषः) खूब बढ़ा । उसे भरा पूरा, सन्तुष्ट रख । (नः) हमारे (द्वि-पदे) दो पाये मनुष्य आदि और (चतुष्पदे) चौपाये गौ आदि पशुओं के लिये (ऊर्जं धेहि) बलकारी अन्न प्रदान कर ॥ शत० ६ । ६ । ४ । ७ ॥

॥ इत्येकादशोऽध्यायः ॥

[तत्र त्र्यशीतिर्मन्त्राः]

इति मांमांसातीर्थ-प्रतिष्ठितविद्यालंकार-श्रीमत्पण्डितजयदेवशर्मकृते

यजुर्वेदालोकभाष्य एकादशोऽध्यायः ॥

८३—विश्वकर्मणे स्वाहा । इति काण्व० ।

अतः परं १२ । ४४ मन्त्रः पठ्यते । काण्व० ।

अथ द्वादशोऽध्यायः

॥ ओ३म् ॥ दृशानो रुक्मऽउर्व्या व्यद्यौद् दुर्मर्षमायुः श्रिये
रुचानः । अग्निः मृतोऽअभवद्द्वयोभिर्यदेनं द्यौरजनयत्सुरेताः । १॥

ऋ० १० । ४५ । ८ ॥

वत्सप्रीश्चपिः । अग्निर्देवता । भुरिक् पङ्क्तिः । पञ्चमः ॥

भा०—(दृशानः) साक्षात् स्वयं दीखता हुआ, और समस्त पदार्थों को दिखानेवाला, स्वयंद्रष्टा, (रुक्मः) दीप्तिमान्, (उर्व्या) बड़ी भारी कान्ति से या विशाल इस पृथ्वी सहित (श्रिये) अपनी परम कान्ति से (रुचानः) प्रकाशित होता हुआ, सूर्य जिस प्रकार (दुर्मर्षम् आयुः) अविनाशी, जीवन सामर्थ्य, अन्नादि को (वि अद्यौत्) विविध प्रकार से प्रकाशित करता है । उसी प्रकार (दृशानः) सर्व पदार्थों को विज्ञान द्वारा दर्शाने वाला, (श्रिये रुचानः) महान् लक्ष्मी की इच्छा करता हुआ, (रुक्मः) कान्तिमान्, तेजस्वी, ऐश्वर्यवान्, विद्वान् राजा (दुर्मर्षम्) शत्रुओं और बाधक कारणों से अपराजित जीवन को (उर्व्याः) इस विशाल पृथ्वी पर (वि अद्यौत्) नाना तेजों से प्रकट करता है और अपना तेज दिखाता है । (अग्निः) अग्नि, दीप्तिमान् सूर्य जिस प्रकार (व्योभिः) अपनी शक्तियों, तेजों, किरणों से (अमृतः) अमृत, अमर (अभवत्) है उसी प्रकार (अग्निः) विद्वान् ज्ञानी एवं अग्रणी के समान तेजस्वी राजा भी (व्योभिः अमृतः अभवत्) अपने ज्ञानबलों और अन्नों से, अपने वयोवृद्ध सहायकों से अमृत, अमर, अखण्डित होकर रहता है । (यत्) क्योंकि (एनं) उस सूर्य को (सुरेताः) उत्तम वीर्य वाला,

१—अतः परमुखाधारणम् [१—४५]

समस्त ब्रह्माण्ड के उत्पादन सामर्थ्य से युक्त, (द्यौः) तेजोयुक्त, महान् हिरण्यगर्भ (अजनयत्) उत्पन्न करता है । इसी प्रकार (एनम्) इस विद्वान् को और तेजस्वी राजा को भी (सुरेताः द्यौः) उत्कृष्ट वीर्यवान् तेजस्वी पिता और आचार्य (अजनयत्) उत्पन्न करता है । असह्य पराक्रमी, तेजस्वी पुरुष को तेजस्वी पिता माता ही उत्पन्न करते हैं । शत० ६ । ७ । २ । १ ॥

नक्तोषासा समनसा विरूपे धापयेते शिशुमेकं समीची ।
द्यावाक्षामा रुक्मोऽश्नन्तर्विभाति देवा अग्निं धारयन्द्रविणोदाः ॥२॥

अग्निर्देवता । आर्षी त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—जिस प्रकार (नक्तोषासा) रात्रि और दिन दोनों (विरूपे) एक दूसरे के विपरीत कान्ति वाले, तमः स्वरूप और प्रकाशस्वरूप होकर (समांची) परस्पर अच्छे प्रकार मिल कर सूर्य को धारण करते हैं उसी प्रकार माता पिता दोनों (समनसा) एकचित्त होकर (विरूपे) विचित्र स्वरूप, या विविध रुचिवाले और (समीची) परस्पर संगत होकर (एकम्) एक (शिशुम्) बालक को (धापयेते) दुग्ध-रसपान कराते और अन्न से पुष्ट करते हैं उसी प्रकार (नक्त-उषासा) रात दिन के समान अप्रकाश, अज्ञानी, या निस्तेज निर्बल और ज्ञानी, सतेज और सबल दोनों प्रकार के जन (समीची) परस्पर संगत होकर (शिशुम्) बालक के समान ही प्रेमपात्र (एकम्) एकमात्र राजा को (धापयेते) रस, अन्न और बलद्वारा पुष्ट करते हैं । वह भी (द्यावाक्षामा) आकाश और पृथिवी के (अन्तः) भीतर (रुक्मः) दीप्तिमान् सूर्य के समान तेजस्वी और पुत्र के समान माता पिता के बीच निर्बल प्रजा और सबल शासकों के बीच तेजस्वी होकर राजा (विभाति) प्रकाशित होता है । (द्रविणोदाः) वीर्य, बल, अन्न को प्रदान करनेवाले (देवाः) वीर, विजयी, पराक्रमी राजगण, उस (अग्निम्) अग्नि के समान तेजस्वी पुरुष को (धारयन्) धारण करें ॥ शत० ६ । ७ । २ । ३ ॥

द्रविणोदाः कस्मात् । धनं द्रविणमुच्यते यदेनमभिद्रवन्ति । बलं वा द्रविणं यदेनेनाभिद्रवन्ति । तस्य दाता द्रविणोदाः । निरु० ८।१।२ ॥
विश्वा रूपाणि प्रतिमुञ्चते कविः प्रासावीद् भद्रं द्विपदे चतुष्पदे ।
वि नाकमख्यत्सविता वरेण्योऽनु प्रयाणमुषसो विराजति ॥३॥

श्यावाश्च ऋषिः । सविता देवता । विराड् जगती । निपादः ॥

भा०—(कविः) क्रान्तदर्शी, विद्वान् पुरुष (विश्वा रूपाणि) समस्त प्रकार के पदार्थों को (प्रति मुञ्चते) धारण करता, और प्रकट करता है और (द्विपदे) दो पाये, मनुष्यों और (चतुष्पदे) चौपाये, पशुओं के लिये (भद्रं) सुख, कल्याण को (प्रासावीद्) उत्पन्न करता है और वह सब का (सविता) प्रेरक, (वरेण्यः) सब के वरण करने योग्य, सर्वश्रेष्ठ पुरुष, (नाकम्) अत्यन्त सुखस्वरूप, स्वर्ग और मोक्ष को भी (वि अख्यत्) विशेषरूप, से प्रकाशित करता, उसका उपदेश करता है । और (उपसः प्रयाणम्) प्रातः, प्रभात के प्रास होने के (अनु) समय में, जिस प्रकार सूर्य चमकता है उसी प्रकार वह भी (उपसः) अपने दाहक, शत्रुनाशक तेज के (प्रयाणम् अनु) अच्छी प्रकार प्रास हो जाने पर (विराजति) तेजस्वी होकर विराजता है ॥
शत० १।७।२।४ ॥

सुपर्णोऽसि गुरुर्त्मास्त्रिवृत्ते शिरो गायत्रं चक्षुर्वृहद्रथन्तरे पक्षौ
स्तोमं ऽश्वात्मा छन्दास्यङ्गानि यजूंषि नाम । सामं ते तनू-
वीमद्वयं यज्ञायज्ञियं पुच्छं धिषण्याः शफाः । सुपर्णोऽसि गुरु-
त्मान्दिवं गच्छ स्वः पत ॥ ४ ॥

गुरुमान् देवता । भुरिग् धृतिर्निचृत् कृतिर्वा व्यूहन । ऋषभो निषादो वा ॥

भा०—तू (सुपर्णः) उत्तम ज्ञानवान्, उत्तम पालन करने के

४—सुपर्णः कृतिश्चतुरवासाना गारुगी । वपष्नी । सर्वा० ॥

साधनों से सम्पन्न, 'सुपर्ण', और (गरुत्मान्) महान् गम्भीर आत्मा-
 वाला है। (त्रिवृत्) कर्म, उपासना और ज्ञान इन तीनों से युक्त साधना
 (ते शिरः) शरीर में जिस प्रकार शिर मुख्य है उसी प्रकार तेरा मुख्य
 व्रत हैं, जो (शिरः) स्वयं समस्त दुःखों को नाश करता है। अथवा
 (त्रिवृत्) तीनों लोकों में व्यापक वायु के समान बलशाली पराक्रम,
 अङ्गार, अर्चि और धूम के समान शत्रुओं के जलाने, अपने गुणों के
 प्रकाशमान और सबको भय से कंपाने इन तीनों गुणों से युक्त तेज होना
 हे राजन् ! (ते शिरः) तेरा शिर के समान मुख्य स्वरूप है। (गायत्रं
 चक्षुः) गायत्री से प्राप्त वेदज्ञान तेरी चक्षु है। अथवा गायत्र अर्थात्
 ब्राह्मण, विद्वान्, वेदज्ञ पुरुष और स्वतः गान करनेवाले को विपत्तियों से
 ज्ञान द्वारा त्राण करने में समर्थ वेद का परमज्ञान (ते चक्षुः) तेरे लिये
 सब पदार्थों का दर्शन करानेमें समर्थ चक्षु के समान है। (बृहद् रथन्तरं
 पक्षौ) बृहत् और रथन्तर ये दोनों साम जिस प्रकार यज्ञ के पक्ष या
 बाजू के समान हैं उसी प्रकार यज्ञमय प्रजापति राजा के बृहत् अर्थात्
 सर्वश्रेष्ठता, सर्वज्येष्ठता, अथवा उसका अपना ज्येष्ठ पुत्र युवराज या
 विशाल क्षात्रबल और 'रथन्तर' अर्थात् यह समस्त पृथिवी निवासी
 प्रजाजन और या वेदवाणी का ज्ञाता विद्वान्, या सेनापति या सम्राट्
 ये दोनों तुझ राजशक्ति के दो पक्ष अर्थात् बाजू हैं। (स्तोमः आत्मा)
 स्तोम अर्थात् ऋग्वेद तेरी आत्मा अर्थात् अपना स्वरूप या देह के
 मध्य भाग के समान है। अथवा (स्तोमः आत्मा) परम वीर्य ही
 तुझ प्रजापालक प्रजापति, राजा का आत्मा स्वरूप है। (अंगानि
 छन्दांसि) नाना छन्द जिस प्रकार यज्ञ के अङ्ग हैं उसी प्रकार प्रजापति
 रूप राष्ट्र के अन्तर्गत राष्ट्र को विपत्तियों से बचाने वाले एवं प्रजा के
 आश्रय स्थान होने से वे उसके अङ्ग हैं। (यजूंषि नाम) यजुर्वेद की श्रुतियाँ
 ही उसके स्वरूप के समान हैं। अर्थात् यजुर्वेद में प्रतिपादित

राष्ट्र के पालकों के विभाग ही राजा के कीर्तिजनक हैं । (वामदेव्यम् साम ते तनूः) हे यज्ञ ! तेरा शरीर वामदेव्य नामक साम है । जिस साम को वाम, वननीय एकमात्र उपास्य देव परमेश्वर ने ही सबको दर्शाया है । वह साम यज्ञ का स्वरूप है । और राष्ट्रमय प्रजापति का भी (वामदेव्यं) समस्त प्रजा के पालन करने का सामर्थ्य, सबके सम्मजन या शरण करने योग्य राजा का अपना (साम) शान्तिदायक सुखकारी उपाय ही (ते तनूः) तेरा विस्तारी राज्य है । (यज्ञायज्ञियं पुच्छम्) यज्ञ का यज्ञायज्ञिय नामक साम पुच्छ के समान है । प्रजापति का भी (यज्ञायज्ञियम्) पशु और अन्न आदि भोग्य समृद्धि और जन समृद्धि राष्ट्र या प्रजापालक राज्य के (पुच्छम्) पुच्छ अर्थात् आश्रय-स्थान के समान है । उसी प्रकार (धिष्ण्याः शफाः) यज्ञ के धिष्ण्य नामक अग्नि यज्ञ का आश्रय होने से वे शरीर में शफों या खुरों के समान हैं । उसी प्रकार राष्ट्रमय प्रजापति रूप यज्ञ के (धिष्ण्याः) धारण करने, और मार्गोपदेश करने में कुशल, विद्यावान्, वाग्मी या अन्तपाल अधिकारी लोग (शफाः) शफ, खुरों या चरणों के समान आश्रय हैं । इस प्रकार हे यज्ञ और राष्ट्रमय प्रजापति ! तू (गरुत्मान्) पक्षवाले (सुपर्णः) विशाल पक्षी के समान (गरुत्मान्) महान्, शक्तिमान् और (सु-पर्णः) उत्तम पालनकारी साधनों से युक्त (असि) है, तू (दिवं) सुन्दर विज्ञान, प्रकाशमय लोक या राजसभाभवन को (गच्छ) प्राप्त हो । (स्वः पत) और सुख को प्राप्त कर ॥ शत० ६।७।१।२ ॥

१. 'त्रिवृत्' — वागुर्वा आशुः त्रिवृत् । स एव त्रिषु लोकेषु वर्तते । श० ८।४।१।९ ॥ त्रिवृत् अग्निः । श० ६।३।१।१५ ॥ ब्रह्म वै त्रिवृत् । तां० २।१६।४ तेजो वै त्रिवृत् । तां० २।१७।२ ॥ वज्रो वै त्रिवृत् श० ३।३।४ ॥

२. 'गायत्रं'—यद् गायन्नत्रायत तद् गायत्रस्य गायत्रत्वम् । जै० ३० ।
३ । ३८ । ४ ॥ गायत्री वा इयं पृथिवी । श० ४ । ३ । ४ । ९ ॥ गायत्रो
वै ब्राह्मणः । ऐ० १ । २८ ॥ ब्रह्म वै गायत्री । ऐ० ४ । १ ॥

३. 'बृहत्'—श्रैष्ठ्यं वै बृहत् । तां० ८ । ९ । ११ ॥ ज्यैष्ठ्यं वै
बृहत् । ऐ० । ८ । २ ॥ यथा वै पुत्रो ज्येष्ठः एवं वै बृहत् प्रजापतेः ॥ तां०
७ । ६ । ६ ॥ द्यौर्बृहत् । तां० १६ । १० । ८ ॥ क्षत्रं बृहत् । ऐ० ८ । १२ ॥

४. 'रथन्तरं' साम—अयं वै लोको रथन्तरम् । ऐ० ८ । २ ॥
वाग् वै रथन्तरम् । ऐ० ४ । २८ ॥ रथन्तरं वै सम्राट् । तै० १ । ४ । ४ ।
९ ॥ अग्निर्वै रथन्तरम् । ऐ० ५ । ३० ॥

५. स्तोमः—वीर्यं वै स्तोमाः । ता० २ । ५ । ४ ॥

६. (छन्दांसि) इन्द्रियं वीर्यं छन्दांसि । श० ७ । ३ । १ । ३७ ॥
प्राणाः वै छन्दांसि । कौ० ७ । ६ ॥ छन्दांसि वै देवाः साध्याः । ते अग्ने
अग्निना अग्निमयजन्त । ऐ० १ । १६ ॥ प्रजापतेर्वा एतान्यंगानि यच्छन्दांसि ।
ऐ० २ । १८ ॥

७. 'वामदेव्यं साम'—पिता वै वामदेव्यं पुत्राः पृष्ठानि ता० ७ ।
६ । १ ॥ प्रजापतिर्वै वामदेव्यम् । तां० ४ । ८ । १५ ॥ श० १३ । ३ । ३ ।
४ ॥ पशवो वै वामदेव्यम् । तां० ४ । ८ । १५ ॥

८. 'यज्ञायज्ञियम्'—अतिशयं वै द्विपदां यज्ञायज्ञियम् । तां० ५ ।
१ । १६ ॥ वाग् यज्ञायज्ञियम् । ५ । ३ । ७ ॥ पशवोऽन्नाद्यं यज्ञ-
ायज्ञियम् । तां० १५ । ९ । १२ ॥

९. 'धिष्ण्याः'—वाग् वै धिषणा । श० ६ । ५ । ४ । ५ ॥ विद्या
वै धिषणा तै० ३ । २ । २ । १ ॥ अन्तो वै धिषणा । ऐ० ५ । १ ॥
[स्वानः भ्राजः अंघारिः बम्भारिः हस्तः सुहस्तः कृशानुः] एतानि वै
धिष्ण्यानां नामानि । श० ३ । ३ । ३ । ११ ॥

विष्णोः क्रमोऽसि सपत्नहा गायत्रं छन्दः आरोह पृथिवीमनु
विक्रमस्व विष्णोः क्रमोऽस्याभिमातिहा त्रैष्टुभं छन्दः आरोह
हन्तारिक्षमनु विक्रमस्व । विष्णोः क्रमोऽस्यरातीयतो हन्ता
जागतं छन्दः आरोह दिवमनु विक्रमस्व विष्णोः क्रमोऽसि
शत्रूयता हन्तानुष्टुभं छन्दः आरोह दिशोऽनु विक्रमस्व ॥५॥

विष्णुदेवता । भुरिगुस्कृतिः । पङ्क्तः ॥

भा०—हे यज्ञमय प्रजापति, प्रजापालक के प्रथम क्रम अर्थात् प्रथम व्यवहार ! तू (विष्णोः) राष्ट्र में व्यापक सत्तावाले राजा का (सपत्नहा) शत्रु को नाश करनेवाला (क्रमः असि) क्रम, अर्थात् प्रथम चरण, कार्य का प्रथम भाग है । तू (गायत्रं छन्दः आरोह) गायत्र छन्द अर्थात् विद्वान् वेदज्ञ पुरुषों के त्राण करनेवाले पवित्र कार्य पर आरुढ़ हो । तू (पृथिवीम् अनु) पृथिवी और पृथिवी वासी प्रजा के अनुकूल रह कर (वि क्रमस्व) विविध प्रकार के कार्य कर । इसी प्रकार तू (विष्णोः क्रमः असि) व्यापक शक्ति का दूसरा स्वरूप है (अभिमातिहा असि) अभिमानी वैरी लोगों का नाश करनेवाला है । तू (त्रैष्टुभं छन्दः) तीन प्रकार के बलशाली क्षात्रबल पर (आरोह) आरुढ़ हो । और (अन्तरिक्षम् अनु विक्रमस्व) अन्तरिक्ष के समान सर्वाच्छादक एवं सर्वप्राणप्रद वायु के समान विक्रम कर । तू (विष्णोः क्रमः) विष्णु, सूर्य के समान समुद्रादि से जलादि ग्रहण करनेवाले व्यापक शक्ति का स्वरूप है । तू (अरातीयतः) कर-दान न करनेवाले शत्रुओं का (हन्ता) विनाशक है । तू (जागतं छन्दः) आदित्यों के कार्य व्यवहार पर और वैश्यवर्ग पर (आरोह) बल प्राप्त कर । तू (दिवम् अनु विक्रमस्व) सूर्य या मेघ के समान पृथ्वी पर से जल लेकर उसी पर वर्षा कर, जगत् के उपकार करने का वत धारण कर, अपना (वि क्रमस्व) पराक्रम कर । (विष्णोः क्रमः असि) व्यापक वायु के समान कार्य करने में कुशल उसका प्रतिरूप है । (तू)

(शत्रुयताम् हन्ता) शत्रु के समान आवरण करने वाले द्रोहियों को नाश करने हारा है । तू (आनुष्टुभं छन्दः आरोह) समस्त प्रजा के अनुकूल सुख वृद्धि के कार्य-व्यवहार को प्राप्त कर । (दिशः अनु विक्रमस्व) तू दिशाओं को विजय कर अर्थात् दिशाओं के समान सब प्रजाओं को आश्रय देने में समर्थ हो ॥ शत० ६ । ७ । २ । १३-१६ ॥

अक्रन्ददग्नि स्तनयन्निव द्यौः क्षामा रेरिद्धीरुधः समञ्जन् ।
सद्यो जज्ञानो विहीमिद्धो ऽअख्यदा रोदसी भानुना भात्यन्तः ६

ऋ० १० । ४५ । ४ ॥

वत्सप्रार्श्नापः । अग्निदेवता । निचृदर्षी त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—(अग्निः) अग्नि, विद्युत् जिस प्रकार (अक्रन्दत्) गर्जना करता है और (द्यौः) जल दान करनेवाला मेघ जिस प्रकार (स्तनयन् इव) गर्जना करता है उसी प्रकार (अग्निः) ज्ञानी, विद्वान् गम्भीर स्वर से उपदेश करे और मेघ के समान समान भाव से सबको ज्ञान प्रदान करे, इसी प्रकार तेजस्वी राजा सिंह गर्जना करे और मेघ के समान गम्भीर ध्वनि करे । मेघ (क्षामाः) क्षामा अर्थात् पृथ्वी को जिस प्रकार जलधारा रूप से प्राप्त होकर (वीरुधः सम् अञ्जन्) नाना प्रकार से उत्पन्न होने वाली लताओं को प्रकट करता है उसी प्रकार वह तेजस्वी राजा भी (क्षामाः) पृथिवी को (रेरिहत्) स्वयं भोग करता हुआ (वीरुधः) नाना प्रकार से उन्नतिशील प्रजाओं को (सम् अञ्जन्) ज्ञानादि से प्रकाशित करता है । वह (सद्यः) शीघ्र ही (जज्ञानः) प्रकट होकर अपने गुणों से (इद्धः) तेजस्वी एवं प्रकाशित होकर (हि) निश्चय से (ईम्) इस लोक को (वि अख्यत्) विशेष प्रकार से प्रकाशित करता है । और (रोदसी) आकाश और पृथिवी के (अन्तः) बीच में सूर्य के समान राजा प्रजा के बीच और विद्वान् पुत्र माता पिता के बीच

(भानुना) अपनी कान्ति से (आ भाति) प्रकाशित होता है ॥ शत०
१।७।३।२ ॥

अग्नेऽभ्यावर्तिन्नभि सा नि वर्त्तस्वायुषा वर्चसा प्रजया धनेन ।
सन्या मेधया रय्या पोषेण ॥ ७ ॥

अग्निदेवता । भुरिगाध्यनुष्टुप् । गान्धारः ॥

भा०—हे (अभ्यावर्तिन् अग्ने) सम्मुख आनेवाले या घर में पुनः
आनेवाले गृहपते ! एवं शत्रुओं को बार २ विजय करके पुनः लौटने वाले
वीर विजयशील राजन् ! तू (मा अभि) मेरे प्रति (आयुषे) दीर्घ जीवन,
(वर्चसा) तेज, (प्रजया) प्रजा, (धनेन) धन, (सन्या) धन लाभ
(मेधया) मेधा बुद्धि, (रय्या) ऐश्वर्य और (पोषेण) पुष्टि इन सब के
साथ (नि वर्त्तस्व) सम्पन्न होकर पुनः प्राप्त हो ॥ शत० ६।७।३।६ ॥
अग्नेऽअङ्गिरः शतं ते सन्त्वावृतः सहस्रं त उपावृतः । अध्या
पोषस्य पोषेण पुनर्नो नष्टमाकृधि पुनर्नो रयिमा कृधि ॥ ८ ॥

अग्निदेवता । आपी । त्रष्टुप् । धैवतः ।

भा०—हे (अङ्गिरः अग्ने) ज्ञानवन ! अंगारों के समान देदीप्यमान
अग्ने ! तेजस्विन् ! राजन् ! (ते आवृतः) तेरे हमारे प्रति लौट कर आगमन
भी (शतं सन्तु) सैकड़ों हों और (ते) तेरे (उपावृतः) हमारे समीप
आगमन भी (सहस्रं सन्तु) हजारों हों । (अथ) और (पोषस्य)
पुष्टिकारक धन-समृद्धि की (पोषेण) बहुत अधिक वृद्धि से (नः नष्टम्)
हमारे हाथ से गये धन को भी (पुनः कृधि) हमें पुनः प्राप्त करा (नः)
हमारे (रयिम्) ऐश्वर्य को (पुनः आ कृधि) फिर २ प्रदान कर ॥ शत०
१।७।३।६ ॥

पुनर्नो निवर्त्तस्व पुनरग्न उद्दृषायुषा । पुनर्नः पाह्यथंहसः ॥

७-८—अग्नि ऊर्ध्वं बृहता । अग्नि महाबृहता । सर्वा० ॥

अग्निदेवता । निचृदार्षी गायत्री । षड्जः ॥

भा०—हे (अग्ने) विद्वन् ! राजन् ! तू (पुनः) वार २ (ऊर्जा) बल पराक्रम से युक्त होकर और (पुनः) वार २ (इषा) अन्न और (आनुषा) दीर्घ आयु से युक्त होकर (निवर्त्तस्व) लौट आ । (नः) हमें (पुनः) वार २ (अंहसः) पाप से (पाहि) बचा ॥ शत० ६ । ७ । ३ । ६ ॥

सह रय्या निवर्त्तस्वाग्ने पिन्वस्व धारया ।
विश्वस्न्या विश्वतस्परि ॥ १० ॥

अग्निदेवता । निचृद् गायत्री । षड्जः ॥

भा०—हे (अग्ने) अग्ने ! ज्ञानवन् ! राजन् ! तेजस्विन् ! तू (रय्या) ऐश्वर्य के (सह) साथ और (विश्वस्न्या) समस्त योग्य पदार्थों का भोग प्राप्त करानेहारी और (धारया) धारण करनेहारी विद्या और शक्ति से (विश्वतः परि) सब देशों से ऐश्वर्य को ला-लाकर (पिन्वस्व) देश को समृद्ध कर और (निवर्त्तस्व) पुनः अपने देश में आ ॥ शत० ६ । ७ । ३ । ६ ॥

आ त्वाहार्षमन्तरभूर्धुवस्तिष्ठाविचाचलिः ।

विशस्त्वा सर्वा वाञ्छन्तु मा त्वदूष्टमाधिभ्रशत् ॥ ११ ॥

क्र० १० । १७३ । १ ॥

ध्रुव ऋषिः । अग्निदेवता । आर्ष्यनुष्टुप् । गान्धारः ॥

भा०—मैं पुरोहित, हे राजन् ! (त्वा आहार्षम्) तुझको स्थापित करता हूँ । तू (अन्तः) प्रजा के भीतर (अभूः) सामर्थ्यवान् हो । तू (अविचाचलिः) अचल, (ध्रुवः) ध्रुव, स्थिर, दृढ़ होकर (तिष्ठ) बैठ । (त्वा) तुझको (सर्वाः) समस्त (विशः) प्रजाएं (वाञ्छन्तु) चाहें । (त्वत्) तेरे हाथ से कहीं (राष्ट्रम्) राष्ट्र, राज्य का वैभव (मा अधिभ्रशत्) न निकल जाय ॥ शत० ६ । ७ । ३ । ७ ॥

उदुत्तमं वरुण पाशमस्मदवाधमं वि मध्यमं श्रथाय ।

अथा वयमादित्य व्रते तवानागसो ऽअदितये स्याम ॥ १२ ॥

ऋ० १ । २४ । १५ ॥

गुनःशेष ऋषिः । वरुणो देवता । विराड् आर्षी त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—हे (वरुण) शत्रुओं को बांधने वाले या वारण करने वाले राजन् ! (अस्मत्) हम से (उत्तमम् पाशम्) शरीर के ऊपर के भाग में बंधे बन्धन को (उत् श्रथय) ऊपर से दूर कर । (अधमं पाशम् अव प्रयय) नीचे के बन्धन को नीचे गिरादे । (मध्यमं वि श्रथय) बीच के बंधे बंधन को विशेष रीति से शिथिल कर । (अथ) और हे (आदित्य) सूर्य के समान समस्त राष्ट्र को अपने वश में होकर लेने वाले तेजस्वी पुरुष ! (वयम्) हम (तव व्रते) तेरी रक्षण-व्यवस्था में रहते हुए (अदितये) अलण्ड राज्य भोग के लिये (अनागसः) अपराध रहित होकर (स्याम) रहें ॥ शत० १ । ७ । ३ । ८ ॥

अग्रे बृहन्नषसामूर्ध्वो अस्थान्निर्जगन्वान् तमसो ज्योतिषागात् ।
अग्निर्भानुना रुशता स्वङ्गऽआ जानो विश्वा सन्नान्यप्राः ॥ १३ ॥

त्रिन ऋषिः । अग्नदेवता । भुगिर्षी पङ्क्तिः । पञ्चमः ॥

भा०—(अग्रे) सब से प्रथम (बृहत्) महान् सूर्य जिस प्रकार (उषसाम् ऊर्ध्वः) उपा कालों, प्रभात वेलाओं के भी ऊपर (अस्थात्) प्रखर तेज से विराजता है और (ज्योतिषा) अपनी दीप्त से (तमसः) अन्धकार को (निः जगन्वान्) दूर हटाता हुआ (अगात्) उदित होता है (अग्निः) दीप्तिमान् सूर्य (रुशता) कान्तिमान् (भानुना) अपने तेज से (स्वङ्गः) सुन्दर शोभा वाला होकर (विश्वा सन्नानि) सब घरों को भी (अप्राः) प्रकाश से पूर्ण करता है, उसी प्रकार हे राजन् ! तू भी (बृहत्) महान् शक्ति-सम्पन्न, (उषसाम् ऊर्ध्वः) शत्रुदाइक सेनाओं के ऊपर, उनका नाशक होकर (ज्योतिषा) अपने पराक्रम रूप तेज से (तमसः) आवरण-

कारी शत्रुरूप अन्धकार को दूर हटाता हुआ उदित हो । ऐसा तेजस्वी होकर (रुशता भानुना) शत्रु के नाश करने वाले तेज से (जातः) सब प्रकार से समृद्ध होकर (सु-अङ्गः) उत्तम राज्य के अँगों से बलवान्, स्वयं भी सुदृढ़ अँगों वाला होकर (विश्वा सद्मानि) सब स्थानों को, सबके घरों को, समस्त विभागों को (आ अप्राः) पूर्ण कर, समृद्ध कर । शत० ६ । ७ । ३ । १० ॥

हृथंसः शुचिषद्वसुरन्तरिक्षसद्धोता वेदिषदनिथदुरोणसत् ।
नृषद्वरसद्वतसद् व्योमसद्वज्रा गोजा ऽमृतजा ऽअद्रिजा ऽमृत
बृहत् ॥ १४ ॥ क्र० १० । ४० । ५ ॥ यजु० १० । २४ ॥

जीवेश्वरौ देवते । भुग्न् जगती । निषादः ॥

भा०—व्याख्या देखो अ० १० । २४ ॥ शत० ६।७। ३।१।१२ ॥
सीद त्वं मातुरस्या उपस्थे विश्वान्यग्ने वयुनं नि विद्वान् । मैनां
तपसा मार्चिषा ऽभिषोचोरन्तरस्याथ शुक्रज्योतिर्विभाहि । १५ ॥
अग्निदेवता । विराट् । त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—(मातुः) माता के (उपस्थे) समीप जिस प्रकार, विद्वान् पुत्र विराजता है और उसके सुख का कारण होता है, उसी प्रकार, हे (अग्ने) अग्ने ! सूर्य के समान तेजस्विन् ! हे राजन् ! (ताम्) तू (मातुः) अपने बनाने वाले, उत्पादक ज्ञानवान् पुरुष, अथवा भूमि या प्रजा के (उपस्थे) समीप, उसके पृष्ठ पर (विश्वानि वयुनानि) समस्त उत्कृष्ट ज्ञानों को जानता हुआ (सीद) विराजमान हो । (एनाम्) उसको (तपसा) तप से, तापजनक (अर्चिषा) ज्वाला के समान शस्त्र बल से (मा अभि-
शोचीः) संतप्त मत कर । तू (अस्याम् अन्तः) उसके भीतर (शुक्र-ज्योतिः) शुद्ध, प्रकाशवान्, तेजस्वी, बलवान्, निष्पाप रीति से ऐश्वर्यवान् होकर (वि भाहि) विविध रूपों और गुणों से प्रकाशित हो ॥ शत० ६ । ७ । ३ । १५ ॥

१४—अन्ते बृहदिति यजुः । सर्वा० ॥

अन्तर्ग्रे रुचा न्वमुखायाः सदने स्वे ।

तस्यास्त्वथं हरसा तपञ्जातवेदः शिवो भव ॥ १६ ॥

अग्निदेवता । विराड् अनुष्टुप् । गान्धारः ॥

भा०—हे (अग्ने) अग्ने ! तेजस्विन् ! राजन् ! (त्वम्) तू (उखायाः

अन्तः) नाना ऐश्वर्यों को खोदकर निकालने की एकमात्र खान रूप भूमि एवं राष्ट्र की प्रजा के भीतर और (स्वे सदने) अपने आश्रयस्थान या आसन पर विराजमान रहकर (रुचा) दीप्ति से सूर्य के समान प्रज्वलित हो । और (त्वं) तू (हरसा) अपने ज्वालावत् तीव्र तेज के समान परराष्ट्र के हरण करने में समर्थ बल से (तपन्) तपता हुआ भी, हे (जातवेदः) ऐश्वर्यों से महान् ! तू (तस्याः) उस प्रजा के लिये (शिवः भव) सूर्य और अग्नि के समान ही कल्याणकारी हो ॥ शत० ६ ।

७ । ३ । १५ ॥

शिवो भूत्वा मह्यमग्ने ऽअथो सीद शिवस्त्वम् ।

शिवाः कृत्वा दिशः सर्वाः स्वं योनिमिहासदः ॥ १७ ॥

अग्निदेवता । विराड् अनुष्टुप् । गान्धारः ॥

भा०—हे (अग्ने) अग्ने ! तू (मह्यम्) मुझ राष्ट्रावासी प्रजा के लिये

(शिवः भूत्वा) कल्याणकारी होकर (सीद) सिंहासन पर विराज । (त्वम् शिवः) तू कल्याणकारी है । इसलिये (सर्वाः दिशः) समस्त दिशाओं को (शिवाः कृत्वाः) कल्याणमय, सुखकारिणी बनाकर (इह) इस राष्ट्र में (स्वं योनिम्) अपने आश्रय स्थान, प्रजा के ऊपर (आसदः) विराजमान हो ॥ शत० ६ । ७ । ३ । १५ ॥

दिवस्पतिं प्रथमं जज्ञे ऽअग्निरस्मद् द्वितीयं परि जातवेदाः ।

तृतीयमण्डु नृमणा ऽ प्रजंस्त्रामिन्धान ऽएनं जरते स्वाधीः १८ ॥

१८-१९—वसुधाभारत-न न्यायः ।

अग्निदेवता । निचृशर्षा त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—(प्रथम) सब से प्रथम (दिवः परि) आकाश में विद्यमान सूर्य के समान ज्ञान में निष्ठ (अग्निः) अग्नि, अग्रणी विद्वान् (जज्ञे) उत्पन्न होता है। (द्वितीयम्) दूसरे (अस्मत्) हममें से (जातवेदाः) वेदों का विद्वान्, एवं ऐश्वर्यवान् भी अग्नि, विद्युत् के समान है। (तृतीयम्) तीसरा (अप्सु) जलों में विद्यमान रस के समान, बडवानल के समान है जो (नृमणाः) मनुष्यों में सबसे अधिक विचारवान् है। जो स्वयं (अजस्रम्) नित्य-निरन्तर (इन्द्रानः) तेज से प्रकाशमान रहता है। (एनम्) उसको (स्वाधीः) उत्तम रीति से धारण करने में समर्थ विचारशील प्रजाजन (जरते) उसकी स्तुति करते हैं ॥ शत० ६।७।५।२ ॥

विज्ञा ते ऽअग्ने त्रेधा त्रयाणि विज्ञा ते धाम विभृता पुरुत्रा ।
विज्ञा ते नाम परमं गुहा यद्विज्ञा तमुत्सं यतऽ आजगन्थ १६

अग्निदेवता । निचृदाषीं त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—हे (अग्ने) अग्ने ! राजन् ! (ते) तेरे (त्रेधा) तीन प्रकार के (धाम) धाम, तेजों को हम (विज्ञ) जानें। और (पुरुत्रा) समस्त प्रजाओं के पालने में समर्थ (त्रयाणि) तीनों (विभृता) विविधरूपों से धारण किये हुए (धाम) धारण सामर्थ्यों, और बलों को भी (विज्ञ) जानें। और (ते) तेरा (गुहा यत्) गुहा में, विद्वानों के हृदय में वा वाणी में छिपे या विख्यात तेरा जो (नाम) नाम, नमनकारी अर्थात् शत्रुओं को झुकाने वाला बल या ख्याति है उसको भी (विज्ञ) जानें और तू (यतः) जहां से, जिस स्थान से (आजगन्थ) आता था प्रकट होता है हम (तम्) उस (उत्सम्) बल आदि से सम्पन्न तेरे निकास को भी (विज्ञ) जानें ॥ शत० ६।७।४।४ ॥

‘त्रेधा धाम’—अग्नि, विद्युत् और सूर्य ।

‘त्रयाणि धामानि’ भवन्ति स्थानानि, नामानि, जन्मानि । निरुक्तं अथवा
आहवनीयगार्हपत्यदक्षिणाग्न्यादीनि ।

समुद्रे त्वा नृमणा अप्सवृन्तर्नृचक्षा ऽईधे ऽदिवो अग्न उध्वन् ।
तृतीये त्वा रजसि तस्थिवांस्समपामुपस्थं महिषा ऽअवर्धन् २०

अग्निदेवता । निचृदापीं त्रिष्टुप् । धेवतः ।

भा०—(नृमणाः) मनुष्यों के भीतर अपने चित्त को देने वाला,
लोकोपकारक पुरुष (त्वा) तुझ अग्नि को (समुद्रे) समुद्र के बीच और (अप्सु
अन्तः) जलों के भीतर से भी विद्युत् या बड़वानल के रूप में जिस प्रकार
(ईधे) प्राप्त करता है उसी प्रकार (समुद्रे अप्सु अन्तः त्वा ईधे) उत्तम
अभ्युदय के मार्ग पर प्रजाओं के बीच राजा को प्रज्वलित करता है ।
(नृचक्षाः) मनुष्यों को ज्ञानदर्शन करानेवाला विद्वान् जन ही (दिवः
उध्वन्) सूर्य प्रकाश के उद्गम-स्थान, या आकाश के ऊध्वस्, अर्थात् गाय के
थान के समान नित्य रस प्रदान करनेवाले मेघ में विद्युत् के समान (दिवः
उध्वन्) ज्ञान-प्रकाश के उद्गम-स्थान आचार्य पद पर (ईधे) प्रज्वलित करता
है और (तृतीये) तीसरे सर्वोच्च (रजसि) लोक वा आश्रम में (तस्थिवांसम्)
विराजमान (त्वा) तुझको (महिषाः) बड़े २ विद्वान् लोग (अपाम् उपस्थे)
प्रजाओं के बीच, जलों के बीच, विद्युत् के समान (अवर्धन्) बढ़ावें ॥
शत० ६ । ७ । ४ । ५ ॥

अक्रन्ददग्नि स्तनयन्निव द्यौः क्षामा रेरिहृद्वीरुधः समञ्जन ।
सद्यो जज्ञानो वि हीमिद्धो ऽअख्यदा रादसी भानुना भात्यन्तः २१

भा०—व्याख्या देखो अ० १२ । ६ ॥

धीणामुदारो ध्रुवो रयीणां मनीषाणां प्रार्पणः सोमगोपाः ।
वसुः सुनुः सहवो ऽअप्सु राजा वि भात्यग्रं ऽउषसामिधानः २२

अग्निदेवता । निचृदापीं त्रिष्टुप् । धेवतः ॥

भा०—(श्रीणाम्) लक्ष्मियों, ऐश्वर्यों का (उदारः) सत्पात्रों में दान करने हारा, (रयीणाम् धरुणः) ऐश्वर्यों का आश्रय स्थान, उनका धारण करनेवाला, (मनीषाणाम्) नाना ज्ञान करानेवाली मतियों को (प्रार्षणः) प्राप्त करानेवाला, (सोमगोपाः) सोम, ऐश्वर्यमय राष्ट्र या विद्वानों का रक्षक, (वसुः) प्रजाओं का बसाने वाला, (सहस्रः) शत्रु के पराजय करने वाले बल का (सूनुः) प्रेरक, सञ्चालक, सेनानायक (राजा) राजा (उपसाम् अग्रे) दिनों के प्रारम्भ में उदय होनेवाले सूर्य के समान (इधानः) स्वयं अपने प्रताप से दीप्त होनेवाला, (अप्सु) जलों या समुद्र के तल पर उठते सूर्य के समान प्रजाओं के बीच (वि भाति) विविध प्रकार से शोभा देता है ।

विश्वस्य केतुर्भुवनस्य गर्भ आ रोदसी ऽअपृणाज्जायमानः ।
वीडुं चिदद्रिमभिनत् परायज्जना यदग्निमयजन्त पञ्च ॥ २३ ॥

आग्निदेवता । आर्षी त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—सूर्य जिस प्रकार (विश्वस्य) अपने प्रकाश से समस्त संसार का (केतुः) ज्ञान कराने वाला है और (भुवनस्य) समस्त लोक को (गर्भः) अपने वश में करने वाला, एवं उसमें नियामक शक्ति के रूप में व्यापक है और (जायमानः) प्रकट होता हुआ (रोदसी) द्यौ और पृथिवी दोनों को (आ अपृणात्) सर्वत्र व्याप लेता है उसी प्रकार जो विद्वान् पुरुष (विश्वस्य केतुः) सबको अपने ज्ञान से ज्ञान कराने वाला, और (जायमानः) उदित होकर (रोदसी) राजवर्ग और प्रजावर्ग दोनों को (आ अपृणात्) पूर्ण और पालन करने में समर्थ है और वायु जिस प्रकार (अद्रिम् अभिनत्) मेघ को और विद्युत् पर्वत को काट देती है उसी प्रकार (वीडुम् अद्रिम्) बलवान्, अमेघ शत्रुगण को (परा-यन्) उनपर

२३—‘वाळु’० शक्ति कायव० ।

आक्रमण करता हुआ (अभिनत्) तोड़ डालता है और (यत्) जिस (अग्निम्) अग्रणी नायक, ज्ञानवान् पुरुष को (पञ्च) पाचों जन ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, और निषाद (अयजन्त) आदर करते हैं वह राजा सूर्य के समान प्रकाशित होता है ।

उशिक्ष् पावको ऽअरतिः सुमेधा मर्त्येष्वग्निरमृतो निधायि ।
इयत्ति धूममरुषं भरिभ्रदुच्छुक्रेण शोचिषा द्यामनक्षन् ॥ २४ ॥

अग्निदेवता । निचुर्धर्षी त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—(मर्त्येषु) मरणधर्मा देहों में (अमृतः) अविनाशी, अमृत स्वरूप जिस प्रकार विद्यमान है, उसी प्रकार मनुष्यों के बीच (उशिक्ष्) सबका वशयिता, कान्तिमान्, (पावकः) सबको पवित्र करने वाला, (अरतिः) अत्यधिक मतिमान्, (सु-मेधाः) उत्तम बुद्धि सम्पन्न, विद्वान्, (नि-धायि) स्थापित किया जाय । (अग्निः) जिस प्रकार (अरुषं धूमम् इयत्ति) कान्तिरहित धूम को छोड़ता है उसी प्रकार वह विद्वान् भी (अरुषम्) रोपरहित (धूमम्) शत्रुओं को अपने पराक्रम से कंपाने वाले वीर्य या बल को (उत् इयत्ति) उन्नत करता है । समस्त राष्ट्र का (भरिभ्रत्) भरण पोषण करता हुआ (शुक्रेण शोचिषा) अति उज्ज्वल प्रकाश से सूर्य (द्याम् इनक्षन्) जिस प्रकार आकाश को व्यापता है उसी प्रकार वह भी उज्ज्वल प्रकाश से (द्याम्) तेजस्वी लोकों को या ज्ञानवान् पुरुषों को (इनक्षन्) प्राप्त होता है ।

इशानो रुक्म उर्वर्या व्यद्यौहर्मर्षमायुः श्रिय रुचानः ।

अग्निरमृतो ऽअभवद् वयोभिर्देनं द्यौरजनयत्सुरतः ॥ २५ ॥

भा०—व्याख्या देखो अ० १२ । १ ॥

यस्ते ऽअद्य कृणवद्भद्रशोचे ऽगुपं देव घृतवन्तमग्ने ।

प्रतं नय प्रतरं वस्यो ऽअब्धुभि सुम्रं द्रवभक्तं यविष्ठ ॥ २६ ॥

अग्निदेवता । निचुर्धर्षी त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—हे (देव) देव, राजन् ! (यः) जो (अद्य) आज, नित्य (ते) तेरे लिये (धृतवन्तम्) धृत से भरा हुआ (अपूपम्) अपूप, मालपूप के समान, भोज्य पदार्थ को (कृणवत्) तैयार करता है (तं) उस (प्रतरम्) उत्कृष्ट पुरुष को (प्र नय) प्राप्त कर । हे (यविष्ठ) बलवान् पुरुष ! तू (वस्यः) सर्व श्रेष्ठ (सुम्नम्) सुखकारी (देवभक्तम्) विद्वान् सात्विक पुरुषोचित अन्न को (अच्छ अभि) प्राप्त करे ॥

सेनापति पक्ष में—हे (भद्र-शोचे) कल्याण, कमनीय तेजवाले देव ! अग्ने ! राजन् ! (यः ते) जो तेरे (धृतवन्तम् अपूपम्) तेजोयुक्त इन्द्रिय और राज्य-सामर्थ्य को (कृणवत्) करता है (तं) उस (प्रतरं) राज्य कार्य को पार लगानेवाले राज्यकर्ता पुरुष को (वस्यः नय) उत्तम धन प्राप्त करा । हे (यविष्ठ) युवतम ? वीर्यवान् ? उस (देवभक्तं) राजा के सेवन योग्य (सुम्नं अच्छ अभि) सुखदायी धन भी प्रदान कर ॥

आ तं भज सौश्रवसेष्वन्न उक्थ उक्थ उन्ना भज शस्यमाने
प्रियः सूर्ये प्रियो उन्ना भवात्युज्जातेन भिनददुज्जनित्वैः २७

अग्निदेवता । विराडाधीं त्रिष्टुप् । ध्रुवतः ॥

भा०—जो (सूर्य) सूर्य के समान तेजस्वी, राजा के पद पर (प्रियः) सबको प्रिय, हितकारी और (अग्रौ) अग्नि, शत्रुतापक, अग्रणी सेना-नायक के पद पर भी (प्रियः) सर्वप्रिय (भवति) हो और (जातेन) अपने किये हुए कार्य से और (जनित्वैः) आगे होनेवाले कार्यों से भी (उव भिनदत्) शत्रुओं को उखाड़ता और प्रजा के उपकार के कार्यों को उत्पन्न करता है । (तम्) उसको, हे राजन् ! (सौश्रवसेषु) उत्तम कीर्ति के पदों और अवसरों पर (आ भज) नियुक्त कर और (उक्थे उक्थे शस्यमाने) प्रत्येक प्रशंसा योग्य यज्ञादि कार्य के वर्णन करने के अवसर पर भी (तं आ भज) उसकी श्रुश्रूपा कर, उसको मान-पद प्राप्त करा ॥

त्वामग्ने यजमानाऽऽनु द्यून् विश्वा वसुं दधिरे वार्याणि ।
 त्वया सह द्रविणमिच्छमाना व्रजं गोमन्तमुशिजो विवब्रुः ॥ २८ ॥

अग्निदेवता । विराडार्षी त्रिष्टुप् । धैवतः ।

भा०—हे (अग्ने) विद्वान् राजन् ! (त्वां यजमानाः) तेरे से संगति करनेहारे, तेरे सहयोगी, (अनु द्यून्) प्रतिदिन (वार्याणि) नाना वरण करने योग्य (विश्वा) सब प्रकार के (वसु) धनैश्वर्यों को (दधिरे) धारण करते हैं । और वे (त्वया सह) तेरे साथ ही उद्योग से (द्रविणम्) ऐश्वर्य को प्राप्त करना (इच्छमानाः) चाहते हुए (उशिजः) वशी एवं कामनावान् विद्वान् पुरुष (गोमन्तं व्रजं) उत्तम किरणों से युक्त सूर्य और विद्युतों से युक्त मेघ को जिस प्रकार किसान चाहते हैं, धनी लोग जिस प्रकार गौओं से भरी गोशाला को चाहते हैं, उसी प्रकार (गोमन्तं) किरणों से युक्त (व्रजम्) सूर्य के समान तेजस्वी, एवं वेद-वाणियों से युक्त (व्रजम्) सब से अभिगन्तव्य परिवाट के समान विद्वान् को (विवब्रुः) वरण करते हैं, उसके शरण में आते, उसको घेर कर बैठते हैं ।

अस्ताव्युग्निर्नराथं सुशेवो वैश्वानरऽऽषिभिः सोमगोपाः ।
 अद्वेषे द्यावापृथिवी हुवेम देवा धृत्त रयिमस्मे सुवीरम् ॥ २९ ॥

अग्निदेवता । विराडार्षी । त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—(नरां सु-शेवः) मनुष्यों को उत्तम सुख देनेवाला, (वैश्वानरः) समस्त मनुष्यों का हितकारी, प्रजापति, (सोम-गोपाः) सोम, राजपद या राष्ट्र के ऐश्वर्य का रक्षक (अग्निः) तेजस्वी राजा, नेता (ऋषिभिः) मन्त्रद्रष्टा विद्वान्, ऋषियों द्वारा (अस्तावि) स्तुति किया जाता है । हम (द्यावा-पृथिवी) राजा और प्रजा को, पिता और माता के समान (अद्वेषे) द्वेष रहित रहने का (हुवेम) उपदेश करते हैं । हे (देवाः) देवगण विद्वान् शासको ! विजयशील योद्धाओ और दानशील धनाढ्य पुरुषो ! आप लोग

(अस्मे) हमें (सुवीरम् रयिम्) उत्तम वीर पुरुषों से युक्त ऐश्वर्य को (धत्त) प्रदान करो ॥

समिधाग्निं दुवस्यत घृतैर्बोधयतातिथिम् ।

आस्मिन् हुन्त्या जुहोतन ॥ ३० ॥

विरूपाक्ष आंगिरस ऋषिः । अग्निदेवता । गायत्री । षड्जः ।

भा०—व्याख्या देखो अ० ३ । १ ॥ शत० ६ । ८ । १ । ६ ॥

उदु त्वा विश्वे देवाऽअग्न भरन्तु चित्तिभिः ।

स नो भव शिवस्त्वथं सुप्रतीको विभावसुः ॥ ३१ ॥

तापस ऋषिः । अग्निदेवता । विराडनुष्टुप् । गान्धारः ॥

भा०—हे (अग्ने) अग्ने ! विद्वन् ! राजन् ! (त्वा) तुझ को विश्व-
देवाः) समस्त विजयशील विद्वान् एवं दानशील पुरुष (चित्तिभिः)
अपनी विद्याओं से और संचित शक्तियों से या बुद्धि पूर्वक किये कार्यों से
(उदु भरन्तु) पूर्ण करें, उन्नत करें, तुझे बढ़ावें और (सः) वह तू
(नः) हमारे लिये (सु-प्रतीकः) सुरुप, शत्रु के प्रति उत्तमता से जाने में
समर्थ, (विभावसुः) विशेष तेजस्वी, ऐश्वर्यावान्, और सूर्य के समान
दीप्तिमान्, (शिवः) कल्याणकारी (भव) हो ॥ शत० ६ । ८ । १ । ७ ॥

प्रेदग्ने ज्योतिष्मान् याहि शिवेभिर्ऋचिभिर्द्वम् ।

बृहद्भिर्भानुभिर्भासन् मा हिंसीस्तन्वा प्रजाः ॥ ३२ ॥

अग्निदेवता । विराडनुष्टुप् । गान्धारः ॥

भा०—हे (अग्ने) अग्ने ! राजन् ! विद्वन् ! (ज्योतिष्मान्) परम तेजस्वी
होकर भी (त्वम्) तू (शिवेभिः ऋचिभिः) अपनी कल्याणकारी ज्वालाओं,
एक मात्र शस्त्रमालाओं से (प्र इत् याहि) प्रयाण कर और (बृहद्भिः)
अपने बड़े (भानुभिः) सूर्य के समान तेजों से (भासन्) प्रकाशित
होता हुआ भी (प्रजाः) अपनी प्रजा को (तन्वा) शरीर से (मा हिंसी)

कभी नष्ट मत कर । प्रजाओं को शारीरिक वध का दण्ड मत दे । उनको मत सता । अथवा (तन्वा प्रजाः मा हिंसीः) अपनी विस्तृत शक्ति से प्रजा का नाश मत कर । शत० ६ । ८ । १ । ॥ १० ॥

अक्रन्ददग्नि स्तनयन्निव द्यौः क्षामा रेरिहृद्दीरुधः समञ्जन् ।
सद्योज्ञानो विहीमिन्द्रोऽअख्यदा रोदसी भानुना भात्यन्तः ॥ ३३ ॥

भा०—व्याख्या देखो १२ । ६ ॥ शत० ६ । ८ । १ । १३ ॥

प्रणयमग्निर्भरतस्य शृण्वे वि यत्सूर्यो न रोचते बृहद्भाः । अभि
यः पुरुं पृतनासु तस्थौ दीदाय दैव्योऽअतिथिः शिवो नः ॥ ३४ ॥

ऋ० ७ । ८ । ४ ॥

वसिष्ठ ऋषिः । अभिदेवता । आर्षी त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—(अयम् अग्निः) यह तेजस्वी राजा (यत्) जब (भरतस्य) अपने भरण पोषण, एवं पालन करने योग्य राष्ट्र के (प्र प्र शृण्वे) समस्त सुख दुःख स्वयं भली प्रकार सुनता है, उसके कष्टों पर कान देता है, तब (बृहद्भाः) विशाल तेजस्वी राजा (सूर्यः न) सूर्य के समान (रोचते) प्रकाशित होता है । और (यः) जो राजा (पृतनासु) सेनाओं से (पूरुम्) पूर्ण बलवान् शत्रु पर भी (अभि तस्थौ) चढ़ जाने में समर्थ है वह (दैव्यः) दिव्य शक्तियों से युक्त होकर (दीदाय) प्रकाशित होता है । और वह (नः) हमारा मंगलकारी होने से (अतिथिः) अतिथि के समान पूजनीय है ॥ शत० ६ । ८ । १ । १४ ॥

आपो देवीः प्रतिगृभ्णीत भस्मैतत्स्योने कृणुध्वथं सुरभाऽउ लोके ।
तस्मै नमन्तां जनयः सुपत्नीर्मानेव पुत्रं विभृताप्स्वेनत् ॥ ३५ ॥

आपो देवताः । आर्षी त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—हे (देवीः आपः) दिव्य गुण वाले, विजय शक्ति से युक्त, एवं दानशील बलों के समान शुभ, शान्ति आदि गुणों में व्यापक एवं वास प्रजाओ ! तुम लोग (एतत्) इस (भस्म) राजा के अनुरूप तेज को

(प्रतिगृणीत) धारण करो । (स्योने) सुखकारी, (सुरभौ लोके) ऐश्वर्यवान् लोक में, या उत्तम नियमकारी पद पर इसको (कृणुध्वम्) रखो, पालन करो । (तस्मै) उसके सुख के लिये (सुपत्नीः) उत्तम पत्नी रूप (जनयः) स्त्रियां जिस प्रकार वीर्य धारण करने के लिये अपने प्रिय पति के सामने आदर से (नमन्तां) झुकती हैं । उसी प्रकार प्रजाएँ अपने राजा के प्रति आदर से झुकें । और (पुत्रः माता इव) पुत्र को जिस प्रकार माता पालती पोषती है उसी प्रकार हे आस प्रजाजनो ! आप लोग भी (एतत्) इस राजकीय तेज को (अप्सु) अपने उत्तम कार्यों और व्यवहारों द्वारा (विभृत्) पुष्ट करो ॥ शत० ६ । ८ । २ । ३ ॥

स्त्रियों के पक्ष में—हे पुरुषो ! (आपः देवीः) आस, शुभ गुणों वाली देवियों को आप लोग (एतत् भस्म प्रति गृणीत) इस तेज को ग्रहण कराओ । (स्योने सुरभौ लोके उ कृणुध्वम्) उनको सुखमय स्थानों में रखो । पति के (एतत् भस्म) इस तेजस्वी वीर्य को (सुपत्नीः जनयः) उत्तम पत्नियों (नमन्ताम्) आदर से स्वीकार करें । और (माता पुत्रः इव एतत् विभृत्) पुत्र को माता के समान, उस वीर्य को धारण कर पोषण करें ।

अप्स्वृग्ने सधिष्टव सौषधीरनु रुध्यसे ।

गर्भे सन् जायसे पुनः ॥ ३६ ॥ ऋ० ८ । ४ । १ ॥

विरूप ऋषिः । अग्निदेवता । निचृद् गायत्री । षड्जः ॥

भा०—गर्भों में बीजोत्पत्ति की समानता से राजोत्पत्ति का वर्णन करते हैं । हे (अग्ने) तेजस्विन् ! राजन् ! जिस प्रकार जीव की (अप्सु संधिः) जलों में स्थिति है इसी प्रकार हे राजन् ! (अप्सु ते संधिः) आस प्रजाजनों में तेरा निवासस्थान है । जीव, जिस प्रकार (ओषधीः अनुरुध्यसे) ओषधियों को प्राप्त होता है, ओषधिरूप में उत्पन्न होता है, अथवा (सः) वह जीव (ओषधीः अनु) ओषधियों के समान (रुध्यसे) गर्भों

में उत्पन्न होता है वह ठीक ओषधियों के समान ही मातृ-योनि-कमल में गर्भित होकर, अपना मूल जमा कर उत्पन्न होता है। हे जीव ! तू (गर्भे सन् पुनः जायसे) गर्भ में रह कर पुनः पुत्ररूप से या शरीरधारिरूप से उत्पन्न होता है। उसी प्रकार राजा का भी (अप्सु संधिः) प्रजाओं के बीच में निवासस्थान है। हे राजन् (सः) ! वह तू (ओषधीः अनुरुद्धय-से) प्रजाओं के हित के लिये ही राज्यपद ग्रहण के लिये आग्रह किया जाता है। उनके बीच (गर्भे सन्) उनको ग्रहण या वश करने में समर्थ होकर, तू (पुनः जायसे) पुनः, २ शक्तिमान् होकर प्रकट होता है ॥ शत० ६।८।२।४ ॥

गर्भोऽत्रस्योषधीनां गर्भो वनस्पतीनाम् ।

गर्भो विश्वस्य भूतस्याग्ने गर्भो अपामसि ॥ ३७ ॥

अग्निदेवता । भुरिगुष्णिक् । ऋषभः ॥

भा०—हे जीव ! अग्ने ! तू (ओषधीनां गर्भः असि) ओषधियों का गर्भ है, तू उनके भी बीच में विद्यमान है। तू (वनस्पतीनां गर्भः असि) वनस्पति, बड़े २ वृक्षों का गर्भ है, अर्थात् उनके बीच में भी विद्यमान है। (विश्वस्य भूतस्य गर्भः) समस्त उत्पन्न प्राणियों के बीच में विद्यमान है और (अपां गर्भः असि) जलों वा प्राणों के भीतर भी विद्यमान है। इसी प्रकार अग्नि या विद्युत् ओषधियों के रसों में, वनस्पतियों के कणों में और समस्त पदार्थों के बीच और जलों के भीतर भी विद्यमान है। राजा के पक्ष में—(ओषधीनां) तापधारक वीर पुरुषों के (गर्भः) ग्रहण करने या वश करने में समर्थ है, (वनस्पतीनाम्) महावृक्ष के समान सर्वाश्रय बड़े २ पुरुषों को भी (गर्भः) वश करने में समर्थ है। (विश्वस्य भूतस्य गर्भः) समस्त प्राणियों को वश करने में समर्थ है। और (अपां गर्भः असि) आसजन, प्रजाओं को भी वश करने में समर्थ, उनसे स्वीकार किये जाने योग्य है ॥ शत० ६।८।२।४ ॥

प्रसद्य भस्मना योनिमपश्च पृथिवीमग्ने ।

संसृज्य मातृभिष्ट्वं ज्योतिष्मान् पुनरासदः ॥ ३८ ॥

अग्निदेवता । निचृदार्ष्यनुष्टुप् । गान्धारः ॥

भा०—जीवपक्ष में—हे (अग्ने) जीव ! तू (भस्मना) अपने देह को भस्म से (पृथिवीम् प्रसद्य) पृथिवी में मिलकर और (भस्मना) तेजमय वीर्य रूप से ही (अपः) जलों और (योनिं च) मातृयोनि को भी प्राप्त होकर (मातृभिः) माताओं के साथ पितृ रूपों में (संसृज्य) संयुक्त होकर (ज्योतिष्मान्) तेजस्वी बालक होकर (पुनः आसदः) पुनः इस लोक में आता है । अग्नि-पक्ष में—अग्नि भस्म होकर पुनः पृथिवी पर लीन हो जाता है और जलों से मिलकर फिर (मातृभिः) ईश्वर की निर्माणकारिणी शक्तियों से युक्त होकर वृक्षादि रूप में पुनः काष्ठ होकर उत्पन्न होता है और जलता है ॥ शत० ६ । ८ । ९ । ६ ॥

राजा के पक्ष में—हे (अग्ने) तेजस्विन् राजन् ! (भस्मना) अपने तेज से (योनिम्) अपने मूलकारण उत्पादक और आश्रयरूप (अपः) प्रजाओं और (पृथिवीम्) पृथिवी को (प्रसद्य) प्राप्त होकर (मातृभिः) ज्ञानशील पुरुषों के साथ (संसृज्य) मिलकर (ज्योतिष्मान्) सूर्य के समान तेजस्वी होकर (पुनः) बार २ (आसदः) अपने आसन पर आदर पूर्वक विराज ।

पुनरासद्य सदनमपश्च पृथिवीमग्ने ।

शेषे मातुर्यथोपस्थे अन्तरस्यां शिवतमः ॥ ३९ ॥

अग्निर्ऋषिः । निचृदनुष्टुप् । गान्धारः ॥

भा०—(यथा) जिस प्रकार (मातुः उपस्थे) माता की गोद में बालक सोता है, उसी प्रकार हे (अग्ने) राजन् ! तेजस्विन् ! तू भी (पुनः) फिर अपने (सदनम्) सिंहासन पर (आसद्य) बैठकर

(अपः पृथिवीम्) समस्त प्रजाओं और पृथिवी को (आसद्य) प्राप्त कर, उसपर अधिष्ठित होकर (अस्याम्) इस पृथिवी के भीतर (शिव-तमः) सब से अधिक कल्याणकारी होकर (शेषे) व्याप्त, प्रसुप्त, गम्भीर होकर रह ॥ शत० ६ । ८ । ९ । ६ ॥

पुनरुज्जा निवर्त्तस्व पुनरग्न इष्टायुषा । पुनर्नः प्राह्यथंहसः ॥४०॥
सह रय्या निवर्त्तस्वाग्ने पिन्वस्व धारया ।
विश्वस्न्या विश्वतस्परि ॥ ४१ ॥

भा०—व्याख्या देखो १२ । ९, १० ॥ शत० ६ । ८ । २६ ॥

शेषां मेऽग्नस्य वचसो यविष्ठ मथंहिष्ठस्य प्रभृतस्य स्वधावः ।
पीयति त्वोऽअनु त्वो गृणाति वन्दारुष्टे तन्वं वन्देऽअग्ने ॥४२॥

श्र० १ । १४७ । २ ॥

दीर्घतमा ऋषिः । अभिदेवता । विराडापीं त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—हे (यविष्ठ) युवतम ! हे बलवन् ! हे (स्वधावः) स्वच्छ शरीर को धारण करने योग्य अन्न के स्वामिन् ! (मे अस्य) मुझ इस प्रार्थी के (महिष्ठस्य) अत्यन्त अधिक आवश्यक रूप से कहने योग्य और (प्रभृतस्य) उत्तम रीति से यथाविधि आप तक पहुँचाये गये (वचसः) वचन को (बोध) यथावत् जानो । इस न्यायकार्य में (त्वः) कोई (पीयति) तेरी निन्दा करेगा और (अनु त्वः गृणाति) और कोई तेरी स्तुति करेगा । अथवा इस मेरे वचन को (त्वः पीयति) एक काटे और (त्वः) दूसरा (अनुगृणाति) उसके पक्ष में कहे । इस प्रकार दोनों पक्षों की सुन कर आप निर्णय करें । और मैं (वन्दारुः) वन्दना करने वाला, विनीत प्रार्थी, हे (अग्ने) ज्ञानवन् ! सत्य असत्य के विवेक करनेवाले विद्वन् ! राजन् ! (ते तन्वं) तेरे शरीर, या विस्तृत शासन का : (वन्दे) गुणानुवाद करता हूँ । राजा या विवेकी विद्वान् धर्माध्यक्ष के पास जाकर कोई अपना वचन लिखित

प्रार्थनापत्र आदि उचित रीति से कहे । एक उसके विपक्ष में और एक पक्ष में कहे । फैसला होने पर विनीत प्रार्थी आदरपूर्वक विदा हो ॥ शत० ६ । ८ । २ । ९ ॥

अध्ययनाध्यापन पक्ष में—हे (यविष्ठ) बलवान् ! युवतम ! (प्रभू-तस्य) उत्तम ज्ञान के धारण करनेवाले, (मंहिष्ठस्य) तुझ बड़े विद्वान् पुरुष का (वचसः बोध) वचन का ज्ञान प्राप्त कर । हे (अग्ने) ज्ञानवान् पुरुष ! (पीयति त्वः अनुगृणाति त्वः) चाहे तुमारी कोई निन्दा करे या स्तुति करे, (वन्दारः) अभिवादनशील शिष्य मैं (ते तन्वं बन्दे) तेरे शरीर के चरणों में नमस्कार करता हूँ ।

स वोधि सुरिर्मघवा वसुपते वसुदावन ।

युयोध्युस्मद् द्वेषांशि विश्वकर्मणे स्वाहा ॥ ४३ ॥

सोमाहुतिर्ऋषिः । अग्निर्देवता । आर्ची पंक्तिः । पंचमः ॥

भा०—हे (वसु-पते) धन ऐश्वर्य के पालक ! हे (वसु-दावन) धनप्रदाता ! (मघवा) ऐश्वर्यवान् (सुरिः) विद्वान् (सः) वह तू (बोधि) हमारे समस्त अभिप्राय को या सत्य-असत्य को जान । और (अस्मत्) हम से (द्वेषांसि) द्वेष या परस्पर के अप्रीति के कारणों को (युयोधि) दूर कर । हममें न्यायपूर्वक फैसला कर । (विश्व-कर्मणे) समस्त राष्ट्र के कार्यों को उत्तम रीति से करनेहारे तेरे लिये (स्वाहा) हम सदा आदर वचन का प्रयोग करते हैं ॥ शत० ६ । ८ । २ । ९ ॥

पुनस्त्वादित्या रुद्रा वसवः समिन्धतां पुनर्ब्रह्माणो वसुनीध
यज्ञैः । घृतेन त्वं तन्वं वर्धयस्व सत्याः सन्तु यजमानस्य कामाः ॥

अग्निदेवता । स्वराडार्पी त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—(आदित्याः) आदित्य के समान विद्वान् (रुद्राः) रुद्र

ब्रह्मचारी, (वसवः) वसु ब्रह्मचारी (त्वाम्) तुझको (पुनः समिन्ध-
ताम्) वार २ प्रदीस करें । (ब्रह्माणः) ब्रह्म, वेद के विद्वान् लोग
(यज्ञैः) यज्ञों या सत्संगों द्वारा, हे (वसुनीथ) ऐश्वर्य के प्राप्त कराने-
हारे ! (पुनः सम् इन्धताम्) वार वार तुझे प्रदीस करें, पुनः ज्ञानवान्
करें और (त्वम्) तू (घृतेन) घी से अग्नि के समान, पुष्टिकारक पदार्थ
से अपने (तन्वं) शरीर को (वर्धयस्व) पुष्ट कर । (यजमानस्य)
दानशील या संगति करनेहारे पुरुष के (कामाः) समस्त संकल्प, समस्त
आशाएं (सत्याः सन्तु) सत्य हों ॥

अपेतं व्रीतं वि च सर्पतातो येऽत्र स्थ पुराणा ये च नूतनाः ।
अदाद्यमोऽवसानं पृथिव्याऽअक्रान्तिमं पितरो लोकमस्मै ॥४५॥

पितरो देवताः । निचृदार्षी त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—हे (पितरः) राष्ट्र के पालक पुरुषो ! आप लोगों में से
(अत्र) इस राज्यपालन के कार्य में (ये पुराणाः) जो पुराने, पहले से
नियुक्त और (ये च) जो (नूतनाः) नये नियुक्त हैं । वे (अप इत)
दूर २ देशों में भी जायें, (वि इत) विविध देशों में भ्रमण करें,
(वि सर्पत) विविध उपायों से सर्वत्र फैल कर गुप्त दूतों का भी काम
करें । (यमः) सर्वनियन्ता राजा (पृथिव्याः) पृथिवी में (अवसानम्)
तुम लोगों को अधिकार और स्थान (अदात्) प्रदान करता है । और
(पितरः) राज्य के पालक लोग (अस्मै) इस राजा के लिये (इमं
लोकम्) इस भूलोक को (अक्रन्) वश करते हैं ।

शिक्षा-पक्ष में—(ये पुराणा ये च नूतनाः) जो पुराने वृद्ध और
नये (पितरः) पिता लोग हैं वे (अपेत) अधर्म से परे रहें । (वि इत)
विशेष धर्म का पालन करें (अत्र वि सर्पत च) यहां ही विचरण करें । (यमः)

४५—अथ गार्हपत्यचयनम् ।

नियामक आचार्य (पृथिव्या अवसानं अदात्) पृथिवी में तुमको अधिकार पद दे, आप लोग इसके लिये इस सत्य संकल्पवान् पुरुष के लिये (इमं लोकम् अक्रन्) इस आत्मा का ज्ञान लाभ करावें ॥ शत० ७ । १ । १ । १२-४ ॥

संज्ञानमसि कामधरणम्मयि त कामधरणं भूयात् । अग्नेर्भस्मा-
स्यग्नेः पुरीषमसि चितस्थ परिचितः ऊर्ध्वचितः श्रयध्वम् ॥ ४६ ॥

अग्निदेवता । भुरिगार्षी त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—हे अग्ने ! विद्वन् ! तू (संज्ञानम् असि) समस्त प्रजा को ज्ञान देनेहारा है । (ते) तेरा (कामधरणम्) अपनी अभिलाषा को पूर्ण करने का जो सामर्थ्य है वह (मयि) मेरे में भी (कामधरणम् भूयात्) मेरी अभिलाषाओं को पूर्ण करने वाला हो । हे विद्वन् ! तू (अग्नेः) अग्रणी, नेता पुरुष का (भस्म असि) भस्म अर्थात् तेजःस्वरूप है तू (अग्नेः पुरीषम् असि) तेजस्वी सूर्य का लक्ष्मीसम्पन्न समृद्ध रूप है । हे प्रजाओ ! एवं अधिकारी पुरुषो ! आप लोग (चितः स्थ) ज्ञानवान् हो । आप लोग (परिचितः) सब ओर से ज्ञान संग्रह करनेहारे और (ऊर्ध्वचितः स्थ) मोक्ष पद का प्रवचन या ज्ञान करनेहारे भी हो । आप लोग (श्रयध्वम्) इस राष्ट्र में सुख से आश्रय पाइये । अथवा—हे (परिश्रितः) राजा के आश्रित एवं उसके रक्षक प्रजा के सभासद् पुरुषो ! आप लोग (चितः स्थ) विज्ञानवान् एवं धन सञ्चय करने में कुशल हैं । (परिचितः स्थ) सब ओर से उत्तम पदार्थों के संग्रहशील एवं (ऊर्ध्वचितः) उत्कृष्ट पदार्थों के संग्रहशील हो । आप लोग सन्चित ईंटों के समान राष्ट्र की भित्ति में (श्रयध्वम्) एक दूसरे के आश्रय बनकर रहो । या राजा का आश्रय करके रहो, उसकी सेवा करो ॥ शत० ७ । १ । १ । ८ ॥

४६—संज्ञानमूपदैवत्यम् ॥ सर्वा० ॥

अथ॑ सोऽग्नि॑र्यस्मिन् त्सोम॑मिन्द्रः सु॒तं द॒धे ज॒ठरे॑ वाव॒शानः॑ ।
सह॑स्त्रियं वाज॑मत्यं न स॒सि॑त्थं स॒सवान्त्स्तू॑यसे जा॒तवेदः॑ ॥४७॥

ऋ० ३ । २२ । १ ॥

विश्वामित्र ऋषिः । अग्निदेवता । आर्षी त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—(अयं सः अग्निः) यह वह अग्नि, ज्ञानवान् तेजस्वी पुरुष है (यस्मिन्) जिसके आश्रय पर (इन्द्रः) ऐश्वर्यवान् राजा (वावशानः) अति अधिक सन्तुष्ट, एवं अभिलाषावान् होकर (सहस्त्रियं) सहस्रों ऐश्वर्यों से समृद्ध (वाजम्) अन्नादिक (अत्यं न ससिम्) अति वेगवान् अश्व के समान आरोहण योग्य (सुतम्) ध्यवस्थित, शासित (सोमम्) समृद्ध राष्ट्र को (जठरे) अपने वश करनेवाले अधिकार में (दधे) धारण करता है । हे (जातवेदः) ऐश्वर्यवान् एवं प्रजावान् पुरुष ! तू (ससवान् सन्) दान करता हुआ ही (स्तूयसे) स्तुति किया जाता है ॥ शत० ७ । १ । १ । १ २१ ॥

यहां 'सहस्त्रियं वाजम्' यह पाठ महर्षि दयानन्दसंमत विचारणीय है ।

अग्ने॑ यत्ते॒ दिवि॑ वर्चः॑ पृथि॒व्यां यदोष॑धीष्वप्स्वा यज॑त्र ।
येनान्तरि॑क्षमु॒र्वात॑तन्थ त्वेषः॑ स भानुर॑र्णवो नृचक्षाः॑ ॥ ४८ ॥

ऋ० ३ । २२ । २ ॥

विश्वामित्र ऋषिः । अग्निदेवता । भुरिगार्षी पंक्तिः । पञ्चमः ॥

भा०—हे (अग्ने) ज्ञानवान् ! तेजस्विन् सूर्य के समान राजन् ! (यत् ते वर्चः) जो तेरा असह्य तेज (दिवि) सूर्य में विद्यमान है और (यत् ते वर्चः पृथिव्याम्) जो तेरा तेज पृथिवी में विद्यमान है और (यत् ओषधीषु) जो तेरा तेज ओषधियों और शत्रुसंतापकारी सैनिकों में है और हे (यजत्र) उपासनीय पूज्य पुरुष ! जो तेरा तेज (अप्सु) जलों के समान

४७—'सहस्त्रियं वाजम्' इति पाठो दयानन्दसंमतश्चिन्त्यः ॥

शान्त-स्वभाव प्रजाजनों में है, (येन) जिस तेज से (उरु) विशाल (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष को भी तू (आततन्थ) व्यापता है, (सः) वह तेरा तेज (भानुः) अति दीप्ति युक्त, (त्वेषः) कास्तिमान् अति तीक्ष्ण होकर भी (अर्णवः) व्यापक या जल से पूर्ण समुद्र के समान गम्भीर, ज्ञानवान् और (नृ-चक्षाः) समस्त मनुष्यों के शुभाशुभ कर्मों का सूर्य के समान द्रष्टा है ॥ शत० ७ । १ । १ । २३ ॥

अग्ने दिवोऽअर्णमच्छा जिगास्यच्छा देवाँ २ ऽ ऊचिषे धिष्या ये ।
या रोचने परस्तात् सूर्यस्य याश्चावस्तादुपतिष्ठन्त ऽ आपः ॥ ४६ ॥

ऋ० ३ ! २२ । ३ ॥

विश्वामित्र ऋषिः अग्निदेवताः । भुरिगार्धी पंक्तिः । पञ्चमः ॥

भा०—हे (अग्ने) विद्वन् ! तेजस्विन् ! तू (दिवः) सूर्य या प्रकाश के (अर्णम्) विज्ञान को (अच्छ जिगासी) भली प्रकार प्राप्त करता है । (ये धिष्याः) और जो बुद्धियों को प्रेरणा करनेवाले, विद्वान् पदाधिकारी पुरुष हैं उन (देवान्) मुख्य तेजस्वी पुरुषों को (ऊचिषे) तू उपदेश और अनुज्ञा प्रदान करता है । और (याः) जो (आपः) आसजन (सूर्यस्य) सूर्य के समान तेजस्वी राजा के (रोचने) अभिमत कार्य में (परस्तात्) दूर २ देश में जाते हैं और (याः च अवस्तात्) जो आसजन उसके समीप (उपस्थित) रहते हैं, तू उनको भी (जिगासि) अपने वश कर और उनको (ऊचिषे) शिक्षा आज्ञा कर । शत० ७ । १ । १ । २४ ॥

पुरीष्यासोऽअग्नयः प्रावणेभिः सजोषसः ।

जुषन्ता यक्षमद्रहोऽनमीवाऽइषो महीः ॥ ५० ॥ ऋ० ३ । २२ । ४ ॥

विश्वामित्र ऋषिः । अग्निदेवता । आर्ची पंक्तिः । पञ्चमः ॥

भा०—(पुरीष्यासः) प्रजाओं के पालन करने में समृद्ध, ऐश्वर्यवान् (प्रावणेभिः) उत्कृष्ट सम्पत्तियों के लाभ करने के साधनों और विद्वानों

द्वारा (स-जोपसः) सबके प्रति समान प्रेम से वर्त्ताव करनेवाले, (यज्ञम्)
व्यवस्थित राष्ट्र के प्रति (अद्भुतः) कभी द्रोह न करनेहारे (अग्रयः)
तेजस्वी, अग्रणी, नायक विद्वान् पुरुष (अनमीवाः) रोगरहित (महीः
इपः) बड़ी २ अन्न आदि सम्पत्तियों को (जुषन्ताम्) सेवन करें, प्राप्त करें ॥
शत० ७ । १ । १ । १५ ॥

इडामग्ने पुरुदं सथं सनि गोः शश्वत्तमथं हवमानाय साध ।
स्यान्नः सुनुस्तनयो विजावाग्ने सा ते सुमतिर्भूत्वस्मे ॥ ५१ ॥
ऋ० ३ । २२ । ५ ॥

विश्वामित्र ऋषिः । अग्निदेवता । भुरिगाधी पांक्तिः । पञ्चमः ॥

भा०—हे (अग्ने) विद्वन् ! राजन् ! (हवमानाय) बल से स्पर्द्धा
करनेवाले के लिये (इडाम्) अन्न और भूमि और (पुरुदंसम्) बहुत
से कार्य-व्यवहारों को पूर्ण करने वाले (गोः सनिम्) पृथ्वी या पशुओं के
विभाग को (शश्वत्तमम्) सदा के लिये (साध) उन्नत कर । (नः)
हमारा (सुनुः) उत्पन्न (पुत्र (विजावा स्यात्) विविध ऐश्वर्यों का जनक
वा विजयशील हो । हे (अग्ने) राजन् ! (सा) वह (ते सुमतिः) तेरी
दी हुई उत्तम व्यवस्था (अस्मे) हमारे कल्याण के लिये (भूतु) हो ।

अध्यापक के पक्ष में—हे अग्ने ! आचार्य ! तेरा (पुरुदंसं) बहुतसे
कामों का साधक वा स्तुति योग्य (गोः सनिम्) वेदवाणी का दान और
(शश्वत्तमम्) सदातन का नित्य वेदज्ञान (हवमानाय साध) विद्या के
लिये अति उत्सुक पुरुष को प्रदान कर । हमारा पुत्र विविध ऐश्वर्यों को
उत्पन्न करने वा विजय करने वाला हो । तेरी शुभ मति या उत्तम ज्ञान
हमारे कल्याण के लिये हो ।

अयन्ते योनिर्ऋत्वियो यतो जातो अरोचथाः ।

तं ज्ञानन्नग्न उन्नारोहाथा नो वर्धया रयिम् ॥ ५२ ॥

ऋ० ३ । २७ । १० ॥

भा०—व्याख्या देखो अ० ३ । १४ ॥

चिदसि तया देवतयाङ्गिरस्वद् ध्रुवा सीद
परि चिदसि तया देवतयाङ्गिरस्वद् ध्रुवा सीद ॥ ५३ ॥

अग्निदेवता । स्वराडनुष्टुप । गान्धारः ॥

भा०—हे राजसभे ! (चित् असि) तू 'चित्' समस्त भोग्य सुख साधनों का सञ्चय करनेवाली, शरीर में 'चित्' अर्थात् चेतना के समान शक्ति है । तू (तया) उस (देवतया) राजशक्ति या विजयिनी शक्ति से युक्त होकर (अंगिरस्वत्) प्राण या अग्नि के समान या विद्वान् पुरुषों से युक्त होकर, (ध्रुवा) ध्रुव, स्थिर, निष्कम्प भाव से अचल होकर (सीद) विराज । इसी प्रकार तू (परि-चित् असि) सब ओर से अपने अपने बल को संग्रह करनेवाली है । तू (तया देवतया) उस उत्कृष्ट विजय करनेवाली राजशक्ति से (अङ्गिरस्वत्) अग्नि या सूर्य के समान (ध्रुवा) स्थिर होकर (सीद) विराजमान हो ।

स्त्री के पक्ष में—हे स्त्री तू 'चित्', विद्या को जाननेहारी है, तू (तया देवतया) उस प्रजा के समान प्रिय, देवी रूप होकर, देह में प्राण के समान, गृह में स्थिर होकर रह ।

लोकं पूण छिद्रं पूणायो सीद ध्रुवा त्वम् ।
इन्द्राग्नी त्वा बृहस्पतिरस्मिन् योनावसीषदन् ॥ ५४ ॥

अग्निदेवता । विराडनुष्टुप् । गान्धारः ॥

भा०—हे राजसभे ! अथवा हे राजन्, तू (लोकं पूण) समस्त लोकों का पालन कर । (छिद्रं पूण) जो कुछ 'छिद्र' अर्थात् वृद्धि या न्यूनता हो उसको नित्य पूर्ण कर । (अथो) और (त्वम्) तू (ध्रुवा) पतिगृह में स्त्री के समान स्थिर होकर (सीद) विराजमान हो । (इन्द्राग्नी) इन्द्र और

५४—'० योना असीषदन्' इति काण्व० ॥

अग्नि, सेनापति और राजा (बृहस्पतिः) वेदवाणी का पालक (त्वा) तुझको (अस्मिन् योनौ) इस आश्रयस्थान में (असीषदन्) प्राप्त कराते हैं, स्थापित करते हैं ।

कन्या के पक्ष में—(इन्द्र-अग्नी) माता-पिता और (बृहस्पतिः) आचार्य तुझको इस (योनौ) निवासगृह में स्थापित करते हैं । तू स्थिर रहकर लोक का पालन कर अर्थात् छिद्र और त्रुटि को पूर्ण कर ।

ता अस्य सूददोहसः सोमं श्रीणन्ति पृश्नयः ।

जन्मन्देवानां विशस्त्रिष्वारोचने दिवः ॥ ५५ ॥

ऋ० ८ । ५८ । ३ ॥

इन्द्रपुत्रः प्रियमेधा ऋषिः । आपो देवताः । विराडनुष्टुप् । गान्धारः ॥

भा०—जिस प्रकार (ताः) वे (सूद-दोहसः) जलों को पूर्ण करने वाले (पृश्नयः) आदित्य के रश्मिगण (अस्य) इसके लिये (सोमं श्रीणन्ति) सोम, अन्न को परिपक्व करते हैं । और (देवानां जन्मन्) देवों, ऋतुओं के उत्पादक पूर्ण संवत्सर में (दिवः) सूर्य के (त्रिषु) तीनों प्रकार के (आरोचने) दीप्ति युक्त सवनों अर्थात् ग्रीष्म, वर्षा और शरत् में (विशः) व्यापक रश्मियें होती हैं, उसी प्रकार (सूद-दोहसः) बलों को बढ़ाने वाली (पृश्नयः विशः) नानाविध प्रजाएं (दिवः) तेजस्वी राजा के (त्रिषु आरोचने) तीनों तेजों से युक्त रूपों में (देवानां जन्मनि) विद्वानों के उत्पन्न करने वाले राष्ट्र में (अस्य) इस राजा के लिये (सोमं श्रीणन्ति) समृद्ध राष्ट्र को परिपक्व करती हैं ।

स्त्रियों के पक्ष में—(देवानाम्) विद्वान् पतियों के (ताः) वे (पृश्नयः) स्पर्शयोग्य कोमलाङ्गी (विशः) गमनयोग्य स्त्रियां (सूद-दोहसः) उत्तम रस पाचन और दोहन करने में कुशल होकर (दिवः) दिव्य (आरोचने) रुचिकर व्यवहार में (त्रिषु) तीनों कालों में (जन्मनि) इस जन्म में या द्वितीय जन्म विद्यादि द्वारा गृहस्थ धारण

करके (अस्य सोमं श्रीणन्ति) इस ब्रह्मचर्य या गृहस्थ-आश्रम में भी परम सौभाग्यमय फल वीर्य या पुत्रादि को परिपक्व करती हैं ।

अथवा — (ताः) वे स्त्रियें (सूद-दोहसः) प्रस्रवणशील दुग्धादि को प्रदान करने वाली (पृश्नयः) गौर्वें जिस प्रकार (सोमं श्रीणन्ति) दुग्धरूप सोम का परिपाक करती हैं और प्रदान करती हैं उसी प्रकार (सूद-दोहसः) वीर्य को पूर्ण करने वाली (पृश्नयः) स्पर्श योग्य, कोमल-लाज्जी स्त्रियें भी (सोमं श्रीणन्ति) परम रसस्वरूप वीर्य को परिपक्व करती हैं । (दिवः) सूर्य के (त्रिषु आरोचने) जिस प्रकार तीनों प्रकार के सवनों में (देवानां जन्मनि) देव-रश्मियों के उद्भव होजाने पर (विशः) प्रजापति जिस प्रकार (सोमं आ) अन्न को प्राप्त करती हैं । उसी प्रकार विशः) पतियों के साथ संवेश-अर्थात् शयन करनेहारी पत्नियां भी (दिवः) क्रीडाशील पति के (त्रिषु रोचनेषु) वाचिक, मानस, शारीरिक तीनों प्रकार के रुचिकर, प्रीतिकर व्यवहारों में (देवानां) सात्त्विक विकारों के (जन्मन्) उदय होजाने पर (सोमं आ) परिपक्व वीर्य को प्राप्त करती हैं अर्थात् वीर्य धारण कर संतान उत्पन्न करती हैं ।

इन्द्रं विश्वा अवीवृधन्त्समुद्रव्यचसं गिरः ।

रथीतमथं रथीनां वाजानां सत्पतिं पतिम् ॥ ५६

ऋ० १ । २ । १ ॥

जेता माधुच्छन्दस ऋषिः । इन्द्रो देवता । निचृदनुष्टुप् । गान्धारः ॥

भा०—(विश्वाः गिरः) समस्त वेदवाणियां (समुद्र-व्यचसम्) समस्त प्रकार की शक्तियों के उद्भवस्थान, उस महान् व्यापक (इन्द्रम्) परमेश्वर की महिमा को (अवीवृधन्) बढ़ाती हैं । वही (रथीनाम् रथी-तमं) रथी योद्धाओं के बीच महारथी के समान समस्त देहवान् प्राणियों के बीच सब से श्रेष्ठ 'रथीतम' महारथी, सब से बड़े, विराट् और (सत्-पतिम्) सत् पदार्थों के पालक, (वाजानां) समस्त ऐश्वर्यों के स्वामी

की (अवीवृधन्) महिमा को बढ़ाती हैं। उसी प्रकार (विश्वा गिरः) समस्त स्तुतियां (समुद्र-व्यचसम्) समुद्र के समान विविध ऐश्वर्यों से पूर्ण या विस्तृत व्यापक, (रथीनां रथीतमम्) रथी योद्धाओं में महारथी (वाजानां) संग्रामों, अन्नों और ऐश्वर्यों के (पतिम्) पालक, (सत्-पतिम्) उत्तम प्रजाजनों के स्वामी राजा को (अवीवृधन्) बढ़ावें।

गृहस्थ प्रकरण में—(विश्वाः गिरः) समस्त स्तुतिशील स्त्रियों अपने पति की प्रशंसा करनेवाली होकर उसके यश, धन और मान को बढ़ावें।

समितुथं सं कल्पेथाथं संप्रियौ रोचिष्णू सुमनस्यमानौ ।

इषमूर्जमभि संवसानौ ॥ ५७ ॥

द्वयग्रीवा देवते । भुरिगुष्णिक् । ऋषभः ॥

भा०—हे पति-पत्नी भाव से बद्ध स्त्री पुरुषो ! या राजा प्रजाओ तुम दोनों ! (संप्रियौ) एक दूसरे के प्रति अति प्रेमयुक्त, (रोचिष्णू) एक दूसरे के प्रति रुचिकर, एक दूसरे को प्रसन्न करनेहारे एवं (सुमन-स्यमानौ) एक दूसरे के प्रति शुभ चिन्तन करते हुए, (संवसानौ) एकत्र निवास करते हुए या एक दूसरे की रक्षा करते हुए (इषम् अन्नादि अभिलषित पदार्थ और (ऊर्ध्वम्) परम अन्नरस या बल-पराक्रम को (अभि) लक्ष्य करके (सम् इतम्) एक साथ चलो, (संकल्पेथाम्) एक साथ समानरूप से उद्योग करो या समानरूप से संकल्प करो।

इसी प्रकार दो विद्वान्, या दो राजा, या राजा और प्रजा दोनों भी परस्पर मित्र रहकर एक दूसरे का शुभ चिन्तन करके एक दूसरे की रक्षा करते हुए, अन्न और बल के लिये एक साथ यत्न करें ॥

सं वां मनांसि सं व्रता समु चित्तान्याकरम् ।

अग्ने पुरीष्याधिपा भव त्वं न इषमूर्जं यजमानाय धेहि ॥ ५८ ॥

अग्निदेवता । भुरिगुपरिष्ठाद् बृहती । मध्यमः ॥

भा०—मैं आचार्य या पुरोहित (वाम्) तुम दोनों के (मनांसि

मन के संकल्प विकल्पों को (सं आ अकरम्) समान करता हूं । (व्रता सम्) व्रत, प्रतिज्ञाओं को भी समानरूप करता हूं । (चित्तानि) चित्तों या ज्ञानपूर्वक किये कर्मों को भी (सम् आ अकरम्) समानरूप से करता हूं । हे (अग्ने) ज्ञानवन् ! विद्वन् ! हे (पुरीष्य) पुर में सब से अधिक इष्ट, समृद्ध राजन् ! (त्वम् अधिपाः भव) तू सबका स्वामी हो । (इषम् ऊर्जम्) अन्न और बल को तू (नः यजमानाय) हमारे में से दानशील, संत्संगी या देवोपासक धर्मात्मा पुरुष को (धेहि) प्रदान कर ।

अग्ने त्वं पुरीष्यो रयिमान् पुष्टिमारऽअसि ।

शिवाः कृत्वा दिशः सर्वाः स्वं योनिमिहासदः ॥ ५९ ॥

अग्निदेवता । भुरिगुण्यक् । अयमः ॥

भा०—हे (अग्ने) विद्वन् ! राजन् ! पुरुष ! (त्वं पुरीष्यः) तू समृद्धिमान्, (रयिमान्) ऐश्वर्यवान्, (पुष्टिमान्) पशु सम्पत्ति से भी युक्त, (असि) है । (सर्वाः दिशः) समस्त दिशाओं को, देशों को और वहां की प्रजाओं को (शिवाः) कल्याणकारी, सुखी (कृत्वा) करके (स्वं योनिम्) अपने आश्रयस्थान, पद पर (इह) यहां (आसदः) विराजमान हो ।

भवतं नः समनसौ सचेतसावरेपसौ । मा यज्ञं हिंतिं सिष्टं
मा यज्ञपतिं जातवेदसौ शिवौ भवतमद्य नः ॥ ६० ॥

दम्पती अग्नी देवते । आर्षी पंक्तिः । पञ्चमः ॥

भा०—हे स्त्री पुरुषो ! (नः) हमारे लिये तुम दोनों (समनसौ) एक समान मन वाले, (सचेतसौ) समान चित्त वाले और (अरेपसौ) एक दूसरे के प्रति अपराध न करने वाले, एवं निष्पाप, स्वच्छ चित्त होकर (भवतम्) रहो । (यज्ञं) इस यज्ञ, परस्पर की संगति को (मा हिंसिष्टम्) मत विनाश करो, मत तोड़ो । (यज्ञपतिं मा) परस्पर की इस

संगति के पालक को भी मत विनाश करो। (अध) आज (नः) हमारे हित के लिये तुम दोनों (जात-वेदसौ) ज्ञानवान् और ऐश्वर्यवान् होकर (शिवौ भवतम्) सुखकारी होओ। यही बात मध्यस्थ पुरुष से सन्धि से मिले हुए दो राजाओं, राजा और मन्त्री दोनों के लिये भी समझें।

मातेव पुत्रं पृथिवी पुरीष्यमग्निं स्वे योनावभारुखा । तां विश्वै-
देवैर्ऋतुभिः संविदानः प्रजापतिर्विश्वकर्मा वि मुञ्चतु ॥ ६१ ॥

पत्नी उखा देवता । आर्षी पंक्तिः । पञ्चमः ॥

भा०—(माता) माता (पुत्रम् इव) पुत्र को जिस प्रकार (स्वे योनौ अभाः) अपने गर्भाशय में धारण करती है, उसी प्रकार (उखा) हांडी के समान गोल (पृथिवी) पृथिवी भी (स्वे योनौ) अपने गर्भ में, अपने भीतर (पुरीष्यम्) सबको पालन करने में समर्थ (अग्निम्) अग्नि और सूर्य को (अभाः) धारण करती है। उसी प्रकार (पृथिवी उखा) उत्तम ज्ञानवती पृथिवीनिवासिनी प्रजा भी (पुरीष्यम्) अति समृद्ध, ज्ञान, बल और ऐश्वर्य से युक्त (अग्निम्) अग्नि के समान तेजस्वी पुरुष को (स्वे योनौ) अपने लोक में (अभाः) धारण करती है। (प्रजापतिः) प्रजा का पालक, पति और राजा (विश्वकर्मा) समस्त राष्ट्र के उत्तम कार्यों के करने में समर्थ (विश्वैः) समस्त (ऋतुभिः) ज्ञानवान् सदस्यों और (विश्वैः देवैः) और समस्त देव, विद्वान् शूरवीर योद्धा, एवं व्यवहारज्ञ पुरुषों से (संविदानः) सहमति और सहयोग लेता हुआ (तां) उसको (विमुञ्चतु) विविध उपायों से धारण करता है, उसकी रक्षा करता है।

सूर्य पक्ष में—(विश्वकर्मा) समस्त कार्यों का कर्ता, वृष्टि, आंधी आदि परिवर्तनों का कर्ता, (प्रजापतिः) सूर्य (विश्वैः देवैः ऋतुभिः) समस्त

६१—० 'योना अभा०' इति काण्व० ।

दिव्य ऋतुओं के साथ मिलकर पृथ्वी को (वि मुञ्चतु) पालता है ।
 असुन्वन्तमयजमानमिच्छ स्तेनस्येत्यामन्विहि तस्करस्य । अ-
 न्यमस्मदिच्छ सा त इत्या नमो देवि निर्ऋते तुभ्यमस्तु ॥ ६२ ॥
 निर्ऋतिदेवता । निचृत् त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—हे (निर्ऋते) दुष्टों को दमन करने वाली दण्डशक्ते ! तू
 (असुन्वन्तम्) राजा को कर न देने वाले और (अयजमानम्) राजा
 का आदर न करने वाले को (इच्छ) पकड़ । (स्तेनस्य) चोर और
 (तस्करस्य) निन्दनीय कार्यों के करने वाले पापी पुरुष की (इत्याम्)
 चाल का (अनु इहि) पीछा कर । चोर, डाकू आदि रात को धनापहरण
 करके जहाँ भी छुपे हों उनके चरण-चिन्हों से उनकी चाल पता लगाकर
 उनकी खोज कर । (अस्मत् अन्यम्) हम से भिन्न, हमारे शत्रु को (इच्छ)
 पकड़ । (ते सा) तेरी वही (इत्या) चलने योग्य चाल है । हे (निर्ऋते
 देवि) व्यवहार कुशले ! निर्ऋते ! सर्वत्र व्यापक दमन शक्ते ! (तुभ्यम्
 नमः अस्तु) तुझे ही सब दुष्टों को नमाने वाला बल प्राप्त हो ।

इस मन्त्र में—‘मा इच्छ’ इस प्रकार की महर्षि दयानन्दकृत योजना
 विचारास्पद है ।

नमः सु ते निर्ऋते तिग्मतेजोऽयस्मयं विचृता बन्धमेतम् ।
 यमेन त्वं यस्या संविदानोत्तमे नाके ऽअधि रोह्यैनम् ॥ ६३ ॥

निर्ऋतिदेवता । भुरिगार्षी पांक्तः । पञ्चशः ॥

भा०—हे निर्ऋते ! व्यापक दण्डशक्ते ! (तिग्म-तेजः) दुःसह
 तेज से युक्त (ते नमः) तेरा नमनकारी बल, वज्र है । और तू (एतम्)
 इस (अयस्मसं बन्धम् वि चृत्) लोहे से बने दृढ़ बन्धन को दूर कर । (त्वं)
 तू (यमेन) नियन्ता राजा और (यस्या) नियमकारिणी राजसभा, राज-
 शक्ति से (संविदाना) अच्छी प्रकार सम्मति करती हुई (एनम्) इस
 अपने राजा को (उत्तमे) उत्तम (नाके) सुखमय लोक में (अधि रोह्ये)

स्थापित कर ।

यस्यास्ते घोरऽआसज्जुहोम्येषां बन्धानामवसर्जनाय । यां त्वा
जनो भूमिरिति प्रमन्दते निर्ऋतिं त्वाहं परिवेद विश्वतः ॥ ६४ ॥

निर्ऋतिर्देवता । आर्षी त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—हे (घोरे) दुष्टों के प्रति भयंकर ! (यस्याः) जिस (ते)
तेरे (आसनि) मुख में, तेरे मुख्य स्थान में (एषां) इन (बन्धानाम्)
दुःखदायी बन्धनों के (अव-सर्जनाय) त्याग के लिये (जुहोमि) मैं,
दण्ड आदि रूप से धन आदि पदार्थ प्रदान करता हूँ । और (यां त्वा)
जिस तुझको (भूमिः इति) भूमि, सर्व पदार्थों का आश्रय, एवं उत्पादक
ऐसा कह कर (जनः) लोग (प्र मन्दते) तुझे प्रसन्न करते हैं या स्वयं
प्रसन्न होते हैं उस (त्वा) तुझको (निर्ऋतिम्) पापी पुरुषों पर अधि-
ष्ठात्री रूप से रहने वाली, आश्रयरूप से पृथिवी के समान एवं निःशेष
जीवों को रमण करानेवाली नित्य, सत्याचरणवाली तुझे (विश्वतः) सब
प्रकार से (अहं) मैं (परि वेद) प्राप्त करूँ, तुझे जानूँ ।

पत्नी के पक्ष में—हे घोरे पति ! समस्त दुःखदायी कारणों को दूर
करने के लिये, मैं अन्नादि पदार्थ तेरे मुख में प्रदान करूँ । लोग तुझ नारी
को 'भूमि' ऐसा कह कर तुझे प्रसन्न करते हैं । तू (निर्ऋतिम्) ही
सब प्रकार से निःशेष सुखकारिणी सत्यशीला है, मैं ऐसा जानता हूँ ।

यं ते देवी निर्ऋतिराबन्ध पाशं ग्रीवास्वविचृत्यम् ।
तं ते विष्णाम्यायुषां न मध्यादथैतं पितुमद्भि प्रसूतः ।
नमो भूत्यै येदं चकार ॥ ६५ ॥

यजमानो देवता । आर्षी जगती । निषादः ॥

भा०—(देवी निर्ऋतिः) राजा की दमनकारिणी व्यवस्था हे
पुरुष ! (यम्) जिस (अविचृत्यम्) अखण्ड, कभी न टूटनेवाले, दृढ़
(पाशम्) पाश को (आ बन्ध) बांधती है मैं (ते) तेरे (तं) उस

पाश को (आयुषः मध्याद् न) जीवन के बीच में ही (विष्णुसि) काटता हूं, उस पाश का अन्त करूं। (अथ) और हे राजन् ! (प्रसूतः) उत्कृष्ट रूप में उत्पन्न होकर तू (एतं पितुम्) उस अन्न या पवित्र भोग्य पदार्थ को (अद्धि) खा, भोग कर। (या) जो (देवी) देवी (इदम्) इस जीवोत्पादन के व्यवस्था और पालन के पवित्र कार्य को (चकार) करती है उस (भूत्यै) सर्वोत्पादक, ऐश्वर्यमयी देवी का (नमः) हम नित्य आदर करें।

इसी प्रकार अपराधी के अपराध समाप्त होजाने पर दमनकारिणी व्यवस्था द्वारा जो बन्धन अपराधी जनों की गर्दनों में डाले जायं उनको न्यायकारी उनके जीवन के रहते २ अवधि के अन्त में काटे। और (प्रसूतः) मुक्त होकर वह पुरुष अन्न का भोग करे। जो देवी, विद्वत्-समिति या पृथ्वी इस प्रकार जीवों को बन्धनमुक्त करके अमृत का भोग प्रदान करती है उसको हमारा नमस्कार है ॥ नकारोऽत्र विनिग्रहार्थीयः ॥

अध्यात्म में—(निऋतिः) अविद्या जिस पाश को जीवों के ऊपर बांधती है उसको मैं, आचार्य ज्ञानोपदेश से (आयुषः मध्याद् न) जीवन के बीच में ही काट दूं। (प्रसूतः) उत्कृष्ट स्थिति में जाकर मेरा जीव (पितुम्) अमृत का भोग करे। उस सर्वोत्पादक (भूत्यै) भूति नाम ईश्वरीय शक्ति को नमस्कार है जो (इदं चकार) इस विश्व को उत्पन्न करती है और जीवों को उत्पन्न कर अन्न देती है और कर्मबन्धनों से मुक्त कर मोक्षामृत लाभ कराती है

निवेशनः सङ्गमनो वसूनां विश्वा रूपाभिचष्टे शचीभिः ।

देव ऽइव सविता सत्यधर्मेन्द्रो न तस्थौ समरे पथीनाम् ॥६८॥

ऋ० १० । १३६ । ३ ।

विश्वामसुदेवगन्धर्व ऋषिः । अग्निदेवता । विराडाषो ऋषिः । देवतः ॥

भा०—(सविता इव) सूर्य के समान (सत्यधर्मा) सत्य धर्मों

का पालक । (इन्द्रः) ऐश्वर्यवान् (देवः) राजा (वसूनां) राष्ट्र में बसनेवाली प्रजाओं को (निवेशनः) पृथ्वी पर बसानेहारा और (वसूनां) वासकारी जनों का (सङ्गमनः) एकत्र होने का आश्रय होकर (शचीभिः) अपनी शक्तियों से (विश्वा रूपा) समस्त प्राणियों को (अभि चष्टे) देखता है । और वह ही (पथीनाम्) शत्रुओं के साथ (समरे) युद्ध में सर्वोपरि (तस्थौ) स्थिर रहता है ।

परमात्मा के पक्ष में—वह (इन्द्रः) ऐश्वर्यवान् (सविता) सर्वोत्पादक देव, परमेश्वर (वसूनां निवेशनः) जीवों का और योग्य लोकों का संस्थापक और (सागमनः) एक सा गन्तव्य एवं सर्वव्यापक (शचीभिः) अपनी शक्तियों से (विश्वा रूपा अभिचष्टे) समस्त पदार्थों को देखता या उपदेश करता है । सब का साक्षी है । वही युद्ध में इन्द्र, सेनापति के समान (समरे) सब के गन्तव्य संसार में (पथीनां) समस्त आवागमन करनेवाले जीवों के ऊपर (तस्थौ) अधिष्ठाता रूप से विराजमान है ।

सीरा युञ्जन्ति कवयो युगा वि तन्वते पृथक् ।

धीरा देवेषु सुमन्या ॥ ६७ ॥ ऋ० १० । १०१ । ४ ॥

बुधः सौम्य श्रपिः । कृषीबलाः कवयो देवताः । गायत्री । षड्जः ॥

भा०—(कवयः) मेधावी, बुद्धिमान् पुरुष जिस प्रकार (सीरा) हलों को (युञ्जन्ति) जोतते हैं । और (धीराः) धीर, बुद्धिमान् पुरुष (देवेषु) देवों, विद्वानों को (सुमन्या) सुख हो ऐसी बुद्धि से (युगा) युओं के, जाड़ों को (वि तन्वते) विविध दिशों में लेजाते हैं । उसी प्रकार विद्वान् योगीजन (सीराः युञ्जन्ति) नादियों में योगाभ्यास करते हैं । (देवेषु) इन्द्रिय-वृत्तियों में (सुमन्या) सुपुष्पा द्वारा या सुखप्रद

६७—६८—सीरा द्व सीरदैवत्ये बुधः सौम्यो गायत्रीः षड्भौ । सर्वा० ॥
विश्वेदेवा श्रत्विजो वा देवता इति ऋग्वेदे ॥ अथ क्षेत्रकर्षणौपधवपनादि ॥

धारणा वृत्ति से (युगा) प्राण अपान आदि नाना जोड़ों द्वन्द्वों का (पृथक्) अलग १ (वि तन्वते) विविध प्रकार से अभ्यास करते हैं ।

युनक्तु सीरा वि युगा तनुध्वं कृते योनौ वपतेह बीजम् । गिरा च श्रुष्टिः सभरा असन्नो नेदीय इत्सृणुः पक्वमेयात् ॥ ६८ ॥

अ० १० । १०१ । ३ ॥

बुधसौम्य ऋषिः । कृषीवलताः कवयः वा देवताः । विराडाषा त्रिष्टुप् । धैवतः ।

भा०—(सीरा युनक्त) हलों को जोतो, (युगा वि तनुध्वम्) जुओं को नाना प्रकार से फैलाओ । (योनौ कृते) क्षेत्र के तय्यार हो जाने पर (इह) उसमें (बीजम् वपत) बीज बोओ । और (गिरा च) कृषिविद्या के अनुसार (श्रुष्टिः) अन्न की नाना जातियां (सभराः) खूब हष्ट पुष्ट (असत्) हों । (नेदीयः इत्) और शीघ्र ही (सृणुः) दातरी से काटने योग्य अनाज (नः) हमारे लिये (पक्वम् आ इयात्) पककर हमें प्राप्त हो ।

शुनं सुफाला विकृषन्तु भूमिं शुनं कीनाशा अभियन्तु वाहैः । शुनासीरा हविषा तोशमाना सुपिप्पला ओषधीः कर्तन्नास्मै ॥ ६९ ॥ अथर्व० ३ । १७ । ५ ॥ प्रथमोद्धः ऋ० ४ । ५७ । ८ ॥

कुमार हारित ऋषिः । कृषीवला देवताः । आर्षी त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—(सु-फालाः) उत्तम हल के नीचे लगी लोहे की बनी फालिं (भूमिम्) भूमि को (शुनम्) सुख से (वि कृषन्तु) नाना प्रकार से खोदें । (कीनाशः) किसान लोग (वाहैः) बैलों से (शुनम्) सुखपूर्वक (अभियन्तु) जावें । (शुनासीरा) वायु और आदित्य दोनों के समान (हविषा) जल और अन्न से (तोशमाना) भूमि को सींचते हुए (अस्मै) इस प्रजाजन के लिये (ओषधीः) अन्न आदि ओषधियों को (सुपिप्पलाः)

६९—७२—शुनं चतस्रः सांतादेवत्याः । कुमारहारितो दे । सर्वा० ।

उत्तम फल युक्त (कर्तन) करो और उसकी कटाई करो ।

घृतेन सीता मधुना समज्यतां विश्वैर्देवैरनुमता मरुद्भिः ।

ऊर्जस्वती पयसा पिन्वमानास्मान्सीते पयसाभ्याववृत्स्व ॥ ७० ॥

अथर्व० ३ । १७ । ९ ॥

कुमार हारित ऋषिः । कृषीवला देवताः । त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—(सीता) काठ की पाटी, फाली या हल से विदीर्ण भूमि (घृतेन मधुना) जल और अन्न से (समज्यताम्) युक्त हो । (विश्वैः देवैः) समस्त देवों, सूर्य-किरणों और (मरुद्भिः) वायुओं से भी (अनुमता) युक्त होकर वह हे (सीते) हल की फाली या उससे खुदी भूमि तू ! (पयसा) जल से (पिन्वमाना) खूब सींची जाकर (ऊर्जस्वती) अन्न से समृद्ध होकर (पयसा) पुष्टिकारक अन्न और दुग्ध आदि पदार्थों से (अस्मान्) हम सब को (अभि आववृत्स्व) प्राप्त हो और सब प्रकार से हमें बढ़ा के समृद्ध कर ।

अथवा—‘सीता’ कृषि का उपलक्षण है । (विश्वैः देवैः मरुद्भिः च अनुमता सीता) समस्त विद्वानों से आदर प्राप्त कृषि (घृतेन मधुना समज्यताम्) घृत जल, और अन्न से युक्त हो । हे कृषे ! तू (पयस्वती ऊर्जस्वती) पुष्टिकारक जल या अन्न से स्वयं समृद्ध होकर (पयसा नः अभि आववृत्स्व) पुष्टिकारक दुग्ध, रस आदि सहित हमें प्राप्त हो ।

लाङ्गलं पवीरवत्सुशेवथं सोमपित्सरु । तदुद्वपति गामर्विं प्रफर्यं च पीवरीं प्रस्थावदथवाहणम् ॥ ७१ ॥ अथर्व० ३ । १७ । ३ ॥

कुमार हारित ऋषिः । कृषीवला देवताः । विराट् पंक्तिः । पञ्चमः ।

भा०—(सोमपित्सरु) अन्न का पालक, क्षेत्र में कुटिलता से चलने वाला, (सुशेवम्) सुखकारी, (पवीरवत्) फालवाला (लाङ्गलम्) हल (तत्) यह ही (गाम्) गौ आदि पशु, (अविम्) भेड़, बकरी आदि क्षुद्र पशु, (प्र-फर्यम् च) उत्तम रीति से गमन करने योग्य (पीवरीम्)

स्वस्थ हृष्ट पुष्ट शरीर की स्त्री और (प्रस्थावत्) प्रस्थान करने योग्य (रथ-वाहनम्) रथ और घोड़े आदि ऐश्वर्यों को (उद्वपति) उत्पन्न करता है । अर्थात् कृषि से ही समस्त ऐश्वर्य, पशु, रथ, अश्व, स्त्री आदि भी प्राप्त होते हैं ॥

कामं कामदुघे धुक्ष्व मित्राय वरुणाय च ।

इन्द्रायाश्चिभ्यां पूष्णे प्रजाभ्य ऽओषधीभ्यः ॥ ७२ ॥

मित्रादयो लिंगोक्ता देवताः । आर्षी पंक्तिः । पञ्चमः ॥

भा०—हे (कामदुघे) समस्त कामनाओं को पूर्ण करनेहारी कृपे ! भूमे ! तू (मित्राय) अपने स्नेही, (वरुणाय) शत्रुओं के वारक, (इन्द्राय) ऐश्वर्यवान् राजा के लिये और (अश्चिभ्याम्) स्त्री पुरुषों के लिये (पूष्णा) पोषणकारी पिता माता और (प्रजाभ्यः) प्रजाओं के लिये और (ओषधीभ्यः) ओषधियों वनस्पतियों के लिये (कामं धुक्ष्व) सब मनोरथों को पूर्ण कर ॥

वि मुच्यध्वमध्वन्या देवयाना ऽअग्रन्म तमसस्पारमस्य ।

ज्योतिरापाम ॥ ७३ ॥ ऋ० १ । ७२ । ६ ॥

अध्वन्या देवताः । गायत्री । षड्जः ॥

भा०—हे विद्वान् पुरुषो ! (अध्वन्याः) कभी न मारने योग्य, रक्षा करने योग्य, (देव-यानाः) देव-दिव्य भोगों को प्राप्त करानेवाले बैलों को (वि-मुच्यध्वम्) सायंकाल मुक्त कर दिया जावे । हम लोग (अस्य) इस (तमसः) रात्रि के अन्धकार के (पारम् अग्रन्म) पार प्राप्त होवें । (ज्योतिः आपाम) पुनः सूर्य के प्रकाश को प्राप्त करें । अर्थात् सायंकाल को बैल जुओं से खोल दिये जाय । रात बीतने पर प्रातःकाल पुनः कृषिकार्य में लगें ।

अथवा—हे (अध्वन्याः) अविनाशी देवयान से गति करनेवाले

७३—विमुच्यध्वमानुडुही गायत्री । सर्वा० ॥

योगी जनो ! (वि मुच्यध्वम्) विशेषरूप से मुक्त होने का यत्न करो ।
 (तमसः पारम् अगन्म) हम सब अन्धकार-बन्धन से पार हों और
 (ज्योतिः आपाम) ब्रह्ममय ज्योति को प्राप्त करें ।

सजूरब्दोऽअयवोभिः सजूरुषा ऽअरुणीभिः । सजोषसावश्विना
 दधंसोभिः सजूः सूर एतशेन सजूवैश्वानर ऽइडया घृतेन स्वाहा ७४

लिङ्गोक्ता अश्विनौ सूरौ वैश्वानरश्च देवताः । आषां जगती । निषादः ॥

भा०—जिस प्रकार (अब्दः) संवत्सर मिले जुले अन्नों से और
 मास अर्ध मास आदि काल के अवयवों से (सजूः) युक्त है । और जिस
 प्रकार (अरुणीभिः) किरणों से (उषाः) प्रभात वेला (सजूः) संयुक्त
 रहती है, (अश्विना) स्त्री और पुरुष, पति पत्नी दोनों जैसे (दंसोभिः)
 गृहस्थ कार्यों से (स जोषसौ) परस्पर प्रेमयुक्त होकर रहते हैं और (सूरः)
 सूर्य जिस प्रकार (एतशेन) अपने व्यापक प्रकाश से (सजूः) युक्त है
 और जिस प्रकार (वैश्वानरः) सर्व जीवों के भीतर विद्यमान आत्मा वा
 जीवनमय अग्नि (इडया) अन्न से और अग्नि जिस प्रकार (घृतेन)
 दीप्तिकारी प्रकाश या घृत से (सजूः) संगत होकर एक दूसरे को प्रकाशित
 करते हैं उसी प्रकार (स्वाहा) हम सब सत्य व्यवहार से युक्त होकर
 प्रेम से वर्ते ॥

या ओषधीः पूर्वी जाता देवेभ्यस्त्रियुगं पुरा ।

मनै नु बभ्रूणामिह धृतं धामानि सप्त च ॥ ७५ ॥

ऋ० १० । ९७ । १ ॥

आथर्वणो भिषगृषिः । ओषधिस्तुतिः वैद्यो देवता । अनुष्टुप् । गान्धारः ॥

भा०—आषधि-विज्ञान (याः) जो (ओषधीः) ओषधियों
 (देवेभ्यः) दिव्यगुण के पदार्थ पृथिवी, जल आदि से, या ऋतुओं के
 अनुसार (पुरा) पहले (त्रि-युगम्) तीन वर्ष पहले तक को या वर्षा,

७५—‘ सजोषसा अश्विना० । ’ इति काण्व० ॥

ग्रीष्म और शरद् तीनों कालों में (पूर्वाः जाताः) पहले से उत्पन्न होती हैं उन (बभ्रूणाम्) परिपाक होजाने से बभ्रू अर्थात् भूरे रंग की, पीली हुई हुई उन ओषधियों के (शतं) सौ और (सप्त च) सात अर्थात् १०७ प्रकार के (धामानि) धारण सामर्थ्यों से पालन पोषण के बलों को (नु) मैं (मनै) मनन करूँ, जानूँ ।

अथवा—(बभ्रूणां) पुष्टिकारक उन ओषधियों के १०७ वीर्यों को जानूँ ।

अथवा— (शतं सप्त च धामानि बभ्रूणां ओषधीनां मनै) १०७ शरीर के मर्मस्थानों को पुष्ट करनेवाली ओषधियों का ज्ञान करूँ । अथवा (बभ्रूणां) भरण-पोषण योग्य रोगियों के १०७ मर्म स्थानों में प्रभाव-जनक व्यास ओषधियों का ज्ञान करूँ ॥ शत० ७ । १ । ४ । २३ ॥

शतं वो ऽअम्ब धामानि सहस्रमुत वो रुहः ।

अथा शतक्रत्वो यूयसिमं मे अगदं कृत ॥ ७६ ॥

ऋ० १० । १७ । २ ॥

पूर्वाक्ते ऋषिदेवते । अनुष्टुप् । गांधारः ॥

भा०—हे (अम्ब) माता के समान पुष्टिकारक ओषधियो ! (वः) तुम्हारे (शतं धामानि) सैकड़ों वीर्य हैं । (उत) और (वः) तुम्हारे (रुहः) प्ररोह, अंकुर, पुत्र संतति आदि भी (सहस्रम्) सहस्रों प्रकार के हैं । (अथ) और (यूयम्) तुम सब भी (शत-क्रत्वः) सैकड़ों प्रकार के कार्य करनेवाली हो । अथवा—हे (शतक्रत्वः) सैकड़ों प्रजाओं से युक्त विद्वान् पुरुषो ! (यूयम्) आप लोग (मे) मेरे शरीर को (अगदं कृत) नीरोग करो ॥ शत० ७ । २ । ४ २७ ॥

ओष अर्थात् वीर्य को धारण करनेवाली हे सेनाओ ! (वः शतं धामानि) तुम्हारे सैकड़ों वीर्य, बल हैं और (वः सहस्रं रुहः) तुम्हारे सहस्रों उन्नति स्थान और उत्पत्तिस्थान है (यूयं शतक्रत्वः) तुम सब सैकड़ों

वीर्यों से युक्त हो, (मे इमं अगदं कृत) मेरे इस राष्ट्र को क्लेशरहित करो ।

ओषधीः प्रतिमोदध्वं पुष्पवतीः प्रसूवरीः ।

अश्वोऽइव सजित्वरीर्वीरुधः पारयिष्णवः ॥ ७७ ॥

ऋ० १० । ९७ । ३ ॥

अपिदेवते पूर्ववत् । निचृदनुष्टुप् । गान्धारः ॥

भा०—हे (ओषधीः) ओषधियो ! तुम (पुष्पवतीः) फूलोंवाली (प्र-सूवरीः) उत्तम फल उत्पन्न करनेहारी हो । (अश्वः इव) अश्वारोही लोग जिस प्रकार (स-जित्वरीः) परस्पर मिलकर युद्ध में विजय करते हैं और (पारयिष्णवः) शत्रु सेना के पार करनेवाले वीर (वीरुधः) शत्रुओं को आगे बढ़ने से रोकते हैं, उसी प्रकार हे ओषधियो ! तुम भी रोगों पर मिलकर विजय करनेवाली, रोगों को रोकनेवाली और कष्टों से पार करनेवाली हो ।

हे (ओषधीः) वीर्यवान् प्रजाओ ! आप लताओं के समान (पुष्प-वतीः प्रसूवरीः सत्यः प्रतिमोदध्वम्) ऐश्वर्यवान्, शोभावान् और उत्तम सन्तानों को उत्पन्न करनेवाली होओ । हे वीर प्रजाओ ! (अश्वः इव स-जित्वरीः) अश्वों, घुड़सवारों के समान परस्पर मिलकर एक दूसरे का हृदय जीतनेवाली, (वीरुधः) विविध उपायों से बीज वपन करके उत्पन्न होनेवाली एवं (पारयिष्णवः) एक दूसरे को और राष्ट्र को पालन करने-हारी होओ । इसी प्रकार स्त्रियां भी लता और ओषधियों के समान फूलें और फूलें, पतियों का हृदय जीतें और संसार के कार्यों से पार लगाने या पालन करने में समर्थ हों ॥

ओषधीरिति मातृस्तद्धो देवीरूपं ब्रुवे । सनेयमश्वं गां
वासंऽश्वात्मानं तव पूरुष ॥ ७८ ॥ ऋ० । १० । ९७ । ४ ॥

चिकित्सुर्देवता । अनुष्टुप् । गान्धारः ॥

भा०—ओषधि के समान देवियो ! तुम (ओषधीः) वीर्य को

धारण करनेहारी हो । (इति) इसी कारण से तुम (मातरः) माता अर्थात् सन्तान को उत्पन्न करनेवाली जगत् की माता हो । (तत्) इसी कारण से (वः) आप (देवीः) देवियां हो । ऐसा करके मैं (ब्रुवे) बुलाता हूँ । स्त्री कहती है— हे (पूरुष) पुरुष ! मैं (तव) तुझे (अश्वं, गां वासः) अश्व, गौ और वस्त्र और (आत्मानं) अपने आपतक को (सनेयं) सौंपती हूँ ।

राजा-प्रजापक्ष में— हे वीर्यवती प्रजाओ ! तुम माता के समान मुझे अपना राजा बनाती हो । तुमको 'देवी' कहके पुकारता हूँ । प्रजा कहे । हे प्रजापते ! मुझ प्रजा के अश्व आदि और हम अपने आपको भी तुझे सौंपते हैं ।

लता पक्ष में— हे ओषधियो ! माता के समान अन्नादि के पोषक हो । तुम बल जीवन देनेवाली होने से, 'देवी' कहाती हो । ओषधियां कहती हैं— हे पुरुष ! हम तुझे गौ आदि पशु, अश्व, वेदवाणी, ज्ञान, या वाहन, वस्त्र और (आत्मानं) प्राण भी प्रदान करती हैं ।

अश्वत्थे वो निषदनं पूर्णे वो वसतिष्कृता ।

गोभाजऽइत् किलासथ यत् सनवथ पूरुषम् ॥ ७६ ॥

ऋ० १० । ९७ । ५ ॥

देवा देवताः । अनुष्टुप् । गान्धारः ।।

भा०— हे प्रजाओ ! (वः) तुम्हारा (नि-सदनम्) आश्रय (अश्वत्थे) अश्वारोही सेना-बल पर है । (वः वसतिः) तुम्हारा निवास (पूर्णे कृता) पालन करनेवाले राजा के आधार पर किया है । (यत्) जब भी (पूरुषम्) पौरुष से युक्त राजा की (सनवथ) सेवा करो, तो तुम भी (गो-भाजः) गौ आदि पशु और भूमि आदि सम्पत्ति को प्राप्त करनेवाली (असथ किल) अवश्य होजाओ ।

अथवा— हे मनुष्यो ! (वः निषदनम्) तुम जीव लोगों की जीवन

स्थिति (अश्वत्ये = अ-श्व-त्ये) कल तक भी स्थिर न रहनेवाले देह पर और (वः वसतिः) तुम लोगों का वास (पर्गे) चञ्चल पत्र के समान इस चञ्चल प्राण पर किया है । आप लोग (गोभाजः किल असथ) वृथा का आश्रय लेनेवाले और इन्द्रियों से सुखदुःख भोगने वाले हो । और (पुरुषं सनवथ) पूर्ण पुरुष-देह को प्राप्त करो ।

ओषधि पक्ष में—हे वीर्यवती ओषधियो ! (यत्) जब (अश्वत्ये) पीपल के वृक्ष पर तुम्हारी स्थिति है, और पत्तों पर तुम निवास करती हो तब (गोभाजः इत्) इन्द्रियों तक पहुँचती हो तो तुम (पुरुषं सनवथ) पुरुष सन्तान प्राप्त कराती हो ।

यत्रौषधीः संमग्मतु राजानः समिताविव ।

विप्रः स उच्यते भिषग्ज्ञोहामीवचातनः ॥ ८० ॥

ऋ० १० । ९७ । ६ ॥

ऋष्यादि पूर्ववत् । ओषधयो देवताः । अनुष्टुप् । गांधारः ॥

भा०—(यत्र) जहाँ या जिसके आश्रय पर (समितौ) संग्राम या राजसभा में (राजानः इव) क्षत्रिय राजाओं के समान (ओषधीः) ओषधियाँ हों । हे मनुष्यो ! वहाँ ही आप लोग (सम् अग्मत) जाओ । जो पुरुष (रक्षोहा) राक्षस, दुःखदायी पुरुषों के नाश करने में समर्थ हो (सः) वह (विप्रः) ज्ञानपूर्ण मेधावी और (भिषग्) रोग नाश करनेहारा पुरुष 'भिषक्' (उच्यते) कहाता है ।

अश्वावतीं सोमावतीमूर्जयन्तीमुदौजसम् ।

आवित्सि सर्वा ओषधीरस्मा अरिष्टतातये ॥ ८१ ॥

ऋ० १० । ९७ । ७ ॥

८० ओषधीः प्रतिगृह्णीत राजानः समिता इव इति काण्व० ।

आथर्वणो भिषगृणिः । वैद्यो देवता । अनुष्टुप् । गांधारः ॥

भा०—मैं (अश्ववतीम्) अति शीघ्र शरीर में व्यापने वाले गुणों से युक्त और (सोमावतीम्) वीर्यवती और (ऊर्जयन्तीम्) बल-पराक्रम-शालिनी, (उद्-ओजसम्) उत्कृष्ट ओजधातु की वृद्धि करनेवाली और उत्तम पराक्रम करनेहारी (ओषधीः) सन्ताप, बल को धारण करनेवाली ओषधियों को (अरिष्ट-तातये) घातक रोगों के नाश करने के लिये (आवित्ति) सब प्रकार से सब स्थानों से प्राप्त करूं । इसी प्रकार समस्त (ओषधीः) वीर्यवती प्रजाओं और सेनाओं को (अरिष्ट-तातये) अपने राष्ट्र को नाश होने से बचाने के लिये प्राप्त करूं । (अश्ववतीम्) क्षत्रियों से पूर्ण अथवा अश्मा = वज्र या शस्त्रों से युक्त (सोमावतीम्) सेना नायक से युक्त और (उद्-ओजसम्) उत्कृष्ट पराक्रम से युक्त (ऊर्जयन्ती) बलशालिनी सेना को मैं प्राप्त करूं ।

उच्छुष्मा ऽओषधीनां गावो गोष्ठादिविरते ।

धनं सनिष्यन्तीनामात्मानं तव पुरुष ॥ ८२ ॥

ऋ० १० । ९७ । ८ ॥

भिषगृणिः । ओषध्यां देवताः । विराडनुष्टुप् । गांधारः ॥

भा० - (गोष्ठात्) गौओं के बाड़े से जिस प्रकार (गावः ईरते) गौवें निकलती हैं उसी प्रकार हे (पुरुष) पुरुष ! प्रजापते ! राजन् ! (तव) तेरे (आत्मानम्) शरीर के प्रति, तेरे अपने उपकार के लिये (धनं) ऐश्वर्य को (सनिष्यन्तीनाम्) प्रदान करने वाली रस-वीर्यवती ओषधियों के समान वीर्यवती प्रजाओं में से जो (शुष्माः) अधिक बल-कारिणी हैं वे (स्वयं तव आत्मानम् उदीरते) स्वयं तेरे आत्मा को प्राप्त होती हैं और उन्नत करती हैं । अर्थात् ओषधियां जिस प्रकार पुरुष-शरीर में अधिष्ठाता आत्मा के बल की वृद्धि करती हैं इसी प्रकार बलवती प्रजाएं राजा के बल की वृद्धि किया करें ।

इष्कृतिर्नाम वो माताथो यूयथं स्थ निष्कृतीः ।

सीराः पतत्रिणी स्थन यदामयति निष्कृथ ॥ ८३ ॥

ऋ० १० । ९७ । ९ ॥

भिषगृषिः । वैद्या देवताः । निचृदनुष्टुप् । गांधारः ॥

भा०—हे ओपधियो ! (वः माता) तुम्हारी माता (इष्कृतिः) 'इष्कृति' नाम से प्रसिद्ध है । अर्थात् तुम्हारो 'माता', निर्माणकारिणी शक्ति 'इष्कृति' अर्थात् 'इप्' अन्न के समान पुष्ट करने वाली है, अथवा तुम्हारी (माता) निर्माण-कर्त्री या शरीर रचना-शक्ति भी (इष्कृति = निष्कृतिः) रोगों को शरीर से बाहर निकाल देने वाली है । (अथो) इसी कारण (यूयम्) तुम सब (निष्कृतीः) शरीर में से रोगों को बहार निकाल देने से ही 'निष्कृति' भी कहाती (स्थ) हो । तुम (सीराः स्थन) अन्न के समान पुष्टिकारक होने से 'सीरा' कहाती हो । अथवा नदी जिस प्रकार भूमि के मल को बहाकर दूर लेजाती हैं उसी प्रकार तुम भी शरीर में से रोग को बहा देने से 'सीरा' कहाती हो । और (पतत्रिणीः स्थन) शरीर में व्याप्त होकर रोग को बाहर कर देने और शरीर की रक्षा करने में समर्थ होने से तुम 'पतत्रिणी' हो । (यत्) जो पदार्थ भी शरीर में (आमयति) रोग उत्पन्न करता है उसको (निष्कृथ) बाहर कर देती हो ।

बलवती वीर प्रजाओं के पक्ष में—हे वीर सेनाओ ! (वः माता इष्कृतिः) 'इष्कृति' शत्रु को राष्ट्र से बाहर निकालने वाली शक्ति ही राष्ट्र को बनाने वाली 'माता' के समान है । इसी से (यूयं निष्कृतीः स्थ) तुम सब 'निष्कृति' नाम से कहाती हो । तुम सदा (सीराः) अन्न आदि पदार्थों सहित होकर (पतत्रिणीः स्थन) शत्रु के प्रति गमन करती हो । भोजन का उत्तम प्रबन्ध करके चढ़ाई करो । और (यद् आमयति) राष्ट्र में रोग के समान पीड़ाकारी हो उसको (निष्कृथ) निकाल बहार कर दिया करो ।

अति विश्वाः परिष्ठा स्तेन ऽइव व्रजमक्रमुः ।

ओषधीः प्राचुच्यवुर्यत्किं च तन्वो रपः ॥ ८४ ॥

ऋ० १० । ९७ । १० ॥

अथर्वणो भिषग् ऋषिः । वैद्या देवताः । विराडनुष्टुप् । गांधारः ।

भा०—(स्तेनः ब्रजम् इव) चोर जिस प्रकार गौएँ के बाड़े पर (अतिक्रामती) आक्रमण करता है उसी प्रकार (परिष्ठाः विश्वाः) सर्वत्र व्यापनशील या रोगों पर वश कर लेने वाली समस्त ओषधियाँ भी (ब्रजम् अति अक्रमुः) रोग समूह पर आक्रमण करती हैं और (यत् किंच) जो कुछ भी (तन्वः) शरीर का (रपः) दुःखदायी रोग होता है उसको (ओषधीः) ओषधियाँ (प्राचुच्यवुः) दूर कर देती हैं ।

इसी प्रकार दुर्ग के चारों ओर (परिष्ठाः विश्वाः ओषधीः) घेरकर बैठने वाली बलवती सेनाएँ (ब्रजम् अति अक्रमुः) परकोट को फांद कर निकलती हैं । वे (तन्वः रपः) विस्तृत राष्ट्र शरीर में पापी शत्रु को (प्राचुच्यवुः) परे भगा देती हैं ।

यदिमा वाजयन् ह्रममोषधीर्हस्तः ऽआदधे ।

आत्मा यदमस्य नश्यति पुरा जीवगृभो यथा ॥ ८५ ॥

ऋ० १० । ९७ । ११ ॥

अदिषेवते पूर्ववत् । अनुष्टुप् । गांधारः ॥

भा०—(यत्) जब (अहम्) मैं (इमाः ओषधीः) इन ओषधियों को (वाजयन्) अधिक बलशाली बनाकर (हस्ते आदधे) अपने हाथ में लेता हूँ (यथा पुरा) पूर्व के समान ही तब (जीवगृभः) जीवन को लेलेने वाले, प्राणघातक (यक्ष्मस्य) राजयक्ष्मा को भी (आत्मा) मूल कारण (पुरा नश्यति) पहले ही नष्ट होजाता है । अथवा (यथा

८४—तन्वाऽरपः इति अ० । (८५—११०) ओषधिस्तुतिः । सर्वा० ॥
अग्नेदे च ॥

जीवगृभः) जिस प्रकार जीते जी पकड़े हुए अपराधो के आत्मा, प्राण (पुरा) पहले ही उठ जाते हैं उसी प्रकार ओषधि लेते ही (यक्ष्मस्य पुरा आत्मा नश्यति) रोग का मूल कारण पहले ही दूर हो जाता है ।

इसी प्रकार मैं राजा जब (ओषधिः) वीर्यवती सेनाओं को (वाज-यन्) संग्राम के लिये उत्तेजित करता हुआ अपने हाथ में लेता हूँ । तो (यक्ष्मस्य) ओषधियों से राजयक्ष्मा के समान पीड़ाकारी (जीव-गृभः) प्राणघाती नर-पिशाच का भी (आत्मा पुरा नश्यति प्राण पहले ही) निकलने लगता है, निर्बल, वह निःसार होने लग जाता है ।

यस्यौषधीः प्रसर्पथाङ्गमङ्गं परुष्परुः ।

ततो यक्ष्मं विबाधध्व उग्रो मध्यमशीरिव ॥ ८६ ॥

ऋ० १० । ९७ । १२ ।

आषिदेवते पूर्ववत् । निचृदनुष्टुप् । गांधारः ॥

भा०—(ओषधिः) ओषधियां (यस्य) जिस रोगी पुरुष के (अङ्गम् अङ्गम्) अंग अंग और (परुः परुः) पोरु पोरु में (प्र सर्पथ) अच्छी प्रकार फैल जाती हैं तब (मध्यम-शीः) मर्मों तक को काट देने वाला या मध्यम, (उग्रः इव) प्रचण्ड बलवान् राजा जिस प्रकार शत्रु को नाश कर डालता है उसी प्रकार (ततः) उस शरीर से ओषधियां (यक्ष्मं) रोग को (वि बाधध्वे) विनष्ट कर देती हैं ।

इसी प्रकार हे (ओषधिः) वीर्यवती सेनाओ ! तुम जिस राष्ट्र के अंग १ और पोरु २ में फैल जाती हो (मध्यमशीः उग्रः इव) बीच के भागों को तोड़ने वाले या मध्यम, प्रचण्ड क्षत्रिय के समान ही तुम सब भी रोग के तुल्य दुःखदायी शत्रु का नाश करती हो ।

साकं यक्ष्मं प्रपत चावैण किकिदीविना ।

साकं वातस्य धाज्या साकं नश्य निहाकया ॥ ८७ ॥

ऋ० १० । ९७ । १३ ।

अपिदेवते पूर्ववत् । विराडनुष्टुप् गांधारः ॥

भा०—हे यक्ष्म ! राजरोग ! तू (किकिदीविना) ज्ञानपूर्वक प्रयोग किये गये (चापेण) भोजन के (साकम्) साथ ही (प्र पत) परे भाग जा । और (वातस्य साकं) प्राण वायु के प्रबलगति की साथ (प्र पत) दूर भाग जा अर्थात् प्राणायाम द्वारा नष्ट हो । और (निहाकया साकम्) रोग को निःशेष दूर करने की प्रक्रिया वा रोग-पीड़ा के साथ तू (नश्य) नष्ट हो ।

इसी प्रकार रोग के समान शत्रो ! तू किकियाने वाले चाप नामक पक्षी और वायु के वेग के साथ और सर्वत्र (निहाकया) तीव्र भाग दौड़ के साथ (प्र पत, प्र नश्य) दूर भाग जा ।

अन्या वोऽन्यामवत्वन्यस्या उपावत् ।

ताः सर्वाः संविदाना इदं मे प्रावता वचः ॥ ८८ ॥

ऋ० १० । ९७ । १४ ॥

अपिदेवते पूर्ववत् । विराडनुष्टुप् । गांधारः ॥

भा०—ओषधियां (वः) सब (अन्या) एक (अन्याम्) दूसरी की (अवतु) रक्षा करें । और (अन्या अन्यस्याः) एक दूसरी के गुणों और प्रभावों की (उप अवत) रक्षा करें । (ताः सर्वाः) वे सब (संविदानाः) परस्पर सहयोग करती हुई (मे इदं वचः) मेरे इस वचन को (प्रवत्) अच्छी प्रकार पालन करें । इसी प्रकार हे सेना के पुरुषो ! तुम एक दूसरे की रक्षा करो । परस्पर मिलकर मेरी आज्ञा का पालन करो ।

याः फलिनीर्याऽअफलाऽअपुष्पा याश्च पुष्पिणीः ।

बृहस्पतिप्रसूतास्ता नो मुञ्चन्त्वथंहसः ॥ ८९ ॥

ऋ० १० । ९७ । १५ ॥

अपिदेवतादि पूर्ववत् ॥

भा०—(याः) जो ओषधियां (फलिनीः) फलवाली हैं और (या

अफलाः) जो फल रहित हैं, (याः अपुष्पाः) जो फूलवाली नहीं हैं (याः च पुष्पिणीः) और जो फूलवाली हैं (ताः) वे सब (बृहस्पति-प्रसूताः) बड़े १ लोकों के स्वामी परमेश्वर से उत्पादित वा बृहती आयुर्वेद-विद्या के पालक उत्तम विद्वानों द्वारा प्रयोग की जाकर (नः) हमें (अंहसः) रोगजन्य दुःखों से (मुञ्चन्तु) छुड़ावें ।

इसी प्रकार जो वीर प्रजापुं (फलिनीः) शस्त्र के फलों से युक्त, (या अफलाः) शस्त्र-अस्त्रों के फलों से रहित, (अपुष्पाः) पुष्टिकर पदार्थों से रहित, और (पुष्पिणीः) पुष्टिकर पदार्थों से युक्त हैं वे सब भी बड़े राष्ट्रपति व सैन्यपति से प्रेरित होकर हमें (अंहसः) पाप-कर्मों या शत्रु से होने वाले कष्टों से बचावें ।

मुञ्चन्तु मा शपथ्यादथो वरुण्यादुत ।

अथो यमस्य पड्वीशात्सर्वस्माद् देवकिल्बिषात् ॥ ९०

ऋ० १० । ९७ । १६ ॥

बन्धुर्धृषिः । वैद्या देवताः । विराडनुष्टुप् । गांधारः ॥

भा०—हे ओषधियो ! ओषधियों के समान कष्टों के निवारक वीर, आस, प्रजाजनो ! जिस प्रकार ओषधियों (शपथ्यात्) कुपथ्य या निन्दा योग्य कर्म से होनेवाले कष्ट से, (वरुण्यात्) निवारण करने योग्य रोग से और (यमस्य पड्वीशात्) मृत्यु के बन्धन से और (देव-किल्बिषात्) इन्द्रियों में बैठे विकारों से मुक्त करती है, उसी प्रकार आप लोग भी (शपथ्यात्) आक्रोश या परस्पर निन्दा के वचनों से उत्पन्न पाप से, (अथ वरुण्यात् उत) और वरुण राजा या वरणीय श्रेष्ठ पुरुष के प्रति किये अपराध से उत्पन्न होनेवाले पाप से (अथो) और (यमस्य) नियन्ता, न्यायाधीश के द्वारा दिये जाने वाले (पड्वीशात्) बेड़ियों, कैद आदि बन्धन से और (सर्वस्मात्) सब प्रकार के (देव-किल्बिषात्)

९०—मुञ्चन्तु बन्धुर्द्वादशानारभ्याधीताः ॥ सर्वा० ॥ आसां कुत्रापि विनियो-
गो नास्ति शत अनन्त० ॥

विद्वानों के या राजा के प्रति किये अपराधों से (मुञ्चन्तु) मुक्त करें,
हमें उन अपराधों से बचावें ।

अवपतन्तीरवदन्दिवऽओषधयस्परि ।

यं जीवमश्रवामहै न स रिष्याति पूरुषः ॥ ६१ ॥

ऋ० १० । ९७ । १७ ॥

बन्धुर्ऋषिः । वैद्या देवताः । अनुष्टुप् । गांधारः ॥

भा०—(दिवः) प्रकाशमान सूर्य से आनेवाली किरणों के समान
ज्ञानवान् वैद्य पुरुष के पास से (अवपतन्तीः) आती हुई (ओषधयः)
वीर्यवती ओषधियां (अवदन्) मानो कहती हैं कि (यं जीवम्) जिस
प्राणधारी के शरीर को भी हम (अश्रवामहै) व्याप लेती हैं (सः
पूरुषः) वह देहवासी आत्मा, पुरुष (न रिष्याति) कभी पीड़ित नहीं होता ।

इसी प्रकार (दिवः परि अवपतन्तीः) सूर्य के समान तेजस्वी एवं
युद्धविजयी सेनापति के पास से जाती हुई वीर्यवती (ओषधयः) ताप
और वीर्य को धारण करनेवाली सेनाएं कहती हैं कि (यं जीवम्)
जिस जीवधारी प्राणी को हम (अश्रवामहै) अपने अधीन ले लेती हैं
(सः पूरुषः न रिष्यति) वह पुरुष कभी कष्ट नहीं पाता ।

स्त्रियों के पक्ष में—(दिवः) तेजस्वी पुरुष के पास से गर्भित
होकर (ओषधयः) वीर्य धारण करने में समर्थ स्त्रियाँ (अवपतन्तीः) पतियों
से संगत होकर कहती हैं (यं जीवम् अश्रवामहै) जिस प्राणधारी जीव
को हम गर्भ में धारण कर लेती हैं (सः पूरुषः न रिष्यति) वह आत्मा
कभी नष्ट या पीड़ित नहीं होता ।

याऽओषधीः सोमराज्ञीर्वह्नीः शतविचक्षणाः ।

तासामसि त्वमुत्तमारं कामाय शशं हृदे ॥ ६२ ॥

ऋ० १० । ९७ । १८ ॥

अपि देवते पूर्ववत् । निचृदनुष्टुप् । गांधारः ॥

भा०—(याः) जो (ओषधीः) ओषधियों (सोम-राज्ञीः) सोम-वल्ली के गुणों से प्रकाशित होती हैं और (शत-विचक्षणाः) सैकड़ों रोगों के दूर करने में नाना प्रकार से उपदेश की जाती हैं, उनके सैकड़ों गुण हैं (तासाम्) उनमें से हे विशेष ओषधे ! (त्वम्) तू सब से अधिक (उत्तमा असि) उत्तम है । तू (कामाय) यथेष्ट सुख के प्राप्त करने के लिये और (हृदे शम्) हृदय को शान्ति देने के लिये (अरम्) पर्याप्त है ।

वीर प्रजाओं के पक्ष में—(सोम-राज्ञीः) सोम, राजा को अपना राजा मानने वाली (याः बह्वीः ओषधीः) जो बहुत सी वीर्यवती, बलवती प्रजाएं (शत-विचक्षणाः) सैकड़ों कार्यों में कुशल हैं (तासाम्) उनमें से (त्वम् कामाय शं हृदे) कामना और हृदय की शान्ति के लिये सबसे तूही (उत्तमा असि) श्रेष्ठ है ।

स्त्री के पक्ष में—(सोम-राज्ञीः) वधू की कामना करनेवाले की रानी बननेवाली (बह्वीः) बहुत सी (शत-विचक्षणाः) सैकड़ों गुणों में विलक्षण, चतुर (ओषधीः) ओषधियों के समान वीर्यवती, वीर्य धारण में समर्थ स्त्रियों हैं । (तासाम्) उनमें से (त्वम्) तू (कामाय शम्) अनेक शुभ कामना की पूर्ति और (हृदे शम्) हृदय की शान्ति के लिये भी (उत्तमा असि) उत्तम हो । अथवा—अनेक गुणवाली ओषधियों को उत्तम विदुषी जाने । वह सब को शान्तिदायक हो ।

या ओषधीः सोमराज्ञीर्विष्टिताः पृथिवीमनु ।

बृहस्पतिप्रसूताऽअस्यै संदत्त वीर्यम् ॥ ९३ ॥

ऋ० १० । ९७ । १९ ॥

अपि देवते पूर्ववत् । विराडनुष्टुप् । गांधारः ॥

भा०—(सोम-राज्ञीः) सोम वल्ली के गुणों से प्रकाशित होनेवाली

६३—१०१ वरुण ऋषिः । द० ॥

(याः ओषधीः) जो ओषधियां (पृथिवीम् अनु-विष्टिताः) पृथिवी पर एक दूसरे के अनुकूल गुण होकर स्थित हैं वे (बृहस्पति-प्रसूताः) वेदविद्या के पालक विद्वान् द्वारा प्रयोग की गई या परमेश्वर द्वारा उत्पादित हैं । वे (अस्यै) इस विशेष ओषधि को (वीर्यम् सं दत्त) विशेष बल प्रदान करें ।

वीर प्रजाओं के पक्ष में—(सोम-राज्ञीः ओषधीः) सोम को राजा स्वीकार करनेवाली प्रजाएं जो पृथिवी पर परस्पर अनुकूल होकर विराजती हैं, वे बृहत्, महान् पति द्वारा प्रेरित होकर (अस्यै) इस विशेष सेना को (वीर्यम् सं दत्त) बल प्रदान करें । उसको पुष्ट करें ।

याश्चेदमुप शृण्वन्ति याश्च दूरं परागताः ।

सर्वाः संगत्य वीरुधोऽस्यै सं दत्त वीर्यम् ॥ ६४ ॥

ऋ० १० । ९७ । २० ॥

भिषजो देवताः । विराड् अनुष्टुप् । गांधारः ॥

भा०—(याः च) और जो ओषधियां (इदम्) इस प्रकार (उप शृण्वन्ति) सुनी जाती हैं और (याः च दूरं परागताः) और जो दूर २ तक फैलाई गई हैं । (सर्वाः संगत्य) वे सब मिलकर (वीरुधः) नाना प्रकार से उगनेवाली वृक्ष लता आदि (अस्यै वीर्यं सं दत्त) इस विशेष ओषधि को वीर्य प्रदान करें अथवा इस प्रजा को बल प्रदान करें ।

वीर पुरुषों के पक्ष में—जो वीर सेनाएं (इदम्) सभापति के इस वचन को सुनती हैं और जो दूर तक चली गई हैं वे सब मिलकर (वीरुधः) विविध ऐश्वर्यपद प्राप्त करनेवाली अथवा विविध प्रकार से शत्रुओं को रोकने में समर्थ (अस्यै वीर्यम् सं दत्त) इस विशेष सेना को या पृथ्वी को बल प्रदान करें ।

मा वो रिषत् खनिता यस्मै चाहं खनामि वः ।

द्विपाच्चतुष्पादस्माकं^१ सर्वमस्त्वनानुरम् ॥ ६५ ॥ ऋ० १०।९७।२० ॥

वैधा देवताः । विराडनुष्टुप् । गांधारः ॥

भा०—हे ओषधियो ! (खनिता) तुमको खोदनेवाला तुम्हें (मा रिषत्) विनाश न करे । और (यस्मै च) जिसके लिये मैं (वः) तुमको (खनामि) खोदूं वह (द्विपात् चतुष्पात्) मनुष्य और पशु (सर्वम्) सब (अस्माकम्) हमारे (अनानुरम्) नीरोग, सुखी (अस्तु) हों । हे वीर पुरुषो ! तुम्हारा (खनिता) खनन करनेवाला, तुमको सामान्य प्रजा से अलग करनेवाला राजा (मा रिषत्) तुम्हें पीड़ित न करे और जिस राष्ट्र की रक्षा के लिये वह तुम्हें पृथक् करता है वे सब मनुष्य, पशु पक्षी भी, सुखी हों ।

ओषधयः समवदन्त सोमेन सह राज्ञा ।

यस्मै कृणोति ब्राह्मणस्तथं राजन् पारयामसि ॥ ६६ ॥

ऋ० १०।९७।२२ ॥

वैधा देवताः । अनुष्टुप् । गांधारः ॥

भा०—(ओषधयः) वीर्य धारण करनेवाली ओषधियां (सोमेन) सोमलता के साथ (सम अवदन्त) मानो संवाद करती हैं कि हे (राजन्) हे राजन्, सोम ! (ब्राह्मणः) वेदज्ञ विद्वान् ब्राह्मण (यस्मै कृणोति) जिस के लिये हमें तैयार करके प्रदान करता है (तं) उसको हम (पारयामसि) पालन करती हैं । वीर्यवती प्रजाएं (सोमेन राज्ञा सह) प्रेरक बलवान् राजा के साथ मिलकर (सम् अवदन्त) आलाप करती हैं कि (ब्राह्मणः यस्मै कृणोति) वेदज्ञ पुरुष जिस प्रयोजन या देश की रक्षा के लिये हमें दीक्षित करता है हे राजन् ! (तं पारयामसि) उसका हम पालन करती हैं ।

६५—‘द्विपाच्चतुष्पादस्मा०’ इति काण्व०

६६—‘ओषधयः संवदन्ते’ इति ऋ० ।

स्त्रियों के पक्ष में—वीर्य धारण करने में समर्थ, लता के समान स्वभाव की स्त्रियां वधू के इच्छुक तेजस्वी पुरुष के साथ (सम् अवदन्त) संगत होकर प्रतिज्ञा करती हैं कि (यस्मै) जिस गृहस्थ कार्य के लिये हमें (ब्राह्मणः) वेदज्ञ विद्वान् संस्कार द्वारा प्रदान करता है हे राजन् ! वर ! (तं पारयामसि) हम उसको संसार-सागर से तारती हैं, उसका पालन करती हैं । मन्त्र ९२, ९३, ९४, भी स्त्रीपक्ष में लगते हैं । (देखो दयानन्दभाष्य) ।

नाशयित्री बलासस्यार्शसऽउपचितोमसि ।

अथो शतस्य यक्ष्माणां पाकारोरसि नाशनी ॥ ६७ ॥

भिषग्वरा देवताः । अनुष्टुप् । गांधारः ॥

भा०—हे ओषधे ! तू (बलासस्य) बल को नाश करनेवाले कफ रोग को (अर्शसः) अर्श, बवासीर और (उपचिताम्) दोषों के एकत्र होजाने से उठनेवाले गण्डमाला अदि रोगों की (नाशयित्री असि) नाश करनेवाली है । (अथ) और इसी प्रकार के (शतस्य यक्ष्माणाम्) सैकड़ों रोगों के और (पाकारोः) पकनेवाले फोड़े को भी (नाशनी असि) नाश कर देने वाली हो ।

वीर प्रजा के पक्ष में—(बलासस्य) बलपूर्वक आक्रामक (अर्शसः) हिंसाकारी, (उपचिताम्) अन्यों के धनों को अन्याय से संग्रह करनेवाले और (पाकारोः) परिणाम से पीड़ा देने वाले और इसी प्रकार (शतस्य यक्ष्माणाम्) सैकड़ों गुप्त पीड़ाकारी दुष्टों का नाश करनेहारी हो ।

त्वां गन्धर्वा अखनँस्त्वामिन्द्रस्त्वां बृहस्पतिः ।

त्वामोषधे सोमो राजा विद्वान् यक्ष्मादिमुच्यत ॥ ६८ ॥

वैद्या देवताः । निचृदनुष्टुप् । गांधारः ॥

भा०—(त्वाम्) तुझको (गन्धर्वाः) गौ, वेदवाणी के ज्ञाता और भूमि के पालक या गन्ध सूंघकर ठीक २ वस्तु पा लेने वाले, (अखनम्)

खोदते हैं, प्राप्त करते हैं (त्वां) तुक्षको (इन्द्रः) इन्द्र, ऐश्वर्यवान् (बृहस्पतिः) बड़े राष्ट्र का पालक और (सोमः राजा) राजा सोम और (विद्वान्) विद्वान् पुरुष भी प्राप्त करता है (यक्ष्मात्) और वह रोग से (अमुच्यत) मुक्त होता है ।

वीर सेना के पक्ष में—(गन्धर्वाः) पृथ्वी के पालक, भूपति लोग (इन्द्रः) सेनापति और (सोमः राजा) राजा सोम सम्राट् सभी प्राप्त करते हैं और कष्ट से मुक्त होते हैं ।

सहस्र मे अरातीः सहस्र पृतनायतः ।

सहस्र सर्वं पाप्मानं सहमानास्योषधे ॥ ६६ ॥

अथर्व० १९ । ३२ । ६ ॥

ओषधीर्देवता । विराड् अनुष्टुप् । गांधारः ॥

भा०—हे (ओषधे) ओषधि के समान वीर्य को धारण करनेवाली सेने ! (सहमाना असि) रोग के समान तू शत्रु को पराजित करने-हारी है । तू (सर्वं पाप्मानम्) समस्त पापाचार को (सहस्र) विनष्ट कर । (मे अरातीः) मेरे शत्रुओं को (सहस्र) पराजित कर और (पृतनायतः) सेना लेकर चढ़नेवालों को भी (सहस्र) बलपूर्वक पराजित कर ।

दीर्घायुस्तऽओषधे खनिता यस्मै च त्वा खनाम्यहम् ।

अथो त्वं दीर्घायुर्भूत्वा शतवल्शा वि रोहतात् ॥ १०० ॥

वैद्या देवताः । विराड् बृहती । मध्यमः ॥

भा०—(ते खनिता) तुझे खोदकर प्राप्त करनेवाला और (यस्मै च) जिसके लिये (त्वा) तुक्षको (अहम् खनामि) मैं खोदकर प्राप्त करता हूँ हे (ओषधे) वीर्यवति ओषधे ! बलवति ! (सः दीर्घायुः) वह दीर्घ आयुवाला होता । (अथो) और हे पुरुष ! हे स्त्री ! और हे औषधे ! हे वीर्यवति प्रजे ! (त्वं) तू भी (दीर्घायुः भूत्वा) दीर्घ आयुवाली होकर

(शतवल्शा) सैकड़ों अंकुरों सहित (वि रोहतात्) विविध प्रकार से उत्पन्न हो, उन्नत हो, पुष्ट हो वृद्धि को प्राप्त हो ।

त्वमुत्तमास्योषधे तव वृक्षाऽउपस्तयः ।

उपस्तिरस्तु सोऽस्माकं योऽश्मामाँ २॥ अभिदासति ॥१०१॥

अथर्व० ६ । १५ । १ ॥

भिषजो देवताः । निचृदनुष्टुप् । गांधारः ।

भा०—हे (ओषधे) ओषधे ! वीर्यवति (त्वम् उत्तमा असि) तू सबसे श्रेष्ठ है । (वृक्षाः) अन्य वृक्ष भी (तव उपस्तयः) तेरे अधीन संघ बनाकर रहें । तेरे बल से (सः) वह (अस्माकम् उपस्तिः अस्तु) हमारे अधीन दृढ़ रहे (यः) जो (अस्मान्) हमें (अभिदासति) अनेक सुख प्रदान करता है ।

अथवा—हे ओषधे ! तू सबसे श्रेष्ठ है । (वृक्षाः) वट आदि वृक्ष तेरे समीप (उपस्तयः) संघ बनाकर ठहरते हैं । (यः अस्मान् अभिदासति) जो हमें सुख देता है वह (अस्माकं उपस्तिः अस्तु) हमारे पास सदा हमसे मिलकर रहे ।

सेना पक्ष में—(उपस्तयः) संघ बना कर रहनेवाली सेनाएं (तव वृक्षाः) तेरे काटने योग्य हैं । अथवा (वृक्षाः) काटने योग्य वृक्षों के समान छेद्य शत्रु (उपस्तयः = संहन्तव्याः) विनाश करने योग्य हैं । इसी प्रकार जो हमें (अभि दासति) विनष्ट करे (सः अस्माक उपस्तिः) वह भी हमारे लिये विनाश योग्य है ।

विशेष ओषधिसूक्त देखो ऋषि अथर्वा दृष्ट अथर्ववेद का० ८ । सू० ७ ॥
मा मां हि तंसीज्जनिता यः पृथिव्या यो वा दिवं तं सत्यधर्मा

१०१—‘उत्तमाउप्रस्याषधीनां’० इति अथर्व० । तत्रो ब्रालक ऋषिः ॥
वनस्पतिदेवता ॥

व्यानद् । यश्चापश्चन्द्राः । प्रथमो जजान कस्मै देवाय हविषा
विधेम ॥ १०२ ॥

हिरण्यगर्भ ऋषिः । को देवता । निचृदार्षी त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा० — (यः) जो परमेश्वर (पृथिव्याः जनिता) पृथिवी का उत्पादक है और (यः वा) जो (सत्य-धर्मा) सत्य धर्मवाला, सत्य के बल से जगत् को धारण करनेवाला होकर (दिवं) द्यौलोक, आकाश और सूर्य को (वि आनद्) विविध प्रकार से व्याप्त है । और (यः) जो (प्रथमः) सबसे प्रथम विद्यमान होकर (अपः) जलों और वायुओं और प्राणों को (चन्द्राः) ज्योति वाले सूर्यचन्द्र आदि लोकों को (जजान) उत्पन्न करता है (कस्मै) उस सुखमय उपास्य देव की हम (हविषा) भक्ति और स्तुति से (विधेम) अर्चना करें । वह (मा मा हिंसीत्) मुझे कभी नाश न करे ।

राजा के पक्ष में—जो पृथिवी का (जनिता) पिता के समान पालक सत्य नियमों वाला होकर (यः दिवं व्यानद्) जो सब व्यवहारों को चलाता है (चन्द्रा आपः) जो सबसे श्रेष्ठ होकर सब आह्लादकारी आस प्रजाओं को (जजान) प्रकट करता है । उस कर्तारूप प्रजापति की हम (हविषा) अन्न आदि उत्तम उपादेय पदार्थों से सेवा करें । वह राजा (मा मा हिंसीत्) मुझ राष्ट्र की प्रजा का नाश न करे ॥ शत० ७ । ३ । १ । २० ॥

अभ्यावर्त्तस्व पृथिवि यज्ञेन पयसा सह ।

वृषान्तेऽअग्निरिष्टितोऽअरोहत् ॥ १०३ ॥

अग्निदेवता । निचृदार्षिक । ऋषभः ।

भा०—हे (पृथिवि) पृथिवी ! हे स्त्री ! तू (यज्ञेन) यज्ञ परस्पर, के प्रेमपूर्वक संग और (पयसा) जल, पुष्टिकारक अन्न और वीर्य के (सह) साथ (अभि आवर्त्तस्व) सब प्रकार से प्राप्त हो, वर्तमान रह । (इषितः) कामनावान्, अभिलाषुक (अग्निः) अग्नि के समान तेजस्वी

पुरुष राजा या पति (ते वपाम्) तेरी बीज-वपन करने की भूमि में (अरोहत्) बीज वपन करे और अन्न और पुत्र आदि प्राप्त करे ।

अर्थात्—(पयसा सह यथा पृथिवी अभि आवर्तते) मेघ के जल से जिस प्रकार पृथिवी युक्त होती है उसी प्रकार (यज्ञेन पृथिवी अभ्यावर्तस्व) हे स्त्री ! तू यज्ञ अर्थात् संगत पति से युक्त होकर रह । और (अग्निः) तेजस्वी राजा जिस प्रकार इच्छानुकूल प्रजाओं द्वारा चाहा जाकर (वपाम्) उत्पादक शक्ति वीर भूमि, पर अधिष्ठाता रूप से विराजता है उसी प्रकार (अग्निः) तेजःस्वरूप वीर्य । (इषितः) स्त्री की इच्छानुसार प्राप्त होकर (ते वपां) तुझ स्त्री की सन्तानोत्पादक शक्ति को प्राप्त कर (अरोहत्) सन्तानरूप से बढ़े ॥ शत ७ । ३ । १ । ११ ।

अग्ने यत्ते शुक्रं यच्चन्द्रं यत्पुतं यच्च यज्ञियम् ।

तद् देवेभ्यो भरामसि ॥ १०४ ॥

अग्निदेवता । मुरिग् गायत्री । षड्जः ॥

भा०—हे (अग्ने) अग्नि के समान तेजस्विन् ! राजन् ! (यत् ते शुक्रं) जो तेरा शुद्ध, उज्ज्वल और (यत् चन्द्रं) जो चन्द्र, आह्लादकारी (यत् पुतं) जो पवित्र, (यत् च यज्ञियम्) और जो 'यज्ञ', प्रजापति होने योग्य तेज है (तत्) उसको हम प्रजागण (देवेभ्यः) विजयी वीर पुरुषों के लिये (भरामसि) प्राप्त कराते और स्वयं धारण हैं ।

सन्तानोत्पादक वीर्य के पक्ष में—अग्निरूप ! वीर्य का जो शुद्ध, आह्लादकारी पवित्र क्रिया में हितकारी स्वरूप है उसको (देवेभ्यः) दिव्यगुणों और प्राणों की पुष्टि लिये प्राप्त करें । शत० ७ । ३ । १ । ११ ॥

इषमूर्जमहमितऽआदमृतस्य योनिं महिषस्य धाराम् ।

आ मा गोषु विशत्वा तनूषु जहामि सेदिमनिराममीवाम् ॥ १०५ ॥

विद्वान् देवता । विराट् त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

१०५—आशीदेवता । अनन्त० ॥

भा०—(अहम्) मैं (इतः) इस पृथ्वी से (इपम्) अन्न और (ऊर्मम्) बलकारक समस्त उत्तम भोजन (आदम्) प्राप्त करूँ। (इतः) इस पृथ्वी से ही (ऋतस्य) सत्य ज्ञान के (योनिम्) कारणरूप (महिषस्य) महान् परमेश्वर के सत्य ज्ञान को (धाराम्) धारण करनेवाली वेदवाणी को भी प्राप्त करता हूँ। वह अन्न बल और सत्यज्ञान (मा आविशतु) मुझे प्राप्त हो। और वही अन्न, पुष्टिकारक पदार्थ (गोपु तनूपु) हमारी इन्द्रियों और शरीरों में भी प्राप्त हो। और (अनिराम्) अन्न से शून्य, उपवास करानेवाली, (अमीवाम्) रोगों से उत्पन्न (सेदिम्) और भुखमरी आदि प्राणनाशक विपत्ति का (जहामि) मैं त्याग करूँ, उसको हटाऊँ ॥ शत० ड । ३ । १ । २३ ॥

अग्न तव श्रवो वयो महि भ्राजन्ते ऽअर्चयो विभावसो ।
वृहद्भानो शवसा वाजमुक्थ्युं दधासि दाशुषे कवे ॥ १०६ ॥

पावकोऽग्निर्ऋषिः । अग्निर्देवता । निचृत् पंक्तिः । पंचमः ॥

भा०—हे (अग्ने) अग्ने ! ज्ञानवान् तेजस्विन् ! हे (विभावसो) विशेष ज्ञानदीप्ति में बसनेवाले तेजोधन ! एवं ज्ञानधन विद्वन् ! (तव) तेरा (महि श्रवः) बड़ा भारी ज्ञान और (महि वयः) बड़ा भारी जीवन सामर्थ्य, और ये गुण सब (अर्चयः) अग्नि की ज्वालाओं के समान (भ्राजन्ते) प्रकाशित होते हैं। हे (वृहद्भानो) महान् दीप्तिवाले सूर्य के समान तेजस्विन् ! एवं वृहती वेदवाणी के प्रकाश से युक्त हे (कवे) क्रान्तदर्शिन मेधाविन् ! विद्वन् ! तू (शवसा) बल से (उक्थं वाजम्) ज्ञान और वीर्य को (दाशुषे) दानशील पुरुषों अथवा दानयोग्य विद्यार्थी पुरुष को (दधासि) प्रदान करता है ॥ शत० ७ । ३ । १ । २९ ॥

पावकवर्चाः शुक्रवर्चाऽअनूनवर्चा ऽउदियर्षि भानुना ।

पुत्रो मातरां विचरन्नुपावसि पृणक्षि रोदसी ऽउभे ॥ १०७ ॥

ऋ० १० । १४० । १ ॥

पावकोग्निर्ऋषिः । आग्निर्विद्वान् देवता । भुरिगार्गी पंक्तिः । पंचमः ॥

भा०—(पावकवर्चाः) अग्नि के समान, पवित्रकारी तेजवाला, (शुक्रवर्चाः) वीर्य के सामन विशुद्ध तेजवाला, एवं सामर्थ्यजनक, (अनूनवर्चाः) किसी से भी न्यून बल न होकर अति बलशाली, तेजस्वी राजा होकर (भानुना) अपने तेज से तू सूर्य के समान (उत् इयषिं) ऊपर उठता है । और (मातरा) माता पिता दोनों के बीच (पुत्रः) जिस प्रकार पुत्र निः संकोच, निर्भय होकर विचरता है उसी प्रकार (उभे) दोनों (रोदसी) द्यौ और पृथिवी के बीच (पुत्रः) पुरुषों को त्राण करने में समर्थ होकर (विचरन्) विविध प्रकार से विचरता हुआ (उप अवसि) तू उन्हें प्राप्त हो और दोनों का (पृणक्षि) पालन पोषण कर ॥ शत० ७ । ३ । १ ३० ॥

ऊर्जो नपाज्जातवेदः सुशस्तिभिर्मन्दस्व धीतिभिर्हितः ।
त्वे ऽइषः सं दधुर्भूरिवर्षसाश्चित्रोतयो ब्रामजाताः ॥ १०८ ॥

ऋ० १० । १४० । २ ॥

ऋष्यादि पूर्ववत् ॥ निचृत्पंक्तिः । पंचमः ॥

भा०—(ऊर्जः नपात्) अपने बल और पराक्रम को कभी धर्म-मार्ग से न गिरने देनेवाले ! हे (जातवेदः) विद्वन्, ऐश्वर्यवान् ! राजन् ! तू (सु-शस्तिभिः) उत्तम शासन-क्रियाओं से और सुख्यातियों से (धीतिभिः) अंगुलियों के समान अग्रगामी धारण-शक्तियों से (हितः) प्रजा का हितकारी एवं सुस्थापित होकर (मन्दस्व) सुप्रसन्न हो । (त्वे) तुझ में (भूरि-वर्षसः) नाना धन, गौ आदि पशु, नाना रूप के ऐश्वर्यों से युक्त (चित्रोतयः) चित्र और विविध रक्षा साधनों से

१०७—० 'उदय ऋषिः भानुना०' इति काएव० ॥

मं० १०६, ११०]

द्वादशोऽध्यायः

५२७

सुरक्षित (वाम-जाताः) उत्तम वंशों में उत्पन्न हुई प्रजापं (इषः सं दधुः)
अन्न आदि भोग्य पदार्थ प्रदान करें ॥ शत० ७ । ३ । १ । ३१ ॥

इरज्यन्गने प्रथयस्व जन्तुभिस्मै रायो ऽमर्त्य ।

स दर्शतस्य वपुषो विराजसि पृणक्षि सानसि क्रतुम् ॥ १०९ ॥

क्र० १० । १४० । ३ ॥

श्रव्यादि पूर्ववत् ॥

भा०—हे राजन् ! (सः) वह तू (दर्शतस्य वपुषः) दर्शनीय
शरीर से (वि राजसि) विशेष दीप्ति से चमकता है, (सानसिम्) सना-
तन से चली आई, चिरकाल से प्राप्त (क्रतुम्) प्रज्ञा और शक्ति को
(पृणक्षि) धारण और पूर्ण किये रहता है । और हे (अग्ने) अग्ने, प्रतापवन् !
विद्वन् ! तू (इरज्यन्) ऐश्वर्यवान् होता हुआ हे (अमर्त्य) नाशवान्
साधारण मनुष्यों से भिन्न, विशेष पुरुष ! (जन्तुभिः) गौ आदि जन्तुओं
से (अस्मै) हमारे उपकार के लिये (रायः) धन-ऐश्वर्यों को (प्रथयस्व)
बढ़ा ॥ शत० ७ । ३ । १ । ३२ ॥

इष्कर्तारमध्वरस्य प्रचेतसं क्षयन्तुं राधसो महः ।
रातिं वामस्य सुभगां महीमिषं दधासि सानसिथं रयिम् ११०

क्र० १० । १४० । ४ ॥

श्रव्यादि पूर्ववत् । आर्षी पंक्तिः । पंचमः ॥

भा०—(अध्वरस्य) अहिंसारहित, पालक यज्ञ, व्यवस्था के
(इष्कर्तारम् = निष्कर्तारम्) करनेवाले, (प्रचेतसं) प्रकृष्ट ज्ञानवान्, (क्षय-
न्तम्) निवासी और (महः) बड़े भारी (वामस्य) अति सुन्दर, प्राप्त
करने योग्य (राधसः) धन के (रातिम्) देनेवाले पुरुष को और
(सुभगाम्) उत्तम ऐश्वर्ययुक्त (महीम् इषं) बड़ी भारी अन्न-समृद्धि को
और (सानसिम्) अनन्त, अनादि, सनातन, अक्षय (रयिम्) सम्पत्ति
को भी (दधासि) धारण करता है, अतः तू पूजनीय है ॥ शत० ७ । ३ । १ । ३३ ॥

ऋतावानं महिषं विश्वदर्शतमग्निं सुम्नाय दधिरे पुरो जनाः ।
श्रुत्कर्णं सप्रथस्तमं त्वा गिरा दैव्यं मानुषा युगा ॥ १११ ॥

ऋ० १० । १४० । ५ ॥

पावकोभिश्चापि : । अग्निदेवता । स्वराङ्गी पंक्तिः । पञ्चमः ॥

भा०—(ऋतावानम्) सत्य ज्ञानवान्, सत्य कर्मवान्, (महिषं) महान् (विश्व-दर्शतम्) सब विद्याओं के द्रष्टा एवं सर्व प्रकार से दर्शनीय, (अग्निम्) अग्नि के समान तेजस्वी, ज्ञानवान्, श्रवण किये हुए (श्रुत्-कर्णम्) गुरु के उपदेश को अपने कानों में सदा धारण करने वाले अथवा गुरु के उपदेशानुसार आचरण करनेवाले, (दैव्यम्) देव, विद्वानों में कुशल (त्वा) तुझ विद्वान् (अग्निम्) ज्ञानी, तेजस्वी पुरुष, राजा को (सुम्नाय) अपने सुख के लिये (पुरः) पालन करने में चतुर या पालन योग्य (जनाः) लोग (सुम्नाय) अपने सुख के लिये ही (दधिरे) स्थापित करते हैं । और (स-प्रथस्तमम्) विस्तृत यश के पात्र तुझको (मानुषा युगा) मनुष्यों के युग, जोड़े अर्थात् सभी नर नारी (गिरा) वाणी से भी (दधिरे) प्रतिष्ठित करते हैं ॥ शत० ७ । ३ । १ । ३४ ॥

आप्यायस्व समेतु ते विश्वतः सोम वृष्ण्यम् ।

भवा वाजस्य सङ्गथे ॥ ११२ ॥ ऋ० १० । १४० । ६ ॥

गोतम ऋषिः । सोमो देवता । निचृद् गायत्री ॥ । षड्जः ॥

भा०—हे (सोम) राजन् ! (ते) तेरा (वृष्ण्यम्) प्रताप, बल-शाली कार्य (विश्वतः) सर्वत्र (सम्-एतु) प्राप्त हो । तू (विश्वतः आप्यायस्व) सब प्रकार से वृद्धि को प्राप्त हो और (वाजस्य) वीर्यवान् वेग या ऐश्वर्य के निमित्त होनेवाले (सङ्गथे) संग्राम में तू विजयी (भव) हो ॥ शत० ७ । ३ । १ । ४६ ॥

सं ते पयांसि समु यन्तु वाजाः सं वृष्णान्यभिमातिषाहः ।

आप्यायमानोऽमृताय सोम दिवि श्रवांश्चस्युत्तमानि धिष्व ११३

क्र० । १ । ९१ । १८ ॥

गोतम ऋषिः सोमो देवता । भुरिगार्धी पंक्तिः । पञ्चमः ॥

भा०—हे (सोम) सोम ! (ते) तुझे (पयांसि) पुष्टिकारक पदार्थ (सं यन्तु) प्राप्त हों । और (अभिमाति-साहः) अभिमानी शत्रुओं को पराजित करने में समर्थ (वाजाः सं यन्तु) वीर्यवान् और वेगवान् पदार्थ तुझे प्राप्त हों । इसी प्रकार (वृष्ण्यानि) सब प्रकार के बल भी तुझे (सं यन्तु) प्राप्त हों । हे सोम ! (दिवि) आकाश में चन्द्र के समान (आप्यायमानः) प्रतिदिन बढ़ती कलाओं से वृद्धि को प्राप्त होता हुआ (अमृताय) 'अमृत', मोक्ष सुख, या सन्तति-परम्परा से सदा अमर या चिरस्थायी या अमृत, अर्थात् शतवर्ष पर्यन्त दीर्घ जीवन को प्राप्त करने के लिये (उत्तमानि) उत्तम २ (श्रवांसि) अन्नों को प्राप्त कर, उत्तम अन्न का सेवन कर ॥ शत० ७ । ३ । १ ४६ ॥

आप्यायस्व मदन्तम सोम धिष्वेभिरशुभिः ।

भवा नः सप्रथस्तमः सखा वृधे ॥ ११४ ॥

क्र० १ । ९१ । १७ ॥

सोमो देवता । आप्युष्णिक । ऋषभः ॥

भा०—हे (मदन्तम) अति प्रसन्नचित्त ! हे (सोम) ऐश्वर्ययुक्त राजन् ! तू (विधेभिः) समस्त (अंशुभिः) किरणों से (आप्यायस्व) वृद्धि को प्राप्त हो । तू (वृधे) वृद्धि के लिये ही (नः) हमारा (सप्रथस्तमः) अति अधिक विस्तृत यशों और गुणों से प्रसिद्ध कीर्तिमान् (सखा) मित्र (भव) हो ।

आ ते वत्सो मनो यमत्परमाच्चित्सधस्थात् ।

अग्ने त्वाङ्गामया गिरा ॥ ११५ ॥ क्र० ८ । ११ । ७ ॥

११३—व्यूह त्रिष्टुप् । सर्वा० ।

३४

अवत्सार ऋषिः । अग्निदेवता । निचृद्गायत्री । षड्जः ।

भा०—हे (अग्ने) अग्ने ! तेजस्विन् पुरुष ! (वत्सः) बछड़ा जिस प्रकार अपनी माता के साथ (आ यमत्) बांध दिया जाता है उसी प्रकार (परमात् चित् सधस्थात्) परम आश्रयस्थान से प्राप्त हुई (त्वां-कामया) जिस वाणी से हम तेरे प्रति अधिक प्रेम प्रदर्शन करते हैं उस (गिरा) वेद वाणी से ही तेरे चित्त को (आ यमत्) बांधा जाता है । तू उससे बद्ध होकर राष्ट्र की व्यवस्था करे । आत्मा के पक्ष में—(त्वां-कामया = आत्म-कामया) अपने आत्मा को ही दर्शन करने की इच्छावाली वाणी से (परमात् सधस्थात् चित्) परम आश्रय परमेश्वर से प्राप्त (गिरा) ज्ञान वेद वाणी द्वारा (ते मनः आ यमत्) तेरा मन बंध कर एकाग्र हो ॥ शत० ७ । ३ । १ । ८ ॥

स्त्री पुरुष के प्रति—हे अग्ने ! तेजस्विन् पुरुष ! (परमात् सधस्थात्) परमस्थान, हृदय से उत्पन्न (त्वां-कामया गिरा) तुझे चाहने वाली मेरी वाणी से तेरा (मनः) मन, गौ के साथ बछड़े के समान, (आ यमत्) सब तरफ से मेरे साथ बंधे ॥ ऋग्वेदे वत्सः काण्व ऋषिः ॥

तुभ्यं ताऽअङ्गिरस्तम विश्वाः सुक्षितयः पृथक् ।

अग्ने कामाय येमिरे ॥ ११६ ॥ ऋ० ८ । ४३ । १८ ॥

विरूप ऋषिः । अग्निदेवता गायत्री । षड्जः ॥

भा०—हे (अङ्गिरस्तम) अति अधिक ज्ञानी या जड़ते अंगारों वा अग्नि के समान तेजस्विन् ! (ताः सुक्षितयः) वे नाना उत्तम प्रजाएं (पृथक्) पृथक् १ (कामाय तुभ्यं) कामना करने योग्य, कान्तिमान्, तुझ राजा को (येमिरे) प्राप्त हों ॥ शत ७ । ३ । २ । ८ ॥

स्त्री-पुरुष के पक्ष में—हे (अङ्गिरस्तम) अंग २ में रमण करनेवाले

११५—वत्सः काण्व ऋषिः ऋग्वेदे ।

प्रियतम (ताः विश्वाः सु-क्षितयः) वे समस्त उत्तम भूमि रूप स्त्रियां
(पृथक्) पृथक् १ (कामाय तुभ्यम्) काम्यस्वरूप सुन्दर, तुझे अपने
हृदय की कामना पूर्ति के लिये (येमिरे) विवाहें ।

अंगिरस्तम इति जात्यैकवचनम् ।

अग्निः प्रियेषु धामसु कामो भूतस्य भव्यस्य ।

सम्राडेको विराजति ॥ ११७ ॥

प्रजापतिर्ऋषिः । अग्निर्देवता । गायत्री । षड्जः ॥

भा०—(अग्निः) अग्नि के समान तेजस्वी, अग्रणी जो (भूतस्य)
उत्पन्न प्रजाओं और (भव्यस्य) आगामी काल में आनेवाले प्रजाजनों या
सभासदों को (प्रियेषु) प्रिय लगनेवाले (धामसु) स्थानों पर भी
(कामः) सबसे कामना करने योग्य, सब के मनोरथों का पात्र, कान्तिमान्
हो वह (एकः) एक मात्र (सम्राड्) सम्राट् होकर (विराजति)
राज्यसिंहासन पर विशेष रूप से शोभा प्राप्त करता है ॥ शत० ७।३।२।९ ॥

॥ इति द्वादशोऽध्यायः ॥

(तत्र सप्तदशोत्तरशतमृचः ।]

शते मांसातीर्थ-प्रतिष्ठितविद्यालंकार-श्रीमत्पाण्डित्यदेवशर्मकृते
यजुर्वेदालोकभाष्ये द्वादशोऽध्यायः ॥

॥ अथ अयोदशोऽध्यायः ॥

॥ ओ३म् ॥ मयि गृह्णाम्यग्ने अग्निं रायस्पोषाय सुप्रजा-
स्त्वाय सुवीर्याय । मामु देवताः सचन्ताम् ॥ १ ॥

अग्निदेवता । आर्ची पंक्तिः । पंचमः ॥

भा०—(अग्ने) सत्र से प्रथम (मयि) अपने में, अपने ऊपर नियन्ता रूप में (अग्निम्) ज्ञानवान्, विद्वान्, तेजस्वी पुरुष या परमेश्वर को (रायस्पोषाय) धनैश्वर्य समृद्धि के प्राप्त करने के लिये, (सु-प्रजास्त्वाय) उत्तम प्रजाएं प्राप्त करने के लिये, (सु वीर्याय) और उत्तम वीर्य, बल प्राप्त करने के लिये (गृह्णामि) मैं स्वीकार करता हूँ । जिसके अनुग्रह से (देवताः) उत्तम विद्वान् या उत्तम गुण (माम् उ सचन्ताम्) मुझे अवश्य प्राप्त हों ।

राजा अपने भी ऊपर विद्वान्, पुरोहित, ज्ञानवान्, पुरुष को, ऐश्वर्य वृद्धि, उत्तम प्रजाओं, बल वृद्धि के लिये नियुक्त करे । इसी प्रकार अभी प्रथम अपने ऊपर उपदेशप्रद गुरु, आचार्य रूप अग्नि को रखकर (रायः पोषाय) उत्तम गुणों की पुष्टि, वीर्यलाभ, ब्रह्मचर्य और उत्तम सन्तान के लिये रखें ॥ शत० ७ । ४ । १ । २ ॥

अपां पृष्ठमसि योनिर्गनेः समुद्रसभितः पिन्वमानम् ।
वर्धमानो महां २५ आ च पुष्करे दिवो मात्रया वरिष्णा प्रथस्व२

भा०—व्याख्या देखो (अ० ९ । २९) । शत० ७ । ४ । १ । ९ ॥

ब्रह्म जज्ञानं प्रथमं पुरस्ताद्वि सीमितः सुरुचो वेनऽप्रावः ।
स बुध्न्या उपमा अस्या विष्टाः सतश्च योनिमसतश्च विवः ॥ ३

अथर्व० ४ । १ । १ ॥ ५ । ६ । १ ॥

ब्रह्मा अग्निः । आदित्यो देवता । निचृद् आर्ची त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—(पुरस्तात्) सब से प्रथम (जज्ञानम्) प्रकट हुए । (प्रथमम्) सब से प्रथम, एवं सब से अधिक विस्तृत (ब्रह्म) सब से महान्, ब्रह्म रूप में परमात्मा की शक्ति को (वेनः) वही कान्तिमान्, प्रकाश स्वरूप परमेश्वर (सीमतः) समस्त लोकों के बीच में व्यवस्था रूप से व्याप्त होकर (सुरुचः) समस्त रुचिकर तेजस्वी सूर्यों को (वि आवः) विविध रूप से प्रकट करता है । (सः) वही परमेश्वर (अस्य) इस महान्शक्ति के (उपमाः) बतलाने वाले, निदर्शक (वि-स्थाः) नाना स्थलों में और नाना रूपों में स्थित (बुध्न्याः) आकाशस्थ लोकों को भी (वि आवः) विविध रूप से प्रकट करता है । और वही परमेश्वर (सतः च) इस व्यक्त जगत् के और (असतः च योनिम्) अव्यक्त मूल कारण के भी आश्रयस्थान आकाश को (वि वः) प्रकट करता है ।

राष्ट्र पक्ष में—सब से प्रथम ब्रह्मशक्ति उत्पन्न होती है । वही मर्यादा से (सुरुचः) तेजस्वी क्षत्रियों को भी प्रकट करती है । वही (अस्य विष्ठाः उपमः) इस राष्ट्र के विशेष स्थितिवाले ज्ञानी (बुध्न्याः) आश्रय भूत वैश्यवर्ग को उत्पन्न करता है । और वही (सतः असतः च योनिम् विवः) सत् और असत् के आश्रय सामान्य प्रजा को भी उत्पन्न करती है ॥ शत० ७ । ४ । १ । १४ ॥

हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे भूतस्य ज्ञातः पतिरेकऽआसीत् ।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥ ४ ॥

ऋ० १० । १२१ । १ ॥

हिरण्यगर्भ ऋषिः । कः प्रजापतिदेवता । आर्ची त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—(अग्रे) सृष्टि के आदि में (हिरण्यगर्भः) स्वर्ण के समान दीप्त सूर्यों और ज्ञानी पुरुषों को अपने गर्भ में धारण करनेवाला, सब का वशी (भूतस्य) इस उत्पन्न होनेवाले विश्व का (एकः) एकमात्र (जातः) उत्पादक और (पतिः) पालक (आसीत्) रहा और (सम्

अवर्त्तत) उसमें व्याप्त होकर सदा रहता भी है । और (सः) वही (इमाम् पृथिवीम्) इस सर्वाश्रय पृथिवी को और (द्याम् उत) आकाश या तेजोदायी सूर्यादि को भी (दाधार) धारण करता है (कस्मै) उस सुखस्वरूप प्रजापति की हम (हविषा) भक्तिपूर्वक (विधेम) उपासना करें ॥ शत० ७ । ४ । १ ॥ १८ ॥

राष्ट्र के पक्ष में—(हिरण्यगर्भः) सुवर्ण, कोश का ग्रहण करनेवाला उसका स्वामी, समस्त राष्ट्र के उत्पन्न प्राणियों का एकमात्र पालक है । वह ही (पृथिवीम्) पृथिवीस्थ नारियों और (द्याम्) सूर्य के समान पुरुषों को भी पालता है । उसी प्रजापति राजा की हम (हविषा) अन्न और आज्ञा पालन द्वारा सेवा करें ।

द्रुप्सश्चस्कन्द पृथिवीमनु द्यामिमं च योनिमनु यश्च पूर्वः ।
समानं योनिमनु सञ्चरन्तं द्रुप्सं जुहोम्यनु सप्त होत्राः ॥ ५ ॥
क० १० । १७ । ११ ॥ अथर्व० १८ । ४ । १८ ॥

अथवा ऋषिः । ईश्वर, आदित्यो देवता । विराड् आर्षी त्रिष्टुप् ॥

भा०—(द्रुप्सः) आदित्य का तेज (पृथिवीम् अनु) पृथिवी पर (चस्कन्द) प्रकाश और मेघजल के रूप में प्राप्त होता है । (अनु द्याम्) और फिर वह आकाश में जाता है । (यः च पूर्वः) जो स्वयं आदि में पूर्व या पूर्ण है वह (इमं च योनिम् अनु) इस स्थान को भी प्राप्त होता है । इस प्रकार (समानम् योनिम् अनु) अपने समान अनुरूप आश्रय-स्थान को प्राप्त करते हुए (द्रुप्सं) हर्ष के कारणरूप आदित्य को जिस प्रकार (सप्त होत्राः) सातों आदानकारी दिशाओं में फैलता देखते हैं उसी प्रकार मैं (द्रुप्सं) आनन्द और हर्ष के हेतु वीर्य को (सप्त होत्राः) सातों प्राणों में (अनु जुहोमि) संचारित करूं ।

राष्ट्र पक्ष में—(द्रप्सः) प्रजा का हर्षजनक राजा (यः च पूर्वः) जो पूर्ण शक्तिमान् है वह (पृथिवीम् अनु द्याम् अनु च) पृथिवी को और सूर्य को अनुकरण करता हुआ (पृथिवीम् चस्कन्द) पृथिवी को प्राप्त होता है । (योनिम्) अपने भूलोक के समान (सं चरन्तं) समान रूप से संचरण करनेवाले (द्रप्सं) हर्षकारी, आदित्य के समान तेजस्वी पुरुष को (सप्त होत्राः अनु) सात प्राणों में वीर्य के समान सातों दिशाओं में सूर्य के समान (जुहोमि)^१ स्थापित करता हूँ ॥ शत० ७ । ४ । १ २० ॥

नमोऽस्तु सर्पेभ्यो ये के च पृथिवीमनु ।

येऽग्रन्तरिक्षे ये दिवि तेभ्यः सर्पेभ्यो नमः ॥ ६ ॥

६-८ सर्पाः देवताः । भुरिगुणिकम् । ऋषभः ॥

भा०—(ये के च) जो कोई भी (पृथिवीम् अनु) इस पृथिवी पर और (ये) जो अन्तरिक्षे में और (ये दिवि) जो दूर आकाश में विद्यमान लोक हैं (तेभ्यः) उन (सर्पेभ्यः) सर्पण स्वभाव गतिमान् लोकों को (नमः) अन्न प्राप्त हो और (तेभ्यः सर्पेभ्यः नमः) उन सर्प के स्वभाव वाले दुष्ट पुरुषों का उत्तम रीति से दमन हो ।

इमे वै लोकाः सर्पाः या एव एषु लोकेषु नाष्ट्रा, व्यद्वरो या शिमिदा तदैवेतत्सर्वं शमयति ॥ शत० ७ । ४ । १ । २८ ॥

अथवा राष्ट्र में राजाओं के प्रति जानेवाले, प्रजाओं में फैले हुए और अन्तरिक्ष अर्थात् शासक जनों में फैले हुए (सर्पेभ्यः) गुप्त रूप से गतिशील चरों की (नमः) हम नियम, व्यवस्था करें ।

या इषवो यातुधानानां ये वा वनस्पतीः^१ ऽरन्तु ।

ये वा वृष्टेः शेरते तेभ्यः सर्पेभ्यो नमः ॥ ७ ॥

अनुष्टुप् छन्दः । गांधारः ॥

१—१ जुहोमि स्थापयामीति उवटः

भा०—(याः) जो (यातुधानानां) प्रजा को पीड़ा देनेवाले दुष्ट पुरुषों के (इषवः) शस्त्र हैं अर्थात् उनके द्वारा चलाये हथियारों के समान प्रजा के नाशकारी हैं (ये वा) और जो (वनस्पतीन् अनु) वृक्षों के आश्रित सर्पों के समान प्रजा को आश्रय देनेवाले माण्डलिक भूपतियों के अधीन रहते हैं । (ये अवटेपु) जो गढ़ों में रहने वाले सापों के समान प्रजा की निचली श्रेणियों में (शेरते) गुप्त रूप से रहते हैं (तेभ्यः सर्पेभ्यः) उन सब कुटिल स्वभाव के लोकों का भी (नमः) दमन हो ॥ शत० ७ । ४ । १ । २९ ॥

ये वामि रोचने दिवो ये वा सूर्यस्य रश्मिषु ।
येषामप्सु सदस्कृतं तेभ्यः सर्पेभ्यो नमः ॥ ८ ॥

ऋष्यादि पूर्ववत् । निचृद अनुष्टुप् । गंधारः ॥

भा०—(ये) जो (दिवः) सूर्य या विद्युत् के (रोचने) प्रकाश में और (ये वा) जो (सूर्यस्य रश्मिषु) सूर्य की रश्मियों में चलते फिरते हैं और (येषाम्) जिनका (अप्सु) जलों के भीतर (सदः) निवास स्थान, आश्रय दुर्ग (कृतम्) बना है (तेभ्यः) उन (सर्पेभ्यः) कुटिल लोगों को भी राजा (नमः) अपने वश करे ॥ शत० ७ । ४ । १ । ३० ॥

कृणुष्व पाजः प्रसितिं न पृथ्वीं याहि राज्ञवामवाँ २५ इमेन ।
तृष्णीमनु प्रसितिं द्रूणानो ऽस्तासि विध्य रक्षस्तपिष्ठैः ॥ ६ ॥

ऋ० । ४ । ४ । १ ॥

देवा वामदेवश्च ऋषयः । अग्निः प्रतिसरो देवता । रक्षोघ्नी ऋक् । भुरिक् पंक्तिः । पंचमः ।

भा०—हे राजन् ! हे सेनापते ! तू (पाजः कृणुष्व) बल को उत्पन्न कर,

१—१२—कृणुष्व पञ्च प्रतिसरा राक्षोघ्ना, देवानामार्षम् ॥ सर्वा ॥
सर्वास्त्रिष्टुभः । आग्नेयीं वामदेवश्चापश्यत् । सर्वा ॥

राष्ट्र के पालन और दुष्ट दमन के सामर्थ्य को उत्पन्न कर । तू (अमवान्) सहायक अमात्य पुरुषों से युक्त होकर (प्र-सितिम्) सुप्रबद्ध, सुव्यवस्थित पृथिवी को (इमेन) हस्तिबल से (राजा इव) राजा के समान (याहि) प्राप्त हो । अथवा—(प्रसितिं न पाजः कृणुष्व) तू अपने बल को विस्तृत जाल के समान बना । जिसमें समस्त प्रजाएं बंधें । (राजा इव अमवान् इमेन पृथिवीं याहि) राजा के समान सहायक पुरुषों से युक्त होकर हस्ति-बल से पृथ्वी को प्राप्त कर । और पृथ्वी, अति वेगवाली, बलवती (प्रसिति-म् अनु) उत्कृष्ट बन्धनों से युक्त राज्यव्यवस्था के अनुसार (रक्षसः) विघ्नकारी दुष्ट पुरुषों को (द्रणानः) विनाश करता हुआ तू उनपर (अस्ता असि) बाण आदि शस्त्रों के फेंकने वाला ही हो और (रक्षसः) विघ्नकारी पुरुषों को (तपिष्ठैः) अति संतापजनक साधनों या शस्त्रों से (विध्य) ताड़ना कर, दण्डित कर ॥ शत० ७ । ४ । १ । ३४ ॥

तव भ्रमासं ऽआशुया पतन्त्यनु स्पृश धृषता शोशुचानः ।
तपूंष्यग्ने जुह्वा पतङ्गानसन्दिता विसृज विश्वगुल्काः ॥ १० ॥
क्र० ४ । ४ । १ ॥

देवा वामदेवश्च श्रपयः । रक्षोहा अग्निदेवता । भुरिक् पंक्तिः । पंचमः ॥

भा०—हे राजन् ! जिगीषो ! (तव) तेरे (आशुया) शीघ्र गमन करने वाले (भ्रमासः) भ्रमणशील । र जन (पतन्ति) वेग से जायें और तू (शोशुचानः) अति तेजस्वी हो (धृषता) शत्रु के मान नष्ट करने में समर्थ बल से युक्त होकर (अनु स्पृश) उनके पीछे लगा रह । हे (अग्ने) अग्नि के समान तेजस्विन् ! राजन् ! सेनानायक ! तू (असन्दिताः) शत्रु के जाल में न पड़ कर, अखण्डित बल होकर (जुह्वा) शस्त्रों को प्रेरण करनेवाली सेना से (तपूंषि) सन्तापकारी अस्त्रों को (विसृज) नाना प्रकार से छोड़ । (पतङ्गान्) तीव्र घोड़ों या घुड़सवारों या बाणों को (वि सृज) छोड़ और (विश्वग्) सब ओर को (उल्काः) दूटते

तारों के समान वेग और दीप्ति से आकाश मार्ग से जाने वाले अग्निमय अशनि नामक अश्वों को (वि सृज) चला ।

प्रति स्पशो विसृज तूर्णितमो भव पायुर्विशोऽस्याऽदब्धः ।
यो नो दुरेऽघशं सो योऽग्रन्त्यग्ने मा किष्टे व्यथिरादधर्षीत् ११

ऋ० ४ । ४ । ३ ॥

देवा वाम देवश्च ऋषयः । अग्निदेवता । निचृत् त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—(यः अघशंसः) जो पापाचरण करने को कहता है वह (यः) और जो (नः) हमारे से (दूरे) दूर है और (यः) जो (अभि) हमारे पास है हे (अग्ने) अग्रनायक राजन् ! वह भी (व्यथिः) हमें व्यथादायी होकर (ते) तेरा (मा आदधर्षीत्) आज्ञा भंग कर अपमान न कर सके । इसलिये तू (तूर्णितमः) अति वेगवान् होकर (स्पशः) प्रतिहिंसक योद्धा, प्रतिभटों को और अपने दूतों को (प्रति वि सृज) शत्रु के प्रति भेज । और स्वयं (अदब्धः) शत्रु से मारा न जा कर, सुरक्षित रहकर (अस्याः विशः) इस प्रजा का (पायुः) पालन करने हारा (भव) हो ।

उदग्ने तिष्ठ प्रत्यातनुष्व न्युमित्राँः २ऽ ओषतात्तिग्महेते ।
यो नोऽग्ररातिथंसमिधान चक्रे नीचा तं धक्ष्यतसं न शुष्कम् १२

ऋ० ४ । ४ । ४ ॥

वामदेवो देवाश्च ऋषयः अग्निदेवता । भुरिगार्षी पांक्तः पंचमः ॥

भा०—हे (अग्ने) अग्ने ! सेनापते ! राजन् ! तू (उत् तिष्ठ) उठ, शत्रु के प्रति आक्रमण करने के लिये तैयार हो । (प्रति आ तनुष्व) शत्रु के विपरीत अपने बल और राज्य को विस्तृत कर । हे तिग्महेते (तीक्ष्ण) शस्त्रों से युक्त राजन् ! तू (अभित्रान्) शत्रुओं को (निः ओषतात्) सर्वथा जला डाल । हे (सम्-इधान) उत्तम तेजस्विन् ! (यः) जो (नः) हमारे साथ (अरातिम्) शत्रुओं का व्यवहार (चक्रे) करता है । (तम्) उसको (शुष्कम्) सूखे वृक्ष को अग्नि के समान (नीचा धक्षि) नीचे गिराकर जला डाल । ऊर्ध्वो भव प्रति विध्याद्यस्मदाविष्कृणुष्व दैव्यान्यग्ने ।

अथ स्थिरा तनुहि यातुजूनां जामिमजामिं प्रमृणीहि शत्रून् ।
अग्नेष्ट्वा तेजसा सादयामि ॥ १३ ॥ ऋ० ४ । ४ । ५ ॥

वामदेवो देवाश्च ऋषयः । अग्निर्देवता । निचृदार्थतिजगतो । निषादः ।

भा०—हे अग्ने ! तेजस्विन् राजन् ! तू (ऊर्ध्वः) सब से ऊंचा हो कर (भव) रह । (दैव्यानि) दिव्य पदार्थों से बने विद्वान् पुरुषों के बनाये अस्त्रों को (आंविः कृष्णुष्व) प्रकट कर । (स्थिरा) स्थिर, दृढ़ धनुषों को (अव तनुहि) नमा । (यातुजूनाम्) वेग से चढ़ाई करने वाले शत्रुओं के (जामिम्) सम्बन्धी और (अजामिम्) असम्बन्धी अथवा (यातुजूनां जामिम् अजामिम्) आक्रमण वेग में आने वाले शत्रुओं के भोजन द्रव्य, तथा उससे अतिरिक्त द्रव्य को अपने वश करके (शत्रून् प्रमृणीहि) शत्रुओं का नाश कर । हे राजन् ! हे वज्र ! (त्वा) तुझको (अग्नेः) अग्नि के (तेजसा) तेज से (सादयामि) स्थापित करता हूँ ॥ शत० ७ । ४ । १ । ७ ॥

अग्निर्मूर्धा दिवः ककुत्पतिः पृथिव्याऽअयम् ।

अपां रेतांसि जिन्वति । इन्द्रस्य त्वौजसा सादयामि ॥ १४ ॥

ऋ० ८ । ४४ १६ ॥

शिरगनुष्टुप् । गांधारः ॥

भा०—व्याख्या देखो० अ० ३ । १२ ॥ जिस प्रकार (दिवः मूर्धा) धौलोक का शिरोभाग (अग्निः) सूर्य है और वह ही (ककुत्पतिः) सबसे बड़ा स्वामी है और (पृथिव्याः) पृथिवी का भी स्वामी है उसी प्रकार (अयम्) यह (अग्निः) तेजस्वी पुरुष, राजा भी (दिवः) प्रकाशमान तेजस्वी पुरुषों या राजसभा का (मूर्धा) शिर, उनमें शिरोमणि, (ककुत्) सर्वश्रेष्ठ, (पृथिव्याः) पृथिवी का (पतिः) पालक, स्वामी है । (अपाम्) सूर्य जिस प्रकार जलों के (रेतांसि) वीर्यों को या सार-भागों को ग्रहण करता है उसी प्रकार यह राजा भी (अपां) आप्र प्रजाओं के सार भाग, वीर्यों और बलों को (जिन्वति) परिपूर्ण करता है, वश करता है । हे

तेजस्विन् ! (त्वा)तुक्षको (इन्द्रस्य ओजसा) इन्द्र, वायु और सूर्य के (तेजसा) बल पराक्रम के साथ (सादयमि) स्थापित करता हूँ ॥ शत० ७ । १ । ४१ ॥
 भुवो यज्ञस्य रजसश्च नेता यत्रा नियुद्भिः सचसे शिवाभिः ।
 दिवि मूर्धानं दधिषे स्वर्षा जिह्वामग्ने चकृषे हव्यवाहम् ॥ १५ ॥

ऋ० १० । ८ । ६ ॥

त्रिशिरा ऋषिः । अग्निदेवता । निचृदार्पी त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—हे (अग्ने) राजन् ! तेजस्विन् ! सूर्य और अग्नि जिस प्रकार (भुवः यज्ञस्य रजसः च नेता) पृथिवी, वायु और लोकों का नायक है और वह (नियुद्भिः शिवाभिः) मङ्गलकारिणी वायु की शक्तियों से युक्त होता है और (दिवि मूर्धानम् दधिषे) द्यौलोक में शिरो भाग के समान सर्वोच्च स्थिति को धारण करता है और अग्नि जिस प्रकार (हव्य-वाहं जिह्वं चकृषे) हवि को खाने वाली ज्वाला को भी प्रकट करता है उसी प्रकार (यत्र) जिस राष्ट्र में तू (भुवः) समस्त पृथिवी का (नेता) नायक और (यज्ञस्य नेता) समस्त राष्ट्र-व्यवस्था का नायक और (रजसः च नेता) समस्त लोकसमूह, जनसमूह और समस्त ऐश्वर्यों का नेता, प्राप्त करनेवाला होकर (शिवाभिः) मङ्गलकारिणी (नियुद्भिः) वायु के समान तीव्र वेगवाली, शत्रु को छेदन-भेदन करनेवाली सेनाओं से भी (सचसे) युक्त होकर रहता है और (दिवि) न्याय-प्रकाशयुक्त श्रेष्ठ व्यवहार से (मूर्धानं) शिरोभाग, सर्वोच्च पद को (दधिषे) धारण करता है और (हव्य-वाहम्) ग्रहण करने योग्य, ज्ञान से पूर्ण आज्ञावचनों को प्राप्त करानेवाली (स्वः-साम्) सुखदायिनी (जिह्वाम्) वाणी, आज्ञा को भी (चकृषे) प्रकट करता है ॥ शत० ७ । ४ । १ । १५ ॥

ध्रुवासि ध्रुणास्तृता विश्वकर्मणा ।

मा त्वा समुद्र उद्वधीन्मा सुपर्णोऽव्यथमाना पृथिवी दृथंह १६

१६—ऊर्ध्ववृहतां सर्वा० ।

आग्निदेवता । स्वराडार्घ्यनुष्ठप् । गांधारः ।

भा०—हे पृथिवि ! हे राजशक्ते ! हे स्त्रि ! तू (ध्रुवा असि) ध्रुव, सदा निश्चल भाव से रहनेवाली (असि) हो । (धरुणा) तू समस्त लोकों का आश्रय है और तू (विश्व-कर्मणा) समस्त उत्तम कामों को करने में समर्थ शिल्पियों या प्रजापति, राजा द्वारा (आस्तृता) नाना उत्तम उपयोगी पदार्थों से आच्छादित एवं सुरक्षित रह । (समुद्रः) समुद्र या आकाश (त्वा) तुझे (मा उद्वधीत्) विनाश न करे । (सुपर्णः) उत्तम पालन करने वाले राज्यसाधनों से युक्त राजा भी (त्वा मा उद्वधीत्) तुझे न मारे । तू (अव्यथमाना) स्वयं पीड़ित न होकर (पृथिवीं) पृथिवी को या पृथिवी निवासिनी विशाल प्रजा को (दंह) बढ़ा ।

यज्ञ में इस मन्त्र से 'आतृणा' का स्थापन करते हैं । 'आतृणा' पद से ब्राह्मणकार ने पृथिवी, अन्न, प्राण, प्रतिष्ठा, स्त्री और पृथ्वीनिवासी लोक प्रजा का ग्रहण किया है । अन्नं वै स्वयम् आतृणा । प्राणो वै स्वयमातृणा । इयं (पृथिवी) स्वयमातृणा । या सा प्रतिष्ठा एषा सा प्रथमा स्वयमातृणा । इमे वै लोकाः स्वयमातृणा । इमे वै लोकाः प्रतिष्ठा ॥ शत० ७ । ४ । २ । १ । १० ॥

स्त्री पक्ष में—हे स्त्रि ! तू ध्रुव, तू सब गृहस्थ सुखों का (धरुणा) आश्रय है तू (विश्वकर्मणा अस्तृता) समस्त धर्म कार्यों के करने वाले पति द्वारा सुरक्षित हो, (समुद्रः त्वा मा उद्वधीत्) समुद्र के समान उमड़ने वाला कामोन्माद तुझे नाश न करे (सुपर्णः) उत्तम पालक साधनों से सम्पन्न पति भी तुझे न मारे । तू (अव्यथमाना) निर्भय, पीड़ा, कष्ट से रहित रहकर (पृथिवीं) पृथिवी के समान अपने शरीर में विद्यमान पुत्र-प्रजननाङ्ग रूप भूमि को (दंह) बढ़ कर, उसको दृष्ट पुष्ट कर ॥ शत० ७ । ४ । २ । ५ ॥

समुद्र इव हि कामः । नहि कामस्यान्तोऽस्ति न समुद्रस्य । तै० २।२।५।६॥

पृथिवी पक्ष में—वह ध्रुव, स्थिर, सर्वाश्रय है। बड़े २ शिल्पी उसके बड़े २ महल, सेतु, उद्यान आदि आश्चर्यजनक पदार्थों और रक्षा साधन आदि द्वारा सुरक्षित रखें। समुद्र, अन्तरिक्ष और (सुपर्णः) सूर्य और वायु ये पृथ्वी की शक्तियों का नाश न करें। प्रत्युत वे अपनी निवासिनी प्रजा की ही वृद्धि करें।

प्रजापतिष्ट्वा सादयत्वर्पां पृष्ठे समुद्रस्येमन् ।

व्यचस्वतीं प्रथस्वतीं प्रथस्व पृथिव्यसि ॥ १७ ॥

प्रजापतिदेवता । अनुष्टुप् । गांधारः ।

भा०—हे पृथिवी-निवासिनी प्रजे ! अथवा राज्यशक्ते ! (व्यचस्वतीम्) नाना प्रकार के उत्तम गुणों वाली (प्रथस्वतीम्) उत्तम रूप से विस्तारशील (त्वा) तुझको (प्रजापतिः) प्रजा का स्वामी (अपां पृष्ठे) जलों के पृष्ठ पर नौका के समान और (समुद्रस्य एमन्) समुद्र के यात्रायोग्य स्थान में (सादयतु) स्थापित करे। हे प्रजे ! हे राजशक्ते ! तू (पृथिवी असि) विस्तृत होने से 'पृथिवी' कहाती है ॥ शत० ७ । ४ । २ । ६ ॥

स्त्री के पक्ष में—(प्रजापतिः) प्रजा का पालक पति (समुद्रस्य एमन्) समुद्र के समान अपार कामोपभोगों में भी (अपां पृष्ठे) आप पुरुषों के अथवा समस्त कार्यों के आश्रय में (वि-अचस्वतीं) विविधों से प्रकाशित और (प्रथस्वतीम्) गुणों से विख्यात, प्रजा का विस्तार करने हारी तुझको (सादयतु) स्थापित करे, उनके बतलाये धर्म-मार्ग पर चलावे। तू पृथिवी के समान प्रजोत्पत्ति करने हारी है।

भूरसि भूमिरस्यदितिरसि विश्वधाया विश्वस्य भुवनस्य धर्त्री ।
पृथिवीं यच्छ पृथिवीं वृधं पृथिवीं मा हिंसीः ॥ १८ ॥

अग्निदेवता । प्रस्तारपांक्तिः । पंचमः ॥

भा०—हे पृथिवी ! हे स्त्री ! तू (भूः असि) सब को उत्पन्न करने में समर्थ होने से 'भूः' है। (भूमिः असि) सब का आश्रय होने से

‘भूमि’ है । (अदितिः असि) अखण्डित, अहिंसनीय, अखण्डित बल और चरित्र वाली होने से ‘अदिति’ है । (विश्व-धाया) समस्त प्रजाओं को धारण करने वाली होने से ‘विश्वधाया’ है । (विश्वस्य भुवनस्य धर्त्री) समस्त ‘भुवन’, उत्पन्न होने वाले प्राणियों और राज्य-कार्यों को धारण-पोषण करने वाली है । हे राजन् ! तू इस (पृथिवीं यच्छ) पृथिवी को और हे पते ! तू इस प्रजा और भूमि रूप स्त्री को (यच्छ) नियम में सुरक्षित रख या विवाह कर (पृथिवीम् दृंह) इस पृथिवी को बढ़ा, दृढ़ कर (पृथिवीं मा हिंसीः) इस पृथिवी को विनाश मत कर, मत मार, पीड़ा मत दे ॥ शत० ७ । ४ । २ । ७ ॥

विश्वस्मै प्राणायानाय व्यानायोदानाय प्रतिष्ठायै चरित्राय ।
अग्निर्द्वाभिरपितु मृह्या स्वस्त्या छर्दिषा शन्तमेन तथा देवतयाऽ
अंगिरस्वद् ध्रुवा सीद ॥ १६ ॥

अग्निर्देवता । भुरिगति जगती । निषादः ॥

भा०—(विश्वस्मै = विश्वस्य) समस्त जंगम संसार के (प्राणाय) प्राण रक्षा, जीवन वृद्धि के लिये, (अपनाय) अपान के लिये या दुःख निवारण के लिये, (व्यानाय) व्यान या विविध व्यवहारों के लिये, (उदानाय) उदान के लिये और उत्तम बल-प्राप्ति के लिये (प्रतिष्ठायै) प्रतिष्ठा और (चरित्राय) सचरित्रता की रक्षा के लिये (त्वा) तेरी (अग्निः) ज्ञानवान् अग्रणी नायक राजा और पति भी (मृह्या) बढ़ी (स्वस्त्या) सुख सामग्री से और (शन्तमेन) अतिशान्तिदायक कल्याण-कारिणी (छर्दिषा) गृहादि समृद्धि से (अभियातु) सब प्रकार से रक्षा करे, पालन करे । तू भी (तथा देवतया) उस देवस्वरूप पति, पालक या राजा के संग (अंगिरस्वत्) अग्नि के समान तेजस्विनी होकर (ध्रुवा)

१६—१६—आसां (ध्रुवासी स्यादि) स्वयमातृणा देवता विश्वस्मा
अस्त्य च यजुषः ॥

स्थिर, दृढ़ होकर (सीद) विराजमान हो, प्रतिष्ठा को प्राप्त हो ॥
शत० ७ । ४ । २ । ८ ।

काण्डात्काण्डात्प्ररोहन्ती परुषः परुषस्परि ।
एवा नो दूर्वे प्र तनु सहस्रेण शतेन च ॥ २० ॥

अग्निर्ऋषिः परनी देवता । अनुष्टुप् । गांधारः ॥

भा०—हे (दूर्वे) दूर्वे ! कभी पराजित न होने वाली, अदम्य राजशक्ते ! दूर्वा या दूब, घास जिस प्रकार (काण्डात् काण्डात्) प्रत्येक काण्ड पर (प्ररोहन्ती) अपने मूल जमाती हुई और (परुषः परि) प्रत्येक पोरु २ पर से (प्ररोहन्ती) अपनी जड़ पकड़ती हुई फैलती है उसी प्रकार वह राज्यशक्ति भी पृथ्वी पर (काण्डात् काण्डात्) प्रत्येक काण्ड से और (परुषः परुषः) प्रत्येक पोरु से प्रत्येक अंग और विभाग से, स्थान २ पर दृढ़ आसन या मूल जमाती हुई (सहस्रेण) हज़ारों और (शतेन च) सैकड़ों प्रकार के बलों से (प्र तनु) अपने आप को खूब विस्तृत करे ॥ शत० ७ । ४ । २ । १४ ॥

‘दूर्वा’—अयं वाव मा धूर्वात् इति यदब्रवीद् ‘धूर्वां मा’ इति तस्मात् धूर्वा । धूर्वा ह वै तां दूर्वेत्याचक्षते परोक्षम् ॥ शत० ७ । ४ । २ । १२ ॥

स्त्री पक्ष में—वह स्त्री (काण्डात् काण्डात्) ग्रन्थि १ पर और पोरु २ पर बढ़ती हुई दूब के समान बरोबर दृढ़ मूल होकर सहस्रों शाखाओं से हमारे कुल को बढ़ावे ।

या शतेन प्रतनोषि सहस्रेण विरोहसि ।

तस्यास्ते देवीष्टकं विधेम हविषा वयम् ॥ २१ ॥

पत्नी देवता । अग्निर्ऋषिः । निचृदनुष्टुप् । गांधारः ॥

भा०—हे दूर्वा के समान पृथ्वी पर फैलने वाली राज्यशक्ते ! तू (या) जो (शतेन) सैकड़ों बलों से (प्र तनोषि) अपने को विस्तृत

२०—दूर्वेष्टकदेवतम् । अनन्त० ।

करती है। और (सहस्रेण) अपने हज़ारों वीरों योद्धाओं द्वारा (वि रोहसि) विविध रूपों में अपना जड़ जमाती है। हे (देवि) देवि ! विजयशीले ! धन-दात्रि ! हे (इष्टके) सब को इष्ट या प्रिय लगानेवाली, सबकी व्यवस्था करने वाली ! (तस्याः ते) उस तेरा (वयम्) हम (हविषा) अन्न आदि, कर आदि रूप में दातव्य और राजा द्वारा उपादेय पदार्थों से या ज्ञानपूर्वक (विधेम) सेवन या विधान या निर्माण करें ॥ शत० ७ । ४ । २ । १४ ॥

यास्तेऽअग्ने सूर्ये रुचो दिवमातन्वन्ति रश्मिभिः ।

ताभिर्नोऽअद्य सर्वाभी रुचे जनाय नस्कृधि ॥ २२ ॥

इन्द्राग्नी ऋषो । अग्निदेवता । भुरिगनुष्टुप् । गांधारः ॥

भा०—हे (अग्ने) अग्नि के समान तेजस्विन् राजन् ! जिस प्रकार सूर्य में विद्यमान (रुचः) कान्तियां (रश्मिभिः) सूर्य की किरणों से (दिवम्) बौलोक को (आ तन्वन्ति) घेर लेती हैं उसी प्रकार (याः) जो (ते) तेरी (सूर्ये) सूर्य के समान उज्ज्वल, मानास्पद स्वरूप में विद्यमान (रुचः) दीप्तियां, उत्तम ख्यातियां, या उत्तम कामनाएं, या अभिलाषाएं (रश्मिभिः) सब को प्रकाश देने वाले साधनों से (दिवम् आ तन्वन्ति) प्रकाश को फैलाती हैं, (ताभिः सर्वाभिः) उन सब अभिलाषाओं से (अद्य) अब, सदा तू (नः) हमारी और (जनाय) प्रजा जन की (रुचे) अभिलाषा पूर्ति के लिये (कृधि) प्रयत्न कर। और (नः) हमें भी (जनाय रुचे कृधि) प्रजा की अभिलाषा पूर्ति के लिये समर्थ कर ॥ शत० ७ । ४ । २ । २१ ॥

या वो देवाः सूर्ये रुचो गोष्वश्वेषु या रुचः ।

इन्द्राग्नी ताभिः सर्वाभी रुचं नो धत्त बृहस्पते ॥ २३ ॥

इन्द्राग्नी ऋषो । बृहस्पतिदेवता । अनुष्टुप् । गांधारः ॥

भा०—हे (देवाः) ज्ञानप्रद एवं ऐश्वर्यप्रद विद्वान् पुरुषो ! और राजा लोगो ! (वः) तुम लोगों की (याः) जो (सूर्ये रुचः) सूर्य में

विद्यमान दीप्तिष्यो के समान फुरने वाली कान्तियां या अभिलाषां या रुचिकर प्रवृत्तियें हैं और (याः रुचिः) जो मनोहर लक्ष्मी, सम्पत्ति या रुचि (गोपु अश्वेषु) गौओं और अश्वों में हैं (ताभिः सर्वाभिः) उन सब रुचिकर समृद्धियों वा अभिलाषाओं से हे (इन्द्राग्नी) इन्द्र ! हे अग्ने ! और हे (बृहस्पते) हे सेनापते ! हे राजन् ! हे विद्वन् ! ब्रह्मन् ! आप सब लोग (नः) हमें (रुचः) समस्त रुचिकर सम्पत्तियां (धत्त) प्रदान करें ॥ शत० ७ । ४ । २ । २१ ॥

विराड्ज्योतिरधारयत्स्विराड्ज्योतिरधारयत् ।
प्रजापतिष्ट्वा सादयतु पृष्ठे पृथिव्या ज्योतिष्मतीम् ।
विश्वस्मै प्राणायानाय व्यानाय विश्वं ज्योतिर्यच्छ ।
अग्निष्टेऽधिपतिस्तया देवतयाङ्गिरस्वद् भुवा सीद ॥ २४ ॥

प्रजापतिर्देवता । निचृद् ब्राह्मी बृहता । ऋषभः ॥

भा०—(विराट्) विविध प्रकारों से और विविध ऐश्वर्यों से प्रकाशमान विराट्, पृथिवी जिस प्रकार (ज्योतिः) अग्नि को या सूर्य के तेज को अपने भीतर (अधारयत्) धारण करती है उसी प्रकार (विराट्) विविध गुणों से कान्तिमती विराट् पत्नी (ज्योतिः) अपने पति के तेजस्वरूप वीर्य को धारण करती है ।

(स्विराट् ज्योतिः अधारयत्) स्वयं अपने प्रकाश से दीप्त होने वाला सूर्य जिस प्रकार (ज्योतिः अधारयत्) तेज को धारण करता है उसी प्रकार अपने वीर्य या बाहु पराक्रम से प्रकाशमान राजा और अपने गुणों से प्रकाशमान पति, पुरुष भी तेज को धारण करे । हे पत्नि ! (त्वा ज्योतिष्मतीम्) तुझ उत्तम तेज से सम्पन्न महिला को (प्रजापतिः) प्रजा का पालक (पृथिव्याः पृष्ठे सादयतु) पृथिवी के पृष्ठ पर स्थापित करे । अथवा पति तुझ उत्पादक भूमि में वीर्य आधान करे । इसी प्रकार (प्रजापतिः) प्रजा का पालक राजा हे प्रजे ! (त्वा ज्योतिष्मतीम्) तुझ ऐश्वर्य वाली को (पृथिव्याः पृष्ठे)

पृथ्वी-तल पर (सादयतु) बसावे । (विश्वस्मै प्राणाय, अपानाय, व्यानाय) सब प्रजाजनों के प्राण, अपान और व्यान इन शक्तियों की वृद्धि के लिये यत्न करे । हे राजन् ! (तू विश्वं ज्योतिर्यच्छ) सब प्रकार का तेज प्रदान कर । हे पृथिवि ! हे पत्नि ! (ते अधिपतिः) तेरा अधिपति, स्वामी, (अग्निः) अग्नि या सूर्य के समान तेजस्वीहो । (तथा देवतया) उस देव-स्वभाव अधिपति के साथ या देव, राजागण के संग तू भी (अंगिरस्वत्) अग्नि के समान देदीप्यमान विद्वान् शिल्पियों से समृद्ध होकर (ध्रुवा) स्थिर होकर (सीद) विराज ॥ शत० ७ । ४ । २ । १३ । २८ ॥

इसी प्रकार स्त्री (अस्मै विश्वं ज्योतिः) अपने पति के समस्त सर्वाङ्ग तेजोरूप वीर्य को प्रजा के प्राण, अपान, व्यान के लिये नियम में रखे ।

‘मधुश्च माधवश्च वासन्तिकावृतू ऽअग्नेरन्तः श्लेषोऽसि कल्पेतां द्यावापृथिवी कल्पन्तामाप ऽओषधयः कल्पन्तामग्नयः पृथङ् मम ज्यैष्ठ्याय सव्रताः । २ये ऽअग्नयः समनसोऽन्तरा द्यावापृथिवी ऽइमे वासन्तिकावृतू ऽअभिकल्पमाना ऽइन्द्रमिव देवा अभिसंविशन्तु तथा देवतयाङ्गिरस्वद् ध्रुवे सीदतम् ॥२५॥

श्रुतवो देवताः । (१) भुरिगतिजगती । निषादः । (२) भुरिग् ब्राह्मी बृहती । मध्यमः ॥

भा०—(मधुः च) मधु और (माधवः च) माधव अर्थात् चैत्र और वैशाख के दोनों (वासन्तिकौ ऋतू) वसन्त के दो ऋतु अर्थात् मास रूप से दो स्वरूप हैं । ये दोनों जिस प्रकार संवत्सर स्वरूप अग्नि के बीच में (श्लेष) जोड़ने वाले हैं, उसी प्रकार मधु के समान मधुर गन्ध और पुष्पयुक्त और माधव या वैशाख के समान फलोत्पादक दोनों प्रकार के पुरुष मानों (अग्नेः) राजा रूप प्रजापति के दोनों वसन्त ऋतु के दो मासों के समान उसके (अन्तः) भीतर (श्लेषः असि) स्नेहशील होते हैं और दो राजाओं के बीच सन्धि कराने में कुशल होते हैं । इनके द्वारा ही (द्यावापृथिवी)

२५—‘वासन्तिका ऋतू०’ इति काण्व० ।

सूर्य और भूमि के समान नर और नारी, राजा और प्रजा (कल्पेताम्) कार्य करने में समर्थ होते हैं । (आपः ओषधयः कल्पन्ताम्) और जिस प्रकार वसन्त के दोनों मासों के द्वारा सम्पूर्ण ओषधियां वीर्यवान् होती हैं उसी प्रकार वीर्यवती बलवती वीर प्रजायें भी मधु और माधव के समान पुष्प-फलजनक हों और प्रजाएं भी कार्य-कारण को देख परस्पर सन्धि के कराने वाले सदस्य जनों के द्वारा समर्थ होती हैं । और जैसे वसन्त के दोनों मास ज्येष्ठ मास में होने वाले ओषधि आदि के कारण होते हैं उसी प्रकार सभी (अग्नयः) अग्नि के समान तेजस्वी विद्वान् लोग (मम) मुक्ष राजा के सर्वश्रेष्ठ पदाधिकार की प्राप्ति और रक्षा के लिये (स-व्रताः) समान कार्य में दीक्षित होकर (पृथक्) अलग २ भी (कल्पन्ताम्) अपना २ कार्य करने में समर्थ हों । और (ये) जो (द्यावापृथिवी) द्यौ और भूमि दोनों के बीच या राजा और प्रजा के बीच में (स-मनसः) एक समान चित्त वाले, प्रेमी (अग्नयः) विद्वान् पुरुष हैं वे सब भी (वासन्तिकौ ऋतू) वसन्त काल के दो मास चैत्र और वैशाख के समान मधुर गुणों से युक्त होकर राजा के लिये सुखकारी और (अभि-कल्प-मानाः) सामर्थ्यवान् होकर, (देवाः इन्द्रम् इव) प्राणगण जिस प्रकार आत्मा के आश्रय पर रहते हैं उसी प्रकार वे सब अग्नि-स्वभाव तेजस्वी विद्वान् सदस्य और माण्डलिक राजगण भी (इन्द्रम् अग्निम् संविशन्तु) बड़े सम्राट् के चारों ओर विराजें । हे (ध्रुवे) द्यौ और पृथिवी ! हे राजा प्रजागण ! (तया देवतया) उस महान् देव, राजा से और उस राजगण से (अङ्गिरस्वत्) तेजस्वी और पूर्णाङ्ग होकर तुम दोनों (सीदतम्) स्थिर होकर विराजो ॥ शत० ७ । ४ । १ । २९ ॥

अषाढासि सहमाना सहस्रारातीः सहस्व पृतनायतः ।

सहस्रवीर्यासि सा मा जिन्व ॥ २६ ॥

सविता देवाः वा ऋषयः । चत्रपतिरषाढा देवता । निचृदनुष्टुप् । गांधारः ॥

२६—अतःपर । १२ । १६ । मन्त्रः पठ्यते काण्व ० ।

म० २७, २८]

त्रयोदशाऽध्यायः

५४६

भा०—हे सेने ! तू (अपाढा असि) शत्रु से कभी पराजित न होने वाली होने से 'अपाढा', असह्य पराक्रम वाली है । तू (सहमाना) विजय करती हुई (अरातीः) कर न देने वाली शत्रुओं को (सहस्व) विजय कर । और (प्रतनायतः) सेना बनाकर हम से युद्ध करना चाहने वालों को भी (सहस्व) पराजित कर । तू (सहस्रवीर्यासि) सहस्रों वीर पुरुषों के बलों से युक्त है । (सा) वह तू (मा) मुझ राष्ट्रपति और क्षत्रपति को (जिन्व) हृष्ट-पुष्ट कर वा पाल ॥ शत० ७ । १ ३३ । ७० ॥

गृहस्थ में— स्त्री भी शत्रु द्वारा असह्य हो, वह सब विरोधियों को दबा कर पति को प्रसन्न करे । अध्यात्म में—अपाढा = वाक् ।

मधु वाताऽऋतायते मधु क्षरन्ति सिन्धवः ।

माध्वीर्नः सन्त्वोषधीः ॥ २७ ॥ ऋ० १ । ९० । ६ ॥

२७—२६ गोतम ऋषिः । विश्वेदेवा देवताः । निचृद्गायत्री । षड्जः ॥

भा०—(मधु) मधुर (वाताः) वायुएं (ऋतायते) जल के समान शीतल ल्यों । अथवा (ऋतायते) सत्य, ज्ञान, यज्ञ और, ब्रह्मचर्य की साधना या कामना करने वाले के लिये (वाताः) वायुएं और (सिन्धवः) समुद्र भी (मधु क्षरन्ति) मधुर रस ही बहाते हैं । (नः) हमारी (ओषधीः) ओषधियों भी (माध्वीः) मधुर रस से पूर्ण (सन्तु) हों ॥ शत० ७ । ५ । १ । ३ । ४ ॥

मधु नक्तमुतोषसो मधुमत्पार्थिवं रजः ।

मधु द्यौरस्तु नः पिता ॥ २८ ॥ ऋ० १ । ९० । ७ ॥

ऋष्यादि पूर्ववत् । गायत्री । षड्जः ॥

भा०—(नक्तम्) रात्रि (नः) हमारे लिये (मधु) मधुर (उत) और (उपसः) प्रभात समय भी हमें मधुर हों । (पार्थिवं रजः) पृथिवी लोक अथवा पृथिवी की धूलि भी (मधुमत्) हमें मधुर, मधु के समान सुखप्रद हो । (नः) हमारे पिता के समान पालक (द्यौः) प्रकाश-

मान सूर्य या आकाश, अन्तरिक्ष भी (नः मधु अस्तु) हमें मधुर लगे ॥
शत० ७ । ५ । १ । ३ । ४ ॥

मधुमान्ना वनस्पतिर्मधुमाँ२५ अस्तु सूर्यः ।
माध्वीर्गावो भवन्तु नः ॥ २६ ॥ ऋ० १ । १० । ८ ॥

अथ्यादि पूर्ववत् । निचृद्गायत्री । षड्जः ।

भा०—(वनस्पतिः) पीपल, वट, आम्र आदि वृक्ष (नः) हमारे लिये (मधुमान्) मधु के समान मधुर गुण वाले आनन्दप्रद, रोग-नाशक हों । (सूर्यः मधुमान् अस्तु) सूर्य हमें मधु के समान मधुर गुण वाला, पुष्टिकर, अन्नप्रद हो । (नः गावः) किरणें, गौवें और पृथिवियें (माध्वीः भवन्तु) मधुर मुख, अन्न रस बहाने वाली हों ॥ शत० ७ । ५ । १ । ३ । ४ ॥

अपां गम्भन्त्सीद मा त्वा सूर्योऽभिताप्सीन्माग्निवैश्वानरः ।
अच्छिन्नपत्राः प्रजाऽनुवीक्षस्वानु त्वा दिव्या वृष्टिः सचताम् ॥ २० ॥

प्रजापतिदेवता । आर्षी पंक्तिः । पञ्चमः ॥

भा०—हे पुरुष ! प्रजापते ! राजन् ! तू (अपां गम्भन्) जलों को धारण करने वाले मेघ या सूर्य के समान प्रजाओं और आस पुरुषों को वश करने वाले राजपद पर (सीद) विराजमान हो । (सूर्यः) सूर्य के समान तेजस्वी, तुझे से अधिक बलवान् पुरुष भी (त्वा मा अभिताप्सीत्) तुझे संतापित या पीड़ित न करे । (वैश्वानरः) समस्त विश्व का हितकारी नायक, (अग्निः) प्रजा का अग्रणी भी (मा) तुझे मत सतावे । तू केवल (प्रजाः) प्रजाओं को (अच्छिन्न-पत्राः) विना किसी प्रकार के आघात पाये, सर्वाङ्ग, हृष्ट पुष्ट (अनुवीक्षस्व) सुखी देख, उनको कटे-मुंडे वृक्ष लतादि के समान हीन, क्षीण, दुःखी, पीड़ित मत होने दे । (त्वा अनु) तेरे अनुकूल ही (दिव्या वृष्टिः) आकाश से होने वाली वृष्टि और सुखदायी पदार्थों की वृष्टि भी (सचताम्) प्राप्त हो ॥
शत० ७ । ५ । १ । ८ ॥

त्रीन्समुद्रान्तसमसृपत् स्वर्गानपां पतिर्वृषभ ऽइष्टकानाम् ।
पुरीषं वसानः सुकृतस्य लोके तत्र गच्छ यत्र पूर्वं परेताः ॥३१॥

वरुणो देवता । त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—हे सूर्य ! प्रजापते ! तू (त्रीन्) तीन (स्वर्गान्) सुखदायी (समुद्रान्) समस्त पदार्थों के उत्पादक, तीनों लोकों और तीनों कालों को सम असृपत्) व्याप्त होता है । तू ही (इष्टकानाम्) समस्त अभीष्ट सुख साधनों का या अभीष्ट (अपाम्) जलों के वर्षक मेघ के समान प्रजाओं का (पतिः) पालक (वृषभः) सब सुखों का वर्षक है । तू (पुरीषं वसानः) मेघ जिस प्रकार जल को धारण करता हुआ (सुकृतस्य पुण्य के (तत्र) उस (लोके) लोक या पद या उत्तम प्रतिष्ठा को (गच्छ) प्राप्त हो (यत्र) जहां (पूर्वं) पूर्व के (परेताः) परम पद को प्राप्त उत्तम पुरुष जाते हैं ॥ शत० ७ । ५ । १ । ९ ॥

मही द्यौः पृथिवी च नऽहमं यज्ञं मिमिक्षताम् ।

पिपृतां नो भरीमभिः ॥ ३२ ॥ ऋ० १ । २२ । १३ ॥

भा०—व्याख्या देखो अ० ८ । ३३ ॥ शत० ७ । ५ । १ । १० ॥

विष्णोः कर्माणि पश्यत यतो ब्रतानि पस्पशे ।

इन्द्रस्य युज्यः सखा ॥ ३३ ॥ ऋ० १ । २१ । १९ ॥

भा०—व्याख्या देखो अ० ३ । ४ ॥ शत० ७ । ५ । १ । १० ॥

ध्रुवासि धरुणेतो जज्ञे प्रथममेभ्यो योनिभ्यो ऽत्रार्धि जातवेदाः ।
स गायत्र्या त्रिष्टुभानुष्टुभा च देवेभ्यो हव्यं वहतु प्रजानन् ॥३४॥

जातवेदा देवता । मुरिक् त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—हे पृथिवी ! एवं हे स्त्रि ! (त्वं ध्रुवा असि) तू ध्रुवा, स्थिर रहने वाली है । तू (धरुणा) जगत् के समस्त प्राणियों का आश्रय है ।

३०—३१—कौर्म्यद्रव्यचम् । सर्वा० । प्रजापतिरादित्यो वेति संदिता माधे । अनन्तः)

(जातवेदाः) धनसम्पन्न और विद्वान् ज्ञानसम्पन्न पुरुष (प्रथमम्) पहले (इतः) इससे ही हुआ है वह (प्रजानन्) उत्कृष्ट ज्ञानवान् होकर ही (अधि) बाद में (एभ्यः योनिभ्यः) इन उत्पत्ति स्थानों से (जज्ञे) उत्पन्न होता है । (गायत्र्या) गायत्री, (त्रिष्टुभा) त्रिष्टुप् और (अनुष्टुभा च) अनुष्टुप् इन छन्दों, वेद मन्त्रों से ही (देवेभ्यः) देव, विद्वान् पुरुषों के लिये (हव्यम्) अन्नादि उपादेय पदार्थ को (वहतु) प्राप्त करे, करावे ।

अथवा गायत्री ब्राह्म बल । त्रिष्टुप्-क्षात्र बल और अनुष्टुप्-सर्वसाधारण प्रजा का बल । इन तीनों से समस्त (हव्यानि) उपादेय भोग्य ऐश्वर्यों को प्राप्त करे और विद्वान् देवों, राजाश्वों को प्राप्त करावे ॥ शत० ७ । ५ । १ । ३० ॥

स्त्री के पक्ष में—स्त्री ध्रुव और गृहस्थ का आश्रय है । यह पुरुष (प्रथमम् इतः जज्ञे) प्रथम इस माता से उत्पन्न होता है और फिर (एभ्यः योनिभ्यः) इन गुरु आदि अनेक आश्रय स्थानों से उत्पन्न होता है ।

इषे राये रमस्व सहसे धुम्न ऽऊर्जे अर्पत्याय ।

सम्राडसि स्वराडसि सारस्वतौ त्वोत्सौ प्रावताम् ॥ ३५ ॥

जातवेदा देवता । निचृद् बृहती । मध्यमः ॥

भा०—हे प्रजापते ! पुरुष ! हे राजन् ! तू (इषे) अन्न, (राये) ऐश्वर्य, (सहसे) बल, (धुम्ने) तेज वा यश और (ऊर्जे) पराक्रम और (अपत्याय) सन्तानों के लाभ के लिये (रमस्व) यत्न कर, इसी प्रकार हे स्त्री ! एवं पृथिवीनिवासिनी प्रजे ! तू भी इस अपने प्रजापति राजा और पति के साथ अन्न, धन, बल, यश, पराक्रम और सन्तान के लाभ के लिये (रमस्व) क्रीड़ा कर, उसके साथ प्रसन्नता पूर्वक रह । हे राजन् ! तू स्वराट् स्वयं प्रकाशमान है । (सारस्वतौ उत्सौ) सरस्वती, वेद-ज्ञान के दोनों निकास, मन और वाणी राष्ट्र के नर और नारी, पृथिवी के जड़ और

३४-३५—औखंक्षचृचम् । सर्वा० । सम्राडसि 'स्वराडसि' इति काय० ।

चेतन, अध्यापक और उपदेशक दोनों प्रकार के पदार्थ, (त्वा) तेरी (प्र अवताम्) उत्तम रीति से रक्षा करें ॥ शत ७ । ५ । १ ॥ ३१ ॥

मनो वा सरस्वान् वाक् सरस्वती । एतौ सारस्वतावुत्सौ ॥ द्वयं हवैतद्वपं
मृचापश्च ॥ शत० ७ । ५ । १ । १ । २१ ॥

अग्ने यु॒क्ष्वा हि ये तवा॑श्वा॒सो देव सा॒धवः ।

अ॒रं वह॑न्ति म॒न्यवे ॥ ३६ ॥ ऋ० ६ । १६ । ४३ ॥

भारद्वाजो वाहस्पत्य ऋषिः । अग्निदेवता । निचृद्गायत्री । षड्जः ॥

भा०—हे (अग्ने) शत्रु संतापक राजन् ! हे (देव) विद्वन्, विजि-
गीषो ! (ये) जो (तव) तेरे (साधवः) कार्यसाधक (अश्वासः) अश्व
(मन्यवे) शत्रु के स्तम्भन करने के लिये, उस पर आये क्रोधशमन
करने के लिये रथादि को (अरं वहन्ति) खूब अच्छी प्रकार वहन करते हैं
उनको (युक्ष्व) रथ में नियुक्त कर । और हे देव ! राजन् ! हे पुरुष !
जो तेरे कार्यसाधक अश्वों के समान व्यापक, गतिशील प्राण हैं या
(साधवः) उत्तम पुरुष हैं जो (मन्यवे अरं वहन्ति) मन्यु अर्थात्
मनन करने योग्य ज्ञान तक पर्याप्त रूप से पहुँचाते हैं उनको (युक्ष्व)
राज्य कार्य में नियुक्त कर और प्राणों को योग्याभ्यास में नियुक्त कर ॥
शत० ७ । ५ । १ । २ । ३ ॥

यु॒क्ष्वा हि दे॒वहू॑तमा॒न् अ॒श्वा॒न् अग्ने र॒थीरि॑व ।

नि होता पु॒र्व्यः स॑दः ॥ ३७ ॥ ऋ० ८ । ७५ । १ ॥

विरूप आंगिरस ऋषिः । आग्निदेवता । निचृद्गायत्री । षड्जः ॥

भा०—हे (अग्ने) अग्ने ! अग्रणी ! नायक ! राजन् ! (रथीः) रथ
का स्वामी जिस प्रकार (अश्वान्) घोड़ों को रथ में जोड़ता है उसी प्रकार
(देवहूतमान्) विद्वानों द्वारा शिक्षाप्राप्त पुरुषों और उत्तम गुण, विद्या-
प्रकाशादि को ग्रहण करने वाले योग्य, शिक्षित पुरुषों को (युक्ष्व हि)
निश्चय से अपने राज्य-कार्य में नियुक्त कर । तू ही (पूर्व्यः) सब पूर्व के

विद्वानों द्वारा शिक्षित अथवा सब से पूर्व, अग्रासन पर विद्यमान (होता) सर्व ऐश्वर्यों का दाता या ग्रहीता होकर (नि सदः) नियत, उच्च आसन पर विराजमान हो ॥ शत० ७ । ५ । १ । ३३ ॥

सम्यक् स्रवन्ति सरितो न धेनाऽश्रन्तर्हृदा मनसा पुयमानाः ।
घृतस्य धाराऽभिचाकशीमि हिरण्ययो वेतसो मध्येऽग्नेः ॥ ३६ ॥

ऋ० ४ । ५८ । ६ ॥

वामदेवो गौतम ऋषिः । अग्निदेवता । त्रिष्टुप् धैवतः ॥

भा०—(सरितः न) जिस प्रकार नदियों या जल-धाराएं बहती हैं उसी प्रकार (अन्तः) भीतर (हृदा) धारणशील हृदय और (मनसा) मननशील चित्त से (पुयमानाः) पवित्र की हुई (धेनः) वाणियों भी (सम्यक्) भली प्रकार से विद्वान् पुरुष के मुख से (सरितः न) जल-धाराओं के समान ही (स्रवन्ति) प्रवाहित होती हैं । यह आत्मा (हिरण्ययः) सुवर्ण के समान देदीप्यमान, तेजोमय, अति रमणीय (वेतसः) दण्ड के समान है । अथवा वह भोक्ता स्वरूप है । उससे निकलती या उठती ज्ञान-धाराओं को भी (अग्नेः मध्ये) आग के बीच में (घृतस्य धाराः) घृत की धाराओं के समान अति उज्ज्वल ज्वाला रूप में परिणत होती हुई (अभिचाकशीमि) देखता हूं । अथवा—मैं (हिरण्ययः) अग्नि रमणीय तेजस्वी पुरुष उन वाणियों को अग्नि के बीच में (वेतसः) वेग से पड़ती (घृतस्य धाराः) घृत की धाराओं के समान, अथवा—(अग्नेः) विद्युत् के बीच में से निकलती (घृतस्य धारा इव) जल वा तेज की धाराओं के समान ही देखता हूं ॥ शत० ७ । ५ । १ । १ ॥

ऋचे त्वा रुचे त्वा भासे त्वा ज्योतिषे त्वा ।

अभूदिदं विश्वस्य भुवनस्य वाजिनमग्नेर्वैश्वानरस्य च ॥ ३६ ॥

अग्निदेवता । निचृद् बृहती । मध्यमः ॥

३८—अग्निः सूर्यो वापो वा गावो वा घृतस्तुतिर्वा देवता ऋग्वेदे ॥

भा०—हे पुरुष ! (त्वा) तुझे को (ऋचे) यथार्थ ज्ञान के लिये, (त्वा रुचे) तुझे को कान्ति, यथोचित प्रीति और अभिलाषा पूर्ति के लिये, (भासे त्वा) तुझे दीप्ति के लिये, (ज्योतिषे त्वा) तुझे तेज को प्राप्त करने के लिये प्राप्त करता हूँ । (इदं) यह (विश्वस्य भुवनस्य) समस्त विश्व का (वाजिनम्) प्रेरक बल है और यही (अग्नेः) ज्ञानवान् और (वैश्वानरस्य) समस्त नरों या नेताओं में व्यापक रूप से विद्यमान प्रजापति के भी (वाजिनम्) वीर्य या उनको समस्त वाणी का ज्ञान करने वाला है ॥ शत० ७ । ५ । २ । १२ ॥

अग्निज्योतिषा ज्योतिष्मान् रुक्मो वर्चसा वर्चस्वान् ।

सहस्रदा ऽअसि सहस्राय त्वा ॥ ४० ॥

अग्निदेवता । निचृदुष्णिक् । ऋषभः ॥

भा०—हे (अग्ने) तेजस्विन् ! राजन् ! अग्ने ! तू (ज्योतिषा) तेज से (ज्योतिष्मान्) तेजस्वी होने से (अग्निः) 'अग्नि' है । (वर्चसा) कान्ति से (वर्चस्वान्) कान्तिमान् होने के कारण (रुक्मः) 'रुक्म' अर्थात् सुवर्ण के समान कान्तिमान् है । तू (सहस्रदाः असि) सहस्रों ऐश्वर्यों और ज्ञानों का देने वाला है । (त्वा) तुझे (सहस्राय) अनन्त ऐश्वर्यों और ज्ञानों की रक्षा और प्राप्ति के लिये नियुक्त करता हूँ ॥ शत० ७ । ५ । २ । १२ । १३ ॥

आदित्यं गर्भं पर्यसा समङ्ग्धि सहस्रस्य प्रतिमां विश्वरूपम् ।
परिवृङ्ग्धि हरसा माभि मंस्थाः शतायुषं कृणुहि त्रीयमानः ॥ ४१ ॥

अग्निदेवता । निचृत् त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—व्याख्या देखो ० १२ । ६१ ॥ शत० ७ । ५ । २ । १७ ॥

वातस्य जुतिं वरुणस्य नाभिमश्वं जज्ञानथं सरिरस्य मध्ये ।
शिशुं नदीनां हरिमद्रिबुध्नमग्ने मा हिंसीः परमे व्योमन् ॥ ४२ ॥

अग्निदेवता । निचृत् त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—हे (अग्ने) अग्नि के समान तेजस्विन् ! राजन् ! विद्वन् !

(वातस्य जूतिम्) वायु के वेग को जिस प्रकार कोई विनाश नहीं करता, इसी प्रकार वायु के वेग के समान इसे भी (परमे व्योमन्) परम आकाश या परम रक्षाकार्याधिकार, राजत्व पद में स्थित (वरुणस्य नाभिम्) जलमय समुद्र के बांधने वाले (हरिम्) आकर्षण वेग के समान ज्ञानमय, दूसरों को पापों से वारण करने वाले आचार्य, (नाभिम्) बांधने वाले, उसके आश्रय और (सरिरस्य) महान् आकाशके (मध्ये) बीच में उत्पन्न सूर्य के समान प्रजा जनों के बीच या सेना-सागर के बीच में (जज्ञानं) पैदा होने वाले, (नदीनां) नदियों के समान अति समृद्ध, नित्य दुग्ध पिलानेवाली माताओं के बीच (शिशुम्) बालक के समान अति गुप्तरूप से व्यापक, (अद्रि-बुध्नम्) मेघ के आश्रयभूत वायु, या आकाश के समान अति व्यापक, (हरिम्) हरणशील यन्त्रों, रथों और राष्ट्रों के सञ्चालन में समर्थ अश्व और विद्वान् को तू (मा हिंसीः) मत विनाश कर ॥ शत० ७ । ५ । २ ॥ १८ ॥

अजस्रमिन्दुमरुषं भुरग्युमग्निमीडे पूर्वचित्तिं नमोभिः ।
स पर्वभिर्ऋतुशः कल्पमानो गां मा हिंसीरदिति विराजम् ॥४३॥

अग्निदेवता । निचृत् त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—(अजस्रम्) अहिंसक और अविनाशी (इन्दुम्) ऐश्वर्यवान्, जल के समान शीतल और स्वच्छ (अरुषम्) रोषरहित, तेजस्वी, (भुरग्युम्) सब के पोषक, (पूर्वचित्तिम्) पूर्ण ज्ञानवान् (अग्निम्) ज्ञानवान् परमेश्वर या राजा को (नमोभिः) नमस्कारों द्वारा (ईडे) मैं स्तुति करता हूँ । अथवा (नमोभिः पूर्वचित्तिम्) अन्नों द्वारा पूर्व ही संग्रह करने वाले धनाढ्य पुरुष को मैं (ईडे) प्राप्त करूँ । (सः) वह तू (पर्वभिः) पालनकारी सामर्थ्यों से (ऋतुशः) सूर्य जिस प्रकार अपने ऋतु से सबको चलाता है उसी प्रकार राजा (ऋतुभिः) अपने राजसभा के सदस्यों से (कल्पमानः) सामर्थ्यवान् होता है । वह तू (विराजम्) विविध पदार्थों, गुणों से

प्रकाशित (गाम्) गौ और पृथिवी को (मा हिंसीः) मत विनष्ट कर ॥
शत० ७ । ५ । २ । १९ ॥

‘पूर्वचित्तिम्’ इति दयानन्दसम्मतः पाठः, ‘पूर्वचित्तिम्, इति सर्वत्र ।

वरुत्रीं त्वष्टुर्वरुणस्य नाभिमविं जज्ञानां रजसः परस्मात् ।
महीं साहस्रीमसुरस्य मायामग्ने मा हिंसीः परमे व्योमन् ॥ ४४ ॥

अग्निदेवता । निचृत् त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा० — (त्वष्टुः) समस्त संसार को गढ़ने वाले परमेश्वर की (वरुत्रीम्)
वरण करने वाली, उसी को एक मात्र अपना आश्रय स्वीकार करने वाली,
(वरुणस्य नाभिम्) जगत् के मूलकारण रूप जल के (नाभिम्) बन्धन-
काणिणी, उसको स्तम्भन करने में समर्थ, (परस्मात्) सबसे उत्कृष्ट (रजसः)
लोक, परमपद परमेश्वर से ही (जज्ञानाम्) प्रादुर्भूत होने वाली (असुरस्य)
मेघ के समान सबको प्राण देने में समर्थ, सर्वशक्तिमान् परमेश्वर की (महीम्)
बड़ी भारी, (साहस्रीम्) असंख्य शक्तियों से युक्त, समस्त जगत् की उत्पादक,
(अविम्) वस्त्रादि से भेड़ के समान, सबकी पालक, सब की आच्छादक
(मायाम्) निर्माण करनेवाली शक्ति या सब ज्ञानों को ज्ञापन कराने वाली
परमेश्वरी शक्ति को (अग्ने) हे ज्ञानवान् विद्वन् ! तू (परमे व्योमन्) परम्,
सब से ऊंचे पद पर विराज कर (मा हिंसीः) विनाश मत कर ॥ इसी
प्रकार भेड़ पशु कभी नाश न कर । शत० ७ । ५ । २ । २० ॥

योऽअग्निरग्नेरध्यजायत शोकात्पृथिव्या उत वा दिवस्परि ।
येन प्रजा विश्वकर्मा जज्ञान तमग्ने हेडः परि ते वृणक्तु ॥ ४५ ॥

अग्निदेवता । त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा० — (यः) जो (अग्निः) ज्ञानवान् पुरुष (अग्नेः अधि) एक
दूसरे उत्कृष्ट, परम ज्ञानी पुरुष के संग से, अग्नि से दीप्त अग्नि और दीपक से
जलाये गये दीपक के समान ज्ञानवान् (अधि अजायत) होता है । और जो
(पृथिव्याः शोकात्) पृथिवी और माता के तेज से (उत) और जो

(दिवः शोकात्) तेजस्वी सूर्य यां पिता के तेज से (परि अजायत) सर्वत्र प्रकाशमान है, (येन) जिसके द्वारा (विश्व-कर्मा) समस्त कार्यों का कर्ता, धर्ता प्रजापति, राजा (प्रजाः) समस्त प्रजाओं को (जजान) उत्तम बनाता है (तम्) उस विद्वान् पुरुष को हे (अग्ने) राजन् ! पर-सन्ताप द ! (ते हेडः) तेरा क्रोध और अनादर (परि वृणक्तु) छोड़ दे अर्थात् उसके प्रति तू न क्रोध कर, न उसका अनादर कर । अर्थात् विद्वान् शिष्य स्नातक और योग्य माता और तेजस्वी पिता के विद्वान् पुत्र के प्रति राजा कभी अनादर न करे ॥ शत९ ७ । ५ । १ । २ २१ ॥

ईश्वर-पक्ष में—(यः अग्नेः अधि अग्निः अजायत) जो ज्ञानवान् योगी से भी अधिक ज्ञानवान् है । (यः शोकात् पृथिव्याः उत दिवः परि अजायत) और जो अपने तेज से पृथिवी और सूर्य के भी ऊपर अधिष्ठाता रूप से है, और (येन) जिस तेज से (विश्व-कर्मा) विश्व का स्रष्टा प्रजापति (प्रजाः जजान) प्रजाओं को उत्पन्न करता है (तम्) उस परमेश्वर के प्रति हे विद्वान् पुरुष ! (ते हेडः परिवृणक्तु) तेरा अनादर भाव न हो ॥

चित्रं देवानामुदगादनीकं चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्याग्नः ।

आ प्रा घावापृथिवी अन्तरिक्षं सूर्यऽआत्मा जगत्स्तस्थुषश्च ४६

क्र० १ । १ । ५ । १ ॥

सूर्यो देवता । निचृत् त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—जो (देवानाम्) पृथिवी आदि का एक मात्र (चित्रं) संचित, (अनीकम्) बलस्वरूप होकर (उत् अगात्) उदय को प्राप्त होता है । और जो (मित्रस्य) मित्र, सूर्य, प्राण (वरुणस्य) जल, उदान और मृत्यु का भी (चक्षुः) ज्ञापक है और जो (घावापृथिवी) सूर्य और पृथिवी, प्रकाश और अन्धकार से युक्त दोनों प्रकार के लोकों को और (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष को भी (आ अप्राः) सब प्रकार से व्याप्त और पूर्ण कर रहा है । वह (सूर्यः) सूर्य के समान (जगत्) जंगम और (तस्थुषः च) स्थावर

सबका (आत्मा) आत्मा सर्वान्तर्यामी, सबका प्रेरक, और धारक है ॥

शत० ७ । ५ । २ । २७ ॥

इमं मा हिं॑सी॒र्द्धि॑पादं॒ प॒शु॒थं॑सहस्रा॒क्षो मे॒धाय॑ ची॒यमा॑नः ।

म॒युं प॒शुं मे॒धम॑ग्ने जुषस्व तेन चिन्वा॒नस्त॒न्वो नि॒षीद॑ ।

म॒युं ते शु॒गृच्छ॑तु यं द्वि॒ष्मस्तं॑ ते शु॒गृच्छ॑तु ॥ ४७ ॥

अग्निदेवता । विराड् ब्राह्मी पंक्तिः । पञ्चमः ॥

भा०—हे राजन् ! हे पुरुष ! तू (मेधाय) सुख प्राप्त करने और अन्न के लिये (चीयमानः) निरन्तर बढ़ता हुआ, (इमं) इस (द्विपादं) दोपाये पुरुष को और (पशुं) उसके उपयोगी चौपाये पशु को भी (मा हिंसीः) मत नाश कर, मत मार । हे (अग्ने) ज्ञानवान् ! नेतः ! तू (मेधम्) पवित्र अन्न उत्पन्न करनेवाले (मयुम् पशुम्) जंगली पशु को भी (जुषस्व) प्रेम कर, उसकी वृद्धि चाह । और (तेन) उससे भी (चिन्वानः) अपनी सम्पत्ति को बढ़ाता हुआ (तन्वः) अपने शरीर के बीच में हृष्ट-पुष्ट होकर (निषीद) रह । (ते शुग्) तेरा संतापकारी क्रोध या तेरी पीड़ा भी (मयुम्) हिंसक जंगली पशु को (ऋच्छतु) प्राप्त हो । और (यं द्विष्मः) जिससे हम प्रेम नहीं करते (तं) उसको (ते) तेरा (शुक्) संतापकारी क्रोध या तेरी पीड़ा (ऋच्छतु) प्राप्त हो ॥ शत० ७ । ५ । २ । ३० ॥

इमं मा हिं॑सी॒रेक॑शफं॒ प॒शुं क॑निक्र॒दं वा॒जिनं॑ वा॒जिने॑षु ।

गौर॑मा॒रय॑मनु ते दि॒शामि॑ तेन चिन्वा॒नस्त॒न्वो नि॒षीद॑ ।

गौरं॑ ते शु॒गृच्छ॑तु यं द्वि॒ष्मस्तं॑ ते शु॒गृच्छ॑तु ॥ ४८ ॥

अग्निदेवता । विचृद् ब्राह्मी पंक्तिः । पञ्चमः ॥

भा०—हे पुरुष ! (इम) इस (कनिक्रदम्) हर्ष से ध्वनि करने या हिनहिनाने वाले या सब प्रकार के कष्ट सहने में समर्थ (एक-शफं) एक खुर के (वाजिनेषु) वेगवान्, अश्व, गधे, खच्चर आदि (पशुं) पशु को (मा

४७—‘सहस्राक्ष मेधा या’ इति काण्वः ।

हिंसीः) मत मार । (आरण्यम् गौरम्) जंगल के गौर नामक बारहसिंगे को लक्ष्य करके भी (ते अनु दिशामि) तुझे मैं यही उपदेश करता हूँ कि (तेन चिन्वानः) उसकी वृद्धि से भी तू अपनी वृद्धि करता हुआ (तन्वः निषीद) अपने शरीर की रक्षा किया कर । (ते शुक्) तेरा शोक, संताप या क्रोध, पीड़ा, श्रम भी (गौरम् ऋच्छतु) उस गौर नामक, खेती को हानि पहुंचाने वाले मृग को प्राप्त हो । (यं द्विष्मः) जिसके प्रति हमारे प्रीति नहीं है (ते शुक्) तेरा शोक, संताप या क्रोध (तम् ऋच्छतु) उसको ही प्राप्त हो ॥ शत० ७।५।२।३॥

इमं साहस्रं शतधारमुत्सं व्यच्यमानं सरिरस्य मध्ये ।
घृतं दुहानामदितिं जनायाग्ने मा हिंसीः परमे व्योमन् ।
गवयमारण्यमनु ते दिशामि तेन चिन्वानस्तन्वो निषीद ।
गवयं ते शुगृच्छतु यं द्विष्मस्तं ते शुगृच्छतु ॥ ४६ ॥

अग्निदेवता । कृतिः । निषादः ॥

भा०—(सरिरस्य मध्ये) आकाश, अन्तरिक्ष के बीच में (व्यच्यमानं) विविध प्रकार से फैलने वाले (शत-धारम्) सैकड़ों धार बरसाने वाले (उत्सं) जल देनेवाले मेघ के समान (सरिरस्य मध्ये व्यच्यमानम्) लोक में विद्यमान सैकड़ों के धारक पोषक और (साहस्रम्) हजारों सुखप्रद पदार्थों के उत्पादक (इमम्) इस बैल को और (जनाय) मनुष्यों के हित के लिये (घृतम्) घी, दूध, अन्न आदि पुष्टिकारक पदार्थ (दुहानाम्) प्रदान करनेवाली (अदितिम्) अहिंसनीय, पृथिवी के समान गौ को भी हे (अग्ने) राजन् ! (परमे व्योमन्) अपने सर्वोत्कृष्ट रक्षास्थान में या अपने रक्षण-कार्य में तत्पर होकर (मा हिंसीः) मत मार । (ते) तुझे मैं (गवयम् आरण्यम्) जंगली पशु गवय का भी (अनुदिशामि) उपदेश करता हूँ । (तेन) उससे भी (चिन्वानः) अपने ऐश्वर्य की वृद्धि करता हुआ (तन्वः निषीद) अपने शरीर को स्थिर कर, । (ते शुक् गवयम् ऋच्छतु) तेरा शोक, संताप श्रम या क्रोध 'गवय' नाम के पशु को प्राप्त हो । और

(यं द्विष्मः तं ते शुक् ऋच्छतु) जिस शत्रु से हम द्वेष करते हैं तेरा संताप और पीड़ाजनक क्रोध उसको प्राप्त हो ॥ शत० ७ । ५ । २ । ३४ ॥

इममूर्णायुं वरुणस्य नाभिं त्वचं पशुनां द्विपदां चतुष्पदाम् ।
त्वष्टुः प्रजानां प्रथमं जनित्रमग्ने मा हिंसीः परम व्योमन् ।
उष्ट्रमारण्यमनु ते दिशामि तेन चिन्वानस्तन्वो निषीद ।
उष्ट्रं ते शुगृच्छतु यं द्विष्मस्तं ते शुगृच्छतु ॥ ५० ॥

अग्निदेवता । भुरिक् कृतिः । निषादः ॥

भा०—हे (अग्ने) राजन् ! तू (परमे व्योमन्) परम, सर्वोच्च 'व्योम' अर्थात् विविध प्राणियों के रक्षाधिकार में नियुक्त होकर (त्वष्टुः) सर्व-जगत् के रचयिता परमेश्वर की (प्रजानाम्) प्रजाओं के (प्रथमं) सब से उत्तम या सब से प्रथम (जनित्रम्) उत्पादक कारण, मेघ के समान सुखों के उत्पादक, (वरुणस्य) वरुण अर्थात् वरण करने योग्य सुख के (नाभिम्) मूलकारण, (द्विपदां चतुष्पदां) दो पाये और चौपाये (पशूनां) पशुओं में ही (त्वचं) शरीरों को कम्बलादि से ढंकने वाले (इमम्) इस (ऊर्णायुं) उन को देने वाले भेड़ जन्तु को (मा हिंसीः) मत मार । (ते) तुझे (आरण्यम्) उष्ट्रम् अनुदिशामि) मैं जंगली ऊँठ का उपदेश करता हूँ । (तेन चिन्वानः) उससे समृद्ध होकर (तन्वः निषीद) शरीर के सुखों को प्राप्त कर । (ते शुक्) तेरी पीड़ाजनक प्रवृत्ति (उष्ट्रम् ऋच्छतु) दाहकारी पीड़ाजनक जीव को प्राप्त हो । और (ते शुक्) तेरा दुःखदायी क्रोध (तम् ऋच्छतु) उसको प्राप्त हो (यं द्विष्मः) जिससे हम द्वेष करते हैं ॥ शत० ७ । ५ । २ । ३५ ॥

अजो ह्यग्नेरजनिष्ट शोकात्सोऽप्रपश्यज्जनितामग्ने ।
तेन देवा देवतामग्रमायिस्तेन रोहमायन्नुप मेध्यासः ।
शरभमारण्यमनु ते दिशामि तेन चिन्वानस्तन्वो निषीद ।
शरभं ते शुगृच्छतु यं द्विष्मस्तं ते शुगृच्छतु ॥ ५१ ॥

अग्निदेवता । भुरिक् कृतिः । निषादः ॥

भा०—(आजः) अज, अजन्मा, ज्ञानी आत्मा, जीव (अग्नेः) अग्नि, ज्ञानमय तेजोमय परमेश्वर के (शोकात्) तेज से (अज-निष्ट) ज्ञानवान् और तेजस्वी हो जाता है। तभी वह (अग्ने) अपने से भी पूर्व विद्यमान (जनितारम्) समस्त जगत् के और अपने भी उत्पादक परमेश्वर का (अपश्यत्) साक्षात् करता है। (तेन) उसी अजन्मा आत्मा के द्वारा (देवाः) विद्वान् जन अथवा इन्द्रिय-क्रीड़ी पुरुष भी (अग्रम्) उत्तम (देवताम्) देव भाव को (आयन्) प्राप्त होते हैं। और (तेन) उसी के बल पर (मेध्यासः) पवित्रात्मा जन या ज्ञानवान् पुरुष (रोहम्) उन्नत पद को या पुनः जन्मभाव को (आयन्) प्राप्त करते हैं (ते) तुक्षको मैं (आरण्यं शरभम्) जंगली शरभ अर्थात् हिंसक व्याघ्र पशु का (अनु दिशामि) स्वरूप दर्शाता हूँ। (तेन) उसके समान (चिन्वानः) अपने रक्षा साधनों का संग्रह करता हुआ बलवान् होकर (तन्वः) अपने शरीर की रक्षा के लिये (निषीद्) स्थिर होकर रह। (ते शुक्) तेरा शोक संताप और पीड़ा जनक कार्य (शरभम् ऋच्छतु) 'शरभ' नाम पशु या हिंसक पुरुष को प्राप्त हो। और (यं द्विषमः) जिससे हम द्वेष करते हैं (तं ते शुक् ऋच्छतु) उसको तुम्हारा पीड़ा-संताप-जनक क्रोध प्राप्त हो ॥ शत० ७।५।२।३६॥

त्वं यविष्ठ दाशुषो नूः पाहि शृणुधी गिरः ।

रक्षा लोकमुत त्मना ॥ ५२ ॥ क्र० ८४ । ३ ॥

उशना ऋषिः । अनिरुक्तोऽग्निर्देवता । निचृद् गायत्री । । षड्ज ॥

भा०—हे (यविष्ठ) अति अधिक बलवान् पुरुष ! तू (दाक्षिणः) दानशील और कर आदि देने वाले प्रजा जनों को (पाहि) पालन कर । और प्रेम से (गिरः) उनकी कही वाणियों को (शृणुधि) श्रवण कर । (उत) और (त्मना) स्वयं ही उनकी (तोकम्) पुत्र के समान (रक्ष) रक्षा कर ॥ शत० ७ । ५ । २ । ३१ ॥

वशना ऋषिः । आपो देवताः । (१) भुरिक् ब्राह्मी पंक्तिः । पञ्चमः । (२)

ब्राह्मी जगती । निपादः । (३) निचृद् ब्राह्मी पंक्तिः । पञ्चमः ॥

‘अपां त्वेमन्त्सादयाम्यपां त्वोद्भन् त्सादयाम्यपां त्वा भस्मन्
त्सादयाम्यपां त्वा ज्योतिषि सादयाम्यपां त्वायने सादयाम्यपां
त्वा सद्ने सादयामि समुद्रे त्वा सद्ने सादयामि । सखिरे त्वा
सद्ने सादयाम्यपां त्वा क्षये सादयाम्यपां त्वा सखिषि
सादयाम्यपां त्वा सद्ने सादयाम्यपां त्वा सुधस्थे सादयाम्यपां
त्वा योनौ सादयाम्यपां त्वा पुरीषे सादयाम्यपां त्वा पार्थसि
सादयामि ३ गायत्रेण त्वा छन्दसा सादयामि त्रैष्टुभेन त्वा
छन्दसा सादयामि जागतेन त्वा छन्दसा सादयाम्यानुष्टुभेन त्वा
छन्दसा सादयामि पाङ्क्तेन त्वा छन्दसा सादयामि ॥ ५३ ॥

भा०—[१] हे राजन् ! (त्वा) तुझको मैं (अपाम् एमन्) जलों, प्राणों या
प्रजाओं के गन्तव्य, या प्राप्त करने योग्य जीवन रूप वायु पद पर (साद-
यामि) स्थापित करता हूँ । अर्थात् मेघ के जलों को इधर उधर लेजाने वाला
वायु जिस प्रकार यथेष्ट दिशा में मेघों को ले जाता है और जिस प्रकार
समस्त प्राणों का आश्रय वायु है उसी प्रकार राजा को भी प्रजाओं के संचा-
लन और उनके जीवन प्रदान, निग्रहानुग्रह के अधिकार पर स्थापित
करता हूँ । [१] (त्वा अपां ओद्भन् सादयामि) तुझको जलों के दलदल
भाग में जहां नाना ओषधियां उत्पन्न होती हैं उस पद पर स्थापित करता
हूँ । अर्थात् जलों के एकत्र हो जाने पर दल २ में जिस प्रकार वहां ओषधियां
बहुत उत्पन्न होती हैं उसी प्रकार तू भी प्रजाओं का एकत्र हो जाने का
केन्द्र है । तुझको मुख्य पद पर स्थापित कर नाना वीर्यधारक प्रजाओं और
शासक पुरुषों के उत्पन्न कर लेने का अधिकार प्रदान करता हूँ ॥ शत०
७ । ५ । १ । ४६—६२ ॥

[३] (त्वां अपाम् भस्मन् सादयामि) जलों के तेजोरूप भाग मेघ

के पद पर तुझको स्थापित करता हूँ । अर्थात् जलों का सूर्यकिरणों से बना मेघ जिस प्रकार सब पर छाया और निष्पक्षपात होकर जलवर्षण करता है उसी प्रकार प्रजाओं पर तू समस्त सुख कर ऐश्वर्यों का वर्षण और छत्रछाया कर । इसी निमित्त तुझे स्थापित करता हूँ ।

[४] (अपां ज्योतिषि त्वा सादयामि) तुझे जलों की ज्योति अर्थात् विद्युत् के पदपर स्थापित करता हूँ । अर्थात् जिस प्रकार जलों में विद्युत् अति तीव्र, बलवती शक्ति है उसी प्रकार तू भी प्रजाओं के बीच अति तीव्र बलवती शक्ति वाला होकर रह । उसी पद पर तुझको मैं नियुक्त करता हूँ ।

[५] (त्वा अपाम् अयने सादयामि) तुझको जलों के एकमात्र आश्रय, इस भूमि के पदपर स्थापित करता हूँ । अर्थात् जिस प्रकार समस्त जलों का आधार भूमि है उसी प्रकार समस्त प्रजाओं का आश्रय होकर तू रह ।

[६] (अर्णवे त्वा सदने सादयामि) तुझको 'अर्णव' = जीवन प्राण के 'सदन', आसन पर स्थापित करता हूँ । अर्थात् प्राण जिस प्रकार समस्त इन्द्रियों का आधार है, उसी प्रकार तू भी समस्त प्रजाओं और शासक वर्गों का आश्रय और उनका संचालक होकर रह ।

[७] (समुद्रे त्वा सदने सादयामि) तुझको मैं समुद्र अर्थात् मन के आसन पर स्थापित करता हूँ । अर्थात् जिस प्रकार समस्त रत्न समुद्र से निकलते हैं वही उनका उद्गम-स्थान है, और जिस प्रकार समस्त वाणियों का उद्गमस्थान मन-है, उसी प्रकार समस्त प्रजाओं का उद्गम स्थान तू बन कर रह ।

[८] (त्वाम् अपां क्षये सादयामि) जलों के निवासस्थान तड़ाग अथवा शरीर में जलों के नित्य आश्रय चक्षु के पद पर तुझको नियुक्त करता हूँ । अर्थात् सुख दुःख में जिस प्रकार ग्राम-जनता तालाब या कूप के आश्रय पर रहती है और सुख दुःख में जिस प्रकार शरीर में आँख ही दुःखाश्र

और आनन्दाश्च बहाती है, अथवा वही सब पर निरीक्षण करती है उसी प्रकार तू प्रजा के सुख दुःख में सुखी दुःखी हो और उनपर रख देख रख ।

[९] (अपां त्वा सधिपि सादयामि) समस्त जलों को समान रूप से धारण करने वाले गम्भीर जलाशय के पद पर और समस्त प्रजाओं के निष्पक्ष होकर वचन सुनने वाले 'श्रवण' के पद पर स्थापित करता हूँ । अर्थात् समस्त प्रजाओं के तू निष्पक्ष होकर वचन सुन और निर्णय कर ।

[१०] (सरिरे सदने त्वा सादयामि) तुझे सर्वत्र प्रसरणशील और प्रेरक जल के पदपर स्थापित करता हूँ और अध्यात्म में स्वयं सरण करने वाली वाणी के पद पर नियुक्त करता हूँ । वहां तू अपनी आज्ञा से सबको संचालित कर ।

[११] (अपां त्वा सदने सादयामि) सूक्ष्म जलों का आश्रयस्थान द्यौलोक या समस्त लोकों के आश्रयभूत महान् आकाश के पद पर तुझे स्थापित करता हूँ । अर्थात् उसके समान तू सब प्रजाओं को अपना आश्रय देने वाला हो ।

[१२] (अपां त्वा सधस्थे सादयामि) जलों को एकत्र धारण करने वाले अन्तरिक्ष के पद पर तुझको स्थापित करता हूँ अर्थात् अन्तरिक्ष जिस प्रकार मेघ आदि रूप से जलों को और सूर्यरश्मियों को भी एकत्र रखता है उसी प्रकार राजपुरुषों और प्रजा जन दोनों को तू समान रूप से धारण कर ।

[१३] (अपां त्वा योनौ सादयामि) समस्त नद नदियों के चारों तरफ से आकर मिलने के एक मात्र स्थान समुद्र के पद पर तुझको मैं स्थापित करता हूँ । अर्थात् तू समस्त देश-देशान्तरों से आई प्रजाओं को तू शरण देने वाला हो ।

[१४] (अपां त्वा पुरीषे सादयामि) तुझको मैं जलों के भीतर दीप्ति सहित विद्यमान रेती के पदपर स्थापित करता हूँ । जैसे रेती जलों को

स्वच्छ रखती और उसकी शोभा को बढ़ाती है । उसी प्रकार तू प्रजाओं को स्वच्छ रख और उसकी शोभा को बढ़ा ।

[१५] (अपां त्वा पाथसि सादयामि) जलों के भीतर विद्यमान, पालन-कारी तत्त्व अन्न के पद पर तुझको मैं स्थापित करता हूँ । अर्थात् जिस प्रकार जलों से उत्पन्न अन्न सबको प्राणप्रद जीवनप्रद, और पालक है उसी प्रकार तू भी सबका जीवनप्रद, पालक हो ।

[१६] (त्वा गायत्रेण छन्दसा सादयामि) तुझको गायत्र छन्द से स्थापित करता हूँ अर्थात् ब्राह्मणों विद्वानों के विद्या-बल से तुझको स्थापित करता हूँ ।

[१७] (त्रैष्टुभेन त्वा छन्दसा सादयामि) तुझको मैं त्रैष्टुभ छन्द से स्थापित करता हूँ । अर्थात् तुझको क्षात्र-बल से स्थिर करता हूँ ।

[१८] (जागतेन त्वा छन्दसा स्थापयामि) तुझको मैं जागत छन्द अर्थात् वैश्यों के बल से स्थापित करता हूँ ।

[१९] (आनुष्टुभेन त्वा छन्दसा सादयामि) आनुष्टुभ छन्द अर्थात् सर्व साधारण लोक के बल से तुझको स्थापित करता हूँ ।

[२०] (पांक्तेन त्वा छन्दसा सादयामि) तुझको मैं पांक छन्द अर्थात् दशों दिशाओं अथवा पांचों जनों के बल से स्थापित करता हूँ ।

अयं पुरो भुवस्तस्य प्राणो भौवायनो वसन्तः प्राणायनो
गायत्री वासन्ती गायत्र्यै गायत्रं गायत्रादुपांशुरुपांशोस्त्रिवृत्
त्रिवृत्तो रथन्तरं वसिष्ठ ऽऋषिः । प्रजापतिगृहीतया त्वया
प्राणं गृह्णामि प्रजाभ्यः ॥ ५४ ॥

प्राणा देवताः । स्वराड् ब्राह्मी जगती । निषादः ॥

भा०—(अयम्) यह अग्निस्वरूप वाला (पुरः) पूर्व दिशा से और (भुवः) सबका मूल कारण, प्राण का प्राण, स्वयं सत्-रूप से विद्यमान था । (तस्य) उसका ही यह सामर्थ्य स्वरूप (प्राण) प्राण है । इसी से वह

(भौवायनः) 'भुव्' को अपत्य उससे उत्पन्न होने से 'भौवायन' कहाता है।
 (प्राणायनः) प्राण से उत्पन्न होने वाला प्राणों का आश्रय (वसन्तः) 'वसन्त'
 है अर्थात् प्राणों से ही वह तत्त्व उत्पन्न हुआ है जिसमें समस्त जीव बसते
 हैं। (वासन्ती गायत्री) 'वसन्' सबको बसाने वाले तत्त्व से 'गायत्री', प्राणों
 की रक्षा करने वाली शक्ति या वाणी उत्पन्न हुई। (गायत्र्यै गायत्रम्)
 गायत्री शक्ति से गायत्र अर्थात् प्राण रक्षक बल उत्पन्न हुआ (गायत्राद्
 उपांशुः) गायत्र बल से 'उपांशु, नाम प्राण-उत्पन्न हुआ (उपांशोः त्रिवृत्)
 उपांशु प्राण से 'त्रिवृत्' नामक प्राण उत्पन्न होता है। (त्रिवृत्: रथन्तरम्)
 त्रिवृत् नाम प्राण से रथन्तर नाम प्राण का बल जिससे इन्द्रियों में ग्राह्य
 विषय ग्रहण किये जाते हैं वह उत्पन्न होता है। उन सबका (ऋषिः)
 प्रवर्तक और द्रष्टा (वसिष्ठः) सब प्राणों में मुख्य रूप से बसने वाला
 'प्राण' वसिष्ठ कहाता है। हे चितिशक्ते! या हे वाणि! (प्रजापति-गृहीतया)
 प्रजा के पालक मुख्य प्राण द्वारा वशीकृत (त्वया) तुझ द्वारा मैं (प्रजाभ्यः)
 प्रजाओं के (प्राणं गृह्णामि) प्राण को वश करता हूं। शत० ८।१।१।१-६॥

राजा और राष्ट्र-पक्ष में—यह प्राण राजा 'भुवः' है। उसके प्राण रूप
 अमात्य शादि 'भौवायन' है। उनमें उत्तरोत्तर वसन्त गायत्री, (सेना)
 गायत्र, (बल) उपांशु, (सेनापति) त्रिवृत् त्रिवृणं, रथन्तर, रथ
 बल उत्पन्न होते हैं। सब का द्रष्टा मुख्य राजा का पुरोहित 'वसिष्ठ' है।
 प्रजापति, प्रजा के पालक राजा से वशीकृत तुझ प्रजा या पृथिवी से मैं
 प्राण को या अन्न को प्रजा के हितार्थ प्राप्त करता हूं।

अयं दक्षिणा विश्वकर्मा तस्य मनो वैश्वकर्माणं ग्रीष्मो मान-
 सस्त्रिष्टुब्धं ग्रीष्मी त्रिष्टुभः स्वारंथं स्वारादन्तर्यामोऽन्तर्या-
 मात्पञ्चदशः पञ्चदशाद्बृहद् भरद्वाजः ऋषिः प्रजापतिगृहीतया
 त्वया मनो गृह्णामि प्रजाभ्यः ॥ ५५ ॥

५४-५५-अयं पुरः पञ्चाशत् प्राणभृद्-दैवत्यानि । सर्वो० ॥

प्रजापतिः (प्राणभृद्) देवता । भुरिगतिधृतिः । पद्भजः ॥

भा०—(दक्षिणा) दक्षिण दिशा में (अयं) यह स्वयं (विश्वकर्मा) समस्त कर्म करने में समर्थ है । (तस्य) उसके ही (वैश्वकर्मणं) विश्वकर्मा रूप से उत्पन्न (मनः) मन अन्तःकरण है । (मानसः ग्रीष्मः) मन से ही उत्पन्न ग्रीष्म ऋतु है । मन की पुष्टि से ही अर्थात् विचार से ही पराक्रम की उत्पत्ति होती है (ग्रीष्मी) सूर्य के प्रखर ताप वाला ऋतु के मानस तेज से ही (त्रिष्टुप्) त्रिष्टुप् अर्थात् मन, वाणी और कर्म तीनों में हिंसा करने वाला क्षात्र-बल उत्पन्न होता है । (त्रिष्टुभः स्वारम्) उस त्रिष्टुप्, क्षात्र-बल से स्वर समूह अर्थात् स्वयं राजमान राजा गण उत्पन्न होते हैं । (स्वाराद् अन्तर्यामः) स्वयं तेजस्वी राज गण से पृथिवी का अन्तर्यमन अर्थात् प्रबन्ध या राज्यव्यवस्था उत्पन्न होती है । (अन्तर्यामात् पञ्चदशः) उस व्यवस्था से राष्ट्र के १५ हों अंगों पर आत्मा के समान शासक मुख्य राजा की उत्पत्ति होती है । (पञ्चदशात् बृहत्) उस मुख्य राजा से बृहत्, बड़े भारी राष्ट्र की उत्पत्ति होती है । (ऋषिः भरद्वाजः) उसका द्रष्टा शौर सञ्चालक स्वयं प्राण के समान 'भरद्वाज' है । अर्थात् मुख्य प्राण जिस प्रकार सब अन्नों को स्वयं प्राप्त करता है उसी प्रकार राजा समस्त ऐश्वर्यों और भोगों को प्राप्त करने में समर्थ होता है । हे राजशक्ते ! (प्राजापति-गृहीतया त्वया) प्रजापति राजा द्वारा वर्णित कृत तुझसे मैं (प्रजाभ्यः मनः गृह्णामि) प्रजाओं के मन को अपने वश करता हूँ । शत ० ८ । १ । १ । ७-९ ॥

अयं पश्चाद् विश्वव्यव्यास्तस्य चतुर्वैश्वव्यवसं वर्षाश्चा-
नुष्ठो जगती वार्षी जगत्या ऋक्समम् ऽऋक्समाव्युक्त-
शुक्रात्सप्तदशः सप्तदशाद्वैरूपं जमदग्निर्ऋषिः प्रजापतिगृहीतया
त्वया चतुर्गृह्णामि प्रजाभ्यः ॥ ५६ ॥

भा०—(अयम्) यह प्रजापति (पश्चात्) पश्चिम दिशा में (विश्व-
 व्यचाः) तेज द्वारा समस्त विश्व में फैलने वाले सूर्य के समान है (अयम्)
 उसका (चक्षुः) चक्षु भी (वैश्वव्यचसम्) विश्व में व्यापक सूर्य के प्राकाश
 से जिस प्रकार पुरुष की आंख उत्पन्न होती है उसी प्रकार प्रजापालक परमे-
 श्वर की भी चक्षु सूर्य की बनी हुई है । अर्थात् सूर्य ही अलंकार रूप से
 ईश्वर की चक्षु है । (वर्षाः चाक्षुष्यः) जैसे आंखों से प्रेम-अश्रु बहते
 हैं उसी प्रकार मानो ये समस्त वर्षाएं भी सूर्य से उत्पन्न होकर, परमेश्वर
 की चक्षु से बहती हैं । और राजा के ज्ञानवान् पुरुष ही चक्षु हैं उनके द्वारा
 ही समस्त ऐश्वर्यों की वृष्टि होती है । (जगती वर्षा) यह समस्त सृष्टि
 वर्षा से ही उत्पन्न होती है । इसी प्रकार राजा के राज्य में सब कारबार
 विद्वानों द्वारा उत्पादित ऐश्वर्यों द्वारा ही चलते हैं । (जगत्याः ऋक्-समम्)
 जगतो छन्द से जिस प्रकार 'ऋक्-सम' नाम साम की उत्पत्ति है और जगत्
 की रचना देख कर ज्ञान की प्राप्ति होती है । (ऋक्-समात् शुक्रः) ऋक्-सम
 नामक साम से जैसे शुक्र 'ग्रह' उत्पन्न होता है । और ज्ञान प्राप्ति के बाद, वीर्य,
 शुद्ध बल, उत्पन्न होता है । और जिस प्रकार, ऋक् अर्थात् स्रो का सोम पति
 है और पति पत्नी के मिलने पर वीर्य उत्पन्न होता है उसी प्रकार राष्ट्र में
 ऋक्-सम अर्थात् प्रजा को समान रूप से प्राप्त करके ही राजा को बल प्राप्त होता
 है । (शुक्रात् सप्तदशः) शुक्र ग्रह से यज्ञ में 'सप्तदश' स्तोम की उत्पत्ति होती
 है । अध्यात्म में वीर्य से सप्तदश नाम आत्मा के शरीर की उत्पत्ति होती है ।
 राजा प्रजा के बल से १७ अंगों वाले सप्तदशाङ्ग राज्य और उसपर स्थित
 राजा की उत्पत्ति होती है । (सप्तदशात् वैरूपम्) 'सप्तदश' नाम आत्मा से ही
 वैरूप अर्थात् विविध जीवसृष्टि का प्रादुर्भाव होता है । साम में सप्तदश
 स्तोम से वैरूप नाम 'पृष्ठ' का उदय होता है । राष्ट्र में, सप्त दश अङ्गों से
 युक्त राजा के द्वारा राज्य की विविध रचना होती है । (जमदग्निः ऋषिः)
 यह चक्षु सूर्य ही जमदग्नि है, वही सबका द्रष्टा है । परमेश्वर उसी द्वारा

जगत् को देखता और उसीसे देख कर उनको वश करता है। इस शरीर में चक्षु ही जमदग्नि है। राष्ट्र में सर्वोपरि द्रष्टा पुरुष ही जमदग्नि है।

(प्रजापति-गृहीतया त्वया) प्रजा के पालक परमेश्वर द्वारा स्वीकार की गई पत्नी के समान तुझ निर्मात्री शक्ति से, एवं देह में आत्मा द्वारा प्राप्त चितिशक्ति से, राष्ट्र में राज्य शक्ति से मैं (प्रजाभ्यः चक्षुः) प्रजाओं की चक्षु को (गृहणामि) अपने वश करता हूँ। शत० ८।१।१-३॥

इदमुत्तरात् स्वस्तस्य श्रोत्रं सौवशं शरच्छ्रौत्र्यनुष्टुप शरच्छ्रुनुष्टुभ एण्डमैडान् मन्थी मन्थिन एकविंश एकविंश शद्वैराजं विश्वामित्र ऋषिः प्रजापतिगृहीतया त्वया श्रोत्रं गृह्णामि प्रजाभ्यः ॥ ५७ ॥

प्रजापतिदेवता । स्वराड् ब्राह्मी त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

(इदम् उत्तरात् स्वः) यह उत्तर दिशा में या सब से ऊपर महान् आकाश 'स्वः' है। (तस्य) उस प्रजापति का मानो वह आकाश ही महान् 'श्रोत्र' है। इसलिये (सौवं श्रोत्रम्) उसका श्रोत्र 'स्वः' होने से 'सौव' कहाता है। इसी प्रकार इस शरीर में 'स्वः' अर्थात् सुख का साधन आकाश की तन्मात्रा से ही बना हुआ 'श्रोत्र' है। (श्रौत्री शरत्) 'संवत्सर' रूप प्रजापति में शरत् ऋतु ही श्रोत्र के समान है। वर्षा के बाद आकाश और दिशाएं खुल जाने से शरद् ऋतु उत्पन्न होती है, इसी से शरत् मानो प्रजापति के श्रोत्र रूप आकाश या दिशाओं से उत्पन्न होती है। (शरदी अनुष्टुप्) शरद् ऋतु से अनुष्टुप् छन्द उत्पन्न होता है। अर्थात् छन्दों में जिस प्रकार अनुष्टुप् सर्व प्रिय है उसी प्रकार ऋतुओं में 'शरद्' है। (अनुष्टुभः ऐडम्) अनुष्टुप् से 'ऐड' नाम साम की उत्पत्ति होती है। अर्थात् अनुष्टुप् नाम छन्द से ऐड अर्थात् 'इडा' वाणी का विस्तार होता है। (ऐडात् मन्थी) ऐड नाम साम से यज्ञ में मन्थिग्रह

५७—'ऐडमैडान्' इति काण्व० ।

उत्पन्न होता है। वाणी के विस्तार से इन्द्रियों और हृदय को मथन करने की शक्ति उत्पन्न होती है। (मन्थिनः एकविंशः) मन्थिग्रह से यज्ञ में 'एकविंश' नाम साम की उत्पत्ति होती है। वाणी के बल पर हृदय मथन हो जाने पर १० अंगों सहित इक्कीसवां अत्मा स्त्री के गर्भ में उत्पन्न होता है। (एकविंशाद् वैराजम्) यज्ञ में एकविंशस्तोम से 'वैराज' साम की उत्पत्ति होती है। आत्मा से ही विविध तेजों से राजमान देह की उत्पत्ति होती है। 'एकविंश' राजा से ही विविध राष्ट्र के कार्यों की उत्पत्ति होती है। (विश्वामित्र ऋषिः) शरीर में श्रोत्र ही विश्वामित्र ऋषि है; वह ज्ञानवान् पुरुष राष्ट्र में कर्म के समान समस्त प्रजाओं के दुःख पीड़ाओं को सुनता है। वह भी ऋषि द्रष्टा 'विश्वामित्र' सबका परम स्नेही है। (प्रजापति-गृहीतया त्वया) प्रजापति द्वारा स्वीकृत तुझ परम प्रकृति से जिस प्रकार (प्रजाभ्यः) समस्त उत्पन्न पदार्थों के हितार्थ (श्रोत्रं) आकाश रूप श्रोत्र का उपयोग किया गया है, उसमें समस्त सृष्टि फैली है। उसी प्रकार राजा द्वारा राजशक्ति के वश कर लेने पर प्रजाओं के 'श्रोत्र' अर्थात् सुख दुःख श्रवण करने वाले न्यायाधीश को मैं (गृह्णामि) स्वीकार करूँ। इसी प्रकार हे स्त्री! प्रजापति, गृहपति द्वारा स्त्री रूप में स्वीकृत तुझ द्वारा मैं प्रजा के हित के केलिये अपने श्रोत्र का उपयोग करूँ। जत० ८।१।२।४-६॥

इयमुपरि मतिस्तस्यै वाङ् मात्या हैमन्तो वाच्यः पडिक्त-
हैमन्ती पडिक्त्यै निधनवन्निधनवतः आग्रयणः आग्रयणात् त्रि-
णवत्रयस्त्रिंशौ त्रिणवत्रयस्त्रिंशाभ्यां शाक्तरैवते विश्व-
कर्म ऋषिः प्रजापतिगृहीतया त्वया वाचं गृह्णामि प्रजाभ्यः ॥५८॥

प्रजापतिदेवता। विराडाकृतिः। पञ्चमः॥

भा०—(इयम् उपरि मतिः) यह सबसे ऊपर विराजमान मति, मनन

१८—अवसाने लोकं, ता, इन्द्रम् क्रमशः (अ० ११।५४, ५५, ५६)
इति मन्त्रत्रयस्य प्रतीकानि।

शील प्रज्ञा है जो विराट् शरीर में चन्द्रमा के तुल्य अज्ञान अन्धकार में भी प्रकाश करने हारी है। (तस्यै मात्या वाङ्) उससे उत्पन्न होने वाली वाणी मति से उत्पन्न होने के कारण मात्या, वाक्, है। (वाच्यः हेमन्तः) हेमन्त जिस प्रकार अति शीतल है उसी प्रकार वाणी से हृदय की शान्ति होती है। इससे मानों वाणी से हेमन्त उत्पन्न होता है। संवत्सर प्रजापति के रूप में शरत् काल के चन्द्र ज्योति के बाद तीव्र गर्जनाकारी वाणी रूप मेघ और उसके बाद हेमन्त उत्पन्न होता है ! हेमन्त से पंक्ति उत्पन्न होती है। अर्थात् हेमन्त काल के बाद अन्न पकना प्रारम्भ होता है। संवत्सर में पंचम ऋतु हेमन्त से मानो यज्ञ में पंक्ति छन्द की उत्पत्ति हुई। राष्ट्र में प्रजा के हृदयों को शमन करने से ही शत्रु परिपाक की शक्ति प्राप्त होती है, अथवा पञ्चाङ्ग सिद्धि प्राप्त होती है। (पङ्क्त्यै निधनवत्) यज्ञ में पंक्ति छन्द से 'निधनवत् साम' की उत्पत्ति है। (निधनवत् आग्रयणः) निधनवत् साम से 'आग्रयण' ग्रह की उत्पत्ति होती है और (आग्रयणात् त्रिनव-त्रयस्त्रिंशौ) आग्रयण ग्रह से त्रिनव और त्रयस्त्रिंश दोनों स्तोम उत्पन्न होते हैं (त्रिनव-त्रयस्त्रिंशाभ्यां शाक्वरैवते) त्रिनव और त्रयस्त्रिंश दोनों स्तोमों से शाक्वर और रैवत दो 'पृष्ठ' उत्पन्न होते हैं। इसी प्रकार राष्ट्र में शत्रु संतापक पंक्ति नामक सैन्य पांचों जनों की सम्मति, सैन्य शक्ति से 'निधनवत्' अर्थात् शत्रुहनन होता है। उससे आग्रयण अर्थात् आगे बढ़ने वाले शूरवीरों का पद नियत होता है। उससे आग्रयण अर्थात् आगे बढ़ने वाले शूरवीर का पद नियत होता है। उससे त्रिनव और त्रयस्त्रिंश २७ और ३३ के स्तोम अर्थात् संघों की रचना होती है और उनसे शाक्वर अर्थात् शक्तिशाली और रैवत, धनाढ्य राष्ट्रों की उत्पत्ति होती है। इस सबका (ऋषिः विश्वकर्मा) ऋषि द्रष्टा और नेता सञ्चालक विश्वकर्मा प्रजापति है। (प्रजापतिगृहीतया त्वया प्रजाभ्यः वाचं गृणामि) प्रजापति राजा द्वारा वशीकृत राजशक्ति रूप तुझ से प्रजा के हित के

लिये आज्ञा प्रदान करने वाली वाणी को अपने वश करूं । शत० ८ । १ ।
२ । ७-९ ॥

‘लोकं,० ता०, ऽइन्द्रम्० ॥’

१२ अ० के ५१, ५५, ५६ इन तीन मन्त्रों की प्रतीक मात्र रक्खी है ।
लोकं पृण० (१२ । ५४) ता अस्य सूद० (१२ । ५५) इन्द्रं विश्वा०
१२ । ५६ ॥)

॥ इति त्रयोदशोऽध्यायः ॥

[तत्र अष्टापञ्चाशद्वचः]

इति मीमांसातीर्थ-प्रतिष्ठितविद्यालैकार-विरुद्धोपशोभित-श्रीमत्पण्डितजयदेवशर्माकृते
यजुर्वेदालोकभाष्ये त्रयोदशोऽध्यायः ॥

१—लोकं ता इन्द्रं तिस्रः प्रतीकोक्ताः ॥ सर्वा० ॥ एवं सर्वत्र ॥ इति प्रथमा-
चित्तिः ॥ ‘श्लोकं’ पृणता अस्येन्द्रं विश्वाः इति काण्व०

अथ चतुर्दशोऽध्यायः

॥ओ३म्॥ ध्रुवक्षितिर्ध्रुवयोनिर्ध्रुवासि ध्रुवं योनिमासीद साधुया ।
उख्यस्य केतुं प्रथमं जुषाणाश्विनध्वर्यु सादयतामिह त्वा ॥१॥

अश्विनौ देवते । त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—हे पृथिवी ! तू (ध्रुवक्षितिः) स्थिर निवास स्थान या स्थिर जनपद वाली है । तू (ध्रुवयोनिः) स्थिर गृह और स्थान वाली है । तू स्वयं भूमि और आश्रय होकर (ध्रुवा) ध्रुव, अप्रकम्प, बसने वाली प्रजा का स्थिर आश्रय है । तू (ध्रुवं योनिम्) अपने स्थिर आश्रय पर ही (साधुया) उत्तम राज्यप्रबन्ध से (आसीद) आश्रित होकर रह । तू (प्रथमं) सर्वश्रेष्ठ, सब से प्रथम (उख्यस्य) 'उखा', पृथिवी के योग्य (केतुं) ज्ञान को (जुषाणा) सेवन करने वाली हो । (अध्वर्युं) स्थिर, नित्य राष्ट्र यज्ञ के सम्पादक (अश्विना) विद्या के परं पारंगत, ज्ञानी और कर्मिष्ठ विद्वान् शासनादि के अधिकारी दोनों (त्वा) तुझको (इह) इस आश्रय पर (सादयताम्) स्थिर करें ।

स्त्री के पक्ष में—तू स्थिर निवास स्थान वाली, स्थिर आश्रय वाली होने से ध्रुवा है । तू (साधुया) उत्तम आचरण पूर्वक और स्थिर पति का आश्रय लेकर विराज । (उख्यस्य केतुम्) उखा अर्थ तू स्थाली के योग्य पाक आदि विद्या को (प्रथमं जुषाणा) अति प्रेम से करने वाली होकर रह । तुझे (अध्वर्युं अश्विनौ) अध्वर अर्थात् गृहस्थ यज्ञ या अविनाशी प्रजा तन्तु रूप यज्ञ के अभिलाषी माता पिता विद्वान् जन (इह सादयताम्) इस गृहाश्रम में स्थिर करें ॥शत० ८ । २ । १ । ४ ॥

कुलायिनी घृतवती पुरन्धिः स्योने सीद सदेने पृथिव्याः ।

१—अथ द्वितीया चितिः । सर्वा० ॥

अभि त्वा रुद्रा वसवो गृणन्तिमा ब्रह्म पीपिहि सौभाग्यं
अश्विनो ध्वर्यु सादयतामिह त्वा ॥ २ ॥

अश्विनौ देवते । ब्राह्मी बृहती । मध्यमः ॥

भा०—हे पृथिवी ! हे प्रजे ! तू (कुलायिनी) 'कुलाय' अर्थात् गृह वाली और (घृतवती) तेज और स्नेह या ऐश्वर्य से युक्त एवं (पुरंधिः) पालन-पति वा पुर को धारण करने वाली है । (पृथिव्याः) पृथिवी के (स्योने सदने) सुखकारी, ऊपर बने गृह या आश्रय पर (सीद) विराजमान हो । (त्वा) तुझे (रुद्राः) उपदेश करने हारे विद्वान् और (वसवः) वसु ब्रह्मचारी वा निवास करने हारे विद्वान् लोग (अभि गृणन्तु) नित्य उपदेश करें । (सौभाग्य) सौभाग्य को वृद्धि के लिये तू (इमा ब्रह्म) इन वेद मन्त्रों में स्थित ज्ञानों को (पीपिहि) प्राप्त कर । (अश्विना अध्वर्यु, इत्यादि) पूर्ववत् ॥ शत० ८ । २ । १ । ५ ॥

स्त्री के पक्ष में—तू गृहवाली, घृत-पुष्टि कारक अन्न और जल से पूर्ण या स्नेह से पूर्ण होकर (पुरन्धिः) 'पुर' = पालनकारी घर को धारण करने वाली स्त्री है । पृथिवी के तल पर बने सुखप्रद गृह में विराज । रुद्र वसु आदि नैष्ठिक ब्रह्मचारी लोग तुझे (ब्रह्म अभि गृणन्तु) वेदों का उपदेश करें । तू अपने सौभाग्य की वृद्धि के लिये उनको प्राप्त कर । यज्ञकर्ता विद्वान् माता पिता तुझे यहां स्थिर करें ।

अध्यात्म में - चित्ति शक्ति पुरन्धि है, वह शरीररूप गृह वाली है । शरीर में बसने वाले प्राण उसकी स्तुति करते हैं, वह अन्न को प्राप्त करे । (अध्वर्यु अश्विनौ) जीवन-यज्ञ के कर्ता प्राणापान उसे वहां स्थित रखें ।

स्वैर्दक्षैर्दक्षपितेह सीद देवानां सुम्ने बृहते रणाय ।

पितेवैधि सुनव आ सुशेवा स्वावेशा तन्वा संविशस्वा-
अश्विनो ध्वर्यु सादयतामिह त्वा ॥ ३ ॥

अश्विनौ देवते । निचृद् ब्राह्मी बृहती । मध्यमः ॥

भा०—राजा और पालक पुरुष के कर्त्तव्य । हे बलवान् पुरुष ! हे स्वामिन् ! राजन् ! तू (स्वैः दक्षैः) अपने बलों और ज्ञानों द्वारा और अपने चतुर बलवान् भृत्यों के बल से (दक्षपिता) कार्य-कुशल पुरुषों का पालक, बल और ज्ञान का पालक, पिता के समान होकर और (बृहते रणाय) बड़े भारी संग्राम के लिये (देवानां) विद्वानों और विजयी पुरुषों के बीच में (सुम्ने) सुखकारी पद पर या राष्ट्र या गृह में (सीद) विराजमान हो । (सूनवे) पुत्र के लिये (पिता इव) जिस प्रकार पिता हितकारी और उसका पालक होता है उसी प्रकार तू भी (पृथि) हो । हे पृथिवी, मातः ! तू भी पालक पिता के समान हो । (आ सुशेवा) सब प्रकार से सुखकारिणी और (सु आवेशा) उत्तम प्रकार से, सुख से प्रवेश करने योग्य, सुख से बसने योग्य हो । तू (तन्वा) अपनी विस्तृत राज्य शक्ति से (संविशस्व) बस, प्रवेश कर । (अधिना अध्वर्यूँ इत्यादि) पूर्ववत् ॥ शत० ८ । २ । १ । ६ ॥

पुरुष स्त्री के पक्ष में—हे पुरुष ! तू भृत्यों और अपने बल का पालक होकर विद्वान् पुरुषों को सुख और बड़े भारी रमण योग्य उत्तम कार्य के लिये स्थिर हो । पुत्र के लिये पिता के समान हो । हे स्त्री ! तू पति को सुखकारिणी, सुखपूर्वक गृहस्थ-सुख देने वाली, उत्तम वेश धारण करके अपने (तन्वा संविशस्व) देह से पति के साथ संगत, एक होकर रह । पृथिव्याः पुरीषमस्यप्सो नाम तां त्वा विश्वेऽग्निभिर्गृणन्तु देवाः । स्तोमं पृष्ठा घृतवतीह सीद प्रजावदस्मे द्रविणायजस्वाश्विनाध्वर्यूँ सादयतामिह त्वा ॥ ४ ॥

अश्विनौ देवते । स्वराड् ब्राह्मी बृहती । गध्यमः ॥

भा०—हे राजशक्ते ! तू (पृथिव्याः) पृथिवी का (पुरीषम्) पालक करने वाला (अप्सः नाम) उत्तम स्वरूप है । (तां त्वा) उस तेरी (विश्वे देवाः) समस्त विद्वान् और राजगण (अभि गृणन्तु) स्तुति करें । तू (स्तोम-पृष्ठा)

वीर्य, बल को अपनी 'पृष्ठ' या पालन सामर्थ्य में धारण करने वाली, (घृतवती) जल के समान तेज को धारण करने वाली होकर (सीद) विराजमान हो। और (अस्मे) हमें (प्रजावत् द्रविणा) उत्तम प्रजाओं के समान ही नाना ऐश्वर्यों को भी (आयजस्व) प्रदान कर। अथात् राष्ट्र-शक्ति, समृद्धि, ऐश्वर्य के साथ उत्तम हृष्ट पुष्ट प्रजा की भी वृद्धि कर। (अथिना अध्वर्युः इत्यादि) पूर्ववत् ॥ शत० ८।२।१७ ॥

घी के पक्ष में—तू (अप्सः नाम पृथिव्याः पुरीषम् असि) तू उत्तम रूपवती होकर निश्चय से पृथिवी के ऊपर पालक होकर या श्रीसमृद्ध होकर (असि) विद्यमान है। समस्त विद्वान् तेरी कीर्ति गावें। तू (स्तोमपृष्ठा) वीर्यवान् पुरुष को अपने आश्रय किये हुए तेजस्विनी या अन्न, घृत और घेहे से युक्त होकर विराज और हम सब को उत्तम प्रजायुक्त ऐश्वर्य प्रदान कर।

अदित्यास्त्वा पृष्ठे सादयाम्यन्तरिक्षस्य धर्त्रीं विष्टम्भनीं
दिशामधिपत्नीं भुवनानाम्। ऊर्मिर्द्रप्सोऽपामसि विश्वकर्मा
तुऽश्वषिरश्विनाध्वर्युः सादयतामिह त्वा ॥ ५ ॥

ऋष्यादि पूर्ववत्।

भा०—हे राजशक्ते ! राजपुरोहित ! (अदित्याः पृष्ठे) अखण्ड पृथिवी के पीठ पर (अन्तरिक्षस्य) प्रजा के भीतर दानशील या पूजनीय पुण्य, राजा के या भीतर अक्षय कोश या ऐश्वर्य, बल और विज्ञान की (धर्त्रीम्) धारण करने वाली और (दिशाम्) दिशाओं और उनमें निवास करने वाली प्रजाओं को (विष्टम्भनीम्) विविध उपायों से अपने वश करने वाली और (भुवनानाम् अधिपत्नीम्) लोकों को अधिष्ठाता रूप से पालन करने वाली (त्वा) तुझको (सादयामि) स्थापित करता हूँ। (अपाम्) जलों के बीच में जिस प्रकार वेग या रस विद्यमान रहता है उसी प्रकार तू भी (अपाम्) प्रजाओं के बीच (द्रप्सः) रस

रूप से सारवान् एवं वेगवान्, बलवान् या उनको हर्षदायक हो और जलों के बीच में (ऊर्मिः) ऊपर उठने वाले तरङ्ग के समान उदय को प्राप्त होने वाला है । (ते ऋषिः) तेरा द्रष्टा, अधिष्ठाता, साक्षात् करने वाला, तुझे वश करने वाला जिस प्रकार (विश्वकर्मा) समस्त शिला के उत्तम कार्यों का कर्त्ता, महाशिल्पी, 'एङ्गीनियर' हो उसी प्रकार समस्त कार्यों का कर्त्ता राजा (ते ऋषिः) तेरा सञ्चालक द्रष्टा है । (अश्विना अध्वर्यू० इत्यादि) पूर्ववत् ॥ शत० २ । २ । १ । १० ॥

छी के पक्ष में—हे छि ! तुझको पृथिवी के ऊपर स्थापित करता हूँ । तू (अन्तरिक्षस्य) भीतर उपास्य, पतिदेव या अक्षय उत्साह के धरते वाली, सब दिशाओं को थामने वाली और उत्पन्न पुत्रों की पालक है । तू जलोंके तरंग के समान हर्षकारिणी है । तेरा द्रष्टा पति ही तेरा 'विश्वकर्मा', सर्व शुभ कर्मों का करने वाला कर्त्ता-धर्त्ता है । जगत्पालक परमेश्वरी शक्ति के पक्ष में भी मन्त्र स्पष्ट है ।

शुक्रश्च शुचिश्च ग्रैष्मावृतू ऽअग्नेरन्तःश्लेषोऽसि कल्पेताम्
द्यावापृथिवी कल्पन्तामाप ऽअघ्नोपघ्नयः कल्पन्तामग्नयः पृथक्
मम ज्यैष्ठ्याय सव्रताः । ये ऽअग्नयः समनसोऽन्तरा द्यावा-
पृथिवी ऽहमे ग्रैष्मावृतू ऽअभिकल्पमाना ऽ इन्द्रमिव देवा
ऽअभिसंविशन्तु तया देवतयाङ्गिरस्वद् ध्रुवे सीदतम् ॥ ६ ॥

ग्रीष्म ऋतुदेवता । निचृद् उत्कृतिः । षड्भुजः ॥

भा०—(शुक्रः च शुचिः च) शुक्र और शुचि ये दोनों (ग्रीष्मो ऋतु) ग्रीष्म काल के अंगस्वरूप दो मास हैं । (अग्नेः अन्तः श्लेषः असि०) इत्यादि व्याख्या देखो अ० १३ । म० २५ ॥ शत० ८ । २ । १ । ७६ ॥

१ सजूर्ऋतुभिः सजूर्विधाभिः सजूर्देवैः सजूर्देवैर्वैयोनाघै
रग्नये त्वा वैश्वानरायाश्विनाध्वर्यू सादयतामिह त्वा । सजूर्
ऋतुभिः सजूर्विधाभिः सजूर्वसुभिः सजूर्देवैर्वैयोनाघैरग्नये त्वा

वैश्वानरायाश्विनाध्वर्यु सादयतामिह त्वा^१ सज्जृत्तुभिः सज्ज-
 विधाभिः सज्ज रुद्रैः सज्जदेवैर्वयोनाधैरग्नये त्वा वैश्वानरायाश्वि-
 नाध्वर्यु सादयतामिह त्वा^२ सज्जृत्तुभिः सज्जविधाभिः सज्जरा-
 दित्यैः सज्जदेवैर्वयोनाधैरग्नये त्वा वैश्वानरायाश्विनाध्वर्यु साद-
 यतामिह त्वा सज्जृत्तुभिः सज्जविधाभिः सज्जविश्वेदेवैः सज्ज-
 देवैर्वयोनाधैरग्नये त्वा वैश्वानरायाश्विनाध्वर्यु सादयतामिह
 त्वा ॥ ७ ॥

विश्वेदेवा ऋषयः । मन्त्रोक्ता वस्वादयो विश्वेदेवा देवताः । (१) सूरि-
 प्रकृतिः । धैवतः ॥ (२) स्वराट् पंक्तिः । (३) निचृदाकृतिः । पञ्चमः ॥

भा०—हे राजन् ! तू (ऋतुभिः :) संवत्सर के घटक ऋतुओं
 के समान राष्ट्र के घटक या राजसभा के बनाने वाले सदस्यों, राज्य-कर्त्ता
 नेताओं के साथ (सज्जः) समान रूप से प्रीतिपूर्वक हो । (विधाभिः)
 जल जिस प्रकार प्राणों और जीवित शरीर के निर्माता एवं प्राणप्रद हैं
 वही प्रकार तू राष्ट्र शरीर के विधाता आस पुरुषों के साथ (सज्जः) समान
 रूप से प्रीति युक्त हो कर रह (देवैः सज्जः) दानशील और विजीगीषु, वीर
 पुरुषों से प्रेमयुक्त हो । और (वयोनाधैः) जीवन को देह के साध बांधने वाले
 प्राणों के समान राष्ट्र में जीवन, जागृति एवं विज्ञानों द्वारा सब को जीवन-
 प्रद और अन्न-आजीविका द्वारा व्यवस्थाओं में बांधने वाले (देवैः) विद्वानों
 के साथ (सज्जः) प्रीतियुक्त बर्ताव करने वाला हो । इसी प्रकार (वसुभिः
 सज्जः, रुद्रैः सज्जः, आदित्यैः सज्जः, विश्वैः देवैः सज्जः) तू वसु, रुद्र, आदित्य
 और विश्वेदेव इन सब विद्वान्, शत्रुतापक, प्रजा के पालक, व्यवस्थापक,
 आदान-प्रतिग्रह करनेवाले ज्ञानी, तेजस्वी पुरुषों के साथ प्रेम युक्त होकर
 रह । (अश्विनौ) विद्याओं में व्यापक (अध्वर्यु) राष्ट्र यज्ञ के सम्पादक
 विद्वान् (त्वा) तुझको (इह) इस राष्ट्राधिकार के पद पर (सादयताम्)
 स्थापित करें ।

स्त्री और पुरुष के पक्ष में—हे स्त्री और हे पुरुष ! तुम ऋतुओं, प्राणों, विद्वानों, और जीवनोपयोगी पदार्थों से युक्त हो । (अग्निना अध्वर्यू) प्रजा तन्तु के इच्छुक माता पिता दोनों तुझको (वैश्वानराय अग्नये) सर्वहितकारी अग्नि, अग्रणी नेता पद के लिये (इह त्वा सादताम्) इस सद्गृहस्थ में स्थापित करें । इसी प्रकार तू वसु, रुद्र और आदित्य नामक विद्वान् जितेन्द्रिय पुरुषों के साथ (सजूः) प्रेमपूर्वक सत्संग लाभ कर ॥ शत० ८।२।२।८-९ ॥

प्राणं मे पाह्यपानं मे पाहि व्यानं मे पाहि चक्षुर्म उर्व्या विभाहि श्रोत्रं मे श्लोकय । अपः पिन्वोषधीर्जिन्व द्विपाद्व चतुष्पात् पाहि दिवो वृष्टिमेरय ॥ ८ ॥

पूर्वार्धस्य प्राणाः उत्तरार्धस्य च आपो देवताः । दम्पतीदेवते । भुरिगति जगती । निषादाः ।

भा०—हे प्रभो ! (मे प्राणं पाहि) मुझ प्रजागण के प्राण को रक्षा कर । (मे अपानं पाहि) मेरे अपान की रक्षा कर । (मे व्यानं पाहि) मेरे शरीर के विविध संधियों में चलने वाले व्यान की रक्षा कर । (मे चक्षुः) मेरे चक्षु को (उर्व्या) विशाल, विस्तृत दर्शन शक्ति से (विभाहि) प्रकाशित कर । (मे श्रोत्रम्) मेरे श्रोत्र को (श्लोकय) श्रवण समर्थ कर । (अपः पिन्व) जलों के समान प्राणों को सेचन कर, उनको पुष्ट कर । (ओषधीः) ओषधियों को (जिन्व) पुष्ट कर, (द्विपात्) दो पांव के मनुष्यों की रक्षा कर । (चतुष्पात् पाहि) चौपायों की रक्षा कर । (दिवः) द्यौलोक से (वृष्टिम् ईरय) वृष्टि को प्रेरित कर, अथवा जैसे आकाश से वृष्टि होती है उसी प्रकार तेरी तरफ से मेरे प्रति सुखों की वर्षा हो ।

स्त्री के पक्ष में—हे पते ! तू (उर्व्या) विशाल शक्ति से मेरे प्राण, अपान और व्यान की रक्षा कर । चक्षु को प्रकाशित कर । श्रोत्र को उत्तम शास्त्र-श्रवण से युक्त कर । प्राणों को पुष्ट कर । ओषधियों को प्राप्त कर । मृत्यु

और चौपायों की रक्षा कर । सूर्य जैसे पृथ्वी पर वर्षा करता है ऐसे तू मुझ अपनी भूमि रूप स्त्री पर सन्तानादि के निमित्त वीर्यादि का प्रदान कर ॥

शत० ८ । १ । ३ । ३ ॥

'मूर्धा वयः प्रजापतिश्छन्दः क्षत्रं वयो मयन्दं छन्दो विष्टम्भो वयोऽधिपतिश्छन्दो विश्वकर्मा वयः परमेष्ठी छन्दो वस्तो वयो विवलं छन्दो वृष्णिर्वयो विशालं छन्दः १ पुरुषो वयस्तन्द्रं छन्दो व्याघ्रो वयोऽनाभृष्टं छन्दः सिं० हो वयश्छदिछन्दः पृष्ट्वाड्वयो वृहती छन्दः २ उक्षा वयः ककुप् छन्दः ३ ऋषभो वयः सतोवृहती छन्दः ॥ ६ ॥

४ अतुड्वान्वयः पङ्क्तिश्छन्दो धेनुर्वयो जगती छन्दः स्यविर्वयस्त्रिष्टुप् छन्दो दित्यवाड्वयो विराट् छन्दः पञ्चाविर्वयो गायत्री छन्दः त्रिवत्सो वयः उष्णिक् छन्दः स्तुर्यवाड्वयोऽनुष्टुप् छन्दः ॥ १० ॥

प्रजापत्यादयो देवताः (१) निचृद् ब्राह्मी पांक्तिः । (२) स्वराड् ब्राह्मी पांक्तिः । पञ्चमः ॥ (३) विद्वांसो देवताः । निचृदष्टिर्मध्यमः ॥

भा०—१. (मूर्धा) 'मूर्धा', शिर (वयः) वल, पद या स्थिति है तो (प्रजापतिः छन्दः) 'प्रजापति' उसका 'छन्द' अर्थात् स्वरूप है । अर्थात् शिर जिस प्रकार शरीर में सब के ऊपर विराजमान है उसी प्रकार समाज में जो सब से ऊंचे पद पर स्थित हो उसका कर्तव्य प्रजापति का है । वह प्रजापति के समान समस्त प्रजाओं का पालन करे ।

२. (क्षत्रं वयः मयन्दं छन्दः) 'क्षत्र' वय है और 'मयन्द' छन्द है । अर्थात् जो 'क्षत्र' या वीर्यवान् पद पर स्थित है उसका कर्तव्य प्रजा को सुखप्रदान करना है ।

३. (विष्टम्भः वयः अधिपतिः छन्दः) 'विष्टम्भ' वय है और 'अधिपति'

६—'वस्तो वयो विवलं छन्दः' इति दयानन्दसम्मतः पाठः ।

छन्द है। अर्थात् जो विविध प्रजाओं को विविध प्रकारों और उपायों से स्तम्भन कर सके, पाल सके वह वैश्य या जो शत्रुओं को विविध दिशाओं से थाम या रोकने में समर्थ हो उसका कर्तव्य 'अधिपति' होने का है। वह सबका अधिपति हो कर रहे।

४. (विश्वकर्मा वयः परमेष्ठी छन्दः) 'विश्वकर्मा' वय है और 'परमेष्ठी' छन्द है। अर्थात् जो पुरुष 'विश्वकर्मा' राज्य के समस्त उत्तम कार्यों का प्रवर्तक, श्रम विभाग के मुख्य पदपर स्थित है वह 'परमेष्ठी' नामक परम उच्च स्वामी पद पर स्थित होने योग्य है।

५. (वस्तः वयः विबलं छन्दः) वस्त 'वयः' है और 'विबल' छन्द है। अर्थात् सबको आच्छादित करने वाले पदाधिकारी का कर्तव्य है कि वह विविध प्रकार के बल वा शरीर-गोपन के पदार्थों को प्राप्त करे।

६. (वृष्णिः वयः विशालं छन्दः) वृष्णि 'वय' है और 'विशाल' छन्द है। अर्थात् जो पुरुष बलवान् सब सुखों को प्रदान करने में समर्थ हैं उसका कर्तव्य है कि वह विविध ऐश्वर्यों से शोभायमान हो। और अन्यो को भी विविध ऐश्वर्य प्रदान करे।

७. (पुरुषः वयः तन्द्रं छन्दः) 'पुरुष' वय है 'तन्द्र' छन्द है। अर्थात् जिसमें समर्थ पुरुष होने का सामार्थ्य है उसका 'तन्द्र' अर्थात् तन्त्र, कुटुम्ब को धारण पोषण करना ही कर्तव्य है।

८. (व्याघ्रं वयः अनाष्ट्रं छन्दः) 'व्याघ्र' वय है और 'अनाष्ट्र' छन्द है। जो पुरुष व्याघ्र के समान शूरवीर है उसका कर्तव्य है कि वह शत्रु से कभी पराजित न हो।

९. (सिंहः वयः छदिः छन्दः) 'सिंह' वय है और 'छदि' छन्द है। अर्थात् सिंह के समान बड़े १ बलवान् शत्रुओं को भी जो हनन करने में समर्थ है वह प्रजा पर 'छदि' अर्थात् गृह के छत के समान सब को आश्रय देने वाला होकर अपनी छत्रच्छाया में रखे।

१०. (पृथ्वाङ् वयः बृहती छन्दः) 'पृथ्वाङ्' वय है और 'बृहती' छन्द है। अर्थात् जो पीठ से बोझा लादने वाले पशु के समान राष्ट्र के कार्य-भर को स्वयं वहन करने में समर्थ है वह 'बृहती' पृथ्वी के समान बड़े कार्य भर को अपने ऊपर ले।

११. (उक्षा वयः ककुप् छन्दः) 'उक्षा' वय है और 'ककुप्' छन्द है। वीर्य सेचन में समर्थ वृषभ के समान वीर्यवान् पुरुष का कर्त्तव्य 'ककुप्' अर्थात् अपने अधीन प्रजाओं को आच्छादन करना और सब से अपने सरल सत्य व्यवहार से वर्त्तना है।

१२. (ऋषभः वयः सतोबृहती छन्दः) 'ऋषभ' वयः है और 'सतो-बृहती' छन्द है। अर्थात् जो सर्वश्रेष्ठ ज्ञान-मान से प्रकाशित है उसका कर्त्तव्य 'सतः बृहती' अर्थात् प्राप्त हुए बड़े १ कार्यों का उठाना है।

भा०—१३. (अनड्वान् वयः पंक्तिः छन्दः) 'अनड्वान्' वयः है और 'पंक्ति' छन्द है। अर्थात् शकट वहन करने में समर्थ बैल के समान बलवान् पुरुष अपने वीर्य को परिपक्व रखे और गृहस्थ के भार को उठावे।

१४. (धेनुर्वयः जगती छन्दः) 'धेनु' वय है 'जगती' छन्द है। अर्थात् जो जीव दुधार गौ के समान दूसरों का पालन व पोषण करने में समर्थ हैं वे जगत् को पालन कर सकते हैं।

१५. (त्र्यविः वयः त्रिष्टुप् छन्दः) 'त्र्यवि' वय है और त्रिष्टुप् छन्द है। अर्थात् तीनों वेदों की रक्षा करने में समर्थ पुरुष कर्म, उपासना और ज्ञान तीनों से स्तुति करे।

१६. (दित्यवाङ् वयः विराट् छन्दः) 'दित्यवाङ्' वय है और 'विराट्' छन्द है। आदित्य के समान तेज को धारण करने वाला पुरुष विविध ऐश्वर्यों और ज्ञानों से स्वयं प्रकाशित हो और अन्यो को प्रकाशित करे।

१७. (पञ्चाविर्वयः गायत्री छन्दः) 'पञ्चावि' वय है, 'गायत्री' छन्द है। अर्थात् जो पुरुष पाँचों प्राण, पाँचों इन्द्रियों पर वश करने में समर्थ है

वह पुरुष अपने प्राणों की रक्षा करने में सफल हो ।

१८. (त्रिवत्सः वयः उष्णिक् छन्दः) 'त्रिवत्स' वय है और 'उष्णिक्' छन्द है । अर्थात् कर्म, उपासना और ज्ञान में, या वेदत्रयी में ही निवास करने वाला अथवा तृतीयाश्रमी पुरुष अपने समस्त पापों का दाह करने में सफल हो ।

१९. (तुर्यवाट् वयः अनुष्टुप् छन्दः) 'तुर्यवाट्' वय और 'अनुष्टुप्' छन्द है । अर्थात् तुर्य अर्थात् तुरीय, चतुर्थ आश्रमवासी पुरुष होकर पुरुष (अनुष्टुप्) निरन्तर परमेश्वर की स्तुति करे ।

(लोकं, ता०, इन्द्रम्) ये १२ वें अध्याय के ५४, ५५, ५६ इन तीन मन्त्रों की प्रतीक हैं ।

प्रकारान्तर से प्रजापति, मयन्द, अधिपति, परमेष्ठी, विबल, विशाल, तन्द्र, अनाधृष्ट, छदि, बृहती, ककुप्, सतोबृहती, पंक्ति, जगंती, त्रिष्टुप्, विराट्, गायत्री, उष्णिक्, अनुष्टुप् ये १९ छन्द हैं ये भी प्रजापति के ही १९ स्वरूप हैं । और मूर्धा, क्षत्र, विष्टम्भ, विश्वकर्मा ये चार वर्णभेद से प्रजापति के नाम हैं । वस्त, वृष्णि, सिंह और व्याघ्र ये चार पशु नाम हैं । पुरुष पांचवां । पष्ठवाट्, उक्षा, ऋषभ, अनड्वान् ये ४ पुमाव गौ के स्वरूप हैं । धेनु, मातृ गौ का रूप है । त्र्यवि, दित्यवाट्, पञ्चावि, त्रिवत्स, तुर्यवाट् ये अवस्था भेद से बछड़े के नाम हैं । परन्तु श्लेष से मनुष्यों की ये 'छन्दः' अर्थात् प्रवृत्ति और प्रगति भेद से १६ प्रकार किये हैं जिनको १६ पदों या अवस्थाओं में १९ प्रकार के मानवगण करते हैं यह वेद ने बतलाया । दूसरे प्रजापति आदि १९ छन्दों के मूर्धा आदि १९ नाम या स्वरूप भी समझने चाहियें । १६ प्रकार के 'वयस्' और १६ प्रकार के 'छन्द' दोनों ही प्रजापति के स्वरूप हैं । एक एक छन्द से क्रम से प्रजापति अर्थात् प्रजा के पालन करने वाला पुरुष एक १ 'वयस्' अर्थात् विशेष २ पद, बल वा अधिकार प्राप्त करता है अर्थात् विशेष १

पद को प्राप्त कर पुरुष विशेष १ कर्म करें ॥ शत० ८। २। ३। १०-१४ ॥

इन्द्राग्नी ऽअव्यथमानामिष्टकां दृष्टुं हतं युवम् ।

पृष्ठेन द्यावापृथिवी ऽअन्तरिक्षं च विवाधसे ॥ ११ ॥

विश्वकर्मा ऋषिः । इन्द्राग्नी देवता । भुरिगनुष्टुप् । गाधारः ॥

भा०—हे (इन्द्राग्नी) इन्द्र और अग्नि, सेनापति और राजा या राजा और पुरोहित ! (युवम्) तुम दोनों (अव्यथमानाम्) पीड़ा को प्राप्त न होती हुई (इष्टकाम्) ऐश्वर्यों को प्रदान करने वाली प्रजा को (दृष्टुं हतम्) दृढ़ करो । हे प्रजे ! तू (पृष्ठेन) अपनी पृष्ठ से (द्यावापृथिवी) द्यौ, पृथिवी और (अन्तरिक्षं च) अन्तरिक्ष तीनों लोकों को, (विवाधसे) प्राप्त होती है । सब स्थानों के भोग्य पदार्थों को प्राप्त होती है ॥ शत ८। ३। १। ८ ॥

अथवा—हे इन्द्र और अग्नि के समान तेजस्वी स्त्री पुरुषो ! तुम दोनों अपीडित, इष्ट बुद्धि को प्राप्त होकर गृहस्थाश्रम को दृढ़ करो । वह गृहस्थाश्रम के आकाश, पृथिवी, और अन्तरिक्ष, माता पिता और पति तीनों की सेवा करती है ।

विश्वकर्मा त्वा सादयत्वन्तरिक्षस्य पृष्ठे व्यचस्वतीं प्रथस्वतीमन्तरिक्षं यच्छान्तरिक्षं दृष्टुं हान्तरिक्षं मा हिंसीः । विश्वस्मै प्राणायपानाय व्यानायोदानाय प्रतिष्ठायै च रित्राय वायुष्ट्वाभितु मन्त्रा स्वस्त्या छुर्दिषा शन्तमेन तथा देवतयाङ्गिरस्वद् ध्रुवा सीद ॥ १२ ॥

विश्वकर्मा ऋषिः । वायुदेवता । भुरिग् विकृतिः । मध्यमः ॥

भा०—हे राजशक्ते ! (व्यचस्वतीम्) विविध रूपों से विस्तृत और (प्रथस्वतीम्) विस्तृत ऐश्वर्य वाली (त्वा) तुझको (विश्वकर्मा) समस्त उत्तम कार्यों के करने हारा पुरुष राजा (अन्तरिक्षस्य पृष्ठे) अन्तरिक्ष के समान

११—१ बाधु विलोडने भ्वादिः । अथ तृतीया चितिः ।

सब के बीच पूजनीय पुरुष के पृष्ठ पर अर्थात् उसके बल या आश्रय पर स्थापित करे । तू स्वयं (अन्तरिक्षम्) अपने भीतर विद्यमान पूज्य पुरुष या अन्तरिक्ष के समान प्रजा के रक्षक राजा को (यच्छ) धूल प्रदान कर । (अन्तरिक्षं दृंह) उसी 'अन्तरिक्ष' नाम राजा को दृढ़कर, बढ़ा । (अन्तरिक्षं) उस अन्तरिक्ष पदपर विद्यमान सर्वरक्षक राजा को (मा हिंसीः) मत विनाश कर । (विश्वस्मै) सब के (प्राणाय) प्राण, (अपानाय) अपान, (व्यानाय) व्यान, (उदानाय) उदान (प्रतिष्ठात्रे) प्रतिष्ठा और (चरित्राय) उत्तम चरित्र या आश्रय की रक्षा के लिये (वायुः) वीर्यवान्, वायु के समान बलशाली पुरुष (मद्वा स्वस्त्या) बड़े भारी कल्याणकारी सम्पत्ति या शक्ति से (शंतमेन) अति शान्तिदायक (छर्दिषा) तेज और पराक्रम से (त्वा अभि पातु) तेरी रक्षा करे । (तथा देवतया) उस देवस्वरूप पुरुष के साथ तू (अङ्गिरस्वत्) अग्नि के समान तेजस्विनी होकर (ध्रुवा सीद) स्थिर होकर रह । शत० ८ । ३ । १ । ९-१० ॥

स्त्री के पक्ष में—हे स्त्री (विश्वकर्मा) तेरा पति (व्यचस्वर्ती प्रथस्वर्ती) विविध गुणों से प्रकाशित और प्रसिद्ध कीर्ति वाली तुझको अन्तरिक्ष के पृष्ठ अर्थात् हृदय में स्थापित करे । तू उसको अपने आप को सौंप, उसको बढ़ा और उसको पीड़ा मत दे । सबके प्राण, अपान, व्यान, उदान और सच्चरित्र की रक्षा के लिये वायु के समान प्राणेश्वर पति तेरी रक्षा करे । तू उस हृदय-देवता से तेजस्विनी होकर रह ॥

रा॒ज्ञ्या॑सि प्रा॒ची दि॒ग्विरा॑ड॒सि दक्षि॑णा दिक् स॒म्राड॑सि प्रती॒ची दिक् स्व॑राड॒स्युदी॑ची दि॒गाधि॑प॒तन्य॑सि बृ॒हती दिक् ॥ १३ ॥

विश्वेदेवा ऋषयः । दिशो देवताः । विराट् पंक्तिः । पंचमः ॥

भा०—(प्राची दिग्) प्राची पूर्वदिशा जिस प्रकार सूर्य के प्रकाश से देदीप्यमान होती है उसी प्रकार हे राजशक्ते ! तू (राज्ञी असि) अपने तेज से प्रकाशमान राजा की शक्ति है । तू (दक्षिणा दिक्) दक्षिण दिशा से

जिस प्रकार सूर्य के विशेष प्रखर ताप और तीव्र प्रकाश से विशेष तेजस्विनी होती है उसी प्रकार तू भी (विराट् असि) राजा के विशेष तेज से प्रकाशमान हो । (प्रतीची दिक् सम्राट् असि) पूर्व से पश्चिम को जाने वाले सूर्य से जिस प्रकार उत्तरोत्तर पश्चिम दिशा प्रकाशमान होती जाती है उसी प्रकार तू भी 'सम्राट्' सब प्रकार के ऐश्वर्यों से उत्तरोत्तर तेजस्विनी हो । (उदीची दिक् स्वराट् असि) उत्तर दिशा जिस प्रकार ध्रुवीय प्रकाश से या उत्तरायण गत सूर्य से स्वतः प्रकाशमान होती है उसी प्रकार तू राजशक्ति भी स्वराट् अर्थात् स्वयं अपने स्वरूप से तेजस्विनी हो । (बृहती दिक् अधिपत्नी असि) बृहती दिशा ऊपर की जिस प्रकार मध्याह्न काल के सूर्य से प्रकाशित और सब पर विराजमान हो उसी प्रकार राजशक्ति सब पर अधिकार करके सबकी पालन करने वाली हो शत० ८ । ३ । १ । १४ ॥

स्त्री के पक्ष में—स्त्री भी विविध गुणों से विराट्, सुख में विद्यमान होने से सम्राट्, स्वयं तेजस्विनी होने से स्वराट्, गृहपत्नी होने से अधिपत्नी और रानी हो । ये पांच पदवी पांच दिशाओं के समान तुझे प्राप्त हों ।

विश्वकर्मा त्वा सादयत्वन्तरिक्षस्य पृष्ठे ज्योतिष्मतीम् ।
विश्वस्मै प्राणायानाय व्यानाय विश्वं ज्योतिर्यच्छ । वायुष्टेऽधिपतिस्तया देवतयाङ्गिरस्वद् ध्रुवा सीद ॥ १४ ॥

विश्वेदेवा ऋषयः । वायुदेवता । स्वराट् ब्राह्मी बृहती । मध्यमः ॥

भा०—(विश्वकर्मा) प्रजापालक राजा (अन्तरिक्षस्य पृष्ठे) समस्त प्रजा के पूज्य पुरुष के आधार पर (ज्योतिष्मतीम् त्वा) ज्योतिः अर्थात् सूर्य के समान तेजस्वी पुरुषों से युक्त तुझको (सादयतु) स्थापित करे । तू (विश्वस्मै) सबको (प्राणाय अपानाय व्यानाय) शरीर में प्राण, अग्न और व्यान के समान राष्ट्र के सब प्रकार के बल सम्पादन के लिये (ज्योतिः यच्छ) ज्योति को प्रदान कर । (वायुः तं अधिपतिः) शरीर

में जिस प्रकार प्राण समस्त शरीर की चेतना का स्वामी है उसी प्रकार वायु के शत्रु रूप वृक्षों को उखाड़ फेंकने में समर्थ, बलवान् पुरुष तुक्ष राजशक्ति का (अधिपतिः) अधिपति है । तू (तथा देवतया) इस देवस्वरूप अधिपति के साथ (अंगिरस्वत्) तेजस्विनी होकर (ध्रुवा सीद) ध्रुव स्थिर होकर रह । शत० ८ । ३ । १ । ३ । ४ ॥

स्त्री के पक्ष में—विश्वकर्मा तेरा पति, जलों के ऊपर सूर्य प्रभा के समान तुक्ष को अपने हृदय में प्राणादि की उन्नति के लिये स्थापित करता है । तू सब को ज्योति प्रदान कर । प्राण के समान प्रिय पति तेरा अधिपति है । तू उसके संग स्थिर होकर रह ।

नभश्च नभस्यश्च वार्षिकावृतू ऽअग्नेरन्तःश्लेषोऽसि कल्पेतां
द्यावापृथिवी कल्पन्तामाप ऽओषधयः । कल्पन्तामग्नयः पृथङ् मम
ज्यैष्ठ्याय सव्रताः । ये ऽअग्नयः समनसोऽन्तरा द्यावापृथिवी
ऽहमे वार्षिकावृतू ऽअभिकल्पमाना ऽइन्द्रमिव देवा ऽअभिसं-
विशन्तु तथा देवतयाङ्गिरस्वद् ध्रुवे सीदतम् ॥ १५ ॥

इषश्चोर्जश्च शारदावृतू ऽअग्नेरन्तः श्लेषोऽसि कल्पेतां द्यावा-
पृथिवी कल्पन्तामाप ऽओषधयः कल्पन्तामग्नयः पृथङ् मम
ज्यैष्ठ्याय सव्रताः । ये ऽअग्नयः समनसोऽन्तरा द्यावापृथिवी
ऽहमे शारदावृतू ऽअभिकल्पमाना ऽइन्द्रमिव देवा ऽअभिसं-
विशन्तु तथा देवतयाङ्गिरस्वद् ध्रुवे सीदतम् ॥ १६ ॥

विश्वदेवाः ऋषयः । ऋतवो देवताः । १५ स्वराड् उत्कृतिः । १६ भुरिगुत्कृतिः । षड्जः ॥

भा०—(नभः नभस्यः च) नभस् और नभस्य ये दोनों (वार्षिकौ ऋतू) वर्षा ऋतु के दो भाग हैं । (अग्नेः० सीदतम्) इत्यादि अ० १२ । २५ ॥

भा०—(इषः च ऊर्जः च शारदौ ऋतू) इष् और ऊर्ज ये दोनों शरद् ऋतु के दो भाग हैं । (अग्नेः० सीदतम् इत्यादि) देखो अ० १२ । २५ ॥
शत० ८ । ३ । १ । ५—१३ ॥

मं० १७, १८, १९]

चतुर्दशोऽध्यायः

५८६

आयुर्मे पाहि प्राणं मे पाह्यपानं मे पाहि व्यानं मे पाहि चक्षुर्मे
पाहि श्रोत्रं मे पाहि वाचं मे पिन्व मनो मे जिन्वात्मानं मे पाहि
ज्योतिर्मे यच्छ ॥ १७ ॥

भा०—हे परमेश्वर ! प्रभो ! हे स्वामिन् ! (मे आयुः पाहि) मेरी
आयु की रक्षा कर । (मे प्राणं पाहि) मेरे प्राण का पालन कर । (मे
अपानं पाहि) मेरे अपान की रक्षा कर । (मे व्यानं पाहि) मेरे व्यान की
रक्षा कर । (मे चक्षुः पाहि) मेरी आंखों का पालन कर । (मे श्रोत्रं पाहि)
मेरे कानों का पालन कर । (मे वाचं पिन्व) मेरी वाणी को तृप्त कर ।
(मे मनः जिन्व) मेरे मन को प्रसन्न कर । (मे आत्मानं पाहि) मेरे
आत्मा या देह की रक्षा कर । (मे) मुझे (ज्योतिः) ज्ञान ज्योति
(यच्छ) प्रदान कर ॥ शत० ८ । ३ । २ । १४ : १५ ॥

मा च्छन्दः प्रमा च्छन्दः प्रतिमा च्छन्दोऽअस्त्रीवयश्छन्दः
पङ्क्तिश्छन्दः उउष्णिक् छन्दो बृहती छन्दोऽनुष्टुप् छन्दो
विराट् छन्दो गायत्री छन्दस्त्रिष्टुप् छन्दो जगती छन्दः ॥ १८ ॥
पृथिवी छन्दोऽन्तरिक्षञ्छन्दो द्यौश्छन्दः समाश्छन्दो नक्ष-
त्राणि छन्दो वाक् छन्दो मनश्छन्दः । कृषिश्छन्दो हिरण्यं छन्दो
गौश्छन्दोऽजा छन्दोऽश्वश्छन्दः ॥ १९ ॥

छन्दांस देवताः १८ । भुरिति जगती १९-आर्जि अति जगती । निषादः ।

भा०—(मा) ज्ञान कराने वाली, यथार्थ प्रज्ञा, (प्रमा) उत्कृष्ट
ज्ञान कराने वाली प्रमाणवती बुद्धि, (प्रतिमा) प्रत्येक पदार्थ का ज्ञान
करने वाली बुद्धि, (अस्त्रीवयः) कामना योग्य अन्न, (पङ्क्ति) पञ्च अव-
यवों से युक्त योग अथवा परिपक्व शक्ति, (उष्णिक्) उत्तम (बृहती)
बड़ी शक्ति या प्रकृति, (अनुष्टुप्) अनुकूल स्तुति, (विराट्) विविध पदार्थ
विज्ञान, (गायत्री) स्तुतिकर्ता ज्ञानी को रक्षा करने वाली शक्ति, (त्रिष्टुप्)
त्रिविध सुखों का वर्णन करने वाली विद्या, (जगती) सब जगत् व्यापिनी

शक्ति में सभी (छन्दः) सुख देने वाले साधन और बल के स्थान हैं ।

इसी प्रकार—(पृथिवी) पृथिवी और (द्यौः) द्यौ, आकाश(समाः) वर्ष, (नणत्राणि) नक्षत्र, (वाक्) वाणी, (मनः) मन, (कृषिः) कृषि (हिरण्यम्) सुवर्ण, (गौः) गौ आदि पशु, (अजा) अजा आदि पशु, (अश्वः) अश्व आदि एक खुर के पशु ये सब भी (छन्दः) शक्ति के स्थान, और कार्यों के साधन करने में सहायक, अथवा मानव प्रजा को अपने भीतर आच्छादित या सुरक्षित रखते हैं । शत० २ । ३ । ३ । १-१२ ॥

अग्निर्देवता वातो देवता सूर्यो देवता चन्द्रमा देवता वसवो देवता रुद्रा देवतादित्या देवता मरुतो देवता विश्वे देवा देवता बृहस्पतिर्देवतेन्द्रो देवता वरुणो देवता ॥ २० ॥

विश्वेदेवा ऋषयः । अग्न्यादयो देवताः । भुरिग् ब्राह्मी त्रिष्टुप् । धैवतः ।

भा०—(अग्निः) अग्नि, (वातः) वात, (सूर्यः) सूर्य, (चन्द्रमा) चन्द्रमा, (वसवः) आठ वसु, (रुद्राः) ११ रुद्र, ११ प्राण, (आदित्याः) ११ आदित्य, ११ मास, (मरुतः) मरुत् गण, विद्वान्गण (विश्वेदेवाः) विश्वेदेव गण समस्त दिव्य पदार्थ, (बृहस्पतिः) बृहस्पति, ब्रह्माण्ड और वेद वाणी का पालक (इन्द्रः) इन्द्र, ईश्वर और (वरुणः) वरुण ये सब (देवता) देवता अर्थात् दिव्य शक्तियां हैं, राष्ट्र में ये ही सब अधिकारी लोग देवता अर्थात् राजशक्ति के अंश हैं । ब्रह्माण्ड में ये ही परमेश्वरी शक्ति के स्वरूप हैं ॥ शत० ८ । ३ । ३ । १-१२ ॥

मूर्धासि राड्ध्रुवासि धरुणा धृत्र्यसि धरणी ।

आयुषे त्वा वर्चसे त्वा कृष्यै त्वा क्षेमाय त्वा ॥ २१ ॥

विश्वे देवा ऋषयः । विदुषी देवता । निचृद् अनुष्टुप् । ऋषभः ॥

भा०—हे राजशक्ते ! तू (मूर्धा राड् असि) द्यौ या सूर्य के समान सब से उच्च शिरोभाग पर स्थित है । तू 'राड्' अर्थात् सूर्य के समान ही तेजस्विनी है । (ध्रुवा धरुणा असि) ध्रुवा दिशा में पृथिवी जिस प्रकार सब का

आश्रय है उसी प्रकार तू स्थिर होकर राष्ट्र को धारण करने वाली है ।
 (धर्त्री धरणी असि) तू समस्त प्रजा को धारण करने वाली और, धरणी,
 भूमि के समान सबका आधार है । इसी प्रकार घर में स्त्री सब के ऊपर
 सूर्यप्रभा के समान गुणों से प्रकाशित, आश्रयस्तम्भ के समान स्थिर और
 पृथ्वी के समान सब गृहस्थ का धारण करने वाली है, मैं (आयुषे)
 आयु, जीवनवृद्धि के लिये (वर्चसे) तेज की वृद्धि के लिये । (कृष्यै)
 खेती, अन्न आदि की उत्पत्ति के लिये और (क्षेत्राय) प्रजा की
 वृद्धि के लिये (त्वा ४) तुझ को ही स्वीकार करता हूँ ॥ शत० ८ ।
 ३ । ४ । १-८ ॥

यन्त्री राष्ट्रं यन्त्र्यसि यमनी ध्रुवासि धरित्री ।

इषे त्वोर्जे त्वा रय्यै त्वा पोषाय त्वा ॥ २२ ॥

विश्वे देवा ऋषयः । विदुषी देवता । निचृदुष्णिक् । ऋषभः ॥

भा०—हे राज्यशक्ते ! तू (यन्त्री) समस्त राष्ट्र को नियम में रखने
 वाली, (राष्ट्र) राजवैभव से प्रकाशमान होने से, तू (यन्त्री असि) यन्त्री,
 नियमकारिणी शक्ति कहाती है । तू (यमनी) नियम-व्यवस्था करने
 वाली और (धरित्री) प्रजा को धारण करने वाली पृथ्वी के समान (ध्रुवा
 असि) ध्रुव, स्थिर है । (त्वा) तुझ राज-शक्ति को पृथ्वी के समान जान
 कर मैं (इषे) अन्न-सम्पदा की वृद्धि के लिये, (ऊर्जे) पराक्रम के लिये,
 (रय्यै) प्राणशक्ति या ऐश्वर्य की वृद्धि के लिये और (पोषाय) पशु
 आदि समृद्धि के लिये या शरीरों की पुष्टि के लिये स्वीकार करता हूँ
 शत० ८ । १ । ४ । १० ॥

आशुस्त्रिवृद्धान्तः पञ्चदशो व्योमा सप्तदशो ध्रुवा एक-
 विंशः प्रतूर्त्तिरष्टादशस्तपो नवदशोऽभीवर्त्तः सविंशो वर्चो
 द्वाविंशः सम्भरणस्त्रयोविंशो योनिश्चतुर्विंशो गर्भो-
 पञ्चविंशोऽश्रोजस्त्रिणवः क्रतुरेकत्रिंशः प्रतिष्ठा त्रयस्त्रिंशः

शो ब्रध्नस्य विष्टपं चतुस्त्रिंशो नाकः षट्त्रिंशो विवृत्तौ
 ऽष्टात्चवारिंशो धूर्त्रं चतुष्टोमः ॥ २३ ॥

अपयो अपयः । यज्ञो देवता (१) भुरिग् अतिजगती । निषादः । (२)

भुरिग् ब्राह्मी पंक्तिः । पंचमः ॥

भा०—१. (आशुः त्रिवृत्) आशु, शीघ्रकारी, वायु के समान बलवान् पुरुष वायु के समान तीनों लोकों में व्याप्त और तीनों बलों से युक्त होता है । और जिस प्रकार (त्रिवृत्) शीत, उष्ण और शीतोष्ण तीन प्रकार की ऋतुओं से युक्त संवत्सर होता है उसी प्रकार प्रजापति राजा भी शीत, उष्ण और सम इन तीन स्वभाव वाला होता है उसको 'आशु' कहते हैं । अथवा जिसके अधीन तीन शक्तियां हो, या जिसके अमात्य तीन हों वह अपने नियमों को शीघ्र कर लेने वाला होने से 'आशु' नाम प्रजापति कहाता है । वह प्राण वायु के समान त्रिवृत्-वीर्य होता है ।

२. (भान्तः पञ्चदशः) १५ गुण, वीर्य या वीर सहायक पुरुषों से युक्त राजा 'भान्त' नामक है । अर्थात् जिस प्रकार चन्द्रमा प्रतिपक्ष में बढ़ती १५ कलाओं से युक्त होता है उसी प्रकार १५ राज्यांगों से युक्त प्रजापालक राजा १५ गुणा वीर्यवान् होने से चन्द्रमा के समान 'भान्त' कहाता है ।

३. (व्योमा सप्तदशः) जिस प्रकार संवत्सर में १५ मास और ५ ऋतु होने से १७ विभाग होते हैं, इसी प्रकार वह प्रजापालक राजा जो इसी प्रकार अपने राज्य के १७ विभाग बना कर रखता है वह (व्योमा) विशेष रक्षाकारिणी शक्ति से सम्पन्न होने से 'व्योम' प्रजापति कहाता है ।

४. (धरुणः एकविंशः) जिस प्रकार सूर्य १२ मास, ५ ऋतु तीन लोक, इन २१ वीर्यों सहित सबका आश्रय होकर अकेला विराजता है और 'धरुण' कहाता है । उसी प्रकार जो प्रजापालक राजा अपने राष्ट्र में २१ वीर्यों या प्रबल विभागों या वीर सहायक अधिकारियों सहित

२३—चतुर्थी चितिः ।

प्रजा का पालन करता, सबका आश्रय रहता है वह भी 'एकविंश धरुण' कहाता है ।

५. (प्रतूर्तिः अष्टादशः) जिस प्रकार संवत्सर रूप प्रजापति के १२ मास, ६ ऋतु या १२ मास, ५ ऋतु और १८ वां स्वयं होकर समस्त जन्तुओं को खूब बढ़ाता है उसी प्रकार जो राजा स्वयं अपने राज्य के १८ विभाग करके प्रजाओं की वृद्धि और उनको हृष्ट पुष्ट करता है वह 'प्रतूर्ति' कहाता है ।

६. (तपः नवदशः) जिस प्रकार १२ मास, ६ ऋतु और आप स्वयं मिलकर १९ वां होकर समस्त प्राणियों को संतप्त करने से आदित्य रूप संवत्सर 'तपः' है उसी प्रकार राजा भी १८ विभागों वा सचिवों के राज्य पर स्वयं १९ वां अधिपति होकर शासन करता हुआ शत्रुओं को संतापित करे, वह भी 'तपः' कहाता है ।

७. (अभीवर्तः सविंशः) जिस प्रकार १२ मास, ७ ऋतुओं से आदित्य रूप संवत्सर समस्त प्राणियों को पुनः प्राप्त होने से 'अभीवर्त' कहोता है उसी प्रकार राज्य के १९ विभागाध्यक्षों पर स्वयं २० वां होकर शासन करने वाला प्रजापति राजा उस सूर्य के समान समस्त राष्ट्र में व्यापक प्रभाव वाला होकर 'अभीवर्त्त' पद को प्राप्त करता है ।

८. (वर्चः द्वाविंशः) जिस प्रकार १२ मास, ७ ऋतु, दिन और रात्रि उनका प्रवर्त्तक स्वयं २२ वां आदित्य रूप संवत्सर वर्चस्वी होने से 'वर्चः' कहाता है, उसी प्रकार जो राजा १२ मास, ७ ऋतु, दिन और रात्रि के लक्षणों से युक्त २१ विभागाध्यक्षों पर स्वयं २२ वां होकर विराजता है वह भी वर्चस्वी होने से 'वर्चः' पद का भागी होता है ।

९. (सम्भरणः त्रयोविंशः) जिस प्रकार १३ मास, ७ ऋतु, २ रात, दिन, इन २२ का विधाता स्वयं २३ वां आदित्य रूप संवत्सर समस्त प्राणियों का भरण पोषण कर्ता होने से 'सम्भरण' कहाता है उसी प्रकार

२२ विभागाध्यक्षों का प्रवर्त्तक १३ वां स्वयं समस्त प्रजाओं का भरण पोषण करने वाला राजा 'सम्भरण' पद का अधिकारी है ।

१०. (योनिः चतुर्विंशः) १२ मास, १४ अर्धमासों से युक्त आदित्य-रूप संवत्सर समस्त प्राणियों का आश्रय होने से 'योनि' कहाता है उसी प्रकार २४ विभागाध्यक्षों का प्रवर्त्तक राजा भी सबका आश्रय होने से 'योनि' कहाता है ।

११. (गर्भाः पञ्चविंशः) २४ अर्धमासों का प्रवर्त्तक स्वयं २५ वां आदित्य-रूप संवत्सर जिस प्रकार १३ वें मास का रूप धर कर समस्त अन्य ऋतुओं में अंशांशि भाव से प्रविष्ट होता है और गर्भ नाम से कहाता है उसी प्रकार २४ विभागाध्यक्षों का प्रवर्त्तक राजा पृथक् स्वरूप रह कर भी सब पर अपना वश करके 'गर्भ नाम' से कहाता है ।

१२. (ओजःत्रिनवः) २४ अर्धमास और ९ रात्रि दिन, इन १९ सों पर स्वयं १७ वां प्रवर्त्तक होकर विराजने वाला आदित्य संवत्सर ओजस्वी होने से 'ओजः' कहाता है उसी प्रकार १६ अध्यक्षों का स्वयं प्रवर्त्तक १७ वां राजा ओजस्वी वज्र के समान पराक्रमी होकर 'ओजः' कहाता है ।

१३. (ऋतुः एकत्रिंशः) २४ अर्धमास और ६ ऋतु सब मिलकर जिस प्रकार ३० का समष्टि विभागों-रूप संवत्सर आदित्य स्वयं सबका कर्ता होकर 'ऋतु' कहाता है उसी प्रकार ३० विभागों का शासक राजा राज्यकर्त्ता होने से 'ऋतु' कहाता है ।

१४. (प्रतिष्ठा त्रयस्त्रिंशः) २४ अर्धमास, ६ ऋतु, २ दिन-रात्रि, उन का प्रवर्त्तक ३३ वां स्वयं आदित्य संवत्सर सबकी प्रतिष्ठा या स्थिति का कारण होने से 'प्रतिष्ठा' कहाता है, उसी प्रकार ३२ विभागों पर स्वयं ३३ वां प्रवर्त्तक राजा सबका प्रतिष्ठापक होने से 'प्रतिष्ठा' पद को प्राप्त होता है ।

१५. (व्रतस्य विष्टपं चतुस्त्रिंशः) २४ अर्धमास, सात ऋतु, २ रात दिन इन का प्रवर्तक संवत्सर आदित्य जिस प्रकार स्वयं ३४ वां है और वह 'व्रत' का विष्टप' अर्थात् सर्वाधार सूर्य का लोक या पद इस नाम से कहाता है, उसी प्रकार ३३ विभागों का प्रवर्तक शासक स्वयं ३४ वां होकर 'व्रत का विष्टप' 'सूर्य का पद, सम्राट्' कहाता है ।

१६. (नाकः षट्त्रिंशः) २४ अर्धमास, १२ मास इनका प्रवर्तक संवत्सर सब के दुःखों का नाशक होने से 'नाक' कहाता है इसी प्रकार ३१ विभागों का राजतन्त्र सुखप्रद होने से 'नाक' कहाता है ।

१७. (विवर्तः अष्टाचत्वारिंशः) २६ अर्धमास और २३ मास, २ अहोरात्र, ७ ऋतु इनका प्रवर्तक सूर्य स्वयं इनका स्वरूप होकर 'विवर्त' कहाता है उसी प्रकार ४८ विभागों का प्रवर्तक राजा समस्त प्रजाओं को विविध मार्गों में चलाने हारा होने से 'विवर्त' कहाता है ।

१८. (धन्त्रं चतुःस्तोमः) चारों दिशाओं में अपने बल, वेग से गमन करने वाले वायु के समान अपने संहारक पराक्रम से चारों दिशों का विजय करने में समर्थ अपनी राज्य प्रतिष्ठा करने वाला विजेता राजा 'धन्त्र' कहाता है । शत० ८ । ४ । १ । १-१८ ॥

वीर्यं वै स्तोमाः । ता० २ । ५ । ४ । प्राणा वै स्तोमाः । शत० ८ । १ । ३ ॥

इस आधार पर स्तोम त्रिवृद आदि वीर्य अर्थात् अधिकारों और उनके सञ्चालक और धारक अधिकारी अध्यक्षाओं का वाचक हैं ।

अग्नेर्भागोऽसि दीक्षाया ऽग्राधिपत्यं ब्रह्म स्पृतं त्रिवृत्स्तोमः ।
इन्द्रस्य भागोऽसि विष्णोराधिपत्यं क्षत्रं स्पृतं पञ्चदश स्तोमः ।
नृचक्षसां भागोऽसि धातुराधिपत्यं जनित्रं स्पृतं सप्तदश स्तोमः ।
मित्रस्य भागोऽसि वरुणस्याधिपत्यं दिवो वृष्टिर्वातं स्पृतं एकविंश स्तोमः ॥ २४ ॥

वसूतां भागोऽसि रुद्राणामाधिपत्यं चतुष्पात् स्पृतं चतुर्विंश

स्तोमः । आदित्यानां भागोऽसि मरुतामाधिपत्यं गर्भाः स्पृताः
पञ्चविंश स्तोमः । अदित्यै भागोऽसि पूष्य आधिपत्यमो
ज स्पृतं त्रिणव स्तोमः । देवस्य सवितुर्भागोऽसि बृहस्पतेरा-
धिपत्यं समीचीदिशं स्पृताश्चतुष्टोम स्तोमः ॥ २५ ॥

यवानां भागोऽस्ययवानामाधिपत्यं प्रजा स्पृताश्चतुश्चत्वारिंश
स्तोमः । ऋभूणां भागोऽसि विश्वेषां देवानामाधिपत्यं भुतं स्पृतं
त्रयस्त्रिंश स्तोमः ॥ २६ ॥

(२४) लिंगोक्ता मेधाविनो देवताः । भुरिग् विकृतिः । मध्यमः । (२५)
वस्वादयो लिंगोक्ताः, संकृतिः । गान्धारः । (२६) ऋभवो देवताः ।

भुरिग् जगती । निषादः ॥

भा०—१. हे विज्ञान राशे ! (अग्नेः भागः असि) तू अग्नि, ज्ञानवान्
पुरुष के सेवन करने योग्य है । तुझ पर (दीक्षायाः) दीक्षा, व्रतग्रहण
और वाणी का (आधिपत्यम्) आधिपत्य, स्वामित्व है । इससे ही (ब्रह्म
स्पृतम्) ब्रह्म अर्थात् वेदज्ञान सुरक्षित रहता है । (त्रिवृत् स्तोमः)
उपासना, ज्ञान और कर्म ये तीन प्रकार का वीर्य प्राप्त होता है ।

२- (इन्द्रस्य भागः असि) हे क्षात्रबल ! तू (इन्द्रस्य)
ऐश्वर्यवान् या शत्रुओं के नाशकारी वीर पुरुष का (भागः असि) सेवन
करने योग्य अंश है । उस पर (विष्णोः आधिपत्यम्) व्यापक या विस्तृत
सामर्थ्यवान् पुरुष का आधिपत्य या स्वामित्व है । उसके अधीन (क्षत्रं
स्पृतम्) क्षात्र-बल की रक्षा होती है । (पञ्चदशः स्तोमः) उसका अधि-
कारी बल चन्द्र के समान १५ तिथियों या कलाओं से युक्त है । या उसका
पद १२ मास ३ ऋतु वाले आदित्य संवत्सर के समान है ।

३. (नृचक्षसां भागः असि) हे राष्ट्र में बसे प्रजाजन ! तुम लोग
(नृचक्षसां भागः असि) प्रजाओं के कार्यों के निरीक्षक अधिकारी पुरुषों
के भाग हो । तुम पर (धातुः) प्रजा का पालन करने और ऐश्वर्य या

पौष्टिक अन्नादि पदार्थों से पुष्ट करने हारे 'धातु' नामक अधिकारी का (आधिपत्यम्) स्वामित्व है । (जनित्रम् स्तुतम्) इस प्रकार प्रजाओं की उत्पत्ति और उनके जीवन की रक्षा होती है । (सप्तदश स्तोमः) इस अधिकारी के अधीन १७ अन्य अधिकारी जन हो ।

४. (मित्रस्य भागः असि) मित्र, सर्व प्रजा के प्रति स्नेही निष्पक्षपात, न्यायकारी, सूर्य के समान तेजस्वी, पुरुष का यह भाग है । इस पर (वरुणस्य आधिपत्यम्) वरुण, दुष्टों को वारण करने वाले, दमनकर्त्ता अधिकारी का अधिकार है । (दिवः वृष्टिः) आकाश से जैसे जलवृष्टि सब को समान रूप से प्राप्त होती है और (वातः) वायु जिस प्रकार सब को समान रूप से प्राप्त है उसी प्रकार सर्व साधरण के अन्न, जल, वायु के समान जन्मसिद्ध अधिकार भी (स्पृतः) सुरक्षित हों । (एकविंशः स्तोमः) उसमें २१ अधिकारीगण हों ॥ २४ ॥

५. (वसूनां भागः असि) हे पशु सम्पत्ते ! तू राष्ट्र में बसने वालों का सेवन करने योग्य पदार्थ है । तुझ पर (रुद्राणाम् आधिपत्यम्) तेरे रोधन करने वाले, रुद्र, गोपालक लोगों का स्वामित्व है । इस प्रकार (चतुष्पात् स्तुतम्) चौपायों की रक्षा हो । (चतुर्विंशः स्तोमः) इसमें २४ अधिकारीगण नियुक्त हों ।

६ (आदित्यानां भागः असि) हे गर्भगत जीवो ! तुम आदित्यों या तेजस्वी पुरुषों के भाग हों । तुम पर (मरुताम् आधिपत्यम्) शरीरवर्त्ती प्राणों का स्वामित्व है । इस प्रकार प्रजाओं के गर्भ सुरक्षित होते हैं । (पञ्चविंशः स्तोमः) उसमें २५ अधिकारीगण हैं ।

७. हे ओजः ! (आदित्यै भागः असि) तू अखण्ड राजशक्ति का भाग है । तुझ पर (पूषणः आधिपत्यम्) राष्ट्र को पुष्ट करने वाले पुरुष का स्वामित्व है । इस पर राष्ट्र का (ओजः स्तुतम्) ओज, तेज सुरक्षित हो । (त्रि-नवः स्तोमः) इसमें २७ अधिकारी गण हैं ।

८. (देवस्य सवितुः भागः असि) हे समस्त दिशाओं के सर्व प्रेरक देव ! तू राजा का भाग हो । तुझ पर (वृद्धस्पतेः आधिपत्यम्) तुझ पर महान् राष्ट्र के पालक का स्वामित्व है । इस प्रकार (समीचीः दिशः) समान रूप से फैली दिशाएं (स्पृताः) सुरक्षित होती हैं । (चतुस्तोमः स्तोमः) इसमें ४ मुख्य अधिकारी होते हैं ॥ २५ ॥

९. हे प्रजाजनो ! तुम (यवानां भागः असि) पूर्व पक्ष के लोगों या शत्रुनाशक वीर भटों के भाग अर्थात् सेवन करने योग्य हो और तुम पर (अयवानाम्) सौम्य अधिकारी जो सेना में शत्रु का नाश न कर शान्ति से शासन करते हैं उनका (आधिपत्यम्) स्वामित्व है । इसमें (चतुश्चत्वारिंशः स्तोमः) ४४ अधिकारी जन होते हैं ।

१०. (ऋभूणां भागः असि) हे पञ्च भूतगण तुम सत्य से शोभा देने वा न्यायकारी पुरुषों का भाग हो । उनपर (विश्वेषां देवानाम्) समस्त विद्वानों का (आधिपत्यम्) स्वामित्व है । (भूतम् स्पृतम्) यथार्थ सत्य पदार्थ की रक्षा होती है । अथवा (ऋभूणां) तुम शिल्पिजनों का भाग हो । (विश्वेषां देवानाम् आधिपत्यम्) समस्त विजयी पुरुषों का उनपर स्वामित्व हो । (भूतम्) इससे समस्त उत्पादक शिल्प की रक्षा होती है । (त्र्यक्षिंशः स्तोमः) उसमें ३३ अधिकारीगण हैं ॥ ८॥ । ४ । २ । १-४ ॥ सहस्रं सहस्यश्च हैमन्तिकावृतू अग्नेरन्तः श्लेषोऽसि कल्पेतां द्यावापृथिवी कल्पन्तामाप ओषधयः कल्पन्तामग्नयः पृथङ्मम ज्यैष्ठ्याय सव्रताः । २ ये अग्नयः समनसोऽन्तरा द्यावापृथिवी इमे । हैमन्तिकावृतू अभिकल्पमाना इन्द्रमिव देवा अभि संविशन्तु तया देवतयाङ्गिरस्वद् ध्रुवे सीदतम् ॥ २७ ॥ ७

अभवो देवताः । (१) भुरिगतिजगती । निषादः । (२)

भुरिग्राहीबृहता । मध्यमः ॥

भा०—(सहः सहस्यः च) सहस्र और सहस्य ये दोनों (हैमन्तिका

ऋतु) हेमन्त ऋतु के दो भाग हैं । (अग्नेः अन्तः सीदतम्०) इत्यादि व्याख्या देखो १२ । २५ ॥ शत० ८ । ४ । १ । १४ ॥

एकयास्तुवत प्रजा ऽअधीयन्त प्रजापतिरधिपतिरासीत् । तिसृभिरस्तुवत ब्रह्मासृज्यन्त ब्रह्मणस्पतिरधिपतिरासीत् । पञ्चभिरस्तुवत भूतान्यसृज्यन्त भूतानां पतिरधिपतिरासीत् । सप्तभिरस्तुवत सप्त ऋषयो सृज्यन्त धाताधिपतिरासीत् ॥ २८ ॥

नवभिरास्तुवत पितरोऽसृज्यन्तादितिरधिपत्यासीत् । एकादशभिरस्तुवत ऽऋतवोऽसृज्यन्तार्तिवाऽअधिपतय आसन् । त्रयोदश भिरस्तुवत मासा ऽअसृज्यन्त संवत्सरोऽधिपतिरासीत् । पञ्चदशभिरस्तुवत क्षत्रमसृज्यन्तेन्द्रोऽधिपतिरासीत् । सप्तदशभिरस्तुवत ग्राम्याः पशवोऽसृज्यन्त बृहस्पतिरधिपतिरासीत् ॥ २९ ॥

नवदशभिरस्तुवत शुद्रार्यविसृज्येतामहोरात्रे ऽअधिपत्नी आस्ताम् । एकविंशत्यास्तुवतैकशफाः पशवोऽसृज्यन्त वरुणोऽधिपतिरासीत् । त्रयोविंशत्यास्तुवत जुद्राः पशवोऽसृज्यन्त पुषाधिपतिरासीत् । ३ पञ्चविंशत्यास्तुवतारण्याः पशवोऽसृज्यन्त वायुरधिपतिरासीत् । सप्तविंशत्यास्तुवत द्यावापृथिवी द्यैतां वसवो रुद्रा ऽआदित्याऽअनुव्ययस्त एवाधिपतय आसन् ॥ ३० ॥

नवविंशत्यास्तुवत वनस्पतयोऽसृज्यन्त सोमोऽधिपतिरासीत् । एकत्रिंशतास्तुवत प्रजा ऽअसृज्यन्त यत्राश्चायवा आधिपतय आसन् । त्रयस्त्रिंशतास्तुवत भूतान्यशाम्यन् प्रजापतिः परमेष्ठ्याधिपतिरासीत् ॥ ३१ ॥

ईश्वरो देवता । (२८) निचृद्विकृतिः । मध्यमः । (२९) ईश्वरो देवता

१—आर्षी त्रिष्टुप् । धैवतः । २—ब्राह्मी जगती । निषादः ॥ (३०)

जगदाश्वरा देवता १—स्वराड् ब्राह्मी जगती । निषादः । (२) निचूद्
ब्राह्मी पंक्तिः । पञ्चमः ॥ (३१) प्रजापति देवता । स्वराड्
ब्राह्मी जगती । निषादः ॥

भा०—१. (एकया अस्तुवत्) विद्वान् लोग उस प्रजापति परमेश्वर की एक वाणी द्वारा गुण स्तुति करते हैं । उसी परमेश्वर ने (प्रजाः अधि इयन्त) प्रजाओं को उत्पन्न किया और (प्रजापतिः अधिपतिः आसीत्) प्रजापति ही सदा से सबका स्वामी रहा ।

२ (तिसृभिः) शरीर में प्राण, उदान, और व्यान ये तीन प्रकार की प्राणशक्तियां विद्यमान हैं । इन तीनों महान् समष्टि शक्तियों से ही (ब्रह्म असृज्यत) यह ब्रह्माण्ड बनाया गया है । उन तीनों के द्वारा ही उस परमेश्वर की हम (अस्तुवत्) स्तुति करते हैं । उस ब्रह्माण्ड हिरण्यगर्भ का (ब्रह्मणस्पतिः अधिपतिः आसीत्) ब्रह्मणस्पति (ब्रह्माण्ड का स्वामी या ब्रह्म अर्थात् वेद का स्वामी परमेश्वर ही अधिपति हैं ।

३ (पञ्चभिः) शरीर में जिस प्रकार पांच मुख्य प्राण हैं । उन पांच के बल से यह देह चल रहा है । उसी प्रकार इस जगत् में उसी प्रकार की पांच महान् शक्तियों के द्वारा (पञ्च भूतानि असृज्यन्त) पांच भूत पृथ्वी, वायु, जल, तेज, आकाश को बनाया । उन शक्तियों के द्वारा ही (अस्तुवत्) विद्वान् पुरुष उस परमेश्वर और उसकी शक्तियों का वर्णन करते हैं कि वह (भूतानां पतिः) इन पांचों महाभूतों का स्वामी (अधिपति आसीत्) सबका स्वामी है ।

४. (सप्तभिः) देह में १ श्रोत्र, २ चक्षु, ३ नासा और १ वाणी इन सात शिरोगत प्राणों या मांस आदि सात धातुओं से यह देह स्थिर है । उसी प्रकार विश्व में (सप्त ऋषयः) सात महान् द्रष्टा या प्रवर्तक ऋषि, ५ सूक्ष्ममात्राएं और महत् तत्त्व और अहंकार भी (असृज्यन्त) बनाए गये हैं । विद्वान् पुरुष इस परमेश्वर की उन (सप्तभिः) सातों प्रकट महाशक्तियों द्वारा

(अस्तुवत) स्तुति करते हैं । उन सबका भी वह (धाता अधिपतिः आसीत्) विधाता सर्वज्ञ ही अधिपति है ॥ २८ ॥

५. (नवभिः) शरीर में नव प्राण हैं पूर्वोक्त सात शिरोगत और दो नीचे के भाग में मूलेन्द्रिय और गुदा । ये शरीर को धारण करते हैं उसी प्रकार (पितरः) विश्व में अग्नि आदि ९ पालक शक्तियां 'पितृ' रूप से प्रकट होती हैं । विद्वान् लोग (नवभिः अस्तुवत) उन नौ शक्तियों के द्वारा उस प्रभु की स्तुति करते हैं । उन नवों पर । अदितिः अधिपत्नी आसीत्) उस परमेश्वर की अखण्ड शक्ति रूप से पालक है ।

६ (एकादशभिः) शरीर में १० प्राण, ५ कर्मेन्द्रिय और ६ ज्ञानेन्द्रिय और ११ वां आत्मा है । विश्व में भी (ऋतवः असृज्यन्त) ११ ऋतु अर्थात् प्राण रचे गये हैं । विद्वान् लोग उन (एकादशभिः अस्तुवत) ११ मुख्य प्राणों के द्वारा ही इस प्रकार इस परमेश्वर या विधाता की स्तुति करते हैं । उनके (आर्त्तवाः) ऋतुओं के भीतर विद्यमान विशेष दिव्य शक्तियां ही (अधिपतयः) पालक (आसन्) हैं ।

७. (त्रयोदशभिः) शरीर में जैसे दश प्राण, दो चरण और एक आत्मा ये १३ प्रधान बल हैं उसी प्रकार विश्व में (मासाः असृज्यन्त) एक संवत्सर रूप प्रजापति के १३ मास अंग रूप से बने हैं । उन मासों का (अधिपतिः संवत्सरः आसीत्) अधिपति जिस प्रकार 'संवत्सर' है, उसी प्रकार उक्त १३ हों का अध्यक्ष परमेश्वर 'संवत्सर' नाम से कहाने योग्य है । उसकी १३ अंगों द्वारा (अस्तुवत) विद्वान् लोग स्तुति करते हैं ।

८. (पञ्चदशभिः) इस शरीर में जिस प्रकार दश हाथ की अंगुलियां, दो बाहुएं और टांगे और १५ वां नाभि से ऊपर का शरीर भाग है । उसी प्रकार विश्व-ब्रह्माण्ड में १५ महती शक्तियां विश्व की ३ प्रकार से रक्षा करती हैं, जैसे हाथ शरीर की । विश्व की रक्षा के लिये ही (क्षत्रम् असृज्यत) क्षत्र, शत्रु को खदेड़ने वाला और प्रजा को शत्रु द्वारा पहुंचने

वाली क्षति से बचाने वाला बल बना है। उक्त १५ हों शक्तियों से विद्वान् उस विधाता प्रजापति की (अस्तुवत) स्तुति करते हैं अर्थात् उसके बनाये शरीर को देख कर उसके भीतर विद्यमान बलवान् हाथों की अंगुलियों की रचना को देख कर स्वयं भी उसके अनुकरण में समाज में प्रजा के रक्षक अनेक भागों में विभक्त ऐसे क्षत्रिय-बल की रचना में उसके भी अंग-प्रत्यंग रहें।

९. (सप्तदशभिः अस्तुवत) शरीर में जिस प्रकार १० हाथ की अंगुलियां, दो टांगें, दो गोड़े, दो पैर और नाभि का अधोभाग ये १७ अंग हैं उसी प्रकार (इन्द्रः अधिपतिः आसीत्) उनका अधिपति 'इन्द्र' है। विश्व के समस्त जीव सर्ग में सर्वत्र ये शक्तियां विद्यमान हैं और विश्व के जीव सर्ग को चला रही हैं। विद्वान्गण उन द्वारा परमेश्वर विधाता की ही स्तुति करते हैं। उन शक्तियों से ही (ग्राम्याः) ग्रामवासी नाना (पशवः) पशु गण (असृज्यन्त) पैदा किये गये हैं। उन सब का (बृहस्पतिः) महान् विश्व और महती ज्ञानमयी वेदवाणी का स्वामी परमेश्वर ही (अधिपतिः) मालिक है।

१०. (नव दशभिः अस्तुवत) दश हाथों की अंगुलियां और शरीर गत ९ प्राण ये १९ जिस प्रकार शरीर की रक्षा करते हैं और उसको चेतन बनाये रखते हैं उसी प्रकार १९ धारक और पालक बल विश्व को थामे हैं, उन १९ शक्तियों के वर्णन द्वारा उसी परमेश्वर की रचना-कौशल की विद्वान् गण स्तुति करते हैं, उन १९ अभ्यन्तर और बाह्य अंगों के समान ही (शूद्रायै असृजेताम्) शूद्र और आर्य, श्रमजीवी और स्वामी लोगों के परस्पर संघों की रचना हुई है। शूद्र बाहर के हाथों की अंगुलियों के समान और आर्य या श्रेष्ठ स्वामी गण समाज के भीतरी प्राणों के समान रहते हैं। उनके (अहोरात्रे अधिपत्नी आस्ताम्) दिन, रात ये दो ही अधिपति या पालक हैं अर्थात् दिन, प्रकाशमान और रात्रि

अन्धकारमय है। इसी प्रकार शूद्र कर्मकर, ज्ञान रहित और आर्य ज्ञानवान् हैं। अहोरात्र का सम्मिलित स्वरूप दोनों प्रकार का ज्ञानमय और कर्ममय प्रजापति ही शूद्र और आर्य दोनों का पालक है।

११. (एकविंशत्या अस्तुवत) १० हाथ की और १० पैर की अंगु-
लियां हैं और आत्मा २१ वां है। उसी प्रकार विश्व में उत्तर और अधर
लोकों की १०, १० कार्यकारिणी और पालनकारिणी शक्तियां काम कर
रहीं हैं। उनको देखकर उन द्वारा भी विद्वान्जन प्रजापति की स्तुति करते
और उसके अनुकूल (एकशफाः पशवः असृज्यन्त) एक खुर वाले पशुओं
की रचना हुई। अर्थात् हाथ की दशों अंगुलियों के समान १० दिशागामी
१० दिशाओं में दश सेनाएं और उनके सहायतार्थ घोड़े, खच्चर आदि
उपयोगी पशु पैदा किये जाते हैं। उनका (अधिपतिः वरुणः आसीत्)
अधिपति 'वरुण' और सर्वश्रेष्ठ सब शत्रुओं को वारक सेनापति पुरुष है।

१२. (त्रयोविंशत्या अस्तुवत) १० हाथ की ओर १० पैर की अंगु-
लियां, दो पैर और २३ वां आत्मा देह में विद्यमान है। उसी प्रकार
ब्रह्माण्ड में २३ महान् शक्तियां कार्य कर रही हैं। उन २३ स्वरूपों से ही
विद्वान् गण परमेश्वर की स्तुति करते हैं। (क्षुद्राः पशवः असृज्यन्त) उक्त
अंगों की शक्तियों द्वारा क्षुद्र पशुओं की रचना हुई है। उन
सब का (पूषा अधिपतिः) अधिपति, पूषा अर्थात् अन्नमय अन्नदात्री
पृथिवी ही है।

१३. (पञ्चविंशत्या अस्तुवत) हाथों, पैरों की दश दश अंगुलियां, दो
बाहु, दो पैर और २५ वां आत्मा ये देह के घटक हैं। इसी प्रकार सृष्टि
रचना के भी घटक ये पदार्थ हैं, उनके द्वारा विद्वान् विधाता की स्तुति
करते हैं। उनके घटक अवयवों से ही (आरण्याः पशवः असृज्यन्त) जंगली
पशु रचे गये हैं। (वायुः अधिपतिः आसीत्) तीव्र गतिशील वायु के
समान, वेगवान् पालक ही उनका अधिपति है।

१४. (सप्तविंशत्या अस्तुवत) हाथों पैरों की दस २ अंगुलियां, १ बाहु और २ टांगे, दो चरण एक आत्मा ये सत्ताईस शरीर के घटक हैं। इन सत्ताईस घटक अंगों के सञ्चालक महती शक्तियों के द्वारा ही विद्वान् पुरुष विधाता की स्तुति करते हैं। उनके द्वारा ही (द्यावापृथिवी व्यैताम्) द्यौ और पृथिवी दोनों व्यास होते हैं और उनमें ही (वसवः) आठ वसु, (रुद्राः) ११ प्राण और (आदित्याः) १२ मास (अनु-वि-अयन्) उनके भीतर व्यास हैं। (ते एव) वे ही उन दोनों आकाश और पृथिवी के (अधिपतयः आसन्) अधिपति या पालक हैं।

१५ (नवविंशत्या अस्तुवत) देह में हाथों पैरों की दस २ अंगुलियां, ९ प्राण हैं उसी प्रकार २९ घटक शक्तियां विश्व को रच रही हैं। उन द्वारा विद्वान् जन विधाता प्रजापति की स्तुति करते हैं। (वनस्पतयः असृज्यन्त) उन घटक शक्तियों से ही वनस्पतियों का बनाया गया है। उनका (सोमः अधिपतिः आसीत्) सोम अधिपति है।

१६. (एकत्रिंशता अस्तुवत) हाथों पैरों की दस २ अंगुलियां, १० प्राण और ३१ वां आत्मा उन घटकों से समस्त शरीर बने हैं। उन शक्तियों द्वारा ही विद्वान् जन विधाता के कौशल का वर्णन करते हैं। इनसे ही (प्रजाः असृज्यन्त) समस्त प्रजा सृजी गयी है। उनके (यवाः च अयवाः च (अधिपतयः आसन्) उनके पूर्व पक्ष और अपर पक्ष अथवा मिथुन भूत जोड़े, अमैथुनी अथवा जन्तु शरीरों में होने वाले ऋतु धर्म सम्बन्धी पूर्वोत्तर पक्ष या (यवाः) पुरुष और (अयवाः) स्त्रियें ही उनके अधिपति हैं।

१७. (त्रयः त्रिंशता अस्तुवन्) हाथों पैरों की दस २ अंगुलियां, दश प्राण, २ चरण और ३३ वां आत्मा ये सब पूर्ण शरीर के मुख्य मुख्य घटक हैं, और उस प्रकार ३३ ही ब्रह्माण्ड के भी घटक हैं, उनके द्वारा ही परम विधाता की विद्वान् स्तुति करते हैं। उनसे ही (भूतानि) समस्त

प्राणी गण (अशाम्यन्) सुखी होते हैं । उन सबका (परमेष्ठी प्रजापतिः अधिपतिः आसीत्) परमेष्ठी सर्वोच्च पद पर प्रजापति परमात्मा ही सबका अधिपति है । ८ । ४ । ३ । १—१९ ॥

राष्ट्र पक्ष में—१, ३, ५, ७, ९, ११, १३, १५, १७, १९, २१, २३, २५, २७, २९, ३१, और ३३ इन भिन्न २ घटक अङ्गों से बने राज्यों एवं राज्य के अंगों को परमेश्वर के बनाये देह के मुख्यांगों की रचना के अनुसार बनाना चाहिये और उनके अधिपति भी भिन्न २ योग्यता के पुरुषों को रखना चाहिये । और विद्वान् लोग उनके घटक अवयवों का ही उत्तम रीति से (अस्तुवत्) उपदेश करें और तदनुसार राज्यों की कल्पना करें । उन राष्ट्र के भिन्न २ भागों में प्रजापति ब्रह्माणस्पति, धाता, अदिति, आतव आदि नामधारी मुख्य पदाधिकारियों को नियत करें ।

॥ इति चतुर्दशोऽध्यायः ॥

शति मीमांसातीर्थ-प्रतिष्ठितविद्यालंकार-विरुदोपशोभित-श्रीमत्पण्डितजयदेवशर्मकृते-
यजुर्वेदालोकभाष्ये चतुर्दशोऽध्यायः ॥

अथ पंचदशोऽध्यायः

१—६८ आध्याय परिसमाप्तः परमेष्ठी ऋषिः ॥

॥ओ३म्॥ अग्ने ज्ञातान् प्रणुदा नः सपत्नान् प्रत्यजातान्नुद जातवेदः
अधि नो ब्रूहि सुमनाऽअहेडंस्तव स्याम शर्म स्त्रिवरूथऽउद्भौ ॥१॥

परमेष्ठी ऋषिः । अग्निदेवता । त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—हे (अग्ने) अग्रणी सेनापते ! राजन् ! तू ! (नः) हमारे
(जातान् सपत्नान्) प्रकट हुए शत्रुओं को (प्र नुद) दूर भगा । और हे
(जातवेदः) ऐश्वर्यवान् और शक्तिशालिन् ! तू (अजातान् सपत्नान्)
अभी तक न प्रकट हुए शत्रुओं को भी (प्रति नुद) मुकाबला करके पराज
कर । और (नः) हमारा (अहेडन्) अनादर न करता हुआ (सुमनाः)
उत्तम शुभ प्रसन्न चित्त होकर (नः अधि ब्रूहि) हमें अधिष्ठाता होकर
आज्ञा कर, सन्मार्ग का उपदेश कर । हम (तव) तेरे (त्रिवरूथे)
त्रिविध तापों का वारण करने वाले (उद्भौ) उत्तम सुखों के उत्पादक वा उच्च
(शर्मन्) गृह में या आश्रय में (स्याम) रहें ।

सहसा ज्ञातान् प्रणुदा नः सपत्नान् प्रत्यजातान् जातवेदो नुदस्व
अधि नो ब्रूहि सुमनस्यमानो वयस्स्याम प्रणुदा नः सपत्नान् ॥२॥

अग्निर्ऋषिः । सुरिकू त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—हे (जातवेदः) बल और ऐश्वर्य और प्रजा से सम्पन्न राजन् !
सेनापते ! तू (जातान् सपत्नान्) उत्पन्न हुए विरोधी शत्रुओं को (सहसा)
पराजय करने में समर्थ बल से (प्र नुद) परे मार भगा । और (अजातान्

१—अथ पञ्चमी चितिः परमेष्ठिनः ।

प्रति नुदस्व) अग्रकट शत्रुओं को भी परास्त कर । (सुमनस्यमानः) शुभ चित्त वाला, उत्तम मन वाला होकर (नः अधि ब्रूहि) हमें उपदेश कर । जिससे (वयम्) हम लोग तेरे सहायक (स्याम) हों । तू (नः सपत्नान् प्रनुद) हमारे शत्रुओं को दूर भगा ।

षोडशी स्तोम ओजो द्रविणं चतुश्चत्वारिंशं स्तोमो वर्चो द्रविणम्
अग्नेः पुरीषमस्यप्सो नाम तां त्वा विश्वे अभि गृणन्तु देवाः ।
स्तोमपृष्ठा घृतवतीह सीद प्रजावदस्मे द्रविणायजस्व ॥ ३ ॥

दम्पती देवते । ब्राह्मी त्रिष्टुप् । धैवतः ।

भा०—(षोडशी स्तोमः) षोडशी स्तोम अर्थात् १६ कलाओं या वीर्य, बल या अधिकारों से युक्त 'स्तोम' पद (ओजः द्रविणम्) पराक्रम और धनैश्वर्य प्रदान करता है । हे राष्ट्रशक्ते ! वह तेरा एक स्वरूप है । दूसरा (चत्वारिंशः स्तोमः) ४४ वीर्यों या अधिकारों या अधिकारियों से युक्त स्तोम पद भी (वर्चः) तेज और (द्रविणम्) ऐश्वर्य प्रदान करता है वह तेरा दूसरा स्वरूप है । हे राज्यशक्ते ! तू (अग्नेः) अग्रणी शत्रु-संतापक राजा के बल को (पुरीषम्) पूर्ण करने वाला समृद्ध ऐश्वर्य है । तेरा (नाम) स्वरूप (अप्सः) 'अप्सः' है अर्थात् तेरे भीतर रहकर एक आदमी दूसरे के जान माल और अधिकार को नहीं खाता है । (त्वा) तेरी ही (विश्वेदेवाः) समस्त विद्वान् (अभि गृणन्तु) स्तुति करें । हे पृथिवि ! तू (स्तोमपृष्ठा) समस्त अधिकारों, बलों और वीर्यवान् पुरुषों का आश्रय होकर (घृतवती) तेजस्विनी होकर (इह सीद) इस जगत् में विराज, स्थिर हो । (अस्मे) हमें (प्रजावद् द्रविणा) प्रजाओं से युक्त ऐश्वर्यों का (यजस्व) प्रदान कर ।

एवशच्छन्दो वरिवशच्छन्दः शम्भूशच्छन्दः परिभूशच्छन्दः श्रान्छच्छन्दो
मनश्छन्दो व्यचश्छन्दः सिन्धुश्छन्दः समुद्रश्छन्दः सरिरं छन्दः
कुकुप् छन्दः किकुप्छन्दः काव्यं छन्दो अङ्कुपं छन्दो उत्तरप-

ङ्क्रिश्छन्दः पदपङ्क्रिश्छन्दो विष्टारपङ्क्रिश्छन्दः तुरोभ्रञ्छन्दः ॥ ४ ॥

आच्छच्छन्दः प्रच्छच्छन्दस्संयच्छन्दो वियच्छन्दो बृहच्छन्दो रथन्तरच्छन्दो निकायश्छन्दो विवधश्छन्दो गिरश्छन्दो भ्रजश्छन्दः सुस्तुप् छन्दोऽनुष्टुप् छन्द एवश्छन्दो वरिवश्छन्दो वयश्छन्दो वयस्कृतश्छन्दो विष्पर्धाश्छन्दो विशालं छन्दश्छदिश्छन्दो दूरो ह्यं छन्दस्तन्द्रच्छन्दोऽअङ्काङ्गं छन्दः ॥ ५ ॥

(४, ५) विद्वांसो देवताः । स्वराङ्गाकृतिः । पञ्चमः ॥

निचृद् अभिकृतिः । ऋषभः ॥

भा०—१. (एवः) सब प्राणियों को प्राप्ति स्थान, भूलोक, सब से ज्ञान द्वारा गम्य प्रभु (छन्दः) सबका आच्छादक या रक्षक है ।

२. (वरिवः) सबको आवरण करने वाला अन्तरिक्ष 'वरिवस्' है । वह छन्द, सुखकारी हो ।

३. (शंभूः) शान्ति का उत्पत्ति स्थान, परमेश्वर, द्यौः के समान शान्ति कारक जलादि पदार्थों का दाता और स्वयं द्यौलोक (छन्दः) सुखप्रद हो ।

४. (परिभूः छन्दः) सर्वत्र सामर्थ्यवान् दिशा के समान व्यापक, परमेश्वर (छन्दः) सुखप्रद हो ।

५. (आच्छत् छन्दः) समस्त शरीरों को आच्छादन करने वाला प्राण के समान जीवनप्रद और वायु के समान सर्व दोषों का वारक प्रभु हमें सुख प्रदान करे ।

६. (मनः छन्दः) 'मन', ज्ञानमय मन के समान या सत्यसंकल्पमय परमेश्वर हमें सुख प्रदान करे ।

७. (व्यचः छन्दः) सब जगत् को व्याप्त करने वाले, आदित्य के समान तेजस्वी प्रभु हमारी रक्षा करे ।

(४, ५ एवश्चत्वारिंशद् यजूंषि ।

८. (सिन्धुः छन्दः) नदी के समान आनन्द-रस बहाने वाला, प्राण वायु के समान 'सिन्धु' रूप परमेश्वर हमें सुख दे ।

९. (समुद्रः छन्दः) नाना संकल्प-विकल्प को उत्पन्न करने वाला, नाना आशाओं का आश्रय, समुद्र के समान गम्भीर, अथाह परमेश्वर हमारी रक्षा करे ।

१०. (सरिरं छन्दः) स्रोत से निकलने वाले जल के समान हृदय या मुख से निकलने वाली वाणी रूप परमेश्वर हमारी रक्षा करे ।

११. (ककुप् छन्दः) सुख का एकमात्र धारण करने वाला सुख स्वरूप, सबका प्राणरूप परमेश्वर सुख प्रदान करे ।

१२. (त्रि-ककुप् छन्दः) तीनों प्रकार के सुखों का दाता, उदान के समान प्रभु हमें सुख दे ।

१३. (काव्यम् छन्दः) परम प्रभु रूप कवि का बनाया वेद-त्रय-रूप ज्ञानमय काव्य हमें सुख दे ।

१४. (अङ्कुपं छन्दः) कुटिल मार्गों से जाने वाले जल के समान विषम स्थानों में भी जाकर पालन करने में समर्थ प्रभु हमें सुख प्रदान करे ।

१५. (अक्षरपंक्तिः छन्दः) स्थिर नक्षत्र पंक्तियों के समान अविनाशी गुणों से संसार को परिपाक करने में समर्थ प्रभु हमें सुख दे ।

१६. (पदपंक्तिः छन्दः) चरणों के समान समस्त वाक्-पदों या ज्ञानो-बलियों का आश्रय प्रभु हमें सुख दे ।

१७. (विष्टारपंक्तिः छन्दः) विस्तृत पदार्थों को धारण करने वाली दिशाओं के समान अनन्त प्रभु हमें सुख दे ।

१८. (क्षुरोभ्रजः छन्दः) छुरे के समान अज्ञान-वासनाओं का छेदक और सूर्य के समान अन्धकार में ज्योतिः-प्रकाशक प्रदीप्त तेजस्वी (छन्दः) प्रभु हमें सुख दे ।

१९. (आच्छत् छन्दः) शरीर के समस्त अंगों को प्राण शक्ति से सुरक्षित करने वाले अन्न के समान, ब्रह्माण्ड के अंग प्रत्यंग में व्याप्त प्रभु हमारी रक्षा करे ।

२०. (प्रच्छत् छन्दः) उत्कृष्ट रीति से शरीर की रक्षा करने वाले अन्न के समान प्रभु हमें सुख दे ।

२१. (संयत् छन्दः) समस्त कार्य-व्यवहारों से संयमन करने वाली रात्रि के समान समस्त ब्रह्माण्ड के कार्य व्यवहारों को संयमन करने वाला प्रभु या राज्यव्यवस्था (छन्दः) हमारी रक्षा करे ।

२२. (वियत् छन्दः) विविध कार्य-व्यवहारों को नियमित करने वाला, सूर्य के समान तेजस्वी परमेश्वर हमें सुख दे ।

२३. (बृहत् छन्दः) बृहत्, महान् द्यौलोक के समान विशाल प्रभु हमें सुख दे ।

२४. (रथन्तरं छन्दः) रथों से गमन करने योग्य इस भूमण्डल के समान रथों, रमण योग्य रसों में सब से श्रेष्ठ परमेश्वर हमें सुख दे ।

२५. (निकायः छन्दः) नित्य ज्ञानोपदेश करने वाले गुरु के समान या वाद्यों में शब्द करने वाले वायु के समान सर्वत्र ध्वनिजनक या ज्ञानोपदेशप्रद प्रभु हमें सुख दे ।

२६. (विवधः छन्दः) विविध रूपों से बांधने या दण्ड देने वाले अन्नरिक्ष के समान विविध कर्मफलों द्वारा जीवों को बांधने वाला प्रभु हमें सुख दे ।

२७. (गिरः छन्दः) निगलने योग्य, जल के समान सुखकारी पत आस्वाद्य प्रभु हमें सुख शरण दे ।

२८. (भ्रजः छन्दः) अग्नि के समान देदीप्यमान प्रभु हमें सुख दे ।

२९. (संस्तुप् छन्दः) उत्तम रीति से शब्द और अर्थों को प्रकट करने वाली वाणी के समान सकल पदार्थों का प्रकाशक प्रभु हमें सुख दे ।

३०. (अनुष्टुप् छन्दः) श्रवण करने के बाद अर्थ का प्रकाशन करने वाली वाणी के समान जगत् को रचकर अपने वेद-विज्ञान को दर्शाने वाला प्रभु हमें सुख दे ।

३१. (एवः छन्दः) समस्त सुख प्राप्त कराने वाले और ज्ञान प्रापक साधन के समान प्रभु हमें सुख दे ।

३२. (वरिवः छन्दः) और देवोपासना द्वारा परिचर्या योग्य प्रभु हमें सुख दे ।

३३. (वयः छन्दः) जीवनों का अन्न के समान मूल कारण प्रभु हमें सुख दे ।

३४. (वयस्कृत् छन्दः) जठराग्नि के समान सब प्राणियों को दीर्घायु करने वाला प्रभु हमें सुख दे ।

३५ (विष्पर्धाः छन्दः) विविध प्रजाओं में स्पर्धापूर्वक प्रहण करने योग्य परम लोक रूप प्रभु हमें सुख दे ।

३६. (विशालं छन्दः) विविध पदार्थों से शोभा देने वाली भूमि के समान विविध गुणों से सुन्दर प्रभु हमें सुख दे ।

३७. (छदिः छन्दः) भूतल को आच्छादित करने वाले अन्तरिक्ष के समान सब पर करुणा रूप छाया करने वाला प्रभु हमें सुख दे ।

३८. (दूरोहणं छन्दः) बड़े कष्टों और तपस्याओं से प्राप्त होने योग्य सूर्य के समान तेजोमय मोक्ष रूप प्रभु हमें सुख दे ।

३९. (तन्द्रं छन्दः) कुटुम्ब भरण करने वाले परिपक्व धीर्यवान् युवा पुरुष के समान समस्त जीवलोक का भरण पोषण करने हारा प्रभु हमें सुख दे ।

४०. (अङ्गाङ्गं छन्दः) अङ्क अङ्क द्वारा प्रकट हुई विस्तृत गणित विद्या के समान सत्य नियमों का व्यवस्थापक प्रभु हमें सुख दे । यह परमात्मा पक्ष में नियोजना है ।

राष्ट्र पक्ष में—(छन्दः) राष्ट्र के भिन्न-भिन्न विभागों और कार्यों द्वारा राष्ट्र के धन, प्रजा और अधिकारों की रक्षा करने वाला बल, प्रयोग, कार्य व्यवहार, व्यापार और शिल्प छन्द हैं जो प्रजा के सुख का साधन हो और मनुष्यों की प्रवृत्ति उसमें हो सके, इस प्रकार निम्नलिखित कार्य-विभाग राष्ट्र में होने आवश्यक हैं ।

१. (एवः) ज्ञान, प्रजाओं का शिक्षण अथवा पृथिवी में गमन-गमन के साधन रथादि । २. (वरिवः) गुरु, देव, पितृजन आदि कीसेवा । ३. (शंभूः) प्रजाओं को शान्ति सुख देने के उपाय, औषधालय, उद्यान, तड़ाग आदि निर्माण । ४. (परिभूः) चारों ओर से प्रजा की परकोट आदि से रक्षा । ५. (आच्छत्) आच्छादन । योग्य वस्त्र । ६. (मनः) मनन, शास्त्रमनन, उत्तम शास्त्रचिन्तन । ७. (व्यचः) सूर्य के समान राजा की कीर्ति और राष्ट्र का प्रसार अथवा विविध शिल्प । ८. (सिन्धुः) नदियों, नहरों का निर्माण, निरोध एवं उन द्वारा गमन-आगमन । ९. (समुद्र) समुद्र से व्यापार और मुक्ता रत्न आदि की प्राप्ति । १०. (सरिः) सलिल, जल । ११. (ककुप्) प्रजा के सुखवर्धक उपाय । १२. (त्रिकुप्) त्रिविध सुखों का सम्पादन । १३. (काव्यम्) कवियों की कृति काव्य, सुन्दर वाग्‌विलास, साहित्य । १४. (अङ्कूपं) प्रजा की कुटिल कूट नीतियों, व्यवहारों से और कुटिलाचारों से रक्षा । १५. (अक्षरपंक्तिः) अक्षय ब्रह्म का ज्ञान या अक्षर अखण्ड ब्रह्मचर्य की या वीर्य की परिपक्वता का साधन । १६. (पदपंक्तिः) गृहस्थ का पालन । १७. (विष्टारपंक्तिः) प्रजोत्पादन, प्रजापालन । १८. (क्षुरः) क्षुर, छूरा कर्म । १९. (भ्रजः) दीप्ति, प्रकाश आदि का करना अथवा (क्षुरोभ्रजः) छुरे की धार के समान कठिन आदिभ्य व्रत की साधना । २०. (आच्छत्) प्रजा की सब ओर से रक्षा । २१. (प्रच्छत्) अच्छी प्रकार रक्षा । २२. (संयत्) दुष्टों का संयमन । २३. (वियत्) विविध व्यवहारों का नियमन । (बृहत्) बड़े राष्ट्र का

प्रबन्ध । १४. (रथन्तरम्) रथों के मार्गों का निर्माण और प्रबन्ध ।
 १५. (निकामः) शरीर की प्राण वायु की साधना, अथवा समस्त प्रजा
 के शरीरों की रक्षा अथवा विशेष खाद्य पदार्थों का संग्रह । २६. (विवध)
 विविध हनन साधनों, हथियारों का संग्रह । २७. (गिरः) अन्नों का संग्रह
 २८. (भ्रजः) अग्नि, विद्या या विद्युत् द्वारा प्रकाश उत्पादन । ४६.
 (संस्तुप्) उत्तम विद्याओं का पठन पाठन । ३०. (अनुष्टुप्) सामान्य
 विद्याओं का अध्ययन । ३१. (एवः वरिवः) ज्ञान और उपासना
 एवं गुरु सेवा । ३२. (वयः) जीवन वृद्धि या अन्न । ३३. (वयस्कृत्)
 अन्न के उत्पादक प्रयोग । ३४. (विष्पर्धाः) संग्राम । ३५. (विशालं) विविध
 वास्तु भवन निर्माण । ३६. (छदिः) छतें या वस्त्र, तम्बू आदि बनाना (दूरोहणं)
 दुर्गम स्थानों पर चढ़ने के साधन । ३७. (तन्द्रं) मोहन विद्या । ३८. (अङ्गाङ्गं)
 गणित विद्या । इन सब शिल्पों का सरहस्य ज्ञान प्राप्त किया जाय । इसी
 प्रकार अध्यात्म में इन सब छन्दों से आत्मा की इतनी शक्तियों, प्रवृत्तियां,
 स्वभावों, भोक्तव्य पदार्थों और साधनीय कार्यों का वर्णन किया गया है ।
 प्रजनन संहिता में इन शब्दों के तदनुसार भिन्न १ अर्थ होंगे ।

शतपथ के अनुसार एवः आदि के अर्थ नीचे लिखे जाते हैं ।

१ एवः	अयं लोक.	२१ संयत्	रात्रिः
२ वरिवः	अन्तरिक्ष	२२ वियत्	अहः
३ शंभू	द्यौः	२३ बृहत्	असौ लोकः
४ परिभूः	दिशः	२४ रथन्तरं	अयं लोकः
५ आच्छत्	अन्नं	२५ निकायः	वायुः
६ मनः	प्रजापतिः (आत्मा)	२६ विवधः	अन्तरिक्षं
७ व्यचः	आदित्यः	२७ गिरः	अन्नम्
८ सिन्धुः	प्राणः	२८ भ्रजः	अग्निः

९ समुद्रं	मनः	२९ संस्तुप्	} वाग्
१० सरिरं	वाग्	३० अनुष्टुप्	
११ ककुप्	प्राणः	३१ एवः	अयं लोकः
१२ त्रिककुप्	उदानः	३२ वरिवः	अन्तरिक्षं
१३ काव्यं	त्रयी विद्या	३३ वयः	अन्नं
१४ अङ्कुपं	आपः	३४ वयस्कृतः	अग्निः
१५ अक्षरपंक्तिः	असौ लोकः	३५ विषपर्धाः	असौ लोकः
१६ पदपंक्तिः	अयं लोकः	३६ विशालं	अयं लोकः
१७ विष्टारपंक्तिः	दिशः	३७ छदिः	अन्तरिक्षम्
१८ क्षुरोभ्रजः	आदित्यः	३८ दूरोहणम्	आदित्यः
१९ आच्छत्	} अन्नं	३९ तन्द्रं	पंक्तिः
२० प्रच्छत्		४० अङ्गाङ्गं	आपः

‘एवः’ आदि के अयं लोकः’ आदि साक्षात् अर्थ नहीं, प्रत्युत उपमान होने से साधारण धर्मों के द्योतक पदार्थ हैं। शतपथ इन पदार्थों को ‘बन्धु’ अर्थात् उपमान मात्र ही बताता है। शरीर में और ब्रह्माण्ड में विस्तृत घटक तत्त्वों का आध्यात्मिक आधिभौतिक भेद से भी यहां निरूपण किया गया है।

रश्मिना सत्याय सत्यञ्जिन्व प्रेतिना धर्मणा धर्मैज्जिन्वा
नित्या दिवा दिवाञ्जिन्व सन्धिना नन्तरिक्षेणान्तरिक्षं जिन्व प्रति-
धिना पृथिव्या पृथिवी जिन्व विष्टम्भेन वृष्ट्या वृष्टिं जिन्व
प्रवयाऽह्नाहर्जिन्वानुया रात्र्या रात्रीञ्जिन्वोशिजा वसुभ्यो वसु-
ञ्जिन्व प्रकृतेनादित्येभ्य आदित्याञ्जिन्व ॥ ६ ॥

तन्तुना रायस्पोषेण रायस्पोषं जिन्व स॒थ्स॒पेणं श्रुताय श्रुतं
जिन्वैडेनौषधीभिरौषधीजिन्वोत्तमेन तनूभिस्तनूजिन्व वयोघसा
धीतेनाधीतञ्जिन्वाभिजिता तेजसा तेजो जिन्व ॥ ७ ॥

सोमाः विद्वांसो देवताः । (६) विराडभिक्कृतिः । ऋषभः ।

(७) ब्राह्मी त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—१. (सत्याय) सत्य व्यवहार की वृद्धि के लिये नियुक्त (रश्मिना) सूर्य की किरणों के समान विवेक द्वारा छिपी बातों को भी प्रकाशित करने में समर्थ विवेकी पुरुष द्वारा (सत्यं जिव्वा) सत्य व्यवहार की राष्ट्र में वृद्धि कर । अर्थात् उत्तम विवेकी न्यायकर्ता पुरुष को नियुक्त कर ।

२. (धर्मणा) धर्म, प्रजा को व्यवस्थित करने वाले कानून के निमित्त (प्रतिना) उत्तम विज्ञान युक्त, पुरुष द्वारा (धर्मं जिव्वा) धर्म या व्यवस्था, कानून को उन्नत कर ।

३. (दिवा) धर्म, या ज्ञान के प्रकाश के लिये नियुक्त (अन्वित्या) अन्वेषण करने वाली समिति द्वारा (दिवं जिव्वा) विज्ञान और सत्य तत्वों की वृद्धि कर, ।

४ (अन्तरिक्षेण) पृथ्वी और आकाश के बीच जिस प्रकार अन्तरिक्ष दोनों लोकों को मिलाता है उसी प्रकार दो राजाओं के बीच स्थित मध्यस्थ रूप से विद्यमान 'अन्तरिक्ष' पद के कार्य के लिये नियुक्त (सन्धिना) परस्पर के 'सन्धि' कराने वाले 'सन्धि' नामक अधिकारी से तू (अन्तरिक्षं जिव्वा) उक्त अन्तरिक्ष पद को पुष्ट कर ।

५. (पृथिव्या) पृथिवी के शासन के लिये नियुक्त (प्रतिधिना) अपने स्थान पर स्थापित प्रतिनिधि द्वारा अथवा (पृथिव्या) पृथिवी के शासनार्थ लोकवृत्त जानने के लिये नियुक्त (प्रतिधिना) प्रत्येक बात के पता लगाने वाले गुप्तचर द्वारा (पृथिवीं जिव्वा) तू पृथिवी अर्थात् पृथिवी निवासी प्रजाजन या अपने राष्ट्र भूमि की वृद्धि कर, उसको पुष्ट कर ।

१—सर्वत्र निमित्ते तृतीया

६. (वृष्ट्या) प्रजापर जलों की वर्षा करने के लिये जिस प्रकार जलों का स्तम्भन करने में समर्थ वायु अपने भीतर जल थाम लेता है उसी प्रकार प्रजापर पुनः अपने ऐश्वर्यों की वृष्टि करने के लिये (विष्टम्भेन) विविध उपायों से धनों को स्तम्भन या संग्रह करने वाले विभाग को नियुक्त करके उससे तू (वृष्टिं जिन्व) सुखों के वर्षण की वृद्धि कर ।

७. (अन्हा) सूर्य के समान तेजस्वी होकर राष्ट्र के कार्यों को चलाने के लिये (प्र-वयाः) उत्कृष्ट तेजस्वी पुरुष को नियुक्त करके उससे (अहः जिन्व) सूर्य पद की वृद्धि कर ।

८. (रात्र्या) समस्त प्रजाओं के रमण करने, उनको विश्राम देने एवं रात्रि को समस्त शत्रुओं को भूमि पर सुला देने के लिये (अनुया) चारों और ढाकुओं के पीछा करने वाले विभाग द्वारा (रात्रीं जिन्व) तेजस्विनी रात्री, या रात्रि अर्थात् राष्ट्र की रक्षा करने वाली संस्था को (जिन्व) पुष्ट कर ।

९. (वसुभ्यः) ऐश्वर्यों के प्राप्त करने के लिये और राष्ट्र में बसने वाले जनों के हित के लिये (उशिजा) धनादि के अभिलाषा करने वाले वणिग् विभाग द्वारा (वसून्) प्रजा के सुखकारी अग्नि आदि शक्ति और समस्त पदार्थों को और प्रजा जनों को पुष्ट कर, अथवा 'वसु' ब्रह्मचारियों के लिये कामना प्रकट करने वाले स्त्री-वर्ग द्वारा (वसून्) वसु ब्रह्मचारी युवकों को (जिन्व) संतुष्ट कर । उनके विवाह आदि की उत्तम व्यवस्था कर ।

१०. (आदित्येभ्यः) आदित्य ब्रह्मचारियों के स्थापित (प्रकेतेन) उत्कृष्ट ज्ञान के साधन, पुस्तकालय, विद्यालय आदि द्वारा (आदित्यान्) आदित्य, ज्ञाननिष्ठ पुरुषों को भी (जिन्व) पुष्ट कर ।

११. (रायः पोपेण) धनैश्वर्य और गवादि पशु सम्पत्ति की वृद्धि के निमित्त (तन्तुना) और भी अधिक प्रजा-परम्परा रूप तन्तु से (रायः पोपम्) उस ऐश्वर्य समृद्धि की (जिन्व) वृद्धि कर ।

१२. (श्रुताय) लोक वृत्तों के श्रवण के लिये (प्रसर्पेण) दूर तक जाने वाले गुप्त चरों द्वारा (श्रुतं जिन्व) लोक वृत्त श्रवण के विभाग को पुष्ट कर ।

१३. (ओषधीभिः) ओषधियों के संग्रह के लिये (ऐडेन) इडा, अन्न, ओषध या पृथ्वी के गुणों के जानने वाले विभाग द्वारा (ओषधीः जिन्व) अन्नादि रोगहर और पुष्टिकर ओषधियों को वृद्धि कर ।

१४. (तनूभिः) शरीरों की उन्नति के लिये (उत्तमेन) सब से उत्कृष्ट शरीर वाले पुरुष द्वारा (तनूः जिन्व) प्रजा के शरीरों की वृद्धि कर ।

१५. (अधीतेन) विद्याभ्यास, शिक्षा की वृद्धि के लिये, (वयोधसा) ज्ञानवान् और दीर्घायु पुरुषों से (अधीतं) अपने स्वाध्याय और शिक्षा की (जिन्व) वृद्धि कर ।

१६. (तेजसा) तेज और पराक्रम की वृद्धि के लिये (अभिजिता) शत्रुओं को सब प्रकार से विजय करने में समर्थ पुरुष द्वारा (तेजः जिन्व) अपने तेज और पराक्रम की वृद्धि कर ।

सत्य, धर्म, दिव्, अन्तरिक्ष, पृथिवी, वृष्टि, अहः, रात्रि, वसु और आदित्य, रायःपोष, श्रुत, ओषधि, तनु, अधीत, और तेज इन १६ अभ्युदयकारी लक्ष्मियों की वृद्धि के लिये क्रम से रश्मि, प्रति, संधि, प्रतिधि, विष्टम्भ, प्रवया अनुया, उष्णिग्, प्रकेत, तन्तु, संसर्प, ऐड, उत्तम, वयोधा, अभिजित् ये १६ पदाधिकारी या अध्यक्ष हों उनके उत्तने ही विभाग राष्ट्र में हों ।

इन मन्त्रों की योजना शतपथ ने तीन प्रकार से दर्शाई है । प्रथम जैसे 'रश्मिः असि सत्याय त्वाम् उपदधामि ।' द्वितीय जैसे—'रश्मिना अधिपतिना सती सत्यं जिन्वः ।' तृतीय जैसे—'रश्मिना अधिपतिना सत्येन सत्यं जिन्व ।' इत्यादि । सर्वत्र ऐसे ही कल्पना कर लेनी चाहिये अर्थात् अत्येक मनुष्य में तीन आकांक्षाएं हैं जैसे—

१. योग्य अधिकारों को उसके कर्त्तव्य के लिये नियुक्त करना ।

२. अधिकारी को नियुक्त करके कर्त्तव्य पालन द्वारा उस विभाग की वृद्धि करना । ३. अध्यक्ष के द्वारा कर्त्तव्य कर्म की वृद्धि करना । इसी प्रकार शरीर में और ब्रह्माण्ड में भी ये १६ घटक विद्यमान हैं । जिनपर आत्मा और परमात्मा अपने भिन्न १ सामर्थ्यों से वश करते हैं ।

प्रतिपदसि प्रतिपदे त्वानुपदस्यनुपदे त्वा सम्पदसि सम्पदे त्वा तेजोऽसि तेजसे त्वा ॥ ८ ॥

त्रिवृदसि त्रिवृते त्वा प्रवृदसि प्रवृते त्वा विवृदसि विवृते त्वा सुवृदसि सुवृते त्वा क्रमोऽस्याक्रमाय त्वा संक्रमोऽसि संक्रमाय त्वोत्क्रमोऽस्युत्क्रमाय त्वोत्क्रान्तिरस्युत्क्रान्त्यै त्वाधिपतिनोर्जोर्जं जिन्व ॥ ९ ॥

प्रजापतिर्देवता । भुरिगार्घ्यनुष्ठप् गान्धारः । (९) विरा ब्राह्मी जगती । निषादः ॥

भा०—१. तू (प्रतिपत् असि) प्रत्येक पदार्थों को प्राप्त करने और ज्ञान करने में समर्थ होने से 'प्रतिपत्' नाम का अधिकारी है । तुझको (प्रतिपदे) 'प्रतिपत्' अर्थात् उत्तम, प्राप्त होने योग्य पद के लिये नियुक्त करता हूँ ।

२. (अनुपत् असि अनुपदे त्वा) अनुरूप या अनुकूल हितकारी पदार्थों को प्राप्त करने में समर्थ होने से तू 'अनुपद' है । तुझको 'अनुपद' पद पर नियुक्त करता हूँ ।

३. (सम्पत् असि सम्पदे त्वा) अच्छी प्रकार से समस्त पदार्थों को ज्ञान करने और प्राप्त करने वाला होने से तू 'सम्पत्' है । तुझको 'सम्पद' वृद्धि के लिये नियुक्त करता हूँ ।

४. (तेजः असि तेजसे त्वा) तेजःस्वरूप पराक्रमशील होने से 'तेजस्' है । तुझको तेज की वृद्धि के लिये उसी पद पर नियुक्त करता हूँ ।

६—जिन्व वेषधीः क्षत्राय क्षत्रं जिन्व' इति कायव० ।

५. (त्रिवृत् असि त्रिवृते त्वा) तू त्रिगुण शक्तियों से वर्त्तमान होने से, या तीनों वेदों में, ज्ञानी 'तीनों लोकों में यशस्वी' एवं तीन कालों में तत्त्व-दर्शी होने से 'त्रिवृत्' है। तुझे 'त्रिवृत्' पद के लिये ही नियुक्त करता हूँ।

६. (प्रवृत् असि प्रवृते त्वा) तू प्रकृष्ट, दूर देश में भी उत्तम व्यवहार करने में समर्थ होने से 'प्रवृत्' है। तुझे 'प्रवृत्' पद के लिये नियुक्त करता हूँ।

७. (सवृत् असि सवृते त्वा) समस्त प्रजाओं में समान रूप से व्यवहार करने में समर्थ है अतः तुझे 'सवृत्' पद पर नियुक्त करता हूँ।

८. (विवृत् असि विवृते त्वा) तू विविध दशाओं और प्रजाओं और कार्यों में व्यवहार करने में समर्थ होने से 'विवृत्' है अतः तुझे 'विवृत्' पद के लिये नियुक्त करता हूँ।

९. तू (आक्रमः असि आक्रमाय त्वा) सब तरफ आक्रमण करने में समर्थ है। अतः तुझे 'आक्रम' अर्थात् आक्रमण करने के पद पर नियुक्त करता हूँ।

१०. (संक्रमः असि संक्रमाय त्वा) तू सब तरफ फैल जाने में समर्थ होने से 'संक्रम' है। तुझे 'संक्रम' नाम पद पर नियुक्त करता हूँ।

११. (उत्क्रमः असि उत्क्रमाय त्वा) तू उन्नत पद या स्थानों पर क्रमण करने में समर्थ होने से 'उत्क्रम' है तुझे 'उत्क्रम' पद पर नियुक्त करता हूँ।

१२. (उत्क्रान्तिः असि उत्क्रान्त्यै त्वा) तू ऊँचे प्रदेशों में क्रमण करने से समर्थ होने से 'उत्क्रान्ति' है। तुझे 'उत्क्रान्ति' पद पर ऊँचे स्थानों में चढ़ जाने के कार्य पर ही नियुक्त करता हूँ।

हे राजन् ! इस प्रकार योग्य १ कार्यों के लिये योग्य २ पद पर, योग्य २ पुरुषों को नियुक्त करके तू (अधिपतिना) अधिपति, अध्यक्ष रूप अपने ही (ऊर्जा) बल वीर्य या पराक्रम से (ऊर्जम्) अपने पराक्रम, बल वीर्य को (जिन्व) वृद्धि कर, उसे पुष्ट कर।

इस प्रकार प्रतिपत्, अनुपत्, सम्पत्, तेजस् त्रिवृत्, प्रवृत्, विवृत्, संवृत्, आक्रम, संक्रम, उत्क्रम, और उत्क्रान्ति । इन चारह कार्यों के लिये १२ पदाधिकारियों को नियुक्त किया जाता है । ११ पहली और १२ ये मिलकर २४ राष्ट्र की सम्पदाओं या विभागों का वर्णन हो गया ।

१ राश्यसि प्राची दिग्वसवस्ते देवा ऽअधिपतयोऽग्निहेतीनां प्रतिधर्ता त्रिवृत् त्वा स्तोमः पृथिव्यां श्रयत्वाज्यमुक्थमव्यथायै स्तम्नातु रथन्तरं साम प्रतिष्ठित्या ऽअन्तरिक्षं ऽअव्यस्ता । २ प्रथमजा देवेषु दिवो मात्रया वरिष्णा प्रथन्तु विधर्ता चायमधिपतिश्च ते त्वा सर्वे संविदाना नाकस्य पृष्ठे स्वर्गे लोके यजमानं च सादयन्तु ॥ १० ॥

वत्वादयो देवताः । (१) विराट् ब्राह्मी त्रिष्टुप् । धैवतः । (२) ब्राह्मी । मध्यमः ॥

भा०—(प्राची दिग्) प्राची, पूर्व दिशा जिस प्रकार सूर्य के उदय से प्रकाशमान है उसी प्रकार राजा के तेज और पराक्रम से तेजस्विनी है राजशक्ते ! तू भी (राज्ञी असि) रानी के समान सर्वत्र तेजस्विनी है । (वसवः देवाः) वसुगण, विद्वान् पदाधिकारी लोग (ते अधिपतयः) तेरे पालन करने वाले अधिकारी पुरुष हैं । (अग्निः) अग्नि, सूर्य के समान तेजस्वी, संतापकारी अग्रणी, सेनापति (हेतीनां) समस्त-शस्त्र अस्त्रों और अस्त्रधारी सेनाओं का (प्रतिधर्ता) धारण करने वाला है । (त्वा) तुझको (त्रिवृत् स्तोमः) त्रिवृत् नामक स्तोम अर्थात् पदाधिकारी (पृथिव्यां) इस पृथिवी पर (श्रयतु) मन्त्र, प्रज्ञा, सेना इन तीनों शक्तियों सहित वर्तमान आश्रय करे, स्थापित करे या तेरा उपभोग करे । (आज्यम्) आज्य, संग्रामोपयोगी (उक्थम्) युद्ध विद्या या शासन (त्वा) तुझको (स्तम्नातु) तुझे स्तम्भ के समान आश्रय देकर स्थिर करे । (रथन्तरं साम) रथों से चरण करने वाला क्षात्रबल (प्रतिष्ठित्यै) तेरी प्रतिष्ठा के लिये हो ।

(प्रथमजाः ऋषयः) श्रेष्ठ, मन्त्रद्रष्टा लोग (त्वा) तुझको (देवेषु) विद्वानों, या विजयी राजाओं, या पदाधिकारियों के बीच (दिवः मात्रया) ज्ञान प्रकाश के बड़े परिमाण से और (वरिष्णा) विशाल सामर्थ्य से (प्रथन्तु) विस्तृत करें । (विधर्त्ता) विशेष पदों के धारक जन और (अधिपतिः च) अधिपति, अध्यक्ष लोग (ते सर्वे) वे सब मिल कर (संविदानाः) परस्पर सहयोग और सहमति करते हुए (त्वा) तुझको (नाकस्य) दुखों से सर्वथा रहित सुख (पृष्ठे) आश्रय (स्वर्गे लोके) सुखमय प्रदेश में (सादयन्तु) स्थापित करें । और (यजमानं च) उसी उत्तम सुखमय लोक में इस राष्ट्रयज्ञ के विधाता राजा को भी स्थापित करें । शत० ८ । ६ । ५ ॥

१ विराडसि दक्षिणा दियुद्रास्ते देवा अधिपतय इन्द्रो हेतीनां प्रतिधर्त्ता पञ्चदशस्त्वा स्तोमः पृथिव्यां श्रयतु प्रऽउगमुक्थमव्यथायै स्तभ्नातु बृहत्साम प्रतिष्ठित्या ऽअन्तरिक्षं ऽऽमृत्ययस्त्वा २ प्रथमजा देवेषु दिवो मात्रया वरिष्णा प्रथन्तु विधर्त्ता चायमधिपतिश्च ते त्वा सर्वे संविदाना नाकस्य पृष्ठे स्वर्गे लोके यजमानं च सादयन्तु ॥ ११ ॥

रुद्रा देवताः । (१) स्वराड् ब्राह्मी त्रिष्टुप् । धेवतः ॥ (२) ब्राह्मी बृहती । मध्यमः ॥

भा०—(दक्षिणा दिग्) दक्षिण दिशा जिस प्रकार सूर्य के प्रखर ताप से बहुत अधिक उज्ज्वल होती है उसी प्रकार हे राजशक्ते ! तू (विराड् असि) विराट् है, तू विशेष तेज और विविध ऐश्वर्यों से शोभा युक्त है । (रुद्राः देवाः ते अधिपतयः) रुद्र, शत्रुओं को रूलाने में समर्थ, एवं शरीर में प्राणों के समान जीवनोपयोगी द्रव्यों को और बलकारी पदार्थों को रोक लेने में समर्थ रुद्रगण तेरे अधिपति हैं । (इन्द्रः हेतीनां प्रतिधर्त्ता) इन्द्र शस्त्रास्त्रों का धारक है । (पञ्चदशः स्तोमः त्वा पृथिव्यां श्रयतु) शरीर में जिस प्रकार दश इन्द्रिय, पञ्च प्राण, अथवा हाथों की दश अंगुलियों और

२ पैर और १ बाहु, और आत्मा या शिर १५ वां, ये शरीर को धारण करते हैं उसी प्रकार राष्ट्र के रक्षक और धारक १५ विभाग तुमको पृथिवी पर स्थिर रखें (अव्यथायै) पीड़ा, कष्ट न होने देने के लिये (प्रउगम् उक्थम्) नाना अधिकारियों की उत्कृष्ट योजना या उत्तम १ पुरुषों की उत्तम २ पदों पर स्थापना रूप उक्थ अर्थात् अम्युदय का कार्य या बल राष्ट्र को (स्तभ्रातु) थामे रहे । (प्रतिष्ठित्या) प्रतिष्ठा के लिये (बृहत्साम) बृहत्साम या महान् बल सामर्थ्य हो (अन्तरिक्ष ऋषयः) इत्यादि पूर्ववत् । शत० ८ । ६ १ । ६ ॥

सम्राडसि प्रतीची दिगादित्यास्ते देवा अधिपतयो वरुणो हेतीनां प्रतिधर्त्ता सप्तदशस्त्वा स्तोमः पृथिव्यां श्रयतु मरुत्व-तीयमुक्थमव्यथायै स्तभ्रातु वैरूपथं साम प्रतिष्ठित्या ऽअन्तरिक्ष ऋषयस्त्वा प्रथमजा देवेषु दिवो मात्रया वरिष्णा प्रथन्तु विधर्त्ता चायमधिपतिश्च ते त्वा सर्वे संविदाना नाकस्य पृष्ठे स्वर्गे लोके यजमानं च सादयन्तु ॥ १२ ॥

आदित्या देवताः । (१) मुरिग् ब्राह्मी जगती । निषादः । (२) ब्राह्मी बृहती । मध्यमः ॥

भा०—(प्रतीची दिग्) पश्चिम दिशा जिस प्रकार मध्यान्ह के बाद भी प्रखर सूर्य से सब प्रकार से दीप्त, उज्ज्वल होती है उसी प्रकार हे राजशक्ते ! तू भी अपने पूर्ण वैभव को प्राप्त कर लेने के बाद (सम्राट् असि) 'सम्राट्' की शक्ति बन जाता है । (ते अधिपतयः आदित्याः) आदित्य के समान तेजस्वी, पदाधिकारी अथवा आदान-प्रतिदान करने वाले वैश्य-गण तेरे अधिपति, स्वामी होते हैं । (वरुणः हेतीनां प्रतिधर्त्ता) शत्रुओं को वारण करने में समर्थ पुरुष शस्त्रों को धारण करने वाला होता है । (सप्तदशः स्तोमः त्वा पृथिव्यां श्रयतु) शरीर में दश हाथ की अंगुलियों, बाहु, टांगें ४, शिर, उदर, और आत्मा इन १७ अंगों के समान राष्ट्र को धारण करने वाले १७ घटक विभागों से सम्पन्न वीर्यवान् अधिकारीगण

तुल्यको पृथिवी पर स्थित रखें । (मरुत्वतीयम् उक्थम् अन्यथायै स्तभ्नातु)
वायु के समान वेगवान् वीर भटों के नायक इन्द्र, सेनानायक का सेना
बल ही राष्ट्र-व्यवस्था को पीड़ा न पहुँचाने के लिये दृढ़ करे । और (वैरूपं
साम प्रतिष्ठित्या) उसके प्रतिष्ठा या आश्रय के लिये 'वैरूप' अर्थात्
विविध प्रकार की प्रजा का विविध बल ही रहे । (अन्तरिक्ष ऋषयः० इत्यादि)
पूर्ववत् ॥ शत० ८ । ६ । १ । ७ ॥

'प्रउगम्- उक्थम्'—तद् यत् अभिप्रायुजत तत् प्रउगस्य प्रउगत्वम् ॥
प्राणाः प्रउगम् । तस्माद् बहवो देवता प्रउगे शस्यन्ते । कौ० १४ । ५ ॥
ग्रहोक्थं वा एतद् यत् प्रउगम् । ऐ० ३ । १ ॥ सब तरफ उत्तम अधिकारियों
को नियोजन करना या ग्रहों की या राज्याङ्गों की स्थापना 'प्रउग'
कहाता है । इसमें बहुत से 'देव' राजपदाधिकारी पुरुषों का वर्णन
होता है । प्राण एव उक् तस्य अन्नमेव थम् शत० । १० । ४ । १ । २३ ॥
अग्निर्वा उक् तस्याहुतय एव थम् । १० । ६ । २ । १० । अतो हि
सर्वाणि नामानि उत्तिष्ठन्ति । विड् उक्थानि । ता० १८ । ८ । ६ ॥ जिस
प्रकार शरीर में प्राण और वेदि में अग्नि है उसी प्रकार राष्ट्र में वह पद
जिस पर मुख्य पदाधिकारी नियुक्त है 'उक्थ' कहाता है । इसमें पदाधिकार
और उसका भोग्य वेतन और ऐश्वर्य दोनों सम्मिलित हैं । इसी का दूसरा
नाम 'शस्त्र' है । इसे सामान्यतः 'धारा' कह सकते हैं ।

मरुत्वतीयम् उक्थम् । एतद् वार्त्रमेवोक्थं यन्मरुत्वतीयम् एतेन
हीन्द्रः प्रतना अजयत् ॥ कौ० १५ । २ ॥ तदेतत् प्रतनाजिदेव सूक्तम् ।
एतेन हीन्द्रो वृत्रमहन् ॥ कौ० १५ । ३ ॥

१ स्वराडस्युदीची दिङ् मरुतस्ते देवा ऽअधिपतयः सोमो
हेतीनां प्रतिधत्तैकविंशस्त्वा स्तोमः पृथिव्यां श्रयतु नि-
ष्कैवत्यमुक्थमन्यथायै स्तभ्नातु । वैराजथं साम प्रतिष्ठित्या
ऽअन्तरिक्ष ऋषयस्त्वा २ प्रथमजा देवेषु दिवो मात्रया वरिष्णा

प्रथन्तु विधुर्त्ता चायमधिपतिश्च ते त्वा सर्वे संविदाना नाकस्य
पृष्ठे स्वर्गे लोके यजमानं च सादयन्तु ॥ १३ ॥

मरुतो देवताः । भुरिग् अत्यष्टिः । गांधारः । (२) बृहती । मध्यमः ॥

भा०—(उदीची दिग्) उत्तर दिशा जिस प्रकार ध्रुव प्रदेश में स्वयं
उत्पन्न विद्युत् धाराओं से स्वतः प्रकाशमान है, उसी प्रकार हे राजशक्ते ! तू
(स्वराड् असि) स्वयं दीप्तिमती होने से 'स्वराट्' है । (ते अधिपतयः)
तेरे स्वामी (मरुतः देवाः) वायुओं के समान तीव्र गतिशील, शरीर में
प्राणों के समान जीवनप्रद विद्वान् हैं । (सोमः हेतीनां प्रतिधुर्त्ता) शस्त्रों
का धारणकर्त्ता, वशयिता 'सोम' है । (एकविंशः त्वा स्तोमः पृथिव्यां
अथतु) शरीरगत २१ अंगों के समान २१ विभागों के अधिकारीगण
तुझको पृथ्वी पर स्थिर रखें (निष्केवल्यम् उक्थम् अव्यथायै स्तभ्नातु)
पीड़ा, कष्ट न होने देने के लिये 'निष्केवल्य उक्थ' अर्थात् एकमात्र राजा
का ही बल उसको पुष्ट करे । (वैराजं साम प्रतिष्ठित्यै) 'वैराज साम'
अर्थात् सर्वोपरि राजा की आज्ञा का बल ही उसकी प्रतिष्ठा के लिये पर्याप्त
है । (अन्तरिक्षे ऋषयः ० इत्यादि) पूर्ववत् ॥ शत० ८ । ६ । १ । ८ ॥

निष्केवल्यम् उक्थम्—अथैतदिन्द्रस्यैव निष्केवल्यम् । तन्निष्केवल्यस्य
निष्केवल्यत्वम् ॥ कौ० १५ । ४ ॥ आत्मा यजमानस्य निष्केवल्यम् ॥
ऐ० ८ । १ ॥ राजा का अपना ही सर्वोपरि प्रधान पदाधिकार 'निष्केवल्य'
है । उसके अधिकारों का विधान 'निष्केवल्य उक्थ' है ।

'वैराजं साम'—स वैराजमसृजत तदग्नेर्घोषोऽन्वसृज्यत । तां० ७ । ८ । ११
प्रजापतिवैराजम् । तां० १६ । ५ । १७ ॥

१ अधिपत्यासि बृहती दिग्विश्वे ते देवा ऽअधिपतयो बृहस्प-
तिर्हेतीनां प्रतिधुर्त्ता त्रिणवत्रयस्त्रिंशौ त्वा स्तोमौ पृथिव्या
अथतां वैश्वदेवाग्निमारुते ऽउक्थे ऽअव्यथायै स्तभ्नीतां शाक्वर-
रैवते सामन्ती प्रतिष्ठित्याऽअन्तरिक्षे ऽऋषयस्त्वा प्रथमजा देवेषु

दिवो मात्रया वरिष्णा प्रथन्तु विधुर्त्ता चायमधिपतिश्च ते
त्वा सर्वे संविदाना नाकस्य पृष्ठे स्वर्गे लोके यजमानं च
सादयन्तु ॥ १४ ॥

(१) विश्वेदेवाः देवताः । प्रकृतिः । धैवतः । (२) ब्राह्मी बृहती । मध्यमः ।

भा०—(बृहती दिग्) बृहती या सबसे ऊपर की दिशा जिस प्रकार
सबसे ऊपर विराजमान है उसी प्रकार हे राज-शक्ते ! तू भी (अधिपत्नी
असि) समस्त राष्ट्र में सर्वोपरि रहकर प्रजा का पालन करती है । (विश्वेदेवाः
ते अधिपतयः) तेरे समस्त देव, विद्वान् गण अधिपति हैं । (हेतीनां
प्रतिधर्त्ता बृहस्पतिः) शस्त्रों का धारणकर्त्ता 'बृहस्पति' है । (त्रिनव-त्रय-
विंशौ स्तौमौ त्वा पृथिव्यां श्रयताम्) २७ या ३३ अंगों के समान
२७ और ३३ विभागों के अधिकारीगण तुझे पृथ्वी पर स्थिर करें । (वैश्व-
देवाग्निमारुते उक्थे अव्यथायै स्तभ्नीताम्) वैश्वदेव और आग्निमारुत दोनों
'पद' राज्य कार्य में पीड़ा न पहुँचने देने के लिये स्तोम के समान सम्भालें,
उसकी रक्षा करें (शाक्वरैरेवते सामनी प्रतिष्ठित्या) शाक्वर और रैवत
दोनों बल उसके आश्रय के लिये हों । (अन्तरिक्षे ऋषयः त्वा० इत्यादि
पूर्ववत् । शत० ८ । ६ । १ । १६ ॥

'वैश्वदेव उक्थ'—पाञ्चजन्यं वा एतद् उक्थं यद्वैश्वदेवम् । ऐ० ३।२१॥

शाक्वरं मैत्रावरुणस्य । कौ० २।५।११॥ रेवत्यः सर्वाः देवताः । ऐ० २।१।१६॥

वाग् वा रेवती । शत० १ । ३ । ८ । १ । १२॥

अयं पुरो हरिकेशः सूर्यैरश्मिस्तस्य रथगृत्सश्च रथौजाश्च
सेनानीग्रामरथौ । पुञ्जिकस्थला च क्रतुस्थला चाप्सरसौ ।
वृद्धणवः पशवो हेतिः पौरुषेयो ब्रधः प्रहेतिस्तेभ्यो नमोऽयस्तु
ते नोऽवन्तु ते नो मृडयन्तु ते यं द्रिष्मो यश्च नो द्रिष्टि तमेषां
जम्भे दध्मः ॥ १५ ॥

परमेष्ठा ऋषिः । हरिकेशो वसन्त ऋतुर्देवता । विकृतिः । मध्यगः ॥

भा०—संवत्सर में ऋतुओं के समान प्रजापालक राजा के अधीन ५ मुख्य सरदारों का वर्णन करते हैं । (अयम्) यह (पुरः) सब के आगे पूर्व की ओर (सूर्यरश्मिः) सूर्य की किरणों के समान तेजों से प्रकाशमान वसन्त ऋतु के समान (हरिकेशः) नये २ कोमल हरे पीले पत्रों रूप केशों से युक्त, सूर्यवत् तेजस्वी प्रजा के क्लेशों को हरण करनेवाला है । (तस्य) उसके अधीन वसन्त ऋतु के 'मधु' और 'माधव' दो मासों के समान (रथगृत्सः च) रथों के सञ्चालन में परम बुद्धिमान् 'रथगृत्स' और (रथौजाः च) रथों के द्वारा पराक्रम करने में कुशल 'रथौजाः' ये दोनों क्रमशः (सेनानी-ग्रामण्यौ) सेनानायक और ग्रामनायक या सैनिक दलों के नायक हैं । इनके अधीन (पुञ्जिकस्थला च) पुञ्ज रूप होकर स्थान या देश में विद्यमान, अथवा पुंजिक, पुरुषों को विजय करने का आश्रय रूप 'सेना' और (ऋतुस्थला) ऋतु अथात् प्रज्ञा, बुद्धि का एकमात्र आश्रय 'समिति' ये दोनों (अप्सरसौ) पुंजीभूत रूप लावण्य की आश्रय और ऋतु = काम की आश्रय रूप होकर स्त्रियों के समान साथ रहती हैं और वे (अप्सरसौ) अप-भास पुरुषों द्वारा या अप-प्रजाओं में व्याप्त या आगे बढ़ने वाली होने से 'अप्सरा' कहाती हैं ।

इनके अधीन (दंक्षणवः पशवः) दाढ़ों से काटने वाले पशु सिंह, व्याघ्र, कुत्ते चीते आदि के समान मार काट करने वाले भट लोग (हेतिः) शस्त्रों के समान अथवा सिंह, व्याघ्रादिक पशुओं के समान उनके घोर रुधिरपायी शस्त्र और (पौरुषेयः वधः) पुरुषों का, पुरुषों के द्वारा वध करना (प्रहेतिः) उत्तम श्रेणी के अच्छादि हैं (तेभ्यः नमः अस्तु) उनका हम आदर करें । (ते नः अवन्तु) वे हमारी रक्षा करें । (ते नः मृडयन्तु) वे हमें सुखी करें । (यं ते द्विष्मः) वे और हम जिसको द्वेष करें और (यः च नः द्वेष्टि) जो हमारे से प्रेम का वर्ताव न करके

हम से द्वेष करता है (तम्) उसको (एषाम्) इनके (जम्भे) हिंसाकारी जम्भ अर्थात् मुख में या कष्टदायी हवालात में (दध्मः) डालें ॥

शत० ८।६।११६ ॥

अयं दक्षिणा विश्वकर्मा तस्य रथस्वनश्च रथेचित्रश्च सेनानीग्रामरथौ । मेनका च सहजन्या चाप्सरसौ यातुधाना हती रक्षांसि प्रहेतिस्तेभ्यो नमो ऽअस्तु ते नो ऽवन्तु ते नो मृडयन्तु ते यं द्विष्मो यश्च नो द्वेष्टि तमेषां जम्भे दध्मः ॥१६॥

परमेषा ऋषिः । विश्वकर्मा ग्रीष्मतुर्देवता । निचृत् प्रकृतिः । धैवतः ॥

भा०—(दक्षिणा) दक्षिण दिशा में, दायें ओर (अयं) यह साक्षात् (विश्वकर्मा) विश्वकर्मा वायु के समान बलशाली, शरीर में प्राण वायु या मन के समान राष्ट्र शरीर का आधार, राज्य के समस्त कार्यों का विधायक 'विश्वकर्मा' नाम पदाधिकारी है । (तस्य रथस्वनः च रथेचित्रः च) उसके 'रथस्वन' और 'रथेचित्र' नामक दो ग्रीष्म ऋतु के प्रखर दो मास 'शुक्र' और 'शुचि' के समान तेजस्वी प्रतापी हैं । जिसके रथ में अद्भुत शत्रु-भयकारी शब्द निकलता हो वह 'रथस्वन' और जिसके रथ में चित्र विचित्र रचना और युद्धार्थ विचित्र उपकरण हों वह 'रथेचित्र' कहाता है । उनकी (मेनका सहजन्या च अप्सरसौ) मेनका और सहजन्या दोनों स्त्रियों के समान सहयोगिनी हैं । जिसका सब मान करें, जिसको सब मानें वह द्यौ के समान ज्ञान प्रकाश वाली विज्ञान की प्रबल शक्ति या विद्वानों की सभा 'मेनका' है । और पृथिवी या राष्ट्र के समान जनों से पूर्ण युद्ध की शक्ति या जनसमुदाय की संघ शक्ति 'सहजन्या' है । (यातुधानाः हतिः) पीड़ा प्रदान करने वाले शस्त्रधर और गुप्त घातक लोग उसके सामान्य खड्ग के समान हैं । (रक्षांसि प्रहेतिः) राक्षस स्वभाव के क्रूर वधक लोग उसके उत्कृष्ट शस्त्र के समान हैं । (तेभ्यः नमः अस्तु० इत्यादि) पूर्ववत् ॥ शत० ८।६।१।१७ ॥

अयं पश्चाद्विश्वव्यचास्तस्य रथप्रोतश्चासमरथश्च सेनानीग्रामण्यौ । प्रम्लोचन्ती चानुम्लोचन्ती चाप्सरसौ व्याघ्रा हेतिः सर्पाः प्रहेतिस्तेभ्यो नमो ऽअस्तु ते नोऽवन्तु ते नो मृडयन्तु ते यं द्विष्टो यश्च नो द्वेष्टि तमेषां जम्भे दधमः ॥ १७ ॥

वर्षर्तुर्विश्वव्यचा देवता । कृतिः । निषादः ॥

भा०—(पश्चात्) पीछे की ओर यह (विश्वव्यचाः) समस्त विश्व में फैलने वाला वर्षा ऋतु के सूर्य के समान शत्रुओं पर शस्त्रास्त्र वर्षण करने में समर्थ या शरीर में चक्षु के समान सर्वत्र व्यापक अधिकारी है जिसके (रथप्रोतः च असमरथः च सेनानी ग्रामण्यौ) 'रथप्रोत' और 'असमरथ' ये दो सेनानायक और ग्राम नायक हैं । जो सदा रथ पर ही चढ़े रह कर युद्ध करे वह 'रथप्रोत' और जिसके मुकाबले में दूसरा कोई रथ न लड़ सके वह 'असमरथ' है । उन दोनों की (प्रम्लोचन्ती च अनुम्लोचन्ती च अप्सरसौ) 'प्रम्लोचन्ती' और 'अनुम्लोचन्ती' ये दोनों अप्सराएं हैं । दिन के समान प्रकाश करने वाली विद्युत् आदि पदार्थ विज्ञान की शक्ति 'प्रम्लोचन्ती' और रात्रि के समान अन्धकार करने वाली या सबको सुला देने वाली या वश करने वाली शक्ति 'अनुम्लोचन्ती' है । (व्याघ्राः हेतिः) व्याघ्र के समान शूर पुरुष 'हेति' अर्थात् उसके साधारण शस्त्र हैं और (सर्पाः) साँपों के समान कुटिलाचारी एवं विषादि द्वारा प्रस्वापन करने वाले लोग (प्रहेतिः) उत्कृष्ट अस्त्र हैं (तेभ्यः नमः इत्यादि) पूर्ववत् ॥ शत० ८ । ६ । १ । १८ ॥

अयमुत्तराख्यद्विसुस्तस्य तार्क्ष्यश्चारिष्टनेमिश्च सेनानीग्रामण्यौ । विश्वाची च घृताची चाप्सरसावापो हेतिर्वातुः प्रहेतिस्तेभ्यो नमो ऽअस्तु ते नोऽवन्तु ते नो मृडयन्तु ते यं द्विष्टो यश्च नो द्वेष्टि तमेषां जम्भे दधमः ॥ १८ ॥

संयद्रसुः शरदृतुर्देवता । भुरिगतिधृतिः । षड्जः ॥

भा०—(उत्तरात्) उत्तर की ओर, बायें, (अयम् संयद्वसुः) यह धनार्थी पुरुष जिसके पास बराबर आते हैं अथवा वसु, वासशील प्रजाओं का संयमन करने वाला जिसके पास बड़ाभारी खजाना एकत्र हो वह है। उसके (ताक्ष्यः च अरिष्टनेमिः च सेनानीग्रामण्यौ) 'ताक्ष्य' और 'अरिष्टनेमि' ये दोनों सेनानायक और ग्रामनायक हैं। शरद् ऋतु के दो मास 'इष्' और 'ऊजू' के समान अन्तरिक्ष में तोक्ष्ण वाणों को फेंकने वाला 'ताक्ष्य' और अहिंसित नियमन शक्ति वाला 'अरिष्टनेमि' कहाता है। उन दोनों की (विश्वाची च घृताची च अप्सरसौ) 'विश्वाची' और 'घृताची' ये दोनों अप्सराएं हैं। समस्त जनों को व्यवस्था में बांधने और समस्त पदार्थ प्राप्त कराने वाली विद्युत के समान व्यवस्था 'विश्वाची' है और सर्वत्र शुष्टिकारक पदार्थों को प्राप्त करने वाली या अग्निज्वाला के समान राजा के मान गौरव प्रतिष्ठा को उभाड़ने वाली शक्ति 'घृताची' है। उनके (अपः हेतिः वातः प्रहेतिः) जल सामान्यशस्त्र और वायु उत्कृष्ट शस्त्र हैं। (तेभ्यः नमः० इत्यादि) पूर्ववत् ॥ शत० ८ । ६ । १ । १९ ॥

अयमुपर्यर्वाग्वसुस्तस्य सेनजिच्च सुषेणश्च सेनानीग्रामण्यो ।
 उर्वशी च पूर्वचितिश्वाप्सरसाववस्फूर्जन् हेतिर्विद्युत्प्रहेतिस्तेभ्यो
 नमो अस्तु ते नोऽवन्तु ते नो मृडयन्तु ते यं द्विष्मो यश्च नो
 द्वेष्टि तमेषां जम्भे दध्मः ॥ १६ ॥

हेमन्तर्तुर्वाग्वसुर्देवता । निचृत् कृतिः । निषादः ॥

भा०—(उपरि) सबके ऊपर (अयम्) यह (अर्वाग्वसुः) हेमन्त ऋतु के समान वृष्टि के बाद अन्न-समृद्धि के देने वाला एवं प्रजा के ऊपर निरन्तर ऐश्वर्य बरसाने वाला, अथवा समस्त राष्ट्रवासी जिसके अधीन हैं वह राजा हेमन्त के समान अति शीत एवं चुद्धादि में समृद्ध शत्रु राष्ट्रों का भी पतझड़ के समान ऐश्वर्य रहित कर देने में समर्थ है।

(तस्य) उसके (सेनजित् च सुपेणः च सेनानी-ग्रामण्यौ) सेना द्वारा परसेना को विजय करने वाला 'सेनजित्' और उत्तम सेना वाला 'सुपेण' ये दो सेना नायक और ग्रामनायक हेमन्त के दो मास 'सहः' और 'सहस्य' के समान हैं । (उर्वशी च पूर्वचित्तिश्च अप्सरसौ) 'उर्वशी' और 'पूर्वचित्ति' ये दोनों अप्सराएं हैं, अर्थात् विशाल राष्ट्र को वश करने वाली शक्ति 'उर्वशी' और पूर्व प्राप्त देशों से धन संग्रह करने वाली या पूर्व ही समस्त कर्तव्य का निर्धारण करने वाली 'पूर्वचित्ति' कहाती है । (अवस्फूर्जन् हेतिः) उसका घोर गर्जन करने वाला 'शस्त्र' है । विद्युत् के समान तीव्र दीप्ति से पड़ने वाला उत्कृष्ट अस्त्र है (तेभ्यः नमः० इत्यादि) पूर्ववत् । शत० ८ । ६ । १ । २० ॥

अग्निर्मुर्धा दिवः ककुत्पतिः पृथिव्या ऽग्रयम् ।

अपां रेतांसि जिन्वति ॥ २० ॥ ऋ० ८ । ४४ । १६ ॥

अग्निर्ऋषिः । निचृद् गायत्रो । षड्जः ॥

भा०—(अग्निः) अग्नि के समान प्रतापी पुरुष (दिवः) सूर्य के समान द्यौलोक, आकाश एवं ज्ञान विज्ञान का और विद्वान् उत्कृष्ट प्रजा का (पृथिव्याः) पृथिवी अर्थात् पृथिवी पर के समस्त प्राणियों का (ककुत्पतिः) महान् स्वामी, अर्थात् सर्वश्रेष्ठ पालक है । वह ही (अपां) आस प्रजाओं के (रेतांसि) वीर्यों, बलों को (जिन्वति) बढ़ाता है ।

आत्मा प्राणों का नेता होने से अग्नि है । वह सब का (मुर्धा) शिरोमणि, (दिवः) मस्तक से लेकर और (पृथिव्याः) चरणों तक का महान् स्वामी है । वह (अपांसि) प्राणों के बलों की वृद्धि करता है । इसी प्रकार परमेश्वर सब का शिरोमणि आकाश और पृथिवी का स्वामी है । वह (अपां) मूलकारण प्रकृति के परमाणुओं में उत्पादक शक्ति को अधीन करता है । (व्याख्या देखो अ० ३ । १२)

अग्रमग्निः सहस्रिणो वाजस्य शतिनस्पतिः ।

मूर्धा कवी रयीणाम् ॥ २१ ॥ ऋ० ८ । ६४ । ४ ॥

विरूप ऋषिः अग्निदेवता । निचृद्गायत्री । पङ्कजः ।

भा०—(अग्रम्) यह साक्षात् (अग्निः) अग्रणी, परसंतापक, परंतप राजा (कविः) क्रान्तदर्शी, दूरदर्शी और सूक्ष्मदर्शी है । वह (सहस्रिणः) सहस्रों सुखों से युक्त और (शतिनः) सैकड़ों ऐश्वर्यों वाले (वाजस्य) बल और ऐश्वर्य का (पतिः) पालक और सब के (मूर्धा) शिर के समान उच्च पद पर विराजमान है । वही (रयीणाम् पतिः) समस्त ऐश्वर्यों का भी स्वामी है ।

त्वामग्ने पुष्करादध्यथर्वा निरमन्थत ।

मुर्ध्नो विश्वस्य वाघतः ॥ २२ ॥ ऋ० ६ । १६ । १३ ॥

भा०—व्याख्या देखो (अ० ११ । ३२ उत्तरार्ध)

भुवो यज्ञस्य रजसश्च नेता यत्रा न्यिदुभिः सचसे शिवाभिः ।
दिवि मुर्धानं दधिषे स्वर्षा जिह्वामग्ने चकृषे हव्यवाहम् ॥ २३ ॥

ऋ० १० । ८ । ६ ॥

भा०—व्याख्या देखो (१३ । १५)

अबोध्यग्निः समिधा जनानां प्रति धेनुमिवायतीमुषासम् ।
यद्वा इव प्रव्यामुज्जिह्वानाः प्र भानवः सिञ्चते नाकमच्छे ॥ २४ ॥

ऋ० ५ । १ । १ ॥

बुधगाविष्ठिरावृषी । अग्निदेवता । निचृत् त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—(धेनुम् इव) दुधार कपिला गाय के समान (आयतीम्) आनेवाली (प्रति उषासम्) प्रत्येक प्रातःकाल को 'राजा के पक्ष में' (जनानां समिधा) जनो, प्रजाओं के उपकार के लिये (समिधा) समिधा से (अग्निः अबोधि) जिस प्रकार होमाग्नि प्रदीप्त होता है और

जिस प्रकार (जनानां) मनुष्यों के उपकार के लिये (समिधा) तेज से (प्रतिउपासम्) प्रति प्रातःकाल (अग्निः अबोधि) सूर्य प्रकाशित होता है उसी प्रकार (जनानां) राष्ट्र के प्रजाजनों के (सम्-इधा) सूर्य के समान तेज से ही (धेनुम् इव) कपिला गाय के समान (आयतीम्) प्राप्त होने वाला (प्रति उपासम्) प्रत्येक दुष्टों के संताप देने के अवसर में (अग्निः) अग्नि के समान तेजस्वी अग्रणी नेता रूप परंतप राजा को (अबोधि) प्रज्वलित, उत्तेजित किया जाता है । (उज्जिहानाः यद्वाः) ऊपर उड़ने वाले बड़े २ पक्षी जिस प्रकार (वयाम् प्रसिस्तते) शाखा की ओर आश्रय लेने के लिये बढ़ते हैं और (भानवः) सूर्य की उज्ज्वल किरणों (नाकम् प्रसिस्तते) जिस प्रकार आकाश की ओर बढ़ती हैं उसी प्रकार (यद्वाः) बड़े २ पदाधिकारी लोग (वयाम्) व्यापक उदार नीति को या कीर्ति को प्राप्त करते हैं और (भानवः) तेजस्वी पुरुष लोग (नाकम्) सुखमय राष्ट्र को (अच्छ) भली प्रकार प्राप्त करते हैं ।

अध्यात्म में देखो सामवेद द्वितीय संस्क० मन्त्र सं० ७३ ॥ और अथर्व० १३ । २ । ४३ ॥

अवोचाम॑ क्वये॑ मेध्याय॑ वचो॑ वन्दारु॑ वृषभाय॑ वृष्णे॑ ।
गवि॑ष्ठिरो नम॑सा स्तोम॑मग्नौ दि॒धीव रुक्म॑मु॒रुव्यश्च॑मश्रेत् ॥२५॥

ऋ० ५ । १ । १२ ॥

अग्निदेवता । निचृत् । त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—(मेध्याय) उत्तम गुणों आचरणों से युक्त पवित्र, (क्वये) क्रान्तदर्शी, प्रज्ञावान्, मेधावी, बुद्धिमान्, (वृष्णे) बलवान् (वृषभाय) श्रेष्ठ पुरुष के लिये (वन्दारु) हम वन्दना योग्य, स्तुति और आदर के (वचः) वचन का (अवोचाम) प्रयोग करें । (गविष्ठिरः) गौ

वेद वाणी में स्थिर प्रवचन करने वाला विद्वान् (नमसा) विनय भाव से (अग्नौ) प्रकाशमय परमेश्वर के विषय में (स्तोमम्) स्तुति समूह को ऐसे (अश्रेत्) प्रदान करे जैसे (गविष्ठिरः) किरणों में स्थित सूर्य (दिवि) आकाश में (उरुव्यञ्चम्) बहुत से लोकों में फैलने वाले (रुक्मम्) प्रकाश को (अश्रेत्) प्रदान करता है ।

अथवा—(गविष्ठिरः) पृथिवी पर स्थिर रूप से रहने वाला प्रजाजन (नमसा) नमन या दमनकारी बल से प्रभावित होकर (अग्नौ) अग्नि के समान तेजस्वी पुरुष में (स्तोमम्) अधिकार, वीर्य और सामर्थ्य (अश्रेत्) ऐसे प्रदान करती है जैसे परमेश्वर (दिवि) आकाश में (उरुव्यञ्चम् रुक्मम् इव) बहुत से लोको में व्यापक प्रकाशमान् सूर्य को स्थापित करता है ।

अयमिह प्रथमो धायि धातृभिर्होता यजिष्ठो ऽध्वरेष्वीड्यः ।
यमप्यग्नवानो भृगवो विरुचुर्वनेषु चित्रं विभ्वं विशेविशे ॥२६॥

क्र० ४ । ७ । १ ॥

भा०—(अयम्) यह (प्रथमः) सर्व श्रेष्ठ पुरुष (अध्वरेषु यजिष्ठः होता) यज्ञों में, यज्ञ करने वालों में सबसे उत्तम यज्ञ करने वाले होता के समान, (अध्वरेषु) हिंसा रहित राष्ट्र के पालन के कार्यों में या युद्धों में (यजिष्ठः) सबसे उत्तम संगति या व्यवस्था करने हारा, (होता) दान-शील होकर (ईड्यः) स्तुति करने योग्य है । वही (धातृभिः) राष्ट्र के धारण करने वाले पुरुषों द्वारा (इह) इस राष्ट्र-शासन के मुख्य पद पर (धायि) स्थापित किया जाता है । (अप्यग्नवानः भृगवः) ज्ञानी विद्वान् जिस प्रकार (वनेषु) वनों में (विभ्वं) व्यापक अग्नि को (विरुचुः) विविध उपायों से प्रकाशित करते हैं, प्रज्वलित करते हैं उसी प्रकार (वनेषु) रश्मियों में (चित्रम्) अद्भुत तेजस्वी, (विभ्वम्) विविध सामर्थ्यों से सम्पन्न (यम्) जिस प्रधान पुरुष को आश्रय ले

(विशेष-विशेष) प्रजा के हित के लिये (अग्नवानः भृगवः) रूप, विज्ञान शाली तेजस्वी पुरुष (विरुरुचुः) विविध प्रकार से प्रकाशित करते हैं । उसके लिये अपने १ गुण और शिल्प प्रकट करते हैं ।

जनस्य गोपा ऽअजनिष्ट जागृविरग्निः सुदक्षः सुविताय नव्यसे ।
घृतप्रतीको बृहता दिविस्पृशा द्युमद्विभाति भरतेभ्यः शुचिः ॥२७॥

ऋ० ५ । ११ । १ ॥

अग्निदेवता । निचृदार्षी जगती । निषादः ॥

भा०—(अग्निः) अग्रणी, नेता, राजा (नव्यसे) अभी नये २ प्राप्त किये (सुविताय) राष्ट्र के शासन-कार्य के संचालन के लिये (सुदक्षः) उत्तम बल, कर्म और ज्ञानवाला होकर (जागृविः) सदा जागरणशील, सावधान होकर (जनस्य गोपाः) समस्त प्रजाजन का पालक, रक्षक (अजनिष्ट) रहे । और वह (घृतप्रतीकः) मुखपर घृत लगाये ब्रह्मचारी के समान तेजस्वी स्वरूप होकर (दिविस्पृशा) आकाश में व्यापक (द्युमत्) कान्तिमान् तेजस्वी, ऐश्वर्य युक्त (बृहता) बड़े भारी राष्ट्र से सूर्य के समान तेज से (शुचिः) कान्तिमान्, निष्कपट, दोषरहित, शुद्ध होकर (भरतेभ्यः) प्रजा के भरण पोषण करने हारे विद्वान् पुरुषों से (द्युमत्) तेजस्वी होकर (विभाति) विविध ऐश्वर्यों से और तेजों गुणों से प्रकाशित होता है ।

त्वामग्ने ऽअङ्गिरसो गुहा हितमन्वविन्दञ्छिश्रियाणं वनेवने ।
स जायसे मथ्यमानः स हो महत् त्वामाहुः सहसस्पुत्रमङ्गिरः २८

ऋ० ५ । ११ । ६ ॥

अग्निदेवता । विराडार्षी जगती । निषादः ॥

भा०—हे (अग्ने) अग्नि के समान प्रकाशमान तेजस्विन् ! (गुहा-हितम्) अपने हृदय के गुह्य स्थान में स्थित और (वने-वने शिश्रिया-

णम्) वन २, प्रत्येक आत्मा आत्मा में विद्यमान (त्वाम्) तुझ परमेश्वर का (अंगिरसः) ज्ञानी योगाभ्यासी पुरुष जिस प्रकार (अनु अविन्दन्) साक्षात् दर्शन करते हैं या प्रथम अपने आत्मा का और फिर उसमें भी व्यापक तेरा साक्षात् करते हैं और जिस प्रकार (वने-वने शिश्रियाणम्) प्रति पदार्थ या प्रत्येक काष्ठ में या प्रत्येक जल के परमाणु में विद्यमान (गुहा हितम्) गुप्त रूप से स्थित अग्नि तत्त्व को (अङ्गिरसः) विज्ञान वेत्ता (अनु अविन्दन्) प्राप्त करते हैं और जिस प्रकार (सः) वह तू (मथ्यमानः) प्राणायाम, ज्ञान, ध्यानाभ्यास से मथित होकर परमेश्वर प्रकट होता है और जिस प्रकार अरणियों से मथा जाकर अग्नि प्रकट होता है उसी प्रकार (मथ्यमानः) अपनी और शत्रु सेना के बीच में युद्धादि द्वारा मथा जाकर (महत् सहः) बड़े भारी बल रूप में (जायसे) प्रकट होता है। हे (अंगिरः) सूर्य के समान या अंगारों के समान तेजस्विन् ! या शरीर में प्राण के समान राष्ट्र के प्राणरूप ! (त्वाम्) तुझको (सहसः पुत्रम्) बल का पुत्र, शक्ति का पुतला शक्ति से उत्पन्न हुआ (आहुः) कहते हैं।

सखायः सं वः सम्यञ्चमिषं स्तोमं चाग्रये ।

वर्षिष्ठाय क्षितीनामुर्जो नप्त्रे सहस्वते ॥ २६ ॥

ऋ० ५ । ७ । १ ॥

इष ऋषिः । अग्निदेवता । विराडनुष्टुप् । गान्धारः ॥

भा०—हे (सखायः) मित्रजनो ! (वः) आप लोग (क्षितीनां वर्षिष्ठाय) भूमियों पर प्रचुर जल वर्षात्रे हारे मेघ के समान (क्षितीनां) राष्ट्र निवासी प्रजाजनों पर (वर्षिष्ठाय) समस्त कामना योग्य सुखों को वर्षण करने हारे और (वर्षिष्ठाय) सब निवासियों से सबसे ऐश्वर्य, ज्ञान और बल में बड़े हुए और (उर्जः नप्त्रे) बल पराक्रम के बांधने, उसको नियम व्यवस्था में रखने वाले (सहस्वते) शत्रु विजयकारी बल से युक्त (अग्रये) अग्नि स्वरूप तेजस्वी पुरुष को (सम्यञ्चम् इषम्) सर्वो-

त्तम अन्न या अभिलाषा योग्य पदार्थ और (स्तोमं च) स्तुतियों या पदाधिकारों का (सं-भरत) अच्छी प्रकार प्रदान करो ।

स॒थं॑स॒मिधु॑वसे वृष॒न्न॒ग्ने विश्वा॑न्य॒र्यः ऽआ ।

ई॒डस्प॑दे स॒मि॒ध्यसे॒ स नो॑ वसू॒न्या भर॑ ॥ ३० ॥

ऋ० १० । १९ । १ ॥

संवन्न श्रुतिः । अग्निदेवता । विराड् अनुष्टुप् । गान्धारः ॥

भा०—हे (अग्ने) अग्ने ! ज्ञानवन् ! तेजस्विन् ! राजन् हे (वृषन्) प्रजाओं पर सुखों के वर्षक ! बलवन् ! तू (अर्यः) स्वामी होकर ही (सं युवसे) समस्त ऐश्वर्यों को प्राप्त कराता है । और (ईडः पदे) पृथ्वी के पृष्ठ पर (आ समिध्य से) सब तरह से प्रकाशित होता है । और (विश्वानि) समस्त (वसूनि) ऐश्वर्यों को (सः) वह तू (नः) हमें, (सम् सम् आभर) निरन्तर प्राप्त कर ।

त्वां चि॒त्रश्र॑वस्त॒म ह॑व॒न्ते वि॒क्षु ज॒न्तवः॑ ।

शोचि॑ष्केशं पुरु॒प्रिया॑ग्ने ह॒व्याय॑ वोढ॒वे ॥ ३१ ॥

ऋ० १ । ४५ ६ ॥

पूष्काणवः श्रुतिः । अग्निदेवता । विराड् अनुष्टुप् ॥

भा०—हे (चित्रश्रवस्तम) अद्भुत, आश्चर्यकारी नाना अन्न आदि ऐश्वर्यों और यशों के सबसे बड़े स्वामिन् ! हे (पुरुप्रिय) बहुत प्रजाओं के प्रिय ! अथवा राष्ट्र वासी प्रजाओं को प्रेम करने हारे ! हे (अग्ने) तेजस्विन् ! अग्रणी पुरुष ! (हव्याय) स्वीकार करने योग्य राष्ट्र के भार को (वोढवे) अपने ऊपर उठाने के लिये (विक्षु) प्रजाओं में से (जन्तवः) समस्त जन (शोचिष्केशम्) दीप्ति युक्त किरणों वाले सूर्य के समान दीप्तिमान् (त्वाम्) तुझको (हवन्ते) बुलाते हैं । तुझे चाहते हैं ।

एना वो अग्निं नमसोर्जो नपात्मा हुवे ।

प्रियं चेतिष्ठमरतिथं स्वध्वरं विश्वस्य दूतममृतम् ॥ ३२ ॥

ऋ० ७ । १६ । १ ॥

वशिष्ठ ऋषिः । अग्निदेवता । विराड् बृहती । मध्यमः ॥

भा०—हे प्रजाजनो ! (वः) तुम्हारे (एना नमसा) इस आदर सत्कार के भाव एवं अन्न द्वारा या तुम्हारे नमन, वशीकरण के अधिकार के साथ २ (प्रियं) तुम्हारे प्रिय, (चेतिष्ठम्) तुम सबको खूब चेताने वाले धर्म मार्ग को उत्तम रीति से बतलाने वाले (अरतिम्) अत्यन्त बुद्धिमान्, (स्वध्वरम्) उत्तम यज्ञशील, अहिंसक (विश्वस्य दूतम्) सबके आदर योग्य सर्वत्र व्यापक (अमृतम्) स्वयं अविनाशी, स्थिर अथवा (अमृतम्) सब कार्यों के मूल आश्रयरूप (ऊर्जः नपात्मा) बल को विनष्ट न होने देने हारे । अग्रणी राजा को (आ हुवे) मैं बुलाता हूँ । आप सबके सामने प्रस्तुत करता हूँ ।

विश्वस्य दूतममृतं विश्वस्य दूतममृतम् ।

स योजते अरुषा विश्वभोजसा स दुद्रवत् स्वाहुतः ॥ ३३ ॥

ऋ० ७ । १६ । १ । २ ॥

अग्निदेवता । निचृद् बृहती । मध्यमः ॥

भा०—(विश्वस्य दूतम्) संघ के पूजनीय या सब के समान रूप से प्रतिनिधि (अमृतम्) अविनष्ट, दीर्घायु पुरुष को मैं प्रस्तुत करता हूँ । (विश्वस्य दूतम् अमृतम्) सब दुष्टों के तापक राष्ट्र के लिये अमृतस्वरूप पुरुष को मैं प्रस्तुत करता हूँ । (सः) वह (अरुषा) रोष रहित, सौम्य स्वभाव के (विश्वभोजसा) समस्त विश्व के पालक, सबके अन्न देने वाले सामर्थ्य से युक्त होकर (योजते) सबको सन्मार्ग में लगाता है । (स्वाहुतः) उत्तम रीति से बुलाया जाकर ही (सः दुद्रवत्)

रथादि से गमन करता है । अथवा (अरुषा = अरुषौ) वह दोष रहित सौम्य स्वभाव के (विश्वभोजसौ) समस्त जगत् के पालक, उसको भोग करने में समर्थ दो प्रधान पुरुषों को राष्ट्र कार्य में रथ में दो अश्वों के समान (योजते) नियुक्त करे । इस प्रकार (सु-अ हुतः) उत्तम रीति से अधिकार प्राप्त करके (सः) यह (दुद्रवत्) राज्य कार्य का संचालन करे ।

स दुद्रवत् स्वाहुतः स दुद्रवत् स्वाहुतः ।

सुब्रह्मा यज्ञः सुशमी वसूनां देवथं राधो जनानाम् ॥ ३४ ॥

ऋ० ७ । १६ । २ ॥

अग्निदेवता । आर्ष्यनुष्टुप । गांधारः ॥

भा०—(सः स्वाहुतः दुद्रवत्) वह अच्छी प्रकार अधिकार प्राप्त करके राष्ट्र के कार्य को रथ के समान चलाता है । और (सः स्वाहुतः दुद्रवत्) वह उत्तम आदर से बुलाया जकर आता है । वह (सुब्रह्मा) राजा, उत्तम ब्रह्मा, विद्वान् ब्रह्मवेत्ता से युक्त, (यज्ञः) यज्ञ के समान उत्तम विद्वानों से युक्त होकर (वसूनां) राष्ट्र में बसने वाले (जनानाम्) मनुष्यों के लिये (सुशमी) उत्तम कर्मवान् होकर (देवं) रमण करने, भोगने योग्य (राध्यः) ऐश्वर्य को (दधाति) प्रदान करता है ।

अग्ने वाजस्य गोमत ईशानः सहसो यहो ।

अस्मे धेहि जातवेदो महि श्रवः ॥ ३५ ॥ ऋ० १ । ७१ । ४ ॥

गोतम ऋषिः । अग्निदेवता । उष्णिक् । ऋषभः ॥

भा०—हे (सहसः यहो) बल के कारण उच्च पद को प्राप्त और आदर पूर्वक सम्बोधन करने योग्य राजन् ! हे (अग्ने) अग्रणी नेतः ! तू (गोमतः) गौ आदि पशु सम्पत्ति से युक्त (वाजस्य) ऐश्वर्य का (ईशानः) स्वामी है । हे (जातवेदः) ऐश्वर्यवान् ! राजन् ! (अस्मे) हमें तू (महि श्रवः) बड़ा भारी अन्न आदि ऐश्वर्य, कीर्ति (धेहि) प्रदान कर ।

‘यहुः’—यातेर्ह्रातेश्चौणादिके मृगयवादित्वात् कुप्रत्यये निपातनाद्भूप-
सिद्धिः । यातः प्रासः पुण्यवशेन हूयते च स्वनाम्ना, इति यहुरिति देवराजः ।
यहुर्यातश्चाहूतश्चेति माधवः ॥

स इधानो वसुष्कविग्निरीडेन्यो गिरा ।

रेवदस्मभ्यं पुर्वणीक दीदिहि ॥ ३६ ॥ क्र० १ । ७९ । ५ ॥

गौतमो राहूगण ऋषिः । अग्निर्देवता । निचृदुष्णिक् । ऋषभः ॥

भा०—राजन् ! (सः) वह तू हे (इधानः) अपने तेज से देदीप्यमान
(वसुः) सब प्रजा का बसाने हारा, (कविः) दूरदर्शी, क्रान्तदर्शी,
विद्वान्, मेधावी (गिरा) वाणियों से (ईडेन्यः) सदा स्तुति योग्य होकर हे
(पुर्वणीक) बहुत से सेना-बल से युक्त राजन् ! तू (अस्मभ्यं) हमारे
(रेवत्) धनैश्वर्य से युक्त राष्ट्र में (दीदिहि) निरन्तर तेजस्वी होकर रह ।

क्षपो राजन्नुत त्मनाग्ने वस्तोरुतोषसः ।

स तिग्मजम्भ रक्षसो दह प्रति ॥ ३७ ॥ क्र० १ । ९ । ६ ॥

गौतमो राहूगण ऋषिः । अग्निर्देवता । निचृदुष्णिक् । ऋषभः ॥

भा०—हे (राजन्) राजन् ! तेजस्विन् ! हे (अग्ने) अग्ने ! हे (तिग्म
जम्भ) तीक्ष्ण होकर शत्रुओं के अंग भंग करने वाले ! (तिग्मजम्भ)
वज्र के समान या वज्र या खड्ग रूप दंष्ट्रा वाले, खड्गों से शत्रु को खा
जाने वाले राजन् ! (क्षपः) रात्रि के अवसरों में (वस्तोः उत उपसः)
दिन और प्रातः कालों के अवसरों में भी और सदा सब काल में (सः)
वह तू (रक्षसः) प्रजा के नाशक राक्षसों को (प्रति दह) एक २ करके
भस्म कर डाल ।

भद्रो नोऽअग्निराहुतो भद्रा रातिः सुभग भद्रोऽअध्वरः ।

भद्रा उवत प्रशस्तयः ॥ ३८ ॥ क्र० ८ । १९ । १९ ॥

सोभरिः काण्व ऋषिः । अग्निदेवता । उष्णिक् ककुब्वा । ऋषभः । तृचः प्रगाथः ॥

भा०—(नः) हमारे लिये (आहुतः) अग्निहोत्र द्वारा आहुतियों से प्रदीप्त अग्नि के समान (आहुतः) सब प्रकार से आदर पूर्वक, नाना ऐश्वर्यों से पुरस्कृत, शत्रुसंतापक, अग्रणी पुरुष (भद्रः) हमें कल्याणकारक हो । (रातिः भद्रा) उसका दान भी हमें सुखदायी हो । हे (सुभग) उत्तम ऐश्वर्यवन् ! (अध्वरः) तेरा हिंसारहित राज्य पालन का कार्य (भद्रः) सबको सुखप्रद हो । (उत) और (प्रशस्तयः) उत्तम प्रशंसाएं और प्रशंसा योग्य कार्य भी (भद्रा) सुखदायी हों ।

ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्य यशसः श्रियः ।

ज्ञानवैराग्ययोश्चैव पण्णां भग इतीरणा ॥ स्फुटम् ॥

समस्त ऐश्वर्य, धर्म, यश, लक्ष्मी, ज्ञान, वैराग्य ये छः प्रदार्थ 'भग' कहाते हैं ।

भद्रा उत प्रशस्तयो भद्रं मनः कृणुष्व वृत्रतूर्ये ।
येना समत्सु सासहः ॥ ३६ ॥ ऋ० १ । ९ । २० ॥

सोभरिः काण्व ऋषिः । अग्निदेवता । निचृदुष्णिक् । ऋषभः ॥

भा०—(भद्रा उत प्रशस्तयः) और समस्त स्तुतियां सुखकारी हों और तू (वृत्रतूर्ये) नगर को घेरने वाले, सन्मर्यादा के लोप करने वाले दुष्ट पुरुषों के नाशक, संग्राम कार्यों में अपना (भद्रं मनः) कल्याण शुक्त चित्त (कृणुष्व) प्रदान कर । (येन) जिससे (समत्सु) संग्रामों में तू उनका (सासहः) पराजय करने में समर्थ हो ।

येना समत्सु सासहोऽयं स्थिरा तनुहि भूरि शर्धताम् ।
वनेमा ते ऽग्रभिष्टिभिः ॥ ४० ॥ ऋ० ८ । ९ । १० ॥

सोभरिः काण्व ऋषिः । अग्निदेवता । निचृदुष्णिक् । ऋषभः ॥

भा०—(येन) क्योंकि (समत्सु) संग्रामों में तू (सासहः) शत्रुओं को पराजय करने में समर्थ रहे । अतः ((शर्धताम्) बल पराक्रमशील

पुरुषों के (स्थिरा) स्थिर सैन्यों को (अव तनुहि) अपने अधीन विस्तृत रूप से रख । और हम (अभिष्टिभिः) अभीष्ट कामनाओं और अभिलाषाओं के सहित (ते) तेरे अधीन (वनेम) ऐश्वर्य का भोग करें ।

अग्निं तं मन्ये यो वसुरस्तं यं यन्ति धेनवः ।

अस्तमर्वन्त आशवोऽस्तं नित्यासो वाजिन इषथं स्तोतृभ्य आभर ॥ ४१ ॥ ऋ० ५ । ६ । १ ॥

कुमारवृषावृषी । अग्निदेवता । निचृत् पंक्तिः । पञ्चमः ॥

भा०—(यः) जो (वसुः) गृहस्थ के समान व प्रजाओं का बसाने हारा है और (यं) जिसके पास (धेनवः) दुधार गौवं और उनके समान समृद्ध प्रजाएं (अस्तम् यन्ति) घर के समान शरण समझ कर प्राप्त हों और (आशवः) शीघ्र गमनकारी (अर्वन्तः) अश्व और अश्वारोही गण (अस्तं यन्ति) जिसको अपना गृह सा समझ कर शरण होते हैं । और (वाजिनः) वेगवान् या ऐश्वर्यवान् (नित्यासः) नित्य, सदा स्थायी रूप से रहने वाले गृहस्थ पुरुष (यं अस्तं यन्ति) जिसको अपना घर सा शरण जान कर प्राप्त होते हैं मैं तो (तं अग्निम् मन्ये) उस सब के अग्रणी, नेता, बलवान् पुरुष को 'अग्नि' शब्द से कहाने योग्य मानता और जानता हूँ । ऐसे गुणों से युक्त सर्वाश्रय हे अग्ने ! राजन् ! तू (स्तोतृभ्यः) सत्य गुणों के प्रकाशक विद्वानों को (इषम्) अन्न आदि ऐश्वर्य (आभर) प्राप्त करा, प्रदान कर ।

सो अग्निर्यो वसुर्गृणे सं यमायन्ति धेनवः ।

समर्वन्तो रघुद्रवः स सुजातासः सुरय इषथं स्तोतृभ्य आभर ॥ ४२ ॥ ऋ० ५ । ६ । २ ॥

वसुश्रुत आग्नेय ऋषिः । पंक्तिः । पञ्चमः ॥

४१-४२-ऋग्वेदे सुश्रुत आग्नेय ऋषिः ॥

भा०—(यः वसुः) जो सबको बसाने वाला है और (यं धेनवः सम् आयन्ति) जिसके पास दुधधार गौवों के समान समृद्ध प्रजाएं शरण आती हैं । और (रघुदुवः अर्वन्तः) तीव्रवेग से जाने वाले अश्व और अश्वारोही पुरुष (यं सम् आयन्ति) जिसके पास शरण आते हैं । और (यम्) जिसके पास (सुजातामः सूरयः) उत्तम रूप से विद्या आदि में कुशल विद्वान् पुरुष पहुंचते हैं (सः अग्निः) वह 'अग्नि' प्रकाशमान तेजस्वी नेता कहाने योग्य है । (गृणे) ऐसा मैं कहता हूँ या उसकी मैं स्तुति करता हूँ । हे राजन् ! (स्तोतृभ्यः) उत्तम गुणों के वक्ता विद्वानों को तू (इषं आ भर) अन्न आदि भोग्य पदार्थ प्रदान कर ।

उभे सुश्चन्द्र सर्पिषो दर्वी श्रीणीष आसनि ।

उतो न उत्पुपूर्या उक्थेषु शवसरस्पत इषं स्तोतृभ्य आ भर ॥ ४३ ॥ ऋ० । ५ । ६ । ९ ॥

वसुव्रत आत्रेय ऋषिः । अग्निदेवता । निचूत पक्तिः । पञ्चमः ॥

भा०—हे (सुश्चन्द्र) शोभन आचारवान् और प्रजा के आह्लादक ! अथवा प्रजा को उत्तम गुणों से रंजन करने वाले ! अथवा उत्तम ऐश्वर्यवान् ! तू (उभे दर्वी) चमसों के समान फैलने वाले दोनों हाथों को जिस प्रकार पान करने वाला पुरुष अपने (आसनि) मुख पर धर लेता है उसी प्रकार तू भी (उभे दर्वी) शत्रु-सेनाओं को विदारण करने में समर्थ दोनों तरफ विस्तृत दोनों पक्षों या बाहुओं (Wings) को अपने (आसनि) मुख्य भाग पर (श्रीणीषे) आश्रित रखता, उनको नियुक्त करता है, उनको अपनी सेवा में लगाता है । हे (शवसः पते) बल के स्वामिन् ! तू (नः) हमें (उक्थेषु) ज्ञानों और उत्तम स्तुति योग्य व्यवहारों में (उत्पुपूर्याः) ऊपर तक भर दे, या उत्तम पद तक -पालन-पोषण कर । (इषं स्तोतृभ्यः आ भर) विद्वानों को अन्नादि भोग्य पदार्थ प्राप्त करा ।

गुरु के पक्ष में—हे गुरो ! अल्हादक (उभे दर्वी) भ्रजान के नाशक
ज्ञान और क्रियायोग दोनों को (आसनि श्रीणीपे) मुख्य रूप से, परिपक्व
करा और (उक्थेपु) विद्याओं में हमें पूर्ण कर ।

अग्ने तमद्याश्वं न स्तोमैः क्रतुं न भद्रं हृदिस्पृशम् ।

ऋध्यामा त ऽओहैः ॥ ४४ ॥ क्र० ४ । १० । १ ॥

अग्निदेवता । आर्षी गायत्री । षड्जः ॥

भा०—हे (अग्ने) अग्रणी नेतः ! (अश्वं न) जिस प्रकार वेगवान्
अश्व को शीघ्रता से पहुंचा देने के कारण उत्तम साधु-वादों और अज्ञों से
समृद्ध करते हैं और (स्तोमैः क्रतुं न) जिस प्रकार स्तुति समूहों और वेद
मन्त्रों से यज्ञ कर्म को समृद्ध करते हैं । उसी प्रकार (भद्रं) कल्याणकारी
(हृदिस्पृशम्) हृदय में स्पर्श करने वाले, अतिप्रिय (तम्) उस परम
उपकारी तुझ को भी (ते) तेरे योग्य (ओहैः) नाना पुरस्कार योग्य
पदार्थों से (ऋध्यामा) समृद्ध करें ।

अथा ह्यग्ने क्रतोर्भद्रस्य दक्षस्य साधोः ।

रथीर्ऋतस्य बृहतो बभूथ ॥ ४५ ॥ क्र० ४ । १० । २ ॥

अग्निदेवता । मुरिगार्षी गायत्री । षड्जः ॥

भा०—हे (अग्ने) अग्ने ! (अध हि) और निश्चय से (भद्रस्य)
सुखकारी कल्याणकारी, (दक्षस्य) बलवान् (साधोः) कार्यसाधक
उत्तम (बृहतः) महान् (ऋतस्य) सत्य यज्ञ, या राष्ट्र-सञ्चालन के
कार्य का (रथीः) रथ के स्वामी के समान नेता (बभूथ) हो कर रह ।

एभिर्नोऽअर्कैर्भवा नो ऽअर्वाङ् स्वर्णं ज्योतिः ।

अग्ने विश्वेभिः सुमन्ता ऽअनीकैः ॥ ४६ ॥ क्र० ४ । १० । ३ ॥

अग्निदेवता । मुरिगार्षी गायत्री । षड्जः ॥

भा०—हे (अग्ने) हे अग्रणी राजन् ! विद्वन् ! (एभिः अर्कैः) इन अर्चना

४४-४६—ऋग्वेद वामदेवो गौतम ऋषिः ।

योग्य पूजनीय विद्वानों के साथ और (विश्वेभिः) समस्त (भनीकैः) सैन्य-बलों के साथ रहकर भी (अर्वाङ्) साक्षात् (स्वः ज्योतिः न) सुखकारी तेजस्वी, सूर्य के समान (सुमनाः) शुभ चित वाला होकर (भव) रह ।

अग्निं होतारं मन्ये दास्वन्तं वसुं सुनुं सहसो जात-
वेदसं विप्रं न जातवेदसम् । य ऊर्ध्वया स्वध्वरो देवो
देवाच्या कृपा । घृतस्य विभ्राष्टिमनुवष्टि शोचिषा जुह्वानस्य
सर्पिषः ॥ ४७ ॥ ॠ० १ । १२७ । १ ॥

अग्निदेवता । विराड् ब्राह्मी त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—मैं (होतारम्) ऐश्वर्य के ग्रहण करने वाले, (दास्वन्तं) ऐश्वर्य के दान करने वाले, (वसुम्) प्रजा के बसाने वाले, (सहसः सुनुम्) शत्रु को पराजय करने में समर्थ, सेना बल के संचालक, (जातवेदसम्) अग्नि के समान तेजस्वी, (विप्रम्) ज्ञानवान् पुरुष को (अग्निं मन्ये) 'अग्नि' अग्रणी नेता होने योग्य जानता हूँ । (यः) जो (ऊर्ध्वया) अपने सर्वोच्च (देवाच्या) देव, विजिगीषु पुरुषों को वश करने वाली (कृपा) सामर्थ्य या शक्ति से स्वयं (सु-अध्वरः) सुरक्षित, उत्तम राष्ट्र का स्वामी, अहिंसित (देवः) राजा विजिगीषु होकर (आजुह्वानस्य सर्पिषः) ओहुति दिये गये घृत की (शोचिषा) कान्ति से जिस प्रकार अग्नि जाज्वल्यमान होता है उसी प्रकार (आजुह्वानस्य) चारों तरफ से शुद्ध में आ आकर टूट पड़ने वाले (सर्पिषः) सर्पणशील, विविध पैतरों से चलने वाले सेना-बल के (शोचिषा) तेज से, लपटों से (घृतस्य) तेज की (विभ्राष्टिम्) विविध प्रकार की दीप्ति की (अनुवष्टि) कामना करता है ।

अग्ने त्वन्नो ऽअन्तम ऽउत त्राता शिवो भवा ब्रूथ्यः ।
वसुरग्निर्वसुश्रवा ऽअच्छा नक्षि शुमत्तमं रयिन्दाः ।

४७—अग्नेर्देव परच्छेपोदेवादासि ऋषिः ॥

तं त्वा शोचिष्ठ दीदिवः सुम्नाय नूनमीमहे सखिभ्यः

॥ ४८ ॥ ऋ० ५ । २४ । १ ॥

भा०—ज्याख्या देखो (अ० ३ । २५, २६) ।

येन ऋषयस्तपसा सत्रमायन्निन्धाना अग्निस्वराभरन्तः ।
तस्मिन्नाहं निदधु नाके अग्निं यमाहुर्मनव स्तीर्णवर्हिषम् ॥ ४६ ॥

अग्निदेवता । आर्षी त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—(येन) जिस (तपसा) तप, सत्य धर्म के अनुष्ठान और तपश्चर्या के बल से (ऋषयः) दीर्घदर्शी, वेदमन्त्रार्थ के ज्ञाता (सत्रम् आयन्) सत्य ज्ञान को प्राप्त होते हैं । और (यम्) जिस (अग्निम्) ज्ञानस्वरूप परमेश्वर ज्योति को (इन्धानाः) प्रज्वलित करते हुए (स्वः) सुखमय लोक और आत्मप्रकाश को (आभरन्तः) प्राप्त करते हुए (सत्रम्) सत्य सुख को प्राप्त करते हैं । (तस्मिन्) उसी (लोके) सुखमय लोक या पद पर मैं (अग्निम्) अग्रणी और अग्नि के समान तेजस्वी पुरुष को (नि दधे) स्थापित करता हूँ । (यम्) जिसको (मनवः) मनुष्य लोग (स्तीर्णवर्हिषम्) विस्तृत एवं महान् आकाश को लांघ कर विराजमान सूर्य के समान समस्त प्रजाओं से ऊपर या इस लोक पर अधिष्ठाता रूप से विराजमान बतलाते हैं ॥ शत० ८ । ६ । ३१ । ११ ॥

‘स्तीर्णवर्हिषम्’—प्रजा वै बर्हिः । कौ० ५ । ७ ॥ पशवो वै बर्हिः ।
ऐ० २ । ४ ॥ अयं लोको बर्हिः श० १ । ४ ॥ २४ । क्षत्रं वै प्रस्तरो विश
इतरं वाहः । श० १ । ३ । ४ । १६ ॥

तं पत्नीभिरनु गच्छेम देवाः पुत्रैर्भ्रातृभिरुत वा हिरण्यैः ।
नाकं गृभ्णानाः स्तृकृतस्य लोके तृतीये पृष्ठे अग्निं रोचने दिवः ॥ ५० ॥

अग्निदेवता । अरिगार्षी त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—हे (देवाः) विद्वानो ! विजिगीषु पुरुषो ! (तम्) उस पूर्व

कहे अग्रणी नेता और विद्वान् की हम लोग (पुत्रैः) पुत्रों, (भ्रातृभिः) भाइयों, (पत्नीभिः) धर्मपत्नियों, (उत वा) और (हिरण्यैः) सुवर्ण आदि धातुओं सहित (नाकम्) परम सुख का (गृभ्णानाः) ग्रहण करते हुए अर्थात् सुख प्राप्ति के साधनों का उपार्जन करते हुए (सुकृतस्य) उत्तम धर्माचरण के (लोके) लोक में और (तृतीये) उत्कृष्टतम (पृष्ठे आश्रय में (दिवः) सूर्य के प्रकाश से (रोचने) प्रकाशित, अन्धकार रहित स्थान में (अनु गच्छेम) अनुसरण करें । शत० ८ । ६ । ३ । १९ ॥

आ वाचो मध्यमरुहद् भुरगयुर्यमग्निः सत्पतिश्चेकितानः ।
पृष्ठे पृथिव्या निहितो दविद्युतदधस्पदं कृणतां ये पृतन्यवः ॥५१॥

अग्निदेवता । स्वराडार्षी त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—(अयम्) यह (भुरग्युः) प्रजा का भरण पोषण करने में समर्थ, (सत्पतिः) सत्य का, सत् जनों मा पालक (चेकितानः) विद्वान् (अग्निः) अग्रणी, राजा (वाचः) वाणी, वेदत्रयी के, अथवा राज्य की व्यवस्थाओं के (मध्यम्) मध्य स्थान, मध्यस्थ न्यायकर्ता पद को (अरुहत्) प्राप्त करे । और (पृथिव्याः पृष्ठे) पृथिवी, भूमि की पीठ पर (निहितः) स्थापित होकर सूर्य के समान (दविद्युत्) सत्य का प्रकाश करे । और (ये पृतन्यवः) जो सेना द्वारा संग्राम या कलह करना चाहते हैं उनको (अधः पदम् कृणुताम्) नीचे स्थान पर गिरा दे । शत० ८ । ६ । ३ । २० ॥

अयमग्निर्वीरतमो वयोधाः सहस्रियो द्योततामप्रयुच्छन् ।
विभ्राजमानः सरिरस्य मध्यऽउप प्रयाहि दिव्यानि धाम ॥५२॥

अग्निदेवता । निचृदार्षी त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—(अयम् अग्निः) यह अग्रणी, नेता, राजा (वीरतमः) वीरों में सबसे अधिक वीर, (वयोधाः) सबसे अधिक दीर्घायु अथवा अधीनों

के जीवनो का पोषक या अन्नादि ऐश्वर्यों का धारक, (सहस्रियः) हजारों योद्धाओं के बराबर बलवान्, और (अप्रयुच्छन्) प्रमाद न करता हुआ (द्योतताम्) प्रकाशित हो । (सरिरस्य मध्ये) अन्तरिक्ष के बीच में सूर्य के समान (सरिरस्य मध्ये) इस लोक समूह के बीच (विभ्राजमानः) विशेष तेज से प्रकाशमान होकर हे राजन् ! तू (दिव्यानि धामा) दिव्य अधिकारों, तेजों और पदों को (उप प्रयाहि) भली प्रकार प्राप्त कर ।
शत० ८ । ३ । ३ २१ ॥

सम्प्रच्यवध्वमुप संप्रयाताग्ने पथो देवयानान् कृणुध्वम् ।
पुनः कृण्वाना पितरा युवानान्वातः । स्मृत् त्वयि तन्तुमेतम् ॥५३॥

आग्निदेवता । भुरिगार्भी पंक्तिः । पञ्चमः ॥

भा०—हे विद्वान् पुरुषो ! प्रजाजनो ! आप लोग (सम्प्रच्यवध्वम्) अच्छी प्रकार मिलकर आओ और (संप्रयात) साथ मिलकर प्रयाण करो । हे (अग्ने) अग्नणी नेता और विद्वान् पुरुषो ! आप सब मिलकर (देवयानान् पथः) देवों, विद्वानों के जाने योग्य मार्गों को, धर्माचरण की व्यवस्थाओं को और देव, राजा के जाने योग्य विशाल मार्गों को या विजयार्था सेनाओं के जाने योग्य मार्गों को (कृणुध्वम्) बनाओ । और हे (अग्ने) नेतः राजन् ! (युवाना पितरा) युवा माता पिता, (पुनः) बार २ (त्वयि) तेरे आश्रय पर, तेरी रक्षामें रहते हुए (कृण्वाना) ब्रह्मचर्य का पालन एवं गृहस्थ धर्म का आचरण करते हुए (एतम्) इस (तन्तुम्) विस्तृत राष्ट्र रूप यज्ञ को या प्रजोत्पालन रूप सन्तति कार्य को (अनु आतांसीत्) बराबर बनाये रखें ।

० 'कृण्वानाः' 'पितरा' ऐसा महीधर और उब्वटामिमत पाठ है । तदनुसार—प्रजाजन ही (युवाना पितरौ कृण्वानाः) युवा युवतियों को ही अगली सन्तान के निमित्त पिता माता बनाते हुए (त्वयि) तुझ राजा

के आश्रय में (पुनः एतम् तन्तुम् अनु-आतांसीत्) फिर भी इस प्रजातन्तु को बनाये रखे । शत० ८ । ६ । ३ । २२ ॥

पूर्व पक्ष में 'अन्वातांसीत्' यहां व्यत्यय से द्विवचन के स्थान में एक वचन है । और दूसरे पक्ष में बहु वचन के स्थान में एक वचन है । परन्तु यह शपथाभिमत पाठ के विरुद्ध होने से उपेक्षा योग्य है ।

उद्बुध्यस्वाग्ने प्रतिजागृहि त्वमिष्टापूर्ते सथुंसृजेथामयं च ।
अस्मिन्सधस्थेऽअध्युत्तरस्मिन् विश्वे देवा यजमानश्च सीदतः ५४

अग्निदेवता । आर्षी त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—हे (अग्ने) अग्रणी, गृहपति के समान प्रजापालक राजन् ! तू (उद्बुध्यस्व) उठ, जाग, उत्कृष्ट धर्माचरण को जान । (त्वम्) तू (प्रति जागृहि) प्रत्येक कार्य के लिये जागृत रह, प्रत्येक प्रजा के लिये सावधान होकर रह । (त्वम् अयम्) तू और यह प्रजाजन दोनों मिलकर (इष्टापूर्ते) इष्ट, अभिलषित सुख के देने वाले उत्तम कर्म, दान, यज्ञ, तप आदि और 'पूर्त' शरीर और गृह को पूर्ण करने वाले ब्रह्मचर्य और कृषि कूप आदि कर्म, इनका (संसृजेथाम्) पालन करो और (अस्मिन्) इस (उत्तरस्मिन्) सर्वोत्कृष्ट (सधस्थे) एकत्र होने के समान, गृहस्थ और राष्ट्र में (विश्वेदेवाः) समस्त देवगण, विद्वान् और राजा लोग और (यजमानः च) यजमान, दाता, गृहपति और राष्ट्रपति भी (अधि-सीदत) आकर विराजें । वे राष्ट्र पर अधिकार पदों को प्राप्त करें ॥ शत० ८ । ६ । ३ । २३ ॥

येन वहसि सदृष्टं येनाग्ने सर्ववेदसम् ।

तेनेमं यज्ञं नो नय स्वर्देवेषु गन्तवे ॥५५॥ अथर्व० १।५।१७॥

अग्निदेवता । निचृदनुष्टुप् । गान्धारः ॥

भा०—हे (अग्ने) अग्ने ! विद्वन् ! राजन् ! गृहपते ! राष्ट्रपते !

(येन) जिस बल से तू (सहस्रं) हजारों अपरिमित प्रजाओं को (वहसि) धारण करता है। और (येन) जिस बल से (सर्ववेदसम्) समस्त ऐश्वर्यों और समस्त वेदोक्त ज्ञानों और कर्मों को (वहसि) धारण करता है (तेन) उस बल सामर्थ्य से (नः) हमारे (इमं यज्ञं) इस यज्ञ, गृहाश्रम, राष्ट्र पालनस्वरूप परस्पर संगत कर्त्तव्य को (देवेषु) विजयी और विद्वान् पुरुषों के आश्रय पर (स्वः गन्तवे) सुख प्राप्त करने के लिये (नय) सन्मार्ग पर ले चल। अर्थात् तू हमारे राज्य और गृह के कार्यों को विद्वानों के दिखाये मार्ग पर चला। ८६।३।२५॥

अयं ते योनिर्ऋत्वियो यतो जातो ऽअरोचथाः ।

तज्ज्ञानन्नग्न ऽआ रोहाथा नो वर्धया रयिम् ॥ ५६ ॥

व्याख्या देखो (अ० ३।१४) और (अ० १२।५२) । शत०

८६।३।२४॥

तपश्च तपस्यश्च शैशिरावृतू ऽअग्नेरन्तः श्लेषोऽसि कल्पेतां द्यावा-
पृथिवी कल्पन्तामाप ऽओषधयः कल्पन्तामग्नयः पृथङ् मम
ज्यैष्ठ्याय सव्रताः । ये ऽअग्नयः समनसोऽन्तरा द्यावापृथिवी ऽइमे
शैशिरावृतू ऽअभिकल्पमाना ऽइन्द्रमिव देवा ऽअभिसंविशन्तु
तया देवतयाङ्गिरस्वद् ध्रुवे सीदतम् ॥ ५७ ॥

शिशिरर्तुः वता । स्वराडुत्कृतिः । षड्जः ॥

भा०—(तपः तपस्यः च) 'तप और तपस्य' माघ और फाल्गुन दोनों (शैशिरौ ऋतू) शिशिर ऋतु के दो मास हैं। दोनों शिशिर कहाते हैं।
अग्नेः अन्तः० इत्यादि (१६।२५) के समान जानो। शत० ८७।१।५॥

परमेष्ठी त्वा सादयतु दिवस्पृष्ठे ज्योतिष्मतीम् ।

विश्वस्मै प्राणायानाय व्यानाय विश्वं ज्योतिर्यच्छ ।

सूर्यस्तेऽधिपतिस्तया देवतयाङ्गिरस्वद् ध्रुवा सीद ॥ ५८ ॥

विदुषी देवता । भुरिगू ब्राह्मी बृहती । मध्यमः ॥

भा०—(परमेष्ठी) परम, सर्वोच्च स्थान पर स्थित सूर्य के समान, विद्वान् तेजस्वी राजा (त्वा) तुझ (ज्योतिष्मतीम्) सूर्य से प्रकाशित पृथ्वी के समान आश्रयभूत सकल ऐश्वर्य से युक्त पृथ्वी को (दिवः पृष्ठे) ज्ञान और प्रकाश के आश्रय में (सादयतु) व्यापित करे । शेष की व्याख्या देखो (अ० १४ । १४ ।) शत० ८ । ७ । २१, २२ ॥

लोकं पू॑ण छि॒द्रं पू॑णार्थो सी॒द भ्रु॑वा त्वम् ।
इन्द्रा॑ग्नी त्वा ब॒हुस्पति॑स्मिन् योना॑वासीषदन् ॥५६॥
ता ऽअ॒स्य सू॒ददो॑हसुः सोम॑थं श्री॒णन्ति॑ पृ॒श्नयः ।
जन्म॑न्दे॒वानां॑ वि॒शस्त्रि॑ष्वारो॒चने॑ दि॒वः ॥ ६० ॥
इन्द्रं॑ वि॒श्वा ऽअ॒वीवृ॑धन् समु॒द्रव्य॑चसं गि॒रः ।
र॒थीत॑मथं र॒थीनां॑ वाजा॑नां स॒त्पति॑ पतिम् ॥ ६१ ॥

भा०—व्याख्या देखो (अ० १२ मं० ५४, ५५, ५६ ॥) शत० ८ । ७ । २ । १-१९ ॥ ८ । ७ । ३ । ८ ॥

प्रो॒थद॑श्चो न यव॑सेऽवि॒ष्यन् य॒दा म॒हः सं॒वर॑णाद्ब॒धस्थात् ।
आ॒दस्य॑ वातो अनु॑वाति शोचि॒रध॑स्म ते व्रज॑नं कृ॒णम॑स्ति ॥६२॥
ऋ० ७ । २ । २ ॥

वसिष्ठ ऋषिः । अग्निदेवता । विराट् त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—(अश्वः) अश्व जिस प्रकार (यवसे अविष्यन्) घास के लिये जाना चाहता हुआ (प्रोथत्) अपने नाक, नथुने फड़ फड़ा कर शब्द करता है और (यदा) जब वह (महः संवरणात्) बड़े भारी अपने 'संवरण', बन्द रहने के स्थान, अस्तबल से (वि अस्थात्) विविशेष रूप से जाता है तब भी हिनहिनाता है । उसके अनुकूल वायु बहता है । तब

५८—परमेष्ठी सौरम् । सर्वा० ॥

उसका (व्रजनं) चाल (कृष्णम् अस्ति) बड़ा आकर्षक होता है । और जिस प्रकार वह (अग्निं) लौकिक अग्नि भी (यवसे) अपने भक्ष्य काष्ठ आदि में लगाना चाहता हुआ (प्रोथत्) शब्द करता है । और जब (महः संवरणात्) अपने बड़े भारी आच्छादक काष्ठ आदि से (प्र वि अस्थात्) प्रकट होता है तब भी शब्द करता है । (आत्) और उसके पश्चात् अग्नि के प्रकट हो जाने पर (वातः वायु अस्य शोचिः अनुयाति) वायु इसकी ज्वाला के अनुकूल बहता है उसकी ज्वाला को बढ़ाता है, तब (ते व्रजनं कृष्णम् अस्ति) हे अग्ने ! तेरा व्रजन, गमन का स्थान, काला कोयला बन जाता है । इसी प्रकार हे राजन् ! तू भी (अवसे अश्वः नः) घास चारे के लिये लालायित अश्व के समान (अविष्यन्) राष्ट्र को प्राप्त करना अथवा शत्रु पर चढ़ाई के लिये जाना चाहता है तब और जब (महः संवरणात्) बड़े संवरण राजमहल आदि से निकल कर (वि अस्थात्) प्रस्थान करता है तब तू (प्रोथत्) शब्दों को करता हुआ, अपनी आज्ञाएं देता हुआ, गाजे बाजे के साथ आगे बढ़ता हुआ जाता है । (अत्) तब (अस्य शोचिः अनु) उस तेरे ज्वाला या तेज के अनुकूल (वातः) वायु के समान प्रबल वेगवान्, शत्रु को तोड़ फोड़ डालने वाला वीर सैन्य (अनुयाति) तेरे पीछे पीछे जाता है । (अध) और तब (ते व्रजनं) तेरा ऐसा प्रयाण करना (कृष्णम्) सब के चित्तों को आकर्षण करने वाला और शत्रुओं के राज्य-समृद्धि को खँच लाने वाला या शत्रुओं को उखाड़ देने वाला (अस्ति) होता है । शत० ८ । ७ ६ ९- १२॥

श्रायोऽद्वा सद्ने सादयाम्यवतश्छायायाः समुद्रस्य हृदये ।
रश्मीवर्ती भास्वतीमाया छां भास्या पृथिवीमोर्वन्तरिक्षम् ॥६३॥

विदुषी देवता । विराट् त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—हे राज्यशक्ते ! (रश्मिवर्तीम्) किरणों से युक्त, प्रभा के समान तेजस्विनी, (भास्वतीम्) सूर्य की दीप्ति के समान प्रकाशवाली (त्वा)

तुक्ष को (आयोः) न्याय मार्ग पर चलने वाले दीर्घायु, (अवतः) प्रजा के रक्षक राजा के (सद्ने) आश्रय पर और (छायायाम्) उसके आश्रय में और (समुद्रस्य हृदये) समुद्र के समान गम्भीर अक्षय कौशवान् राजा के (हृदये) हृदय में, उसके चित्त में (सादयामि) स्थापित करता हूँ । तू (या) जो (द्याम्, पृथिवीम्, उरु अन्तरिक्षम्) आकाश, पृथिवी और विशाल अन्तरिक्ष तीनों को अपने तेज से (आभासि) प्रकाशित करती है ॥ शत० ८।७।३।१३ ॥

स्त्री पक्ष में—(आयोः) आयुष्मान्, पूर्णायु (अवतः) पालक (समुद्रस्य) गम्भीर, अक्षय वीर्यवान् पुरुष के (सद्ने) गृह में, उसकी (छायायाम्) छाया में, उसके गहरे हृदय में स्थापित करता हूँ । तू प्रभा के समान रश्मिवती और भास्वती, तेजस्विनी हो । तू अपने सदगुणों से तीनों लोकों को प्रकाशित कर ।

परमेष्ठा त्वा सादयतु दिवम्पृष्ठे व्यचस्वर्ती प्रथस्वर्ती दिवं यच्छु दिवं दृष्टुं दिवं मा हिंसीः । विश्वस्मै प्राणायानाय व्याना योदानाय प्रतिष्ठायै चरित्राय । सूर्यस्त्वाभिषातु मह्या स्वस्त्या छुर्दिषा शन्तमेन तया देवतया ऽङ्गिरस्वद ध्रुवे सीदतम् ॥ ६४ ॥

परमात्मा देवता । आकृतिः । पंचमः ॥

भा०—व्याख्या देखो (१४ । १२) (१४ । १४) (१५ । ५६) शत० ८ । ७ । १ । २२ ॥ शत० ८ । ७ । ३ । १८ । १६ ॥

सहस्रस्य प्रमासि सहस्रस्य प्रतिमासि ।

सहस्रस्योन्मासि साहस्रोऽसि सहस्राय त्वा ॥ ६५ ॥

विद्वान्देवता । विराड् अनुष्टुप् । गान्धारः ॥

भा०—हे राजन् ! हे राष्ट्रशक्ते ! छि ! और हे पुरुष ! तू (सहस्रस्य प्रमा असि) हजारों पदार्थों से युक्त इस विश्व का यथार्थ

ज्ञान करने वाला है । तू (सहस्रस्य प्रतिभा असि) सहस्रों ऐश्वर्यों का मापक अर्थात् सहस्रों के बल के तुल्य बलवान् है । (सहस्रस्य उन्मा) असि) हजारों से अधिक ऊँचे पद मान, प्रतिष्ठा और बल से युक्त है ।]
 इसी से तू (साहस्रः असि) सहस्रों के ऊपर अधिष्ठाता होने योग्य है ।
 (सहस्राय स्वा) तूझे मैं 'सहस्र' नाम उच्च पद के लिये नियुक्त करता हूँ ।

शत० ८ । ७ । ४ । ११ ॥

॥ इति पञ्चदशोऽध्यायः ॥

[तत्र पञ्चषष्टिर्ऋचः]

इति मीमांसातीर्थ-प्रतिष्ठितविद्यालंकार-श्रामत्पाण्डितजयदेवशर्मकृते

यजुर्वेदालोकभाष्ये पञ्चदशोऽध्यायः ॥



॥ अथ षोडशोऽध्यायः ॥

अध्यायस्य परमेष्ठी देवाः प्रजापतिर्वा ऋषिः । रुद्रो देवता ।

॥ ओ३म् ॥ नमस्ते रुद्र मन्यवे ऽ उतो त उ३षवे नमः ।
बाहुभ्यामुत ते नमः ॥ १ ॥

आर्षी गायत्री । षड्जः ॥

भा०—हे (रुद्र) दुष्टों के रूलाने वाले राजन् ! (ते मन्यवे) तेरे मन्यु को अर्थात् मन्युस्वरूप तेरे अधीन रहने वाले तीक्ष्ण वीर पुरुषों को (नमः) नमस्कार या उनका भोग्य अन्न और वज्र, शस्त्र और वीर्योचित कर्म या वीर्य, शक्ति प्राप्त हो । (उतो) और (ते) तेरे (इषवे) इषु, शत्रुओं के मारने वाले बाण अर्थात् बाणधारी सैन्य को (नमः) अन्न प्राप्त हो । (ते बाहुभ्याम्) तेरी बाहुओं को, बाहु रूप सेना के दस्तों को (नमः) शत्रु को नमाने वाला वीर्य प्राप्त हो ।

या ते रुद्र शिवा तनूरघोरापापकाशिनी ।

तया नस्तन्वा शन्तमया गिरिशन्ताभि चाकशीहि ॥ २ ॥

स्वराड् अनुष्टुप् । गंधारः ॥

भा०—हे (रुद्र) शत्रुओं के रूलाने और सज्जनों को सुख देने हारे ! राजन् ! (या) जो (ते) तेरी (शिवा) कल्याणकारिणी (अघोरा) अघोर, उपद्रवरहित, शान्त, सौम्य रूप वाली (अपापकाशिनी) पाप से अतिरिक्त पुण्य का ही प्रकाश करने वाली (तनूः) विस्तृत कानून आदि की व्यवस्था या आज्ञा रूप वाणी है (तया) उस (तन्वा शन्तमया) अति अधिक विस्तृत कल्याण और शान्तिदायिनी वाणी, राज्यव्यस्था से, हे

१—अथातः शतरुद्रियो होमः ॥ १-३ परमेष्ठी कुत्स ऋषिः । ६० ।

(गिरिशन्त) आज्ञारूप, व्यवस्था या वाणी से ही सब को शान्ति देने वाले ! तू (अभि चाकशीहि) सब को देख, सब पर दृष्टि रख या तू राज्य का शासन कर ।

यामिषु गिरिशन्त हस्ते विभर्ष्यस्तवे ।

शिवां गिरित्र तां कुरु मा हिंसीः पुरुषं जगत् ॥ ३ ॥

रुद्रो देवता । विराड् आर्ष्यनुष्टुप् । गान्धारः ॥

भा०—हे (गिरिशन्त) आज्ञारूप या वाणी में सब को शान्ति-दायक या मेघ के समान सुखों को सब पर बर्पानेवाले स्वरूप में सब को शान्तिदायक ! (याम् इषुम्) जिस इषु अर्थात् बाण आदि शस्त्र गण को तू (अस्तवे) शत्रुओं पर फेंकने के लिये (हस्ते) अपने हनन-कारी हाथ में (विभर्षि) धारण करता है । हे (गिरित्र) विद्वानों के रक्षक या अपनी आज्ञा, व्यवस्था में सब के रक्षक ! (ताम्) उसको (शिवाम्) शिव, मंगलकारक (कुरु) बनाये रख । (पुरुषम्) पुरुषों, मनुष्यों और अन्य (जगत्) जंगम गौ आदि पशुओं को (मा हिंसीः) मत मार ।

शिवेन वचसा त्वा गिरिशाच्छा वदामसि ।

यथा नः सर्वमिज्जगदयक्ष्मं सुमना असत् ॥ ४ ॥

रुद्रो देवता । निचृदार्ष्यनुष्टुप् । गान्धारः ॥

भा०—हे (गिरिश) समस्त वाणियों या आज्ञाओं में स्वयं आज्ञा-पक और व्यवस्थापक रूप से विद्यमान राजन् ! (त्वा) तुझको हम (शिवेन वचसा) कल्याणकारी, सुन्दर वचन से (अच्छ वदामसि) भली प्रकार निवेदन करते हैं । (यथा) जिससे (नः) हमारा (सर्वम् इत् जगत्) समस्त जगत् प्राणि वर्ग और राज्यव्यवहार (अयक्ष्मम्) राज्यक्षमा आदि रोगों से रहित निर्विघ्न (सुमनाः) और परस्पर शुभ चित्त वाला (असत्) हो ।

अध्यवोचदधिवक्ता प्रथमो दैव्यो भिषक् ।

अहीँश्च सर्वान्जम्भयन्त्सर्वान्श्च यातुधान्योऽधराचीः परासुव ॥१॥

एकरुद्रो देवता । भुरिगार्षी बृहती । मध्यमः ॥

भा०—(प्रथमः) सर्वश्रेष्ठ (दैव्यः) देवों, राजाओं और विद्वानों और शासकों का हितकारी, (भिषक्) शरीर-गत और राष्ट्र-गत रोगों और पीड़ाओं को दूर करने में समर्थ पुरुष (अधिवक्ता) सबसे ऊपर अधिष्ठाता रूप से आज्ञापक होकर (अधि अवोचत्) आज्ञा दे । हे ऐसे समर्थ विद्वान्, राजन् ! तू (सर्वान् च अहीन्) समस्त प्रकार के सापों को जिस प्रकार विषवैद्य और गारुडिक वश करता है उसी प्रकार तू भी (अहीन् सर्वान्) सब प्रकार के सपों के समान कुटिलाचारी पुरुषों को (जम्भयन्) उगारों से विनाश करता हुआ और (सर्वाः च) सब प्रकार की (यातुधानीः) प्रजाओं को पीड़ा, रोग, कष्ट, बाधा देने वाली, (अधराचीः) नीचमार्ग में लगी हुई, दुराचारिणी, व्यभिचारिणी स्त्रियों वा नीच शक्तियां हैं, उन सबको (परा सुव) राष्ट्र से दूर कर ।

असौ यस्ताम्रोऽअरुणऽउत बभ्रुः सुमङ्गलः । ये चैनथं रुद्राऽअभितो दिक्षु श्रिताः सहस्रशोऽवैषाँहेडऽईमहे ॥ ६ ॥

रुद्रादेवता निचृदार्षी पंक्ति । पञ्चमः ॥

भा०—(असौ यः) यह जो (ताम्रः) ताम्बे के समान रक्त, कठिन, शरीर एवं तेजस्वी (अरुणः) अग्नि के समान तेजस्वी, (बभ्रुः) सूर्य के समान पीले-लाल रंग का (सु-मङ्गलः) शुभ मंगल चिन्हों से अलंकृत हैं । अथवा यह जो (ताम्रः) सूर्य के समान लाल सुख, तेजस्वी और शत्रुओं को क्लेशित कर देने में समर्थ और (अरुण) सूर्योदय के समय के सूर्य के समान गुलाबी प्रभा वाला, अथवा शत्रु से कभी न रोकें

जाने वाला, अथवा सबका शरण्य (उत बभ्रुः) पीले धूम्र वर्ण का, कपिल, पाटल रंग का अथवा अन्न के समान सब प्रजा और भृत्य वर्गों का भरण, पोषण, पालन, करने में समर्थ (सु-मंगलः) सुखपूर्वक सर्वत्र विचरने में समर्थ है। और (ये च) जो भी (रुद्राः) शत्रु को रूखाने, रोकने वाले, या गभीर गर्जना करने वाले वीर गण (एनम् अभितः) इसके इर्द गिर्द (विक्षु) समस्त दिशाओं में (सहस्रशः श्रिताः) हजारों की संख्या में विराजमान हैं (एषाम्) इनके (हेडः) रोष, क्रोध या अनादर भाव को हम (अवं ईमहे) दूर करें शमन करें।

असौ योऽवसर्पति नीलग्रीवो विलोहितः ।

उतैनं गोपाऽब्रह्मश्च नृहृद्बुद्धयः स दृष्टो मृडयाति नः । ७।

७-१६ विराट् आर्षी पंक्तिः । पञ्चमः ॥

भा०—(यः) जो (असौ) वह (नीलग्रीवः) गले में नीलमणि बांधे और (विलोहितः) विशेष रूप से लाल पोशाक पहने अथवा विविध गुणों और अधिकारों से उच्च पद को प्राप्त कर (अवसर्पति) निरन्तर आगे बढ़ा चला जाता है (एम्) उसको तो (गोपाः) गौवों के पालक गोपाल और (उदहार्यः) जल लाने वाली कहारियों तक भी (अब्रह्मन्) देख लेती हैं और पहचानती हैं (सः) वह (दृष्टः) आखों से देखा जाकर (नः मृडयाति) हम प्रजाजनों को सुखी करे।

(१, ७)—ब्रह्मध्यान में समाधि के अवसर के पूर्व ताम्र, अरुण, बभ्रु, नील, व रक्त आदि वर्णों का साक्षात् होता है। उस आत्मा के ही आधार पर (रुद्रः) रोदन शील सहस्रों प्राणी अश्रित हैं। हम उनका अनादर न करें। क्योंकि उनमें वही चेतनांश हैं जो हम में हैं। उसी आत्मा को नीलमणि के समान स्वच्छ कान्तिमान् अथवा लालमणि के समान विशुद्ध लोहित रूप से (गोपाः) इन्द्रिय-विजयी अभ्यासी जन और

(उदहार्यः) ब्रह्मामृत रस का आस्वादन करनेवाली चित्तभूमियें साक्षात् करती हैं, वह हमें सुखी करें ।

ईश्वर-क्षत्र में—वह पापियों को पीड़ित करने से 'ताम्र', शरण देने से 'अरुण', पालन पोषण करने से 'बभ्रु', सुखमय रूप से व्यापक होने से 'सुमङ्गल' है । समस्त (रुद्राः) बड़ी शक्तियां, उसी पर अश्रित हैं । हम उनका अनादर न करें । वह प्रलयकाल में या भूतकाल में जगत् को लीन करने वाला होने से 'नीलग्रीव' है, भविष्य में विविध पदार्थों का निरन्तर उत्पादक होने से 'विलोहित' है । उसको संयमी जन और ब्रह्मरसपायिनी ऋतंभरा आदि चित्त वृत्तियां साक्षात् करती हैं । वह ईश्वर हमें सुखी करें ।

नीवग्रीवाः = नीलास्यः—यथा चूलिकोपनिषदि नीलास्यः ब्रह्म शायिने । अत्र दीपिका—लीनमास्यम् मुखं प्रवृत्तिद्वारं रागादि येषां तथोक्तः । तत्र नलयोर्वर्णविपर्ययश्छान्दसः—

यस्मिन् सर्वमिदं प्रोतं ब्रह्म स्थावरजंगमम् ।

तस्मिन्नेव लयं यान्ति बुद्बुदाः सागरे यथा ॥ १७ ॥ चू० आ० ॥

नमोऽस्तु नीलग्रीवाय सहस्राक्षाय मीढुषे ।

अथो ये अस्य सत्वानोऽहं तेभ्यो अकरं नमः ॥ ८ ॥

निचृदार्यनुष्टुप् । गान्धारः ॥

भा०—पूर्वोक्त (नील-ग्रीवाय) शुद्ध सुन्दर कण्ठ स्वर वाले, नील मणि से भूषित कण्ठ के तुल्य विद्या से भूषित कण्ठ वाले विद्वान् (सहस्राक्षाय) सभासद् और प्रणिधि, चरों आदि द्वारा सहस्रों आंखों वाले सहस्रों पर दृष्टि रखने पर, (मीढुषे) प्रजा पर सुखों और शत्रु पर वाणों की वर्षा करने वाले सूर्य या मेघ के समान उदार, तेजस्वी राजा और सेनापति की (नमः अस्तु) शत्रुओं को नमाने का वजू, बल, प्रजा पालन का सामर्थ्य, अन्न और आदर भाव प्राप्त हो । (अथो) और (ये) जो (अस्य)

इसके अधीन (सत्त्वानः) और भी सत्त्ववान्, सामर्थ्यवान्, बलवान् वीर पुरुष हैं (अहम्) मैं प्रजाजन (तेभ्यः) उनके लिये भी (नमः) अन्न आदि भोग्य पदार्थ, शस्त्रास्त्र बल और आदर (अकरम्) करूं, उनको दूँ ।

प्र मुञ्च धन्वन्स्त्वमुभयोरात्न्योर्ज्याम् ।

याश्च ते हस्ते ऽइषवः परा ता भगवो वप ॥ ६ ॥

भुरिगार्थ्युष्णिक् । ऋषभः ॥

भा०—हे सेनापते ! अग्रणी नेतः ! वीर राजन् ! (धन्वनः) धनुष की (उभयोः आत्न्योः) दोनों कोटियों में (ज्याम्) ज्या, विजयशालिनी या शत्रुक्षयकारिणी, जयदायिनी डोरी को (प्रमुञ्च = प्रतिमुञ्च) जोड़ और (याः च) और जो (इषवः) बाण (ते हस्ते) तेरे हाथ में हैं (ताः) उनको तू हे (भगवः) ऐश्वर्यवान् ! (परा वप) दूर तक शत्रुओं पर फेंक ।

अथवा—(आत्न्योः ज्याम् प्र मुञ्च) हे भगवान् ! तू अपनी धनुष कोटियों की डोरी उतार ले । (हस्ते इषवः ताः परा वप) और जो हाथ में बाण हैं उनको दूर रख । हमें उनसे न मार (उव्वट)

अथवा—(याः ते हस्ते इषवः ताः उभयोः आत्न्योः ज्याम् उपरि नियोज्य परा वप) हाथ के बाणों को कोटियों पर लगी डोरी पर लगे कर उनके ऊपर फेंक, शत्रुओं से अपने पर फेंके बाणों को परे ही काट ।

विज्यं धनुः कपर्दिनो विशल्यो बाणवाँ२५ उत ।

अनेशन्नस्य या ऽइषव ऽआभुरस्य निषङ्गाधिः ॥ १० ॥

भुरिगार्थ्यनुष्टुप् । गांधारः ॥

भा०—(कपर्दिनः) सुन्दर जटावान्, शुभ केशकलाप वाले, केशवान्, शिर पर शुभ फुनगी या मौर को धारण करने वाले वीर पुरुष का क्या

(धनुः विज्यम्) धनुष डोरी से रहित हो सकता है ? नहीं । (उत बाणवान् विशल्यः) तो क्या बाणों से भरा तर्कस बाणरहित हो सकता है ? नहीं । (अस्य याः इषवः) इसके जो इषु, बाण हैं क्या वे (अनशन्) नष्ट हो सकते हैं ? नहीं ! तो क्या (अस्य निषङ्गधिः) इसकी तलवार का कोश (आभुः) खाली रह सकता है ? कभी नहीं । प्रत्युत, सदा उसके धनुष पर डोरी, तर्कस में बाण, और हाथ में धनुष और कोष में तलवार रहनी आवश्यक हैं ।

या ते हेतिर्मीदुष्टम् हस्ते बभूव ते धनुः ।

तयास्मान्विश्वतस्त्वमयक्ष्मया परिभुज ॥ ११ ॥

निचृदनुष्टुप् । गान्धारः ॥

भा०—हे (मीदुस्तम्) अति अधिक वीर्यशालिन् नरर्षभ ! या शत्रुओं पर मेघ के समान शरवर्षक ! (या ते) जो तेरे (हस्ते) हाथ में (हेतिः) वज्र और (ते धनुः बभूव) और तेरे हाथ में धनुष है (तया) उस (अयक्ष्मया) रोगादि रहित, विशुद्ध बाण से (त्वम्) तू (विश्वतः) सब प्रकार से (अस्मान्) हमें (परि भुज) सब तरफ से रक्षा कर ।

सेना के शत्रुओं और अशुओं में रोगकारी, विष आदि का प्रयोग नहीं होना चाहिये ।

परि ते धन्वनो हेतिरस्मान्वृणक्तु विश्वतः ।

अथो य ऽईषुधिस्तवारे अस्मन्निघेहि तम् ॥ १२ ॥

निचृवार्थनुष्टुप् । गन्धारः ॥

भा०—(ते धन्वनः हेतिः) हे रुद्र ! तेरे धनुष का बाण (अस्मान्) हमें सदा (विश्वतः) सब ओर से (परि वृणक्तु) रक्षा करे, शत्रुओं से बचावे । वा तेरे बाण आदि शस्त्र हमसे सदा दूर रहें । उससे हम पीड़ित

न हों। (अथो) और (यः तव इषुधिः) जो तेरे बाण आदि शस्त्र हैं उनको (आरे निधेहि) दूर रख। शस्त्रागार और तोपखाना नगर से पर्याप्त दूर हो जिससे फटने पर नगर की हानि न हो! शस्त्रों तोपों को नगर के चारों ओर रक्षार्थ लगावें।

अवतत्य धनुष्वथ सहस्राक्ष शतेषुधे ।

निशीर्य शल्यानाम्मुखा शिवो नः सुमना भव ॥ १३ ॥

निचूदार्ष्यनुष्टुप् । गान्धारः

भा०—हे (सहस्राक्ष) चर आदि प्रणिधि और सभा के विद्वान् सभासदों रूप हजारों आखों वाले, सहस्रों कार्यों पर आंख रखने वाले! राजर्! हे (शतेषुधे) सैकड़ों बाणों के रखने के तूणीर और शस्त्रागारों वाले! तू (धनुः अवतत्य) धनुष को तान कर और (शल्यानाम्मुखा) बाणों के फलों के मुखों को खूब तेज़ करके भी (नः) हमारे लिये (शिवः) कल्याणकारी और (सुमनाः भव) हमारे प्रति शुभ वित्त वाला होकर रह।

नमस्त आयुधायानातताय धृष्णवे ।

उभाभ्यामुत ते नमो बाहुभ्यां तव धन्वने ॥ १४ ॥

स्वराडाधुष्णिकू । ऋषभः ॥

भा०—(ते) तेरे (अनातताय) अविस्तृत, संक्षिप्त परन्तु (धृष्णवे) शत्रु का धर्पण करने, मानभङ्ग करने वाले (आयुधाय) आयुध, हथियार शस्त्र का (नमः) बल वीर्य प्रकट हो। अथवा (आयुधाय) सब ओर लड़ने वाले (अनातताय) न अति विस्तृत, अपितु स्वल्पकाय होकर भी (धृष्णवे) शत्रु का पराजय करने में समर्थ (ते) तुझको (नमः) हम प्रजागण आदर दें, एवं अन्न आदि पदार्थ दें, या तुझे वीर्य प्राप्त हो। तुझ में शत्रु को नमा देने का सामर्थ्य प्राप्त हो। (उत) और (ते) तेरे (उभाभ्याम् बाहुभ्याम्) शत्रुओं को बाधा करने वाले दोनों बाहुओं के

समान, स्थिर अस्थिर, या दायें, बायें विद्यमान या पदाति और सवार दोनों प्रकार की सेनाओं को (नमः) बल और अन्न प्राप्त हो और (तव धन्वने नमः) तेरे धनुष अर्थात् धनुर्धर सेना बल को भी अन्न या वीर्य प्राप्त हो ।

मा नो महान्तमुत मा नो अर्भकं मा न उक्षन्तमुत मा न उक्षितम् ।
मा नो वधीः पितरं मोत मातरं मा नः प्रियास्तन्वो रुद्ररीरिषः १५

कुत्स ऋषिः । निचृदार्षी जगती । निषादः ॥

मा०—हे राजन् ! सेनापते ! तू (नः) हमारे (महान्तम्) बड़े वृद्ध, आदरणीय, पूजनीय (उत) और (नः) हमारे (अर्भकम्) छोटे बालक अथवा छोटे पद के पुरुष को भी (मा वधीः) मत मार । (नः उक्षन्तम्) वीर्यसेचन में समर्थ हमारे तरुण पुरुष को भी (मा) मत मार । (उत) और (नः) हमारे (उक्षितम्) गर्भाशय में निषिक्त, वीर्य अर्थात् गर्भस्थ डिम्ब को (मा वधीः) विनष्ट मत कर । (नः पितरम्) हमारे पालक, पिता को (मा वधीः) मत मार, (उत मातरम् मा वधीः) और माता को भी मत मार । हे (रुद्र) दुष्टों के रूलाने हारे शत्रु के दुर्गों को रोधन करने हारे रुद्र ! (नः) हमारे (प्रियाः तन्वः) प्रिय शरीरों को भी (मा रीरिषः) मत पीड़ित कर । या (तन्वः) हमारे कुल के विस्तारक पुत्र पौत्र आदि प्रजाओं को भी मत मार ।

तन्वः शरीराणि (द०) । शरीराणि पुत्रपौत्रादिलक्षणानि इत्युक्तः ।
मा न स्तोके तनये मा न आयुषि मा गो गोषु मा नो अश्वेषु रीरिषः
मा नो वीरान् रुद्रं भामिनो वधीर्विष्मन्तः सदमित् त्वा हवामहे १६

कुत्स ऋषिः । निचृदार्षी जगती निषादः ॥

मा०—हे (रुद्र) दुष्टों के रूलाने हारे राजन् ! (नः) हमारे (तोके)

१६—भामतीवधीः अग्नेदायः पाठः ।

नवजात शिशु पर और (तनये) पांच वर्ष से ऊपर के पुत्र पर (मा मा रीरिषः) हिंसा का प्रयोग मत कर । और (नः आयुषि) हमारे आयु पर (मा रीरिषः) आघात मत कर । (नः) हमारे (भामिनः वीरान्) क्रोधयुक्त वीर पुरुषों का (मा वधीः) घात मत कर और हम लोग (सदम्) सदा (हविष्मन्तः) अन्न आदि भेंट योग्य पदार्थों को लिये हुए (त्वा इत् हवामहे) तेरा ही आदर करते हैं ।

नमो हिरण्यबाहवे सेनान्ये दिशां च पतये नमो नमो वृक्षेभ्यो हरिकेशेभ्यः पशूनां पतये नमो नमः शष्पिजराय त्विषीमते पथीनां पतये नमो नमो हरिकेशायोपवीतिने पुष्टानां पतये नमः १७

(१७-४६) त्र्यशीती रुद्राः देवताः । निचृदतिधृतिः । षड्जः ॥

भा० — १. (हिरण्यबाहवे सेनान्ये नमः) बाहु पर सुवर्ण पदक या विशेष आभूषण या नाम या संख्या चिन्ह को धारण करने वाले अथवा ज्योति या सूर्य के समान प्रखर वीर्यवान् बाहुओं या सेनारूप तेजस्वी बाहुओं वाले, सेना नायक को वज्र का बल प्राप्त हो । २. (दिशां च पतये नमः) दिशाओं के पालक को अन्न आदि प्राप्त हो । ३. (हरिकेशेभ्यः) पीले या नीले पत्तों के समान पीले या नीले मनोहारी केशों को धारण करने वाले, (वृक्षेभ्यः) वृक्षों के समान सब के आश्रयदाता पुरुषों को (नमः) नमस्कार है । अथवा (हरिकेशेभ्यः) केशों को हरण करने वाले, (वृक्षेभ्यः) शत्रुओं को काट देने वाले रुद्ररूप वीर पुरुषों को (नमः) अन्न बल प्राप्त हो । अथवा हरे पत्तों वाले वृक्षों को (नमः) परशु से काटो । ४. (पशूनां पतये नमः) पशुओं के पालक को (नमः) अन्न और और बल पदाधिकार प्राप्त हो । ५. (शष्पिजराय) सूखे घास के समान पीत, कान्तिमान् वर्ण वाले (त्विषीमते) दीप्ति से युक्त तेजस्वी पुरुष को अथवा—‘शष्पि’ = घास आदि को ‘जर’ = जलाने वाले, अग्नि वालों को, अथवा—(शष्पिजराय नमः) छहों, आंख,

नाक, रसना, कान, त्वचा और मन से ग्रहण करने योग्य विषय बन्धन को त्यागने हारे, (त्विषीमतं) कान्तिमान् को (नमः) अन्न आदि बल और आदर प्राप्त हो । (पथीनाम्) मार्गों के और मार्गागामी यात्रियों के (पतये) पालक मार्गाध्यक्ष को भी (नमः) राष्ट्र के अन्न में भाग एवं पदाधिकार या बल प्राप्त हो । (हरिकेशाय) हरित अर्थात् नील केशवाले अति सुवक् (उपवीतिने) यज्ञोपवीत के धारण करने वाले बालब्रह्मचारी को (नमः) अन्न भाग और आदर, वीर्य सब प्राप्त हो । (पुष्टानां पतये) हृष्ट पुष्ट बालकों के पालक माता पिता को अधिकार एवं अन्नादि पदार्थ और आदर प्राप्त हो ।

अथवा—सेनानी दिशाम्पति, वृक्षपति, पशुपति, शर्षिपञ्जर, पथीनां पति, हरिकेश, उपवीती, ये राष्ट्र के भिन्न २ विभागों के अधिकारी हैं उनके हिरण्यबाहु, हरिकेश, त्विषीमान्, आदि ये मानवाचक पद हैं । उनको (नमः) राष्ट्र के अन्न के भाग प्राप्त हों ।

अथवा—१. सुवर्ण आदि धन के बलपर शासन करने वाला, पुरुष 'हिरण्यबाहु' । २. सेना का नायक 'सेनानी' । ३. दिशाओं का पालक दिक्पाल, 'दिशाम्पाल' । ४. वृक्षों के समान शरणप्रद, बड़े धनाढ्य लोग, सब शरण योग्य 'वृक्ष' नामक अधिकारी । ५. कुशों के हरण करने वाले स्वयंसेवक लोग 'हरिकेश' । ६. पशुओं के पालक 'पशुपति' । ७. शष्प अथवा घास वा चराने का प्रबन्ध कर्त्ता 'शर्षिपञ्जर' । नगर में प्रकाश का प्रबन्धकर्त्ता 'त्विषीमान्' । ८. मार्गों का स्वामी 'पथीनांपति' । ९. कुशों का हर्त्ता वैद्य 'हरिकेश' । १०. यज्ञोपवीत धारण करने कराने वाले गुरुशिष्य 'उपवीति' । ११. पुष्ट पशुओं का पालक 'पुष्टपति' ये सब भिन्न २ नाम के रुद्र 'जातसंज्ञ' अर्थात् नाम-पदधारी 'रुद्र' कहाते हैं उनके (नमः) राष्ट्र में भाग अधिकार प्राप्त हो ।

नमो बभ्रुशाय व्याधिनेऽन्नानां पतये नमो नमो भवस्य हेतये

जगतां पतये नमो नमो रुद्रायाततायिने क्षेत्राणां पतये नमो
नमः सूतायाहन्त्यै वनानां पतये नमः ॥ १८ ॥

निचृदष्टिः । मध्यमः ॥

भा०—(बभ्रुशाय) बभ्रुवर्ण, खाकी रंग की पोषाक पहनने वाले या राज्य के भरण पोषण करने वाले (व्याधिने) शिकारी पुरुष को (नमः) अन्न प्राप्त हो । (अन्नानां पतये नमः) अन्नों के पालक खेतों, पर पड़ने वाले मृग, हाथी और साम्भर आदि वनैले पशुओं से खेतों के बचाने वाले को (नमः) राष्ट्राज में से भाग, पद, अधिकार आदि प्राप्त हो । (भवस्य हेत्यै) 'भव' उत्पन्न होने वाले प्राणियों के 'हेति' धारण पोषण करने वाले, उनकी वृद्धि करने के लिये और (जगतां पतये नमः) जंगम प्राणियों के पालन कर्त्ता को (नमः) बलवीर्य, अधिकार प्राप्त हो । (रुद्राय आततायिने नमः) चारों तरफ विस्तृत शत्रु दलपर आक्रमण करने वाले अथवा धनुष चढ़ाकर चढ़ाई करने वाले को (नमः) बल, वीर्य, अधिकार प्राप्त हो । (क्षेत्राणां पतये नमः) क्षेत्रों की रक्षा करने वाले को अधिकार मिले । (सूताय) घोड़ों को हांकरने में समर्थ और (अहन्त्यै) युद्ध में किसी को स्वयं न मारने वाले को (नमः) अन्न, वज्र या खड्ग प्राप्त हो । (वनानां पतये नमः) वनों के पालक को शस्त्र प्राप्त हो ।

'सूताय'—क्षत्रियाद्विप्रकन्यायां जाताय वीराय प्रेरकाय इति दयानन्दः । तच्चिन्त्यम् ।

नमो रोहिताय स्थपतये वृक्षाणां पतये नमो नमो भुवन्त्यै वारि-
वस्कृतायौषधीनां पतये नमो नमो मन्त्रिणै वाणिजाय कक्षाणां
पतये नमो नम उच्चैर्घोषायाक्रन्दयते पत्नीनां पतये नमः ॥ १९ ॥

१९—'नमो बभ्रुशायव्या०' इति काण्व० ।

विराडिति धृतिः । षड्जः ॥

भा०—(रोहिताय नमः) लाल वर्ण की पोशाक पहनने वाले अधिकारी को (नमः) शस्त्र बल प्राप्त हो । (स्थपतये नमः) स्थानों के पालक के लिये अथवा गृहादि निर्माण करने वाले तक्षक, राज आदि शिल्पी लोगों को (नमः) शस्त्र प्राप्त हों । (वृक्षाणां पतये नमः) वृक्षों के पालक को शस्त्र प्राप्त हो । (भुवन्तये नमः) भूमियों के विस्तार करने वाले अर्थात् जंगल पहाड़ी आदि की भूमि को ठीक करके खेत बनाने वाले अथवा आचारवान् पुरुष को (नमः) शस्त्र और अन्न प्राप्त हो । (वारिवस्कृताय नमः) सेवा करने वाले अथवा धन ऐश्वर्य पैदा करने वाले पुरुष को बल और आदर प्राप्त हो । (मन्त्रिणे नमः) राजा के मन्त्री को बल, आदर, और पद प्राप्त हो । (वाणिजाय) वणिग्-व्यापार-कुशल पुरुष को (नमः) अन्न, आदर, अधिकार प्राप्त हो । (कक्षाणां पतये नमः) वन के झाड़ी, लता, घास आदि के पालन करने वाले अधिकारी पुरुष को अथवा राज-गृह के प्रान्तों के रक्षक को (नमः) शस्त्र प्राप्त हों । (उच्चैर्घोषाय) राष्ट्रों में राजा की आज्ञा को ऊँचे स्वर से आघोषित करने वाले अधिकारी को, (आक्रन्दयते) शत्रुओं को रुलाने वाले या पीछे के की ओर से आक्रमण से बचाने वाले को (नमः) बल आदि प्राप्त हो । (पत्तीनां पतये नमः) पैदल सेना के पति को शस्त्र बल प्राप्त हो ।

नमः कृत्स्नायतया धावते सत्त्वनां पतये नमो नमः सहमानाय निव्याधिनेऽत्राव्याधिनीनां पतये नमो नमो निषङ्गिणे ककुभाय स्तेनानां पतये नमो नमो निचेरवे परिचरायारण्यानां पतये नमः २०

अतिधृतिः । षड्जः ॥

भा०—(कृत्स्नायतया धावते) पूर्ण विजय लाभ के निमित्त शत्रु

२०—‘नमः कृत्स्नायताय०’ • ककुभाय निषङ्गय सेनाना०’ इति कायव० ।

पर आक्रमण करने वाले, अथवा धनुष को पूर्ण रूप से तान कर शत्रु पर वेग से अक्रमण करने में समर्थ पुरुष को (नमः) बल, शस्त्र और अन्न आदर प्राप्त हो । (सत्त्वनां पतये) वीर्यवान् प्राणी या सैनिकों के पति को (नमः) आदर या शस्त्र-बल प्राप्त हो । (सहमानाय) शत्रु को पराजय करने वाले को और (निव्याधिने) नियत लक्ष्य पर ठीक १ निशाना लगाने वाले को और (आव्याधिनीनां पतये नमः) सब तरफ से शस्त्रों का प्रहार करने वाली सेनाओं के पति को (नमः) आदर, शस्त्र बल और अधिकार प्राप्त हो । (निषङ्गिणे) शस्त्रसागर में अस्त्र शस्त्रों के पालक को (नमः) अधिकार, सत्कार प्राप्त हो । (ककुभाय) बड़े भारी (स्तेनानां पतये) चोरों के पति सद्दार, चोरों को वश में रखनेवाले पालक, कारागार के अध्यक्ष को भी (नमः) आदर पद प्राप्त हो । (नि-चेरवे) गुप्तरूप से राजा के कार्य से सर्वत्र विचरने वाले को और (परिचराय) भृत्य, सेवक को (अरण्यानां पतये) जंगलों के पति, पालक, वनाध्यक्ष को (नमः) अधिकार प्राप्त हो

नमो वञ्चते परिवञ्चते स्तायूनां पतये नमो नमो निषङ्गिणे
ऽइषुधिमते तस्कराणां पतये नमो नमः सृकायिभ्यो जिघात्सुं
सङ्ग्रहो मुष्णतां पतये नमो नमोऽसिमद्भ्यो नक्तं चरद्भ्यो विकृ-
न्तानां पतये नमः ॥ २१ ॥

निचृदतिधृतिः । षड्जः ॥

भा०—(वञ्चते) ठगने वाले को, (परिवञ्चते) सर्वत्र कपट से रहने वाले को और (स्तायूनां पतये नमः) चोरों के सद्दार को (नमः) वस्त्र प्रहार क्री पीड़ा प्राप्त हो । अथवा शत्रुसेना को छल कर उनका पदार्थ प्राप्त करने वाले, उनमें कपट से रहने वाले और उनके माल को चुराने और डाका डाल कर हर लेने वालों के सद्दार, उनके वश करने वाले को (नमः) आदर प्राप्त हो । (निषङ्गिणे इषुधिमते) खड्ग धारण करने में समर्थ और

बाणों का तर्कस उठाने वाले वीर पुरुष का (नमः) आदर हो । (तस्कराणां पतये) शत्रुओं पर नाना क्रूर कर्म और चौर्यादि का कार्य करने वालों के सद्गार को पदाधिकार प्राप्त हो । अथवा चोरों के सद्गार को वज्र से दण्ड दिया जाय । (सूकायिभ्यः जिघासद्भ्यः) शत्रुओं का हनन करने की इच्छा वालों खाण्डा को धारण कर चलने वालों को (नमः) शस्त्र बल प्राप्त हो । (मुष्णतां पतये नमः) घरों से धन को और खेतों से अन्न आदि पदार्थों को हर लेने वाले पुरुषों के पति, अर्थात् उनपर नियुक्त दण्डाधिकारी को (नमः) अधिकार बल प्राप्त हो । (असिमद्भ्यः नक्तचरद्भ्यः) तलवार लेकर रात को विचरण करने वा पहरा देने वालों को (नमः) अन्न आदि पदार्थ और शस्त्र-अधिकार प्राप्त हो । (विकृन्तानां पतये नमः) प्रजा के नाक कान हाथ पैर काट कर आभूषण, धन आदि लूट लेने वाले दुष्ट पुरुषों के (पतये) पति अर्थात् उनपर शासन करने के लिये नियुक्त अधिकारी पुरुष को (नमः) शस्त्राधिकार, बल और अन्न प्राप्त हो ।

नमोऽउष्णीषिणे गिरिचराय कुलुञ्चानां पतये नमो नमोऽइषुमद्भ्यो धन्वायिभ्यश्च वो नमो नमो आतन्वानेभ्यः प्रतिदधानेभ्यश्च वो नमो नमोऽआयच्छुद्भ्योऽस्यद्भ्यश्च वो नमः ॥ २२ ॥

निचृदष्टिः । मध्यमः ॥

भा०—(उष्णीषिणे) ऊंची पगड़ी पहनने वाले ग्रामपति या अध्रक्ष को (नमः) आदर प्राप्त हो । (गिरिचराय) पर्वतों पर विचरण करने वाले (कुलुञ्चानां पतये) कुत्सित उपायों से लूट लेने वालों के पति, पालक उनपर नियुक्त शासक को (नमः) आदर प्राप्त हों । (इषुमद्भ्यः) बाण वालों और (धन्वायिभ्यश्च नमः) धनुष लेकर विचरण करने वालों को अन्नादि प्राप्त हो । (आतन्वानेभ्यः प्रतिदधानेभ्यः च नमः नमः) धनुष पर डोरी तानने वालों और बाण लगा कर छोड़ने

वालों को भी आदर प्राप्त हो । (आयच्छद्भ्यः अस्यद्भ्यः च वः नमः नमः) धनुषों को खेंचने वाले या शत्रुओं का निग्रह करने वाले, और बाण आदि शस्त्रास्त्रों को फेंकने वाले तुम वीरों को भी (नमः) आदर प्राप्त हो ।

नमो विसृजद्भ्यो विद्धयद्भ्यश्च वो नमो नमः स्वपद्भ्यो जाग्रद्भ्यश्च वा नमो नमः शयानेभ्यः ऽआसीनेभ्यश्च वो नमो नमः स्तिष्ठद्भ्यो धावद्भ्यश्च वो नमः ॥ २३ ॥

निचृदति जगती । निषादः ।

भा०—(विसृजद्भ्यः) शत्रुओं पर बाण छोड़ने वाले, (विद्धयद्भ्यः) शत्रुओं को वेधने वालों को (नमः नमः) नमस्कार हो । (स्वपद्भ्यः) जाग्रद्भ्यः च वः नमः नमः) युद्ध के डेरों में सोने वाले में या युद्ध में आहत होकर लेट जाने वाले, जाग कर पहरा देने वालों को भी तुमको (नमः) आदर प्राप्त हो । (शयानेभ्यः) सोने वाले, लेटने वाले, बैठे हुए, (स्तिष्ठद्भ्यः) खड़े हुए और (धावद्भ्यः च वः) दौड़ने वाले आप लोगों को भी (नमः नमः नमः) आदर योग्य पद प्राप्त हो ।

नमः सभाभ्यः सभापतिभ्यश्च वो नमो नमो ऽश्वेभ्यो ऽश्वपतिभ्यश्च वो नमो नमः ऽआव्याधिनीभ्यो विविध्यन्तीभ्यश्च वो नमो नमः उग्राभ्यस्तृणहृतीभ्यश्च वो नमः ॥ २४ ॥

शक्वरी । धैवतः ॥

भा०—समूह या संघ बना कर काम करने वालों की गणना करते हैं ॥ (वः) आप में से (सभाभ्यः) सभाओं को, (सभापतिभ्यः) सभाओं के संञ्चालक पतियों को (अश्वेभ्यः) घुड़सवारों को, (अश्वप-

२४—४६ एते जातरुद्राः ॥

तिभ्यः) घुड़सवारों के प्रमुख नेता पतियों को, (आव्याधिनीभ्यः) सब ओर व्यूह बनाकर शस्त्र फेंकने में कुशल सेनाओं को, (विविध्यन्तीभ्यः) विविध उपायों से शत्रुओं को बँधने वाली 'विविध्यन्ती' नाम सेनाओं को, (उगणाभ्यः) उच्चकोटि के सैनिकों की सेनाओं को । (स्तृहतीभ्यः च वः) आप लोगों की नाशकारिणी तृहती नाम सेनाओं को भी (नमः) राष्ट्र में उत्तम अन्न, पद, अधिकार और आदर और साधुवाद प्राप्त हो ।

नमो॑ गुणो॑भ्यो॑ गुण॑पतिभ्यश्च॑ वो नमो॑ नमो॑ व्राते॑भ्यो॑ व्रात॑पतिभ्यश्च॑
वो नमो॑ नमो॑ गृत्से॑भ्यो॑ गृत्स॑पतिभ्यश्च॑ वो नमो॑ नमो॑ विरूपे॑भ्यो॑
विश्वरूपे॑भ्यश्च॑ वो नमः॑ ॥ २५ ॥

भुरिक् शक्वरी । धैवतः ।

भा०—(गणेभ्यः) गण या दस्ता या संघ बन कर सेना का कार्य करने वाले, (गणपतिभ्यः) उन गणों के सरदार, (व्रातेभ्यः) समूह या कुल बना कर रहने वाले और (व्रातपतिभ्यः च) उन सघों के पालक विद्वान् कुल पतियों को और (गृत्सेभ्यः) नाना पदार्थों को चाहने वाले या पदार्थों के गुण वर्णन करने वाले मेधावी विद्वान् पुरुषों और (गृत्सपतिभ्यः) उन मेधावी पुरुषों के प्रमुख नेताओं को और (विरूपेभ्यः विश्वरूपेभ्यः च) अपने विविध प्रकार के रूप धारण करने वालों को और सब प्रकार स्वरूप बना लेने में सिद्धहस्त बहुरूपिया आदि कुशल करनाटकी पुरुषों आदि (वः नमः) आप लोगों को उचित आदर और यथायोग्य अन्न, बल, पदाधिकार प्राप्त हो ।

नमः॑ सेना॑भ्यः॑ सेना॑निभ्यश्च॑ वो नमो॑ नमो॑ रुथि॑भ्यो॑ अरुथे॑भ्यश्च॑
वो नमो॑ नमो॑ लृत्भ्यः॑ संग्रही॑तृभ्यश्च॑ वो नमो॑ नमो॑ मुह॑भ्यो॑ स्म॑
केभ्यश्च॑ वो नमः॑ ॥ २६ ॥

भुरिगति जगती । निषादः ॥

भा०—(सेनाभ्यः सेनानिभ्यः च) सेनापुं, सेनाओं के नायक, (रथिभ्यः अरथेभ्यः च) रथी और विना रथ के, (क्षत्तभ्यः) क्षत्ता अर्थात् रथी योद्धा के अंगरक्षक, सारथि या द्वारपाल और (संग्रहीतृभ्यः च) कर आदि संग्रह करने वाले अथवा घोड़ों का रास पकड़ने वाले (महद्भ्यः) बड़े और (अर्भकेभ्यः) छोटे (वः नमः) आप सबको यथा योग्य पद, आदर, अन्नादि ऐश्वर्य प्राप्त हो ।

‘क्षत्तभ्यः’—शूद्रात् क्षत्रियाया जातेभ्यः इति भाष्ये श्री दया० । तच्चित्तम् ॥ क्षत्ता सारथिर्द्वारपालो वैश्यायां शूद्राज्जातो वेति उणादिव्याख्यायां दया० । तच्चोभयं विभिद्यते । ‘क्षियन्ति निवसन्ति रथेष्विति क्षत्तारः । यद्वा क्षियन्ति प्रेरयन्ति सारथीनीति क्षत्तारो रथाधिष्ठारः’ इति महीधरः । रथनामधिष्ठातारः क्षत्तारः इति उवटः ।

नमस्तत्तभ्यो रथकारेभ्यश्च वो नमो नमः कुलालेभ्यः कुर्मारेभ्यश्च वो नमो नमो निषादेभ्यः पुञ्जिष्ठेभ्यश्च वो नमो नमः श्वनिभ्यो मृगयुभ्यश्च वो नमः ॥ २७ ॥

निचृत् शक्वरी । धैवतः ॥

भा०—(तक्षभ्यः) तक्षा, बड़ई, (रथकारेभ्यः रथों के) बनाने वाले शिल्पी, (कुलालेभ्यः) कुम्हार, मट्टी के बर्तन बनाने वाले, (कुर्मारेभ्यः) लोहार, लोहे के अस्त्र शस्त्र बनाने वाले (निषादेभ्यः) वनों, पर्वतों में रहने वाले नीच जीवन स्थिति में रहने वाले (पुञ्जिष्ठेभ्यः) पुलकस, डोम आदि सुर्दार के कामों में लगे हुए या नाना रंगों या भाषाओं में प्रवीण, (श्वनिभ्यः) कुत्तों के पालक और सधाने वाले (मृगयुभ्यः) मृगों के शिकारी, इन सब (वः नमः) आप लोगों को यथोचित वेतनादि द्रव्य प्राप्त हो ।

नमः श्वभ्यः श्वपतिभ्यश्च वो नमो नमो भवाय च रुद्राय च नमः शर्वाय च पशुपतये च नमो नीलग्रीवाय च शितिकण्ठाय च ॥ २८ ॥

आर्षीजगती । निषादः ।

भा०—(श्वभ्यः) कुत्ते अथवा कुत्तों के समान चोरों का पता लगाने वाले, (श्वपतिभ्यः) कुत्तों के पालक इन (वः नमः) आप सबको पालन योग्य वेतन, अन्नादि प्राप्त हो । (भवाय) गुणों में श्रेष्ठ, या पुत्रोत्पादन में समर्थ, (रुद्राय) शत्रुओं को रुलाने वाले (पशुपतये) पशुओं के पालक (नीलग्रीवाय) गले में नील चिन्ह के धारक, (शितिकण्ठाय) श्वेत वर्ण या चिन्ह को कण्ठ में धारण करने वाले, इन सबको (नमः) उचित चिन्ह आदर, भोग्य अन्नादि प्राप्त हो ।

नमः कपर्दिने च व्युसकेशाय च नमः सहस्राक्षाय च शतधन्वने च नमो गिरिशयाय च शिपिविष्टाय च नमो मीढुस्तमाय चेषुमते च

भुरिगू जगती । निषादः ॥

भा०—(कपर्दिने) कपर्द अर्थात् जटावाले, जटिल ब्रह्मचारी, अथवा जटा से सुशोभित वीर पुरुष, (व्युस केशाय) विशेष रूप से केश कटा कर रखने वाले, संन्यासी या गृहस्थ, (सहस्राक्षाय) सर्वत्र हजारों शास्त्रीय विषयों में चक्षु रखने वाले विद्वान् (शतधन्वने) सैकड़ों धनुष के प्रयोगों को जानने वाले, (गिरिशयाय) वाणी में रमण करने वाले कवि, (शिपिविष्टाय) पशुओं में लगे हुए, अथवा अनादि ऐश्वर्यों में निमग्न, धनाढ्य वैश्य, (मीढुस्तमाय) वीर्यसेचन में समर्थ, 'तरुण' अथवा वृक्षों के उद्यान आदि सेचन में समर्थ आदि और (इषुमते च) उत्तम वाणों वाले वीर, इन सबको (च) और अन्यान्य इनके भृत्य आदि को भी (नमः) योग्य पद, वेतनादि सत्कार प्राप्त हो ।
नमो ह्रस्वाय वामनाय च नमो बृहते च वर्षीयसे च नमो वृद्धाय च सुवृधे च नमोऽग्रयाय च प्रथमाय च ॥ ३० ॥

विराडार्षी त्रिण्डुप् । धैवतः ॥

भा०—(ह्रस्वाय च) आयु में छोटे, (वामनाय च) शरीर के कद में

छोटे अथवा रूप आदि गुणों में सुन्दर, (बृहते च) शरीर में बड़े, और (वर्षीयसे) आयु में बड़े, (बृद्धाय च) पद में बड़े (सवृधे च) समान वयस् के मित्रों में बड़े, (अग्न्याय च) या अधिकार में बड़े और (प्रथमाय च) योग्यता में बड़े, इन सब के लिये (नमः नमः) उचित आदर और पद प्राप्त हो ।

नमः ऽआशवे चाजिराय च नमः शीघ्राय च शीभ्याय च नमः ऽऊर्म्याय चावस्वन्याय च नमो नादेयाय च द्वीप्याय च ॥ ३१ ॥

स्वराड् आर्षी पङ्क्तिः । पञ्चमः ॥

भा०—(आशवे च) शीघ्र गति करने वाले अश्व के समान तीव्र-गामी, (अजिराय च) निरन्तर बहुत देर तक अनथक चलने वाले, (शीघ्राय च) शीघ्र कार्य करने में चतुर, (शीभ्याय च) चुस्ती से करने योग्य कार्यों में कुशल, (ऊर्म्याय च) तरङ्ग या उमङ्ग में आकर काम करने वाला, (अवस्वन्याय च) शब्द न करते हुए चुप-चाप रीति से काम करने वाला, (नादेयाय च) नाद, ऊँचे शब्द, गर्जना के साथ कार्य करने वाले और (द्वीप्याय च) जलादि से चारों ओर घिरे द्वीप के समान शत्रु द्वारा घिर जाने पर भी उन अवसरों और ऐसे स्थानों पर कार्य करने में कुशल इन सब प्रकार के पुरुषों को (नमः ४) उचित कार्य, आदर और वेतन प्राप्त हों ।

नमो ज्येष्ठाय च कनिष्ठाय च नमः पूर्वजाय चापराजाय च नमो मध्यमाय चापगल्भाय च नमो जघन्याय च बुध्न्याय च ॥ ३२ ॥

स्वराड् आर्षी त्रिष्टुप् । षैवतः ॥

भा०—(ज्येष्ठाय च) अपने से पूर्व उत्पन्न, आयु और बल में बड़े, (कनिष्ठाय च) आयु और मान में छोटे, (पूर्वजाय च) पूर्व उत्पन्न, (अपरजाय च) पीछे उत्पन्न, (मध्यमाय च) बड़ों छोटों के बीच के भाई, (अपगल्भाय च) घृष्टतारहित, अथवा एक का अन्तर छोड़ कर पैदा हुए तीसरे भाई, (जघन्याय च) नीच या छोटे कर्म में लगे, या नीचे के पद पर स्थित ।

और (बुध्न्याय च) सब से नीचे के आश्रय रूप पुरुष इन सब को (नमः) यथायोग्य आदर सत्कार ऐश्वर्य, मान, पद प्राप्त हो ।

नमः सोभ्याय च प्रतिसर्याय च नमो याम्याय च क्षेम्याय च
नमः श्लोक्याय चावसान्याय च नम उर्वर्याय च खल्याय च ॥३३॥

आर्षो त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—(सोभ्याय) उभय पाप और पुण्य अथवा उभय, इह लोक और परलोक, अथवा उभय, अपना राष्ट्र और परराष्ट्र दोनों में रहनेवाला उभयवेतन प्रणिधि, 'सोभ्य' अथवा ऐश्वर्ययुक्त पदार्थों में वर्तमान पुरुष, सोभ्य, (प्रतिसर्याय च) प्रतिसरण, शत्रु पर चढ़ाई करने और उसके पीछा करने में समर्थ, (याम्याय च) शत्रुओं को बांधने और राष्ट्र के नियमन करने में कुशल, (क्षेम्याय च) प्रजाओं का क्षेम करने में कुशल, (श्लोक्याय च) वेदमन्त्रों द्वारा स्तुति करने अथवा उनके व्याख्यान करने में कुशल, (अवसान्याय च) अवसान, कार्यों की समाप्ति करने या वेद के अन्तिम भाग उपनिषदों के उपदेश करने में कुशल, (उर्वर्याय च) 'उर' अर्थात् बड़े १ ऐश्वर्यों के स्वामी अथवा उर्वर्य, उर्वरा भूमियों को क्षेत्र उद्यान बनाने में कुशल और (खल्याय च) 'खल' कटे धान्यों को एकत्र करने के स्थान, खलिहान में धान्य अन्न आदि को स्वच्छ करने में कुशल, या उन स्थानों के वृद्धि करने में कुशल अधिकारी लोगों को भी (नमः ४) योग्य मान, पद एवं वेतन आदि प्राप्त हो ।

नमो वन्याय च कक्ष्याय च नमः श्रवाय च प्रतिश्रवाय च नमः
ऽश्राशुषेणाय चाशुरथाय च नमः शूराय चावभेदिने च ॥ ३४ ॥

स्वराड् आर्षो त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—(वन्याय च) घनों के रक्षण में कुशल वनाध्यक्ष, 'वन्य'
(कक्ष्याय च) पर्वतों और नादियों के तटों के अध्यक्ष 'कक्ष्य', (श्रवाय च)

शब्द करने वाले, बाजा आदि बजाने वाले और (प्रतिश्रवाय च) प्रति शब्द करने वाले, (आशुपेणाय) शीघ्रगामिनी सेना के स्वामी, (आशु-रथाय च) शीघ्रगामी रथसेना वाले (शूराय च) शूरवीर (अवमेदिने च) शत्रु के व्यूह और गढ़ों को तोड़ने वाले इन समर्थ राष्ट्र और युद्धोपयोगी पुरुषों को (नमः) उचित अन्न, मान, पद, अधिकार आदि दिया जाय ।

नमो बिलिम्बे च कवचिने च नमो वर्मिणे च वरूथिने च नमः
श्रुताय च श्रुतसेनाय च नमो दुन्दुभ्याय चाहनन्याय च ॥ ३५ ॥

स्वराडार्धी त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—(बिलिम्बे) उत्तम बिल्व, शिरस्त्राण को धारण करने वाले या उजले वस्त्र धारण करने वाले या शत्रु के गढ़ तोड़ने के हथियार धरने वाले, (कवचिने च) कवचधारी, (वर्मिणे) लोह के कवच धारने वाले, (वरूथिने) गृह, प्रासाद आदि के स्वामी अथवा हाथी पर रखने के हौदवाले या छत वाले रथ पर सवार (श्रुताय) शौर्य आदि से प्रसिद्ध, (श्रुतसेनाय) विजय कार्य और शूरता में विख्यात सेना वाले, (दुन्दु-भ्याय च) दुन्दुभि के उठाने वाले और (आहनन्याय च) सेना में जोश डालने के लिये नगादों पर दण्डादि से आघात करके बजाने वाले इन सबको भी (नमः ४) उचित अन्न, पद, कार्य, वेतन आदि प्राप्त हो ।

नमो धृष्णवे च प्रमृशाय च नमो निषङ्गिणे चेषुधिमते च नमस्ती-
क्ष्णेषवे चायुधिने च नमः स्वायुधाय च सुधन्वने च ॥ ३६ ॥

स्वराडार्धी त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—(धृष्णवे च) शत्रु का धर्षण करने में समर्थ, प्रगल्भ, दृढ़, निर्भय पुरुष, (प्रमृशाय च) उत्तम विचारशील, शास्त्रज्ञ, (नि-षङ्गिणे च) खड्ग आदि नाना शस्त्रधारी, (इषुधिमते च) उत्तम शस्त्रास्त्र, बाण आदि के तर्कस वाले (तीक्ष्णेषवे च) तीक्ष्ण बाण वाले, (आयुधिने

च) हथियारबन्द, (स्वायुधाय च) उत्तम हथियारों से सजे, (सुधन्वने च) उत्तम धनुषधारी, इनको भी (नमः ४) योग्य वेतन, पद और आदर प्राप्त हो ।

नमः स्तुत्याय च पथ्याय च नमः काट्याय च नीप्याय च नमः
कुल्याय च सरस्याय च नमो नादेयाय च वैशन्ताय च ॥३७॥

निचृदार्षी त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—(स्तुत्याय च) स्तुति, छोटे २ मार्गों या नालों के अध्यक्ष, (पथ्याय च) बड़े मार्ग, पथों के अध्यक्ष, (काट्याय च) काट, अर्थात् बुरे या विषम मार्ग या कूप या नहर या पुलों के अध्यक्ष, (नीप्याय च) बहुत गहरे जल के स्थानों के अध्यक्ष, (कुल्याय च) नहरों के प्रबन्ध में, या बनाने में लगा पुरुष, (सरस्याय) तालाबों के बनाने या प्रबन्ध में लगा पुरुष, (नादेयाय) नद नालों पर का अध्यक्ष (वैशन्ताय च) वेशन्त ताल, तलैयाओं का अध्यक्ष इनको भी यथोचित वेतन और अधिकार प्राप्त हो ।

नमः कूप्याय चावट्याय च नमो विधियाय चातप्याय च नमो
मेध्याय च विद्युत्याय च नमो वर्ष्याय चावर्ष्याय च ॥ ३८ ॥

भुरिगार्षी पंक्तिः । पञ्चमः ॥

भा०—(कूप्याय च) कूपों पर नियत पुरुष, (अवट्याय च) अवट अर्थात् गढ़ों पर नियत पुरुष, (विध्याय च) विविध प्रकाशों के विज्ञान में कुशल, (आतप्याय च) सूर्य के ताप का उत्तम उपयोग या विज्ञान जानने वाले, अथवा आतप, धूप में कार्य करने वाले, (मेध्याय च) मेधों का विज्ञान जानने वाले, (विद्युत्याय च) विद्युत् के विज्ञान में कुशल, (वर्ष्याय च) वृष्टि के विज्ञान में कुशल और (अवर्ष्याय च) अवर्ष अर्थात् वर्षाओं के न होने

पर जल का उचित प्रबन्ध करने में, वा अतिवृष्टि को दूर करने में समर्थ इन समस्त पुरुषों को राष्ट्र में उचित आदर, पद, अन्न, वेतन आदि प्राप्त हो ।

नमो वात्याय च रेष्म्याय च नमो वास्तव्याय च वास्तुपाय च
नमः सोमाय च रुद्राय च नमस्ताम्राय चारुणाय च ॥ ३६ ॥

स्वराडार्षी पंक्तिः । पञ्चमः ॥

भा०—(वात्याय च) वायु विद्या के ज्ञाता, (रेष्म्याय च) हिंसा कारी प्रबल आन्धड़ के समय उचित उपाय जानने वाले, (वास्तव्याय च) वास्तु विद्या, गृह-निर्माण के ज्ञाता, (वास्तुपाय च) गृहों, महलों, राज-शांसादों की रक्षा के विज्ञान को जानने वाले, (सोमाय च) सोम आदि ओषधियों के विद्वान् या पेश्वर्यवान्, (रुद्राय च) रूत = दुःखों के नाशक वैद्य या शल्य-चिकित्सक या दुष्टों के रूलाने वाले और (ताम्राय च) शत्रुओं को पराजित करने वाले इन सब पुरुषों को (नमः ४) योग्य पदाधिकार, मान और वेतन आदि प्राप्त हो ।

नमः शङ्खवे च पशुपतये च नम उग्राय च भीमाय च नमो अग्रे-
वधाय च दूरेवधाय च नमो हन्त्रे च हनीयसे च नमो वृक्षेभ्यो
हरिकेशेभ्यो नमस्ताराय ॥ ४० ॥

अतिशक्वरी । पञ्चमः ॥

भा०—गौओं के लिये कल्याणकारी अथवा कल्याण और सुख को प्राप्त करने वाला, (पशुपतये च) पशुओं का पालक, (उग्राय च) उग्र, तेजस्वी, (भीमाय) भयानक, शत्रुओं में भय उत्पन्न करने में समर्थ, (अग्रेवधाय च) आगे आये शत्रुओं को मारनेवाला, (दूरेवधाय च) दूरस्थ शत्रुओं को मारने वाला, (हन्त्रे च) मारने वाला, (हनीयसे च) बहुत अधिक मारने वाला, (वृक्षेभ्यः) शत्रुओं को काट डालने वाले शूरवीर या वृक्ष के समान आश्रय-प्रद और वृक्ष, (हरि-

केशेभ्यः) नीले बालों वाले अथवा कुँशों को दूर करने वाले इन समस्त पुरुषों को (नमः) उचित आदर, पदाधिकार और वेतन भन्न आदि प्राप्त हो । (ताराय) दुःख से या जल, समुद्रादि से तराने वाले को (नमः ४) अन्नादि प्राप्त हो ।

नमः शम्भवाय च मयोभवाय च नमः शङ्कराय च मयस्कराय च नमः शिवाय च शिवतराय च ॥ ४१ ॥

स्वरादार्षीं बृहती । मध्यगः ॥

भा०—(शम्भवाय च) प्रजाओं को शान्ति प्राप्त कराने वाले, (मयोभवाय च) सुख के साधन उपस्थित करने वाले, (शङ्कराय च) कल्याण करने वाले, (मयः—कराय च) सुखप्रद, (शिवाय च) स्वतः कल्याण-मय (शिवतराय च) और भी अधिक शिव, मङ्गलकारी पुरुषों को (नमः ४) आदर प्राप्त हो ।

नमः पार्याय चावार्याय च नमः प्रतरणाय चोत्तरणाय च नमः स्तीर्थ्याय च कूल्याय च नमः शण्ड्याय च फेन्याय च ॥ ४२ ॥

निचृदार्षीं त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—(पार्याय च) पार, परले तट के अध्यक्ष, (अवार्याय च) उरले तट के अध्यक्ष, (प्रतरणाय) परले तट से इस तट को पहुँचाने वाली नौका के अध्यक्ष, (उत्तरणाय) इस तट से उस परले तट तक पहुँचाने वाली नौका के अध्यक्ष, (तीर्थ्याय) तीर्थ, घाट आदि के अधि-ष्ठाता (कूल्याय च) तटभर के अध्यक्ष, (शण्ड्याय च) घास, तृण, गुल्मादि के अध्यक्ष या शुल्कग्राही और (फेन्याय च) फेन, दूध, आदि के पदार्थों पर नियत शुल्कग्राही अथवा जहां नदी, धारापात से झगयाती गिरे ऐसे प्रपातों के अध्यक्ष इन सब को (नमः) उचित वेतन आदि प्राप्त हो ।

४१—‘नमः शम्भवे च मयोभवे च’ इति काण्व० ॥

नमः सिकत्याय च प्रवाह्याय च नमः किंशिलाय च क्षयणाय
च नमः कपर्दिने च पुलस्तये च नमः इरिण्याय च प्रपथ्याय च ४३
जगती । निषादः ॥

भा०—(सिकत्याय च) बालू के विज्ञान जाननेवाले, (प्रवाह्याय च) 'प्रवाह', जलधारा के प्रयोगज्ञ अथवा भारी पदार्थ को अच्छी प्रकार दूर ले जाने के साधनों के जानकार, (किंशिलाय च) छोटी बजरी के प्रयोगज्ञ या क्षुद्र २ पेशों के अध्यक्ष, (क्षयणाय च) जलों से भरे गढ़ों के अध्यक्ष अथवा गृह बना कर रहने वाले, (कपर्दिने च) कपर्द अर्थात् कौड़ी, सीप, शंख आदि के व्यापार के अध्यक्ष या जटाजूट वाले जन (पुलस्तये च) बड़े २ भारी पदार्थों को उठाने वाले यन्त्रों का निर्माता, (इरिण्याय च) ऊपर भूमियों का अधिकारी और (प्रपथ्याय च) उत्तम २ मार्गों का अधिकारी इन सब को (नमः ४) उचित मान, पद, वेतन आदि प्राप्त हो ।

नमो ब्रज्याय च गोष्ठ्याय च नमस्तल्प्याय च गेह्याय च नमो
हृदयाय च निवेण्याय च नमः काट्याय च गह्वरेष्ठाय च ॥४४॥

आर्षी त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—(ब्रज्याय) ब्रज अर्थात् गौओं की शालाओं के अध्यक्ष, (गोष्ठ्याय) सरकारी गोशालाओं के अध्यक्ष, (तल्प्याय) विस्तरयोग्य पदार्थों पर निपुण सेवक, (गेह्याय) गृह, मकान पर मृत्यु अधिकारी, (हृदयाय च) हृदय को सदा प्रसन्न करनेवाले खिलौने और खेल करने वाले, (हृदय के प्रेमी) निवेण्याय च) उत्तम वेष पहनाने और बनाने वाले अथवा (निवेण्याय च) आवर्त या नीहार या कोहरा को दूर करने वाले, (काट्याय च) कट, चटाई आदि बनाने में प्रवीण या उचित रूप से बिछाने वाला, वा कूप बनाने वाले

४३—'पुलस्तिने च' इति काण्व० ॥

(गहरेष्टाय च) पर्वतों के गहरों, गहरे जल और विषम स्थानों के उत्तम परिचित इन सबको (नमः) उचित आदर और अन्नादि वृत्ति प्राप्त हो ।

नमः शुष्क्याय च हरित्याय च नमः पांशुसव्याय च रजस्याय च नमो लोप्याय चोल्प्याय च नम ऊर्व्याय च सूर्याय च ॥४५॥

निचृदार्षी त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—(शुष्क्याय च) शुष्क पदार्थों से व्यवहार करने वाले, (हरित्याय च) शाक आदि हरे पदार्थों के अधिकारी, (पांशुसव्याय च) पांशु, मिट्टी ढोने वालों पर के अधिकारी, (रजस्याय) रजस् अर्थात् सूक्ष्म धूल का व्यापार करने वाले, (लोप्याय च) पदार्थों का लोप या विनाश करने वाले, (उल्प्याय च) उल्प, तृण राशि के ऊपर के अधिकारी, (ऊर्व्याय च) 'ऊर्वी' भूमि या विस्तृत खेतों पर के शासक अथवा (सूर्याय च) उत्तम भूमियों के स्वामी अथवा उत्कृष्ट हिंसा कार्य में कुशल, इन सब को भी उत्तम वेतन आदि दिया जाय ।

नमः पर्णाय च पर्णशदाय च नमः उद्गुरमाणाय चाभिघ्नते च नमः आखिदते च प्रखिदते च नमः इषुकृद्भ्यो धनुष्कृद्भ्यश्च नमो नमो वः किरिकेभ्यो देवानां हृदयेभ्यो नमो विचित्रत्केभ्यो नमो विक्षिणत्केभ्यो नमः आनिर्हतेभ्यः ॥ ४६ ॥

स्वराह् प्रकृतिः । धैवतः ॥

भा०—(पर्णाय) वृक्षों के नीचे गिरे पत्तों के ठेकेदार, (पर्णशदाय च) पत्तों के काटने वाले, (उद्गुरमाणाय च) भार उठा कर लाने वाले, श्रमी, (अभिघ्नते) कुठार चला कर वृक्ष काटने वाले, (आखिदते च) दीनों पर नियुक्त पुरुष, (प्रखिदते च) बहुत ही पतित दीनों पर नियुक्त पुरुष अथवा (आखिदते) पशुओं को हांकने वाले और (प्रखिदते) बहुत दीन, परिश्र (इषुकृद्भ्यः धनुष्कृद्भ्यः च) बाण और धनुष बनाने वा लेह्न

छोटे मोटे पेशों वाले सबको यथोचित रूप से वृत्ति और अन्न प्राप्त हो। (किरिकेभ्यः) नाना प्रकार के काम करने वाले या नाना पदार्थों को कारीगरी से पैदा करने वाले और (देवानां हृदयेभ्यः) देव, दिव्य-शक्तियों के हृदय अर्थात् मुख्य केन्द्रों के संस्थापक, अग्नि वायु और आदित्य इन की विद्या में कुशल, (विचिन्वत्केभ्यः) नये २ पदार्थों, तत्त्वों और पुराने उपयोगी पदार्थों, शत्रुओं और चोरों की खोज लगाने वाले, अविष्कारक लोग, (विक्षिणत्केभ्यः) और विविध उपायों से शत्रुओं का विनाश करने में कुशल और (आनिर्हतेभ्यः) गुप्त रूप से सब तरफ़ शत्रु देश में व्याप जाने वाले इन सब को भी (नमः) उचित वृत्ति प्राप्त हो।
शत० ९।१।१।२३ ॥

द्रापे ऽअन्धस्पते दरिद्र नीललोहित ।

आसां प्रजानांभेषां पशूनां मा भेर्मा रोङ् मो च नः किंचनाममत् ४७

एको रुद्रो देवता । भुरिगर्षी बृहती । मध्यमः

भा०—हे (द्रापे) शत्रुओं को कुत्सित गति अर्थात् दुर्दशा में पहुँचा देने और हमें उससे बचाने हारे ! हे (अन्धसः पते) अन्न आदि भोग्य पदार्थ एवं जीवनप्रद पदार्थों के पालक ! स्वामिन् ! हे (दरिद्र) शत्रुओं को दुर्गति में डालने वाले ! अथवा दुर्गत—दुष्प्राप्य ! एकाकी अधिकारिन् ! हे (नीललोहित) कण्ठ देश में नीले और शेष देह पर लाल वर्ण के वस्त्र पहनने हारे राजन् ! वीर ! तू इन प्रजाओं में से और (एषाम् पशूनाम्) (आसाम्) इन पशुओं में से किसी को (मा भेः) भयभीत मत कर, (मा रोङ्) रोग से पीड़ित मत कर, (मो च) और न (नः किंचन) हमारे किसी प्राणी को किसी प्रकार से भी (आममत्) पीड़ा, कष्ट दे।
शत० ९।१।१।२४ ॥

४७—‘मा भेर्मा रोङ् मो’ इति काण्व० ।

इमा रुद्राय तवसे कपर्दिने क्षयद्वीराय प्रभरामहे मतीः ।
यथा शमसद्विपदे चतुष्पदे विश्वं पुष्टं ग्रामे ऽश्मिन्ननातुरम् ४८

ऋ० १ । ११४ । १ ॥

आर्षी जगती निषादः ॥

भा०—(तवसे) बड़े भारी, बलवान्, (कपर्दिने) शिर पर जटाजूट को धारण करने वाले अथवा जटा के स्थान में केशों पर मुकुट धारण करने वाले, (क्षयद्-वीराय) अपने आश्रय में वीरों को बसाने वाले, (रुद्राय) प्रजा के दुखों के नाशक एवं शत्रुओं को रुलाने वाले, (महे) बड़े भारी राजा के लिये हम (इमाः मतीः) उन उत्तम स्तुतियों को या यथार्थ गुण-वर्णनों को अथवा (मतीः) मनन द्वारा प्राप्त नाना साधनों को (प्रभरामहे) अच्छी प्रकार प्रयोग करें । अथवा, (इमाः मतीः प्र भरामहे) इन मतिमान् विद्वानों को अच्छी प्रकार पालें, पोषण करें (यथा) जिससे (द्विपदे) दो पाये मनुष्यों और (चतुष्पदे) चौपायों को (शम्) शान्ति (असत्) प्राप्त हो । और (विश्वम्) समस्त प्रजा और पशु आदि प्राण-गण (अस्मिन् ग्रामे) इस ग्राम में (अनातुरम्) नीरोग, व्याकुलता रहित अभय रहकर (पुष्टम् असत्) हृष्ट पुष्ट होकर रहें ।

या ते रुद्र शिवा तनूः शिवा विश्वाहा भेषजी ।

शिवा रुतस्य भेषजी तया नो मृड जीवसे ॥ ४६ ॥

आर्ष्यनुष्टुप् । गांधारः ॥

भा०—हे (रुद्र) 'रुत' अर्थात् प्राणियों की चीख पुकारवाली पीड़ा को दूर करने हारे ! (या) जो (ते) तेरी (शिवा) मङ्गलमय (तनूः) विस्तृत राजशक्ति है वह (विश्वाहा) सब दिनों (शिवा) मङ्गलमय, सुखकारिणी और (भेषजी) ओषधि के समान कष्ट-पीड़ाओं को दूर करने

४६—'शिवमृतस्व', 'मृळ' इति काण्व० ।

वाली हो। वह (शिवा) शिव, कल्याणकारिणी (रुतस्य) देह की व्याधि को (भेषजी) दूर करने वाली हो। (तथा) उससे ही तृ (नः) हमें (जीवसे) दीर्घ जीवन तक (मृड) सुखी कर।

परि नो रुद्रस्य हेतिर्वृणक्तु परि त्वेषस्य दुर्मतिरघायोः ॥

अव स्थिरा मधवद्भ्यस्तनुष्व मीद्वस्तोकाय तनयाय मृड ॥५०॥

ऋ० २ । ३३ । ३४ ॥

आर्षी त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—हे (मीद्वः) समस्त प्रजापर सुखों की वर्षा करने हारे पजन्य के समान राजन् ! (रुद्रस्य) दुष्टों के रूलाने वाले वीर पुरुषों के (हेतीः) शत्रु (नः) हमें पस्विणक्तु दूर से ही छोड़ दें, हम पर वे प्रहार न करें। और (अघायोः) हम पर पाप और अत्याचार करने की इच्छा वाले (त्वेषस्य) क्रोध से जले हुए पुरुष की (दुर्मतिः) दुष्ट बुद्धि भी (नः परि वृणक्तु) हमसे दूर रहे। (मधवद्भ्यः) धन-सम्पन्न प्रजाओं की रक्षा के लिये (स्थिरा) स्थिर शस्त्रों को (अव तनुष्व) स्थापित कर। और हमारे (तोकाय तनयाय) पुत्र और पौत्रों के लिये या छोटे और बड़े बालकों को (मृड) सुखी कर।

मीदुष्टम शिवतम शिवो नः सुमना भव ।

परमेवृक्ष ऽत्रायुधं निधाय कर्त्ति वसान् ऽत्राचर पिनाकं विभूदा-
गहि ॥ ५१ ॥

निचृदार्षी यवमध्या त्रिष्टुप् । धैवतः ।

भा०—हे (मीदुष्टतम) अतिशय वीर्यसम्पन्न एवं प्रजा पर अति अधिक सुखों और शत्रुओं पर अति अधिक शरों की वर्षा करने में समर्थ ! हे (शिवतम) अतिशय कल्याणकारिन् ! तू (नः) हमारे

५०—‘परि यो हेती रुद्रस्य वृज्यात् परित्वेषस्य दुर्मतिर्महीगात्’ ‘मृळ’ इति काण्व०

५१—‘मीळुष्टतम’ इति काण्व० ।

प्रति (शिवः) कल्याणकारी और (सुमनाः) शुभ चित्त वाला (भव) हो । तू (परमे वृक्षे) अति अधिक काटने योग्य शत्रु सेना पर अपने (आयुधं निधाय) शस्त्र को रख कर और (कृत्तिम्) चर्म को (वसानः) धारण करके (पिनाकं बिभ्रत्) राजा के पालन और श्राण साधन शस्त्र अस्त्र, धनुष आदि (बिभ्रत्) धारण करता हुआ (आ चर) चारों ओर विचर और (आ गहि) हमें प्राप्त हो ।

विकिरिद्र विलोहित नमस्ते ऽअस्तु भगवः ।

यास्ते सहस्रं हेतयोऽन्यमस्मान्निवपन्तु ताः ॥ ५२ ॥

आर्ष्यनुष्टुप् । गांधारः ॥

भा०—हे (विकिरिद्र) शत्रुओं की बौछारों से शत्रुओं को भगा देने हारे ! अथवा विविध प्रकार के घात, हत्या, चोरी, बटमारी आदि उपद्रवों को दूर करने हारे याविशेष बलशाली शूकर के समान सोने या बलशाली शूकर को भी बल में तुच्छ समझने वाले ! हे (विलोहित) विशेष रूप से रक्त वर्ण की पोषाक पहनने हारे अथवा पाप के भावों से रहित, विविध पदार्थों के स्वामिन् ! हे (भगवः) ऐश्वर्यवन् ! (ते नमः अस्तु) तेरे लिये हमारा आदर भाव प्रकट हो । और (याः) जो (ते) तेरे (सहस्रम्) हजारों (हेतयः) शस्त्र अस्त्र हैं (ताः) वे (अस्मत्) हमसे दूर होकर (निवपन्तु) शत्रु पर पड़ें ।

विकिरिद्र—विकिरीन् इषून् द्रावयति इति विकिरिद्रः इति उवटः । विविधं किरिं घाताद्युपद्रवं द्रायति । नाशयति इति महीधरः । विशिषेण किरिः सूकर इव द्रायति शेते विशिष्टं किरिं द्राति निन्दति वा तत्सम्बुद्धौ विकिरिद्र इति दया० ।

उवट और महीधरकृत व्युत्पत्तियों के अनुसार अर्थ उपर किया गया है । दयानन्दकृत व्युत्पत्ति के अनुसार उनके बनाये भाषाभाष्य में किये अर्थ का तात्पर्य नहीं पता लगता । कदाचित् उनका अभिप्राय है, (विकिरिद्र)

विशेष रूप से बलवान् ! शूकर के समान निश्चित होकर शयन करने हारे !
या विशेष बलवान् ! शूकर को भी बल में पराजित करने वाले ! अर्थात्
निर्भीक आक्रामक !

‘विलोहितः’—विगतकल्मषभावः इति उच्यते ।

सहस्राणि सहस्रशो ब्राह्मोस्तव हेतयः ।

तासामीशानो भगवः पराचीना मुखा कृधि ॥ ५३ ॥

निचृदार्थनुष्टुप् । गांधारः ॥

भा०—हे (भगवः) ऐश्वर्यवान् ! राजन् ! (तव ब्राह्मोः) तेरी बाहुओं
में (सहस्राणि सहस्रशः) हजारहों, लाखों, (हेतयः) शस्त्रास्त्र हैं । तु
(तासां) उनका (ईशानः) स्वामी है । (पराचीना मुखा) उनके मुख
परली तरफ़ को (कृधि) कर ।

असंख्याता सहस्राणि ये रुद्रा ऽअधि भूम्याम् ।

तेषां सहस्रयोजने ऽव धन्वानि तन्मसि ॥ ५४ ॥

शत० ९ । १ । १ । ३० ॥

विराड् आर्व्यनुष्टुप् । गांधारः ॥

भा०—(भूम्याम् अधि) भूमि पर अधिष्ठाता रूप से या शासक
रूप से (ये) जो (असंख्याताः सहस्राणि) असंख्य, हजारों (रुद्राः)
प्राणियों को रूढ़ाने वाले पदार्थ और प्राणी हैं (तेषाम्) उनके (धन्वानि)
धनुषों को हम (सहस्रयोजने) हजारों कोसों तक (अव तन्मसि) विस्तृत
करें या शान्त करें ।

अस्मिन्महत्पुण्येऽन्तरिक्षे भवा ऽअधि ।

तेषां सहस्रयोजनेऽव धन्वानि तन्मसि ॥ ५५ ॥

मुरिगाभ्युष्णिक् । ऋषभः ॥

५४—५३ अतोऽवतानसंज्ञा दश मन्त्राः । सर्वा० ।

भा०—(अस्मिन्) इस (महति) बड़े भारी (अर्णवे) समुद्र के समान विस्तृत (अन्तरिक्षे) अन्तरिक्ष के समान सर्वाच्छादक, सर्वरक्षक राजा के अधीन (भवाः अधि) उत्पादक सामर्थ्य से युक्त 'भव' नामक अधिकारी रूप से सहस्रों पुरुष विद्यमान हैं । (तेषां सहस्र० इत्यादि) पूर्ववत् ।

नीलग्रीवाः शितिकण्ठा दिवश्च रुद्रा उपश्रिताः ।

तेषां सहस्रयोजने ऽव धन्वा नि तन्मसि ॥ ५६ ॥

निचृदार्धनुष्टुप् । गांधारः ॥

भा०—(नीलग्रीवाः) गर्दनों में नील वर्ण के और (शितिकण्ठाः) कण्ठ पर श्वेत चिन्ह धारण करने वाले (रुद्राः) प्राणियों के दुःखहर्त्र (दिवि) सूर्य के आश्रय में चन्द्र आदि लोक के समान आल्हादकराजा के (उपश्रिताः) आश्रित बहुत से अधिकारी विद्यमान हैं । (तेषां सहस्र० इत्यादि) पूर्ववत् ।

नीलग्रीवाः शितिकण्ठाः शर्वाऽधः क्षमाचराः ।

तेषां सहस्रयोजने ऽव धन्वा नि तन्मसि ॥ ५७ ॥

निचृद् आर्धनुष्टुप् । गांधारः ।

भा०—(नीलग्रीवाः शितिकण्ठाः) गर्दन पर नील वर्ण के और कण्ठ में श्वेत वर्ण के चिन्ह को धारण करने वाले (शर्वाः) हिंसाकारी (अधः) नीचे (क्षमाचराः) पृथ्वी पर विचरने वाले अथवा नीचे की श्रेणियों में विचरने वाले हैं (तेषां सहस्र० इत्यादि) पूर्ववत् ।

चन्द्रादि लोक जो स्वयं प्रकाशमान नहीं हैं वे सूर्य के आश्रित होकर उसके प्रकाश से कण्ठ अर्थात् आगे की ओर से तो चमकीले और पीछे की ओर से अन्धकारमय, नीले होते हैं । उसी प्रकार जो राजा के आश्रित भृत्य हैं वे भी आगे से चमकते राज शासन का कार्य करते हैं और उनके काले गुण अर्थात् लोभ रोग द्वेष आदि पीछे रहते हैं । वे उनका प्रयोग नहीं कर सकते ।

ये वृक्षेषु शष्पिञ्जरा नीलग्रीवा विलोहिताः ।
तेषां सहस्रयोजने ऽव धन्वानि तन्मसि ॥ ५८ ॥

आर्ष्यनुष्टुप् । गान्धारः ॥

भा०—(ये) जो (नीलग्रीवाः) गर्दन पर नीले वर्ण के (शष्पि-
ञ्जराः) हिंसक व्याघ्रादि के समान पीले वर्ण वाले, पीली बर्दी पहने और
(विलोहिताः) शेष में लाल रंग के वर्ण के रह कर (वृक्षेषु) वृक्षों पर
या काटने योग्य शत्रुओं पर जा पड़ते हैं (तेषां सहस्र०) इत्यादि पूर्ववत् ।

ये भूतानामधिपतयो विशिखासः कपर्दिनः ।
तेषां सहस्रयोजने ऽव धन्वानि तन्मसि ॥ ५९ ॥

आर्ष्यनुष्टुप् । गान्धारः ॥

भा०—(ये) जो (भूतानाम्) प्राणियों के (अधिपतयः) अधि-
पति, पालक (विशिखासः) शिखा केश आदि रहित, संन्यासी गण और
(कपर्दिनः) जटिल ब्रह्मचारी लोग अथवा (विशिखासः) विना शिखा के,
विना तुर्रे वाले और जो (कपर्दिनः) शिर पर मुकुट धारण करने वाले हैं
(तेषां सहस्र०) इत्यादि पूर्ववत् ।

ये पथां पथिरक्षयः ऽपेलवृदा आयुर्युधः ।
तेषां सहस्रयोजने ऽव धन्वानि तन्मसि ॥ ६० ॥

निचृदार्ष्यनुष्टुप् । गान्धारः ॥

भा०—(ये) जो (पथाम्) मार्ग के रक्षक और (पथिरक्षयः) मार्ग
में चलने वाले यात्रियों की भी रक्षा करने हारे, (ऽपेलवृदाः)
पृथ्वी पर के अन्न आदि पदार्थों को बढ़ाने वाले या पृथ्वी पर
उत्पन्न अन्नों से सबके पालन में समर्थ अथवा अन्नादि द्वारा भरण पोषण

६०—'पथिरक्षिणः ऐल'० इति काण्व० ।

किये गये, (आयुर्धुः) जान तोड़ कर शत्रु से लड़ने वाले हैं (तेषां सहस्र०) इत्यादि पूर्ववत् ॥

ये तीर्थानि प्रचरन्ति सूकाहस्ता निषङ्गिणः ।

तेषां सहस्रयोजनेऽव धन्वानि तन्मसि ॥ ६१ ॥

निचृदार्घ्यनुष्टुप् । गान्धारः ॥

भा०—(ये) जो (सूकाहस्ताः) भाला हाथ में लिये, (निषङ्गिणः) तलवार बांधे, (तीर्थानि) विद्यालयों, जहाजों और घाटों की रक्षा के लिये उन स्थानों पर (प्रचरन्ति) घूमते हैं (तेषां सहस्र०) इत्यादि पूर्ववत् ।

येऽङ्गेषु विविध्यन्ति पात्रेषु पिबतो जनान् ।

तेषां सहस्रयोजनेऽव धन्वानि तन्मसि ॥ ६२ ॥

निराडार्घ्यनुष्टुप् । गान्धारः ॥

भा०—(ये) जो दुष्ट पुरुष (अन्नेषु) अन्नादि भोजनों और (पात्रेषु) पात्रों में अर्थात् जल दुग्ध आदि के पात्रों पर (पिबतः) पान करने वाले (जनान्) जनों पर (विविध्यन्ति) शस्त्र का प्रहार करते या उनको बाण के तुल्य घायल करते हैं । (तेषां सहस्र०) उनको दूर करने के लिये हजारों योजनों तक फैले देश में हम धनुषों को विस्तृत करें ।

अथवा—जो अन्न दुग्धादि पदार्थों को खाते पीते अपराधी पुरुषों पर प्रहार करते हों उनके धनुषों को हजारों योजन तक विस्तृत करें ।

य एतावन्तश्च भूयांसश्च दिशो रुद्रा वितस्थिरे ।

तेषां सहस्रयोजनेऽव धन्वानि तन्मसि ॥ ६३ ॥

भुरिगार्घ्यनुष्टुप् । गान्धारः ॥

भा०—(ये) जो (एतावन्तः च) इतने पूर्व कहे और (भूयांसः च) इनसे भी अधिक (रुद्राः) प्राणियों को दण्ड देने वाले राज-पुरुष (दिशः) समस्त दिशों से (वितस्थिरे) विविध पदों पर स्थित हैं (तेषां सहस्र०) इत्यादि पूर्ववत् । पक्षान्तर में रुद्र प्राण और जीव भी 'रुद्र' संज्ञक होते हैं ।

नमोऽस्तु रुद्रेभ्यो ये दिवि येषां वर्षमिषवः । तेभ्यो दश प्राची-
र्दश दक्षिणा दश प्रतीचीर्दशोदीचीर्दशोर्ध्वाः । तेभ्यो नमो
ऽअस्तु ते नोऽवन्तु ते नो मृडयन्तु ते यं द्विष्मो यश्च नो द्वेष्टि
तमेषां जम्भे दधमः ॥ ६४ ॥

नमोऽस्तु रुद्रेभ्यो येऽन्तरिक्षे येषां वातऽइषवः । तेभ्यो
दश प्राचीर्दश दक्षिणा दश प्रतीचीर्दशोदीचीर्दशोर्ध्वाः । तेभ्यो
नमोऽस्तु ते नोऽवन्तु ते नो मृडयन्तु ते यं द्विष्मो यश्च नो
द्वेष्टि तमेषां जम्भे दधमः ॥ ६५ ॥

नमोऽस्तु रुद्रेभ्यो ये पृथिव्यां येषामन्नमिषवः । तेभ्यो दश
प्राचीर्दश दक्षिणा दश प्रतीचीर्दशोदीचीर्दशोर्ध्वाः । तेभ्यो नमो
ऽअस्तु ते नोऽवन्तु ते नो मृडयन्तु ते यं द्विष्मो यश्च नो द्वेष्टि
तमेषां जम्भे दधमः ॥ ६६ ॥

(६४) निचृद्भृतिः (६५-६६) धृतिः । ऋषभः ॥

भा०—(ये) जो (दिवि) सूर्य के आश्रित या द्यौलोक में विद्यमान
सूर्यादि के समान (दिवि) तेजस्वी राजा के आश्रित (रुद्राः) रुद्र गण
हैं (येषाम्) जिनका (वर्षम्) जल-वर्षण के समान शस्त्र-वर्षण ही
(इषवः) बाण हैं उन (रुद्रेभ्यः) दुष्टों को रूढ़ाने हारों के लिये (नमः
अस्तु) आदर प्राप्त हो ॥

इसी प्रकार (ये अन्तरिक्षे) जो अन्तरिक्ष में वायु, मेघ आदि के समान
हैं और जो अन्तरिक्ष के समान सब को आवरण करने वाले रक्षक राजा
पर आश्रित रुद्र गण हैं (येषां वातः इषवः) जिनके वायु या धातु के समान
तीव्र वेगवान् बाण हैं (तेभ्यः नमः अस्तु) उनको हमारा नमस्कार है ।

इसी प्रकार (ये पृथिव्याम्) जो रुद्र गण पृथिवी पर हैं और जो

६४-६६—प्रवरोहसंज्ञा मन्त्राः । सर्वा०। 'ते नो मृडयन्तु' इति काण्व० ।

पृथिवी के समान सर्वाश्रय राजा के आश्रय पर रहते हैं (येषाम् अन्नम् हृषवः) जिनके अन्न आदि भोग्य पदार्थ ही प्रेरक द्रव्य था बाण के समान वशकारी साधन हैं उन (रुद्रेभ्यः नमः अस्तु) रुद्रों को नमस्कार हो । (तेभ्यः) उनको (दश प्राचीः, दश प्रतीचीः, दश दक्षिणाः, दश उदीचीः, दश ऊर्ध्वाः) दश दश प्रकार की पूर्व, पश्चिम उत्तर दक्षिण और उर्ध्व दिशाएं प्राप्त हों । अर्थात् सब दिशाओं में उनको दशों दिशाओं के सुख प्राप्त हों । अथवा दशों दिशों में उनको दोनों हाथों को जोड़ कर दश अगुलियें आदरार्थ निवेदित हों ।

(तेभ्यः नमः अस्तु) उनको हमारा आदरपूर्वक नमस्कार हो । (ते नः अवस्तु) वे हमारी रक्षा करें । (ते नः मृडयन्तु) वे हमें सुखी करें और (ते) वे हम (यं द्विषमः) जिसको द्वेष करते हैं (यः च नः द्वेष्टि) और जो हमसे द्वेष करता है (तम्) उसको हम लोग मिलकर (एषाम्) उनके (जम्भे) बिल्ली के मुख में जिस प्रकार मूसा पीड़ा पाता है उसी प्रकार कष्ट पाने के लिये उनकी अधीनता में (दधमः) धर दें । वे उनको दण्ड दें । ६४, ६५, ६६ ॥ शत० ९ । १ । ३५-३९ ॥

॥ इति षोडशोऽध्यायः ॥

इति मीमांसातीर्थ-प्रतिष्ठितविद्यालंकार-श्रीमत्पाण्डितजयदेवशर्मकृते
यजुर्वेदालोकभाष्ये षोडशोऽध्यायः ॥



॥ अथ सप्तदशोऽध्यायः ॥

॥ ओ३म् ॥ अश्मन्मूर्जं पर्वते शिश्रियाणाम्दभ्यः ऽओषधीभ्यो
वनस्पतिभ्यो ऽअधिसम्भृतं पयः । तां न इषमूर्जं धत्त मरुतः सत्थं
रराणा ऽअश्मंस्ते क्षुन्मयि त ऽऊर्गं द्विष्मस्तं ते शुगृच्छतु ॥ १॥

मरुतो देवताः । अति शक्वरी । पञ्चमः ॥

भा०—हे (मरुतः) मरुद्-गण ! वैद्यगण ! प्रजागण ! और
किसान लोगो ! आप लोग (संरराणाः) अन्न आदि समृद्धि को भरपूर
देने वाले होकर (अश्मन्) राष्ट्र के भोग करने में समर्थ एवं अपने
पराक्रम से उस में राजशक्ति से व्यापक, (पर्वते) पालनकारी सामर्थ्य
से युक्त राजा में, मेघ में विद्यमान रस के समान (शिश्रियाणाम्) आश्रित,
विद्यमान, (ऊर्जम्) अन्नादि समृद्धि को और (अद्भ्यः) जलों से
(ओषधिभ्यः) ओषधियों से और (वनस्पतिभ्यः) वट आदि वनस्पति
वड़े वृक्षों से, जो (पयः) पुष्टिकारक रस (अधिसंभृतम्) प्राप्त किया
जाता है (ताम्) उस (इषम्) अभिलाषा के योग्य अन्न, (ऊर्जम्) बल-
कारी रस को (नः धत्त) हमें प्रदान करो । हे (अश्मन्) राजन् ! भोक्तः !
(ते क्षुत्) तुझे भूख है, परन्तु हे राजन् ! (ते ऊर्गं) तेरा बलकारी
अन्नादि रस भी (मयि) मुझ प्रजा के आधार पर है तो भी (ते शुग्)
तेरा शुक, क्रोध और भूख, ज्वाला (यं द्विष्मः) हम जिससे द्वेष
करते हैं उस शत्रु को (ऋच्छतु) प्राप्त हो । राजा धनतृष्णा से प्रेरित
होकर भी प्रजा को न रुलावे, प्रत्युत शत्रु राजा को विजय करे । वायुगण
जिस प्रकार समुद्र के जलों को ढोकर लाते हैं और वे पर्वत पर बरसा देते
हैं और वह सब जल नदियों, ओषधियों, वनस्पतियों और पशुओंको प्राप्त

१—मेघातिथिकंठिः । ६० ।

होकर अन्न दूध आदि के रूप में प्रजा को मिलता है उसी प्रकार प्रजा लोग, व्यापारी लोग और सैनिक लोग जितनी भी धन-सम्पत्ति, व्यापार, कृषि आदि से उत्पन्न करते हैं वे सब राजा के साथ मिलकर मानो उसी पर बरसाते हैं, उसी को दे देते हैं। उसके पास से फिर सब को देशभर के वासियों को प्राप्त होता है। सबकी भूख पीड़ा की शान्ति राजा के आधार पर है। राजा को अन्न आदि की प्राप्ति प्रजा के आधार पर है। राजा यदि क्रोध भी करे तो अपनी प्रजा को पीड़ित न करके उसको पीड़ित करे जो प्रजा का शत्रु होकर प्रजा को कष्ट दे। चोर, डाकू, लोभी शासक, राजा के लोभी शत्रु, राजा का अपना लोभ और बाह्य शत्रु ये प्रजा के शत्रु हैं, वह उनका दमन करे। शत० ९।१।२५-१२ ॥

मरुतः—ये ते मारुताः पुरोडाशा रश्मयस्ते । श० ९।३।१।२५ ॥ गणशो ही मरुतः १९।१४।२ ॥ मरुतो गणनां पतयः । तै० ३।११।४।२ ॥ विशो वै मरुतो देवविशः । २।५।१।१२ ॥ विड्वै मरुतः । त० १।८।३।३ ॥ विशो मरुतः । श० २।५।२६ ॥ कीनाशा आसन् मरुतः सुदानवः ॥ तै० २।४।८।७ ॥ पशवो वै मरुतः । तै० १।७।३।५ ॥ इन्द्रस्य वै मरुतः । कौ० ५।४ ॥ अथैनमूर्ध्वायां दिशि मरुतश्चाङ्गिरसश्च देवा अभ्यषिञ्चन् पारमेष्ठ्याय माहाराज्यायाधिपत्याय स्वावश्यायातिष्ठाय । ऐ० ८।१४ ॥ हेमन्तेन ऋतुना देवा मरुतस्त्रिणवे स्तुतं बलेन शकरीः सहः हविरिन्द्रे वयो दधुः । तै० २।६।१९२ ॥

मरुत् सम्बन्धी पुरोडाश रश्मिएं हैं। अर्थात् सूर्य की जिस प्रकार रश्मियें 'मरुत्' कहाती हैं उसी प्रकार राजा की सेनाएं और अधीन गण 'मरुत्' हैं। गण २, दस्ते २ बनाकर 'मरुत्' लोग रहते हैं। गणों के पति भी 'मरुत्' हैं। प्रजाएं जो राजा की प्रजाएं हैं वे 'मरुत्' हैं। प्रजा सामान्य वा वैश्यगण 'मरुत्' हैं। कीनाश अर्थात् किसान लोग भी 'सुदानु' उत्तम अन्नादि के दाता 'मरुत्' कहाते हैं। पशुगण भी 'मरुत्' हैं। इन्द्र आत्मा

के अधीन प्राणों के समान इन्द्र राजा के अधीन लोग 'मरुत्' हैं। सर्वोच्च स्थान में मरुत् गण और अङ्गिरस्, अर्थात् वीर सैनिक पुरुषों और विद्वान् पुरुष राजा को परम स्थान के अधिपति पद, महाराज पद, राष्ट्र को अपने वश में करने वाले 'स्वावश्य' पद और सबसे ऊँचे स्थित 'आतिष्ठ' पदपर अभिषिक्त करते हैं। हेमन्त ऋतु जिस प्रकार सब वृक्षों के पत्ते झाड़ देता है उसी प्रकार युद्ध-विजयी राजा शत्रु और मित्र सबकी समृद्धि हर लेता है, हेमन्त की तीव्र वायुओं के समान वीर जन ही २७ पदाधिकारियों से शासित राष्ट्र में बलपूर्वक शक्तिमती सेना और शत्रुपराजयकारी बल और अन्न और शासन-शक्ति को स्थापित करते हैं।

१५ वें अध्याय में 'हेमन्त' पद पर राजा की स्थापना हो चुकी। १६ वें में रुद्र का अभिषेक, उसको समृद्धि और राजपद प्राप्त हुआ। समस्त छोटे मोटे, बड़े ऊँचे नीचे राजपदाधिकारियों की असंख्यात रुद्रों के रूप में स्थापना, अधिकार, मान, पद वेतन आदि पर निशुक्ति की जा चुकी। सबको नमस्कार हो गया। अब प्रजा-पालक और शत्रु-कर्षण, दुष्ट-दमन का इस अध्याय में वर्णन किया जायगा।

अश्मा—पर्वतः—ग्रावा—स्थिरो वा अश्मा। श० ९।१।२।५ ॥ असौ वा आदित्योऽश्मा पुश्निः। श० ९।२।३।१४ ॥ वज्रो वै ग्रावा। श० ११।५।९।७ ॥ माहता वै ग्रावाणः (तां० ९।१।१४) चक्रमक पत्थर के शस्त्र और बाण के फले बनते थे, इससे वज्र या शस्त्र का प्रतिनिधि 'अश्मा' कहा गया है। वही राजा, प्रतिनिधि अथवा स्थिर पर्वत के समान दृढ़ राजा भी 'अश्मा' है। पालन सामर्थ्य होने से राजा ही पर्ववान् 'पर्वत' है। इसी से आदित्य भी 'अश्मा पुश्नि' है। उसके समान तेजस्वी राजा भी कररूप रस ग्रहण करने वाला 'अश्मा' है।

इमा मे ऽब्रग्न इष्टका धेनवः सन्त्वेका च दश च शतं च शतं च सहस्रं च सहस्रं चायुतं चायुतं च नियुतं च नियुतं च

प्रयुतं चार्बुदं च न्यर्बुदं च समुद्रश्च मध्यं चान्तश्च परार्धश्चैता
मे ऽअग्न इष्टका धेनवः सन्त्वमुत्रामुष्मिँल्लोके ॥ २ ॥

अग्निदेवता । निचृद् विकृतिः । मध्यमः ॥

भा०—हे (अग्ने) ज्ञानवान् ! विद्वान् ! पुरोहित ! (मे) मेरी ये
(इष्टकाः) मकान में चुनी गयी ईंटों के समान राज्यरूप महल में लगी,
राज्य के नाना विभागों में नियुक्त शासक वर्ग, भृत्य वर्ग रूप ईंटें, सेनाएं
और प्रजाएं अथवा इष्ट अर्थात् वेतन रूप से दिये गये अन्न या पिण्ड पर
नियुक्त अमात्य भृत्यआदि, सब, अथवा मेरे अभिलषित राज्याङ्गरूप प्रजा-
गण (मे) मेरे लिये (धेनवः) दुधार गौओं के समान समृद्ध
और ऐश्वर्य को बढ़ाने वाली और पुष्टिकारक बलप्रद, कर आदि देने वाली
हों । और वे (एका च दश च) एक, एक, एक करके दश हों । (दश च
शतं च) वे दस, दस दस करके सौ तक बढ़ जाय । (शतं च सहस्रं च)
वे सौ, सौ, करके हजार तक बढ़ जाय । (सहस्रं च अयुतं च) इसी
प्रकार वे हजार २, दस हजार हो जाय । (अयुतं च नियुतं च) वे दस २
हजार बढ़कर एक हजार हो जाय (नियुतं च प्रयुतं च) वे एक २ लाख
बढ़कर दस लाख हो जाय । इसी प्रकार उत्तरोत्तर बढ़ती हुई वे (अर्बुदं च)
१० करोड़, (न्यर्बुदं च) अर्ब खर्व, निखर्व महापद्म, शंख (समुद्रः च)
समुद्र (मध्यं च) मध्य (अन्तः च) अन्त, (परार्धश्च) और परार्ध हो
जाय । और (एताः) ये सब (मे) मेरी (इष्टकाः) दान किये वेतन
आदि पर बढ़ एवं प्रिय, एवं सुसंगठित राज्य की ईंटों के समान
प्रजा गण (धेनवः सन्तु) दुधार गौओं के समान ऐश्वर्य रस के देने
वाली हों और (अमुष्मिन् लोके) परलोक में वा (अमुत्र) परदेश में भी
सुखकारी हों । शत० ६ । १ । २ । १३-१७ ॥

ऋतवः स्थ ऋतावृधं ऋतुष्ठाः स्थ ऽऋतावृधः ।
धृतश्च्युतो मधुश्च्युतो विराजो नाम कामदुघा अक्षीयमाणः ॥ ३ ॥

अग्निदेवता । विराडार्षी पक्तिः । पञ्चमः ॥

भा०—पूर्व कही राज्य को बनाने वाली इष्टकाओं का स्वरूप दर्शाते हैं—
हे राज्य के विशेष २ मुख्य अंगों के नेता पुरुषो ! तुम (ऋतवः स्थ) वर्ष,
संवत्सर रूप प्रजापति के अंशभूत जिस प्रकार ६ या ५ ऋतु होते हैं
और नाना प्राणियों का उपकार करते हैं उसी प्रकार तुम लोग भी 'ऋतु'
हो, अर्थात् (ऋतावृधः) ऋत अर्थात् सत्य व्यवहार और न्याययुक्त
राज्य-तन्त्र की वृद्धि करने वाले हो । और हे उन अधिकारियों के आश्रय
प्रजा लोगो ! (ऋतुष्ठाः स्थ) जिस प्रकार ऋतुओं में आश्रित
मास पक्ष दिन आदि हैं उसी प्रकार तुम राष्ट्र के संचालकों पर आश्रित
लोग भी 'ऋतुस्थ' हैं क्योंकि तुम भी (ऋतावृधः स्थ) सत्य व्यवहार
की वृद्धि करने वाले हो । आप लोग ही (घृतश्च्युतः) घृत, दूध, तेज
और पुष्टिप्रद पदार्थों को देने वाले हो, (मधुश्च्युतः) अन्न और मधुर
पदार्थों और सुखकारी पदार्थों और ज्ञानों को भी उत्पन्न करने वाले हो,
तुम लोग (विराजः) विविध गुणों और ऐश्वर्यों से युक्त होकर (अक्षीय-
माणाः) कभी क्षीण न होने वाले, अक्षय (कामदुघाः) यथेष्ट प्रकार से
प्रजा की आकांक्षाओं को भरपूर करने वाले, काम-धेनु गौओं के समान सब
अभिलाषाओं के पूरक हो । शत० ९ । १ । २ । १८-१९ ॥

समुद्रस्य त्वावक्याग्ने परि व्ययामसि ।

पावको ऽश्मभ्यश्च शिवो भव ॥ ४ ॥

अग्निदेवता । मुनिगार्षी गायत्री । षड्जः ॥

भा०—हे (अग्ने) अग्नि के समान शत्रु को भस्म करने हारे तेजस्विन् !
राजन् ! (समुद्रस्य अवकया) समुद्र के भीतर 'अवका' अर्थात् शैवाल
से जिस प्रकार मेंढक आदि जलजन्तु सुरक्षित रहते हैं उसी प्रकार
समुद्र के समान गम्भीर जल के बीच में (अवकया) प्रजा के रक्षण करने
की सैन्य-शक्ति से तुझे (परि) सब ओर से (व्ययामसि) विविध प्रकारों

से हम प्रजाजन हो घेर लें । तू (पावकः) पवित्रकारक अग्नि के समान
राष्ट्र को पवित्र करने वाला होकर (अस्मभ्यम्) हमारे लिये (शिवः भव)
कल्याणकारी हो । शत० ९ । १ । २ । २०-२५ ॥

हिमस्य त्वा जरायुणाग्ने परिव्ययामासि ।

पावको अस्मभ्यं शिवो भव ॥ ५ ॥

अग्निदेवता । मुरिगार्भी गायत्री । षड्जः ॥

भा०—(हिमस्य जरायुणा) हिम, शातल जल की जरायु, शैवाल जिस
प्रकार तालाब को घेर लेती है और मंडूक आदि जन्तु उसमें सुख से रहते
हैं उसी प्रकार हे (अग्ने) अग्ने ! संतापकारिन् (त्वा) तुझको (हिमस्य)
हिम; पाला जिस प्रकार वनस्पतियों का नाश करता, जन्तुओं को कष्ट देता
है, उसी प्रकार प्रजाओं के नाशकारी शत्रु के (जरायुणा) अन्त करने वाले
बल से (परि व्ययामासि) हम तुझे चारों ओर से घेर लेते हैं ।
(पावकः) अग्नि के समान राज्य-कण्टकों को शोधन करनेहारा तू
(अस्मभ्यं शिवः भव) हमारे लिये कल्याणकारी हो । शत० ९ । १ । २ । २६ ॥

उप ज्मन्नुप वेतसेऽवतर नदीष्व । अग्ने पित्तमपामसि मण्डूकि
ताभिरागहि सेमं नो यज्ञं पावकवर्णं शिवं कृधि ॥ ६ ॥

अग्निदेवता । आर्षी त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—हे (मण्डूकि) आनन्द करने, तृप्त करने और भूमि को
सुभूषित करने वाली विशेष कलाकौशल समृद्धे ! तू (ज्मन् उप) पृथ्वी
पर (अवतर) उतर और (वेतसे) विस्तृत या अपने नाना सूत्रों
से फैलने वाले राज्य में (अवतर) प्राप्त हो, और (नदीषु) नदियों के
समान प्रभूत समृद्ध प्रजाओं में (आ अवतर) प्राप्त हो । हे (अग्ने)
राजन् ! अग्रणी नेतः ! (अपाम्) समस्त कर्मों, प्रज्ञानों और प्राप्त
प्रजाओं का (पित्तम्) तेजःस्वरूप बल या पालक (असि) है । हे

(मण्डूकि) आनन्द-आमोदकारिणि, विद्वत्सभे ! सेने ! तू (तामिः) उन प्रजाओं के साथ, (आगहि) प्राप्त हो । (इमं) इस (नः यज्ञं) हमारे सुव्यवस्थित यज्ञ, संगति करने वाले, व्यवस्थित (पावकवर्णम्) पावक, पवित्रकारक अग्नि के समान तेजस्वी पुरुष को अपने नेता रूप से वरण करने वाले राष्ट्र को (शिवं) मङ्गलकारी, सुखदायी (कृधि) बना ।
शत० ९ । १ । २ । २७ ॥

गृहस्थ पक्ष में—हे (मण्डूकि) सुभूषिते, आनन्दकारिणि, पुत्रैषणा की तृप्तिकारिणी स्त्रि ! तू (जम्न्) पृथिवी पर (वेतसे) प्रजातन्तु सन्तान को फैलाने वाले पुरुष के आश्रय पर और (नदीपु) समृद्धिकारिणी लक्ष्मियों में आकर रह । हे (अग्ने) पुरुष ! तू (अपां) प्रजाओं या प्राणों का पालक है । हे स्त्रि ! तू उक्त सब पदार्थों सहित और इस अग्नि के समक्ष स्वीकार किये गये या गार्हपत्याग्नि से प्रकाशमान गृहस्थ यज्ञ को मङ्गलमय बना ।

‘वेतसे’—वयति तन्तून् संतनोति इति वेतसः । द० उ० भा० ॥ वैतसः पुं प्रजननाङ्गम् । वेतस एव वैतसः । वेतसस्यायमिति वा । वैतसो वितस्तो भवति । नि० ।

मण्डूकि—मण्डूका मज्जूका, मज्जनात् मन्दतेर्वा मोदतिकर्मणो मन्दतेर्वा तृप्तिकर्मणः मण्डयतेरिति वैयाकरणाः मण्ड एषामोकमिति वा मण्डो मदेर्वा मुदेर्वा । इति निरु० ९ । १ । ५ ॥

अपामिदं न्ययनं समुद्रस्य निवेशनम् ।

अन्यास्तेऽस्मत्तपन्तु हेतयः पावकोऽस्मभ्यं शिवो भव ॥७॥

अग्निदेवता । आर्षी बृहती । मध्यमः ॥

भा० —(इदम्) यह अन्तरिक्ष या भूतल जिस प्रकार जलों का आश्रय है और (समुद्रस्य) समुद्र का भी (निवेशनम्) आधार है । वसी प्रकार यह राष्ट्र (अपाम्) आस प्रजाओं का (निः अयनम्) आश्रय-

स्थान है और (समुद्रस्य) समुद्र के समान भूमि के घेरने वाले, उनके रक्षक गम्भीर, भूमि पर अन्तरिक्ष के समान प्रजा के आच्छादक राजा का भी (निवेशनम्) सेना सहित छावनी बना कर रहने का स्थान है । हे राजन् ! (ते हेतयः) तेरे शस्त्र (अस्मत् अन्यान् तपन्तु) हम से अतिरिक्त दूसरे शत्रुओं को पीड़ित करें और तू (पावकः) आहुति योग्य अग्नि के समान (अस्मभ्यं शिवः भव) हमारे लिये कल्याणकारी, सुखदायी हो । शत० ९ । १ । २ । २८ ॥

गृहस्थ पक्ष में—(इदं) यह गृहस्थ (अपाम्) समस्त प्रजाओं का आश्रय और (समुद्रस्य) उठती कामनाओं का भी आश्रय है । हे विद्वान् गृहस्थ ! (ते हेतयः) तेरी लक्ष्मी को बढ़ी सम्पत्तियां हम से दूसरे शत्रुओं को सतावें । तू अग्नि के समान सबको आचार से पवित्र करने वाला होकर सुखकारी हो ।

अग्ने पावक रोचिषा मन्द्रया देव जिह्वया ।

आ देवान्वाक्षि यक्षि च ८ ॥ ऋ० ५ । २६ । १ ॥

वस्यव ऋषयः । अग्निदेवता । आर्षी गायत्री । षड्जः ॥

भा०—हे (अग्ने) ज्ञानवन् ! अग्नि के समान तेजस्वी (पावक) हृदयों को, एक राज्यतन्त्र को पवित्र करने हारे ! हे (देव) राजन् ! तू (रोचिषा) तेज से और (मन्द्रया) हर्षित करनेवाली, तृप्तिकारी, सुखद, गम्भीर (जिह्वया) जिह्वा, वाणी से (देवान्) अन्य विद्वानों और राजाओं के प्रति (वक्षि) उपदेश करता और आज्ञा प्रदान करता और (यक्षि च) सत्संग करता और अन्य राजाओं को मित्र बनाता है । शत० ६ । १ । २ । ३० ॥

स नः पावक दीदिवोऽग्ने देवाँरऽइहावह ।

उप यद्धथं हविश्च नः ॥ ॥ ६ ॥ ऋ० ६ । १५ । ५ ॥

अग्निर्देवता । निचृदाषां गायत्री । षड्जः ॥

भा०—हे (पावक) पवित्रकारक, कण्टकशोधक ! हे (अग्ने) अग्रणी नायक ! एवं अग्नि के समान तेजस्विन् ! हे (दीदिवः) शत्रु-दाहक ! अग्नि के समान जाज्वल्यमान ! (सः) वह तू ही (नः) हमारे हित के लिये (देवान्) विद्वान् पुरुषों को (इह) इस राष्ट्र में (आ वह) प्राप्त करा, लाकर बसा । और (नः यज्ञं) हमारे यज्ञरूप परस्पर की संगति से बने राष्ट्र को (उप वह) अपने ऊपर ले और (नः हविः च उपवह) और हमें अन्न भी प्राप्त करा शत० ९ । १ । २ । ३० ॥

पावकया यश्चितयन्त्या कृपा क्षामन् रुरुच उषसो न भानुना ।
तूर्वन्न यामन्नेतशस्य नूरण उआयो घृणे न ततृषाणो अजरः ॥१०॥

अग्निर्देवता । निचृदाषां जगती । निषादः ॥

भा०—(भानुना उषस. न) उषा के प्रकाश से जिस प्रकार सूर्य प्रकाशमान होता, वह सबको निद्रा से जगाता, पृथ्वी पर प्रकाश डालता और भूतल को पवित्र करता है उसी प्रकार (यः) जो राजा (पावकया) पवित्र करने वाली, (चितयन्त्या) प्रजा को ज्ञानवान् करने वाली, चेतानेवाली, या संगृहीत या सुव्यवस्थित करनेवाली (कृपा) राष्ट्र निर्माण शक्ति से युक्त होकर (क्षामन्) इस पृथ्वी पर (रुरुचे) शोभा देता है । और (यः) जो (रणे) रण में (एतशस्य) अश्वमेध में छोड़े अश्व के (यामन्) मार्ग में आनेवाले विपक्षियों को (तूर्वन् न) मारता हुआ ही (घृणे न) प्रदीप्त, संग्राम में भी सूर्य के समान (ततृषाणः) राज्य लक्ष्मी का सदा पिपासित रहकर भी (अजरः न) अजर, जरारहित, अमर, वीर के समान राज्यवृद्धि में लगा रहता है, वह तू हमें प्राप्त हो । शत० ९ । १ । २ । ३० ॥

नमस्ते हरसे शोचिषे नमस्ते अस्त्वर्चिषे ।

अन्यास्ते अस्मत्तपन्तु हेतयः पावको अस्मभ्यं शिवो भव ११

अग्निदेवता । भुरिगार्गी शुहती । मध्यमः ॥

भा०—हे राजन् ! (ते हरसे नमः) जलाहरण करनेवाले, प्रखर तेज वाले सूर्य के समान तेरे शत्रुओं की राज-लक्ष्मी को पाकर, हरण करने वाले क्रोध, या प्रजा के दुखहारी का हम आदर करते हैं । (ते शोचिषे) तेरे पवित्र तेजः स्वरूप और (अर्चिषे) सत्कार योग्य शस्त्र ज्वाला का भी (नमः) आदर करते हैं । (ते हेतयः) तेरी शस्त्र ज्वालापुं (अस्मत् अन्यान्) हम से भिन्न दूसरे शत्रुओं को (तपन्तु) पीड़ित करें । तू (पावकः) रोग नाशक अग्नि के समान (अस्मभ्यं शिवः भव) हमारे लिये कल्याणकारी हो । शत० ९ । १ १ २ ॥

नृषदे वेङ्सुषदे वेङ् बर्हिषदे वेङ् वनसदे वेद् स्वर्विदे वेद् ॥१२॥

अग्निदेवता । निचृद्गायत्री । षड्जः ॥

भा०—हे राजन् ! (नृषदे) मनुष्यों के बीच में जिस प्रकार प्राण विराजता है, उसी प्रकार प्रिय होकर (नृषदे) सब मनुष्यों के बीच में बैठने वाले तुझको (वेद्) यह मान आदर प्राप्त हो । (अप्सुषदे) समुद्रों में और्वानल के समान प्रजाओं के बीच ग्लानि रहित होकर विराजने वाले तुझको (वेद्) उच्च आसन प्राप्त हो । (बर्हिषदे) यज्ञ में प्रचलित अग्नि के समान अथवा ओषधियों में विद्यमान रस रूप अग्नि के समान प्रजा या राष्ट्र-शरीर के दोषों को नाश करने वाले तुझको (वेद्) अधिष्ठातृपद प्राप्त हो । (वनसदे) वनों, जंगलों में लगाने वाली दावाग्नि के समान सर्वस्व भस्म कर देने वाले तुझको (वेद्) उग्र पद का अधिकार प्राप्त हो । (स्वर्विदे) आकाश में विद्यमान सूर्य के समान सबको सुख पहुँचाने वाले तुझको (वेद्) उच्च तेजस्वी पद प्राप्त हो । शत० ९ । २ । १ । ८ ॥

ये देवा देवानां यज्ञिया यज्ञियानां संवत्सरीणमुप भागमासते ।
अहुतादो हविषा यज्ञे ऽअस्मिन्स्वयं पिबन्तु मधुनो घृतस्य ॥१३॥

लोपापुद्रा ऋषिका । प्राणा देवताः । निचृद् आर्षी जगती । निषादः ॥

भा०—(ये) जो (देवानां) दानशील, राजाओं में भी (देवाः) विद्या और ज्ञान के देने वाले उत्कृष्ट विद्वान् हैं और (यज्ञियानां) यज्ञ करने वालों के भी (यज्ञियाः) पूजनीय ज्ञानयोगी और राष्ट्र संगति करने वाले व्यवस्थापकों में भी (यज्ञियाः) प्राणों के समान स्वयं संगति बनाने वाले महात्मा विद्वान् लोग हैं जो (संवत्सरीणम्) एक वर्ष के बाद प्राप्त होने वाले वार्षिक भेंट (भागम्) अन्न आदि ऐश्वर्य को अथवा वर्ष भर अपने भीतर पुष्ट किये अभ्यस्त (भागम्) सेवनोपासनायोग्य ब्रह्म-ज्ञान या ब्रह्मचर्य की उपसना करते हैं वे (अहुतादः) राजा से दिये वेतन को भोग न करने वाले होकर (अस्मिन् यज्ञे) इस राष्ट्र रूप यज्ञ में (मधुमतः) अन्न और (घृतस्य) तेजोदायक पुष्टिकारक पदार्थों का (स्वयं पिबन्तु) स्वयं यथेच्छ उपभोग करें । शत० ९ । २ । १ । १४ ॥

ये देवा देवेष्वधि देवत्वमायुन् ये ब्रह्मणः पुर एतारो ऽअस्य येभ्यो न ऽऋते पवते धाम किंच न ते दिवो न पृथिव्या ऽअधि स्नुषु १४

प्राणा देवताः । आर्षी जगती । निषादः ॥

भा०—और (ये देवाः) जो ज्ञानप्रद, लोकप्रकाशक विद्वान् लोग (देवेषु अधि) राजाओं के भी उपर (देवत्वम्) आदर योग्य देवत्व, राजत्व को (आयन्) प्राप्त हो जाते हैं, (ये) और जो (अस्य-ब्रह्मणः) इस ब्रह्मरूप ज्ञानसागर के (पुरः) सबसे प्रथम या पूर्ण (एतारः) ज्ञाता होते हैं और (येभ्यः ऋते) जिनके बिना (किंचन धाम) कोई स्थान, कोई गृह (न पवते) पवित्र नहीं होता (ते) वे (न दिवः) न द्यौलोक और (न पृथिव्याः) न पृथिवी के किसी स्थान पर रमकर (स्नुषु) पर्वतों के शिखरों पर विचरते हैं । अथवा क्षरण शील प्राणों में ही रमते हुए सर्वत्र विचरते हैं । या (स्नुषु) मार्गों में ही परि-ब्राट् होकर विचरते हैं । शत० ९ । २ । १ । १५ ॥

प्राणदाऽअपानदा व्यानदा वर्चोदा वरिवोदाः ।

अन्यास्तेऽअस्मत्तपन्तु हेतयः पावकोऽअस्मभ्यं शिवो भव १५

आर्षी पंक्तिः । पञ्चमः ॥

भा०—हे अग्ने ! राजन् ! जिस प्रकार शरीर में जाठर अग्नि प्राण, अपान व्यान, वर्चस् और जीवन धन को देने वाला होता है उसी प्रकार तू राष्ट्र में (प्राणदाः) प्राणों को देने वाला, (अपानदाः) राष्ट्र में अपान, केतुल्य मल आदि को और हानिकर पदार्थों को दूर करने वाला, (व्यानदाः) व्यान के समान व्यापक बल रखने वाला, (वर्चोदाः) वर्चस् या तेज के समान पराक्रम को स्थिर रखने हारा और (वरिवोदाः) प्रजा को धन ऐश्वर्य देने हारा है । (अस्मत् अन्यान्) हमसे अन्य, शत्रुओं को (ते) तेरे (हेतयः) शस्त्रास्त्र (तपन्तु) पीड़ित करें । राजन् ! तू (पावकः) राष्ट्र को पवित्राचारवान् करने हारा होकर (अस्मभ्यं शिवः भव) हमारे लिये शुभ कल्याणकारी हो । शत० ९ । २ । १ । १७ ॥

अग्निस्तिग्मेन शोचिषा यासद्विश्वं न्युन्निगम् ।

अग्निर्नो वनते रयिम् ॥ १६ ॥ ऋ० ६ । १६ ८८ ॥

अग्निदेवता । निचृदार्षी गायत्री । षड्जः ॥

भा०—(अग्निः) आग जिस प्रकार (तिग्मेन शोचिषा) अपनी तीक्ष्ण ज्वाला से (विश्वं) समस्त (अन्निगम्) अपने खाने योग्य सूखे, गीले सब पदार्थों को (नि यासत्) विनष्ट कर डालता है उसी प्रकार तेजस्वी, परंतप राजा (अन्निगम्) प्रजा के माल प्राण को खा जाने वाले राक्षस स्वभाव के पुरुषों को और सिंह व्याघ्र आदि को अपने (तिग्मेन) तीक्ष्ण (शोचिषा) दीप्ति वाले आग्नेय अस्त्र से धन जन, सर्वथा विनष्ट कर डाले । और वही (अग्निः) तेजस्वी शत्रुतापक राजा (नः) हम में (रयिम्) ऐश्वर्य को (वनते) विभक्त करे ॥ शत० ९ । २ । २ । ५ ॥

य इमा विश्वा भुवनानि जुह्वद्विर्होता न्यसीदात्पुता नः ।
स आशिषा द्रविणमिच्छमानः प्रथमच्छदवरान् २५ आविवेश ॥ १७ ॥

(१७-२३) ऋ० १० । ८१ ॥ १ ।

१७-२१ विश्वकर्मा भौवन ऋषिः । विश्वकर्मा देवता ॥

निचृत् त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—राजा के पक्ष में—(यः) जो (नः) हमारा (पिता) पिता के समान पालक (ऋषिः) ज्ञानवान् होकर (इमा) इन (विश्वा भुवनानि) समस्त उत्पन्न मनुष्य पशु पक्षी आदि प्राणियों को (जुह्वत्) अपने अधीन स्वीकार करता है और (होता) सबका स्वीकर्त्ता, और गृहीता, स्वामी होकर (नि असीदत्) निश्चय करके सिंहासन पर विराजता है (सः) वह (आशिषा) इच्छा पूर्वक (द्रविणम्) ऐश्वर्य की (इच्छमानः) कामना करता हुआ स्वयं (प्रथमच्छत्) प्रथम्, सर्वश्रेष्ठ पदपर अधिष्ठित होकर (अवरान्) अपने से छोटे, अपने अधीन लोगों को (आविवेश) ऐश्वर्य प्रदान करता है ।

परमेश्वर-पक्ष में—(यः) जो (नः पिता) हमरा पालक परमेश्वर (इमा विश्वा भुवनानि) इन समस्त भुवनों, लोकों को (जुह्वत्) प्रलय काल में आहित करके अथवा अपने वश में लेकर (ऋषिः) स्वयं ज्ञानवान् और (होता) सबका आदानकर्त्ता, वशयिता रूप से (नि असीदत्) व्यापक रूप में विराजता है । (सः) वह अपने (आशिषा) व्यापक, शासनसामर्थ्य से (द्रविणम्) हुतगति से चलने वाले संसार को (इच्छमानः) अपनी कामना या संकल्प मात्र से चलता हुआ स्वयं (प्रथमच्छत्) सर्वोत्तम सबसे विशाल लोकों को भी आच्छादित करके (अवरान्) बाद में उत्पन्न आकाशादि भूतों और समस्त लोकों को (आविवेश) गति देता और उनमें व्यापक होकर रहता है ।

किंस्विदासीदधिष्ठानमारम्भणं कतमस्वित्कथासीत् ।
यतो भूमिं जनयन्विश्वकर्मा वि द्यामौर्णोन्महिना विश्वचक्षाः १८

ऋ० १० । ८१ ॥

विश्वकर्मा देवता । भुरिगार्भी पंक्तिः । पञ्चमः ॥

भा०—राजा के पक्ष में—जब राजा प्रथम महान् राज्य की स्थापना करना प्रारम्भ करता है उसके विषय में प्रश्न करते हैं—[प्र० १] उस समय उसका (अधिष्ठानम्) आश्रयस्थान (किं स्वित्) क्या (आसीत्) होता है ? और [प्र० २] कतमस्वित्) कौनसा पदार्थ (आरम्भणम्) महान् साम्राज्य को आरम्भ करने के लिये मूल रूपसे है ? और (कथा आसीत्) वह किस प्रकार होता है (यतः) जिससे (विश्वकर्मा) राज्य के समस्त कर्मों को सम्पादन करने में कुशल राजा (भूमिं जनयन्) अपने आश्रय भूमि को पैदा करके, अपनी बनाकर, द्रष्टा होकर (द्याम्) सूर्य के समान तेजस्वी पद को (वि और्णोत्) विशेष रूप से या विविध प्रकार से आच्छादित करता या प्राप्त करता है ।

परमेश्वर के पक्ष में—सृष्टि के उत्पन्न करने के पूर्व [१] (किं स्वित्) कौनसा (अधिष्ठानम्) आश्रय (आसीत्) था ? और [२] जगत् को (आरम्भणम्) बनाने के लिये प्रारम्भक मूल द्रव्य (कतमत् स्वित्) दृश्यमाण आकाशादि तत्त्वों में कौनसा था ? और [३] वह (कथा आसीत्) किश दशा में था ? (यतः) जिससे वह (विश्वकर्मा) समस्त संसार का कर्त्ता (भूमिम्) सबको उत्पन्न करने वाली भूमि या प्रकृति को (जनयन्) अव्यक्त से व्यक्त रूप में प्रकट करता हुआ (महिना) अपने महान् सामर्थ्य से (विश्वचक्षाः) विश्व भर को साक्षात् करने हारा होकर (द्याम्) समस्त आकाश को (वि और्णोत्) विविध प्रकार के लोकों, ब्रह्माण्डों से आच्छादित कर देता है ।

विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतोमुखो विश्वतोबाहुरुत विश्वतेस्पात् ।
सं बाहुभ्यां धमति सं पतत्रैर्द्यावाभूमी जनयन्देव एकः ॥ १६ ॥

ऋ० १० । ८१ । ३ ॥

विश्वकर्मा देवता । मुरिगार्धि त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—राजा के पक्ष में—वह राजा विजिगीषु स्वयं (विश्वतः-चक्षुः) चरों और मन्त्रियों द्वारा सब ओर अपनी आंख रखता है। वह (विश्वतः-मुखः) सब ओर अपना मुख रखता है। (विश्वतः-बाहुः) वह सब ओर अपने शत्रुओं को पीड़न करने वाली बाहुएं रखता है और (विश्वतः-पात्) सब ओर शत्रु पर आक्रमण करने को कदम बढ़ाता रहता है। वह (बाहुभ्याम्) बाहुओं के समान सेना के दोनों पक्षों से संप्रामभूमि में (सं धमति) आगे बढ़ता है और (पतत्रैः) अपने सेना दल रूप पक्षों या आगे बढ़ने वाले दस्तों सहित (सं धमति) शत्रु पर जा चढ़ता है। (द्यावाभूमी) योग्य भूमि और भूमिस्थ प्रजाओं और द्यौ = सूर्य के समान भोक्ता राजा दोनों को (जनयन्) स्वयं पैदा करता हुआ (एकः देवः) एकमात्र विजयी होकर विराजता है।

ईश्वर के पक्ष में—वह परमेश्वर (विश्वतः चक्षुः) सर्वत्र आंख वाला, सर्वत्र दृष्टा, (विश्वतः-मुखः) सर्वत्र ज्ञानोपदेशक मुख वाला, (विश्वतः-बाहुः) सर्वत्र वीर्यरूप बाहुमान् और (विश्वतः-पात्) सर्वत्र चरण वाला है। अर्थात् वह सब प्रकार की शक्तियों से सर्वत्र व्याप्त है। वह (बाहुभ्याम्) अनन्त बल वीर्य द्वारा (एकः देवः) अकेला देव (द्यावाभूमी जनयन्) आकाशस्थ और भूमि और भूमिस्थ पदार्थों को रचता हुआ (पतत्रैः) व्यापनशील या प्रगतिशील प्रकृति के परमाणुओं से (सं धमति) संसार को सुव्यवस्थित करता और रचता है।

किंश्चिद्वन्नं कऽउ सवृक्षऽआस यतो द्यावापृथिवी निष्पत्तुः ।
मनीषिणो मनसा पृच्छन्तदु तद्यदध्यातिष्ठद्भवानि धारयन् ॥ २० ॥

ऋ० १० । ८१ । ४ ॥

विश्वकर्मा भौवन ऋषिः । विश्वकर्मा देवता । स्वराढाषीं त्रिष्टुप् । धेवतः ॥

भा०—राजा के पक्ष में—जिस प्रकार काठ के नाना पदार्थों को बनाने के लिये लकड़ी आवश्यक होती है और उसको किसी वृक्ष में से काटा जाता है और जंगल से लाया जाता है और दृढ़, उत्तम पदार्थ को बनाने के लिये उत्तम काष्ठ का ही संग्रह किया जाता है इसी प्रकार गृह, राज्य और समस्त रचनायुक्त कार्यों के लिये पहले मूल द्रव्य की अपेक्षा होती है। उसी के विषय में प्रश्न है कि—(१) (यतः) जिसमें से (द्यावापृथिवी) द्यौः सूर्य और पृथिवी दोनों के समान भोक्ता और भोग्य, राजा और प्रजा दोनों को (निः ततक्षुः) विद्वान् लोग गढ़कर तैया करते हैं वह (वनं किं स्वित्) कौन सा 'वन' है । अर्थात् जैसे किसी वन से काष्ठ लाकर काठ के पदार्थ बनाये जाते हैं ऐसे राजा प्रजाओं को बनाने के लिये किस जगह से मूल द्रव्य लाया जाता है । और (२) (कः उ सः वृक्षः आस) वह वृक्ष कौनसा है ? अर्थात् जिस प्रकार कुर्सी आदि बनाने के लिये किसी वृक्ष को काट कर उसमें से कुर्सी बनाई जाती है उसी प्रकार यह राजा प्रजा युक्त राष्ट्र को किस मूल, स्थिर पदार्थ में से गढ़कर निकाला गया है । हे (मनीषिणः) मनीषी, मतिमान् विद्वान् पुरुषो ! (मनसा) अपने मन से समझ वृक्षकर तुम भी क्या इसपर कभी (पृच्छत इत् उ) प्रश्न या तर्क-वितर्कया जिज्ञासा किया करते हो कि (तत् किं स्वित्) वह महान् बल कौनसा है (यत्) जो (भुवनानि धारयन्) समस्त उत्पन्न प्राणियों को पालन करता हुआ उनपर (अधि अतिष्ठत्) अधिष्ठाता, शासक रूप से विराजता है ?

परमेश्वर-पक्ष में—(किं स्विद् वनं) वह कौनसा मूलकारण. सबके भजन करने योग्य परम पदार्थ है और (कः उ स वृक्षः आस) वह कौनसा वृक्ष अर्थात् मूल 'स्कम्भ' या तना है (यतः द्यावापृथिवी) जिसमें से द्यौ और भूमि, आकाश और ज़मीन इनको परमेश्वर ने (निः ततक्षुः)

गढ़ कर निकाला है । हे (मनीषिणः) ज्ञानशाली, संकल्प-विकल्प और ऊहापोह करने में कुशल विवेकी पुरुषो ! आप लोग भी (तत्) उस मूल-कारण के सम्बन्ध में (पृच्छत) प्रश्न, तर्क-वितर्क, जिज्ञासा करो (यत्) जो (भुवनानि धारयन्) समस्त उत्पन्न हुए असंख्य ब्रह्माण्डों और उत्पन्न लोकों और सूर्यादि पदार्थों को धारण, पालन-पोषण और स्तम्भन करता हुआ उनपर (अधि अतिष्ठत्) अध्यक्ष रूप से शासन कर रहा है ।
 या ते धामानि परमाणि यावमा या मध्यमा विश्वकर्मन्नुतेमा ।
 शिक्षा सखिभ्यो हविषि स्वधावः स्वयं यजस्व तन्वं वृद्धानः २१

अ० १० । ८१ । ५ ॥

विश्वकर्मा भौवन ऋषिः । विश्वकर्मा देवता । आर्षी त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—राजा के पक्ष में—हे (विश्वकर्मन्) समस्त राष्ट्र के कार्यों के करने वाले या उनको बनाने वाले ! हे (स्वधावः) अपने राष्ट्र को धारण करने के बल से युक्त ! अथवा 'स्व', शरीर के पालक पोषक अन्नादि ऐश्वर्य के स्वामिन् ! (या) जो (ते) तेरे (परमाणि) सबसे श्रेष्ठ, (या) जो (अवमा) सबसे निकृष्ट, (या मध्यमा) जो मध्यम श्रेणी के (उत इमानि) और ये साधारण (धामानि) कर्म और धारण करने योग्य पदाधिकार और तेज हैं उनको (सखिभ्यः) अपने मित्र वर्गों को (हविषि) अपने गृहीत राष्ट्र में (शिक्ष) प्रदान कर और (स्वयं) अपने आप (तन्वं) अपने विस्तृत राष्ट्र को बढ़ाता हुआ (यजस्व) सबको सुसंगत, सुव्यवस्थित, दृढ़ता से सम्बद्ध कर ।

परमेश्वर के पक्ष में—हे (विश्वकर्मन्) विश्व के कर्त्ता ! हे (स्वधावः) विना किसी की अपेक्षा किये स्वयं समस्त संसार को धारण करने के अनन्त बल वाले ! (या) जो (ते) तेरे (परमाणि) परम, सर्वोच्च, (अवमा) सूक्ष्म, बहुत छोटे २, (मध्यमा) बीच के (उत इमा) और ये सभी आलों से दीखने वाले (धामानि) कर्म वा लोक हैं उन सबको (सखिभ्यः) हम

मित्र रूप जीवों को (शिक्षाः) तू प्रदान करता है, तू ही (तन्वः वृधानः) हम जीवों के शरीरों की वृद्धि करता हुआ (हविषि) आदान करने योग्य अन्नादि में (स्वयं) आप से आप हमें (यजस्व) संयुक्त करता है । अथवा (हविषि तन्वं वृधानः स्वयं यजस्व) अन्न के आधार पर शरीरों की वृद्धि करता हुआ आप से आप सब सुसंगत करता या समस्त भोग्य अन्न आदि सुख प्रदान करता है ।

विश्वकर्मन् हविषा वावृधानः स्वयं यजस्व पृथिवीमुत द्याम् ।
मुह्यन्त्वन्ये अभितः सपत्नाः इह्वास्माकं मधवा सूरिरस्तु ॥२२॥

क्र० १० । ८ । १ । ६ ॥

विश्वकर्मा ऋषिः । विश्वकर्मदेवता । निचृदार्षिं त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—राजा के पक्ष में—हे (विश्वकर्मन्) समस्त राष्ट्र के विधातः ! या राष्ट्र के समस्त उत्तम कर्मों के कर्त्तः ! तू (हविषा) कर के आदान और राष्ट्रों के विजय के कार्यों से (वावृधानः) वृद्धि को प्राप्त होता हुआ (स्वयं) अपने आप सामर्थ्य से (पृथिवीम् उत द्याम्) पृथिवी और सूर्य के समान प्रजा और तेजस्वी राजा दोनों के विभागों को (यजस्व) सुसंगत, संगठित कर । पर उनको ऐसे मित्र भाव में बांधे रख जिससे (अभितः) चारों ओर के (अन्ये सपत्नाः) और दूसरे शत्रु गण (मुह्यन्तु) मोह में पड़े रहें । वे किंकर्तव्य विमूढ़ हो जायें और फोड़-फाड़ करने में असमर्थ होकर लाचार बने रहें । और (इह) इस राष्ट्र में (अस्माकं) हमारे बीच में (मधवा) धन ऐश्वर्य से सम्पन्न पुरुष (सूरिः) विद्वान् (अस्तु) हों, वह मूर्ख न रहे जिससे शत्रु के बहकावे में न आ जावे ।

परमेश्वर के पक्ष में—(हविषा) समस्त संसार को अपने वश करने वाले सामर्थ्य से (वावृधानः) बढ़ता हुआ हे (विश्वकर्मन्) विश्व के कर्त्तः ! परमेश्वर ! तू (पृथिवीम् द्याम् उत स्वयं यजस्व) द्यौ और पृथिवी को परस्पर सुसंगत करता, दोनों को एक दूसरे के आश्रित करता है । (अन्ये सपत्नाः)

अन्य समान पतित्व या ईश्वरत्व चाहने वाले बड़े ऐश्वर्यवान्, विभूतिमान् जीव भी तेरे इस महान् सामर्थ्य को देख कर मुग्ध होते हैं। कहते हैं कि तू ही (इह) यहां, इस संसार में हमारा (मधवा) एकमात्र ईश्वर और (सूरिः) एकमात्र ज्ञानप्रद विद्वान् (अस्तु) है।

वाचस्पतिं विश्वकर्माणमुतये मनोजुवं वाजं ऽत्र्या हुवेम ।
स नो विश्वानि हवनानि जोषद्विश्वशम्भुरवसे साधुकर्मा ॥२३॥

ऋ० १० । ८१ । ७ ॥

विश्वकर्मा देवता । भुरिगार्पी त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—राजा के पक्ष में—(वाचस्पतिम्) वाक्, वाणी, आज्ञा वचनों, शासनों के स्वामी (विश्वकर्माणम्) राष्ट्र के समस्त कार्यों के प्रवर्तक, (मनोजुवम्) मन के समान गति करनेवाले अर्थात् जिस प्रकार इन्द्रियों में और शरीर में मन चेष्टा और चेतना का सञ्चार करता है उनको व्यवस्था में रखता और सब का भोग भी करता है, उसी प्रकार राष्ट्र के शासक अधिकारियों को सञ्चालन करने और उनको सचेत रखने और राष्ट्र शरीर से नाना भोग प्राप्त करने वाले राजा को हम (अद्य) आज, सदा (ऊतये) रक्षा के लिये (हुवेम) बुलाते हैं। (सः) वह (नः) हमारे (विश्वा) समस्त (हवनानि) आह्वानों और पुकारों को (जोषत्) प्रेम से श्रवण करे। क्योंकि वह (अवसे) रक्षा करने के लिये ही (विश्व-शम्भूः) समस्त राष्ट्र का कल्याण करने वाला और (साधु-कर्मा) उत्तम कर्मों का करनेवाला है। वह रक्षा-कार्य से 'विश्वशम्भू' और साधुकर्मा होने से ही 'विश्वकर्मा' है।

ईश्वर-पक्ष में—ईश्वर-वाणी, वेदवाणी, समस्त ज्ञान का स्वामी, विश्व का कर्त्ता और विश्व के समस्त कार्यों का भी कर्त्ता मनोगम्य है, उसको हम अपनी रक्षा के लिये पुकारते हैं। वह हमारे आत्मा को पापों से बचावे। वह हमारी सब पुकारों को प्रेम से सुनता है। वह सब का

कल्याणकारी और श्रेष्ठ कर्म करने हारा, उपकारी है। विशेष व्याख्या देखो अ० ८ । ४५ ॥

विश्वकर्मन् हविषा वर्धनेन त्रातारमिन्द्रमकृणोरवप्यम् ।
तस्मै विशः समनमन्त पूर्वीरयमुग्रो विहव्यो यथासत् ॥ २४ ॥

भा०—व्याख्या देखो अ० ८ । ४५ ॥ ऋग्वेदे नास्ति ।

चक्षुषः पिता मनसा हि धीरो घृतमेने ऽभजनन्नमनमाने ।
यदेदन्ता ऽअददहन्त पूर्वं ऽआदिद्द्यावापृथिवी ऽअप्रथेताम् ॥ २५ ॥

[२५-३१] ऋ० १० । ८२ ॥ १ ॥

२५-३१ विश्वकर्मा भावन ऋषिः । विश्वकर्मा देवता । आर्षी त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—राजा के पक्ष में—(यदा इत्) जब ही (पूर्वे) पूर्व के विद्वान् लोग (अन्ता) सीमा भागों को (अददहन्त) विस्तृत करके स्थिर कर लेते हैं (आत् इत्) उसके बाद ही (द्यावापृथिवी) सूर्य पृथिवी के समान एक दूसरे के उपकारक राजा और प्रजा भी दोनों (अप्रथेताम्) विस्तार को प्राप्त होते हैं । और (चक्षुषः पिता) सब प्रजा पर निरीक्षण करने वाले राजा का (पिता) पालक, विद्वान् पुरोहित ही (धीरः) बुद्धिमान् होकर (मनसा) अपने ज्ञान से (घृतम्) तेज और ज्ञान-बल को (भजनत्) उत्पन्न या प्रकट करता है और (एने) इन दोनों को (नमनमाने) एक दूसरे के प्रति आदर से झुकने वाले विनयशील बनाता है । विद्वान् लोग ही राजा प्रजा को परस्पर मिलाते हैं और दोनों को एक दूसरे के प्रति विनीत बनाते और वे ही राज्य की सीमाओं और व्यवस्थाओं को बनाते हैं ।

ईश्वर के पक्ष में—(यदा इत्) जब ही (अन्ता) सीमाएं अर्थात् प्रकृति के विरल पस्माणु (अददहन्त) कुछ घनीभूत होकर दृढ़ हो गये तो (आत् इत्) तभी (द्यावापृथिवी अप्रथेताम्) आकाश और भूमि दोनों दृक् २ हो गये । बीच का अवकाश प्रकट हो गया । (धीरः) जगत् को

धारण करने हारा (मनसः) अपने मन, संकल्प के बल से ही (नम्र-माने एने) एक दूसरे के प्रति झुकने वाले इन दोनों के प्रति (धृतम् अज-नत्) जल को प्रकट करता अर्थात् पृथ्वी से जल ही ऊपर को सूक्ष्म होकर उठता है । सूर्य से किरणें पृथिवी पर पड़ती हैं । पुनः भूमि उत्तम होती है । फिर जल ही आकाश से नीचे आता है अर्थात् दोनों का परस्पर सम्बन्ध विधायक जल ही है ।

स्त्री पुरुष के पक्ष में—जब विद्वान् लोग दोनों स्त्री पुरुषों के (अन्ता) विवाह द्वारा अंचरे बांध देते हैं तभी वे (द्यावापृथिवीअप्रथेताम्) नरनारी सूर्य और पृथिवी के से सम्बन्ध से मिले दीखते हैं । पुरुष सूर्य के समान तेजस्वी तेजोरूप वीर्यका प्रक्षेपक होता है और पृथिवी रूप स्त्री बीज को भीतर धारण करने हारी होती है । तब (चक्षुषः पिता) आंख का पालक, स्नेहमय चक्षु का पालक, प्राण (एने नम्रमाने प्रति) इनको एक दूसरे के प्रति झुकते हुए या परस्पर संगत होते हुए इनके बीच में (धृतम्) स्नेह या 'तेज', वीर्य को (अजनत्) उत्पन्न कर देता है ।

विश्वकर्मा विमनाऽआद्विहाया धाता विधाता परमात्सन्दृक् ।
तेषामिष्टानि समिषा मदन्ति यत्रा सप्त ऽऋषीन् परऽएकमाहुः २६

क्र० १० । ८२ । २ ॥

विश्वकर्मा देवता । मुरिगार्षी त्रिष्टुप् । धेवतः ॥

भा०—राजा के पक्ष में—(विश्वकर्मा) पूर्वोक्त राष्ट्र के समस्त कर्मों का सम्पादक राजा (विमनाः) विविध विज्ञानों से युक्त अथवा विशेष रूप से मननशील होकर (आत् विहायाः) फिर स्वयं विविध कार्यों, व्यवहारों में ज्ञानपूर्वक प्राप्त होता है और पुनः (धाता) सबका पोषण करने वाला, (विधाता) राष्ट्र के विविध अंगों का निर्माता, (परमा) सर्वोच्च पदपर विराजमान और (सन्दृक्) समस्त राष्ट्र के कार्यों और प्रजा के व्यवहारों को देखने हारा होता है । (तेषाम्) उन प्रजा जनों के

(इष्टानि) समस्त अभिलषित सुख के पदार्थ, (इषा) अन्न के सहित उसी के आश्रय पर (सम्मदन्ति) हर्ष और आनन्दप्रद होते हैं, वृद्धि को प्राप्त होते हैं (यत्र) जहां (सप्त ऋषीन्) शरीर गत सातों प्राणों के समान राष्ट्र के मुख्य मन्त्रद्रष्टा सात प्रधान अमात्यों को (परः) अपने से भी उत्कृष्ट राजा में (एकम्) एक हुआ (आहुः) बतलाते हैं ।

ईश्वरपक्ष में—वह विश्वस्रष्टा, विज्ञानवान्, व्यापक, पालक पोषक, कर्त्ता परम द्रष्टा है । जिसमें समस्त जीवों के (इष्टानि) प्राप्य कर्मफल आश्रित हैं । और जिसके आश्रय पर सर्व जीव (इषा) अन्न तथा कर्म फल द्वारा खूब हर्षित होते हैं । और जहां सातों (ऋषीन्) गतिशील प्रकृति के मुख्य विकारों को भी परब्रह्म में एकाकार हुआ बतलाते हैं । अथवा—(यत्र तेषाम् इष्टानि) जिसके वश में जीवों के इष्ट कर्मफल हैं । (यत्र सप्त ऋषीन् प्राप्य जीवाः इषा सम्मदन्ति) और जिसके आधार पर सात इन्द्रियों को प्राप्त करके जीव अपने अन्नादि, कर्म फल से तृप्त होते हैं । और (यः परः) जो सब से उत्कृष्ट है (यत् एकम् आहुः) जिसको एक, अद्वितीय बतलाते हैं ।

अध्यात्मापक्ष में—आत्मा विश्वकर्मा है । वह विशेष मन रूप उपकरण वाला, सब में व्यापक, सब प्राणों का पोषक, कर्त्ता, परम द्रष्टा है प्राणों की वाञ्छित चेष्टाएं उसी में आश्रित हैं । और (इषा) इसी की इच्छा या प्रेरणा से (सम्मदन्ति) भली प्रकार तृप्त होते हैं । जिसमें सातों शरीर-गत प्राणों को एकाकार मानते हैं । वही सब से पर, उत्कृष्ट है ।

यो नः पिता जनिता यो विधाता धामानि वेद भुवनानि विश्वा ।
यो देवानां नामधा ऽएक ऽएव तथ् संप्रश्नं भुवना यन्त्यन्या २७

ऋ० १० । ८ । २ । ३ ॥

विश्वकर्मा देवता । निचृदार्षी त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा० —राजा के पक्ष में—(यः) जो राजा (नः पिता) हमारा

पालक है, (जनिता) सब राष्ट्र के कार्यों का प्रकट करने वाला, या उत्पादक पिता के समान हमारी स्थिति का कारण, (यः विधाता) जो विशेष नियम व्यवस्थाओं का कर्ता धर्ता, होकर (विश्वा भुवनानि) समस्त लोकों और (धामानि) धारक सामर्थ्यों, तेजों और अधिकार पदों को (वेद) जानता और प्राप्त करता है । (यः) जो (देवानाम्) सब विद्वान् शासकों या अधीन विजिगीषु नायकों के (नामधा) नामों को स्वयं धारण करने वाला, (एकः एव) एक ही है (तम्) उस (सम्प्रभम्) सबके प्रश्न करने योग्य अर्थात् आज्ञा प्राप्त करने योग्य को आश्रय करके (अन्या भुवना यन्ति) और सबलोग और राष्ट्र के अंग विभाग चल रहे हैं । सभी अधीन लोग राजा से पूछकर ही काम करते हैं इसलिये राजा 'सम्प्रभ' है ।

ईश्वर के पक्ष में—जो हमारा पालक, उत्पादक, विशेष धारक पोषक, है । जो समस्त भुवनों, लोकों और (धामानि) तेजों और विश्व के धारक सामर्थ्यों को प्राप्त कर रहा है । जो समस्त (देवानां) देवों, दिव्य पदार्थों के नामों को स्वयं धारण करता है । अर्थात् सूर्य, चन्द्र आदि भी जिस के नाम हैं वह (एकः एव) अद्वितीय ही है (तम् सम्प्रभम्) उस सम्यग् गति से सभी से जिज्ञासा करने योग्य परमपद का आश्रय करके (अन्या भुवना) और सब लोक (यन्ति) गति करते हैं । सभी परमेश्वर के विषय में तर्क-वितर्क से जिज्ञासा करते हैं इसलिये वह 'सम्प्रभ' हैं ।

अध्यात्म में—वह आत्मा (नः) हम प्राणों का पालक धारक है, वह सब के (धामानि) तेजों को धारण करता है । सब (देवानां) प्राणों का नाम या स्वरूप वह स्वयं धारण करता है । वह सर्वजिज्ञास्य है उसके आश्रय पर (भुवना) उससे उत्पन्न समस्त प्राण चेतो कर रहे हैं ।

तऽत्रायजन्त द्रविण्थं समस्मा ऽऋषयः पूर्वे जरितारो न भुना ।
असूते सूते रजसि निषत्ते ये भूतानि समकृण्वन्निमानि ॥२८॥

विश्वकर्मा देवता । भुरिगार्षी त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—राजा के पक्ष में—(ते ऋषयः) वे राजनीति के मन्त्रद्रष्टा लोग, मुख्य महामात्य लोग (अस्मै) इस राष्ट्रवासी प्रजाजन को (पूर्वे जरितारः न) अपने से पूर्व के विद्वान् नीतिशास्त्र के प्रवक्ताओं के समान ही (भूना) बहुत अधिक (द्रविणम्) धन ऐश्वर्य (सम् आयजन्त) प्रदान करते हैं । और (ये) जो (असृत्ते) अप्रत्यक्ष, परोक्ष अर्थात् दूर के और (सृत्ते) प्रत्यक्ष, समीप के, (निषत्ते) अपने अधीन स्थिरता से प्राप्त (रजसि) प्रदेश में (इमानि भूतानि) इन समस्त प्रजास्थ प्राणियों को (सम्-अकृण्वन्) उत्तम रीति से संस्कृत करते, शिक्षित करते एवं सुसभ्य बनाने का यत्न करते हैं ।

राजा के मन्त्रद्रष्टा विद्वान् अपने अधीन दूर समीप सभी देशों की प्रजाओं को शिक्षित सभ्य बनाने का उद्योग करें ।

ईश्वर के पक्ष में—(ते ऋषयः) वे पूर्व के ऋषि, प्रकृति के सातों विकार रूप महान् शक्तियां (जरितारः) विद्वान् उपदेशकों के समान (अस्मै) इस जीव सर्ग को (भूना द्रविणं आयजन्त) बहुत २ ऐश्वर्य प्रदान करते हैं अर्थात् पांचों भूत, अहंकार और महत्तत्त्व प्राणादि पांच, सूत्रात्मा और धनञ्जय ये सातों जीवों को बहुत २ विभूति प्रदान करते हैं । प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रजोगुण में विराजमान प्राणियों को ये ही विशेष २ रूप से उत्पन्न करते हैं ।

परो दिवा पर ऽपना पृथिव्या परो देवेभिरसुरैर्यदस्ति ।

कथंस्विद् गर्भं प्रथमं दध्न आपो यत्र देवाः समपश्यन्त पूर्वे २६

ऋ० १० । ८२ । ५ ॥

विश्वकर्मा देवता । आर्षी त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

२६—(च) 'समपश्यन्त विश्वे' इति ऋ० पाठः ॥

भा०—राजा के पक्ष में-[प्र०] (दिवा परः) सूर्य से भी गुणों में पर अर्थात् उत्कृष्ट (एना पृथिव्या परः) इस पृथिवी से भी गुणों में उत्कृष्ट, (देवेभिः) विद्वानों से और (असुरैः) अविद्वान्, केवल प्राणधारी बलवान् पुरुषों से भी (परः) ऊंचा (यत् अस्ति) जो पदाधिकारी है वह कौन है? और (आपः) आस प्रजाएं (कं स्वित्) किस (प्रथमम्) सर्वश्रेष्ठ को (गर्भम्) राष्ट्र के ग्रहण में समर्थ जानकर अपने बीच में (दध्रे) धारण करती हैं। (यत्र) जिसके आश्रय पर (पूर्वे) शक्तियों में पूर्ण (देवाः) समस्त विद्वान् और राजा गण (सम् अपश्यन्त) राष्ट्र के कार्यों का भली प्रकार आलोचन या विचार करते हैं। वह कौन है? (उत्तर) राजा।

ईश्वर के पक्ष में-(दिवा परः) आकाश और सूर्य से भी परे, पृथिवी से भी परे, (देवेभिः) दिव्य पदार्थों और प्राणों से भी परे, (असुरैः) काल रूप पल, घड़ी, दिन, मास, वर्ष आदि से भी परे कौन है? (आपः) प्रकृति के सूक्ष्म परमाणु किस शक्ति को प्रथम अपने भीतर धारण करते हैं? और (यत्र) किसमें (पूर्वे देवाः) पूर्ण शक्तियुक्त दिव्य पदार्थ भी (सम् अपश्यन्त) अपने को एकत्र हुआ पाते हैं। या किसके आश्रय पर (पूर्वे देवाः) पूर्ण विद्वान् पुरुष (सम् अपश्यन्त) सम्यग् दर्शन करते हैं? (उत्तर) ब्रह्म।

तमिद् गर्भं प्रथमं दधूऽग्रापो यत्र देवाः समगच्छन्त विश्वे ।
अजस्य नाभावध्येकमर्पितं यस्मिन्विश्वानि भुवनानि तस्थुः॥३०॥

ऋ० १० । ८१ । १ ॥

विश्वकर्मा देवता । आर्षी त्रिण्डुप् । धैवतः ॥

भा०—पूर्व प्रश्न का उत्तर । राजा के पक्ष में—(तम्) उस (प्रथमम्) सर्वश्रेष्ठ (गर्भम्) राष्ट्र को ग्रहण करने में समर्थ या प्रजा द्वारा राजा स्वीकार करने और आश्रय रूप से ग्रहण करने योग्य पुरुष को (आपः) आस प्रजाएं (दध्रे) धारण करती हैं (यत्र) जिसका आश्रय लेकर (देवाः)

समस्त विद्वान् गण और शासक (सम् अगच्छन्त) एकत्र होते और व्यवस्था में संगठित हो जाते हैं। (अजस्य) अनुत्पन्न, अप्रकट रूप में विद्यमान राज्य के (नाभौ) नाभि, या केन्द्र भाग में (अधि) सबके ऊपर अधिष्ठाता रूप से (एकम्) उस एक पद को (आपतम्) स्थापित किया जाता है (यस्मिन्) जिस पर आश्रित होकर (विश्वानि भुवनानि) समस्त चर अचर प्राणी और प्रजाएं (तस्थुः) राष्ट्र में स्थिर होकर रहते हैं।

परमेश्वर के पक्ष में—(तम् इत् प्रथमम्) उस ही सर्वश्रेष्ठ सबसे प्रथम विद्यमान परमेश्वर को (आपः) प्रकृति के सूक्ष्म परिमाण भी अपने (गर्भं दधे) गर्भ में धारण करते हैं (यत्र) जिसके आश्रित (विश्वे देवाः सम् अगच्छन्त) समस्त दिव्य शक्तियाँ, पाँचों भूत आदि वैकारिक पदार्थ एकत्र होकर एक काल में व्यवस्थित हैं। वस्तुतः (अजस्य) अव्यक्त रूप से विद्यमान संसार के (नाभौ) नाभि, केन्द्र अथवा उसको बांधने वाले तत्त्व के रूप में (एकम्) एक परम तत्त्व (अधि अर्पितम्) सर्वोपरि विद्यमान है (यस्मिन् विश्वानि भुवनानि तस्थुः) जिसमें समस्त भुवन, उत्पन्न लोक आश्रय पाकर स्थिर हैं।

न तं विदाथ य ऽहमा जजानान्यद्युष्माकमन्तरं बभूव ।
नीहारेण प्रावृता जल्प्या चासुतृप ऽउक्थशासश्चरन्ति ॥३१॥

ऋ० १० । ८२ । ७ ॥

विश्वकर्मा देवता भुरिगार्षी पंक्तिः । पञ्चमः ॥

भा०—राजा के पक्ष में—हे प्रजाजनो ! (तं न विदाथ) तुम लोग उसको नहीं जानते, नहीं देखते (यः हमा जजान) जो इन समस्त राज्य-कार्यों को प्रकट करता है। (अन्यत्) और वह (युष्माकम्) तुम लोगों के ही (अन्तरं) बीच में (बभूव) रहता है। (असुतृपः) प्राणमात्र लेकर सन्तुष्ट रहने वाले (उक्थशासः) राजाज्ञा के अनुसार शासन

करने वाले लोग भी (नीहारेण जल्प्या च प्रावृताः) कुहरे में छिपे हुए के समान वाग्जाल से भ्रान्त होकर विचरते हैं । वे भी राजा के परम-पद को भली प्रकार नहीं जानते हैं । वे केवल अपने वेतन या प्राण-वृत्ति से ही तृप्त रहते हैं ।

ईश्वर के पक्ष में—हे मनुष्यो ! (यः इमा जजान) जो इन समस्त लोकों को पैदा करता है (तं न विदाथ) तुम लोग उसको नहीं जानते । (अन्यत्) वह और ही तत्त्व है जो सब से भिन्न होकर भी (शुष्माकम् अन्तरं) तुम लोगों के भी बीच में (बभूव) व्यापक है । (नीहारेण प्रावृताः) कोहरे या धुन्ध से घिरे हुए पुरुषों के समान दूर तक न देखने वाले लघुदृष्टि होकर (जल्प्या च प्रावृताः) केवल मौखिक वार्त्तालाप या वाद-विवाद में मुग्ध हो कर केवल (असुतृपः) प्राण लेकर ही तृप्त होने वाले, (उक्थशासः) ज्ञान के योग्य तत्त्व का अनुशासन करने वाले बन कर (चरन्ति) विचरते हैं । अर्थात् लोग उसके विषय में शास्त्रों की बातें बहुत करते हैं, परन्तु उसका यथार्थ साक्षात् नहीं करते ।

विश्वकर्मा ह्यजनिष्ट देव ऽत्रादिद् गन्धर्वो ऽत्रभवद् द्वितीयः ।
तृतीयः पिता जनितावधीनामपां गर्भं व्यदधात्पुरुषा ॥ ३२ ॥

विश्वकर्मा देवता । स्वराडार्षी पंक्तिः । पञ्चमः ॥

भा०—राजा के पक्ष में—(विश्व-कर्मा) राष्ट्र के समस्त उत्तम कार्यों का सञ्चालक, प्रवर्त्तक (हि) निश्चय से (देवः) वह सर्वप्रद, सर्वविजयी राजा सबसे प्रथम (अजनिष्ट) प्रकट होता है । (आत् इत्) उसके बाद (गन्धर्वः) गौ अर्थात् पृथिवी का धारण करने वाला भूमिपति, गौ वाणी शासनाज्ञा का धारक (अभवत्) होता है । और फिर (तृतीयः) तीसरे वह (ओषधीनाम्) 'ओष' अर्थात् शत्रु के दाह करने वाले वीर्य को

३२—ऋग्वेदेऽथर्वणि च नास्ति । इति वैश्वकर्मेणहोमः ॥

धारण करने वाली सेनाओं का पालक और उत्पादक है। वह ही (पुरुषा) बहुतों को रक्षा करने में समर्थ होकर (अपाम्) आस प्रजाजनों का (गर्भम्) गर्भ अर्थात् ग्रहण करने वाले, उनको वश करने वाले राष्ट्र को (व्यदधात्) विविध प्रकार से विधान करता है। विविध व्यवस्थाओं से उनको व्यवस्थित करता है। राजा के क्रम से चार रूप हुए प्रथम 'देव' विजिगीषु, दूसरा 'गन्धर्व' विजित भूमि का स्वामी, तृतीय सेनाओं का पालक और उत्पादक, चतुर्थ प्रजाओं का वशकर्ता।

ईश्वरपक्ष में—सब से प्रथम (विश्वकर्मा देवः हि अजनिष्ट) विश्व का कर्ता प्रकाशस्वरूप प्रभु विद्यमान था। (आत् इत् द्वितीयः गन्धर्वः अभवत्) फिर उससे गौ, वाणी, वेद, और पृथिवी का धारक सूर्य प्रकट हुआ यह ईश्वरीय शक्ति का दूसरा रूप था। (तृतीयः ओषधीनां जनिता पिता च) तीसरा, ओषधियों, घास लता वृक्षादि का पालक और उत्पादक मेघरूप है। वह (अपां गर्भम् पुरुषा व्यदधात्) मेघ होकर प्रजापति अर्थात् बहुत से जीव सर्गों के पालने में समर्थ होकर जलों को अपने गर्भ में धारण करता है।

अध्यात्म में—विश्वकर्मा आत्मा है। वह वाणी का प्राण द्वारा धारक होने से गन्धर्व है। ओषधि = ज्ञानधारक इन्द्रियगण का पालक और उत्पादक है वह (अपां गर्भम्) ज्ञानों और कर्मों को ग्रहण करने में समर्थ होता है।

आशुः शिशानो वृषभो न भीमो घनाघनः क्षोभणश्चर्षणीनाम् ।
संकन्दनोऽनिमिषऽएकवीरः शतशुं सेनाऽअजयत्साकमिन्द्रः ३३

[३३-४४] ऋ० १० । १०३ । १ ॥

३३-४४ अप्रातिरथ ऐन्द्र अषिः । इन्द्रो देवता । आर्षी त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

अप्रातिरथं सूक्तम् ॥

भा० — सेनापति रूप से इन्द्र का वर्णन । (आशुः) अति वेगवान्,

शीघ्रगामी, बड़े वेग से शत्रु पर आक्रमण करने वाला, (शिशानः) अपने हथियारों को खूब तीक्ष्ण करके रखने वाला अथवा (शिशानः) शत्रु-सेनाओं को काटता, फाटता, (वृषभः न भीमः) मदमत्त वृषभ के समान भयंकर अथवा मेघ के समान शत्रुओं पर शर वर्षण करने वाला होकर अति भयंकर, (घनाघनः) शत्रुओं को निरन्तर या बार बार हनन करने वाला, अथवा 'मारो मारो' इस प्रकार सेनाओं को आज्ञा देने वाला, (चर्पणीनाम् क्षोभणः) समस्त मनुष्यों को विक्षुब्ध कर देने वाला, (संक्रन्दनः) शत्रुओं को अच्छी प्रकार रुलाने या ललकारने वाला, (अनिमिषः) कभी न झपकने वाला, सदा सावधान एवं निभंय, प्रमाद रहित, (एक वीरः) एक मात्र वीर्यवान्, शूरवीर, (इन्द्रः) शत्रुओं का विदारण करने में समर्थ पुरुष ही (शतं सेनाः) सैकड़ों नायकों सहित दलों या सेनाओं को (साकम्) एकही साथ (अजयत्) विजय करता है। जो पुरुष ऐसा शूरवीर हो वही सेनापति 'इन्द्र' पद पर विराजे। शत० १।२।३।६॥

संक्रन्दनेनानिमिषेण जिष्णुना युत्कारेण दुश्च्यवनेन धृष्णुना ।
तदिन्द्रेण जयत तत्सहध्वं युधो नर इपुहस्तेन वृष्णा ॥ ३४ ॥

ऋ० १०।१०३।२॥

इन्द्रो देवता। स्वराड् आर्षी त्रिष्टुप्। धैवतः ॥

भा०—हे (युधः नरः) योद्धा नायक वीर पुरुषो ! तुम लोग (संक्रन्दनेन) दुष्ट शत्रुओं को रुलाने वाले या उनको ललकारने वाले, (अनिमिषेण) निरन्तर सावधान, न चूकने वाले, (जिष्णुना) सदा जयशील, (युत्कारेण) युद्ध करने वाले, अतिवीर, (दुश्च्यवनेन) शत्रुओं से कभी पराजित न होने वाले, मैदान छोड़ कर कभी न भागने वाले, दृढ़, (धृष्णुना) शत्रुओं का मान भङ्ग करने में समर्थ, (इपुहस्तेन) वाणों को अपने हाथ में लेने वाले अथवा वाणों से मारने वाले, (वृष्णा) बलवान्, (इन्द्रेण) शत्रु-गढ़ों को तोड़ने वाले, 'इन्द्र' नाम मुख्य सेनापति के

साथ (तत् जयत) उस लक्ष्यभूत युद्ध का विजय करो, (तत्) उस दूरस्थ शत्रु-गण को (सहध्वम्) पराजित करो ।

स इ॒षुह॑स्तैः स नि॒षङ्गि॑भिर्वशी स थं स॒ष्टा स यु॒ध इन्द्रो॑ ग॒णेन॑ ।
स थं सृ॒ष्टजि॑त्सोम॒पा बा॒हुश॑र्धु॒ग्रध॑न्वा प्र॒तिहि॑ताभि॒रस्ता॑ ॥३५॥

ऋ० १० । १०३ । ३ ॥

इन्द्रो देवता । आर्षीं त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—(सः) वह (वशी) अपने भीतर काम, क्रोध, लोभ, मोह मद, मात्सर्य इन छः शत्रुओं पर वशकर्ता या राष्ट्र का वशयिता अथवा कान्तिमान्, प्रजाओं का प्रिय, होकर (इषुहस्तैः) बाण आदि को दूर फेंकने वाले अस्त्रों को हाथ में लिये (निषङ्गिभिः) खड्गधारी वीरों के साथ (संस्रष्टा) मेल करे, उनके बीच उत्तम कर्ता-धर्ता एवं व्यवस्थापक होकर (गणेन) अपने गण, सैन्यदल सहित (युधः) युद्ध करने वाला होता है । (सः) वह ही (सोमपाः) सोम-रस का पान करने वाला अथवा 'सोम' राजा और राष्ट्र का पालन करने हारा, (बाहुशर्धी) बाहुबल, क्षात्रबल से युक्त होकर (संस्रष्टजिन्) खूब परस्पर मिलकर आये, सुव्यवस्थित शत्रु-सेनादल का विजेता होता है । (सः) और वह ही (उग्रधन्वा) भयंकर धनुर्धर होकर (प्रतिहिताभिः) प्रतिपक्षी पर फेंके गये वाणों से (अस्ता) शत्रुओं का नाशक अथवा (प्रतिहिताभिः) साक्षात् धारण की, वशीकृत या मुकाबले पर खड़ी की गयी, अपनी सेनाओं से (अस्ता) शत्रु दलपर शस्त्रास्त्रों का फेंकने वाला होता है ।

बृहस्पते परिदीया रथेन रक्षोहामित्राँऽपवाधमानः ।

प्रभञ्जन्तसेनाः प्रमृणो युधा जयन्तस्माकमेध्यविता रथानाम् ॥३६॥

ऋ० १० । १०३ । ४ ॥

इन्द्रो देवता । आर्षीं त्रिष्टुप् धैवतः ॥

भा०—हे (बृहस्पते) बड़ी भारी विशाल सेना के पालक मुख्य सेनापते ! तू (रक्षोहा) दुष्ट पुरुषों का घातक है । तू (रथेन) रथ से, अर्थात् 'रथ' नामक सेना के अंग से, रथों के दल से, (अमित्रान्) शत्रुओं को (अपबाधमानः) दूर से ही मारता हुआ, उनको पीड़ित करता हुआ (परिदीयाः) युद्ध में आगे बढ़ और शत्रु का नाश कर और (गुधा) योद्धा दल, पदाति सेना दल से (प्रमृणः) हमारा नाश करने वाली (सेनाः) शत्रुसेनाओं को (प्रभञ्जन्) खूब छिन्न भिन्न करके उनको (जयन्) जीतता हुआ (अस्माकं रथानाम्) हमारे रथों का (अविता एधि) रक्षक बना रह ।

बलविज्ञाय स्थविरः प्रवीरः सहस्वान् वाजी सहमान उग्रः । अभि-
वीरो अभिसत्त्वा सहोजा जैत्रमिन्द्र रथमातिष्ठ गोवित् ॥३७॥

ऋ० १० । १०३ । ५ ॥

इन्द्रो देवता । आर्षी त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—हे (इन्द्र) शत्रुओं का घात करने और उनके गढ़ों और व्यूहों को तोड़ने-फोड़ने में समर्थ इन्द्र ! तू (बल-विज्ञायः) सेना-विज्ञान में चतुर अर्थात् सेनाओं के व्यूह बनाने और उनके प्रयोग और संचालन में कुशल, एवं शत्रु के बलों को भी जानने वाला और सेना के द्वारा ही उत्तम नायक रूप से जाना गया, (स्थविरः) स्वयं ज्ञानवृद्ध, अनुभव-वृद्ध या युद्ध में स्थिर, (प्रवीरः) स्वयं उत्तम शूरवीर, और उत्तम वीर्य-वान् पुरुषों से सम्पन्न, (सहस्वान्) शत्रुविजयी बल से युक्त, (वाजी) वेगवान्, (उग्रः) भयानक, (अभिवीरः) प्रिय, वीरों से घिरा हुआ या वीरों का पराजय करने वाला, (अभिसत्त्वा) बलवान् पुरुषों से सम्पन्न, (सहोजाः) बल के कारण ही विख्यात और (गोवित्) पृथिवी को विजय से प्राप्त करने वाला अथवा आज्ञा, वाणी का स्वामी होकर (जैत्रम्)

विजयशील योधाओं से युक्त (रथम्) रथ पर (आतिष्ठ) सवार हो और विजय को निकल ।

गोत्रभिदं गोविदं वज्रबाहुं जयन्तमज्म प्रमृणन्तमोजसा । इमं सजाताऽअनु वीरयश्चमिन्द्रं सखायोऽअनु सध्वम् ॥ ३८ ॥

ऋ० १० । १०३ । ६ ॥

इन्द्रो देवता । भुरिग् भार्षी त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—हे (सजाताः) बल, कीर्त्ति, वंश आदि से समान रूप से विख्यात वीर पुरुषो ! आपलोग (गोत्र भिदम्) शत्रुओं के गोत्रों को तोड़ने वाले, शत्रु-वंशों के नाशक, (गो-विदम्) पृथ्वी को प्राप्त करनेवाले, (वज्र-बाहुम्) बाहु में वीर्यवान्, खड्गधर, (अज्म जयन्तम्) संग्राम का विजय करने वाले और (ओजसा) बल पराक्रम से (प्रमृणन्तम्) शत्रुओं को खूब विनाश करने वाले (इमम् इन्द्रम्) इस इन्द्र, सेनापति को (अनु वीर-यध्वम्) अनुसरण करके उसके अधीन रहकर, वीरता के कार्य करो, विक्रम पूर्वक युद्ध करो । हे (सखायः) मित्र लोगो ! आप लोग उसके ही (अनु) अनुकूल रहकर (सम् रभध्वम्) अच्छी प्रकार युद्ध आरम्भ करो ।

अभि गोत्राणि सहसा गाहमानोऽद्यो वीरः शतमन्युरिन्द्रः । दुश्च्यवनः पृतनापाड्युध्योऽस्माकं सेनाऽअवतु प्र युत्सु ॥ ३९ ॥

ऋ० १० । १०३ । ७ ॥

इन्द्रो देवता । निचृदार्षी त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—(सहसा) अपने शत्रुपराजयकारी बल से (गोत्राणि) शत्रुओं के कुलों पर (अभि गाहमानः) आक्रमण करता दुभा, (अद्यः) दयारहित, (वीरः) शूरवीर, (शतमन्युः) अनेक प्रकार के कोप करने में समर्थ, (दुश्च्यवनः) शत्रु से विचलित न होने वाला, (पृतनापाड्) शत्रु-सेनाओं को विजय करने में समर्थ, (अयुध्यः) युद्ध में शत्रुओं से

अजेय, (इन्द्रः) इन्द्र, सेनापति, (युस्तु) संग्रामों में और योद्धाओं के बीच में (अस्माकं सेना प्र भवतु) हमारी सेनाओं की उत्तम रीति से रक्षा करे ।

इन्द्र आसां नेता बृहस्पतिर्दक्षिणा यज्ञः पुर एतु सोमः ।
देवसेनानामभिभञ्जतीनां जयन्तीनां मरुतो यन्त्वग्रम् ॥ ४० ॥

ऋ० १० । १०२ । ८ ॥

इन्द्रो देवता । विराड् आर्षी त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—(इन्द्रः) इन्द्र, परम ऐश्वर्ययुक्त, सेनापति जो शत्रु के व्यूहों को तोड़ने में समर्थ हो वह (आसाम्) इन सेनाओं का (नेता) नायक होकर पीछे से सेना को मार्ग पर चलावे । (बृहस्पतिः) बड़े २ अधिकारों का अध्यक्ष, या बड़े १ दलों का स्वामी 'बृहस्पतिः' (दक्षिणा) अपनी सेना के दायें भाग में होकर चले । (यज्ञः) व्यूहादि में दलों को संगत या व्यवस्थित करने में कुशल पुरुष (पुरः एतु) आगे १ चले । (सोमः) सेना का प्रेरक या उत्साहवर्धक पुरुष बायें ओर रहकर चले । और (जयन्तीनाम्) विजय करनेवाली (अभिभञ्जतीनाम्) शत्रुओं के चलों, दलों और गढ़ों को तोड़ती फोड़ती हुई (देवसेनानाम्) विजयी पुरुषों की सेनाओं के (अग्रम्) अग्र भाग में (मरुतः) शत्रुओं को मारने में समर्थ एवं वायु के समान बलवान् शूरवीर पुरुष (यन्तु) चलें ।

उपट के मत में—इन्द्र सेनानायक हो और बृहस्पति उसका मन्त्री उसके साथ हो । यज्ञ दक्षिण भाग में और सोम आगे हो । अथवा यज्ञ और सोम दोनों सेना के दायीं ओर, आगे के भाग में हों ।

ऋ० १० । १०३ । ९ ॥

इन्द्रस्य वृष्णो वरुणस्य राज्ञ आदित्यानामरुताः शर्धं ऽउग्रम् ।
महामनसां भुवनच्यवानां घोषो देवानां जयतामुदस्थात् ॥ ४१ ॥

ऋ० १० । १ । ३ ६ ॥

इन्द्रो देवता । आर्षी त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—(वृष्णः) बलवान्, (इन्द्रस्य) इन्द्र, सेनापति के और (वरुणस्य) प्रजा द्वारा स्वयं वरण किये गये राजा का और (आदित्यानाम् मरुताम्) आदित्य के समान पूर्ण ब्रह्मचारी, तेजस्वी और वायु के समान तीव्र वेगवान् शत्रुओं के बलों के नाशक योद्धाओं का (उग्रम् शर्धः) बढ़ा उग्र, भयंकर बल और (महामनसाम्) बड़े मनस्वी, विज्ञानवान् (भुवनच्यवानाम्) भुवन को कंपा देने वाले, समस्त भूलोक को विचलित कर देने वाले (जयताम्) विजय करते हुए (देवानां) विजिगीषु राजाओं का (घोषः) नाद (उत् अस्थात्) उठे और फैले ।

उद्धर्षय मघवन्नायुधान्त्युत्सत्त्वनां मामकानां मनाथंसि ।
उद्धृत्रहन् वाजिनां वाजिनान्युद्रथानां जयतां यन्तु घोषाः ॥४२॥

ऋ० १० । १०३ । १० ॥

इन्द्रो देवता । विराड् आर्षी त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—हे (मघवन्) प्रशस्त धनैश्वर्य सम्पन्न ! तू (सत्त्वनाम्) बलवान् (मामकानाम्) मेरे पक्ष के वीर पुरुषों के (आयुधानि) शस्त्र अस्त्रों को (उद् हर्षय) चमकवा, आवेश में ऊपर खड़े करवा । और उनके (मनांसि उत्) मनों को भी बढ़ावा दे । हे (उद्धृत्रहन्) घेरने या बढ़ने वाले शत्रु के नाशक सेनापते ! तू (वाजिनाम्) घुड़सवार सेनाओं के (वाजिनानि) शीघ्र गतियों, चालों को (उद् हर्षय) चला । (जयतां) विजय करने हारे (रथानाम्) रथों के (घोषाः) घोष, घोर शब्द (उद् यन्तु) ऊपर उठें ।

अस्माकमिन्द्रः समृतेषु ध्वजेष्वस्माकं या इषवस्ता जयन्तु ।
अस्माकं वीरा उत्तरे भवन्त्वस्माँ २५ उ देवा ऽअवता हवेषु ४३ ॥

ऋ० १० । १०३ । ११ ॥

इन्द्रो देवता । निचृदार्षीं त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—(ध्वजेषु) रथों पर लगे झण्डों के (समृतेषु) उत्तम रीति से प्राप्त हो जाने पर (अस्माकम् इन्द्रः) हमारा शत्रुहन्ता नायक और (याः अस्माकं इषवः) जो हमारे बाण अर्थात् बाण आदि अस्त्र-धारी योद्धा हैं (ताः) वे (जयन्तु) जीतें । (अस्माकं वीराः) हमारे वीर पुरुष युद्ध में (उत्तरे भवन्तु) ऊंचे होकर रहें । और (देवाः) विजयी पुरुष (हवेषु) संग्रामों में (अस्मान् उ अवत) हमारी ही रक्षा करें ।

अमीषां चित्तं प्रतिलोभयन्ती गृहाणाङ्गान्यप्ये परेहि ।

अभि प्रेहि निर्दह हृत्सु शोकैरन्धेनामित्रास्तमसा सचन्ताम् ४४

ऋ० १० । १०३ । १२ ॥

इन्द्रो देवता । विराड् आर्षीं त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—हे (अप्वे) शत्रुओं को दूर भगा लेजाने वाली भय की प्रवृत्ति अथवा शरीर की उत्पन्न पीड़े ! अथवा भयंकर सेने ! तू (अमीषां) उन शत्रुओं के (चित्तम्) चित्त को (प्रतिलोभयन्ती) साक्षात् मोहित करती हुई (अङ्गानि गृहाण) शत्रुओं के अंगों को जकड़ ले । और (परा इहि) स्वयं दूर भाग जा । (अभि प्र इहि) आगे २ बढ़ी चली जा । (शोकैः) ज्वाला की लपटों से शत्रुओं के (हृत्सु) हृदयों में (निर्दह) जलन पैदा कर । और (अमित्राः) शत्रु गण (अन्धेन तमसा) गहरे अन्धकार, या अन्धकार देने वाले तम, शोक और पीड़ा दुःख से (सचन्ताम्) युक्त हो जाय ।

अपवा-या अपवाति शत्रुप्राणान् हिनस्ति तत् सम्बुद्धौ 'शूरवीरे राजन्नि' ! इति दया० । यदेनया विद्धो अपवीयते । क्षत्रिये व्यधिर्वा भयं वा इति यास्कः । नि० ६ । ३ । ३ ॥

४४—अपवा देवता ऋग्वेदे ।

अवसृष्टा परापत शरव्ये ब्रह्मसंशिते ।

गच्छामित्रान् प्रपद्यस्व मामीषां कञ्चनोच्छिषः ॥ ४५ ॥

ऋ० ६ । ७४ । १७ ॥

४५-४६ अप्रतिरथ ऐन्द्र ऋषिः । प्रजापतिर्विवस्वान् वेत्येके । इषुदेवता ॥

आर्ष्यनुष्ठुप् गांधारः ॥

भा०—हे (शरव्ये) हिंसक या प्राणघातक साधनों की बनी हुई शरव्ये ! शर वर्षाने वाली यन्त्र कले ! हे (ब्रह्मसंशिते) बड़े भारी बल वीर्य से अति तीक्ष्ण, वेग वाली की गयी तू (अवसृष्टा) छोड़ी या चलाई जाकर (परापत) दूर तक जा और (गच्छ) इधर भी जा और (अभित्रान्) शत्रुओं तक (प्र पद्यस्व) आगे बढ़ी चली जा और उनतक पहुंच । (अमीषां) उन शत्रुओं में से (कञ्चन) किसी को भी (मा उच्छिषः) जीता बचा न छोड़ ।

अनेक बाणों या गोलियों को एकही साथ छोड़ने वाली तोप के समान कोई यन्त्र कला 'शरव्या' कहाती प्रतीत होती है । शरमयी इषुः शब्धा इति उवटः । 'शरमयी हेतिः शरव्या' इति महीधरः । 'इषु' या 'हेति' जो किसी घातक साधन को दूर फेंके वह कला 'इषु' या 'हेति' कहाती है ।

अथवा—हे (ब्रह्मसंशिते शरव्ये) विद्वानों से प्रशंसित वाणविद्याकी विदुषि छि ! तू प्रेरित होकर जा, शत्रुओं को मार, उनमें से किसी को न छोड़ ॥

प्रेता जयता नर इन्द्रो वः शर्म यच्छतु ।

उग्रा वः सन्तु बाहवोऽनाधृष्या यथासथ ॥ ४६ ॥ ऋ० १० । १०३ । ७३ ॥

४५—ऋग्वेदे पायुर्भारद्वाज ऋषिः । एतदन्तानामप्रतिरथः संहिताभाष्ये । असौ विनियोगाभावात् प्रजापतिः । सर्वसधारण्ये विवस्वानेव ऋषिः रियपरे इति अनन्तः ।

४६—ऋग्वेदेऽप्रतिरथ ऐन्द्र ऋषिः । इन्द्रो मरुतो देवताः । योद्धन्तीति सर्वा० ।

भा०—हे (नरः) वीर नेता पुरुषो ! (प्र इत) आगे बढ़ो । (जयत) विजय करो । (इन्द्रः) शत्रुओं का नाशक सेनापति (वः) तुमको (शर्म) गृह या रक्षा का साधन (यच्छतु) दे । (वः) तुम्हारे (बाहवः) बाहुएं या शत्रुओं को पीड़ा देने वाले हथियार (उग्राः) उग्र, बड़े बलवान, भयकारी हों । (यथा) जिससे तुम लोग (अवृण्याः) शत्रु से कभी पछाड़ न खाने वाले (असथ) बने रहो ।

असौ या सेना मरुतः परेषामभ्यैति नः अोजसा स्पर्धमाना ।
तां गूहत तमसापव्रतेन यथामी अन्यो अन्यं न जानन् ॥ ४७ ॥

अथ० ३ । २ । १ ।

मरुतो देवता निचुदर्षी त्रिष्टुप् । भैवतः ॥

भा०—हे (मरुतः) वायु के समान तीव्र वेग से शत्रु रूप वृक्षों के अंगों को तोड़ते फोड़ते युद्ध में आक्रमण करने हारे वीर पुरुषो ! (असौ या) यह जो (परेषां सेना) शत्रुओं की सेना (ओजसा) बल पराक्रम से (स्पर्धमाना) हमसे स्पर्धा करती हुई, हमारा मुकाबला करती हुई (नः अभि एति) हमारी तरफ ही बढ़ी चली आरही है (ताम्) उसको (अपव्रतेन) सब कर्मों या इन्द्रिय व्यापारों को नाश कर देने वाले, (तमसा) अन्धकार, धूमादि से या शोक और भय से (गूहत) घेर दो (यथा) जिससे (अमी) ये लोग (अन्यः अन्यम्) एक दूसरे को भी (न जानन्) न जान पावें । आखों को भ्रमा देने या नाश कर देने वाले, धूम या कृत्रिम अन्धकार का प्रयोग करने का उपदेश वेद ने किया है ।

यत्र बाणाः सम्पतन्ति कुमारा विशिखा इव । तंश्च अङ्घ्रि
बृहस्पतिरदितिः शर्म यच्छतु विश्वाहा शर्म यच्छतु ॥ ४८ ॥

४७—अथर्वश्रुतिर्यववेदे । सेनासंमोहनम् । अशास्यक्षत्रियो देवता । शति अनन्त० । 'परेषामस्मानैत्यभ्योजसा'०, 'तां विध्यत', 'यथैषामन्यो' इति अथर्वपाठाः ।

४८—'तवानो ब्रह्मणस्पतिरदितिः' इति श्रुत्वेदपाठः । पायुर्भारद्वाज श्रुतिः ॥

इन्द्रादयो लिंगोक्ताः । देवताः । पंक्तिः । पञ्चमः ॥

भा०—(यत्र) जिस संग्राम भूमि में (विशिखाः) शिखारहित या विविध शिखाओं वाले, (कुमाराः) कुमारों बालकों के समान चपल, (कुमाराः) कड़ी, दुःखदायी, बुरी मार करने हारे, (विशिखाः) विविध तीक्ष्ण शिखा या तेज धार वाले, (बाणाः) घनघोर गर्जन करने वाले शस्त्रास्त्र (सम्पतन्ति) निरन्तर गिरते हैं (तत्) वहां (इन्द्रः) शत्रुघातक इन्द्र, सेनापति (बृहस्पतिः) बड़ी भारी सेना या सभा का पालक स्वामी (अदितिः) अखण्डित बल पराक्रम वाला राजा या तेजस्विनी सभा या अनथक परिश्रम करने वाली स्वयंसेवक-समिति (शर्म यच्छतु) हताहतों को सुख दे । और (विधाहा) सदा, सब दिनों (शर्म यच्छतु) सबको सुख दिया करे । (४८-४९) ऋ० ६ । ७५ । १७ १८ ॥

मर्माणि ते वर्मणा छादयामि सोमस्त्वा राजामृतेनानु वस्ताम् ।
उरोर्वरीयो वरुणस्ते कृणोतु जयन्तं त्वानु देवा मदन्तु ॥ ४६ ॥

ऋ० ६ । ७५ । १८ ॥

सोमो वरुणो देवाश्च लिंगोक्ता देवता । आर्षी त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—हे वीर योद्धा, क्षत्रिय ! इन्द्र ! पुरुष ! (ते) तेरे (मर्माणि) आघात लगने से मृत्युजनक कोमल मर्मस्थानों को (वर्मणा) आघात से बचने वाले कवच से (छादयामि) ढकता हूं । (राजा सोमः) सोम्य गुण, दया आदि से युक्त अथवा ऐश्वर्यवान् राजा (त्वा) तुझको (अमृतेन) सर्व निवारक ओषधि और अन्न से (अनु वस्ताम्) ढके, तेरी रक्षा करे । (वरुणः) सर्वश्रेष्ठ राजा ही (ते) तुझे (उरोः वरीयः) बहुतसे बहुत, अधिक धन (कृणोतु) प्रदान करे और (जयन्तं त्वा)

४६—१. अथवा क्षत्रिय एव देवता । तस्य सम्बोध्यत्वेनात्र प्रधानत्वाच्च सोमादय इति याज्ञिकोऽनन्तदेवः ॥

विजय करते हुए तुझे देख कर (देवाः) विजयशील सैनिक भी (अनुमदन्तु) तेरे साथ हर्षित हों या धनादि विजय-लक्ष्मी से तृप्त हों ।

उदेनमुत्तरां नयाश्रे घृतेनाहुत ।

रायस्पोषेण सत्सृज प्रजया च बहुं कृधि ॥ ५० ॥

अग्निर्देवता । विराडाभ्यर्च्यनुष्टुप् । गांधरः ॥

भा०—हे (घृतेन) तेज से या शस्त्रों के सञ्चालन रूप पराक्रम से (आहुत) प्रदीप्त ! (अश्रे) अग्रणी ! सेना नायक ! (एनम्) इस राष्ट्र और राष्ट्रपति को तू (उत् नय) ऊंचे पदपर बैठा और (उत्तराम् नय) और अभ्यों से भी अधिक उच्चपद या प्रतिष्ठा पर प्राप्त करा । इसको (रायः पोषेण) ऐश्वर्य की वृद्धि से (संसृज) युक्त कर । (प्रजया च) और प्रजा से (बहुं कृधि) बहुत, बहुतसे वीर पुरुषों से युक्त बड़े समुदाय का स्वामी बना दे ।

इन्द्रेमं प्रतरां नय सजातानामसद्वशी ।

समेनं वर्चसा सृज देवानां भागदा ऽअसत् ॥ ५१ ॥

इन्द्रो देवता आभ्यर्च्यनुष्टुप् । गांधारः ॥

भा०—हे (इन्द्र) इन्द्र ! सेनापते ! (इमं) इस राष्ट्रपति को (प्रतराम्) बहुत उत्कृष्ट मार्ग से (नय) ले चल । जिससे वह (सजातानाम्) अपने समान वंश और पद वालों को भी (वशी असत्) वश करने में समर्थ हो । (एनं) इसको (वर्चसा) ऐसे तेज और बल से (संसृज) युक्त कर जिससे यह (देवानां) समस्त विजयशील योद्धाओं, विद्वानों और शासक वर्गों को (भागदाः) अंश, उनके उचित वेतन आदि देने में समर्थ (असत्) हो ।

यस्य कुर्मो गृहे हविस्तमश्रे वर्धया त्वम् ।

तस्मै देवा ऽअधिब्रुवन्नयं च ब्रह्मणस्पतिः ॥ ५२ ॥

अग्निर्देवता । निचृदार्थ्यनुष्टुप् । गांधारः ॥

भा०—(वयम्) हम लोग (यस्य गृहे) जिसके घर में या जिसके शासन में रह कर (हविः कुर्मः) 'हवि' अन्न आदि पदार्थों के आदान-प्रदान योग्य कर्मों को उत्पन्न करते हैं, हे (अग्ने) अग्रणी नायक ! (त्वम्) तू (तम्) उसको (वर्धय) बढ़ा । (देवाः) विद्वान् और विजिगीषु जन भी (तस्य) उसको ही (अधिब्रुवन्) कहें कि (अयं च) यह ही (ब्रह्मणः पतिः) महान् बल, वीर्य या वेद या ब्रह्म, अन्न का पालक स्वामी अन्नदाता है, अथवा—(देवाः ब्रह्मणस्पतिः च तस्मै अधिब्रुवन्) विद्वान् पुरुष विद्वानों का भी पालक, वेदवित् पुरुष (तस्मै अधिब्रुवन्) उसको सर्वोच्च होने का उपदेश करें ।

उदु त्वा विश्वे देवा ऽअग्ने भरन्तु चित्तिभिः ।

स नो भव शिवस्त्वथं सुप्रतीको विभावसुः ॥ ५३ ॥

अग्निर्देवता । विराडार्थ्यनुष्टुप् । गांधारः ॥

भा०—व्याख्या देखो (अ० १२ । मं० १३)

पञ्च दिशो दैवयिज्ञमवन्तु देवीरपामतिं दुर्मतिं बाधमानाः ।
रायस्पोषे यज्ञपतिमाभजन्ती रायस्पोषे ऽअग्निं यज्ञो ऽअस्थात् ५४

दिशो देवताः । स्वराडार्थी त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—(दैवीः) देव, अर्थात् राजा या विजयशील प्रजाओं के अधीन (पञ्च) पांचों (दिशः) दिशाएं अर्थात् पांचों दिशाओं में रहने वाली प्रजाएं, अथवा पांच राजसभाएं (यज्ञम्) सत्कार करने और संगति करने योग्य राजा और राष्ट्र की (अवन्तु) रक्षा करें । (देवीः) और उत्तम विदुषी स्त्रियां और विदुषी प्रजाएं, राजसभाएं (अमतिम्) अज्ञान और (दुर्मतिम्) दुष्ट विचारों को (बाधमानाः) दूर करती

५४—(५४-४५) पञ्च यज्ञाग्निसाधनवादिन्यः । सर्वा०

हुई और (यज्ञपतिम्) यज्ञपति को (रायः पोषे) ऐश्वर्य के निमित्त (आभजन्ती) आश्रय करती हुई, यज्ञ की रक्षा करें । जिससे (यज्ञः) समस्त राष्ट्र रूप यज्ञ वा राष्ट्रपति (रायः पोषे) ऐश्वर्य पशु की सम्पत्ति पर (अधि अस्थात्) सर्वोपरि स्थित रहे । शत० ९ । २ ३ । ८ ॥

गृहस्थ पक्ष में—पांच दिशाओं के समान (देवीः) विद्वान् स्त्रियां सब के अज्ञान और दुष्ट बुद्धि का नाश करती हुई (यज्ञपतिम्) गृहस्थ यज्ञ के स्वामी पतियों को सेवन करती एवं ऐश्वर्य का भागी बनाती हुई यज्ञ की रक्षा करें । गृहाश्रम ऐश्वर्य की वृद्धि में लगा रहे ।

समिद्धे अग्न्यावाधिं मामहान उक्थपत्र ईड्यो गृभीतः ।
तप्तं घर्मं परिगृह्यायजन्तोर्जा यद्यन्नमयजन्त देवाः ॥ ५५ ॥

अग्निदेवता । भुरिगार्धी पंक्तिः । पञ्चमः ॥

भा०—(देवाः) जिस प्रकार विद्वान् ऋत्विग् लोग (यत्) जब (तप्तम्) प्रतप्त (घर्मम्) सेचन योग्य घृत को (परि गृह्य) लेकर (अयजन्त) आहुति देते हैं और (यज्ञम्) उस पूजनीय परमेश्वर को लक्ष्य करके (ऊर्जा) अन्न द्वारा (समिद्धे अग्नौ) प्रदीप्त अग्नि में (अयजन्त) आहुति देते और यज्ञ करते हैं तब (अधि मामहानः) अति अधिक पूजनीय (उक्थपत्रः) वेद वचनों द्वारा ज्ञान करने योग्य, (ईड्यः) सर्वस्तुति योग्य परमेश्वर ही (गृभीतः) ग्रहण किया जाता है अर्थात् यज्ञ में उसी की पूजा की जाती है । उसी प्रकार (देवाः) विजिगीषु वीर पुरुष (यत्) जब (तप्तम्) अति प्रतप्त, क्रुद्ध या शत्रुओं को तपाने में समर्थ (घर्मम्) तेजस्वी राजा को (परिगृह्य) आश्रय करके (अयजन्त) उसका सत्कार करते और उसके आश्रय पर परस्पर मिल जाते हैं और (अग्नौ समिद्धे) अग्रणी नेता के अति प्रदीप्त, तेजस्वी हो जाने पर (यत्) जब (यज्ञम्) परस्पर संगति वा संग्राम (अयजन्त) करते हैं तब भी (ईड्यः) वह सब के स्तुति योग्य (उक्थपत्रः) शासन-आज्ञाओं से प्रजाओं को ज्ञापन या

घोषणा करने वाला राजा ही (अधि मामहानः) सर्वोपरि पूजनीय रूप से (गृभीतः) स्वीकार किया जाता है । शत० ९ । २ । ३ ९ ॥

दैव्याय धर्त्रे जोष्ट्रे देवश्रीः श्रीमनाः शतपयाः ।

परिगृह्य देवा यज्ञमायन् देवा देवेभ्यो ऽध्वर्यन्तो ऽअस्थुः ॥ ५६ ॥

अग्निदेवता । विराडाधी पंक्तिः । पञ्चमः ॥

भा०—(देवाः) देव, विद्वान् पुरुष, (देवेभ्यः) विद्वानों के हित के लिये ही (अध्वर्यन्तः) अपने हिंसा रहित आचरण एवं यज्ञादि श्रेष्ठ कर्मों की कामना करते (अस्थुः) रहते हैं । वे विद्वान् लोग जो (देवश्रीः) राजा के समान लक्ष्मी से युक्त, अथवा देवों, विद्वानों के निमित्त अपने धन वैभव को व्यय करने हारा, उदार, (श्रीमनाः) अपने चित्त में सेवनीय शुभ वृत्ति या पूज्य प्रभु को धारण करने वाला या लक्ष्मी शोभा को चाहने वाला, और (शतपयाः) सैकड़ों दूध या दुधार गौवाँ वाला, या सैकड़ों पुष्टि कारक अन्न आदि से सम्पन्न होता है उस सम्पन्न पुरुष को (दैव्याय) दिव्य गुणों से सम्पन्न (धर्त्रे) जगत् के धारक, पोषक और (जोष्ट्रे) सबको प्रेम करने वाले परमेश्वर की स्तुति के लिये ही (परिगृह्य) आश्रय करके (यज्ञम् आयन्) यज्ञ करने के लिये आते हैं । शत० ९ । २ । ३ । १० ॥

उसी प्रकार राष्ट्र पक्ष में—जो (देवश्रीः) राजा के समान वैभव वाला, (श्रीमनाः) राज्य वैभव को चाहने वाला, और (शतपयाः) सैकड़ों पोषण पदार्थों और बलों से युक्त होता है उसका (परिगृह्य) आश्रय लेकर (देवाः) विजिगीषु वीर जन (दैव्याय) देवों के हितकारी, (धर्त्रे) सब के धारक, (जोष्ट्रे) सब के प्रेमी पुरुष की वृद्धि या ऐसी राष्ट्र की वृद्धि के लिये (यज्ञम् आयन्) संग्राम में आते हैं । (देवाः देवेभ्यः) विजयी लोग विजेताओं की उन्नति के लिये ही (अध्वर्यन्तः अस्थुः) संग्राम चाहते रहते हैं ।

वीतं हविः शमितं शमिता यजध्वै तुरीयो यज्ञो यत्र हव्यमेति ।
ततो वाका ऽश्नाशिषो नो जुषन्ताम् ॥ ५७ ॥

यज्ञो देवता । निचुदार्षी बृहती । मध्यमः ॥

भा०—(यत्र) जिसमें (वीतं) सर्वत्र व्याप्त होने योग्य, (शमिता शमितम्) शान्ति दायक पुरुष द्वारा शान्ति सुख देने योग्य बनाया गया, (हविः) आहुति योग्य चरु (यजध्वै) अग्नि में आहुति करने के लिये (एति) प्राप्त होता है वह (तुरीयः) चतुर्थ या सर्वश्रेष्ठ (यज्ञः) यज्ञ कहा जाता है । (ततः) उससे (वाकाः) प्रार्थनाएं, (आशिषः) उत्तम कामनायें नः (जुषन्ताम्) हमें प्राप्त हों । शत० ९ । २ । ३ : ११ ॥

तुरीयः यज्ञः = चौथा यज्ञ—“अध्वयुः पुरस्तात् यजूंषि जपति । होता पश्चादचोऽन्वाह, ब्रह्मा दक्षिणतोऽप्रतिरथं जपति एष तुरीयश्चतुर्थो यज्ञः” ॥ प्रथम अध्वयुः यजुषों का कहता है । फिर होता ऋचा पढ़ता है । फिर ब्रह्मा अप्रतिरथ सूक्त का पाठ करता है । यह चतुर्थ यज्ञ है । शत० ९।२।३।११ अथवा प्रथम अध्वयुः का श्रावण, फिर अग्नीध्र का प्रत्याश्रवण, फिर अध्वयुः का प्रैष, फिर होता का स्वाहाकार । अथवा—अध्यात्म में (यत्र) जिस आत्मा में (शमिता) शम दम की साधना द्वारा (शमितं) शान्त किया गया (वीतम्) ज्ञान से युक्त (हविः) ग्राह्य, आत्मा (यजध्वै) परमेश्वर के प्रति समर्पण कर देने के लिये ही (हव्यम् एति) स्तुति योग्य या आदान योग्य परम वेद्य परमात्मा को (एति) प्राप्त हो जाता है वह (तुरीयः यज्ञः) ‘तुरीय’ अर्थात् ब्रह्म की प्राप्ति रूप, भवसागर-तरण रूप ‘यज्ञ’ कहाता है । (ततः) उस तुरीय पद को प्राप्त ब्रह्मज्ञानी से (वाकाः) वाणी से बोलने योग्य आशीर्वाद (नः जुषन्ताम्) हमें प्राप्त हों ।

राष्ट्रपक्ष में—(शमिता) प्रजा में शान्ति फैलाने में समर्थ पुरुष द्वारा (शम्-इतम्) शान्त गुण युक्त किये (वीतम्) व्यापक (हविः) उपाय, या आदान योग्य कर टैक्स जहां (यजध्वै) राजा को देने के लिये (हव्यम्)

पूजनीय प्रभु, राजा को प्राप्त होता है वह तुरीय सर्वश्रेष्ठ (यज्ञः) व्यवस्थित राज्य है । (ततः) उस राज्य से (वाकाः) गुरुपदेश योग्य विद्याएं और (आशिषः) उत्तम इच्छाएं (नः) हमें (जुषन्ताम्) प्राप्त हों ।

सूर्यरश्मिहरिकेशः पुरस्तात्सविता ज्योतिरुदयाँ २५ अजस्रम् ।
तस्य पूषा प्रसवे याति विद्वान्त्सम्पश्यन्विश्वा भुवनानि गोपाः ५८

अग्निदेवता । आर्षी त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—जो (सूर्यरश्मिः) सूर्य की किरणों के समान किरणों, विद्या आदि गुणों को धारण करता है, (हरिकेशः) जो कुंशों को हरण करने वाला, अथवा पीली ज्वाला, दीप्ति के समान उज्ज्वल एवं कुंशकारी शस्त्रास्त्रों को धारण करने वाला, जो (सविता) सूर्य के समान समस्त प्रजा का प्रेरक होकर (अजस्रम्) अविनाशी, निरन्तर (ज्योतिः) ज्योति, प्रकाश रूप में (उद् अयान्) ऊपर उठता है, (तस्य प्रसवे) उसके उत्कृष्ट शासन में रहकर (पूषा विद्वान्) पोषक विद्वान् (गोपाः) जितेन्द्रिय, विद्या-वाणी का पालक होकर (विश्वा भुवनानि) समस्त भुवन, उत्पन्न पदार्थों को (सम्पश्यन्) अच्छी प्रकार देखता हुआ, उनका ज्ञान प्राप्त करता हुआ (याति) आगे बढ़ता है । ऋ० १०।१।१३९।१॥ शत० ९।१।३।१२॥

परमेश्वर पक्ष में—(सूर्यरश्मिः) सूर्य आदि लोक भी जिसकी किरण के समान हैं, अतः वह परमेश्वर 'सूर्यरश्मि' है । कुंश हरण करने वाला होने से वह 'हरिकेश' है । सर्वोत्पादक होने से 'सविता' है । वह अविनाशी ज्योति रूप से हृदय में उदित हो । उसके (प्रसवे) उत्कृष्ट शासन या जगत् में (पूषा) अपने बल और ज्ञान का पोषक विद्वान् ज्ञानी, जितेन्द्रिय पुरुष (विश्वा भुवनानि सम्पश्यन्) समस्त भुवनों को देखता, ज्ञान करता हुआ सूर्य के समान अध्यक्ष रूप से (याति) सर्वत्र आगे बढ़ता है ।

विमान् ऽपृष दिवो मध्यं ऽआस्त ऽआपप्रिवान् रोदसी अन्तरिक्षम्
स विश्वाचीराभिचष्टे घृताचीरन्तरा पूर्वमपरं च केतुम् ॥ ५९ ॥

विश्वावसुर्ऋषिः । आदित्यो देवता । आर्षी त्रिष्टुप् । धेवतः ॥

भा०—सूर्य के पक्ष में—(एषः) यह सूर्य (विमानः) पक्षी के समान या विमान, व्योमयान के समान (दिवः मध्ये) आकाश के बीच (आस्ते) स्थिर है । वह (रोदसी अन्तरिक्षम्) द्यौ और पृथिवी और अन्तरिक्ष तीनों को (आपप्रिवान्) अपने तेज से पूर्ण करता है । (सः) वह (विश्वाचीः) समस्त विश्व को अपने में रखने वाला और (घृताचीः) मेघवत् वा सूर्यवत् जलों को धारण करने वाला, भूमियों, प्रजाओं और दिशाओं को (अभिचष्टे) देखता है । और (पूर्वम् अपरं च केतुम् अन्तरा) पूर्व और पश्चिम के ज्ञापक लिंग को भी देखता है । ऋ० १०।१३९।१॥ शत१।१।३।१७॥

अथवा —(सः) वह (विश्वाचीः घृताचीः) सर्वत्र फैलाने वाली, जलाहरण करने वाली कान्तियों को और (पूर्वम् अपरं च) पूर्व दिन, और अपर रात्रि दोनों के बीच के काल को भी (अभिचष्टे) प्रकाशित करता है ।

राजा के पक्ष में—(एषः) महाराजा (दिवः मध्ये) तेज और प्रकाश के बीच, या ज्ञानी पुरुषों के बीच में (विमानः) विशेष मान, आदर-चान् होकर (आस्ते) विजराता है वह (रोदसी) शासक और शास्य, राजा प्रजा दोनों को और (अन्तरिक्षम्) सबके रक्षक सर्वपूज्य अन्तरिक्ष पद को भी पूर्ण करता है । वह विश्व को धारण करने वाली (घृताची) अन्न जल की धारक भूमियों और प्रजाओं को (पूर्वम् अपरं च केतुम्) पूर्व और पश्चिम के ज्ञापक ध्वजादि को भी (अभिचष्टे) सूर्य के समान देखता है ।

इसी प्रकार आदित्य योगी विशेष ज्ञानवान् होने से 'वि-मान' है । वह प्रकाश स्वरूप परमेश्वर के बीच ब्रह्मस्थ होकर विराजता है । वह प्राण, अपान और अन्तरिक्ष, हृदयाकाश सब को पूर्ण करता है । वह देह में व्याप्त और तेजोव्याप्त नाड़ियों को और पूर्व आर अपर केतु अर्थात् जीव और ब्रह्म दोनों के ज्ञानमय स्वरूप को साक्षात् करता है ।

उक्षा समुद्रो ऽअरुणः सुपर्णः पूर्वस्य योनिं पितुराविवेश ।
मध्ये दिवो निहितः पृश्निरश्मा विचक्रमे रजसस्पात्यन्तौ ॥६०॥

अप्रतिरथ ऋषिः । आदित्यो देवता । निचृदार्धी त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—राजा के पक्ष में—(उक्षा) राष्ट्र के कार्य-भार को वहन करने वाला, (समुद्रः) नाना ऐश्वर्यों और बलयुक्त कार्यों का उत्पादक, अथवा (समुद्रः) अपनी मुद्रा आदि का उत्पादक, या समुद्र के समान गंभीर अनन्त कोश रत्नों का स्वामी, (अरुणः) उगते सूर्य के समान रक्त वर्ण के वस्त्र पहने, रोहित स्वरूप, (सुपर्णः) उत्तम रूप से पालन करने वाला होकर ही (पूर्वस्य) अपने पूर्व विद्यमान (पितुः) पालक पिता, राजा के (योनिम्) स्थान को (आविवेश) ले, पूर्व के राजा के पद पर स्वयं विराजे । यदि राजा का पुत्र उतना समर्थ न हो तो उसको पिता की राज-गादी प्राप्त न हो । क्योंकि (दिवः मध्ये) द्यौलोक के बीच में (निहितः) स्थित सूर्य के समान तेजस्वी राजा ही (दिवः मध्ये) तेजस्वी राष्ट्र और राजचक्र के बीच में (निहितः) स्थापित होकर (पृश्निः) सूर्य जिस प्रकार पृथिवी आदि लोकों से रस को ग्रहण करता है उसी प्रकार कर आदि लेने एवं प्रजा पालन और (अश्मा) चक्री या शिला के समान शत्रु गणों को चकनाचूर कर देने में समर्थ होकर ही (विचक्रमे) विविध प्रकार के विक्रम कर सकता है और (रजसः) नाना ऐश्वर्यों से रंजित राष्ट्र रूप लोक के (अन्तौ) दोनों छोरों को (पाति) पालन कर सकता है । ऋ० ५।४७।३॥ शत० १।२।३।१८॥

इसी प्रकार गृहपति के विषय में—गृहस्थ माता पिता का पुत्र जब वीर्य सेचन में या गृहस्थ का भार उठाने में समर्थ अर्थात् 'उक्षा', उत्तम पालन, आर उत्तम साधनों, रोजगारों से युक्त अर्थात् 'सुपर्ण' हो तो उसको अपने पूर्वपिता की गादी प्राप्त हो । वह ही (अश्मा) शिला के समान वा आदित्य वा मेघ के समान पालन, होकर (रजसः) राग से प्राप्त काम्य, गृहस्थ

सुख के दोनों अन्तों अर्थात् वर वधू दोनों के गृह्य-बन्धनों का पालन कर सकता है ।

अथवा योगी—(उक्षा) धर्म मेघ द्वारा आत्मा में ब्रह्म रसका वर्षक होकर तेजस्वी, उत्तम ज्ञानवान् होकर पूर्वं पिता अर्थात् पूर्ण पालक परमेश्वर के धाम की प्राप्ति होता है । वह (दिवः) तेजोमय मोक्ष के बीच में स्थित होकर (पृथ्विः) समस्त ब्रह्मानन्द का भोक्ता, (अश्मा) राजस, तामस उद्योगों का नाशक, 'अप्माखण' होकर (विचक्रमे) विविध लोकों में स्वच्छन्द गति करता है और (रजसः) समस्त ब्रह्माण्ड या रजोमय प्राकृतिक विकृत विभूति के दो छोर उत्पत्ति और प्रलय दोनों को (पाति) व्याप लेता, ज्ञान कर लेता है । शत० ६ । २ । ३ । १८ ॥

इन्द्रं विश्वां ऽअवीवृधन्त्समुद्रव्यचसं गिरः ।

रथीतमथं रथीनां वाजानाथं सत्पतिं पतिम् ॥ ६१ ॥ क्र० १।१।११ ॥

जेता माधुर्द्धस ऋषिः । इन्द्रो देवता । निचृदार्थ्यनुष्टुप् । गांधारः ॥

भा०—(समुद्र-व्यचसम्) समुद्र या आकाश जिस प्रकार अनन्त जल-कोश या विविध सस्य और रत्न सम्पत्ति के देने वाले हैं उसी प्रकार विविध ऐश्वर्यों का दाता और (रथीनां रथीतमम्) समस्त रथियों में सब से बड़े महारथी, (सत्पतिम्) सत्-मर्यादाओं और सज्जनों के प्रतिपालक और (वाजानाम्) संग्रामों और ऐश्वर्यों के (पतिम्) पालक (इन्द्रं) शत्रुओं के विनाशक इन्द्र, सेनापति या राजा को (विश्वाः गिरः) समस्त स्तुति-वाणियां (अवीवृधन्) बढ़ाती हैं, वे उसके गौरव को बढ़ाती हैं ।

ईश्वर के पक्ष में—आकाश भूमि समुद्र में व्यापक (रथीनां रथीतमम्) समस्त देह-धारियों में विराट् ब्रह्माण्ड को धारण करने वाले अथवा रसयुक्त पदार्थों में सब से उत्कृष्ट रस वाले, आनन्दमय, समस्त ऐश्वर्य के पालक प्रभु को सब वेदवाणियां बढ़ाती हैं, उसका गौरव गान करती हैं । व्याख्या देखो । ११ ६ ॥ शत० ९ । २ । ३ । २० ॥

देवहूर्यज्ञ ऽग्रा च वक्षत्सुम्नहूर्यज्ञ ऽग्रा च वक्षत् ।
यज्ञदग्निर्देवो देवाँरऽग्रा च वक्षत् ॥ ६२ ॥

विधृतिर्नृषिः । यज्ञो देवता । विराडाप्यनुष्टुप् । गांधारः ॥

भा०—(देवहूः) देव-विद्वानों और विद्या आदि शुभ गुणों को स्वयं धारण करने वाला, विद्वानों का आह्वाता, (यज्ञः) सबका संगतिकारक, व्यवस्थापक, प्रजापति राजा (च) ही राष्ट्र का (आवक्षत्) सब प्रकार से कार्य-भार वहन करे । (सुम्नहूः) सुखों, ऐश्वर्यों का प्रदाता (यज्ञः) यज्ञ, सर्वोपरि आदर योग्य प्रजापति ही राष्ट्र को (आवक्षत्) धारण करे । (देवः) सबका द्रष्टा और दाता (अग्निः) अग्रणी, नायक, तेजस्वी राजा ही (आवक्षत्) सबको संगत करे और (आवक्षत् च) राष्ट्र के भार को धारण भी करे । शत० ९ । २ । ३ । २० ॥

ईश्वरपक्ष में—(यज्ञः) सर्वोपास्य यज्ञ, परमेश्वर दिव्य शक्तियों का धारक विद्वान् ज्ञानी पुरुषों को अपने पास बुलाने से 'देवहू' है । सुख-प्रद एवं सुपुम्ना द्वारा भीतर सुखद होने 'सुम्नहू' है । वही सर्वप्रकाशक अग्नि सबको ज्ञान देता और धारण करता है ।

वाजस्य मा प्रसव ऽउद्ग्राभेणोदग्रभीत् ।

अर्धा सपत्नानिन्द्रो मे निग्राभेणाधराँरऽअकः ॥ ६३ ॥

इन्द्रोदेवता । निचृदाशीं त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—(इन्द्रः) ऐश्वर्यवान् राजा और ईश्वर (मा) सुप्तको (वाजस्य प्रसवः) विज्ञान, अन्न और ऐश्वर्य का उत्पादक होकर (उद्-ग्राभेण) ऊपर ले जाने वाले उपाय या सामर्थ्य से (उत् अग्र-भीत्) उत्तम पद पर या उत्तम स्थिति में रखे । (अध) और (निग्राभेण) निग्रह या दण्ड देकर वह (मे सपत्नान्) मेरे शत्रुओं को (अधरान् अकः) नीचे करे । शत० ९ । २ । ३ । ११ ।

उद्ग्राभं च निग्राभं च ब्रह्म देवा ऽअवीवृधन् ।

अथा सपत्नानिन्द्राग्नी मे विषूचीनान्यस्यताम् ॥ ६४ ॥

इन्द्राग्नी देवते । आर्ष्यनुष्टुप् । गांधारः ॥

भा०—(देवाः) विद्वान् पुरुष (उद्ग्राभम्) उत्कृष्ट पद को प्राप्त करने के सामर्थ्य और (निग्राभम् च) शत्रुओं को नीचे गिराने और दण्डित करने के सामर्थ्य को और (ब्रह्म च) बड़े भारी धन और राष्ट्र को भी (अवीवृधन्) नित्य बढ़ावें । (अध) और (इन्द्राग्नी) सेनापति इन्द्र और राष्ट्र का अग्रणी नायक तेजस्वी अग्नि दोनों (मे) मेरे (विषूचीनान्) विरुद्धाचारी (सपत्नान्) शत्रुओं को (वि अस्यताम्) विविध उपायों से विनष्ट करें । शत० १।२।३।२२ ॥

क्रमध्वमग्निना नाकमुख्यं हस्तेषु विभ्रतः ।

दिवस्पृष्टं स्वर्गत्वा मिश्रा देवेभिराध्वम् ॥ ६५ ॥

अग्निदेवता । विराडार्ष्यनुष्टुप् । गांधारः ॥

भा०—हे वीर पुरुषो ! तुम लोग (अग्निना) अपने अग्रणी तेजस्वी, ज्ञानवान् नेता राजा और आचार्य के साथ (नाकम्) सुखप्रद, (उख्यम्) उखा नाम पृथ्वी के हितकारी भोग्य राष्ट्रसुख को (हस्तेषु) अपने शत्रु और हनन करने वाले शस्त्रास्त्रों के बल पर (विभ्रतः) धारण करते हुए (क्रमध्वम्) आगे बढ़ो । (दिवः पृष्ठं) न्याय, विद्या आदि से प्रकाशित सूर्य के समान तेजस्वी, (पृष्ठम्) पालन करनेवाले (स्वः) सुखमय राज्य को (गत्वा) प्राप्त करके (देवेभिः) विद्वान् विजयी पुरुषों के साथ (मिश्राः) मिलकर (आध्वम्) विराजो । शत० १।२।३।२४ ॥

प्राचीमनु प्रदिशं प्रेहि विद्वानग्नेरग्ने पुरो ऽअग्निर्भवेह ।

विश्वा ऽआशा दीद्यानो विभाह्यूर्जो नो धेहि द्विपदे चतुष्पदे ॥ ६६ ॥

अग्निदेवता । निचुदार्षी त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—हे (अग्ने) अग्रणी नायक, राजन् ! सभापते ! तू (प्राचीम् प्रदिशम्) सूर्य जिस प्रकार प्राची दिशा को प्राप्त होकर समस्त दिशाओं को प्रकाशित करता हुआ सब दो पाये, चौपायों के लिये प्रकाश करता और उनको बल, जीवन प्रदान करता है उसी प्रकार तू भी (प्राचीम् प्रदिशम् अनु) प्रकृष्ट, उन्नत पद को प्राप्त कराने वाली उन्नति की दिशा की ओर (प्र इहि) आगे बढ़, प्रयाण कर । तू (अग्नेः) सूर्य के पराक्रम से स्वयं (पुरः अग्निः) आगे चलने वाला मुख्य अग्रणी (इह) इस राज्य में (भव) होकर रह । तू (विश्वाः आशाः) समस्त दिशाओं को (दीधानः) अपने तेज से सूर्य के समान प्रकाशित करता हुआ (वि भाहि) प्रकाशित हो और (नः) हमारे (द्विपदे चतुष्पदे) दो पाये, भृत्य आदि और चौपाये गौ आदि पशुओं को (ऊर्जं धेहि) उत्तम अन्न और बल, पराक्रम प्रदान कर ।
शत० ९ । २ । ३ । २५ ॥

पृथिव्या ऽग्रहमुदन्तरिक्षमारुहमन्तरिक्षादिवमारुहम् ।

दिवो नाकस्य पृष्ठात् स्वर्ज्योतिरगामहम् ॥६७॥ अथ० ४।१४।३॥

अग्निदेवता । पिपीलिकामध्या बृहती । मध्यमः ॥

भा०—मैं अधिकार प्राप्त राजा (पृथिव्याः) पृथिवी से अर्थात् पृथिवी निवासी प्रजागण से ऊपर (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष के समान सर्वाच्छादक, सब सुखों के वर्षक पद को वायु के समीप (आरुहम्) प्राप्त होऊँ और मैं (अन्तरिक्षात्) अन्तरिक्ष पद से (दिवम्) सूर्य के समान तेजस्वी, सर्वप्रकाशक सर्वद्रष्टा, तेजस्वी विराट् पद पर (आरुहम्) चढ़ूँ । (नाकस्य) सर्व सुखमय (दिवः) उस तेजोमय (पृष्ठात्) सर्वपालक, सर्वोपरि पद से भी ऊपर (स्वः) सुखमय (ज्योतिः) परम प्रकाश, ज्ञानमय ब्रह्मपद को भी (अहम्) मैं (अगाम्) प्राप्त करूँ ।
शत० ९ । २ । ३ । २६ ॥

अध्यात्म में—योगी स्वयं मूलाधार से अन्तरिक्ष = नाभि देश की

और फिर शिरोदेश को जागृत कर वहाँ से सुखमय परमब्रह्म ज्योति को प्राप्त करता है ।

स्वर्यन्तो नापेक्षन्तः ऽत्राद्याः रोहन्ति रोदसी ।

यज्ञं ये विश्वतोऽधारथं सुविद्वांसो वितेनिरे ॥ ६८ ॥

अथ० ४ । १४ । ४ ॥

अग्निदेवता । निचृदार्यनुष्टुप् । गांधारः ॥

भा०—(ये) जो (सुविद्वांसः) उत्तम विद्वान् पुरुष (विश्वतोऽधारम्) सब तरफ बसने वाले प्रजाजनों को धारण करने वाले (यज्ञं) राष्ट्र-व्यवस्थापक रूप सुसंगठित साम्राज्य को (वितेनिरे) विविध उपायों से विस्तृत करते हैं वे (स्वः यन्तः) सुखकारी साम्राज्य को प्राप्त करते हुए (न अपेक्षन्ते) नीचे की तरफ नहीं देखते । अथवा ! (स्वः यन्तः) परम मोक्ष को प्राप्त होते हुए योगियों के समान संसार के भोगों की (न अपेक्षन्ते) अपेक्षा नहीं करते, प्रत्युत (रोदसी) समस्त पृथिवी के ऐश्वर्य और शत्रु बल को रोक लेने में समर्थ (द्याम्) सर्वोपरि विजय-कारिणी शक्ति को (आरोहन्ति) प्राप्त हो जाते हैं । शत० ९।१।३।२७॥

योगी के पक्ष में—(ये विद्वांसः) जो विज्ञानी, योगीजन (विश्वतोऽधारं यज्ञं) समस्त जगत् के धारक, परम उपास्य परमेश्वर को (वितेनिरे) प्राप्त हो जाते हैं वे (स्वर्यन्तः) सुखमय परम मोक्ष को जाते हुए संसार-भोगों की (न अपेक्षन्ते) अपेक्षा नहीं करते, उनपर नीचे दृष्टि नहीं डालते । प्रत्युत (रोदसी) जन्म मृत्यु के रोकने में समर्थ (द्याम्) प्रकाशमयी मोक्ष पदवी को (आरोहन्ति) प्राप्त करते हैं ।

अग्ने प्रेहि प्रथमो देवयतां चतुर्देवानामुत मर्त्यानाम् ।

इयत्तमाणा भृगुभिः सजोषाः स्वर्यन्तु यजमानाः स्वस्ति ॥ ६९ ॥

अथ० ४ । १४ । ५ ॥

अग्निदेवता । मुरिगार्पी पक्तिः । पञ्चमः ॥

भा०—हे (अग्ने) तेजस्विन् ! राजन् ! विद्वन् ! (देवानाम् ज्ञान प्रदान करने वाली इन्द्रियों के बीच में (चक्षुः) चक्षु के समान समस्त पदार्थों के दिखलाने हारा होकर (देवयताम्) कामना करने वाले, काम्य-सुखों को चाहने वाले (मर्त्यानाम्) मनुष्यों के बीच में तू (प्रथमः) सब से मुख्य होकर (प्र इहि) आगे बढ़ । (यजमानाः) यज्ञ करने वाले, दानशील अथवा राष्ट्रों का संगठन करने वाले राजगण भी (भृगुभिः) परिपक्व विज्ञान वाले विद्वानों के साथ (इयक्षमाणाः) अपना यज्ञ, प्रजा पालन का कार्य करते हुए (सजोषाः) परस्पर प्रेम सहित (स्वस्ति) कल्याण पूर्वक (स्वः यन्तु) सुख धाम को प्राप्त हों ।

इसी प्रकार (यजमानाः) दानशील गृहस्थ लोग (भृगुभिः) पापों को भून डालने वाले, परिपक्व ज्ञानी, तपस्वी विद्वानों के साथ (इयक्षमाणाः) अपने अध्यात्म यज्ञ को सम्पादन करते हुए (स्वस्ति) सुखपूर्वक (स्वः यन्तु) मोक्ष सुख को प्राप्त करें । शत० ९ । २ । ३ । २८ ॥

नक्रोषासा समनसा विरूपे धापयेते शिशुमेकं समीची ।
द्यावाक्षामा रुक्मोऽन्तर्विभाति देवाऽग्निं धारयन् द्रविणोदाः ७०

भा०—व्याख्या देखो (अ० १० । २) ऋ० १ । ९६ । ५ ॥

अग्ने सहस्राक्ष शतमूर्द्धञ्छतं ते प्राणाः सहस्रं व्यानाः । त्वत्सहस्रस्य राय ईशिषे तस्मै ते विधेम वाजाय स्वाहा ॥७१॥

अग्निदेवता । भुरिगार्धी पंक्तिः । पञ्चमः ॥

भा०—हे (अग्ने) अग्ने ! तेजस्विन् ! राजन् ! हे (सहस्राक्ष) गुप्त चरा, दूतों और सभासदों रूप हजारों आखों वाले ! हे (शतमूर्धन्) सैकड़ों राजसभासदों रूप विचार करने वाले मस्तकों से युक्त !- (ते) तेरे (शतं प्राणाः) सैकड़ों अधीन शासन रूप प्राण हैं जिनसे राष्ट्र शरीर में चेतनता जागृत रहती है इसी प्रकार (सहस्रं व्यानाः) हजारों व्यान

के समान भीतरी व्यवहारों कोकर्ता अधिकारी हैं । (त्वम्) तू (सहस्रस्य रायः) सहस्रों ऐश्वर्यों का (ईशिपे) स्वामी है । (तस्मै ते) उस तुझ (वाजाय) वीर्यवान्, ऐश्वर्यवान् प्रभु को हम (स्वाहा) उत्तम यश कीर्ति के लिये (विधेम) अन्न, कर आदि प्रदान करें । परमेश्वर पक्ष में—हे परमेश्वर तेरे हजारों आंख, सिर, प्राण व्यान आदि हैं, तू सहस्रों ऐश्वर्यों का स्वामी है, हम तेरा आदर सत्कार करें । योगी के पक्ष में—योगी भी अपनी साधना से अनेक शरीर में प्रविष्ट होकर आंख, नाक, कान, सिर आदि विभूति दिखाने में समर्थ होता है, हम ऐसे सिद्ध का आदर करें । शत० १।२।३।३२-३३ ॥

सुपुर्णोऽसि गरुत्मान् पृष्ठे पृथिव्याः सीद । भासान्तरिक्षमापृण
ज्योतिषा दिवमुत्तमान् तेजसा दिश उद्धृह ॥७२॥

अग्निदेवता । निचृदार्षी पंक्तिः । पञ्चमः ॥

भा०—हे राजन् ! तू (सुपुर्णः असि) सुख से पालन करने में समर्थ, उत्तम पालन साधनों से सम्पन्न और उत्तम लक्षणों वाला है । तू (गरुत्मान्) महान् गौरवपूर्ण आत्मा वाला होकर (पृथिव्याः पृष्ठे) पृथिवी के ऊपर (सीद) विराजमान हो । और (भासा) अपनी कान्ति, तेज और पराक्रम से (अन्तरिक्षम्) वायु के समान अन्तरिक्ष को भी पूर्ण कर, अन्तरिक्ष के समान समस्त प्रजा को घेर कर उनपर अपनी छत्र-छाया रख । और (ज्योतिषा) सूर्य से जिस प्रकार आकाश मण्डित है उसी प्रकार (ज्योतिषा) अपने तेज से (दिवम्) अपने विजय से प्राप्त भूमि, समृद्ध, कामना योग्य राज्य वा राजसभा को (उत्तमान्) उन्नत कर और ऊपर उठाये रख । और (तेजसा) पराक्रम से (दिशः) समस्त दिशाओं, दिशावासी प्रजाओं को (उद्धृह) उन्नत कर । शत० १।२।३।३४ ॥

आजुह्वानः सुप्रतीकः पुरस्तादग्ने स्वं योनिमासीद साधुया ।
अस्मिन्सधस्थेऽअध्युत्तरस्मिन् विश्वे देवा यजमानश्च सीदत ७३

अग्निदेवता । आग्नीं त्रिष्टुप् । धैवतः ।

भा०—हे (अग्ने) अग्ने सूर्य के समान तेजस्विन् ! राजन् ! तू (आजु-
ह्वानः) आदर सत्कार से सम्बोधन किया जाकर (सु-प्रतीकः) शुभ
लक्षण और रूप बनाकर, सौम्य होकर (पुरस्तात्) आगे, सबसे मुख्य,
पूर्व की ओर (साधुया) उत्तम रीति से (स्वं योनिम्) अपने स्थान,
मुख्य आसन पर (आसीद) विराज । (अस्मिन् सधस्थे) इस एकत्र
होकर बैठने के (उत्तरस्मिन्) उत्कृष्ट सभाभवन में तू (अधि) सबसे
ऊपर विराज और (विश्वे देवाः) समस्त विद्वान्, ज्ञानी पुरुष और (यज-
मानः च) सबका सत्कार करने में कुशल राजा महामात्य और राज-सभा-
सद गण भी (सीदत) विराजें । शत० ९ । २ । ३ ३५ ॥

ता० सवितुर्वरेण्यस्य चित्रामाहं वृणे सुमतिं विश्वजन्याम् ।
यामस्य कण्वो ऽअदुहत्प्रपीना० सदस्रधारापयसा महीं गाम् ७४

कण्वश्रुतिः । सविता देवता । निचृदार्षी त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—(अहम्) मैं (वरेण्यस्य) सर्वश्रेष्ठ, सबों द्वारा वरण करने
योग्य, उत्तम वरणयोग्य पद पर लेजाने हारे (सवितुः) सूर्य के
समान सबके प्रेरक, ऐश्वर्यवान् राजा के (ताम्) उस (चित्राम्) अद्भुत
(सुमतिम्) शुभ ज्ञानवाली (विश्वजन्याम्) समस्त प्रजाजनों में से बनाई
गई, उनके हितकारी सभापति को (वृणे) स्वीकार करता हूँ । (याम्) जिस
(प्रपीनाम्) अति पुष्ट, (सहस्रधाराम्) सहस्रों ज्ञानवाणियों या नियम-
धाराओं से युक्त अथवा सहस्रों ज्ञानों को धारण करने वाली (पयसा)
दूध से जिस प्रकार गौ, और अन्न से जिस प्रकार पृथिवी आदर योग्य
होती है उसी प्रकार (पयसा) वृद्धिकारी राष्ट्र के पुष्टिजनक उपायों से
(महीं गाम्) बड़ी भारी ज्ञानमयी, (याम्) जिस विद्वत् सभा को
(कण्वः) मेधावी जन (अदुहन्) दोहते हैं, उससे वादविवाद द्वारा
सारतत्त्व को प्राप्त करते हैं । श० १।१।३।३८ ॥

राजा रूप प्रजापति की यही अपनी 'दुहिता' गौ, राजसभा है जिसे वह अपनी पत्नी के समान अपने आप उसका सभापति होकर उसको अपने अधीन रखता है। जिसके लिये ब्राह्मण ग्रन्थ में लिखा है— 'प्रजापतिः स्वां दुहितरमभ्यधावत्।' इत्यादि उसी को 'दिव' या 'उषा' रूप से भी कहा है, वस्तुतः यह राजसभा है।

परमेश्वर के पक्ष में—सबसे श्रेष्ठ सर्वोत्पादक परमेश्वर की अद्भुत (विश्वजन्या) विश्व को उत्पन्न करने वाली (सुमतिं) उत्तम ज्ञानवती (गाम्) वाणी को मैं (वृणे) सेवन करूँ (याम् महीम् गाम्) जिस पूजनीय वाणी को सहस्रों धार वाली हृष्ट पुष्ट गाय के समान (सहस्र-धाराम्) सहस्रों 'धारा', धारण सामर्थ्य या व्यवस्था-नियमों वाली को (कण्वः अदुहत्) ज्ञानी पुरुष दौहन करता है, उससे ज्ञान प्राप्त करता है।

विधेम ते परमे जन्मन्ने विधेम स्तोमैरवरे सधस्थे ।
यस्माद्योनेरुदारिथा यजे तं प्र त्वे हवींषि जुहुरे समिद्धे ॥ ७५ ॥

ऋ० ७ । १ । ३ ॥

गृत्समद ऋषिः । त्रिस्थानोऽग्निर्देवता । आर्षी त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—हे (अग्ने) अपने तेज से दुष्टों को भस्म करने हारे राजन् ! हम (परमे जन्मनि) सर्वोत्कृष्ट पद पर स्थापित करके (ते) तेरा (विधेम) विशेष सत्कार करें। और (अवरे सधस्थे) उससे उतर कर 'सधस्थे' अर्थात् सब विद्वान् सभासदों के एकत्र होने के सभा-भवन में भी (स्तोमैः) स्तुति वचनों या अधिकार पदों से (विधेम) तेरा आदर सत्कार करें। त् (यस्मात् योनेः) जिस स्थान से भी (उत् आरिथाः) उन्नत पद को प्राप्त हो (तम् यजे) उसको भी मैं तुझे प्रदान करूँ। (समिद्धे) प्रदीप्त अग्नि में जिस प्रकार (हवींषि जुहुरे) नाना हवियों को आहुति करते हैं उसी प्रकार हम लोग (त्वे) तुझपर (हवींषि) आदान अर्थात् ग्रहण करने और स्वीकार करने योग्य यथार्थ वचनों को प्रदान करें। शत० ९।१।३।३९॥

योगी के पक्ष में—हे योगिन् ! परम जन्म अर्थात् योग द्वारा प्राप्त उत्कृष्ट पद में स्थित तेरी हम सेवा करें । जिस मूल आश्रय से तू उन्नति को प्राप्त है (तम् यजे) उस परमेश्वर की हम भी उपासना करें । प्रदीप्त अग्नि के समान तुम्हें हम श्रेष्ठ अन्न प्रदान करें ।

प्रेद्धे॑ ऽअग्ने दीदिहि पुरो नोऽजस्रया सूर्या यविष्ठ ।

त्वा॑ शश्वन्त॑ ऽउपयन्ति॑ वाजाः ॥ ७६ ॥ ऋ० ७ । १ । ३ ॥

वसिष्ठ ऋषिः । अग्निदेवता । आर्धुष्णिक् । ऋषभः ॥

भा०—हे (अग्ने) अग्ने ! तेजस्विन् ! तू (नः पुरः) हमारे आगे (अजस्रया) अविनाशी, नित्य (सूर्या) काष्ठ से जिस प्रकार आग जलती है उसी प्रकार उत्तम उत्साह और तेजः- साधनों से (दीदिहि) प्रकाशित हो । हे (यविष्ठ) सदा बलवान् ! (त्वाम्) तुझे (शश्वन्तः) सदा के लिये स्थिर (वाजाः) अन्नादि ऐश्वर्य और ज्ञानवान् पुरुष (उपयन्ति) प्राप्त हों । शत० ९।१।३।४० ॥

अग्ने तमद्याश्वं न स्तोमैः क्रतुं न भद्रथं हृदिस्पृशम् ।

ऋध्यामा॑ त॒ ऽओहैः ॥ ७७ ॥ ऋ० ७ । १० । १ ।

भा०—व्याख्या देखो अ० १४ । १४ ॥ शत० ९।२।३।४१ ॥

चित्तिं जुहोमि मनसा घृतेन यथा देवा इहागमन्वीतिहोत्रा ऋता-
वृधः । पत्ये विश्वस्य भूमनो जुहोमि विश्वकर्मणे विश्वाहादा-
भ्यथं हविः ॥ ७८ ॥

विश्वकर्मा देवता । विराड् अतिजगती । निषादः ॥

भा०—मैं (घृतेन) घी के द्वारा जैसे अग्नि में आहुति दी जाती है उसी प्रकार (मनसा) मनन पूर्वक, चित्त से (चित्तिम्) तत्त्व जिज्ञासा के लिये चिन्तन या विवेक को (जुहोमि) प्राप्त करता हूँ अर्थात् निर्णय करना चाहता हूँ (यथा) जिससे (इह) इस विचार-भवन में (वीतिः)

होत्राः) उज्ज्वल, ज्ञान की आहुति देने वाले, (ऋतावृधः) सत्य को बढ़ाने वाले, (देवाः) विद्वान् लोग (आगमन्) आये । (भूमनः विश्वस्य पत्ये) बड़े भारी विश्व के स्वामी. (विश्व-कर्मणे) समस्त राष्ट्र के साधु कर्मों के प्रवर्तक राजा के निमित्त मैं (अदाभ्यं) अखण्ड, अविनाशी बेचूक, कभी न कटने वाले, दद (हविः) ज्ञान और अन्न को (विश्वहा) सदा दिनों (जुहोमि) प्रदान करूँ । शत० ९ । १ । ३ ४२ ॥

प्रत्येक विद्वान् सभासद् का कर्त्तव्य है कि जब विद्वान् सत्यशील लोग एकत्र हों तो मन लगा कर 'चिति' अर्थात् विषय के 'चिन्तन' या विचार में ध्यान दें । और राजा को अखण्डनीय, निश्चित सत्य तत्त्व का निर्णय प्रदान करे ।

योगी के पक्ष में—प्रकाशित यज्ञ वाले सत्यवर्धक (देवाः) देवगण, प्राण या विद्वान् मुझे प्राप्त हों इस रीति से मैं सत्यासत्य विवेचन करूँ । और महान् विश्व के स्वामी परमेश्वर के लिये इस (अदाभ्यं हविः) अखण्ड, अविनाशी, नित्य हवि रूप आत्मा को समर्पित करूँ ।

सप्त ते अग्ने समिधः सप्त जिह्वाः सप्त ऋषयः सप्त धाम प्रियाणि ।
सप्त होत्राः सप्तधा त्वा यजन्ति सप्त योनीरा पृणस्व घृतेन स्वाहा

सप्त ऋषयो ऋषयः । अग्निदेवतां ॥ आपी जगती । निषादेः ॥

भा०—हे (अग्ने) अग्नि के समान उज्ज्वल तेजस्विन् ! (ते) तेरे (सप्त समिधः) अग्नि के समान सात समिधाएं हैं अर्थात् अमात्य आदि सात प्रकृतियां तेरी तेजोवृद्धि का कारण हैं । (सप्त ऋषयः) राष्ट्र के कार्यों का निरीक्षण करने वाले वे सात ही 'ऋषि' हैं, वे मन्त्रद्रष्टा, गुप्त मन्त्रणार्थ अमात्य हैं । (सप्त प्रियाणि धाम) सात ही प्रिय तेज या धारण सामर्थ्य हैं । वही तेरे (सप्त होत्राः) सात होत्र, यज्ञ के ७ होताओं के समान राष्ट्र के सात अंग हैं । वे सातों (त्वा) तुझ को (सप्तधा) सात तरह से

(यजन्ति) प्राप्त होते हैं । तू उन (सप्त योनीः) सातों स्थानों या पदाधिकारों को (घृतेन) अपने तेज से (स्वाहा) उत्तम रीति से (आपुणस्व) पूर्ण कर । शत० ६ । १ । ३ । ४५ ॥

होत्राः—ऋतवो वा होत्राः । रश्मयो वाव होत्राः । अङ्गानि वा होत्राः गो० उ० ६ । ६ ॥

शुक्रज्योतिश्च चित्रज्योतिश्च सत्यज्योतिश्च ज्योतिष्मान्श्च ।
शुक्रश्च ऋतपाश्चात्यंथाः ॥ ८० ॥

मरुतो देवताः । आर्युष्णिक् । ऋषभः ॥

भा०—(शुक्रज्योतिः च) शुक्रज्योति, और (चित्रज्योतिः च) चित्रज्योति, (सत्यज्योतिः च) सत्यज्योति (शुक्रः च) शुक्र, (ऋतपाः च) ऋतपा और (अत्यंथाः) अत्यंथा ये ७ 'मरुत' अर्थात् शरीर में ७ प्राणों के समान राष्ट्र में मुख्य अमात्य नियत किये जायं । शत० ९।३।१।२६ ॥

अति कान्तिमान्, शुद्ध ज्योति से ज्ञानवान् पुरुष 'शुक्रज्योति' है । चित्र अर्थात् अद्भुत ज्योति वाला पुरुष 'चित्रज्योति' है । सत्य निर्णय देने वाला 'सत्यज्योति' और ज्ञान-ज्योति वाला पुरुष 'ज्योतिष्मान्' और शीघ्रकारी या शुद्ध रूप 'शुक्र' है । (ऋतपाः) सत्य या कानून ग्रन्थ का पालक 'ऋतप' है । अंहस् अर्थात् पापों को अतिक्रमण करनेवाला 'अत्यंथाः' है । ये सब ईश्वर के नाम भी हैं ।

ईदृङ् चान्यादृङ् च सदृङ् च प्रतिसदृङ् च ।

मितश्च सम्मितश्च सभराः ॥ ८१ ॥

मरुतो देवताः । आर्षी गायत्री । षड्जः ॥

भा०—(ईदृङ्) यह ऐसा है, (अन्यादृङ् च) यह अन्य के समान है अर्थात् इसके समान और भी है, (सदृङ् च) यह और यह समान है । (प्रतिसदृङ् च) प्रत्येक पदार्थ इस अंश में समान है (मितः च)

यह इतने परिणाम का है, (संमितः च) अच्छी प्रकार यह अमुक पदार्थ के बराबर ही परिमाण वाला है। (सभराः) ये सब पदार्थ समान भार वाले या समान वस्तु को धारण करते हैं। इस प्रकार सातों प्रकार से देखने वाले विद्वान् राजा के राज्य-विभागों में कार्य करें। और उनके 'इड्ड' आदि ही नाम हों।

इसी प्रकार सात प्रकार से विवेचना करने वाला होने से उनका मुख्य पुरुष और परमेश्वर भी इन सात नामों से कहाता है।

ऋतश्च सत्यश्च ध्रुवश्च धरुणश्च धर्त्ता च विधर्त्ता च विधारयः ८२

मरुतो देवताः । आर्षी गायत्री । षड्जः ॥

भा०—(ऋतः च सत्य च ध्रुवः च) ऋत, सत्य, ध्रुव, (धरुणः च) धरुण, (धर्त्ता च विधर्त्ता च) धर्त्ता और विधर्त्ता और (विधारयः च) विधारय ये ७ व्यवहार निर्णय के लिये अधिकारी हों। इनके भिन्न २ कार्य हैं। जैसे 'ऋत' जो व्यवस्थापुस्तक (Law) का प्रमाणग्राही, (सत्यः) घटना का सत्य रूप रखने वाला, (ध्रुवः) स्थिर निर्णयदाता (धरुणः) दोषों का पकड़ने वाला, (धर्त्ता) उसका वश करने वाला और (विधारयः) उसको विविध कार्यों में नियोजक।

इसी प्रकार इनके मुख्य पुरुष के भी कार्यभेद से ये सात नाम हैं, ईश्वर के भी ये सात नाम हैं।

ऋतजिच्च सत्यजिच्च सेनजिच्च सुपेणश्च ।

अन्तिमित्रश्च दूरेऽमित्रश्च गणः ॥ ८३ ॥

मरुतो देवताः । निचृदाषीः जंगती । निषादः ॥

भा०—(ऋतजित् च सत्यजित् च, सेनजित् च सुपेणः च) ऋत-जित्, सत्यजित् सेनजित् और सुपेण, (अन्तिमित्रः च, दूरे-अमित्रः च गणः) अन्तिमित्र और दूरे-अमित्र और गण ये सेना-विभाग के अध्यक्ष हैं।

ईदक्षास एतादक्षास ऊ पु णः सदक्षासः प्रतिसदक्षास एतन ।
मितासश्च समितासो नो ऽश्रद्य सभरसो मरुतो यज्ञे ऽश्रस्मिन्

मरुतो देवताः । निचुर्दार्धी जगती । निषादः ॥

भा०—हे (ईदक्षासः एतादक्षासः सदक्षासः प्रतिसदक्षासः मितासः
संमितासः सभरसः) ईदक्ष, एतादक्ष, सदक्ष प्रति सदक्ष मित, और संमित
और सभर ये सातों पूर्वोक्त (मरुतः) मरुद्गण अर्थात् प्रजाओं के गण, पालक
लोगो ! आप लोग (अस्मिन्) इस राष्ट्र के यज्ञ में (एतन) आओ ।

स्वतवाँश्च प्रघासी च सान्तपनश्च गृहमेधी च ।

क्रीडी च शाकी चोज्जेषी ॥ ८५ ॥

मरुतो देवताः । स्वराडापीं गायत्रां । षड्जः ॥

भा०—और इसी प्रकार (स्वतवान्) स्वयं बलशाली, (प्रघासी च)
उत्कृष्ट पदार्थ को भोजन करने वाला, (सान्तपनः च) उत्तम रूप से तप
करने वाला या प्रजा के धर्म-कर्म संस्कार करनेहारा, (गृहमेधी च) गृहस्थ,
(क्रीडी च) क्रीड़ाशील, युद्धविजयी, (शाकी) शक्तिमान्, (उज्जेषी च)
और उत्तम पदों का जय करने हारा ये लोग भी प्रजा के मुख्य अंग हैं ।

८५—इतः परं क्वचित् पुस्तकेष्वयं मन्त्रः पठ्यते ।

उग्रश्च भीमश्च ध्वान्तश्च धुनिश्च ।

सासह्याँश्चाभियुग्वा च विक्षिपः स्वाहा ॥

अर्थ—(उग्रः) बलवान् (भीमः) भयानक, (ध्वान्तः) अन्धकार के
समान शत्रुओं को अन्धा, भ्रान्तियुक्त करनेहारा, (धुनिः च) कंपा देनेवाला,
(सासह्यान्) पराजित करने वाला, (अभियुग्वा च) आक्रमण करनेवाला
और (विक्षिपः) विविध दिशाओं से शत्रु पर शस्त्र फेंकने वाला । ये भी
विजय कार्य के निमित्त वीर नेता पुरुष आवश्यक हैं । इस प्रकार ये मरुद्-
गण ४९ गिने जाते हैं ।

इन्द्रं दैवीर्विशो मरुतोऽनुवर्त्मानोऽभवन्त्यथेन्द्रं दैवीर्विशो मरु-
तोऽनुवर्त्मानोऽभवन् । एवमिमं यजमानं दैवीश्च विशो मानुषी-
श्चानुवर्त्मानो भवन्तु ॥ ८६ ॥

मरुतो देवताः । निचृत् शक्वरो । धैवतः ॥

भा० — (दैवीः विशाः) विद्वान् लोगों की प्रजाएं (इन्द्रम्) ऐश्वर्यवान् धार्मिक राजा को और (मरुतः) शत्रुओं को मारने वाली सेनाएं (इन्द्रम्) शत्रुओं के गद्गदिदारक इन्द्र सेनापति के (अनुवर्त्मानः) पीछे २ रास्ता चलने वाले होते हैं । (यथा) जिस प्रकार से (दैवीः विशाः) देव, दर्शन-शील आत्मा के भीतर प्रविष्ट प्राण आदि प्रजाएं (मरुतः) और प्राण गण (इन्द्रम् अनुवर्त्मानः) 'इन्द्र' आत्मा के पीछे चलने वाले होते हैं (एवम्) इसीप्रकार (इमं यजमानम्) इस अन्न, आजीविका, वेतन और मान आदि के देने वाले राजा के (दैवीः च) विद्वानों और (मानुषीः च) साधारण मनुष्यों की प्रजाएं भी (अनुवर्त्मानो भवन्तु) पीछे २ रास्ता चलने वाली हों ।

इमं स्तनमूर्जस्वन्तं घयापां प्रपीनमग्ने सरिरस्य मध्ये ।
उत्सं जुषस्व मधुमन्तमर्वन्तसमुद्रियथं सदनमा विशस्व ॥ ८७ ॥

अग्निदेवता । निचृदार्षी त्रिष्टुप् धैवतः ॥

भा० — हे (अग्ने) अग्ने ! अग्रणी नायक ! तेजस्विन् ! तू (सरिरस्य-मध्ये) आकाश के बीच में (अपां प्रपीनम्) जलों से परिपूर्ण (इमं) इस (ऊर्जस्वन्तम्) अन्न और बलकारी (स्तनम्) स्तन के समान रसों को बहाने वाले एवं घोर गर्जनाकारी (उत्सं) कूप के समान अनन्त जल देने वाले, (मधुमन्तम्) परिमाण में अन्नादि मधुर पदार्थों के देने वाले (समुद्रियम्) समुद्र से उत्पन्न मेघ के समान (सरिरस्य) बड़े भारी व्यापक राष्ट्र के बीच में (अपां प्रपीनम्) आस प्रजाओं से पुष्ट, (ऊर्जस्वन्तम्) बल, पराक्रम और अन्नादि से सम्पन्न (उत्सम्) उत्तम फलों के

दाता (मधुमन्तम्) अन्नादि मधुर पदार्थों से युक्त, (समुद्रियम्) समुद्र से घिरे अथवा नाना सम्पत्तियों के उत्पादक (स्तनम्) स्तन के समान मधुर आनन्द रसदायक अथवा सब सुखों के आधार रूप इस उत्तम राष्ट्र को (धय) बालक के समान शान्ति से भोग कर । हे (अर्वत्) अश्व के समान वेगवान् साधनों से सम्पन्न तू (समुद्रियं सदनम्) समुद्र के समान गंभीर इस सम्राट् पद को (आ विशस्व) प्राप्त कर ।

घृतं मिमिक्षे घृतमस्य योनिर्घृते श्रितो घृतम्बस्य धाम ।

अनुस्वधमावह मादयस्व स्वाहाकृतं वृषभ वक्षि हव्यम् ॥८८॥

ऋ० २ । ३ । ११ ॥

गृत्समद ऋषिः । अग्निदेवता । निचृदावीं त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा० — पूर्वोक्त 'पर्जन्य' पद की मेघ से और भी तुलना करते हैं । वह उक्त मेघ (घृतम् मिमिक्षे) जल का सेचन करता है । और (अस्य) उसका (घृतम् योनिः) जल ही मूलकारण है । वह (घृते श्रितः) जल में ही आश्रित है (अस्य धाम घृतम् उ) उसका जन्म, वर्णन कर्म और स्वरूप ये तीनों भी जल ही है । और हे पर्जन्य ! रसों को प्रजा पर बरसा देने वाले ! तू (अनु-स्वधम्) जल के ही साथ बहुत सी अन्नादि सम्पत्ति को (आवह) प्राप्त करता है और (मादयस्व) सबको तृप्त करता है । हे (वृषभ) जलों के वर्णन करने हारे ! तू (स्वाहा-कृतम्) यज्ञाग्नि में आहुति किये या अपने में उत्तम रीति से धारण किये जल से उत्पादित (हव्यम्) अन्न को (वक्षि) प्रजा को प्रदान करता है । इसी प्रकार हे राजन् ! तू मेघ के समान उच्च पद पर विराजमान होकर (घृतं मिमिक्षे) अग्नि के समान तेज और मेघ के समान सुख और स्नेह का वर्णन कर । (अस्य) इस अग्नि का जिस प्रकार घृत ही आश्रय है उसी प्रकार तेरा भी आश्रय स्थान 'घृत', तेज ही है । तू (घृते श्रितः) अपने तेज में आश्रित होकर रह । (घृतम् अस्य धाम) इस राजपद का धाम तेज या धारण सामर्थ्य या

स्वरूप भी 'तेज', पराक्रम ही है । (अनुवधम्) अपनी धारण शक्ति के अनुसार ही इस राष्ट्र के कार्य-भार को (आवह) उठा । (मादयस्व) स्वयं समस्त प्रजाओं को तृप्त कर । (स्वाहा-कृतम्) सुखपूर्वक प्रदान किये (हव्यम्) कर आदि पदार्थों को हे (वृषभ) प्रजा पर सुखों के वर्षक राजन् ! (वक्षि) तू स्वयं प्राप्त कर और अपने अधीन मृत्यों को दे ।

समुद्रादूर्मिर्मधुमां ऽउदारदुपांशुना सममृतत्वमानत् ।

धृतस्य नाम गुह्यं यदस्ति जिह्वा देवानाममृतस्य नाभिः ॥८६॥

[९८-९९] ऋ० ४ । ५८ १ ॥

[८६-८६] वामदेवो गौतम ऋषिः । अग्निदेवता । निचृदार्षी त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—राजा के पक्ष में—(समुद्रात्) समुद्र के समान गंभीर राजा से (मधुमान्) शत्रुओं को कृपा देने वाले सामर्थ्य से युक्त (ऊर्मिः) प्रबल तरंग के समान पराक्रम (उत् आरत्) ऊपर उठता है और (अंशुना) व्यापक सैनिक-बल या राष्ट्र के बल के साथ (अमृतत्वम्) अमृतत्वम् अर्थात् अमर यश को (उत् सम् आनत्) प्राप्त करता है । (धृतस्य) तेज का (यद्) जो (गुह्यं नाम अस्ति) गुह्य, सुगुप्त स्वरूप है वह (देवानाम्) तेजस्वी विजयी पुरुषों की (जिह्वा) आहृतिरूप क्रोडशिखा है जो (अमृतस्य नाभिः) उस अमर, अविनाशी, स्थायी राष्ट्र को बांधने वाली है ।

मेघ के पक्ष में—समुद्र का एक (मधुमान्) जल से पूर्ण (ऊर्मिः) तरंग उठता है । जो (अंशुना) वायु वा सूर्य के द्वारा (अमृतत्वम् आनत्) सूक्ष्म जल-भाव को प्राप्त होता है । (धृतस्य) मेघ द्वारा भूमि पर सेचन करने योग्य जल का (यद्) जो (गुह्यं) गुहा, अर्थात् अन्तरिक्ष में स्थित (नाम) स्वरूप या परिवर्तित, परिपक्व, रूप है वह (देवानां) सूर्य की रश्मियों की (जिह्वा) तापकारी शिखा या जल संचने वाली शक्ति के

[८८-८८] ऋग्वेदे ऽग्निः सूर्यो वाऽऽपो वा गावो वा धृतस्तुतिर्वा देवता ।

कारण है। और वही उस (अमृतस्य) सूक्ष्म जल को (नाभिः) बांधने, आकाश में थामे रहने का कारण है।

जीवनपक्ष में—अन्न रूप अक्षय समुद्र से (मधुमान् ऊर्मिः) मधुर रस की एक तरंग या उत्कृष्ट रूप उत्पन्न होता है। वह (अंशुना) प्राण वायु के साथ मिलकर (अमृतत्वम्) जीवन या चेतना के रूप में बदलता है। (धृतस्य) दीप्ति या ओज का, या स्त्रीयोनि में निषेक करने योग्य वीर्य का (यत् गुह्यं नाम अस्ति) जो गुह्य अर्थात् प्रजननेन्द्रिय या शरीर में गुप्त रूप से विद्यमान परिपक्व रूप है वह (देवानां जिह्वा) देवों, इन्द्रियों की दीप्ति या शक्ति का कारण है और (अमृतस्य नाभिः) अमृत, दीर्घ जीवन और अगली प्रजा का मूल कारण है।

परमेश्वरपक्ष में—(समुद्रात्) उस परम परमेश्वर, अनन्त, अक्षय, आनन्दसागर से (मधुमान्) ज्ञानमय तरंग या प्रजोत्पादक कामनारूप तरंग उत्पन्न होती है। वह (अंशुना) विषयों के भोक्ता जीव के साथ मिलकर (अमृतत्वम्) चित् शक्तिको (उप समानत्) जागृत करती है। (धृतस्य) प्रकृति के गर्भ में सेचन करने योग्य परमेश्वरीय तेज का जो (गुह्यं) परम विचारणीय (नाम) स्वरूप है वह (देवानाम्) समस्त दिव्य, वैकारिक महत् आदि पदार्थों की (जिह्वा) वशकारिणी शक्ति है, वही (अमृतस्य) समस्त अमृत, अविनाशी, चिन्मय जगत् का (नाभिः) बांधने वाला केन्द्र है।

गृहपति-प्रजापक्ष में—कामरूप अनन्त समुद्र से (मधुमान् ऊर्मिः) मधुर स्नेहमय एक तरंग उठता है। और वह (अंशुना) प्राण के साथ मिलकर (अमृतत्वम् उप सम् आनत्) अमृत रूप प्रजाभाव को प्राप्त होता है। (धृतस्य नाम यत् गुह्यम् अस्ति) निषेक योग्य वीर्य का जो परिपक्व रूप है वही (देवानाम्) रति क्रीड़ा करने वाले पुरुषों की (जिह्वा) अर्थात् काम्यसुख प्राप्त करने का साधन है और वही (अमृतस्य नाभिः)

आगामी प्रजारूप अमर तन्तु प्राप्त करने का मूल कारण है । वीर्य से ही रति उत्पन्न होती है और उसी से सन्तान ।

स्वयं नाम प्र ब्रवामा घृतस्यास्मिन् युञ्जे धारयामा नमोभिः ।

उप ब्रह्मा शृण्वच्छस्यमानं चतुःशृङ्गोऽवमीद् गौर एतत् ॥६०॥

आग्निदेवता । विराडावर्षा त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—राजा के पक्ष में—(वयम्) हम लोग (घृतस्य) बल, ऐश्वर्य से प्रजा का सेवन करने हारे और स्वयं तेजस्वी राजा के (नाम) शत्रुओं को नमाने वाले बल या दण्ड विधान, शासन का (प्र ब्रवाम) अच्छी प्रकार वर्णन, या उपदेश करें और (अस्मिन् युञ्जे) इस प्रजापालन, एवं राज्य-कार्य में हम लोग उस शासन को (नमोभिः) दण्ड आदि शत्रुओं को दबाने वाले विविध साधनों से (धारयाम) धारण करें और पुष्ट करें । (ब्रह्मा) ब्रह्मा अर्थात् वेद का जानने वाला चतुर्वेदवित् विद्वान् (शस्यमानम्) विधान किये जाते हुए इसको (उप शृण्वत्) स्वयं श्रवण करे । और (चतुःशृङ्गः) पदाति, रथ, अश्व और हस्ती आदि चारों प्रकार के हिंसासाधनों से सम्पन्न (गौरः) गौ = पृथिवी में रमण करने हारा राजा (एतत्) उस दण्ड-विधान को (अवमीत्) विद्वानों से श्रवण करके पुनः प्रजा को आज्ञा रूप से कहे ।

ज्ञान के पक्ष में—ब्रह्म, वेदवित् विद्वान् चार वेदों रूप चार शृङ्गवाला और (गौरः) वेदवाणी में रमण शील होकर वसन करे अर्थात् वेदों का उपदेश करे और लोग श्रवण करें (घृतस्य) ज्ञान प्रकाश के परिपक्व स्वरूप का हम प्रवचन करें और (युञ्जे) श्रेष्ठ कर्म या उपास्य परमेश्वर में उसको (नमोभिः) आदर वचनों सहित (धारयाम) धारण और प्रयोग करें ।

चत्वारि शृङ्गा त्रयोऽअस्य पादा द्वे शीर्षे सप्त हस्तासोऽअस्य त्रिधा बद्धो वृषभो रौरवीति महो देवो मर्त्याँऽआर्विवेश ॥६१॥

वृषभो यज्ञपुरुषो देवता । विराडापीं त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—राजा के पक्ष में—इस राजा रूप प्रजापति या राष्ट्र-रूप यज्ञ के (चत्वारि शृङ्गा) चार शृङ्ग अर्थात् शत्रुओं के हनन करने वाले साधन चतुरंग सेना है । (अस्य) इसके (त्रयः) तीन (पादाः) पैर अर्थात् चलने के साधन हैं राजा, प्रजा और शासक । (द्वे शीर्षे) दो शिर हैं राजा और आमात्य या राजा और पुरोहित । (अस्य) इसके (सप्त हस्तासः) सात हाथ, सात प्रकृतियाँ हैं । वह (त्रिधा बद्धः) तीन शक्तियाँ, प्रजा, सेना और कोष इन तीन शक्तियों से राष्ट्र बंधा या सुव्यवस्थित होता है । वह (वृषभः) सर्वश्रेष्ठ, वर्णशील मेघ या बलीवर्द के समान (रोरवीति) गर्जना करता है और (महः देवः) वह बड़ा पूजनीय देव, दानशील, प्रजा को सुखप्रद, राजा (मर्त्यान्) मनुष्यों को (आविवेश) प्राप्त हो ।

यज्ञ-पक्ष में—यज्ञ के ४ सींग, ब्रह्मा, उद्गाता, होता और अध्वर्यु । तीन पाद ऋग्, यजुः, साम । दो शिर हविर्धान और प्रवर्ग्य । सात हाथ सप्त होता या सात छन्द । तीन स्थान प्रातःसवन, माध्यंदिन सवन और ^{तृतीय} सायं सवन से बंधा है । अथवा—४ सींग ४ वेद । तीन पद तीन सवन । दो शिर प्रायणीय और उदयनीय दो इष्टियाँ । सात हाथ ७ छन्द । तीन प्रकार से बद्ध मन्त्र, छन्द, ब्राह्मण और कल्प से । यास्क० निरु० १३ । ७ ॥

अथवा, शब्द के पक्ष में—४ सींग—नाम, आख्यात (क्रियापद) उप-सर्ग और निपात । तीन पद—भूत, भविष्यत् और वर्त्तमान, दो शिर—शब्द नित्य और अनित्य । सात हाथ—सात विभक्तियाँ । यह शब्द तीन स्थान पर बद्ध है छाती में, कण्ठ में और शिर में । सुनने से सुख का वर्णन करता है वह शब्द करता, उपदेश देता है और ध्वनि रूप होकर समस्त मरणधर्मा प्राणियों में विद्यमान है । (पतञ्जलि मुनि । व्याकरण महाभाष्य आ० १ ॥)

आत्मा के पक्ष में—४ सींग धर्म, अर्थ काम और मोक्ष । तीन पाद अर्थात् तीन ज्ञानसाधन तीन वेद, या मनन क्रिया और उच्चारण या ज्ञान, कर्म और गान । दो शिर प्राण, अपान । सात हाथ शिरोगत सप्त प्राण-२ नोक, २ आंख, २ कान, एकमुख, अथवा सात धातु त्वग्, मांस रुधिर मेद, अस्थि, मज्जा और शुक्र । त्रिधा बद्ध, मन, कर्म और वाणी, अथवा त्रिगुण सत्त्व, रजस् तमस् द्वारा बद्ध है । वह भीतरी सब सुखों का वर्षक होने से, वृषभ' महाप्राण आत्मा (देवः) साक्षात् ज्ञानदृष्टा होकर (मर्त्यान् आविवेश०) मरणधर्मा देहों में आश्रित है ।

परमात्मा के पक्ष में—चार सींग चारों दिशाएं अथवा अ, उ, म् और अमात्र । तीन चरण, तीन काल, अथवा तीन भुवन । दो शिर धौ और पृथिवी । सात हाथ सात मरुद् गण, अथवा सात समष्टि प्राण, अथवा महत्, अहंकार और ५ भूत । त्रिधा बद्ध सत्, चित् और आनन्दरूप में । वह महान् परमेश्वर (वृषभः) समस्त सुखों का वर्षक एवं जगत् को उठाने वाला, (रोरवीति) परम वेदज्ञान का उपदेश करता है वह महान् देव उपास्य परमेश्वर (मर्त्यान् आविषेष्टः) समस्त नश्वर पदार्थों में भी व्यापक है । त्रिधा हितं पणिभिर्गुह्यमानं गवि देवासो घृतमन्वाविन्दन् । इन्द्र एकं सूर्य एकं जजान वेनादेकं स्वंधर्या निष्टतनुः । ६२ ।

यज्ञपुरुषो देवता । आर्षी त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—राजा के पक्ष में—(पणिभिः) व्यवहार-कुशल पुरुषों द्वारा (गवि) गौ अर्थात् इस पृथिवी या प्रजा में (गुह्यमानं) गुप्त रूप से (त्रिधा हितम्) तीन प्रकार से रक्खे, या बंधे हुए (घृतम्) सेचन योग्य बल को (देवासः) विद्वान् विजेता पुरुष (अनु अविन्दन्) प्राप्त करते हैं । (इन्द्रः) शत्रु-नाशक सेनापति (एकं) एक सेना-जल को (जजान) उत्पन्न करता है । (सूर्यः) सूर्य के समान तेजस्वी पुरुष (एकं) एक, कर आदि द्वारा धन-कोश रूप बल को उत्पन्न करता है । और (वेनाद्) मेधावी पुरुष से ज्ञान

रूप घृत को तपस्वी लोग (स्वधया) अपने ज्ञान को धारण करने वाली तपस्या द्वारा (निः ततक्षुः) प्राप्त करते हैं ।

विद्वत्-पक्ष में—(पणिभिः) स्तुति करने वाले या व्यवहारज्ञ कुशल पुरुषों द्वारा या प्राणों द्वारा (गवि) गो-दुग्ध में छुपे (घृतम्) घी के समान (गवि) गौ में अर्थात् समस्त लोकों, पृथिवी, अन्तरिक्ष, वाणी और अन्न में (गुह्यमानं) छुपाये गये और उसी में (त्रिधा हितम्) तीन प्रकार से रक्खे गये मन्त्र, ब्राह्मण और कल्प, इन तीन प्रकार से विद्यमान (घृतम्) ज्ञान को (देवासः) विद्वान् लोक (अविन्दन्) मनन द्वारा प्राप्त करते, (इन्द्रः) इन्द्र, वायु, (एकम्) एक प्रकार के 'घृत' को (जजान) प्रकट करता या जानता है । और (सूर्यः) सूर्य एक प्रकार के घृत को (जजान) ज्ञान करता या प्रकट करता है । और विद्वान् पुरुष (स्वधया) अपनी धारित आत्म-शक्ति से (वेनात्) कान्तिमान् अग्नि से (निस्ततक्षुः) शिल्प द्वारा उत्पन्न करते हैं ।

‘गौ’—इमे वै लोकाः । यदि किंच गच्छति इमांस्तल्लोकान् गच्छति । श० ६ । १ । २ । ३५ ॥ अयम्मध्यमो लोको गौः । तां० ४ । १ । ७ ॥ गौर्वा सार्पराज्ञी । कौ० २७ । ४ ॥ प्राणो हि गौः श० ४ । ३ । ४ । २५ ॥ इडा हि गौः । श० २ । ३ । ४ । ३४ ॥ सरस्वती गौः । श० १४ । २ । १ । १७ ॥ या गौः सा सिनीवाली सो एव जगती । ऐ० ३ । ४८ ॥ इन्द्रियं वै वीर्यं गावः ।

ये तीनों लोक ‘गौ’ कहाते हैं । अन्तरिक्ष और पृथिवी, ये दोनों भी ‘गौ’ कहाते हैं । प्राण—‘गौ’ है । इडा ‘गौ’ है । सरस्वती या वाणी ‘गौ’ है । इन्द्रिय गौर्वै हैं, अन्न गौ है । विद्वानों ने इन सब पदार्थों में घृत या रस के दर्शन किये ।

घृतम्—अन्नस्य घृतमेव रसस्तेजः । मं० २ । ६ । १५ ॥ तेजो वै एतत् पशूनां यद् घृतम् । ऐ० ८ । २० ॥ देवव्रतं वै घृतम् । तां० १८ ।

१ । ६ ॥ रेतःसिक्तिर्वै घृतम् । कौ० १६ । ५ ॥ उल्वं घृतम् । श० ६ । ६ ।

६ । २ १५ ॥ घृतमन्तरिक्षस्य रूपम् । श० ९ । २ । ३ । ४४ ॥

अन्न का परम रस घृत है । वीर्य घृत है । अन्तरिक्ष, तेज घृत है ।

पणिभिः—सुरैः इति उच्यते । असुरैः इति महीधरः । व्यवहारज्ञैः स्तावकैरिति दयानन्दः ।

तीनों लोकों में घृत विद्यमान है । सर्गव्यापार करने वाली शक्तियें उस ब्रह्म-बीज रूप तेजस् को फैलाती हैं । परन्तु उसके एक तेज को आकाश में सूर्य ने प्रकट किया, एक को विद्युत् रूप से वायु में और तीसरे को हम अग्नि रूप से अथवा अपने देह में जाठर रूप से प्राप्त करते हैं ।

वाणी रूप गौ में ईश्वर के स्वरूप के स्तुतिकर्त्ता मन्त्रों ने तीन प्रकार के ज्ञान रूप घृत को धारण किया । जिसको वायु, सूर्य और अग्नि ने प्रकट किया ।

एता ऽर्षन्ति हृद्यत्समुद्राच्छ्रुतव्रजा रिपुणा नावचक्षे । घृतस्य धारा अभि चाकशीमि हि राययो वेतसो मध्ये ऽआसाम् ॥६३॥

निचृदार्षी त्रिष्टुप् । धैवतः

भा० —राजा के पक्ष में—(एताः घृतस्य धाराः) ये तेज की धाराएं बल और शक्ति पूर्वक कही गई आज्ञाएं या सेनाएं (हृद्यत्) प्रजा के हृदय में उत्पन्न, उनके चित्तों को रमाने वाले (समुद्रात्) समुद्र के समान गम्भीर राजा से (अर्षन्ति) निकलती हैं । और (शत-व्रजाः) सैंकड़ों मार्गों में जाने वाली या सैंकड़ों कार्यों को चलाने वाली होकर (रिपुणा) बाधक शत्रु द्वारा भी (न अवचक्षे) रोकी या विरोध नहीं की जा सकती । उन (घृतस्य) तेज की या बल, वीर्य या अधिकार की बनी (धाराः) राष्ट्र के धारण या व्यवस्थापन में समर्थ धाराओं या राज्य-व्यवस्थाओं को मैं (अभि चाकशीमि) सर्वत्र व्यापक देखता हूं और (आसाम् मध्ये) इनके

बीच में (हिरण्ययः वेतसः) घृत-धाराओं के बीच अग्नि के समान सुवर्ण रूप कोषसम्पत्ति का बना अति कमनीय आधार रूप स्तम्भ है ।

अध्यात्म में—(घृतस्य धाराः अभि चाकशीमि) मैं द्रष्टा जिस प्रकार घृत की धाराओं को प्रवाहित होता देखूँ और (आसाम्) इनके (मध्ये) बीच में जिस प्रकार (हिरण्ययः वेतसः) सुवर्ण के समान कान्तिमान् अग्नि हो उसी प्रकार (एताः) ये (घृतस्य) स्वयं क्षरण होने वाले, अनायास बहने वाले या स्वयं प्रस्फुटित होने वाले झरनों के समान फूट निकलने वाली वाणियों का मैं (अभि) साक्षात् (चाकशीमि) दर्शन करता हूँ । और (आसाम् मध्ये) इनके बीच में व्यापक (हिरण्ययः) अति सुन्दर, तेजस्वी (वेतसः) अति कमनीय पुरुष, या ब्रह्म-तत्त्व है । (एताः) ये वाणियाँ (हृद्यात् समुद्रात्) हृदय के समुद्र से, अथवा हृदय से जानने और अनुभव करने योग्य, हृदय में बसे, (समुद्रात्) समस्त ज्ञान-जलों के बहाने वाले परम अक्षय ज्ञानभंडार से (अर्षन्ति) निकलती हैं । वे (शत-व्रजाः) सैकड़ों मार्गों में जाने वाली, सैकड़ों अर्थों वाली, बहुत से पक्षों में लगने वाली, श्लेष से बहुत से अभिप्राय बतलाने वाली होकर भी (रिपुणा) पापी शत्रु द्वारा भी (न अवचक्षे) खण्डित नहीं की जा सकतीं । अर्थात् वे सब सत्य वाणियाँ सत्य ज्ञान की धाराएँ हैं । इसमें संदेह नहीं ।

‘हृद्यात् समुद्रात्’ श्रद्धोदकप्लुताद् देवतायाथात्म्यचिन्तनसन्तानरूपात् समुद्रात्, इति महीधरः ।

सम्यक् स्रवन्ति सरितो न धेनाः ऽअन्तर्हृदा मनसा पुयमानाः ।
एते ऽअर्षन्त्युर्मयो घृतस्य मृगा ऽइव क्षिपणोरीषमाणाः ॥९४॥

अध्यादि पूर्ववत् । निचृदार्षी त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—राजा के पक्ष में—(धेनाः) राजाज्ञाएँ (हृदा मनसा अन्तः पुय-मानाः) हृदय और चित्त में खूब मननपूर्वक विचारी जाकर (सरितः न)

नदियों के समान गम्भीर और अदृश्य वेग से (अर्षन्ति) बहती हैं । राष्ट्र में फैलती हैं (घृतस्य ऊर्मयः एताः) तेजस्वी राजकीय उन्नत आज्ञाएं या आज्ञाओं को धारण करने वाले राजदूत (क्षिपणोः) व्याध के भय से (ईषमाणाः) व्याकुल (मृगाः) हरिणों के समान (अर्षन्ति) वेग से गति करती हैं ।

ज्ञानी के पक्षमें—(हृदा) हृदय द्वारा और (मनसा) मन से (अन्तः पृथग्मानाः) भीतर ही भीतर निगम, निघण्टु, व्याकरण, शिक्षा, छन्द आदि से पवित्र, सुविचारित होकर दोषरहित हुई हुई (धेनाः) ज्ञानरस पान कराने वाली वाणियां (सरितः न) नदियों के समान (सम्यक्) भली प्रकार (स्रवन्ति) निकलती हैं, बहती हैं, फूट रही हैं । (क्षिपणोः) हिंसक व्याध के भय से (ईषमाणाः) भागते हुए (मृगाः इव) मृगों के समान (एते) ये (घृतस्य) परम रस, ब्रह्म तेज, ब्रह्मज्ञान की (ऊर्मयः) तरंगें उदगार (अर्षन्ति) उठी चली आ रही हैं ।

सिन्धोरिव प्राध्वने शूघनासो वातप्रमियः पतयन्ति युद्धाः ।

घृतस्य धाराः अरुषो न वाजी काष्ठा भिन्दन्नुर्मिभिः पिन्वमानः ६५

श्रद्धादि पूर्ववत् । आर्षी त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा० — (प्राध्वने) मार्ग रहित प्रदेश में, मार्ग न मिलने पर (सिन्धोः) ससुद्र, या महानदी के (शूघनासः) शीघ्र वेग से बनने वाले (युद्धा) बड़े २ (वात-प्रमियः) वायु के समान तीव्र गति से जाने वाले प्रवाह जिस प्रकार वेग से (पतयन्ति) फूट पड़ते हैं उसी प्रकार (घृतस्य धाराः) ज्ञान की वाणियाँ, अग्नि के प्रति घृत की धाराओं के समान वेग से बढ़ती हैं । (वाजी न) जिस प्रकार अश्व (काष्ठाः भिन्दन्) वेग से सीमाओं को भी तोड़ता फोड़ता हुआ और (उर्मिभिः) स्वेद-धाराओं से (पिन्वमानः) सींचता हुआ जाता है । और जिस प्रकार (अरुषः)

दीप्तिमान् (बाजी) तेजस्वी अग्नि (काष्ठाः भिन्दन्) काष्ठा, समिधाओं को अपनी ज्वालाओं से भेदता हुआ, चटकाता हुआ, और (ऊर्मिभिः) तेज की ऊर्ध्वगामिनी धाराओं से (पिन्वमानः) सींचता हुआ जलता है उसी प्रकार अग्नि के समान तेजस्वी विद्वान् भी (अरुपः) रोपरहित, सुशील और तेजस्वी, कान्तिमान् होकर (काष्ठाः भिन्दन्) 'क' परम सुख की विशेष आस्था, या स्थिति, मर्यादा या बाधाओं को तोड़ता हुआ (ऊर्मिभिः) ऊपर को जाने वाले प्राणों से (पिन्वमानः) स्वयं तृप्त, आनन्द प्रसन्न होता है और वाणी के उद्गार रूप तरंगों से श्रोताओं को भी तृप्त करता है ।

अध्यात्म में—(घृतस्य धाराः) साधक तेज की धाराएं उनके बीच तीव्र तरंगों या नालों के समान बहती हैं ।

राजा के पक्ष में—(यद्वाः) बड़े २ (वात-प्रमियः) वायु के समान तीव्र गति वाले (घृतस्य) तेज के धारण करने वाली वीर सेनाएं (सिन्धोः शूघनासः धाराः इव) सिन्धु की तीव्रगति वाली धाराओं के समान (पतयन्ति) आगे बढ़ती हैं । और वह स्वयं वेगवान् अश्व के समान (काष्ठाः भिन्दन्) संग्रामों को पार करता हुआ (ऊर्मिभिः पिन्वमानः) तरंगों से सेंचते हुए उत्ताल समुद्र के समान विराजता है ।

अभिप्रवन्त समनेव योषाः कल्याणयुः स्मयमानासो ऽग्निम् ।
 घृतस्य धाराः समिधो नसन्त ता जुषाणो ह्वयति जातवेदाः॥९६॥

अध्यादि पूर्ववत् । निचृदार्षी त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—(समना) समान रूप से अभिलषित पुरुष को मन से विचारती हुई (कल्याणयः) कल्याण, या शुभ आचरण और लक्षण वाली (योषाः इव) स्त्रियों, कन्याएं जिस प्रकार (स्मयमानासः) ईषत् कोमल हास करती हुई (अग्निम् अभि) तेजस्वी विद्वान् को वरण करने के उद्देश्य से (प्र-वन्ते) प्राप्त होतीं । और (ताः जुषाणः)

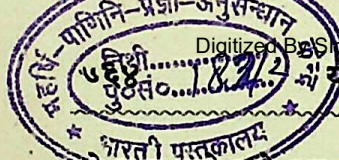
उनको प्रसन्न चित्त से प्राप्त करता हुआ (जातवेदाः) विद्वान् वर उन्हें (हर्यति) चाहता है और जिस प्रकार (घृतस्य धाराः) घी की धाराएं (समिधः) अच्छी प्रकार उज्ज्वल होकर (अग्निम् नसन्त) अग्नि को प्राप्त होती हैं और (जातवेदाः ता हर्यति) अग्नि उन धाराओं को चाहता है उसी प्रकार (घृतस्य धाराः) ज्ञान की धाराएं (समिधः) अच्छी प्रकार शब्दार्थ सम्बन्ध से उज्ज्वल होकर (अग्निम्) ज्ञानवान् पुरुष को प्राप्त होती हैं और वह (ताः जुषाणाः) उनका सेवन करता हुआ (जातवेदाः) स्वयं विज्ञानवान् होकर (हर्यति) उनको चाहता है ।

राजा के पक्ष में—तेज और बल को धारण करनेवाली सेनाएं, (समिधः) क्रोध और वीरता से उज्ज्वल होकर (अग्निम्) तेजस्वी, अग्रणी सेना-नायक राजा को प्राप्त होता और वह उनको चाहता है ।

कन्या इव वहतुमेतत्वा उ अज्ज्यञ्जाना अभि चाकशीमि ।
यत्र सोमः सूयते यत्र यज्ञो घृतस्य धारा अभि तत्पवन्ते ॥६७॥

ऋष्यादि पूर्ववत् । निचृदार्षी त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—(यत्र) जहां (सोमः सूयते) सोम का सवन होता है और (यत्र) जहां (यज्ञः) यज्ञ होता है (तत्) वहां (घृतस्य धाराः) घृत की धाराएं (पवन्ते) बहती हैं । इसी प्रकार (यत्र) जहां (सोमः) राष्ट्र प्रेरक राजा का सवन अर्थात् अभिषेक होता है और (यत्र) जहां (यज्ञः) परस्पर संगति, व्यवस्था से युक्त राजा प्रजा का पालन रूप यज्ञ या कर-आदान और ऐश्वर्यदान रूप यज्ञ होता है । वहां (घृतस्य) वीर्य या बल को धारण करने वाली सेनाएं या अधिकार वाली राज्यव्यवस्थाएं, नियम-धाराएं (पवन्ते) प्रकट होती हैं । मैं घृत की धारा और बल धारक सेनाओं को, (वहतुम्) विवाह योग्य पति के प्रति (एतवै) आने के लिये उत्सुक (अज्जि) अपने कमनीय स्वरूप, सौभाग्य या पूर्ण यौवन



के प्रकट करने वाले सुरूप को (अज्ञानाः) प्रकट करती हुई (कन्याः इव) कन्याओं के समान अति उत्सुक (अभि चाकशीमि) देखता हूँ ।

अभ्यर्षत सुष्टुतिं गव्यमाजिमस्मासु भद्रा द्रविणानि धत्त ।
इमं यज्ञं नयत देवता नो घृतस्य धारा मधुमत्पवन्ते ॥ ६८ ॥

अध्यादि पूर्ववत् । आर्षी त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—हे विद्वान् पुरुषो ! आप लोग (सु-स्तुतिम्) उत्तम स्तुति, कीर्ति, अथवा ईश्वरोपासना के लिये उत्तम स्तुति करने वाली वेदवाणी, (गव्यम्) गोदुग्ध के समान हृदय को उत्तम, पुष्टिप्रद, गौ = वाणी में स्थित उत्तम ज्ञान और (आजिम्) संग्राम और यज्ञ अथवा समस्त उत्तम साधनों से प्राप्त करने योग्य राज्य और तपःसाधनों से प्राप्य परम पद को (अभि अर्पत) विजय करने के लिये लक्ष्य करके आगे बढ़ो । और (अस्मासु) हम में (भद्रा द्रविणानि) सुखकारी सुवर्णादि ऐश्वर्यों का (धत्त) प्रदान करो । और (अस्माकं) हमारे इस (यज्ञम्) परस्पर संगति से प्राप्त इस गृहस्थ रूप यज्ञ को (देवता) विद्वानों के बीच में उनके अभिमत रूप से (नयत) प्राप्त कराओ । अथवा हे (देवता) देवो ! विद्वान् पुरुषो ! आप लोग (इमं यज्ञं नयत) इस यज्ञ को सन्मार्ग पर ले चलो । और (नः) हमें (घृतस्य) हृदय में रस सेचन करने वाले ज्ञान की (धाराः) वाणिष् (मधुमत्) ज्ञानमय, आनन्दप्रद होकर (पवन्ते) प्राप्त हों ।

राजा के पक्ष में—हे (देवता) वीर विजयीपु पुरुषो ! आप लोग (सु-स्तुतिम्) उत्तम यज्ञ, (गव्यम्) पृथिवी में उत्पन्न समस्त उत्तम पदार्थ और (आजिम्) विजय करने योग्य संग्राम को (अभि) लक्ष्य करके (अर्पत) आगे बढ़ो । और (अस्मासु) हम में (भद्रा) सुखकारी (द्रविणानि) ऐश्वर्य (धत्त) धारण कराओ । हमारे (इमं यज्ञं नयत) इस

राष्ट्र को संचालित करो और (नः) हमें (धृतस्य धारा) तेज के धारण करने वाली वीरसेनाएं (मधुमत्) अन्न आदि ऐश्वर्य और शत्रु के पीड़ाकारी बल सहित (पवन्ते) प्राप्त हों ।

धामन्ते विश्वं भुवन्माधि श्रितमन्तः समुद्रे हृद्यन्तरायुषि ।
अपामनीके समिथे य आभृतस्तमश्याम मधुमन्तं त ऊर्मिम् ॥६६॥

स्वराट् आर्षी । त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—राजा के पक्ष में—हे राजन् ! (ते धामन्) तेरे धारण करने वाले सामर्थ्य के आश्रय पर यह (विश्वं भुवनम्) समस्त राष्ट्र (समुद्रे अन्तः) जो समुद्र के बीच, उससे घिरा है, उसमें (श्रितम्) आश्रित है । इसी प्रकार (हृदि) हृदय में और (आयुषि अन्तः) जीवन भर में और (अपाम् अनीके) प्रजाओं के सैन्य में और (समिथे) संग्राम के अवसर पर (यः) भी नाना पदार्थ समूह (आभृतः) एकत्रित किया जाता है वह (तम्) उस (मधुमन्तम्) मधुर फल से युक्त, या शत्रु-पीड़नकारी सामर्थ्य से युक्त (ते ऊर्मिम्) तेरे उस उर्ध्वगामी सामर्थ्य का (अश्याम) हम भोग करें ।

परमेश्वर के पक्ष में—हे परमेश्वर (ते धामन् विश्वं भुवनम् अधिश्रितम्) तेरे धारण-सामर्थ्य के आश्रय पर यह समस्त विश्व आश्रित है । (समुद्रे) समुद्र के (अन्तः) बीच में, (हृदि) हृदय में (आयुषि अन्तः) जीवन में, (अपाम् अनीके) ज्ञानों और कार्यों में या आस जनों के ससंग में और (समिथे) यज्ञ में (यः) जो (ते) तेरा (ऊर्मिः) उत्कृष्ट रूप (आभृतः) प्राप्त है उस (मधुमन्तम्) ज्ञानमय मधुर, आल्हादकारी (ऊर्मिम्) रस स्वरूप तरंग को हम (अश्याम) प्राप्त करें ।

ईश्वरीय बल की भिन्न २ स्थान में ऊर्मि कैसी २ है ? समुद्र अर्थात् आकाश में सूर्य रूप, हृदय में जाठराग्नि रूप, जीवन में अन्न रूप, जलों

के संघात में विद्युत् रूप, संग्राम में शौर्य रूप, यज्ञ में अग्नि रूप यही तेरा तेजोरूप या धाम रूप 'ऊर्मि' है । (महीधर)

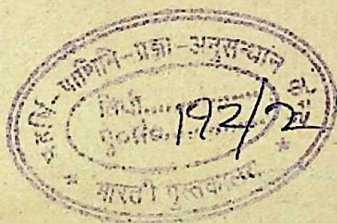
राजा के पक्ष में—राजा का तेज समुद्र में राष्ट्ररूप, हृदय में विजया-मिलाषा रूप, आयु में पराक्रमरूप, सैन्य में बलरूप और संग्राम में शौर्यरूप है ।

॥ इति सप्तदशोऽध्यायः ॥

इति मीमांसातीर्थ-प्रतिष्ठितविद्यालंकार-श्रीमत्पाण्डितजयदेवशर्मकृते

यजुर्वेदालोकभाष्ये सप्तदशोऽध्यायः ॥







193/2



